प्राचीन भारत में रसायन का विकास

हिन्दीसमिति-ग्रन्थमाला—४२

प्राचीन भारत में रसायन का विकास

लेखक
डा० सत्यप्रकाश डी० एस० सी०,
प्रयाग विश्वविद्यालय

प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग
उत्तर प्रदेश

प्रथम संस्करण
१९६०

मूल्य
१४ रुपये

मुद्रक
पं० पृथ्वीनाथ भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय

यह ग्रन्थ हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला का ४३वाँ पुष्प है। इसके लेखक डा० सत्यप्रकाश, प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायनविज्ञान के प्राध्यापक हैं। आप वैज्ञानिक विषयों के ख्यातिप्राप्त लेखक हैं और आपकी लिखी पुस्तकें हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं। आप वर्षों तक 'विज्ञान पत्रिका' का सम्पादन कर चुके हैं और इस समय भी विज्ञान-परिषद् की अनुसन्धान पत्रिका के प्रधान सम्पादक हैं। आपने बड़े परिश्रम से इस पुस्तक में उस प्रभूत सामग्री का संकलन किया है, जिसके आधार पर प्राचीन भारत में रसायन के विकास का आभास प्राप्त किया जा सकता है। इस विषय का जो अनुसन्धान और अन्वेषण आपने किया है, वह वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक, दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

अपराजिता प्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी-समिति

विषय-सूची

चित्र-सूची

*ये चित्र अलग छापे गये हैं ।

इस विषय की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

1 P. Ray . History of Chemistry in Ancient & Medieval India.

2 S. Piggot ... Prehistoric India—Penguin Series.

3 A. E. Berriman .. Historical Metrology,

4 M. Vatsa .. Excavations of Harappa.

5 Mockay . Chanhudaro Excavations.

भूमिका

भारतीय वाङ्मय जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही उसका सांस्कृतिक इतिहास भी। दर्शन और विज्ञान हमारे सामाजिक जीवन के प्रत्येक अंग के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। अतएव इनकी परम्पराओं के अध्ययन में विद्वानों की अभिरुचि का होना स्वाभाविक है। रसायन के क्षेत्र में इस विषय का सर्व-प्रथम अध्ययन स्वर्गीय आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने आरम्भ किया था। आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व आचार्य राय का ध्यान इस ओर गया। उनकी रचना "हिन्दू केमिस्ट्री" एक अमर कृति है,जिसका एक संशोधित संस्करण इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता ने अभी कुछ वर्ष हुए (१९५६ में) प्रकाशित किया है। आचार्य राय का ध्यान तांत्रिक रसायन की ओर विशेष रूप से आर्कषित हुआ था, और उन्होंने उस संबंध के अनेक ग्रथों का उद्धार किया। श्री यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य ने भी अनेक रसग्रन्थों को प्रकाशित किया है। मुझे प्रसन्नता है कि हिन्दी-समिति, उत्तर प्रदेश, ने मुझे भारतीय रसायन के संबंध में यह ग्रन्थ लिखने का अवसर दिया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में हमने उस समस्त सामग्री के संकलन का उद्योग किया है; जिसके आधार पर हम रसायन के एतद्देशीय विकास का आभास प्राप्त कर सकते हैं। आचार्य राय के ग्रन्थ में थोड़ी-सी ही सामग्री का उपयोग किया जा सका था। हमने सुविधा के लिए इस ग्रन्थ को छः खंडों में विभाजित किया है। पहले चार खंडों में उस सामग्री का उपयोग किया गया है, जो हमारे विविध साहित्य में बिखरी पड़ी है। हमने इसे क्रमशः चार कालों में रखा है—१. वैदिक और ब्राह्मण काल, २. आयुर्वेद काल, ३. नागार्जुन काल और रसतंत्र का आरंभ, एवं ४. रस-तंत्र का उत्तरकाल। यह विवरण वैदिक युग से लेकर १६-१७ वीं शती तक का है। यह संभव नहीं है कि हम अपने साहित्य के रचयिताओं के कार्यकाल के निर्भ्रान्त तिथि-संवत् दे सकें। हमारे लगभग समस्त ग्रन्थों में प्रत्येक युग में कुछ-न-कुछ हेर-फेर होता रहा है, और अपने प्राचीन ग्रन्थकारों के जीवन-वृत्त हमारे पास हैं ही नहीं।

ग्रन्थ के पाँचवें खण्ड में हमने उन दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त विवरण दिया है, जिन्होंने प्रकृति, द्रव्य, परमाणु, परिवर्तन, कार्य्यकारण संबंध आदि के समझने

में सहायता दी । अन्तिम खण्ड में हमने दैनिक उपयोग की उन सामग्रियों की चर्चा की है, जिनमें रसायन का उपयोग प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः प्रत्येक युग में होता आ रहा है । वस्तुतः आवश्यक तो यह है कि हम अपने पुराने उद्योग-धन्धों का पूरा विवरण स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में तैयार करा लें, क्योंकि अब हम ऐसे संक्रान्ति-काल में आ गये हैं, जिसमें शीघ्र ही हमारे इन धन्धों की पुरानी परम्पराओं के लोप होने की संभावना है । बहुत समय हुआ (१८८०), जब बर्डवुड ने भारतीय उद्योगों और कलाओं पर एक अच्छा ग्रन्थ लिखा था । हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य की आवश्यकता है ।

इस ग्रन्थ के लिखने में जिन ग्रन्थों से हमें सहायता मिली है, उनका निर्देशन अध्यायों के अन्त में कर दिया गया है । भण्डारकर इन्स्टीटयूट के क्यूरेटर श्री परशुराम कृष्ण गोडे के हम अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने अपने कतिपय बहुमूल्य लेखों की सामग्री प्रसन्नतापूर्वक प्रदान की । उन्होंने प्राचीन गन्धवाद संबंधी जिस साहित्य का उद्धार किया है, वह महत्त्वपूर्ण है । वैशेषिक और न्याय संबंधी सामग्री के लिए हम अपने आदरणीय मित्र महामहोपाध्याय डा० श्री उमेश मिश्रजी के भी अनुगृहीत हैं । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की आयुर्वेदिक फार्मेसी के भूतपूर्व अध्यक्ष विद्वद्वर श्री अत्रिदेव गुप्त जी ने कुछ चित्रों के संबंध में हमारी सहायता की । प्रयाग के म्युनिसपल म्यूजियम के अध्यक्ष श्री कालाजी से भी इस ग्रन्थ की सामग्री के संबंध में सहायता मिली । इन सबके हम कृतज्ञ हैं ।

बेली एवेन्यू,
प्रयाग

सत्यप्रकाश

प्रथम खण्ड

वैदिक काल और ब्राह्मण काल

प्राक्कथन

ऋक् और उसके साथ की अन्य संहिताएँ भारतीय संस्कृति के समस्त अंगों को हमारे क्रमबद्ध इतिहास के प्रत्येक युग में अनुप्राणित करती रही हैं। वैदिक साहित्य ने जिस समाज को उद्बोधित किया, उसका हलका-सा आभास शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता में मिलता है। ऐतरेय और उस समय के आरण्यक एवं वेदों की शाखाएँ हमारे प्राचीनतम इतिहास की परम्पराओं को आज तक कुछ-न-कुछ जीवित रखने में समर्थ हुई हैं। हमारे पास अपने समस्त वाङमय का ऐसा इतिहास तो नहीं है, जिसे हम शतियों और संवतों में बाँध सकें। यह वाङमय उस समय की रचना है, जब शास्त्रीय ज्ञान का प्रवाह विच्छिन्न धाराओं में सीमित नहीं हो पाया था। यज्ञ हमारे समस्त योग-क्षेम का केन्द्र था। यज्ञ का प्रतिनिधि था अग्नि, अग्नि का आविष्कार स्वयं मानव-आविष्कार का परमोत्कर्ष था। मनुष्य ने सभ्यता के विकास में यव और धान्यों को प्राप्त किया। इसने न जाने कहाँ से तिल और अन्य सस्य उपलब्ध किये ! इसने गौ और अश्व की संस्कृति का विकास किया। दूध से दही और दही से घृत निकाला। मधुमक्खियों से मधु प्राप्त किया और मधुर फलों का आस्वादन आरंभ किया। यज्ञ को उसने अपने ये समस्त आविष्कार अर्पित कर दिये—यज्ञ में आहुतियाँ घृत, यव, तिल और मधु की दीं। यज्ञ के समस्त परिधान पारिवारिक उपकरण के प्रतिनिधि बने। सोम-याग में उन सब परिक्रियाओं का प्रयोग मिलेगा, जो एक ओर तो आयुर्वेद-शाला की परिक्रियाओं का आधार बनीं, और दूसरी ओर पारिवारिक पाकशाला की। यज्ञशाला में शूर्प, उलूखल, मुशल, प्रोक्षणी, शमी, शम्या, मन्थनी, स्रुक्, स्रुव, दृषद्-उपल, अधिषवण, आस्पात्र, कुम्भ, ग्रह, नेत्र (रज्जु) और न जाने कितने उपकरणों का प्रयोग हुआ, जो आज भी किसी न किसी रूप में रसायनशालाओं में विद्यमान हैं। इन सब उपकरणों से सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाएँ आज भी वैसी ही हैं। आगे के पृष्ठों में जो सामग्री प्रस्तुत की जा रही है, उससे स्पष्ट हो जायगा कि मानव ने रसायन का विकास किस पृष्ठ-भूमि में किया।

पहला अध्याय

वैदिक काल

रसायन-शास्त्र का क्षेत्र अति व्यापक है। आदिम मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति उसी समय से आरम्भ की जब से उसे अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा। माता के स्तन के दूध से उसकी क्षुधा की परम निवृत्ति नहीं हो सकती थी, अतः स्वभावतः उसका ध्यान अपने चारों ओर बिखरी हुई वानस्पतिक और जंगम सम्पत्ति की ओर गया। उसने खेती आरम्भ की और पशुपालन में दक्षता प्राप्त की। वैदिक काल का व्यक्ति ग्राम्य और वन्य दोनों प्रकार के जीवनों से परिचित था। उसने दोनों ही संस्कृतियों का विकास कर रखा था। अग्नि से वह परिचित था, पालतू पशु उसके पास थे और कृषि से प्राप्त सस्य और धान्य उसकी समृद्धि के साधन थे। मनुष्य ने अज, अवि (भेड़), अश्व, गौ, परस्वान् (गदहा) और अनड्वान् (खच्चर) आदि पशुओं को अपने समाज का अंग बनाने के लिए कितनी तपस्या की होगी, इसका अनुमान भी लगाना हमारे लिए कठिन है। ये ग्राम्य पशु मानव परिवार के अंग एवं इस समाज की सम्पत्ति माने जाने लगे। मनुष्य ने अपने को भी स्वयं एक "ग्राम्य पशु" माना और अपनी गिनती इस परिवार के अन्य पशुओं के साथ कराकर अपने को गौरवान्वित किया।

यजुर्वेद में एक स्थल पर तीन प्रकार के पशुओं की ओर संकेत है—वायव्य, आरण्य और ग्राम्य—"**पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये**" (**यजु०** ३१।६; **अथर्व०** १९।६।१४)। **अथर्ववेद** में दो स्थलों पर पाँच ग्राम्य पशु गिनाये गये हैं—"**तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः**" (११।२।९); "**यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्**" (६।७१।१)। इस स्थल पर हिरण्य का अर्थ संभवतः ऊँट है। एक स्थल पर अथर्ववेद में सात ग्राम्य पशु कहे गये हैं— "**ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु**" (३।१०।६)। ये सात पशु गौ, अश्व, पुरुष, अजा, अवि, परस्वान् और अनड्वान् हैं। **अथर्ववेद** में पशुओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—"**पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये। अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः**" (११।५।२१)। अर्थात्

पशु पार्थिव (जलचर और थलचर), दिव्य (नभचर), अरण्य (बनैले), ग्राम्य (पालतू), अपक्ष (पंखरहित) और पक्षी हैं।

पशुपालन और कृषि द्वारा समाज का नया निर्माण हुआ। ग्राम्य-पशु के विकास में अर्थात् पालतू बनाने में मनुष्य का अपना हाथ था। इन पर मनुष्य को अभिमान था। इस प्रकार कृषि द्वारा जिन अन्नों का उत्पादन मनुष्य ने किया था वह मनुष्य की अपनी कृति थी, नहीं तो जंगलों में भला उसे कहाँ जौ, तिल और धान मिलते ? मनुष्य को अपनी आविष्कृत अग्नि पर भी इसी प्रकार अभिमान था। सूर्य से प्राप्त उष्णता और प्रकाश तो नैसर्गिक था, उसकी समकक्षता में मनुष्य ने अपनी आविष्कृत अग्नि को स्थापित किया। सूर्य के प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखनेवाले व्यक्ति ने अग्नि के प्रति अपनी अभिमानपूर्ण भावनाएँ प्रस्तुत कीं और वह अग्नि का उपासक हो गया। सस्य और घृत दोनों ही मनुष्य के अपने आविष्कार थे, अतः उसने अग्नि में इनकी ही आहुति देनी आरंभ की। यज्ञ मनुष्य की संस्कृति का प्रतीक बन गया। यज्ञ के सहारे ही उसने गणित और ज्योतिष् का विकास किया और इसी के आश्रय पर उसने रसायन में काम आनेवाली प्रारम्भिक मौलिक क्रियाओं को भी जन्म दिया।

मानव-जीवन के दो अभिशाप थे—पेट के भीतर की भूख और दूसरा रोग। रोग की पराकाष्ठा ही मृत्यु थी। भूख और रोग से मनुष्य ने युद्ध आरम्भ किया। इस संघर्ष में भी आदिम व्यक्ति ने यज्ञ को अपना केन्द्र बनाया। उसने प्रकृति की एक-एक वनस्पति का निरीक्षण किया। उसे विश्वास था कि समीप के प्राकृतिक वभव में ही वह क्षमता निहित है, जिसके द्वारा भूख और रोग से छुटकारा पाया जा सकता है। वैदिक ऋचाओं में इतनी ओषधियों और वनस्पतियों का उल्लेख है कि हमें आश्चर्य होता है। आयुर्वेद शास्त्र का विकास इसी समय से होता है। रसायन और आयुर्वेद का सम्बन्ध चिरकालीन है। भूख की निवृत्ति के लिए वैदिक-कालीन व्यक्ति ने प्राकृतिक आहार के अतिरिक्त अपने भोजन को आग में पकाने की कला विकसित की। भोजन को तरह-तरह से स्वादिष्ठ बनाया गया। मधु-मक्खियों ने जिस मधु का अपने लिए संग्रह किया था, मनुष्य ने उस सम्पत्ति पर भी अपना अधिकार जमा लिया। मधु के मिठास से वह उन्मत्त हो उठा। उसने अपने जीवन के वसन्त में मधु के माधुर्य की कल्पना की और अपने यौवन काल में उसे यह सम्पूर्ण सृष्टि मधु से ओतप्रोत दीखने लगी। उसके कण्ठ से ऋक् के शब्दों में यह स्तुति निकली—"**मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः**" (१।९०।६)

वैदिक कालीन अन्न

यजुर्वेद के एक प्रसिद्ध मंत्र में व्रीहि (धान), यव (जौ), माष (उर्द), तिल, मुद्ग (मूँग), खल्व, प्रियंगु, अणु, श्यामाक, नीवार, गोधूम और मसूर का उल्लेख है।[1]

तैत्तिरीय संहिता में भी इन्हीं अन्नों को गिनाया गया है। "खल्वाः" का अर्थ सायण ने **"मुद्गेभ्योऽपि स्थूलबीजाः"** किया है। मसूर का उपयोग मूंग के समान ही सूप (पेय रस) बनाने में किया गया है (**मसुराः मुद्गवत् सूपहेतवः**)। सूक्ष्म शालियों (शालिधान्य) का नाम अणु बताया है। श्यामाक एक विशेष ग्राम्य-धान्य है और नीवार आरण्य-धान्य (जंगली अन्न) है। कुत्सित यव को कूयव नाम दिया गया है।[2]

१. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।१२)
यव (ऋक् १।६६।२; १३५।८; २।५।६); यव के अतिरिक्त ऋग्वेद में माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियंगु, श्यामाक, नीवार और गोधूम—ये कोई शब्द नहीं हैं।
यवः (अथर्व० ८।७।२०; ९।१।२२; २।१३; ११।८।१५; २०।१२७।१०)
व्रीहि (अथर्व० १।६।१४; ६।१४०।२; ८।७।२०; ९।१।२२; ११।६।१३)
व्रीहि और यव साथ-साथ (अथर्व० ८।२।१८; १०।६।२४; ११।६।१३ और १२।१।४२)
माषऽआज्यम् (अथर्व० १२।२।४); माष (अथर्व० ६।१४०।२ और १२।२।५३)
तिल (अथर्व० २।८।३; ६।१४०।२; १२।२।५४; १८।३।६९; ४।२६; ४३; १८।४।३३-३४)। तिल के पलाल का भी उल्लेख है।
श्यामाक (अथर्व० २०।१३५।१२)
अथर्व० में मुद्ग, खल्व, प्रियंगु, अणु, नीवार, गोधूम और मसूर का उल्लेख नहीं है।

२. प्रभु च मे बहु च मे भूयश्च मे पूर्णञ्च मे पूर्णतरञ्च मे क्षितिश्च मे कूयवाश्च मेऽन्नञ्च मेऽक्षुच्च मे व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे गोधूमाश्च मे मसुराश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे। (तैत्तिरीय संहिता ४।७।४।७)

वैदिककालीन धातु और अन्य खनिज

यजुर्वेद में एक स्थल पर पत्थर (अश्मन्), मिट्टी (मृत्तिका) और बालू (सिकता) के अतिरिक्त हिरण्य (सोना), अयस् (लोहा अथवा काँसा), श्याम (ताँबा), लोह (लोहा), सीस (सीसा) और त्रपु (राँगा, वंग या टीन) का उल्लेख है।[1] इस स्थल पर चाँदी का नाम नहीं लिया गया। अयस्, श्याम और लोह—इन तीनों शब्दों के अर्थ में मतभेद हो सकता है। लोह शब्द इस साहित्य में धातु मात्र के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

तैत्तिरीय संहिता में भी इसी प्रकार का उल्लेख है।[2] सायण ने श्याम का अर्थ कृष्णायस या काला लोहा किया है। लोह शब्द से अभिप्राय कांस्य-ताम्र आदि सब लोहों से है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] कई स्थलों पर यह प्रयोग हिरण्य के साथ है। लोह शब्द न तो ऋग्वेद में है, और न अथर्ववेद में इस अर्थ में है।

यजुर्वेद के एक मंत्र में अयस्ताप (Iron smelter) का उल्लेख है जो लोहे के खनिज को लकड़ी-कोयला आदि के साथ तपाकर धातु तैयार करता है।[4]

१. अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।१३)

२. अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मेऽयश्च मे सीसञ्च मे त्रपुश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मेऽग्निश्चम आपश्च मे वीरुधश्च मऽ ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च। (तै० ४।७।५।१)

३. ऋ० १।५६।३; हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान् १।८८।५ (सुअर के लोहे के से दाँत); हिरण्यशृंगोऽयो अस्य पादा १।१६३।९ (लोहे के पैर); अयस्मयः ५।३०।१५; हिरण्यनिर्णिगयो अस्य स्थूणा ५।६२।७ (लोहे के स्थूण या स्तम्भ); ५।६२।८ भी; अयसो न धाराम् (तीर की लोहे की धार ६।३।५; धियमयस्ते न धाराम् ६।४७।१० (लोहे की धार ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि); अयोमुखम् ६।७५।१५ (तीर जिनके मुख लोहे के हों)।

४. मन्यवे अयस्तापम्। (यजु० ३०।१४)

तपाकर धातु तैयार करने की ओर एक संकेत अथर्ववेद में भी है।[1] इसके एक मंत्र में हरित, रजत और अयस् तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो क्रमशः सोना (हिरण्य), चाँदी और लोहे के पर्याय प्रतीत होते हैं। सफेद सुन्दर रूप के कारण चाँदी को अर्जुन भी कहा गया है। हरित, अर्जुन और अयस् (सोना, चाँदी और लोहा) ये तीन प्रसिद्ध हैं।[2]

अथर्ववेद, में एक स्थल पर श्याम (ताँबे), लोहित (लोहे) और हरित (सोने) के साथ त्रपु (राँगा) शब्द का भी प्रयोग हुआ है—'इसका मांस ताम्रवर्ण (श्याम) का है, रुधिर लोहवर्ण का, इसकी भस्म त्रपु वर्ण की है और इसका रंग हरित या सोने का-सा है।'[3]

सीसा धातु का उल्लेख **ऋग्वेद** में तो नहीं है, पर अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त "दधत्यं सीसम्" है। वरुण, अग्नि और इन्द्र इन तीनों की कृपा या आशीर्वाद से सीसा धातु प्राप्त हुई। यह शत्रुओं को दूर भगानेवाली है—"हम तुम्हें सीस से बेधते है, जिससे तुम हमारे प्रियजनों को न मार सको।" (सीस के बने छर्रे युद्ध में काम आते थे, ऐसा प्रतीत होता है।) "जो हमारे गौ, अश्व या पुरुषों को मारे, उसे तुम सीसे से बेधो।"[4]

१. नव प्राणान् नवभिः संमिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि॥ (अथर्व० ५।२८।१)

२. भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्॥ (अथर्व० ५।२८।५)
दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम्॥ (अथर्व० ५।२८।९)

३. श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्।
त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः॥ (अथर्व० ११।३।७-८)

४. सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम्॥
इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥
यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ (अथर्व० १।१६।२-४)

यज्ञशाला और रसायनशाला के पात्रों में साम्य

यज्ञशाला ही इस देश की मूल रसायनशाला थी। यज्ञशाला के समस्त उपकरण पाकशाला और रसायनशाला दोनों में प्रयुक्त होने लगे। **तैत्तिरीय संहिता** में यज्ञशाला के निम्न उपकरणों की ओर संकेत है[1]—

इध्म (Fuel Wood या ईंधन)
बर्हि (Straw)
वेदि (Altar)
धिष्ण्य (Lesser Altar) } आग जलाने के स्थल, जिन्होंने भट्ठियों और चूल्हों को जन्म दिया।
स्रुक् (Spoons)[2]
चमस (Cups; ladle)—प्याले या चमचा
ग्रावन् (Pressing Stones)—सिल, लोढ़ा
स्वरु (Chips)
उपरव (Sounding Holes)
अधिषवण (Pressing Boards)
द्रोणकलश (Wooden Tub)
वायव्य (वायु-प्याले)
पूतभृत् (छाने हुए सोम को रखने का पात्र) (Receiver of the filtrate)
आधवनीय (मिश्रण करने का पात्र—Mixing Bowl)
आग्नीध्र (Agnidh's Altar)
हविर्धान (हवि रखने का पात्र—Oblation Holder)
गृह
सद } भंडार-गृह (Store House)

१. इध्मश्च मे बर्हिश्च मे वेदिश्च मे धिष्णियाश्च मे स्रुचश्च मे चमसाश्च मे ग्रावाणश्च मे स्वरवश्च म उपरवाश्च मेऽधिषवणे च मे द्रोणकलशश्च मे वायव्यानि च मे पूतभृच्च म आधवनीयश्च म आग्नीध्रञ्च मे हविर्द्धानञ्च मे गृहाश्च मे सदश्च मे पुरोडाशाश्च मे पचताश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे ॥ (तैत्तिरीय संहिता ४।७।८।१)

२. स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।२१)

पुरोडाश, पचत—हवि के पदार्थ

अवभृथ—(Bath or ablution)

तैत्तिरीय संहिता (४।७।८।१-२) में सोम आदि रखने के अनेक पात्रों (Cups) या "ग्रहों" के नाम दिये गये हैं—अंशु, रश्मि, अदाभ्य, अधिपति, उपांशु, अन्तर्याम, ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, प्रतिप्रस्थान, शुक्र, मन्थी, आग्रयण, वैश्वदेव, ध्रुव, वैश्वानर, ऋतु, अतिग्राह्य, ऐन्द्राग्न, महावैश्वदेव, मरुत्वतीय, माहेन्द्र, आदित्य, सावित्र, सारस्वत, पौष्ण, पात्नीवत और हारियोजन। **यजुर्वेद** में भी इनका उल्लेख है।[1] **शतपथ ब्राह्मण** में इन ग्रहों का विस्तार दिया हुआ है।

अथर्ववेद में दृषद् और खल्व (सिल और खरल) का उल्लेख साथ-साथ दो स्थलों पर है।[2]

यजुर्वेद में दूसरे एक स्थल पर वायव्य, सत और द्रोणकलश के साथ-साथ कुम्भी और स्थाली (बटलोई, पतीली, मटिया, कड़ाही आदि) का उल्लेख है।[3]

ऋग्वेद में एक स्थल पर चलनी (तितउ) से सत्तू को छानने या चालने का उल्लेख है।[4] **अथर्ववेद** और **यजुर्वेद** में इसका संकेत नहीं है। शूर्प (सूप) का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है, पर **अथर्ववेद** में अनेक स्थलों पर है।[5] **अथर्ववेद** में

१. अंशुश्च मे रश्मिश्च मेऽदाभ्यश्च मेऽधिपतिश्च म उपांशुश्च मेऽन्तर्यामश्च मऽऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च मऽआश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मन्थी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।१९)
आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ (यजु० १८।२०)

२. इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि संक्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥ (अथर्व० २।३१।१)
हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।
सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ (अथर्व० ५।२३।८)

३. वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोति सतेन द्रोणकलशम् ।
कुम्भीभ्यामम्भृणौ सुते स्थालीभिः स्थालीराप्नोति ॥ (यजु० १९।२७)

४. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । (ऋग् ० १०।७१।२)

५. अथर्व० ९।६।१६; १०।९।२६; ११।३।४; १२।३।१९, २० और २०।१३६।९
(वर्षवृद्धमुपयच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु—१२।३।१९)

अतिथिसत्कार संबंधी एक सूक्त है जिसमें अतिथि को खिलाने के लिए धान (व्रीहि) और जौ को ऊखल, मूसल, सिल (ग्रावन्) आदि से कूट-पीसकर और भूसी (तुष) को सूप से फटककर तैयार करने का विधान है। इसी संबंध में दर्वी, द्रोणकलश, कुम्भी, वायव्य, हिरन की खाल आदि का भी विवरण है।[1] तण्डुल-कणों को उलूखल, मुसल, **चर्म**, शूर्प आदि से साफ करने का उल्लेख अन्यत्र भी है।[2] एक स्थल पर ओदन-सूक्त में मुसल, उलूखल, शूर्प, शूर्पग्राही (नारी जो फटकती है), अपाविनक् (sifter), कण, तण्डुल, तुष, फलीकरण (husked grain) और शर (reeds) का अच्छा रूपक है।[3]

भोजन और खाद्य

वैदिककालीन आर्य यव (जौ) की खेती करने के कारण "यवमन्तः" कहलाने में अपना गौरव मानते थे। इस यव से उन्होंने तरह-तरह के भोजन तैयार किये, जिसकी ओर ऋक् और **यजुर्वेद** में संकेत है।[4] **यजुर्वेद** में लाजा (लावा

१. यत् पुरा परिवेषात् खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ। यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति। ये व्रीहयो यवा निरूप्यन्तेंऽशव एव ते। यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते। शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः। स्रुग्दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्यानि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्॥ (अथर्व० ९।६।१२–१७)

२. उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥
(अथर्व० १०।९।२६)

३. तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्। द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः। चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्। दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक्। अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः। कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम्॥ (अथर्व० ११।३।१–६)

४. कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथादान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमउक्तिं यजन्ति॥
(ऋ० १०।१३१।२; यजु० १०।३२; १९।६)

या खील), मासर, **तोक्म**, नग्नहू, शष्प, आमिक्षा आदि का कई स्थलों पर उल्लेख है।[1]

भुने अन्न का नाम **धाना** है, **करम्भ** चावल या अन्न का माँड़ (gruel) है, **सक्तु** भुने अन्न का पिसा आटा (barley meal) है, **परीवाप** भुने चावल से बना चबना है। **मासर** भुने हुए जौ के आटे को मट्ठे में पकाकर बनाते थे (सायण–**तैत्ति० ब्रा०**); अथवा यह कोई पेय है, जो खमीर, अंगूर, धान और जौ के आटे से तैयार होता था। **नग्नहू** सुरा बनाने की कोई औषध थी। **आमिक्षा** उबले और फटे दूध का मिश्रण है, अथवा गरम दूध में दही डालने पर जो घन भाग प्राप्त होता है, वह है। और **वाजिन** वह पानी है, जो फटे दूध को छान लेने पर प्राप्त होता है। **(धानाः भृष्टधान्यम्। करम्भः उदमन्थः। परीवापः हविष्पक्तिः। आमिक्षा पयस्या। उष्णे दुग्धे दध्निक्षिप्ते घनभाग आमिक्षा। शिष्टं वाजिनम्।——महीधर)**

यजुर्वेद के एक मंत्र में धान का रूप या प्रतीक कुवल फल (jujube) बताया है, परीवाप (चबैना) का प्रतीक गोधूम (गेहूँ) को, सक्तू का प्रतीक बदर (बेर) और करम्भ (gruel, groat) का प्रतीक उपवाक-यव (इन्द्र-यव) (Seeds of *Wrightia antidysenterica*) को बताया है। दूध या पय का प्रतीक यव को, दही का प्रतीक कर्कन्धु फल (बड़े बेर) को, वाजिन[2] का प्रतीक सोम को और आमिक्षा का प्रतीक सौम्य (soma's pap) को बताया गया है।,

यह स्पष्ट है कि चाहे यज्ञकर्म के लिए, अथवा चाहे भोजन के लिए, वैदिक काल में ही दूध से दही, मट्ठा, आमिक्षा, वाजिन, घृत आदि का बनाना एक साधारण

१. (क) यवैः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरं पयः सोमः परिस्रुता घृतं मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज॥ (यजु० २१।३२)

(ख) धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि। सोमस्य रूपं हविषऽ-आमिक्षा वाजिनं मधु॥ (यजु० १९।२१)

२. (क) धानानां रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः। सक्तूनां रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य। पयसो रूपं यद् यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि। सोमस्य रूपं वाजिनं सौम्यस्य रूपमामिक्षा॥ (यजु० १९।२२–२३)

(ख) परीवाप, आमिक्षा, मासर और नग्नहू ये शब्द ऋग्वेद में नहीं हैं।

(ग) करंभ शब्द ऋग्वेद में (१।१८७।१०; ३।५२।१, ७; ६।५७। २) है।

काम समझा जाने लगा था। दूध से पहली बार कैसे दही तैयार किया जा सका होगा, पहली बार दूध जमाने के लिए दही का अच्छा जामन कब और कैसे मिला होगा, और किसने दही या मट्ठे को मथकर पहली बार घी निकाला होगा, इसका लेखा हमारे पास आज नहीं है। दूध से घी निकालने की विधि की खोज रसायन के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान रखती है।

अन्न आदि में खमीर उठाकर खट्टी अथवा मादक वस्तुओं का तैयार कर लेना भी किण्व-रसायन की ऐतिहासिक घटना है। जौ की शराब और तरह-तरह की काँजियाँ आज भी मनुष्य के प्रसिद्ध पेयों में से हैं। मधु के सम्पर्क से अति प्राचीन मानव ने अपने भोजन को मीठा बनाना सीखा। वैदिककालीन व्यक्ति ईख और उससे निकली शक्कर से भी अपरिचित न था। **अथर्ववेद** में ईख का स्पष्ट उल्लेख है।[१]

उद्योग और व्यवसाय

यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में पुरुषमेध प्रसंग में कुछ प्रमुख व्यवसायियों के नाम आते हैं, जो वैदिक प्रेरणाओं से प्रोत्साहित समाज की अवस्था के अच्छे परिचायक हैं। इनमें से अनेक व्यवसायों का संबंध रासायनिक उद्योग और धन्धों से है। हम यह सूची नीचे देते हैं--

१. ब्राह्मण
२. राजन्य
३. वैश्य
४. शूद्र
५ तस्कर
६. वीरहा (नष्टाग्नि या शूर)
७. क्लीब
८. अयोगू (अयस् गन्ता या जुआरी?)

१. परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथामन्नापगा असः॥ (अथर्व० १।३४।५)

अथर्ववेद का यह सूक्त मधु-वनस्पति से संबंध रखता है। ईख के लिए कहा गया है कि यह पौधा मधु से उत्पन्न हुआ है, मधु से ही तुझे हम खनन करते हैं, तू मधु के बीच में से उत्पन्न हुआ है, तू हमें भी मधुमान् बना--
इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ (१।३४।१)

९. पुंश्चलू (व्यभिचारी)
१०. मागध
११. सूत
१२. शैलूष (नट)
१३. सभाचर
१४. भीमल (पहलवान)
१५. रेभ (शब्द करनेवाला, वाचट)
१६. कारिम्
१७. स्त्रीषख
१८. कुमारिपुत्र
१९. रथकार
२०. तक्षन् (बढ़ई)
२१. कौलाल (कुम्हार)
२२. कर्मार (लोहार)
२३. मणिकार
२४. वप (बीज बोनेवाला)
२५. इषुकार (बाण बनानेवाला)
२६. धनुष्कार
२७. ज्याकार (प्रत्यञ्चाकार)
२८. रज्जुसर्ज्ज (रस्सी बटनेवाला)
२९. मृगयु (मृग पकड़नेवाला)
३०. श्वनिन् (कुत्ते वहन करनेवाला)
३१. पौञ्जिष्ठ (मछुआ)
३२. नैषाद
३३. दुर्मद (पागल)
३४. व्रात्य
३५. उन्मत्त
३६. अप्रतिपद (अविश्वसनीय)
३७. कितव (जुआरी)
३८. अकितव
३९. विदलकारी (बाँस का काम करनेवाली)
४०. कण्टकीकारी (काँटे का काम करनेवाली)
४१. जार (प्रेमी)
४२. उपपति
४३. परिवित्त (अविवाहित बड़ा भाई)
४४. परिविविद (ज्येष्ठ भाई से पहले विवाह करनेवाला छोटा भाई)
४५. एदिधिषु:पति (ऐसी छोटी बहिन का पति, जिसकी बड़ी बहिन अविवाहित हो)
४६. पेशस्कारी (कसीदा बनानेवाली)
४७. स्मरकारी (कामदीप्तिकारी)
४८. उपसद
४९. अनुरुध (हठी व्यक्ति)
५०. उपदा (झट राजी हो जानेवाला)
५१. कुब्ज
५२. वामन
५३. स्राम (आँसू भरे नेत्रवाला)
५४. अन्ध (अंधा)
५५. बधिर (बहरा)
५६. भिषक्
५७. नक्षत्रदर्श (ज्योतिषी)
५८. प्रश्निन् (सदा प्रश्न पूछनेवाला)

५९. अभिप्रश्निन् (बहुत प्रश्न पूछने-वाला)
६०. प्रश्नविवाक (प्रश्नों का उत्तर देनेवाला)
६१. हस्तिप (हाथी पालनेवाला)
६२. अश्वप (घोड़ा पालनेवाला)
६३. गोपाल (ग्वाल)
६४. अविपाल (गड़रिया)
६५. अजपाल (बकरी पालनेवाला)
६६. कीनाश (हल चलानेवाला)
६७. सुराकार (शराब बनानेवाला)
६८. गृहप (चौकीदार)
६९. वित्तध (धन रखनेवाला)
७०. अनुक्षत्ता (द्वारपाल या सारथी का सेवक)
७१. दार्वाहार (लकड़हारा)
७२. अग्न्येध (आग जलानेवाला)
७३. अभिषेक्ता (अभिसिञ्चन करनेवाला)
७४. परिवेष्टा (Steward)
७५. पेशिता (प्रतिमा बनानेवाला)
७६. प्रकरिता (बाँटनेवाला)
७७. उपसक्ता (उँड़ेलनेवाला)
७८. उपमन्थिता (उपमन्थन करने-वाला)
७९. वासःपल्पूली (कपड़े धोनेवाला)
८०. रजयित्री (रंगरेज, कपड़े रँगने-वाली)
८१. स्तेनहृदय (चोरी की भावना-वाला)
८२. पिशुन (परवृत्तसूचक, चुगलखोर)
८३. क्षत्ता (प्रतीहार, ड्योढ़ी पर रहनेवाला)
८४. अनुक्षत्ता (प्रतीहार-सेवक)
८५. अनुचर (सेवक)
८६. परिष्कन्द (चारों ओर दौड़ने-वाला, पियादा)
८७. प्रियवादिन् (मीठा बोलनेवाला)
८८. अश्वसाद (घुड़सवार)
८९. भागदुघ (विभाग या हिस्सा बाँटनेवाला)
९०. परिवेष्टा (बड़ा चपरासी)
९१. अयस्ताप (लोहा गलानेवाला)
९२. निसर (दूर करनेवाला)
९३. योक्ता (जोतनेवाला)
९४. अभिसर्ता (वध करनेवाला, आक्रामक)
९५. विमोक्ता (छुड़ानेवाला, जुआ खोलनेवाला)
९६. त्रिष्ठिन् (तीन पैरों पर खड़ा होनेवाला, शीलवन्त)
९७. मानस्कृत (अभिमानी)
९८. अञ्जनीकारी (अंजन बनाने-वाली)
९९. कोशकारी (तलवार आदि के आवरण बनानेवाली)
१००. असू (वन्ध्या, पुत्रहीना)
१०१. यमसू (जुड़वाँ बच्चेवाली)
१०२. अवतोका (जिसका गर्भ गिर गया हो)

१०३. पर्यायिगी (अनुक्रम प्रज्ञा)
१०४. अविजाता (अप्रसूता)
१०५. अतीत्वरी (अति कुलटा)
१०६. अतिष्कद्वरी (अति स्रवण करने-वाली)
१०७. विजर्जरा (जीर्ण अंगोंवाली)
१०८. पलिक्नी (श्वेत केशवाली)
१०९. अजिनसन्ध (मुर्दा चमड़ा साफ करनेवाला)
११०. चर्मम्न (चमड़ा पकानेवाला)
१११. धैवर (मछुआ या कैवर्त)
११२. दाश (एक प्रकार का धीवर)
११३. वैन्द (निषादपुत्र)
११४. शौष्कल (मत्स्यजीवी)
११५. मार्गार (मछली पकड़नेवाला)
११६. कैवर्त (मछलीमार)
११७. आन्द (बन्धनकर्त्ता)
११८. मैनाल (जाल में मछली फँसाने-वाला)
११९. पर्णक (भिल्ल)
१२०. किरात
१२१. जम्भक (हिंसक)
१२२. किम्पुरुष (कुत्सित नर, जंगली मनुष्य)
१२३. पौल्कस
१२४. हिरण्यकार (सुनार)
१२५. वणिक् (बनिया)
१२६. ग्लाविन् (हर्षहीन)
१२७. सिध्मल (कोढ़ी)
१२८. जागरण (रात को जागनेवाला)
१२९. स्वपन (बहुत सोनेवाला)
१३०. जनवादिन् (बहुत बकनेवाला)
१३१. अपगल्भ (निर्लज्ज)
१३२. प्रच्छिद (टुकड़े-टुकड़े करने-वाला)
१३३. कितव (जुआरी)
१३४. आदिनवदर्श (प्रतियोगी का बुरा सोचनेवाला)
१३५. कल्पिन् (कल्पक), (जुआ-प्रबन्धक)
१३६. अधिकल्पिन् (मुख्य प्रबन्धक)
१३७. सभास्थाणु (जुआ की सभा में बैठा रहनेवाला)
१३८. गोव्यच्छ (गाय के पास जाने-वाला)
१३९. गोघात (गाय मारनेवाला)
१४०. गोविकृन्तन्त-भिक्षमाण (जो उससे भीख माँगने जाय, जो गाय काटता हो)
१४१. चरकाचार्य (चरकों का गुरु)
१४२. सैलग (दुष्ट, डाकू)
१४३. अर्तन (दुःखी)
१४४. भष (बक्की)
१४५. बहुवादिन् (बहुत बक्की)
१४६. मूक (गूँगा)
१४७. आडम्बराघात (कोलाहल कर्त्ता, डुग्गी पीटनेवाला)
१४८. वीणावाद (वीणा बजानेवाला)
१४९. शंखध्म (शंख बजानेवाला)
१५०. वनप (वन-पालक)

१५१. दावप (वन को आग से बचानेवाला)
१५२. कारि (मज़ाक करनेवाला)
१५३. शाबल्या (धब्बेदार चर्म की नारी)
१५४. ग्रामण्य (गाँव का चौधरी)
१५५. गणक (ज्योतिषी)
१५६. अभिक्रोशक (निन्दक या चौकीदार)
१५७. पाणिघ्न (ताली बजानेवाला)
१५८. तूणवध्म (तूणी या बाँसुरी बजानेवाला)
१५९. तलव (ताल देनेवाला गायक)
१६०. पीवा (स्थूल)
१६१. पीठसर्पी (पंगु)
१६२. चाण्डाल
१६३. वंशनर्तिन् (बाँस का खेल दिखानेवाला)
१६४. खलति (खल्वाट, गंजा)
१६५. हर्यक्ष (हरी आँखोंवाला)
१६६. किर्मिर (कर्बुर रंग का)
१६७. किलास (कोढ़ी-विशेष)
१६८. शुक्लपिंगाक्ष (पीली आँखोंवाला, गौरवर्ण)
१६९. कृष्ण पिंगाक्ष (पीली आँखोंवाला कृष्णवर्ण)
१७०. अतिदीर्घ (बहुत लम्बा)
१७१. अतिह्रस्व (बहुत नाटा)
१७२. अतिस्थूल (अति मोटा)
१७३. अतिकृश (अति दुर्बल)
१७४. अतिशुक्ल (अति गौरवर्ण)
१७५. अतिकृष्ण (अति काला)
१७६. अतिकुल्व (अति गंजा)
१७७. अतिलोमश (बहुत बालोंवाला)
१७८. मागध (स्तुति करनेवाला)
१७९. पुंश्चली (दुश्चरित्र स्त्री)

आयुर्वेद और ओषधियाँ

ऋग्वेद के दशममण्डल में एक ओषधि-सूक्त है जिसके ऋषि आथर्वण भिषक् हैं। इस सूक्त में ओषधियों का सुन्दर सामान्य विवरण है। ओषधियों का हमारा ज्ञान बहुत पुराना है। कहा गया है कि "ये प्राचीन ओषधियाँ देवताओं से उत्पन्न हुईं। तीनों युगों में ये विद्यमान रही हैं। इनकी संख्या ७०० के लगभग है (अथवा ये १०७ स्थानों में पायी जाती हैं), जिनमें से सोम ओषधि विशेष महत्त्व की है। सैकड़ों और सहस्रों बार इन ओषधियों का रोगियों पर प्रयोग किया गया, और उनके रोग दूर हुए। हे ओषधियो, तुम फूल और फलवाली हो। तुम रोगी के प्रति सन्तुष्ट होओ। अश्वों के समान तुम रोगी के लिए जयशील हो और रोग से पार ले जानेवाली हो। ओषधियो, तुम मातृरूप हो। मैं चिकित्सक को गौ, अश्व, वस्त्र और अपना सर्वस्व दान कर देने के लिए तैयार हूँ। हे ओषधियो, तुम्हारा अश्वत्थ और

पलाश वृक्ष पर निवासस्थान है। तुम रोगी पर अनुग्रह करती हो। तुम्हारे ऊपर गौएँ निछावर हैं, तुम कृतज्ञता की पात्र हो। जैसे राजा के लिए समिति आवश्यक है, उसी प्रकार भिषक् के लिए ओषधियाँ। जो इन ओषधियों को जानता है, वही वस्तुतः चिकित्सक है और रोगहर्ता है। मैं अश्वावती, सोमावती, अर्जयन्ती, उदोजस आदि ओषधियों को जानता हूँ।"

"कुछ ओषधियाँ फलिनी (फलवाली) हैं, कुछ अफला (बिना फलवाली) हैं, कुछ अपुष्पा हैं और कुछ पुष्पिणी हैं। ये बृहस्पति द्वारा प्रसूता हैं। स्वर्ग से नीचे आते समय ओषधियों ने कहा था कि हम जिस प्राणी पर अनुग्रह करती हैं, उसका कोई अनिष्ट नहीं होता।"

"हे ओषधियो, मैं तुम्हें खोदकर निकालता हूँ। मुझे नष्ट न करना। जिसके लिए मैं तुम्हारा खनन करता हूँ वह भी नष्ट न हो। हमारी द्विपद और चतुष्पद सम्पत्तियाँ सब नीरोग हों।[1]

१. या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च॥ १॥
शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः।
अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥ २॥
ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥ ३॥
ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुप ब्रुवे।
सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव पूरुष॥ ४॥
अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता।
गोभाज इत् किलासथ यत् सनवथ पूरुषम्॥ ५॥
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥ ६॥
अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये॥ ७॥

० ० ०

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १५॥

वैदिक ऋचाओं में प्रयुक्त वनस्पतियों और ओषधियों की नामावली हम नीचे देते हैं, जिससे अनुमान हो सकेगा कि कितनी अधिक ओषधियों से हमारा पुराना परिचय है। इनमें से लगभग सभी ओषधियों का प्रयोग आयुर्वेद के ग्रन्थों में बराबर होता आया है।

१. **अजशृंगी** (Odina pinnata)—"अजशृंग्यराटकी तीक्ष्णशृंगी व्यृषतु।" (**अथर्व०** ४।३७।६) इसी का पर्याय **अराटकी** और **विषणिन्** है।

२. **अपामार्ग** (Achyranthes aspera)—"अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदपमृज्महे।" (अथर्व० ४।१७।६)। **अथर्ववेद** के चौथे काण्ड के १७, १८ और १९ सूक्त अपामार्ग संबंधी हैं।

३. **अरटु** (Calosanthes indica)—"अरटु परम" '(**अथर्व०** २०।१३१। १५ या १७)।

४. **अर्क**—"एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु।" (**अथर्व०** ६।७२।१)।

५. **अलाबु** (Lagenaria vulgaris)—"तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात्।" (**अथर्व०** ८।१०।६।१)।
"आदलाबुकमेककम्" (**अथर्व०** २०।१३२।१)।

६. **अश्वत्थ** (Ficus religiosa)—"पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।" (अथर्व० ३।६।१)

७. **इक्षु** (Sugar cane)—"परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।" (**अथर्व०** १।३४।५)

८. **उदुम्बर** (Ficus glomerata)—"औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।" (**अथर्व०** १९।३१।१)। यह ३१वाँ सूक्त पूरा औदुम्बर मणि पर है।

अवपतन्तीरवदन् दिव ओषधयस्परि।
यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः ॥ १७ ॥

o o o

मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः।
द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥ २० ॥ **(ऋ० १०।९७)**

९. **उर्वारु, उर्वारुक** (Cucumber)—"छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव।" (**अथर्व०** ६।१४।२)। "उर्वारुकमिव बन्धनात्" (**ऋग्०** ७।५९।१२)।

१०. **करञ्ज**—"त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीः" (ऋग्० १।५३।८)।
कार्ष्मर्य—"इयं वै कार्ष्मर्यमयी असावौदुम्बरी।" (तै० सं० ५।२।७।३)।

११. **किंशुक** (Butea frondosa)—"सु किंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्" (**ऋग्०** १०।८५।२०)।

१२. **कुमुद** (Lotus)—"आण्डीकं कुमुदं संतनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली" (**अथर्व०** ४।३४।५)। आण्डीक भी संभवतः अण्डाकार फल (अथवा अण्डाकार कन्द) का कोई पौधा है। शालूक (Nenuphar), शफक (water lilies) और मुलाली भी जल में उगनेवाले फूल (कमल की जाति के) हैं। कमलों से आवृत्त झील (पुष्करिणी) का इस सूक्त में अच्छा विवरण है।

१३. **कुवल**(Jujube fruit)—"धानानां रूपं कुवलम्" (**यजु०** १९।२२)।

१४. **कुष्ठ** (Costus speciosus or arabicus)—"कुष्ठे हि तक्मनाशन" (**अथर्व०** ५।४।१)। यह (५।४) और (६।९५) सूक्त कुष्ठ ओषधि से संबंध रखनेवाले हैं।

१५. **खदिर** (Acacia catechu)—देखो अश्वत्थ (**अथर्व०** ३।६।१)। "अभिव्ययस्व खदिरस्य सारम्" (**ऋग्०** ३।५३।१९)।

१६. **खर्जूर**—"ते खर्जूरा अभवन् तेषां रस ऊर्ध्वोऽपतत्" (**तै० सं०** २।४।९।२)।

१७. **गर्मुद** (A bean) "ता यत्रावसन् ततो गर्मुदुदतिष्ठत्" (**तै० सं०** २।४।४।१)

१८. **गवीधुक** (गवेधुक)—"पयसा जुहुयाद् ग्राम्यान् पशून् छुचार्पयेत्। यदारण्याना–मारण्यान् जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा०।" (**तै० सं०** ५।४।३।२) (देखो **शतपथ** ५।२।४।१३)

१९. **गुग्गुलु** (गुल्गुलु) (Borassus flabelliformis का गोंद Bdellium)—"यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते" (**अथर्व०** १९।३८।१)। अस्थान्यशातयत् तत् पूतुद्रभवद्यन्मांसमुपमृतं तद् गुल्गुलु" (**तै० सं०** ६।२।८।८)।

२०. **गोधूम** (Wheat)—"नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे" (**यजु०** १८।१२)।

२१. **चीपुद्रु** (चीपद्रु) (अज्ञात पौधा)—"वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्"

२

(**अथर्व०** ६।१२७।२) (यक्ष्मा-नाशक)। इस पौधे का उल्लेख साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

२२. **जीवन्त**--"जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता।" (**अथर्व०** १९।३९।३) (कुष्ठ के संबंध में)।

२३. **तण्डुल** (चावल)--"उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।" (**अथर्व०** १०।९।२६)

२४. **तलाश** (अज्ञात)--"यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः।" (**अथर्व०** ६।१५।३)

२५. **तिल** (Sesamum)--"बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।" (**अथर्व०** २।८।३), देखो **तै० सं०** ७।२।१०।२ भी।

२६. **त्रायमाणा**--"जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्। त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये।" (**अथर्व०** ८।२।६)। **सुश्रुत** (३८, ३२), धन्वन्तरीय निघण्टु (१।१०) और बावर पाण्डुलिपि (पृ० २७८) में इस नाम की ओषधि है।

२७. **दर्भ** (Poa cynosuroides)--"शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्याशुषे।" (**अथर्व०** १९।३२।१)। दर्भ और दर्भमणि संबंधी कई सूक्त काण्ड १९ में हैं (सूक्त २८, २९, ३०, ३२, ३३)। दे० **ऋग्०** १।१९१।३ भी। **अथर्व०** ६।४३, १-२ और ८।७।२० में यह सोम के बराबर महत्त्व की मानी गयी है।

२८. **दूर्वा**--"यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः। कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा" (**ऋग्०** १०।१६।१३)। देखो **तै० सं०** ४।२।९।२ भी।

२९. **धव** (Grislea tomentosa)--"भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद् धवात्। भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्य रुन्धति।" (**अथर्व०**५।५।५)।

३०. **धाना** (अन्न मात्र)--"यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।" (**अथर्व०** १८।३।६९)। देखो **ऋग्०** १।१६।२, **यजु०** १९। २१,२२ भी।

३१. **धान्य** (अन्न मात्र)--"वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।" (**अथर्व०** ३।२४।२), देखो **ऋग्०** ६।१३।४ भी।

३२. **नड** (Reed)--"उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम्" (**अथर्व०** ४।१९।१)। (वार्षिक नड--वर्षा में उत्पन्न होनेवाला नड) देखो **ऋग्०** ८।१।३३ भी।

३३. **नलद** (Spikenard)—"आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद् भरे।" (**अथर्व०** ६।१०२।३), (यहाँ मदुघ का अर्थ ग्रिफिथ ने गन्ना किया है)।

३४. **न्यग्रोध** (Ficus indica)—"यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः।" (**अथर्व०** ४।३७।४; इसका उल्लेख ऋग्वेद में नहीं है)।

३५. **परुष** (Grewia asiatica or Xylocarpus granatum)—"परुषानमून्-परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः।" (**अथर्व०** ८।८।४), ग्रीफिथ ने परुषाह्व को "a kind of reed or rush" कहा है। अगर यह **सुश्रुत** का परूषक (**सु०**सूत्र० ३८।४३) है, तो यह फालसा है।

३६. **पर्ण** (Butea frondosa)—देखो धव **अथर्व०** (५।५।५) और **ऋग्०** (१०।९७।५)।

३७. **पलाल** (Straw)—"पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।" (**अथर्व०** ८।६।२)।

३८. **पाटा** (पाठा ?) (Clypea hernandifolia)—"पाटामिन्द्रो व्याश्नाद-सुरेभ्यस्तरीतवे।" (**अथर्व०** २।२७।४), (**सुश्रुत** सूत्र० ३८।६,२२, ३१,३३)।

३९. **पिप्पल** (Ficus religiosa)—"यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे। तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद।" (**ऋग्०** १।१६४।२२)।

४०. **पिप्पली**; अश्वत्थ या पिप्पल का फल (Berry)—"पिप्पली क्षिप्त-भेषज्यूताति विद्ध भेषजी" (**अथर्व०** ६।१०९।१)। यह पूरा सूक्त पिप्पली भैषज्य संबंधी है।

४१. **पीलु** (Careya arborea)—"त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते। श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः।" (**अथर्व०** २०। १३५।१२) एक बड़ा वृक्ष जो कोरोमण्डल पहाड़ियों पर होता है और गरमियों में फूलता है। कुछ इसे Salvadora persica मानते हैं, जो मझली ऊँचाई का होता है और वर्ष भर फूलता-फलता है। (ग्रिफिथ)

४२. **पुण्डरीक** (कमल—Lotus)—"आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे।" (**ऋग्०** १०।१४२।८)

४३. **पुष्कर** (blue lotus)—"त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः।" (**अथर्व०** ११।३।८)। देखो **ऋग्०** ६।१६।१३; **यजु०** ११।२९ भी।

४४. **पूतीका** (अथवा पूतीकरञ्ज)—"यत् पूतीकैर्वा पर्णवल्कैर्वा" (**तै० सं०** २।५।३।५)। (सोमवल्लीसमानाया लतायाः खण्डाः पूतीकाः। पलाशकाष्ठस्यांशाः पर्णवल्काः—सायण)।

४५. **पूतुदारु** (पूतुद्रु) (Acacia catechu या Pinus deodar)—"अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम्" (**अथर्व०** ८।२।२८), (देखो पीतुदारु, **शतपथ** ३।५।२।१५ भी)। कुछ इसे खदिर, देवदारु या पलाश मानते हैं।

४६. **पृश्निपर्णी** (Hemionitis cordifolia)—"सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत" (**अथर्व०** २।२५।२)। यह पूरा सूक्त पृश्निपर्णी के संबंध का है। (देखो **शतपथ** १३।८।१।१६ भी)।

४७. **प्रियङ्गु** (Millet)—"खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मे" (**यजु०** १८।१२), देखो **तै० सं०** २।२।११।४ भी।

४८. **प्लक्ष** (Ficus infectoria)—देखो "धव" (**अथर्व०** ५।५।५), **तै० सं०** ६।३।१०।२ भी देखो।

४९. **बदर** (बेर) (Jujube)—"सक्तूनां रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य" (**यजु०** १९।२२)।

५०. **बल्बज** (Eleusine indica)—"यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन" (**अथर्व०** १४।२।२३) (एक प्रकार की घास)। देखो **ऋग्०** ८।५५।३ और **तै० सं०** २।२।८।२ भी।

५१. **बिल्व** (Aegle marmelos)—"महान् वै भद्रो बिल्वो महान् भद्र उदुम्बरः" (**अथर्व०** २०।१३६।१५)।

५२. **मदुघ**, मधुघ (गन्ना)—"मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः" (**अथर्व०** १।३४।४); "घृतवती भुवनानामभिश्रियोर्वी पृथ्वी मधुदुघे सुपेशसा" (**ऋग्०** ६।७०।१)। सम्भवतः यह मधूक वा महुआ हो।

५३. **मसूर** (Lentil)—देखो "गोधूम" (**यजु०** १८।१२)।

५४. **माष** (Beans)—"व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्" (**अथर्व०** ६।१४०।२)। देखो **तै० सं०** ५।१।८।१ भी।

५५. **मुञ्ज** (Saccharum munja)—"एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्" (**अथर्व०** १।२।४)। देखो **ऋग्०** १।१९१।३, **तै० सं०** ५।१।९।५ और **शतपथ** ४।३।३।१६ भी।

५६. **मुद्ग** (Kidney beans)—"व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च में

तिलाश्च मे मुद्‌गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे०" (**यजु०** १८।१२)।

५७. **यव** (Barley)--देखो मुद्ग (**यजु०** १८।१२), **ऋग्०** १।२३।१५, **अथर्व०** २।८।३, **तै० सं०** ६।२।१०।३।

५८. **रजनी** (Curcuma longa)--"नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रंजय किलासं पलितं च यत्।" (**अथर्व०** १।२३।१)--श्वेत कुष्ठ-नाशक औषध।

५९. **लाक्षा** (Lac tree)--"अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्माबभूव ते।" (**अथर्व०** ५।५।७)--यह पूरा सूक्त लाक्षा को लक्ष्य करता है।

६०. **वंश** (Bamboo)--"ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङक्ष्व शत्रून्।" (**अथर्व०** ३।१२।६); **ऋग्०** १।१०।१ भी देखो।

६१. **वरण** (Crataeva roxburghii)--"वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।" (**अथर्व०** ६।८५।१), (देखो **शतपथ** १३।८।४।१)।

६२. **वल्क** (छिलका, पर्णका)--"यत् पूतीकैर्वा पर्णवल्कैर्वा" (**तै० सं०** २।५।३।५)।

६३. **विभीतक** (विभीदक) (Terminalia bellerica) --"न स स्वो दक्षो वरुणध्रुतिः सा। सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः" (**ऋग्०** ७।८६।६); "सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्" (**ऋग्०** १०।३४।१)। इसके फलों से जुआ के पासे बनते थे।

६४. **विषाणक** (अनिश्चित पौधा)--"विषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी" (**अथर्व०** ६।४४।३)।

६५. **वेणु** (Reed)--"वेणोरद्‌गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः (**अथर्व०** १।२७।३)। देखो **तै० सं०** ५।२।५।२, **ऋग्०** ८।५५।३ और **शतपथ** १।१।४।१९।

६६. **वेतस**--"यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद" (**अथर्व०** १०।७।४१)। देखो **ऋग्०** ४।५८।५; **यजु०** १७।६; **तै० सं०** ५।३।१२।२।

६७. **व्रीहि**--देखो "माष" (**अथर्व०** ६।१४०।२); **तै० सं०** ७।२।१०।३।

६८. **शण** (Cannabis sativa या hemp)--"शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्" (**अथर्व०** २।४।५)।

६९. **शमी**--"वैकंकतीमादधाति भा एवावरुन्धे शमीमयीमा-दधाति" (**तै० सं०** ५।१।९।६)। देखो **शतपथ** २।५।२।१२। शमीमश्वत्थ (**अथर्व०** ६।११।१)

७०. **शल्मलि** (Salmalia malabarica या silk cotton tree)—"यच्छल्मलौ भवति यन्नदीषु यदोषधीभ्यः परिजायते विषम् ।" (**ऋग्०** ७।५०।३), देखो **शतपथ** १३।२।७।४ ।

७१. **शिंशपा**—"यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः (**अथर्व०** २०।१२९।७) "अभि व्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम् ।" (**ऋग्०** ३।५३।१९) ।

७२. **श्यामाक**—"दक्षिणा सौम्यं श्यामाकं चरुं वासो दक्षिणा०" (**तै० सं०** १।८।१।२); देखो **शतपथ** १०।६।३।२; यजु० १८।१२ ।

७३. **सह**—"पञ्च राज्यानि वीरुधां सोम श्रेष्ठानि ब्रूमः । दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः" (**अथर्व०** ११।६।१५) । संभवतः यह **सुश्रुत** सूत्र० ३८।१२; ३९।७ का "सहचर" हो ।

७४. **सहदेवी**—"शर्म यच्छत्वोषधिः सहदेवीररुन्धती" (**अथर्व०** ६।५९।२), देखो **सुश्रुत** सूत्र० ३८।४ ।

७५. **सुगन्धितेजन**—"तां सुगन्धितेजने यां पशुषु तां०" (**तै० सं०** ६।२।८।४) ।

७६. **सैर्य**—"शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत ।।" (**ऋग्०** १।१९१।३) (शर, कुशर, दर्भ, सैर्य, मुञ्ज और विरण—ये तरह तरह की घासें हैं,जिनमें साँप बिच्छू आदि रहते हैं—ग्रिफिथ) (देखो **सुश्रुत** सूत्र० ३८।७३—"सैरीयक") ।

७७. **सोम**—ऋग्वेद का नवम मण्डल, **चरक** "सोमवल्क" ४।१५ ।

७८. **हारिद्रव**—"अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं निदध्मसि" (**ऋग्०** १।५०।१२)। (सायण ने इसे "हरिताल द्रुम" माना है, पर इस नाम का वृक्ष अज्ञात है)।

वैदिक वनस्पतियों का प्रचार न केवल भारत में ही था, प्रत्युत इनके गुणों की ख्याति मिस्र, सुमेरु, असीरिया, बेबीलोनिया आदि देशों में भी पहुँची थी । डा० फिलिओज़े (Filliozat) ने अपने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह प्रदर्शित किया है कि ईसा से १५०० वर्ष पहले मध्य-पूर्व और पूर्व के देशों में लगभग एक-सी ही ओषधियों का प्रचार था । बेबीलोनिया के हम्मुरबी (Code of Hammurabi १९४८–१९०५ ई० पू०) और मिस्र में एबर्स-पेपिरस, स्मिथ के पेपिरस (Ebers papyrus, Smith's papyrus) की जब से खोजें हुईं, तब से इन देशों पर भारतीयता की छाप का स्पष्ट प्रमाण मिला है । एबर्स पेपिरस में ११० पृष्ठों में ९०० के लगभग चिकित्सा संबंधी अनुभूत योग दिये हुए हैं । ये लेख ईसा से १५०० वर्ष पूर्व के हैं । **चरक संहिता** में वनस्पतियों, ओषधियों आदि द्रव्यों की

संख्या लगभग ५०० है। **सुश्रुत** में ३८५ है, कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** में सम्पूर्ण संख्या ३३० है। इन संख्याओं को देखते हुए वैदिक संहिताओं में ७८ वनस्पतियों का उल्लेख प्राप्त होना महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। वनस्पतियों के साथ यदि अन्य द्रव्यों की गणना कर ली जाय (जैसी कि चरक आदि में की गयी है) तो यह सूची १३० द्रव्यों की हो जाती है।[1] असीरिया देश का आयुर्वेद शास्त्र ईसा से ३००० वर्ष पूर्व तक का माना जाता है। भारत और असीरिया देश के नामों में बहुत कुछ साम्य है। **अथर्ववेद** की "अलाबु" (८।१०।२९-३०) या **मैत्रेयी संहिता** की "अलापु" ओषधि असीरिया की "अलापु" (alapu) है। सुमेरु देश में एरण्ड को रुबु (Rubu) या रुबुयक (Rubuyaka) कहते हैं। रुबु का अर्थ "अधिकता से उत्पन्न होना" है। एरण्ड के लिए आयुर्वेद में एक पर्याय "वर्धमान" है, जिसकी भावना भी "रुबु" की भावना से मिलती जुलती है। धनिया के लिए एक शब्द हमारे ग्रन्थों में "कुस्तुम्बुरु" मिलता है। सुमेरु भाषा में "बुरु" का अर्थ "पौधा" और "कुस्तु" का अर्थ अन्न या धान्य है। इस प्रकार धनिया के लिए धान्यक शब्द भी उसी अभिप्राय का द्योतक है, जो कुस्तुम्बुरु शब्द का है। इसी प्रकार संकुंगु (या संगुंगु) संस्कृत कङ्गु; अस्ल=अश्वबाल, सम् उंशतु=हम मूठा=मुस्ता; कल्बी=कदली इत्यादि हैं।

औषध-रसायन

वैदिक काल में ओषधियों और वनस्पतियों का उपयोग चिकित्सा-कार्य में महत्त्वपूर्ण माना जा चुका है। **अथर्ववेद** में चिकित्सा और ओषधि संबंधी अनेक सूक्त हैं। **अथर्ववेद** में ओषधियों का विभाजन स्वयं आथर्वणी, आङ्गिरसी, दैवी और मनुष्यजा इन चार भागों में किया गया है।[2] **अथर्ववेद** को भैषज्यवेद या भिषग्वेद भी कहा जाता है। वनस्पतियों के विभिन्न भाग ओषधियों के काम में आते रहे होंगे। जैसे सोम

१. **द्रष्टव्य—आर० जी० हर्षे के शिवकोश की भूमिका। हर्षे ने अपनी भूमिका में ८० वनस्पतियों की एक सूची दी है, जिनके नाम आयुर्वेद और असीरिया देश के प्राचीन वनस्पति ग्रन्थों में समान हैं। देखो**—"*A Dictionary of Assyrian Botany*"—R. Campbell Thompson, **ब्रिटिश एकेडेमी, १९४९)।**

२. **आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत। ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥ (अथर्व० ११।४।१६)**

परिस्रुत किया जाता है, उसी प्रकार ये ओषधियाँ भी परिस्रुत की जाती होंगी। खल्व, मुसल, दृषद् आदि उपकरणों द्वारा ये भी कूटी-कुचली जाती होंगी। इनके रस निकालने और चलनी या कपड़े से छानने का विधान भी सांकेतिक रूप में अनेक स्थलों पर अवश्य मिलता है। आँखों में लगाने के अञ्जन अवश्य ओषधियों को पीसकर और छानकर बनाये जाते होंगे।[1] **अथर्ववेद** में अंजन संबंधी दो सूक्त हैं (७।३०, ३६)। अपामार्ग वनस्पति का उल्लेख करते समय कच्ची मिट्टी के पात्र और ऐसी पक्की मिट्टी के पात्र का, जिसका रंग पककर नील-लोहित हो गया है, उल्लेख है। कच्ची मिट्टी के पात्र में विष रखकर जब गरम किया जाता है, तो आग पर रखने पर यह चटक जाता है और जोर की आवाज होती है, इस बात का निर्देश भी अपामार्ग के संबंध में किया गया है।[2] "फट् करिक्रति" शब्द इस विस्फोट के द्योतक हैं। डण्डे से किये गये घाव, तीर के घाव या चोट के घाव में "सिलाची" (लाक्षा) ओषधि का प्रयोग अचूक लाभवाला बताया गया है।[3] इस कार्य के लिए भी सिलाची या लाक्षा को पीसा और गरम किया जाता होगा। अन्य ओषधियों की तो बात अलग है, पानी को भी अथर्ववेद में ओषधि माना गया है—"**अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्**" (१।४।४)। सोम ने कहा है कि पानी में ही सब ओषधियों को रखना चाहिए।, (अनेक ओषधियाँ पानी में घुलती हैं)—"**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्**" (**अथर्व** १।६।२)। पानी में ये ओषधियाँ अग्नि के संयोग से अर्थात् गरम करके घोलनी चाहिए। ओषधियों के काम के पानी वे हैं, जो पृथिवी खादकर निकाले जाते हैं, घड़ों में लाकर रखे जाते हैं और उनमें भी अधिक महत्त्व के वे जल हैं, जो वर्षा से प्राप्त होते हैं।[4]

सोम और सोमयाग

सोमवल्ली या सोमलता के संबंध में बड़ा विवाद है। वैदिककालीन और

१. **यां ते चक्रुरामे पात्रे या चक्रुर्नीललोहिते।** (अथर्व० ४।१७।४)

२. **अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।**
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥ (अथर्व० ४।१८।३)

३. **यद् दण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम्।**
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम्॥ (अथर्व० ५।५।४)

४. **शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः। शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥**(अपां **भेषजम् सूक्त, अथर्व० १।६।४**)

ब्राह्मणकालीन ग्रन्थों में इसका इतना विस्तृत विवरण है कि यह कहना कि "सोम" कल्पित ही था, कठिन है। पारसियों के साहित्य में भी इसका उल्लेख है। डा० ग्रिफिथ ने **अथर्ववेद** के अनुवाद में षष्ठ काण्ड के १५वें सूक्त की पादटिप्पणी में इस संबंध में इस प्रकार कहा है कि 'अभी कुछ दिनों पहले तक हम यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कह सकते थे कि यह प्रसिद्ध सोम पौधा कौन-सा है।' डा० एटकिसन (Aitchison) ने कहा है कि 'यह पौधा वस्तुतः वह है जिसका लेटिन वानस्पतिक नाम इफीड्रा पेकिक्लेड (Ephedra pachyclade) है, और जिसका नाम-हरीरुद घाटी (Harirud valley) में हुम, हुमा या यहमा (hum, huma या yahma) है।' करमान में डा० जोसेफ बोर्नमूलर नामक एक अनुभवी वनस्पतिशास्त्रवेत्ता बहुत दिनों तक रहा और उसने भी एटकिसन के विचारों की पुष्टि की। उसका भी कहना है कि 'सोम इफीड्रा वर्ग का ही कोई पौधा रहा होगा। संभवतः यह इफीड्रा डिस्टेक्या (*Ephedra distachya*) हो।' उसका यह भी कहना है कि 'इफीड्रा की विभिन्न जातियाँ साइबेरिया से लेकर आइबीरियन प्रायद्वीप तक पायी जाती हैं। कुछ लोगों ने सोम पौधे के आधार पर आर्यों का आदिम निवासस्थान निश्चित करने का भी प्रयत्न किया, पर इस इफीड्रा की विभिन्न जातियाँ इतने विस्तृत भाग में फैली हुई हैं कि हम इस संबंध में कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते।"[1]

सोम को ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और उसी प्रकार "तलाशा" को वृक्षों की रानी कहा गया है।[2] ब्राह्मण ग्रन्थों में सोम को सोम राजा माना गया है। सोम और तलाशा के अतिरिक्त, **अथर्ववेद** के अगले ही सूक्त में आबय नामक एक पौधे का उल्लेख है, जो अपने प्राकृतिक रूप में विषैला है, पर जिसका रस पकाने पर विषरहित हो जाता है। इसका बना करम्भ (gruel) उपकारी पेय है। आबय के पिता का नाम **विहह्ल** और माता का नाम **मदावती** बताया गया

१. द्रष्टव्य—मैक्समूलर, बायोग्राफी आव् वर्ड्स्, परिशिष्ट ३—होम्स आव् ऋग्वेद, भाग १, पृ० ३; और क्वार्टर्ली रिव्यू, सं० ३५४, अक्टूबर, १८९४, पृ० ४५५।

२. यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविशां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः। (अथर्व० ६।१५।३)
तलाशा एक अज्ञात पौधा है। केशव के आधार पर यह वेतसी है। (ग्रीफिथ)

है। ये भी संभवतः कोई विषैले पौधे रहे होंगे, पर ठीक से पकाया गया या शोधा गया आबय विषैला नहीं है। इसी सूक्त में "तौविलिका" नामक एक पौधे का नाम आया है। इसी प्रकार "निराल" शब्द का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं है, संभव है कि यह कोई पौधा हो या मछली। इसी प्रकार **अलसाला, सिलाञ्जाला** और **नीलागलसाला** भी कोई पौधे हैं, जो पानी के भीतर या जलाशयों के किनारे उगते रहे होंगे।[१]

सोम सुरा से भिन्न है। सुरा शब्द का प्रयोग अलग ही आता है। सुरा, मांस जुआ और अन्त में स्त्रियोंके साथ संपर्क—ये चार कृत्य एक ही प्रकार के निन्दनीय हैं।[२]

सोम याग का विवरण ब्राह्मण ग्रन्थों में विस्तार से है। सोम का रस निकालने और इसका हव्य तैयार करने के संबंध में जिन उपकरणों और प्रक्रियाओं का विधान है, वे रसशालाओं के उपकरणों और प्रक्रियाओं का स्मरण दिलाती हैं। इस विषय का कुछ स्पष्टीकरण अगले अध्याय में हो जायगा।

निर्देश

१. **ऋग्वेद संहिता**—सायण भाष्य—वैदिक संशोधन मंडल, पूना, १९४६।

२. **ऋग्वेद संहिता** (१९४०), **यजुर्वेदसंहिता** (१९२७) और **अथर्ववेद संहिता** (१९४३)—स्वाध्याय मंडल, औंध।

३. **तैत्तिरीय संहिता**।

४. ए० बी० कीथ, **दि वेद आव् दि ब्लैक यजुष् स्कूल** (तैत्तिरीय संहिता)—हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९१४।

५. सत्यप्रकाश, **वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा**—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना. १९५४।

६. आर० जी० हर्षे, **दि शिवकोश आव् शिवदत्त मिश्र** (की भूमिका)—डेकेन कालेज, पोस्ट ग्रेडुएट एण्ड रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना (१९५२)।

१. आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आते करम्भमद्मसि ॥ विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता। स हि नत्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला ॥ (अथर्व० ६।१६।४)

२. यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ॥ (अथर्व० ६।७०।१)

दूसरा अध्याय

शतपथ ब्राह्मण का युग

वैदिक साहित्य में वेदसंहिताओं के अनन्तर प्रतिष्ठा की श्रेणी में ब्राह्मण ग्रन्थों का मान है। **ऋग्वेद** का ब्राह्मण **ऐतरेय** है, **अथर्ववेद** का **गोपथ** है और इसी प्रकार **शुक्ल यजुर्वेद** का ब्राह्मण ग्रन्थ **शतपथ** है। इसके चौदह काण्डों में १०० अध्याय हैं, इसीलिए इसका नाम **शतपथ** है। इन ग्रन्थों को ब्राह्मण क्यों कहते हैं, इसके सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ हैं—(१) ये ग्रन्थ ब्राह्मण-याज्ञिकों के लिए रचे गये थे इसलिए ये ब्राह्मण हैं, (२) परम विद्वान् आप्त ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा ये रचे गये, इसलिए ये ब्राह्मण हैं, अथवा (३) ब्रह्मन् (पूजा या स्तुति) शब्द से "ब्राह्मण" शब्द की व्युत्पत्ति है, क्योंकि इन ग्रन्थों में पूजा या यज्ञों का विधान है। **शतपथ** ब्राह्मण के प्रत्येक छोटे परिच्छेद का नाम भी ब्राह्मण है।

शतपथ के दो पाठ मिलते हैं, माध्यन्दिनीय और काण्व। काण्वशाखा का **शतपथ** पूरा प्राप्त नहीं है, इसके १७ काण्डों में से ३ काण्ड अप्राप्य हैं। माध्यन्दिनीय शाखा के **शतपथ** में १४ काण्ड हैं। पतञ्जलि ने पाणिनि के सूत्र (४, २, ६०) पर जो भाष्य करते समय कारिका दी है उसमें "शतपथ" के साथ "षष्टिपथ" भी एक शब्द निष्पन्न होता है।[1] माध्यन्दिनीय शाखा के **शतपथ ब्राह्मण** के प्रथम नौ काण्डों में ६० अध्याय हैं, इसलिए कुछ लोगों की यह कल्पना है कि ये ६० अध्याय ही **शतपथ** के अति प्राचीन हैं, और शेष ५ काण्डों के चालीस अध्याय सापेक्षतया नवीन हैं। पर इस कल्पना में अधिक सार नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में निर्दिष्ट आचार्यों की परम्परा बड़ी पुरानी है। **शतपथ के** दशम काण्ड और चौदहवें काण्ड के अन्त में दो वंशावलियाँ दी हुई हैं—

दशम काण्ड	**चतुर्दश काण्ड**
१. स्वयम्भु ब्रह्म	१. आदित्य
२. प्रजापति	२. अम्भिणि
३. तुर कावषेय	३. वाक्

१. इकन् पदोत्तरपदात् शतषष्टेः षिकन् पथः।

४. यज्ञवचस् राजस्तम्बायन
५. कुश्रि
६. शाण्डिल्य
७. वात्स्य
८. वामकक्षायण
९. माहित्थि
१०. कौत्स
११. माण्डव्य
१२. माण्डूकायनि
१३. साञ्जीवीपुत्र

४. कश्यप नैध्रुवि
५. शिल्पकश्यप
६. हरित् कश्यप
७. असित वार्षगण
८. जिह्वावत् बाध्ययोग
९. वाजश्रवस्
१०. कुश्रि
११. उपवेशि
१२. अरुण
१३. उद्दालक
१४. याज्ञवल्क्य
१५. आसुरि
१६. आसुरायण
१७. प्राश्नी-पुत्र
१८. कार्शकेयी-पुत्र
१९. साञ्जीवी-पुत्र इत्यादि

वंशावलियों में दिये गये इन नामों के अतिरिक्त मूल ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर अनेक विचारकों के नामों की ओर संकेत हैं और अमुक-अमुक विषयों पर उनके अभिमत क्या हैं, यह दिया हुआ है। जैसे, जीवल चैलकि, कहोड कौषीतकि, प्रतीदर्श स्वैक्न, सुप्लाँ सार्ञ्जय, सहदेव सार्ञ्जय, देवभाग श्रौतर्ष, अश्वपति कैकेय, अश्वसामुद्रि, धीर शातपर्णेय, अरुण औपवेशि, सत्ययज्ञ पौलुषि, महाशाल जाबाल, बुडिल आश्वत-राश्वि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जनशार्कराक्ष्य, आदि। शतपथ में विदेह के जनक और धृतराष्ट्र के श्वेतमेध्य (यज्ञ का घोड़ा), जनमेजय पारीक्षित, कुबेर वैश्रवण (राक्षसों का राजा), कुरुक्षेत्र, कुरु-पांचाल, मत्स्य साम्मद राजा (जल में रहनेवालों---उदके-चर---का), उग्रसेन, उद्दालक आदि अनेक नामों का निर्देश है, जो रामायण, महाभारत और बाद के काल में भी प्रसिद्ध हुए। पर शतपथ ब्राह्मण रामायण और महाभारत से कहीं पूर्व की रचना है।

शतपथ के समय की धातुएँ

शतपथ में ताँबा, लोहा, चाँदी, सीसा और सोना इन पाँच धातुओं का उल्लेख पाया जाता है।

ताँबे के लिए ब्राह्मण साहित्य में "लोह" शब्द का प्रयोग होता है, क्योंकि ताँबा लाल रंग का होता है (लोहित या रोहित शब्दों का अर्थ लाल है)। लोह अर्थात् ताँबे के क्षुर बनते थे जिनका उपयोग क्षौरकर्म अर्थात् मूँछ, दाढ़ी और सिर के बाल बनाने में होता था। क्षौरकर्म में छुरे के साथ-साथ तीन स्थानों पर धब्बे पड़ी साही की शलाका (अर्थात् श्येनी शलली) का भी व्यवहार किया जाता था।[1]

शतपथ के एक स्थल पर प्रश्न उठाया गया है कि घृत की आहुति मृन्मय पात्र (मिट्टी के बर्तन) में क्यों दी जाय। इसके उत्तर में युक्ति यह है कि यदि लकड़ी के पात्र में दगे तो वह जल जायगी, यदि सोने के पात्र में देंगे, तो वह घुल जायगा (प्रलीयेत) और यदि लोहमय पात्र में (ताँबे के पात्र में), तो वह गल जायगा (प्रसिच्येत), और यदि अयस्मय पात्र में, तो उसकी परीशासें (पकड़ने के दंड) गरम हो उठेंगी, इसी लिए मृन्मय पात्र का प्रयोग उचित बताया गया है।[2]

ताँबे के लिए लोहायस् शब्द का भी प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ लाल धातु है। (अयस् शब्द धातु मात्र के लिए भी प्रयोग में आता है)। विधान है कि नपुंसक (केशव–अर्थात् लम्बे बालोंवाले) व्यक्ति के मुख में ताँवे का टुकड़ा रखा जाय। लोहायस् न अयः (लोहा) है और न हिरण्य (सोना), अर्थात् न स्त्री है और न पुरुष।[3]

चाँदी के लिए शतपथ में रजत-हिरण्य (अर्थात् सफेद सोना) शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4] अकेला रजत शब्द भी चाँदी के लिए आया है। चाँदी और सोना दोनों के रुक्म (तश्तरी) बनाये जाते थे। जो संबंध बिजली और ओले (ह्लादुनि) में है, वही सोने और चाँदी में।[5] रजत हिरण्य दक्षिणा का अर्थ चाँदी की

१. तत् श्येनी शलली भवति लोहः क्षुरः। (२।६।४।५)
२. स यद्वानस्पत्यः स्यात् प्रदह्येत, यद्धिरण्यमयः स्यात् प्रलीयेत, यल्लोहमयः स्यात् प्रसिच्येत, यदयस्मयः स्यात् प्रदहेत्परीशासावथैषऽएवैतस्माऽअतिष्ठत तस्मादेतम्मृन्मयेनैव जुहोति॥ (१४।२।२।५४)
३. केशवस्य पुरुषस्य लोहायसमास्यऽआविद्ध्यत्यवेष्टा....न वाऽएष स्त्री न पुमान् यत् केशवः पुरुषो यदुह पुमांस्तेन स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान् नैतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसं। (५।४।१।१–२)
४. तत्रेत्यङ्कुर्याद् रजतं हिरण्यं दर्भे प्रबद्ध्य। (१२।४।४।७)
५. अथ सुवर्णरजतौ रुक्मौ व्युपास्यति।...सुवर्ण एव रुक्मो विद्युतो रूपं रजतो ह्लादुनेः। (१२।८।३।११)

दक्षिणा है ।[१] शतमान चाँदी की दक्षिणा देने की ओर संकेत है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाँदी के सिक्के कई रंगों के होते होंगे (नानारूपतायाः) । एक स्थल पर चाँदी की तश्तरी को सिकता या बालू में दबाने की ओर संकेत है ।[२]

पशुमेध में अश्व के काटने के लिए सोने का चाकू, पर्यङ्ग्यो के लिए ताँबे के (लोहमय) चाकू और अन्यों के लिए लोहे के चाकू (आयस) का उल्लेख है ।[३] लोहे को अयस् और उससे बने पदार्थों को आयस कहा गया है। लोहे के बने चरु (कटोरा) का भी उल्लेख है, लोहे के बने पदार्थों को प्रजा के तुल्य माना गया है ।[४]

हिरण्य अर्थात् सोने की **शतपथ** में बड़ी महिमा है । इसे अमृत आयु बताया गया है ।[५] इसे अमृत के साथ-साथ ज्योति भी कहा गया है ।[६] हिरण्य अमृत है, इसलिए इसके द्वारा मार्जन (परिशुद्धि) किया जाता था ।[७] (**कात्यायन श्रौतसूत्र** में मार्जन का विधान यह है कि हाथ में सोने का टुकड़ा ले और फिर पानी छोड़े—**श्रौत**० १९।३।२७ ।)

शतपथ के एक स्थल पर सोने के तारों से बुनाई करने (प्रवयन) की ओर संकेत है । ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न भारों के सोने के सिक्के भी बनाये जाते थे । एक स्थल पर शत-मान के तीन सुवर्णों को दक्षिणा के रूप में देने की ओर संकेत है । एक स्थल पर सोने के सिक्के का नाम निष्क दिया हुआ है ।[९]

१. रजतं हिरण्यन्दक्षिणा नानारूपतायाऽअथो उत्क्रमायानपक्रमाय शतमानम्भवति । (१३।४।२।१०)
२. अथोत्तरतः सिकता उपकीर्णा भवन्ति तद्रजतं हिरण्यमधस्तादुपास्यति । (१४।१।३।१४)
३. हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति, लोहमयाः पर्यङ्ग्याणाम् आयसाऽ इतरेषाम् । (१३।२।३।१६) । अथ यदायसा इतरेषाम् (१३।२।३।१९)
४. अयस्मयेन चरुणा तृतीयामाहुतिं जुहोति । आयस्या वै प्रजा ।(१३।३।४।५)
५. अमृतमायुर्हिरण्यम् । (५।३।५।१५; ५।४।१।१४)
६. ज्योतिर्वै हिरण्यं . . . अमृतं हिरण्यम् । (६।७।१।२)
७. हिरण्येन मार्जयन्तेऽमृतं वै हिरण्यम् । (१२।८।१।२२)
८. तद्यद्धिरण्यं प्रवयत्यमृतमायुर्हिरण्यम् । (५।३।५।१५)
९. (क) त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा । (५।५।५।१६)
(ख) तस्य निष्कऽउपाहितऽआसैतद्ध स्म वै । (११।४।११)

हिरण्य पत्थरों के बीच में पाया जाता था। अश्म या पत्थर को तपाकर हिरण्य प्राप्त किया जाता था। प्रजापति ने सिकता (बालू) से शर्करा (पत्थर के टुकड़े) बनायी, शर्करा से अश्म बनाया, अश्म से अयस् (खनिज द्रव्य या अयस्क--Ore) बनाया, और अयस् को तपाकर हिरण्य निकाला।[1] हिरण्य को एक स्थल पर अग्नि का रेतस् (वीर्य) बताया गया है, अग्नि और जलों के मैथुन के समय अग्नि का वीर्य ही सोना बना।[2] अग्नि का वीर्य सोना है, इसी लिए यज्ञ में सोना दक्षिणा के रूप में दिया जाता है।

सोने के टुकड़ों का नाम हिरण्यशकल था।[3] पीले सोने के लिए हरित हिरण्य शब्द का प्रयोग हुआ है।[4] हिरण्य या रजत-हिरण्य शब्द का प्रयोग चाँदी के लिए और सुवर्ण हिरण्य का प्रयोग सोने के लिए हुआ है, और इसे इन्द्र का वीर्य्य भी माना गया है। इन्द्र की नाभि से जो शूष बहा वह सीसा बना (न कि लोहा या चाँदी) और इन्द्र के शिश्न से जो रस बहा वह परिस्रुत (कच्ची शराब) बना। उसकी स्फिगी (नितम्ब) से जो भाम (fire) बहा उससे सुरा बनी, जो अन्न का रस है।[5]

सोने का उपयोग तार, टुकड़ा (शकल) और सिक्का (निष्क) इन तीन रूपों में होता था, जिसका उल्लेख ऊपर हम कर आये हैं। सोने के तारों से बुने हुए कशिपु (कुशन या आसन), कूर्च (बैठने के स्टूल या सपाद आसन---कात्यायन २०, २, १९), और फलक (slab) भी बनते थे।[6] हिरण्य-शकलों के प्रयोग से सुनहरी ईंटें

१. सिकताभ्यः शर्करामसृजत, तस्मात्सिकताः शर्करैवाऽन्ततो भवति, शर्कराया-अश्मानं तस्माच्छर्कराऽश्मैवाऽन्ततो भवत्यश्मनोऽयस्तस्मादश्मनोऽयो धमन्त्ययसो हिरण्यं, तस्मादयो बहु ध्मातं हिरण्यसङ्काशमिवैव भवति। (६।१।३।५)

२. अग्निर्ह वाऽअपोऽभिदध्यौ मिथुन्याभिः स्यामिति ताः संबभूव तासु रेतः प्राऽसिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत् (२।१।१।५)। अग्निरेतसं वै हिरण्यम् (३।३।१।३)। अग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्धिरण्यं दक्षिणा। (४।५।१।१५)

३. अथ हिरण्यशकलमवदधात्। (३।८।२।२६)

४. हरितं हिरण्यन्दर्भे प्रबध्य। (१२।४।४।६)

५. नाभ्याऽएवास्य शूषोऽस्रवत्, तत्सीसमभवन्नायो न हिरण्यं, रेतसऽएवास्य रूप-मस्रवत्तत्सुवर्णं हिरण्यमभवच्छिश्नादेवास्य रसोऽस्रवत्सा परिस्रुदभवत्, स्फिगी-भ्यामेवास्य भामोऽस्रवत्सा सुराभवदन्नस्य रसः। (शतपथ १२।७।१।७)

६. हिरण्मययोः कशिपुनोः पुरस्तात्प्रत्यङध्वर्युर्हिरण्मये वा कूर्चे हिरण्मये वा फलके। (१३।४।३।१)

(हिरण्येष्टका) तैयार हो जाती थीं।[१] शतपथ में सोने से बने हुए रुक्म का उल्लेख अनेक स्थलों पर है। रुक्म या तो सोने का पत्र है या सोने का हार है जो गले में पहना जा सकता था।[२] एक रुक्म में सोने के २१ परिमण्डलों (knob) का उल्लेख है।[३] एक रुक्म में १०० या ९ छेदों का उल्लेख है।[४] रुक्म को काले हिरन के चर्म में अथवा सफेद और काले बालों के साथ सी दिये जाने की ओर भी संकेत है।[५] रुक्म नाभि के ऊपर पहना जाता था।[६] एक स्थल पर सोने और चाँदी दोनों से बने रुक्मों की ओर संकेत है।[७] सोने के निष्कों (सिक्कों) से बने हार या इसी प्रकार के आभरण को भी निष्क कहा गया है।[८]

ऊपर कहा जा चुका है कि इन्द्र की नाभि से जो शूष बहा वह सीसा बना। सीसा सोने की अपेक्षा मृदु है, और निष्क्रिय (सृतजव) है। इन्द्र ने नमुचि राक्षस को सीसे से मारा। ऐसा करने पर सीसे में से वीर्य या तेज नष्ट हो गया और इसी लिए सीसा मृदु पड़ गया। वैसे तो यह सोने के समान ही था, पर निस्तेज होने से अब इसका कोई मूल्य न रह गया।[९] अन्यत्र, सीसा को सोने और लोहे का ही रूप बताया

१. यद् हिरण्यशकलैः प्रोक्षति सा हिरण्येष्टका। (६।१।२।३०)
२. तदुपरिष्टाद्रुक्मं निदधाति। (५।२।१।२१)
३. रुक्मं प्रतिमुच्य बिभर्त्ति। .... हिरण्यं ज्योतिरेषोऽमृतं हिरण्यममृतमेष परिमण्डलो भवति परिमण्डलो ह्येषऽएकविंशतिनिर्बाधऽएकविंशो ह्येष बहिष्ठान्निर्बाधं बिभर्त्ति। .... (६।७।१।१–२)
४. अथ रुक्मः शतवितृण्णो वा भवति नववितृण्णो वा। (५।४।१।१३)
५. कृष्णाजिने निष्यूतो भवति...। अभिशुक्लानि च कृष्णानि च लोमानि निष्यूतो भवति (६।७।१।६–७)
६. तमुपरि नाभि बिभर्त्ति। असौ वाऽआदित्यऽएष रुक्मऽउपरि नाभ्युवा एषः। (६।७।१।८)
७. अथ सुवर्णरजतौ रुक्मौ व्युपास्यति। (१२।८।३।११)
८. अथ योऽस्य निष्कः प्रतिमुक्तो भवति तमध्वर्यवे ददाति। (१३।४।१।११)
९. तत्सीसेनापजघान, तस्मात्सीसं मृदु सृतजवं हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान तस्माद्धिरण्यरूपं सन्न कियच्चनाऽर्हति सृतजवं हि सर्वेण हि वीर्येणापजघान। (५।४।१।१०)

गया है, और सीसा देकर सौत्रामणि यज्ञ में शष्प (अंकुर निकले धान) खरीदने का विधान है।[1]

मिट्टी, शर्करा, सिकता और ऊष

प्रजापति ने जल से पृथ्वी बनाने की बात सोची। उसने तप किया, और फलस्वरूप फेन उत्पन्न हुआ। श्रम करता हुआ जब प्रजापति थक गया, तो उसने मृद् (मिट्टी), शुष्काप (कीचड़), ऊष (लोना मिट्टी—नमक मिश्रित), सिकता (बालू), शर्करा (पत्थर के टुकड़े या गिट्टी), अश्मन् (चट्टान्), अयस् (खनिज या कच्ची धातु), हिरण्य (सोना), ओषधि और वनस्पतियाँ बनायीं।[2] आगे चलकर मृद् या मिट्टी की उत्पत्ति इन शब्दों में बतायी गयी है—फेन ने कहा कि मेरा क्या होगा। उत्तर मिला कि तू तपाया जायगा। जब यह तपाया गया तो मृद् (मिट्टी) बनी। सचमुच पानी को जब गरम करते हैं, तो यह फेन पानी पर तैरने लगता है, और इसका जब उपहनन करते हैं, तो मिट्टी बनती है। मिट्टी ने जब पूछा कि मेरा क्या होगा, तो कहा गया कि तू भी तपायी जायगी, और ऐसा करने पर सिकता या बालू बनी। जब मिट्टी में हल चलाया जाता है, तो वह इसीलिए गरम हो उठती है। मिट्टी को हल चलाकर जब बहुत महीन करते हैं, तो यह बालू-सी हो जाती है। बालू ने भी पूछा कि मेरा क्या होगा। प्रजापति ने सिकता से शर्करा (गिट्टी या पत्थर के टुकड़े) बनायी, और उससे अश्मन् (पत्थर की चट्टान) बनाया, और पत्थरों के बीच में ही अयस् (लोहा) और सोने की धातुएँ बनीं।[3]

१. सीसेन शष्पाणि क्रीणाति . . .एतद्रूपमयसश्च हिरण्यस्य च यत्सीसमुभयं सौत्रामणीष्टिश्च। (१२।७।२।१०)

२. सोऽकामयत। भूयऽएव स्यात्प्रजायेतेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्तस्तेपानं फेनमसृजत सोऽवेदन्यद्वाऽएतद्रूपं भूयो वै भवति श्राम्याण्येवेति स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्काऽपमूषसिकतं शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत। (६।१।१।१३)

३. फेनोऽब्रवीत्—क्वाऽहं भवानीति तप्यस्वेत्यब्रवीत्सोऽतप्यत स मृदमसृजतैतद्वै फेनस्तप्यते यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते स यदोपहन्यते मृदेव भवति। मृदब्रवीत्—क्वाऽहं भवानीति' तप्यस्वेत्यब्रवीत्साऽतप्यत सा सिकताऽसृजतैतद्वै मृत्तप्यते

मिट्टी के साथ-साथ वल्मीकवपा (बाँबी या दीमक, छछूंदर या चूहे की मिट्टी) का उल्लेख भी आता है। इस मिट्टी का उपयोग आहवनीय आदि अग्नियों में होता था।[१] वल्मीकवपा के लिए एक स्थल पर आखु-करीष शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[२] आखु (छछूंदर या चूहा) पृथ्वी के रस से परिचित है। वह भीतर ही भीतर मिट्टी को खोदकर मोटा होता है, मिट्टी का रस लेकर वह शेष मिट्टी को पोली करके ऊपर ढेर लगा देता है। यह मिट्टी पुरीष या करीष कहलाती है—यह खेती के काम की है। आखु-करीष का उपयोग चूल्हा या भट्ठी बनाने में भी होता था। आखु-करीष का नाम एक स्थल पर आखूत्कर भी है।[३] दीमक के लिए वम्री और उपदीका शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। उपदीका ऐसी दीमकों का नाम है, जो पानी का पता लगा देती हैं। यह जहाँ भी मिट्टी खोदेंगी, वहाँ निश्चय ही पानी पाया जायगा, चाहे वह स्थान धन्वन् (मरुभूमि) ही क्यों न हो।[४] यजुर्वेद में इन दीमकों (वम्री) को प्राणियों में सर्वप्रथम उत्पन्न माना गया है, और शतपथ में इनकी मिट्टी के ढेर को ही वल्मीक-वपा कहा गया है।[५]

यदेनां विकृषन्ति तस्माद्यद्यपि सुमात्स्नं विकृषन्ति सैकतमिवैव भवत्येतावन्नु तद्यत्क्वाहं भवानि क्वाहं भवानीति। सिकताभ्यः शर्करामसृजत। तस्मात्सिकताः शर्करैवान्ततो भवति शर्करायाऽअश्मानं तस्माच्छर्कराऽश्मैवान्ततो भवत्यश्मनोऽयस्तस्मादश्मनोऽयो धमन्त्ययसो हिरण्यं तस्मादयो बहुध्मातं हिरण्यसङ्काशमिवैव भवति। (६।१।३।३–५)

१. अथ वल्मीकवपा सुषिरा व्यद्धे निहिता भवति। (६।३।३।५)

२. अथाऽखुकरीषं सम्भरति। आखवो ह वाऽअस्यै पृथिव्यै रसं विदुः तस्मात्तेऽधोऽधइमां पृथिवीं चरन्तः पीविष्ठाऽअस्यै हि रसं विदुस्ते यत्रतेऽस्मै पृथिव्यै रसं विदुस्तत उत्किरन्ति तदस्या एवैनमेतत्पृथिव्यै रसेन समर्द्धयति। (२।१।१।७)

३. आखूत्कर एवैनमुपकिरेयुः। (४।५।२।१५)

४. ताह वम्र्य ऊचुः। इमा वै वम्र्यो यदुपदीका योऽस्य ज्यामप्यद्यात्किमस्मै प्रयच्छेतेत्यन्नाद्यमस्मै प्रयच्छेमापि धन्वन्नपोऽधिगच्छेत्तथास्मै सर्वमन्नाद्यं प्रयच्छेमेति तथेति। (१४।१।१।८)

५. देव्यो वम्र्यो भूतस्य प्रथमजा। (यजु० ३७।४)
अथ वल्मीकवपाम्। "देव्यो वम्र्य" इत्येता वा। (१४।१।२।१०)

दो प्रकार की सिकताओं का उल्लेख आता है—शुक्ल और कृष्ण।[1] अनन्त समुद्र से अनन्त सिकताकणों का भी संबंध बताया गया है।[2]

यज्ञ की इष्टकाएँ

यज्ञ-कर्म के लिए इष्टका या ईंट का प्रयोग किया जाता था। ईंटें मिट्टी और पानी से बनायी जाती थीं।[3] ये ईंटें आग में पकाकर न टूटनेवाली अर्थात् अमृत बना दी जाती थीं।[4] ये चौकोर बनायी जाती थीं, क्योंकि दिशाएँ चार होती हैं।[5] एक स्थल पर पाँच प्रकार की ईंटें बतायी गयी हैं—(१) मृन्मयी इष्टका, (२) पशु-इष्टका, (३) हिरण्य इष्टका, (४) वानस्पत्य इष्टका और (५) अन्न इष्टका।[6] ये पाँच वर्ग उपयोग की दृष्टि से थे, वैसे तो सभी ईंटें मिट्टी और पानी से बनती थीं। एक स्थल पर "स्वयम् आतृण्ण" ईंट (प्राकृतिक रूप से छेददार) का भी उल्लेख है, जो किसी रन्ध्रमय पत्थर की होती थी।[7] चिति नाम अष्टम काण्ड में इन ईंटों को यज्ञ की वेदी में सजाने का विस्तार दिया हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि इन ईंटों के ऊपरी पृष्ठ पर तीन समान्तर रेखाएँ खिंची होती थीं, जिनकी सहायता से ईंटों को सजाकर विभिन्न आकृतियों की चितियाँ बनायी जा सकती थीं।[8] ये ईंटें लम्बाई की दिशा में (अनूची, अन्वञ्च), और तिरछी दिशा में (तिरश्ची, तिर्य्यञ्च) और एक दूसरे से सटाकर (संस्पृष्ट) रखी जाती थीं।[9] उपयोग की

१. द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा। (७।३।१।३८)
२. अनन्तो वै समुद्रोऽनन्ताः सिकताः। (७।३।१।३९)
३. अथ यदस्यां तां मृदं तदुभयं सम्भृत्य मृदं चापश्चेष्टकामकरो—त्तस्मादेतदुभयमिष्टका भवति मृच्चाऽपश्च (६।२।१।८)। मृदं च तदपश्च व्यतिषजति। (६।३।३।१७)
४. यदग्निना पचन्ति तस्मादग्निनेष्टकां पचन्त्यमृताऽएवैनास्तत्कुर्वन्ति।(६।२।१।९)
५. तस्माच्चतुः स्रक्तय इष्टका भवन्तीमां ह्यनु सर्वा इष्टकाः। (६।१।२।२९)।
६. शतपथ ६।१।२।३०
७. सस्वयमातृण्णायाऽएव...(६।१।२।३१)
८. एगलिंग, (शतपथ) ४।१८
९. अनूचीश्च तिरश्चीश्चोपदधाति तस्मादिमेऽन्वञ्चश्च तिर्यञ्चश्चात्मन्प्राणाः संस्पृष्टाऽउपदधति। (८।१।३।१०)

दृष्टि से इन ईंटों के विभिन्न नाम दिये गये थे--द्वियजुः, रेतः सिच्, विश्वज्योतिष्, ऋतव्याः, अषाढा, अस्याः, खण्डस्याः, प्राणभृतः, आश्विनी, वैश्वदेवी, विश्वेदेवाः, छन्दस्या, स्वयमातृण्णा, विकर्णी, दिश्या, इष, ऊर्ज्ज, वालखिल्या, स्मृतः, सृष्टि, असपत्ना, विराज, स्तोमभागा, नाकसद, गार्हपत्य, पुनश्चिति, लोकम्पृणा, आदि। शतपथ के ८वें काण्ड में चिति बनाने में इनका विस्तार दिया गया है। ईंटों को एक दूसरे से जोड़ने के लिए पुरीष (मृदु मिट्टी) का भी उपयोग किया जाता था, और पुरीष ईंटों पर बिछाया भी जाता था।[1] इन ईंटों में से कुछ एक फुट वर्ग की (पादमात्र्यः) बनायी जाती थीं, और जिन पर निशान नहीं पड़े होते थे, उन्हें अलक्षणाकृता कहते थे।[2] श्मशान और पितृमेध के संबंध में भी इन ईंटों का वर्णन आया है।[3]

अन्न

शतपथ के पहले काण्ड में ही यजमान के अनशन या उपवास करने अथवा यज्ञ के अवसर पर कुछ खाने के प्रश्न पर विचार किया गया है। एक व्यवस्था यह दी गयी है कि ऐसे अवसर पर जो कुछ भी अरण्य या वन में उगता हो, वह खाना चाहिए, चाहे ये अरण्य में उगनेवाली ओषधियाँ हों या वृक्ष पर लगनेवाले फल (फल के लिए "वृक्ष्य" शब्द का प्रयोग किया गया है)।[4] इसी स्थल पर माष (beans), व्रीहि (pulse, rice or grain,), यव (barley, जौ), और शमी-धान्य शब्दों का प्रयोग हुआ है। व्रीहि और यव (चावल और जौ) शब्दों का साथ-साथ प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है।[5] चावल के साथ पाँच प्रक्रियाएँ होती थीं---(१)

१. शतपथ ८।७।३
२. अथ त्रयोदश पादमात्र्य इष्टका अलक्षणाः कृता। (१३।८।३।६)
३. शतपथ १३।८।३, ४
४. सऽवा आरण्यमेवा श्नीयात्। या वाऽआरण्याऽओषधयो यद्वा वृक्ष्यं तदु ह स्माऽहाऽपि बर्कुर्वार्ष्णो माषान्मे पचत न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति तदु तथा न कुर्याद् व्रीहियवयोर्वा एतदुपजं यच्छमीधान्यं तद् व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति तस्मादारण्यमेवाऽश्नीयात्। (१।१।१।१०)
५. तं खनन्तऽइवान्वीषुस्तमन्वविन्दंस्ताविमौ व्रीहियवौ। (१।२।३।७) (और भी देखो, ३।२।२।१४)

पहले यह पीसा जाता था (इसका पिष्ट बनता था), (२) फिर इस पर पानी छोड़ा जाता था, (३) फिर पानी के साथ साना जाता था, (४) फिर आग में पकाया या सेका जाता था, और (५) अन्त में इस पर घी लगाया जाता था (इस प्रक्रिया का नाम पांक्तः पशुः है--प्रत्येक प्रक्रिया से प्राप्त पदार्थ क्रमशः लोम, त्वक्, मांस, अस्थि और मज्जा के तुल्य है)[1]। चावल या अन्न के सम्बन्ध में "पिंषन्ति पिष्टानि" (पिसे को पीसना) शब्दों का प्रयोग भी एक स्थल पर हुआ है।[2]

भूने हुए अन्न को पीसकर सक्तु (सत्तू) तैयार किया जाता था, और अन्न को भाड़ में भूनकर लाजा (लावा) के रूप में खिला लिया जाता था। सक्तु, धाना (fried barley or rice or any grain) और लाजा, तीनों का प्रयोग आहुति के संबंध में हुआ है।[3]

शतपथ के पंचम काण्ड में अभिषेचनीय कृत्यों के साथ तीन प्रकार के चावलों (व्रीहि) का उल्लेख आया है--(१) प्लाशुक व्रीहि अर्थात् अति शीघ्र उगनेवाले धान, (२) आशु व्रीहि (साधारणतया शीघ्र उगनेवाले धान) और (३) नैवार अर्थात् जंगली धान।[4] इन तीन प्रकार के धानों के अतिरिक्त चरु (pap) श्यामाक (millet, Panicum Frumentaceum), हायन (लाल चावल), गवेधुका (Coix barbata), नाम्ब और यव (जौ) का भी बनाया जाता था।[5]

१. यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदापऽआनयत्यथ त्वग्भवति, यदा संयौत्यथ मांसं भवति सन्ततऽइव हि स तर्हि भवति सन्ततमिव हि मांसं यदा शृतोऽथास्थि भवति दारुणऽइव हि स तर्हि भवति दारुणमिव ह्यस्थ्यथ यदुद्वासयिष्यन्नभिधारयति तं मज्जानन्दधात्येषो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति। (१।२।३।८) सिकने के अनन्तर आग में से निकाल लेने के लिए उद्वासन शब्द का प्रयोग किया जाता है।

२. शतपथ १।२।१।२१

३. सक्तुभिर्जुहोति.. .धानाभिर्जुहोति....लाजैर्जुहोति। (१३।२।१।३-५)

४. प्लाशुकानां व्रीहीणां क्षिप्रे मा प्रसुवानिति....; आशूनां क्षिप्रे मा परिणयानिति...नैवारं चरुं निर्वपति...(५।३।३।२, ३, ५)

५. श्यामाकं चरुं निर्वपति.. हायनानां चरुं निर्वपति...गावेधुकं चरुं निर्वपति... नाम्बानां चरुं निर्वपति...यवमयं चरुं निर्वपति। (५।३।३।४, ६-९)

तिल का वर्णन एक स्थल पर विस्तार से है। तिल को ग्राम्य और आरण्य अन्न दोनों माना है। तिल खेती करके भी उगाये जा सकते हैं, और जंगल में जंगली रूप से भी उगते हैं। जंगली तिल का नाम जर्तिल है।[१]

साधारणतया यह कल्पना की जाती है कि भारत में गेहूँ या गोधूम बहुत बाद को आया। **शतपथ** में इसका उल्लेख दो स्थलो पर है। गेहूँ के आटे से बने चषाल (wooden ring at the top of a sacrificial post) की ओर संकेत है। जैसे मनुष्य के शरीर में मोटी खाल नहीं है, उसी प्रकार गोधूम में भी मोटी त्वचा नहीं है।[२] गेहूँ को आगे एक स्थल पर अन्न बताया है। वाजपेय का अर्थ भी अन्न-पेय है, और इसीलिए इस यूपारोहण कृत्य में (जिसका वर्णन इस अध्याय में है) गोधूम के आटे से बने चषाल को छूने का विधान है।[३] ईख (इक्षु) का उल्लेख तो नहीं, पर उससे बने विधृती (ऐक्षव्य विधृती) का उल्लेख मिलता है।[४]

ओषधि, वृक्ष और वनस्पति

अन्नों के अतिरिक्त जिन वृक्ष, पौधों, वनस्पतियों और घास आदि तृणों का उल्लेख शतपथ में है, वे नीचे निर्दिष्ट हैं —

अपामार्ग—(Achyranthes aspera)—५।२।४।१४, २०; १३।८।४।४।

१. **जर्त्तिलैर्जुहोति। जायतऽएषऽएतद्यच्चीयते स एष सर्वस्माऽअन्नाय जायतऽउभयम्वेतदन्नं यज्जर्तिला यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यं यदह तिलास्तेन ग्राम्यं यदकृष्टे पच्यन्ते तेनारण्यमुभयेनैवैतमेतदन्नेन प्रीणाति ग्राम्येण चारण्येन च।** (९।१।१।३)

२. **गौधूमं चषालं भवति। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टं सोऽयमत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां नेदिष्टतमां यद् गोधूमास्तेषां नत्वगस्ति मनुष्यलोकमेवैतेनोज्जयति।** (५।२।१।६)

३. **अथ गोधूमानुपस्पृशति...तद्यद् गोधूमानुपस्पृशति। अन्नं वै गोधूमाऽअन्नं वा एषऽउज्जयति यो वाजपेयेन यजतेऽन्नपेयं ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नमुदजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा संस्पृशते तदात्मन्कुरुते तस्माद् गोधूमानुपस्पृशति।** (५।२।१।१२–१३)

४. **ऐक्षव्यौ विधृती।** (३।४।१।१८)

इससे किये गये होम से राक्षस (रोग) दूर होते हैं।[1] अपामार्ग का भी उल्लेख है।[2]

अर्क—(Calotropis gigantea)—९।१।१।४, ९, ४२; १०।३।४।३। अर्क पर्ण (पत्ता), अर्क पुष्प, अर्क कोश्य (पुटक), अर्क समुद्ग (coops), अर्क धाना, अर्काष्ठीला (bulge गुठली) और अर्क मूल इन सबका उल्लेख है।

अश्वत्थ—(Ficus religiosa)—५।२।१।१७ (पलाश); ५।३।५।१४ (अश्वत्थ से बने पात्र); ५।३।२।५ (शाखा से बना पात्र); १२।७।१।९ (इन्द्र की त्वचा से अश्वत्थ की उत्पत्ति), १२।७।२।१४ (पात्र); १३।८।१।१६

अध्याण्ड—१३।८।१।१६ (देखो न्यग्रोध के साथ वे वृक्ष जो श्मशान के पास नहीं होने चाहिए)।

अश्मगन्धा—संभवतः अश्वगन्धा (Physalis flexuosa)—१३।८।१।१६।

अश्ववाल—(Horsetail grass, Saccharum spontaneum)—३।४।१।१७)—एक प्रकार की घास या कास।

उदुम्बर—(Ficus glomerata)—३।६।१।२, ५ (यूप के लिए); ३।२।१।३३ (अन्न और ऊर्ज्जा के लिए); ४।६।९।२१, २२ (उदुम्बर से बना यूप-दण्ड औदुम्बरी); ५।२।१।२३ (औदुम्बरी) (अन्नं वा ऊर्गुदुम्बरः); ५।४।३।२५ (औदुम्बरी शाखा); ६।६।३।२ (सब वृक्षों ने देवों का साथ छोड़ा, पर उदुम्बर ने न छोड़ा)[3]; ७।५।१।१५ (उदुम्बर में सभी वनस्पतियाँ सम्मिलित हैं। इसमें उतना फल आता है, जितना कि सब वनस्पतियों में मिलाकर है। इसमें सब वनस्पतियों की ऊर्ज्जा और रस है। यह सदा आर्द्र और सर्वदा दूध से भरा रहता है)[4]; ७।५।१।२२

१. अथाऽपामार्गहोमं जुहोति। अपामार्गैर्वै देवा दिक्षु नाष्ट्रा रक्षांस्यपामृजत (राक्षसों का इससे अपमर्जन हुआ, इसलिए इस ओषधि का नाम अपामार्ग पड़ा)। (५।२।४।१४)।
२. अपामार्गतण्डुलानादत्तेऽन्वाहार्यपचनादुल्मुकमाददते। (५।२।४।१५)
३. देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याऽअस्पर्द्धन्त ते ह सर्वऽएव वनस्पतयोऽसुरा-नभ्युपेयुरुदुम्बरो हैव देवान्न जहौ ते देवाऽअसुरान् जित्वा तेषां वनस्पतीनवृञ्जत। (६।६।३।२)
४. हन्त यैषु वनस्पतिषूर्ग्योरसऽउदुम्बरे तं दधाम।...स सर्वदा आर्द्रः सर्वदा क्षीरी। (७।५।१।१५)

(उदुम्बर या उदुम्भर शब्द की व्युत्पत्ति---उदभार्षीत्---ऊपर उठा लेना शब्द से) है। यज्ञ की समिधा भी उदुम्बर की हो सकती है। (१।३।३।२०)

कपोती---लकड़ी का बना यूप जो ऊपर शूल के समान अग्रभागवाला हो (शूल-ऽइवाग्रम्भवति स ह कपोती नाम---११।७।३।२)।

करीर---(Capparis aphylla)---२।५।२।१६ (करीर फल से प्रजापति ने प्रजा को "क" अर्थात् सुख दिया)[1]।

कार्ष्मर्य्य---(Gmelina arborea)---३।४।१।११ (एतं वनस्पतिषु रक्षोघ्नम्---वनस्पतियों में यह राक्षसों को (रोगों को) मारने वाला है); ७।४।१।३७ (रक्षांसि नाष्ट्रा)। इसकी समिधा यज्ञ की अग्नि में काम आनी चाहिए (१।३।३।२०)।

कुश---४।५।१०।६ (हरित अर्थात् पीले कुश का सोम के स्थान में प्रयोग); ५।२।१।८ (कुश से बने कौश वस्त्र का प्रयोग)।

कृमुक---कृमुक से बने पदार्थ को कार्मुकी कहते हैं। समिधा बनाने के काम में आता है। यह मीठा होता है और लाल होता है।[2] घी लगाकर जब यह जलाया जाता है, तो इसकी राख या भस्म नहीं बनती।[3]

खदिर---(Acacia catechu)---३।६।२।१२ (खदिर शब्द की व्युत्पत्ति "आखाद्" शब्द से है, क्योंकि खदिर की लकड़ी से सोम का पान सुपर्णी और कद्रू ने किया। खदिर की लकड़ी से इसीलिए यूप बनाया जाता है और स्फ्य अर्थात् तलवार भी)।[4] कहा जाता है कि खदिर की लकड़ी का प्राशित्रहरण (१।३।१।६) भी बनाया जाता था जो गोल या चौकोर या गाय के कान के आकार की तश्तरी होती थी। राजा के बैठने का सिंहासन (आसन्दी) भी छिद्रमय खदिर की लकड़ी का बनता था।[5] यूप काष्ठों के लिए जहाँ रज्जुदारु, पैतुदारु, बिल्व, पलाश आदि का विधान

१. कं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैरकुरुत कम्वेवैष एतत्प्रजाभ्यः कुरुते।(२।५।२।११)
२. तस्मात् स स्वादूरसो हि तस्मादु लोहितः। (६।४।२।११)
३. तस्मात् तस्य न भस्म भवति।(६।६।२।१३)
४. खदिरेण ह सोममाचखाद। तस्मात् खदिरो यदेनेनाऽखिदत्तस्यात्खादिरो यूपो भवति खादिर स्फ्यः। (३।६।२।१२)
५. तस्मादस्माऽआसन्दी माहरन्ति सैषा खादिरी वितृण्णा भवति। (५।४।४।१)

है वहाँ खदिर का भी।[1] खदिर प्रजापति की अस्थियों से उत्पन्न हुआ, इसलिए यह बहुत दारुण (कठोर) और बहुसार (Pithy) है।[2] इसमें दीमक नहीं लगती और इसके बहुत से पात्र और उपकरण (कोल्हू, हल, भाला, तलवार आदि की मूठ आदि) बनाये जाते हैं।[3] खदिर की समिधा यज्ञाग्नि में प्रयोग की जा सकती है (१।३।३।२०)।

नाम्ब—एक प्रकार का शस्य (**तैत्तिरीय संहिता** और ब्राह्मण में इसका नाम आम्ब भी है—**सायण**) (५।३।३।८)।

न्यग्रोध—(Ficus indica)—इन्द्र की अस्थियों से उत्पन्न हुआ[4]। इसमें से मीठा रस निकलता है। इसकी जड़ें पेड़ में से नीचे लटकती हैं (न्यक्+रोह) इसलिए इसका नाम न्यग्रोध है। देवताओं ने सोम से भरा चमस उलट दिया था, इसलिए जड़ें शाखा में से निकलकर नीचे गयीं।[5] श्मशान भूमि भूमिपाश, शर (reed), अश्मगन्धा, अध्याण्ड, पृश्निपर्णी, अश्वत्थ, विभीतक, तिल्वक, स्फूर्जक, हरिद्रु और न्यग्रोध वृक्षों के पास नहीं होनी चाहिए।[6]

पर्ण या पलाश—(Butea frondosa)—यह गायत्री के गिरे हुए पंख से अथवा सोम के गिरे हुए पत्ते से उत्पन्न हुआ।[7] पर्ण का उल्लेख **यजुर्वेद** (३५।४)

१. एक विंशतिर्यूपाः। सर्वऽएकविंशत्यरत्नयो राज्जुदालोऽग्निष्ठो भवति पैतुदारवावभितः षड्बैल्वास्त्रयऽइत्थास्त्रयऽइत्यात्षट् खादिरास्त्रयऽएवेत्थात्रयऽइत्थात्षट् पालाशास्त्रयऽएवेत्थात्रयऽइत्थात्। (१३।४।४।५)

२. अस्थिभ्यएवास्य खदिरः समभवत्। तस्मात्स दारुणो बहुसारः। (१३।४।४।९)

३. Stewart and Brandis: Forest Flora of N. W, and Centr. India.

४. अस्थिभ्यऽएवास्य स्वधास्रवत्स न्यग्रोधोऽभवत्। (१२।७।१।९) और भी (१२।७।२।१४)

५. न्यग्रोधश्चमसैरिति। यत्र वै देवा यज्ञेनायजन्त तऽएताँश्चमसान्यौब्जँस्ते न्यञ्चोऽरोहँस्तस्मान्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति। (१३।२।७।३)

६. न भूमिपाशमभिविदध्यात्। न शरन्नाश्मगन्धान्नाध्याण्डान्न पृश्निपर्णीन्नाश्वत्थस्यान्तिकङ्कुर्यान्न विभीतकस्य न तिल्वकस्य न स्फूर्जकस्य न हरिद्रोर्न्न न्यग्रोधस्य ये चान्ये पापनामानो मङ्गलोपेप्सया नाम्नामेव परिहाराय (१३।८।१।१६)

७. विसोमेन वा एके पशुबन्धेन यजन्ते ससोमेनैके दिवि वै सोमऽआसीत्तङ्गायत्री वयो भूत्वा हरत्तस्य यत्पर्णमच्छिद्यत तत्पर्णस्य पर्णत्वम्। (११।७।२।८)—इसी में पलाश के बने यूप का भी उल्लेख है।

में भी है, जिसकी ओर शतपथ (१३।८।३।१) में भी संकेत है। बछड़ों को गौओं के पास से दूर हँकाने के लिए पर्णशाखा का प्रयोग बताया गया है।[१]

पलाश को ब्रह्म बताया गया है, क्योंकि ब्रह्म से ही राक्षसों को (रोगों को) मारा जा सकता है। इसीलिए पलाश से स्रुवा, पात्र और समिधाएँ बनायी जाती हैं।[२] पलाश सोम भी है (सोमो वै पलाशः—६।६।३।७)। गार्हपत्य चितिस्थान को और श्मशान भूमि को पलाश की शाखा से झाड़ना चाहिए।[३] शमी पलाश और वरण की खूँटियों (शंकु) का प्रयोग श्मशान के लिए बताया है।[४] पलाश के गोंद या काढ़े (पर्णकषाय—resin) के साथ पानी उबाल लिया जाय तो उसके साथ सानी गयी मिट्टी दृढ़ होती है।[५] यज्ञ के लिए पलाश की समिधाएँ भी बनायी जाती थीं (६।६।३।७)। एक स्थल पर पलाश-पत्र के बीच की छोटी पत्ती का उल्लेख भी आया है।[६]

पीतुदारु (देवदारु)—जब प्रजापति की आँख से तेज और गन्ध बही तब देवदारु या पीतुदारु वृक्ष बना, इसीलिए इस वृक्ष की लकड़ी में सुरभि और गन्ध होती है, और तेजस् से उत्पन्न होने के कारण यह उज्ज्वलनशील (inflammable) है।[७]

१. तानपराह्णे पर्णशाखयापाकरोति (११।१।४।२)। स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति। (१।७।१।१)

२. स यदि पालाशः स्रुवो भवति। ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्मणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि हन्ति (५।२।४।१८)। ब्रह्म वै पलाशः (५।३।५।११); अथैताऽउत्तराः पालाश्यो भवन्ति। ब्रह्मवै पलाशो ब्रह्मणैवैनमेतत्समिन्धे यद्वेव पालाश्यः (६।६।३।७); ब्रह्म वै पलाशो ब्रह्माऽग्निरग्नयो हि तस्मात्पालाशा स्युः। (१।३।३।१९)

३. गार्हपत्यं चेष्यन्पलाश शाखया व्युदूहति। (७।१।१।१); अथैनत्पलाश शाखया व्युदूहति (१३।८।२।३)

४. अथैनञ्छङ्कुभिः पारिणिहन्ति पालाशं पुरस्ताद् ब्रह्म वै पलाशः।(१३।८।४।१)

५. पर्णकषाय निष्पक्वाऽएताऽआपो भवन्ति। स्थेम्नेन्वेव यद्वेव पर्णकषायेण सोमो वै पर्णश्चन्द्रमाः। (६।५।१।१)

६. पलाशस्य पलाशेन मध्यमेन जुहोति। (२।६।२।८)

७. अथ यदापोमयन्तेजऽआसीत्। यो गन्धः स सार्द्धं समवद्रुत्य चक्षुष्टऽउदभिनत्सऽएष वनस्पतिरभवत्पीतुदारुस्तस्मात्स सुरभिर्गन्धाद्धि समभवत्तस्मादुज्वलनस्तेजसो हि समभवत्। (१३।४।४।७)

पृश्निपर्णी——(Hemionitis cordifolia) श्मशान के पास जो वृक्ष नहीं होने चाहिए, उनमें इसकी भी गिनती है (देखो न्यग्रोध——१३।८।१।१६)।

प्लक्ष——(Ficus infectoria)——प्लक्ष शाखा और वेतस शाखा (बेंत) से वनी चटायी का एक स्थल पर उल्लेख है।[1] उत्तरबर्हि (यज्ञ वेदी के ऊपरी भाग) पर प्लक्ष शाखाएँ बिछाने का विधान भी बताया गया है।[2]

फाल्गुन——(Ficus oppsitifolia)——दो प्रकार के फाल्गुन पौधे होते हैं, लोहित (लाल) पुष्पवाले और अरुण (भूरे) पुष्पवाले। अरुण पुष्पवाले फूलों को निचोड़कर रस निकाला जा सकता है, क्योंकि ये सोम के समान होते हैं।[3]

बिल्व——(Aegle marmelos)——खदिर के साथ बिल्व का भी उल्लेख है। खदिर अस्थि के समान है और बिल्व मज्जा के समान (१३।४।४।९)। अग्नि में जलाने की समिधा भी बिल्व की हो सकती है (१।३।३।२०)।

भूमिपाश——(Ononis arvensis or Spinosa से मिलती-जुलती)——यह कोई कष्टदायक लता प्रतीत होती है (१३।८।१।१६)। न्यग्रोध के साथ इसका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

मुञ्ज——(Reed - grass)——मुञ्जकुलाय (मूँज की घास) के बिछाने की ओर औद्ग्रमण होम (दीक्षणया हवि) के संबंध में संकेत है। यह आग अच्छी तरह पकड़ लेती है।[4] यह अग्नि का योनि गर्भ है। मुञ्ज अन्दर से सुषिर या पोला है क्योंकि इसके भीतर अग्नि घुसा।[5] गार्हपत्य अग्नि में दोनों ओर से मौञ्ज प्रलव (sheath) जलाने का आदेश है। एक स्थल पर मुञ्जवल्श (shoot of reed)

१. प्लक्षशाखास्वन्येषाम्पशूनामवद्यन्ति वेतसशाखास्वश्वस्य। (१३।५।३।८)

२. प्लक्षशाखाऽउत्तरबर्हिर्भवन्तितताऽअध्यवद्यति प्लक्षशाखा उत्तरबर्हिर्भवन्ति। (३।८।३।१०)

३. द्वयानि वै फाल्गुनानि। लोहितपुष्पाणि चाऽरुणपुष्पाणि च। स यान्यरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तान्यभिषुणु यादेष वै सोमस्य न्यङ्गो यदरुणपुष्पाणि फाल्गुनानि तस्मादरुणपुष्पाण्यभिषुणुयात्। (४।५।१०।२)

४. मुञ्जकुलायेनऽवस्तीर्णा भवति...मुञ्जो न वै योनिर्गर्भः। (६।६।१।२३)

५. ते मौञ्जीभिरभिधानीभिरभिहिता भवन्ति। अग्निर्देवेभ्यऽउदक्रामत्स मुञ्जं प्राविशत्तस्मात्स सुषिरः। (६।३।१।२६)

शब्द का प्रयोग हुआ है ।[१] मुंज-इषीका (१२।९।२।७) का एक स्थल पर उल्लेख है ।

वरण—(Crataeva roxburghii)—इसके बने शंकु (खूंटी) का उल्लेख पलाश के शंकु के साथ किया गया है (१३।८।४।१) यह पाप से रक्षा करता है (वारय), इसलिए इसका नाम वरण है ।[२]

विकंकत—(Flacourtia sapida)—प्रजापति ने आहुति देकर जब हाथ मला तो विकंकत वृक्ष उत्पन्न हुआ, इसलिए यह यज्ञ कर्म और यज्ञपात्र बनाने के लिए उपयोगी है ।[३] महावीर के चारों ओर चिरी हुई विकंकत लकड़ी को रखने का एक स्थल पर आदेश है ।[४] पलाश की समिधा यदि न मिले तो विकंकत की समिधा काम में लाये ।[५]

विभीतक—(Terminalia bellerica)—न्यग्रोध के साथ इसका उल्लेख हो चुका है (१३।८।१।१६) । जुआ खेलने की गोटें भी कदाचित् बहेड़े की ही बनायी जाती थीं (यजु० १०।२।८, शतपथ ५।४।४।६)[६] ।

वेणु वंश और वेतस—(Calamus rotund)—प्रजापति से जब पूछा गया कि जो कुछ जल (क) हमारे पास था, वह सब नीचे चला गया, तो उसने कहा कि यह वनस्पति इसको जानेगा (वेत्तु); वह इसे चखेगा (संवेत्तु) । इसलिए इस "वेत्तु" शब्द से ही वेतस नाम इस वनस्पति का पड़ा है ।[७]

१. **तदुभयतऽआदीप्ता मौञ्जाः प्रलवा भवन्ति (१४।१।३।१५) । मुञ्जवल्शेनाऽन्वस्ता भवति । (३।२।१।१३)**
२. **वारसम्पश्चादघम्मे वारयाता इति वृत्रशङ्कुन्दक्षिणतोऽघस्यैवानत्ययाय । (१३।८।४।१)**
३. **सहुत्वन्यमृष्ट । ततो विकङ्कतः समभवत्तस्मादेष यज्ञियो यज्ञपात्रीयो वृक्षः । (२।२।१।१०) (इसी प्रकार का वर्णन ६।५।३।१ और १४।१।२।५ में भी है ।)**
४. **अथ वैकङ्कतौ शकलौ परिश्रयति प्राञ्चौ (१४।१।३।२६) (१४।२।२।३१ में—अथ शाकलैर्जुहोति । प्राणा वै शाकलाः—भी विकंकत से अभिप्राय है) ।**
५. **यदि पालाशान्न विन्देत् अथोऽअपि वैकङ्कता स्युर्यदि वैकङ्कतान्न विन्देदथोऽअपि कार्ष्मर्यमयाः स्युर्यदि कार्ष्मर्यमयान्न विन्देदथोऽअपि बैल्वाः स्युरथो खादिराऽअथोऽऔदुम्बराऽएते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति । (१।३।३।२०)**
६. **अथाऽस्मै पञ्चाऽक्षान्पाणावावपति । (५।४।४।६)**
७. **ताः प्रजापतिमब्रुवन् । यद्वैनः कमभूदवाक्तदगादिति सोऽब्रवीदेष वऽएतस्य**

वेणु (बाँस) को अग्नि की योनि माना है।[1] अग्नि इसमें से क्योंकि होकर भीतर गया इसलिए वाँस पोला (सुषिर) होता है।[2]

एक स्थल पर वंश (बाँस) शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3]

शण या सन—(Hemp)—मूँज के साथ-साथ शण का उल्लेख भी हुआ है और एक और शब्द उमा का।[4] अमरकोष (२।९।२०) के आधार पर उमा या क्षुमा अतसी का नाम है—"क्षौमवस्त्रोपादानभूतास्तृणविशषा उमाः।" शण शीघ्र आदीप्त हो सकता है। रुक्म (सोने के हार) की पाश भी शण की बनायी जाती थी।[5]

शमी—(Acacia suma or Prosopis spicigera)—शमी के पत्तों (शमी पलाश) द्वारा प्रजापति ने प्रजा का शम् (कल्याण) किया, इसलिए इसका नाम शमी पड़ा।[6] जब देवता अग्नि से डरे तो उन्होंने अग्नि का शमी की लकड़ी से शमन किया, इसलिए भी इसे शमी कहते हैं।[7] पलाश के समान शमी के शंकु श्मशान में गाड़ने का उल्लेख है।[8]

शल्मली—(Salmalia malabarica)—यह पेड़ों में सबसे जल्दी बढ़नेवाला माना गया है।[9]

वनस्पतिर्वेत्त्विति वेत्तु संवेत्तु सोऽह वै तं वेतसः(९।१।२।२२)। और देखो वेतस शाखा (९।१।२।२०); वेतसो वनस्पतीनामुपजीवनीयतमः।(९।१।२।२४)

१. सैषा योनिरग्नेर्यद् वेणुरग्निरियम्। (६।३।१।३२)

२. सा वैणवी स्यात्। अग्निर्देवेभ्यऽउदक्रामत्स वेणुं प्राऽविशत्तस्मात्स सुषिरः। (६।३।१।३१)

३. तानि वंशे प्रबध्य। (९।१।२।२५)

४. शणकुलायमन्तरं भवति। आदीप्याऽदितिन्वेव यद्वेव शणकुलायं प्रजापतिर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्याऽउमाऽउल्बमासञ्छणा। (६।६।१।२४)

५. शाणो रुक्मपाशस्त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः। (६।७।१।७)

६. तयोरुभयोरेव शमीपलाशान्यावपति। शं वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः शमीपलाशैरकुरुत शम्वेवैषऽएतत् प्रजाभ्यः कुरुते। (२।५।२।१२)

७. शमीपश्यंस्तथैनमशमयँस्तद्यदेनं शम्या शमयँस्तस्माच्छमी तथैवैनमयमेतच्छम्या शमयति शान्त्याऽएव न जग्ध्यै। (९।२।३।३७)

८. शमीमयमुत्तरतः शम्मेऽसदिति। (१३।८।४।१)

९. शल्मलिर्वृध्येति। शल्मलौ वृद्धिन्दधाति तस्माच्छल्मलिर्वनस्पतीनां वर्षिष्ठं वर्धते। (१३।२।७।४)

श्येनहृत--यदि सोम और अरुण फाल्गुन न मिले, तो श्येनहृत को निचोड़कर इसके रस का प्रयोग किया जा सकता है।[१] जब गायत्री सोम के लिए उड़ी तो सोम का अंशु गिरा और वही श्येनहृत पौधा हुआ।

स्फूर्जक--(Diospyros embryopteris)--श्मशान के पास जो वृक्ष नहीं होने चाहिए (देखो, न्यग्रोध), उनमें इसकी भी गिनती है। (१३।८।१।१६)।

पुण्डरीक, पुष्कर पत्र और अंबक

कमल शब्द संस्कृत साहित्य में बहुत बाद में आया। वैदिक और ब्राह्मण काल के शब्द कमल के लिए पुण्डरीक और पुष्कर हैं।[२] श्वेत और पीले दोनों प्रकार के कमल होते थे। कमल के बारह फूलों की माला (पुंडरीक सृक्) पहनने (प्रतिमुञ्च) का उल्लेख है।[३] पुण्डरीक पुष्पों को दिवारूप या नक्षत्ररूप माना गया है। इस फूल के बधक (seed stalks) को अन्तरिक्ष, और इसके बिस (suckers) को इस पृथिवी के समान माना है।[४] कमल के पत्ते का नाम पुष्कर-पर्ण अनेक स्थलों पर है।[५]

वैदिक साहित्य में एक शब्द और आता है--अवक या अवका जो संभवतः पानी में उगनेवाला सिवार या शैवाल है। इसका वनस्पति शास्त्रीयनाम कदाचित् Blyxa octandra है। शतपथ में इसकी व्युत्पत्ति वेतस की व्युत्पत्ति के साथ यह दी है, कि अवाङ (नीचे) + क (पानी) क्योंकि पानी नीचे गया, इसलिए

१. यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः। श्येनहृतमभिषुणुयात्। (४।५।१०।३)
२. तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति (५।४।५।६); अथ पुष्करपर्णमुपदधाति (७।४।१।७); आच पुष्कर इति वर्धमानः महीयस्व पुष्कर। (७।४।१।९)
३. तत्र पञ्च पुण्डरीकाण्युपप्रयच्छति तां द्वादशपुण्डरीकां स्रजं प्रतिमुञ्चते। (५।४।५।१३)
४. यानि पुण्डरीकाणि तानि दिवोरूपं तानि नक्षत्राणां रूपं ये बधकास्तेऽन्तरिक्षस्य रूपं यानि बिसानि तान्यस्यै तदेनमेषु लोकेष्वभिदीक्षयति। (५।४।५।१४)
५. शतपथ ६।४।१।७; ६।४।१।९; ६।४।३।६; ७।३।१।९; ७।३।२।१४ (पुष्कर पर्ण और शुक्ल अश्व); ७।४।१।७; ७।४।१।१२; ८।३।१।११; ८।६।३।७; १०।५।१।५; १०।५।२।६; १०।५।२।२१ (पुष्करपर्णमेव तस्याऽआयतनम्)

इन्हें अवाक्का या अवका कहा गया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि भूल से अवक को कुछ आचार्य्यों ने कमल समझ लिया था।

अग्नि, समिधा और अंगार

अग्नि—अग्नि का आविष्कार मनुष्य ने किया, और इसीलिए इस पृथ्वी पर सूर्य के बाद अग्नि का ही महत्त्व माना गया। अग्नि में तो सभी देवता सम्मिलित हैं।[2] सब देवताओं में यह सबसे अधिक अतिशय प्रत्यक्ष फल देनेवाला (अद्धातमाम्) है।[3] देवताओं में सबसे अधिक मृदुहृदयवाला अग्नि ही है।[4] यही सब देवताओं की अपेक्षा अधिक निकट है।[5] यह सबसे पहले उत्पन्न हुआ, इसलिए इसका नाम अग्रि पड़ा, और अग्रि को ही देवताओं ने परोक्षप्रिय होने के कारण अग्नि कहा।[6] सूर्य्य के समान ही अग्नि की भी किरणें (रश्मि) हैं।[7] अग्नि के तीन रूप हैं—हरस् (गरमी), शोचिस् (आग) और अर्चिस् (ज्वाला)—इन तीनों से यह नष्ट करने का प्रयास करता है (हिनस्ति)।[8] प्रत्येक लकड़ी (दारु) में अग्नि है।[9] लकड़ी को ही इध्म (fire wood, lighting material) कहते हैं, क्योंकि इससे ही आग जलायी (इन्ध) जाती है।[10] लकड़ी से आग निकालने की क्रिया को अग्नि-

१. अवाङ नः कमगादिति ताऽअवाक्काऽअभव न्न वाक्का ह वै ता अवकाऽइत्याचक्षते। (९।१।२।२२)। और देखो ९।१।२।१४; आपोवा अवकाः (७।५।१।११; ८।३।२।५, ६) और १३।८।३।१३।
२. अग्निर्वै सर्वा देवताः। (१।६।२।८)
३. अग्निर्वै देवानामद्धातमाम्। (१।६।२।९)
४. अग्निर्वै देवानां मृदुहृदयतमः। (१।६।२।१०)
५. अग्निर्वै देवानां नेदिष्ठम्। (१।६।२।१४)
६. सोऽग्रिरसृज्यत स यदस्य सर्वस्याऽग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्त्याचक्षते परोक्षं परोक्षकामा हि देवाः। (६।१।१।११)
७. सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयः। (८।६।१।१६)
८. एष हिनस्ति हरसा वैनं शोचिषा वार्च्चिषा वा (heat, fire and flame) (९।२।१।२)
९. दारौ दारावग्निरिति वद न्दारौ दारौ ह्येवाग्निः।(१२।४।३।१)
१०. इन्धे ह वा एतद्अध्वर्युः, इध्मेनाऽग्निं तस्मादिध्मो नाम।(१।३।५।१)

मन्थन कहते हैं (जैसे दही के मन्थन से घी निकालते हैं)। अग्निमन्थन सूर्य्योदय से पूर्व किया जाता है। अथवा सूर्य्योदय के बाद भी।[१] अग्निमन्थन के लिए लकड़ियों के दो टुकड़े लिये जाते थे, जिन्हें अरणि कहते थे। एक टुकड़ा नीचे रखा जाता था जिसे **अधरारणि** कहते थे। इसमें एक छेद होता था और इसके ऊपर जो दूसरा टुकड़ा रखते थे उसे **उत्तरारणि** कहते थे। ये अरणियाँ अश्वत्थ और शमी की होती थीं। अधरारणि शमी की और उत्तरारणि अश्वत्थ की, अथवा दोनों ही अश्वत्थ की हो सकती थीं।[२] अधरारणि का नाम अधिमन्थन-शकल भी था।[३] दर्भ के तिनकों में यह अग्नि पकड़ ली जाती थी।[४] अधरारणि उर्वशी के समान और उत्तरारणि पुरूरवा के समान है और दोनों के मैथुन से अग्नि उत्पन्न होती है।[५] अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है तो इस पर घी से लपेटी हुई अश्वत्थ की समिधाएँ रखते हैं।[६]

समिधाएँ—यज्ञ के कार्य्य की समिधाएँ बहुधा पलाश की होती थीं, पर पलाश के न मिलने पर विकंकत, कार्ष्मर्य, बिल्व, खदिर या उदुम्बर की भी हो सकती थीं। इन वृक्षों की लकड़ियों को ही श्रेष्ठ इध्म माना गया है। यज्ञ के योग्य होने के कारण ये वृक्ष 'यज्ञिय' माने गये हैं।[७]

कोयला—जलती हुई समिधाओं से जो कोयला मिलता है उसे अंगार कहते हैं। अग्नि स्थान (खर) में से जलते अंगारों को आगे या ऊपर खींचने की क्रिया को उद्वूह कहते हैं।[८] इसी क्रिया का नाम आस्कु और अध्यूह भी है।[९]

१. तद्धैकेऽनुदिते मथित्वा तमुदिते प्राञ्चं उद्धरन्ति (२।१।४।८) यशो देवा यशो ह भवति य एवं विद्वानुदिते मन्थति। (२।१।४।९)
२. एतदाश्वत्थीमेवोत्तरारणिङ्क कुरुष्व शमीमयीमधरारणिम्। (११।५।१।१५); एतदाश्वत्थीमेवोत्तरारणिङ्क कुरुष्वाश्वत्थीमधरारणिम्। (११।५।१।१६)
३. सोऽधिमन्थनं शकलमादत्ते (३।४।१।२०)
४. अथ दर्भतरुणके निदधाति। (३।४।१।२१)
५. शतपथ ३।४।१।२२
६. एतस्यैताश्वत्थस्य तिस्रतिस्रः समिधो घृतेनान्वज्य समिद्वतीभिर्घृतवतीभिर्ऋग्भिरभ्याधत्तात्स यस्ततोऽग्निर्जनिता सऽएव स भवितेति। (११।५।१।१४)
७. शतपथ १।३।३।१९–२० (एते हि वृक्षा यज्ञियास्तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति)।
८. तेन प्राचोऽङ्गारानुद्वूहति। (१।२।१।४)
९. अथाऽङ्गारमास्कौति (१।२।१।५, ८); अथाऽङ्गारमध्यूहति। (१।२।१।९)

अग्नि की ज्वालाएँ और धूम––जब आग जलाते हैं, तो पहले धूम उठता है (धूप्यत), फिर यह प्रदीप्ततर होती है, और तेजी से धुआँ ऊपर जाता है, फिर यह प्रतितराम् (धीमी) होती है, और फिर अंगारे चमकते हैं ।[१]

जब कोई चीज जलाते हैं, तो चार अवस्थाएँ होती हैं––धूम, अर्चि, अंगार, विस्फुलिंग (धुआँ, ज्वाला, अंगारा, चिनगारी) ।[२]

उपकरण और सम्भार

विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओं का प्रारम्भिक बीजरूप यज्ञकर्म, पाककर्म और ओषधिनिर्माण में पाया जाता है । यज्ञकर्म का विस्तार ब्राह्मणकालीन साहित्य में इतना विशद है कि लगभग सभी प्रक्रियाएँ और उनको सम्पन्न करनेवाले उपकरण उनसे संबंधित हो गये हैं ।

प्रथम काण्ड के प्रथम अध्याय में ही यज्ञकर्म सम्बन्धी दस पात्र इस प्रकार गिनाये गये हैं[३]––(१) शूर्प, (२) अग्निहोत्र हवणी, (३) स्फ्य, (४) कपाल, (५) शम्या, (६) कृष्णाजिन, (७) उलूखल, (८) मुसल, (९) और (१०) दो दृषद् उपल (सिल और बट्टा) ।

शूर्प––सूप (winnowing basket),––वर्षा ऋतु में उत्पन्न नड (reed) वेणु या इषीका (cane or reeds) के बनाये जाते थे ।[४] सूप से फटकने पर जो भूसी

१. **तद्यत्रैतत्प्रथमं समिद्धो भवति। धूप्यतऽइव तर्हि हैष भवति रुद्रः (९) । अथ यत्रैतत्प्रदीप्ततरो भवति, तर्हि हैष भवति वरुणः (१०) । अथ यत्रैतत्प्रदीप्तो भवति उच्चैर्धूमः परमया जूत्या बल्बलीति तर्हि हैष भवतीन्द्रः (११) । अथ यत्रैतत्प्रतितरामिव, तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्रः (१२) अथ यत्रैतदङ्गाराश्चाऽकश्यन्तऽइव तर्हि हैष भवति ब्रह्म (१३) (२।३।२।९-१३)**

२. शतपथ (१४।९।१।१२-१७)

३. **द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति शूर्पं चाऽग्निहोत्रहवणीं च स्फ्यं च कपालानि च शम्यांच कृष्णाजिनं चोलूखलमुसले दृषदुपले तद् दश....(१।१।१।२२)**

४. **अथ शूर्पमादत्ते...वर्षवृद्धं...ह्येतद्यदि नडानां यदि वेणूनां यदीषीकाणां वर्षमु. ह्येवैता वर्धयति । (१।१।४।१९)**

नीचे गिर पड़ती है, उसे फेंक दिया जाता है।[१] फटकने में जो हवा का झोंका होता है, वह अन्न को भूसी (तुष) से पृथक् कर देता है।[२]

अग्निहोत्र स्रुक् हवणी और स्रुव—(Agnihotra ladle)—यह प्रातः और सायं दूध की आहुति देने का चमचा होता है।[३] अग्निहोत्र हवणी के अतिरिक्त आहुति देने के चमचों को स्रुक् (Offering spoon) भी कहते हैं।[४] ये स्रुक् तीन प्रकार के होते हैं—जुहू, उपभृत और ध्रुवा। ये हवणी और स्रुक् विकंकत लकड़ी के बनाये जाते थे, अथवा अन्य किसी लकड़ी के जैसे उदुम्बर के (९।३।२।३)। ये एक हाथ लम्बे होते थे। इनके एक सिरे पर गहरा-सा कटोरा होता था, और धार ठीक से बहने के लिए एक चोंच-सी आगे निकली होती थी। घी की आहुति डालने के लिए स्रुव (dipping spoon) होता था।[५] यह एक हाथ लम्बा होता था। इसके एक सिरे पर अंगूठेभर गोलाई का एक गड्ढा होता था जिसमें भरकर घी डाला जाता था। स्रुव पलाश या विकंकत का बनता था।[६] यदि वाक् स्रुक् है तो प्राण स्रुव है।[७] स्रुव प्राण और प्रजापति है, और स्रुक् योषा (पत्नी या नारी) है।[८]

१. अथ निष्पुनाति। परापूतं रक्षः परापूता ऽअरातयऽइत्यथ तुषान्प्रहन्त्यपहतं रक्षऽइति (१।१।१।४।२१)

२. अथापविनक्ति। वायुर्वोविविनक्त्वित्ययं वै वायुर्योऽयंवतऽएष वा इदं सर्वं विविनक्ति। (१।१।४।२२)

३. शतपथ १।१।१।२२; ।१।१।२।१.

४. स वै स्रुचं सम्मार्ष्टि। तद्यत्स्रुचः सम्मार्ष्टि यथा वै देवानां चरणं......... (१।३।१।१); यत्पंचमं स्रुचा जुहोति (३।१।४।२); अथ यां पंचमीं स्रुचा जुहोति। (३।१।४।१६)

५. अथ स्रुवमादत्ते (१।३।१।४); ततो यानि त्रीणि स्रुवेण जुहोति। (३।१।४।२)

६. सपलाशे वा स्रुवे वैकङ्कते वा (५।२।४।१५), और भी ५।२।४।१८।

७. स्रुवश्चाऽत्र स्रुक्च प्रयुज्येते। वाग्वैस्रुक्प्राणः स्रुवः (६।३।१।८)

८. स्रुवः प्राणः प्रजापतिरथ या सा वागासीदेषा सा स्रुग्योषा वै वाग्योषा (६।३।१।९); स्रुक् और स्रुव दोनों का प्रयोग ९।२।३।४१ में भी है।

कहा जा चुका है कि स्रुक् ३ प्रकार के होते हैं। जुहू, उपभृत और ध्रुव। जुहू और उपभृत का साथ-साथ प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है।[1]

स्फ्य (लकड़ी की तलवार--Wooden sword)--खदिर लकड़ी का बना हुआ यह सीधा खड्ग है जिसकी लम्बाई एक हाथ है। सांकेतिक रूप से यज्ञ की रक्षा के लिए इसका प्रयोग होता था। इसका उल्लेख कई स्थलों पर है।[2] स्फ्य की सहायता से सजात (tribesman) और प्रतिप्रस्थाता पूर्वाग्नि के निकट ही जुआ खेलने का स्थान (अधिदेवन) तैयार करते थे।[3]

१. अथातः स्रुचोरादानस्य। तद्धैतदेके कुशलामन्यमाना दक्षिणेनैव जुहूमाददते सव्येनोपभृतन्न तथा कुर्याद् (११।४।२।१); उभाभ्यामेव पाणिभ्याञ्जुहूम्परिगृह्योपभृत्यधिनिदध्यात् (११।४।२।२); उपभृत्यधि० (११।४।२।१४, १५)

स्रुक् के लिए मोनियर विलियम्स ने अपने कोष में लिखा है--A sort of large wooden ladle (used for pouring clarified butter on a sacrificial fire; and properly made of P*alasa* or *Khadira* wood and about as long as an arm, with a receptacle at the end and of the size of a hand; three are enumerated, *viz.*, *juhu*, *upabhrit* and *dhruva* in which order they are used in singular, dual and plural), Ṛgveda. etc. etc.

ध्रुवा के लिए देखो--

अथ यद् ध्रुवायामाज्यं परिशिष्टं भवति। तज्जुह्वामानयति त्रिःस्रुवेणाज्यविलापन्याऽअधिजुह्वां गृह्णाति यत् तृतीयं गृह्णाति तत्स्रुवमभिपूरयति। (३।१।४।१७)

स्रुव के लिए लिखा है--a small wooden ladle with a double extremity, or two oval collateral excavations, used for pouring clarified melted butter into the large ladle or *Sruk*.

कभी-कभी स्रुक् और स्रुव एक ही भाव में प्रयोग में आते हैं।

२. शतपथ १।१।२।८; १।२।५।२२; प्रतिप्रस्थातैकस्फ्ययै--with the single sword line) (३।५।२।२); अथाऽस्मै ब्राह्मण स्फ्यं प्रयच्छति--वज्रो वै स्फ्यः। (५।४।४।१५)

३. अथ सजातश्च प्रतिप्रस्थाता च। एतेन स्फ्येन पूर्वाग्नौ शुक्रस्य पुरोरुचाऽधिदेवनं कुरुतः। (५।४।४।२०)--अधिदेवनं--A table or board for gambling.

कपाल (Potsherd)—हमारे शरीर में सिर और कपाल का जो संबंध है वही यज्ञ में पुरोडाश (चावल की पिट्ठी से बनी रोटी) और कपाल उपकरण का संबंध है, मस्तिष्क चावल की पिष्ठी है।[१] अगर उखा (boiler or fire pan) जो मिट्टी की बनी होती थी, टूट जाय, तो उस उखा की आगको (या जो कुछ उखा पर हो) उसे नये अभिन्न (न टूटे हुए) बड़े चौड़े मुँह की स्थाली (बर्तन) में डाल दे, और उखा के कपाल को भी उसमें छोड़ दे। उखा-कपाल का अर्थ ऐसे टूटे घड़े या मटके का खपरा प्रतीत होता है, जिसमें कोई चीज़ उबाली जा सकती थी।[२] मिट्टी और उखा के शेष टुकड़ों को कूट और सानकर और आग पर फिर पकाकर नयी उखा बना लेने का भी संकेत है (६।६।४।९)। कपालों को किस क्रम से यज्ञकर्म में कहाँ रखा जाय इसका विस्तार तो अनेक स्थलों पर आया है।

शम्या—(Wedge or wooden pin)—ये लकड़ी की बनी खूँटियाँ होती थीं जिनकी सहायता से भूमि पर चीज़ें गाड़ी जा सकती थीं। हल के जुए (युग) की खूँटी को शम्या कहते हैं।[३] जितनी दूर तक खूँटी (शम्या) फेंकी जा सके उसे शम्या पराव्याध कहते हैं।[४]

कृष्णाजिन—(Black antelop skin)—अर्थात् काले मृग या काले बकरे की खाल—एक बार देवों को भुलावा देकर यज्ञ काला मृग बनकर भाग गया, और जब देवों को इस बात का पता चला, तो उन्होंने उस मृग की काली खाल उतार ली और उसका यज्ञकर्म में प्रयोग किया (मनुस्मृति में आर्य्यावर्त्त की सीमा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जितनी भूमि पर कृष्ण मृग स्वतन्त्रतापूर्वक घूमता मिले वही देश यज्ञ की पुण्य भूमि है। शेष सब म्लेच्छ देश हैं)।[५] (मनु० २।२२-२३)। कृष्णाजिन

१. **शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत्पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालान्येतान्येवाऽस्य कपालानि मस्तिष्कऽएव पिष्टानि। (१।२।१।२)**

२. **यद्येषोखा भिद्येत। या भिन्ना नवा स्थाल्युरुबिली स्यात्तस्यामेनां पर्यावपेद्.... तत्रोखायै कपालं पुरस्तात् प्रास्यति। (६।६।४।८)**

३. **तां वै युगशम्येन विमिमीते युगेन यत्र हरन्ति शम्ययाथोतो हरन्ति।(३।५।१।२४) अथ शम्याञ्च स्फ्याञ्चादत्ते(३।५।१।२६); अथोत्तरतः प्राचीं शम्यां निदधाति। (३।५।१।३०)**

४. **शम्यापराव्याधे शम्यापराव्याधऽएव षड्भिर्यजते। (५।५।२।२)**

५. **अथ कृष्णाजिनमादत्ते। यज्ञस्यैव सर्वत्वाय यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम स कृष्णो**

ही यज्ञ है।[1] दाहकर्म के बाद अस्थियाँ कृष्णाजिन पर रखकर फिर जला दी जाती थीं।[2]

उलूखल और मूसल--(Mortar and Pestle)--ये दोनों ही कठोर लकड़ी के बनाये जाते थे--दोनों या तो वरण काष्ठ के बनते थे अथवा उलूखल पलाश का और मुसल खदिर का। उलूखल घुटनों तक की ऊँचाई का होता था और मुसल लगभग ३ अरत्नि (३ हाथ) लम्बा। दोनों को ही अद्रि (पत्थर) और वानस्पत्य ग्राव कहा गया है। संभवतः ये पत्थर के[3] भी बनने लगे थे। यदि उदर उखा है तो योनि उलूखल है और शिश्न मुसल है। मुसल शिश्न के समान ही गोल (वृत्त) होता है।[4] उलूखल और मुसल की सहायता से अन्न खाने योग्य तैयार किया जाता है, इसलिए इन्हें "सर्वान्न" कहते हैं।[5] उलूखल की व्युत्पत्ति उरु (स्थान) करत् (बनाना) से दी है।[6] यह एक बालिश्त का होता है और चौकोर मुँह का।[7]

भूत्वा चचार तस्यदेवाऽअनुविद्यत्त्वचमेवाऽवच्छायाऽजहु्ः। (१।१।४।१); दक्षिणेनाऽहवनीयं प्राचीनग्रीवे कृष्णाजिनेऽउपस्तृणाति। (३।२।१।१)

१. कृष्णाजिनेऽभिषिञ्चन्ति। यज्ञो वै कृष्णाजिनम्। (१२।८।३।३)

२. तदन्यस्याम्प्रजिजनयिषेत्तादृक्तदस्थीन्येतान्याहृत्य कृष्णाजिने न्युप्य पुरुषविधिं विधायोर्णाभिः प्रच्छाद्याज्येनाभिघार्य्य तमग्निभिः समुपोषेत्तदेनं स्वाद्योनेः प्रजनयतीति। (१२।५।१।१३)

३. अथोलूखलं निदधाति--अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि (१।१।४।७); अथ मुसलमादत्ते, बृहद्ग्रावाऽसि वानस्पत्य इति बृहद् ग्रावाह्येष वानस्पत्यो ह्येष तदवदधाति। (१।१।४।१०)

४. उदरमुखा योनिरुलूखलमुत्तरोखा भवत्यधरमुलूखलमुत्तरं ह्युदरमधरा योनिः शिश्नं मुसलं तद् वृत्तमिव भवति वृत्तमिव हि शिश्नम्। (७।५।१।३८)

५. तदेत्सर्वमन्नं यदुलूखलमुसलेऽह्युदर उलूखलमुसलाभ्यां ह्येवान्नं क्रियतऽउलूखल-मुसलाभ्यामद्यते (७।५।१।१२)

६. उरु मे करदिति तस्मादुरुकरमुरुकरं हवै तदुलूखलमिति। (७।५।१।२२)

७. तत्प्रादेशमात्रं भवति, प्रादेशमात्रमिव हि शिरश्चतुःस्रक्ति भवति चतुःस्रक्तीव हि शिरो मध्ये संगृहीतं भवति। (७।५।१।२३)

(The mortar, according to the commentaries to Katya is partly dug into the ground with the open part

दृषद्-उपल––'(Large and small mill stones)––सिल-बट्टा––नीचे के बड़े पत्थर या सिल को दृषद् कहते हैं, और ऊपर के बट्टे को जिससे पीसा जाता है, उपल कहते हैं।[1] दृषद् को पर्वती धिषणा (पत्थर का प्याला) बताया है। दृषद् पृथ्वी है।[2] उपल को पार्वतेयी धिष्णा बताया गया है, पार्वतेयी का अभिप्राय पर्वत से उत्पन्न उसकी कन्या है। यह ऊपर सिल पर रहता है, इसलिए यह द्यौ है। दृषद् और उपल मिलकर ऊपर और नीचे के दो जबड़े (हनू) हैं, और इनके बीच की जिह्वा शम्या है। शम्या से दृषद् और उपल की कुटाई होती है (समाहन्ति)।[3]

इन दस सामान्य सम्भारों के अतिरिक्त शतपथ ब्राह्मण में अनेक अन्य उपकरणों का उल्लेख आता है जिनका उपयोग विभिन्न कर्मों में होता था। इनका उल्लेख संक्षेप में यहाँ दिया जाता है।

अधिषवण––(Press Board)––इसको हाथ से दबाकर सोमरस निचोड़ा जाता था। इसके दो फलक होते थे जो १ हाथ लंबे (पीछे की ओर आगे की अपेक्षा कुछ अधिक चौड़े) होते थे।[4] आगे ही "अधिषवण् परिकृत्त" (round cut pressing skin) का उल्लेख है। यह लाल होती थी, और सोमरस निचोड़ने में काम आती थी।[5] पत्थरों के बीच में दबाकर कभी-कभी सोमरस निचोड़ा

upwards; the pestle beings then placed to the right (south) of it—Eggeling III-396)

१. अथ यो दृषदुपलेऽउपदधाति (१।२।१।१४); अथ दृषदमुपदधाति (१।२।१।१५); अथोपलामुपदधाति। (१।२।१।१७)

२. धिषणाऽसि पर्वती...धिषणा हि पर्वती....अयमेवैषा पृथिवीरूपेण। (१।२।१।१५)

३. अथोपलामुपदधाति। धिषणाऽसि पार्वतेयी। प्रतित्वा पर्वती वेत्विति कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवति तस्मादाह पार्वतेयीति प्रति त्वा पर्वती वेत्विति प्रति हि स्वः सञ्जानीते तत्संज्ञामेवैतद् दृषदुपलाभ्यां वदति नेदन्योऽन्यं हिनस्ततऽइति द्यौरे-वैषारूपेण हनूऽएव दृषदुपले जिह्वैव शम्या तस्माच्छम्यया समाहन्ति जिह्वया हि वदति। (१।२।१।१७)

४. अथाऽधिषवणे फलकेऽउपदधाति (३।५।४।२२); का० श्रौ० सू० ८।५।२२-३३ (ययोः फलकयोरुपरि सोमोऽभिषूयते ते द्वे अधिषवण फलके)

५. अथाऽधिषवणं परिकृत्तं भवति सर्वरोहितं जिह्वा है वा। (३।५।४।२३)

जाता था। इन्हें "ग्राह्य" या "ग्रावाण" (Press Stone) कहते थे। जैसे दाँत किसी को पीसकर रस निकाल लेते हैं, इसी प्रकार ग्रावाण भी।[1]

अनस और हविर्धान—(Cart)—इस गाड़ी में धान या जौ यज्ञ के लिए लाये जाते थे। बाद को यज्ञशाला में उतारे जाते थे।[2] हवि ले जानेवाली गाड़ी का नाम हविर्धान है।[3] हविर्धान को गाड़ी रखने का स्थान (गाड़ीखाना) भी बताया गया है, जिसमें दो द्वार होते हैं। सदस् (Sacrificial shed—यज्ञभूमि पर छाया-स्थल) में भी दो द्वार होते हैं। हविर्धान जो धो दिये जाते हैं, तो पुरुष इसमें प्रविष्ट होता है। हविर्धान में सोम रखने से पूर्व काले मृग का चर्म बिछा दिया जाता था।[4]

अभ्रि—(Spade)—अभ्रि या खोदने का फड़ुहा बाँस का बनता था। यज्ञ में यह आहवनीय अग्नि के उत्तर में रखा जाता था क्योंकि आहवनीय यदि पुरुष है, तो अभ्रि नारी है। अभ्रि कल्माषी (Spotted, चितकबरा) होता था। अभ्रि प्रादेशमात्र (बालिश्त) भर का होता था, और एक अराल (हाथ) भर का भी। अभ्रि एक ओर से तीक्ष्ण धार का (अन्यतः क्ष्णुत्), या दोनों ओर से तीक्ष्ण धार का (उभयतः क्ष्णुत्) होता था, अतः दोनों ही ओर से वीर्य्यवान् होता था। फड़ुहे से खोदना मानों अग्नि खोदना ही है।[5]

१. अथ ग्राव्णऽउपावहरति। दन्ता हैवाऽस्य ग्रावाणस्तद्यद् ग्रावभिरभिषुण्वन्ति। (३।५।४।२४)

२. स वाऽअनसऽएव गृह्णीयात्। अनोहवाऽअग्रे पश्चेववाऽइदं यच्छालम् (१।१।२।५); भूमा हि वाऽअनः (६); यज्ञो वा अनः (७)।

३. शिरऽएवाऽस्य हविर्धानम्।.. हविर्वै देवानां सोमस्तस्मात् हविर्धानं नाम। (३।५।३।२)

४. उभयतोद्वारं हविर्धानं भवति। उभयतो द्वारं सदस्तस्मादयं पुरुषऽआन्तं सन्तृण्णः प्रणिक्ते हविर्धानेऽउपतिष्ठते। (३।५।३।७)
यैव दिव्या शुग्या गायत्र्यां हविर्धान इति यैव गायत्र्यां हविर्धाने (१४।३।१।४) (यजु० ३८।१८)। स दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाजिनमास्तृणाति। (३।६।३।१८)

५. दक्षिणतऽआहवनीयो भवति। उत्तरतऽएषाऽभ्रिरुपशेते वृषा वाऽआहवनीयो योषाऽभ्रिः (३०)। सा वैणवी स्यात् (३१)। सा कल्माषी स्यात् (३२)। प्रादेशमात्री स्यात्....अरत्निमात्रीत्वेव भवति बाहुर्वा अरत्निः (३३)।

आस्पात्र--(Drinking vessel, mouth vessel)--जल पीने का गिलास, इसे देवों का जुहू (आहुति देने का चमस्) बताया गया है। देवपान करने का चमसा भी यही है। इसे देवपात्र भी कहते हैं।[1]

आसन्द या आसन्दी--(Chair or stool or throne seat)-- यह बेंत या बाँस की बुनी हुई होती है। यह उदुम्बर या खदिर की भी बनायी जाती है और वितृण्णा (perforated) होती है। इस पर बकरे या किसी मृग का चर्म बिछाया जाता है।[2]

इटसून या कट--(Mat)--यह बेंत (वेतस) की बनी चटाई होती है।[3] बेंत की बनी कट (चटाई, वैतस कट) भी इसी तरह की होती थी, यह बेंत पानी में पैदा होता है।[4]

उख या उखा--(Boiler or Caldron or fire pan)--शतपथ ब्राह्मण के छठे काण्ड का नाम ही उखा-संभरण है। इसके पंचम अध्याय में उखा बनाने का विस्तार दिया हुआ है। एगलिंग ने इसका अर्थ fire pan या "आग का तवा" किया है, जिसमें यज्ञ की अग्नि रखी जाती थी। उखा बनाने के लिए मिट्टी में पर्णकषाय (पलाश का काढ़ा) मिलाया जाता था, और फिर इसमें अज-लोम (बकरे के बाल) मिलाते थे, जिससे मिट्टी में दृढ़ता आ जाती थी। फिर इसमें शर्करा,

अन्यतः क्ष्णुत्स्यात्....उभयतः क्ष्णुत्वेव भवति (३४)। यद्वेवोभयतः क्ष्णुत्। अतो वा अभ्रेर्वीर्य्यं यतोऽस्यै क्ष्णुतमुभयतऽएवाऽस्यामेतद्वीर्य्यं दधाति (३५)। यद्वेवोभयतः क्ष्णुत्। एतद्वाऽएनं देवा अनुविद्यैभ्यो लोकेभ्योऽखनंस्तथैवैनमयमेतदनुविद्यैभ्यो लोकेभ्यः खनति (३६)। (६।३।१।३०-३६)

१. आस्पात्रं जुहूर्देवानामिति। देवपात्रं वा एषः (१३)। चमसो देवपानऽइति। चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति तस्मादाह चमसो देवपानऽइति (१४)। (१।४।२।१३-१४)

२. अस्माऽआसन्दीमाहरन्ति सैषा खादिरी वितृण्णा भवति (५।४।४।१); अथाऽस्माऽआसन्दीमाहरन्ति (२२)। औदुम्बरी भवति (२३)। अथाऽजर्षभस्याऽजिनमास्तृणाति (२४)। (५।२।१।२२-२४)

३. वैतसऽइटसूनऽउत्तरतोऽश्वस्यावद्यन्ति। (१३।२।२।१९)

४. वैतसः कटो भवति। अप्सुयोनिर्वाऽअश्वोऽअप्सुजा वेतसः स्वयैवैनं योन्या समर्द्धयति। (१३।३।१।३)

अश्म और अयोरस (लोहे का जंग) इन तीन का पिष्ट (त्रितय पिष्ट) मिलाते थे। फिर मिट्टी को गूँधा जाता था (प्रयौति)। इससे फिर नीचे का भाग तैयार करते थे, फिर पूर्व उद्धि और उत्तर उद्धि (lower and upper side parts) और फिर अन्दर और बाहर का भाग। यह १ प्रादेश मात्र (१ बालिश्त) ऊँचा, और १ प्रादेश मात्र तिरछा (तिरश्चि) होता था। कभी-कभी ५ प्रादेशमात्र का भी बनाया जाता था। फिर इसमें तिरश्ची रास्ना (horizontal belt or rim) बनती थी। फिर इसमें चतस्र ऊर्ध्वा (four upright bands) बनायी जाती थीं। ऊपर से इसमें २ या ४ स्तन बना दिये जाते थे।[1]

एक स्थल पर उखा के ८ भागों की ओर संकेत है। (१) निधि (नीचे का भाग), (२–३) दो उद्धी, (४) तिरश्ची रास्ना, (५–८) चार ऊर्ध्वा।[2]

उपयमनी—(Tray or support for holding fire wood etc.)—महावीर पात्र से उपयमनी में घृत और दूध उँड़ेलने का उल्लेख है।[3] उपयमनी का उल्लेख महावीर पात्र के साथ ही पाया गया है।

उपांशु सवन या ग्रावाण—(Pressing stone)—उपांशु ग्रह के साथ इसका

१. पर्णकषायनिष्पक्वाऽएता आपो भवन्ति स्थेम्नेन्वेव (१)। अथाऽजलोमैः संसृजति स्थेम्नेन्वेव (४)। अथैतत्त्रितयं पिष्टं भवति शर्कराऽश्मायोरसस्तेन संसृजति स्थेम्नेन्वेव (६) अथ प्रयौति....हस्ताभ्यां मृद्वीं कृत्वा करोत्वित्यतेत् (९)। (६।५।१।१-९)

तं प्रथयति...अयं हैष लोकोनिधिः (३)। अथ पूर्वमुद्धिमादधाति (४)। अथोत्तरमुद्धिमादधाति (५)। तेनैतेनाऽन्तरतश्च बाह्यतश्च करोति (७)। तां प्रादेशमात्रीमेवोर्ध्वां करोति, प्रादेशमात्रीं तिरश्चीं प्रादेशमात्रो गैभार्वे विष्णुर्योनिरेषा गर्भ सम्मितां तद्योनिं करोति (८)। स यद्यैकः पशुः स्यात् एक प्रादेशां कुर्य्यादथ यदि पंचपशवः स्युः पंचप्रादेशां कुर्याद् (१०)। अथ तिरश्चीं रास्नां पर्यस्यति (११)। तामुत्तरे वितृतीये पर्यस्यति (१२)। अथ चतस्रऽ-ऊर्ध्वाः करोति (१४)। तासामग्रेषु स्तनानुन्नयन्ति (१६)। (६।५।२।३-१६)

२. अष्टका वाऽउखा निधिर्द्वाऽउद्धी तिरश्ची रास्ना तश्चतुश्चतस्रऽऊर्ध्वास्तदष्टावष्ट-कायामेव तदष्टकां करोति। (६।२।२।२५)

३. अथ महावीरादुपयमन्याम्प्रत्यानयति (१४।२।२।४०), अथोपयमन्या महावीर-ऽआनयति (१४।२।२।१३)। अथोपयमन्योपगृह्णाति। (१४।२।१।१७)

उपयोग होता है (३।९।४।१)। इन्हें कभी-कभी ग्रावाण भी कहा गया है। ये पत्थर के बने होते हैं, और सोम तैयार करने में काम आते हैं।[1]

ऊर्णा-सूत्र--(Wool and thread)--ऊन और सूत्र का कार्य्य स्त्रियों का कर्म माना गया है अर्थात् बुनायी और सिलाई।[2] ऊर्णा और सूत्र देकर बदले में तोक्म (malted barley) और व्रीहि (धान या भुने चावल) खरीदे जाते थे।[3]

ऋतुपात्र या पंचपात्र[4]--(Ritu cup)--शुक्र पात्र के साथ इसका भी उल्लेख है। पात्र अनेक प्रकार के बताये गये हैं--दोनों ओर मुखवाले पात्र (उभयतो मुखाभ्यां पात्राभ्यां गृह्णाति--४।३।१।७); शुक्रपात्र (शुक्रपात्रमेवानु-मनुष्याः प्रजायन्ते--४।५।५७); कनिष्ठपात्र (कनिष्ठानि पात्राण्यनुप्रजायन्ते--४।५।५।९); भूयिष्ठपात्र (भूयिष्ठानि पात्राण्यनु प्रजायन्ते--४।५।५।१०)। एक स्थान पर पाँच पात्र गिनाये गये हैं--उपांशु और अन्तर्याम, शुक्रपात्र, ऋतुपात्र और आग्रयण पात्र, और उक्थ्य पात्र।[5] इनमें उपांशुपात्र को प्रधानता दी गयी है (उपांशुपात्रमेव प्राणः--४।५।५।१३)।

कशिपु और कूर्च--(Cushion, pillow)--सुनहरे कशिपु (गावतकिया या गद्दे) का उल्लेख है और साथ ही साथ सुनहरे कूर्च का। अथर्ववेद में तकिये या गद्दे के गिलाफ के लिए कशिपूपबर्हण शब्द का प्रयोग हुआ है (अथर्व० ९।६।१।१०)।[6]

कृष्णाजिन और कृष्ण विषाण--काले मृग का चर्म और उसका सींग--सींग

१. अथ ग्रावाणमादत्ते। ते वाऽएतेऽश्मया ग्रावाणो भवन्ति (३।९।४।२); प्राणोह्वा-अस्योपांशुः। व्यानऽउपांशुसवनऽउदानऽएवाऽन्तर्याम् (४।१।२।१)। आदि-त्यानां वै तृतीय सवनमादित्यान्वाऽअनुग्रावाणस्तदेनान्त्स्वऽएव भागेप्रीणात्य-पोर्णुवन्ति द्वारे। (४।३।५।१९)

२. ऊर्णा-सूत्रेण क्रीणाति। तद्वाऽएतत् स्त्रीणाङ्कर्म्म यद् ऊर्णासूत्रकर्म। (१२।७।२।११)

३. सीसेन शष्पाणि क्रीणाति। ऊर्णाभिस्तोक्मानि सूत्रैर्व्रीहीन्। (१२।७।२।१०)

४. ऋतुपात्रमेवाऽन्वेकशफं प्रजायते। (४।५।५।८)

५. पञ्च ह त्वेव तानि पात्राणि यानीमाः प्रजाऽअनुप्रजायन्तेस मानमुपांश्वन्तर्या-मयोः शुक्रपात्रमृतुपात्रमाग्रयणपात्रमुक्थ्यपात्रं पञ्च वा ऋतवः (४।५।५।१२)

६. हिरण्मयोः कशिपुनोः पुरस्तात्प्रत्यङध्वर्युर्हिरण्मये वा कूर्चे हिरण्मये वा फलके (१३।४।३।१)। यत् कशिपूपबर्हणमाहरन्ति। (अथर्व० ९।६।१०)

(विषाण) से रेखा खींचने (उल्लिखन) का काम लिया जाता था। काष्ठ या नख से खींचने या खरोंचने को बुरा माना गया है, कृष्ण विषाण से ही खरोंचना (कंडूयन) चाहिए।[1]

कुम्भ--(Pitcher)--यह साधारण घड़ा होता है। कलश भी इसीके समान है। एक स्थान पर ऐसे कुम्भ का उल्लेख है जिसमें १०० या ९ छेद हों (शत वितृण्ण या नववितृण्ण), और यह घड़ा परिस्रुत से भरा हो, और शिक्या या छींके के सहारे आहवनीय अग्नि के ऊपर लटका हो। परिस्रुत इसमें से बूँद-बूँद चूता रहे।[2] एक स्थल पर सौ छेदोंवाली कुम्भी का भी उल्लेख है।[3] स्थाली और उखा के समान कुम्भी भी दो अक्षरोंवाली है।[4]

कौलालचक्र--(Potter's wheel)--रथचक्र के साथ इसकी ओर भी संकेत है।[5]

ग्रह--(Cup or ladle)--भिन्न-भिन्न कृत्यों में प्रयुक्त होनेवाले कटोरों के नाम भी भिन्न-भिन्न दिये गये हैं। इनके रूप और आकारों में भी संभवतः भिन्नता रहती थी। यज्ञकर्म में ग्रह (सोम का प्याला या कटोरा) स्तोत्र (chant) और शस्त्र (recitation) की विशेष महिमा थी।[6] कुछ प्रमुख ग्रह निम्न हैं--अंशु (४।६।१।१), अतिग्राह्य (४।५।४।२), अदाभ्य (काण्व शाखा में), अन्तर्याम (४।१।२।२), आग्रयण (४।२।२।१), आदित्य (४।३।५।२), आश्विन (४।१।५।१),

१. स यज्ञस्तत्कृष्णाजिनं यो सा योनिः सा कृष्णविषाणा (३।२।१।२८)। अथोल्लिखति (३।२।१।३०)। कृष्णविषाणयैव कण्डूयेतनान्येन कृष्णविषाणायाः (३।२।१।३१)। अथ कृष्णविषाणां सिचि बध्नीते (काले सींग के साथ वस्त्र का छोर बाँधना)। (३।२।१।१८)

२. अथ कुम्भः, शतवितृण्णो वा भवति नववितृण्णो वा(५।५।४।२७)। तं शिक्योद्युतम्। उपर्युपर्याहवनीयं धारयन्ति स या परिशिष्टा परिस्रुद् भवति तामासिञ्चति तां विक्षरन्तीमुपतिष्ठते।(५।५।४।२८)

३. शतातृण्णाकुम्भी भवति।(१२।७।२।१३)

४. तद्वाऽउखेति द्वेऽअक्षरे...सोऽएव कुम्भी सा स्थाली। (६।७।१।२४)

५. इदं रथचक्रं वा कौलालचक्रम्। (११।८।१।१)

६. यदेतत्त्रयं सह क्रियते ग्रहस्तोत्रं शस्त्रमथात्र ग्रहं चैव...(८।१।३।४)

उक्थ्य (४।२।३।१), उपांशु (४।१।१।१), ऋतु (४।३।१।७, कात्या० ९।१३।१), ऐन्द्रतुरीय (४।१।३।१४), ऐन्द्राग्न (४।३।१।२१), ऐन्द्रवायव (४।१।३।१), द्विदेवत्य (४।१।३।५), ध्रुव (४।२।३।३), नाराशंस (३।६।२।२५), पात्नीवत (४।४।२।९), प्रजापति (४।१।३।१४), मधु (५।१।२।१९), मरुत्वतीय (४।३।३।२), महाव्रतीय (४।६।४।१), वायव्य (३।६।३।१०; ४।१।३।७-१०), शुक्र (४।२।१।१), सावित्र (४।४।१।१), सुरा (५।१।२।१९), हारियोजन (४।२।२।५)। अधिकांश ग्रह लकड़ी के बनाये जाते थे। इन ग्रहों के उल्लेख के लिए यजुर्वेद अ० १८, मंत्र १९ और २० भी देखे जा सकते हैं।

ग्राव, ग्रावण, ग्रावाण--(Pressing stones)--सोमरस निचोड़ने में इनका प्रयोग होता था। बहुधा दो पत्थर एक साथ काम में आते थे। चक्की के पाटों की तरह इनके बीच में कुचल और दबाकर रस निकाला जाता था।[1]

चप्य--(Dish)--खाद्यान्न रखने का यह पात्र है।[2]

चमस--(Cup, flat dish or ladle)--देवताओं के भक्षण करने का पात्र माना गया है।[3] यह लकड़ी का बना होता था, और पकड़ने का इसमें एक दण्ड लगा होता था।

दशापवित्र--(Fringed filtering cloth)--रस छानने का यह झीना वस्त्र है।[4] छानने का एक वस्त्र बहिष्पवित्र और एक अन्तःपवित्र भी कहलाता है। द्रोण कलश के मुख पर छन्ने रख दिये जाते थे और उनमें सोम रस उँड़ेल कर छाना जाता था।[5] छन्ने का सामान्य नाम "पवित्र" है, छन्ने से छने हुए को "पवित्र पूता" कहते हैं।[6]

१. यद् ग्रावभिः सोमः सूयतेऽथकथं सौत्रामणीति....ग्रावाणो ग्रावभिर्वै सोमः सूयते ग्रावभिरेवैनं सुनोति सोमसुत्यायै। (१२।८।२।१४)
२. चप्यं भवत्यन्नाद्यस्यैवावरुध्यै पवित्रं भवति। (१२।७।२।१३)
३. चमसो देवपानऽइति। चमसेन ह वाऽएतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति। (१।४।२।१४)
४. दशापवित्रमुपगृह्य हिङ्करोति। (४।३।२।११)
५. तं बहिष्पवित्राद् गृह्णाति (४।१।१।३); तमन्तः पवित्राद् गृह्णाति। (४।१।२।३)
६. सर्वे सोमाः पवित्रपूताः (४।१।१।४); पवित्रेण पावयति। (४।१।२।५)

दुन्दुभि—(Drum)—सत्रह दुन्दुभियों या नगाड़ों को यज्ञस्थली में रखने का एक स्थल पर उल्लेख है।[1]

द्रोणकलश—(Trough)—सोम रखने के तीन घट या पात्र होते थे—आधवनीय, पूतभृत और द्रोणकलश। द्रोणकलश तीनों में बड़ा होता था। द्रोणकलश का उल्लेख कई स्थानों पर है।[2] आधवनीय में सोम पौधा खलवलाया, मथा और साफ किया जाता है। आधवनीय और पूतभृत् का उल्लेख यजुर्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण आदि में है।[3] निचोड़ा हुआ साफ रस पूतभृत् में रखा जाता था।

धृष्टि या उपवेष—(Shovelling stick)—आग ठीक करने का यह उपकरण है, जो वरण या पलाश लकड़ी का बनाया जाता था। यह एक हाथ या एक बालिश्त का लंबा होता था। इसके एक सिरे का आकार हाथ का सा (हस्ताकृति) होता था। इससे कोयला बाहर या भीतर किया जा सकता था।[4]

परीशास या शफ—(Lifting stick)—इनको परीशास और शफ दोनों कहते हैं। महावीर पात्र के साथ इसका उल्लेख है। द्विवचन में इनका प्रयोग आया है। संड़ासी के समान संभवतः ये हैं। ये लकड़ी के दो टुकड़ों को जोड़कर बनाये जाते थे।[5]

पवित्रा—(Filter or strainer)—यज्ञ में प्रतीकरूप से ये कुश के बनाये

१. **अथ सप्तदश दुन्दुभीननु वेद्यन्तं सम्मिन्वन्ति।** (५।१।५।६)

२. **आददते ग्राव्णः। द्रोणकलशं वायव्यानीध्मं कार्ष्मर्य्यमयान्।** (३।६।३।१०) **प्रजापतिर्वैद्रोणकलशः।** (४।३।१।६) **द्रोणकलशे गृह्णाति।**(४।४।३।४)

३. **द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे।** (यजु० १८।२१)

४. **सऽउपवेषमादत्ते धृष्टिरसीति।** (१।२।१।३); **धृष्टिरस्यपऽग्ने।** (यजु० १।१७)

५. **महावीरं परीशासौ पिन्वने** (१४।१।३।१)। **अथ शफावादत्ते** (१४।२।१।१६) The *parisasau* (also called *shaphau*) are two pieces of wood or laths apparentty fastened together by a kind of clasp (or a cord) at one end, so as to serve the purpose of a pair of tongs..... **परीशासौ संदंशाकारौ**—Eggeling V, 458)

जाते थे। ये एक प्रादेश या एक बालिश्त कुश के होते थे।[१] ये १, ३, अथवा ७ डंठलों के होते थे।[२] सोम को छानने के पवित्रा कपड़े के होते थे।[३]

पिन्वन—(Milking bowls)—महावीर पात्र और रोहित कपालों के साथ-साथ इसका उल्लेख भी आता है। इसमें दूध दुहा जाता था। यह मिट्टी का बना होता था और स्रुक् के समान हाथ के आकार का गहरा कटोरा जैसा होता था।[४]

प्रोक्षणी—(A vessel for sprinkling water)—पानी छिड़कने (प्रोक्षण करने) का यह पात्र है। जो जल छिड़का जाता है, उसे भी प्रोक्षणी कहते हैं।[५] इस जल के अर्थ में ही इस शब्द का शतपथ में प्रयोग हुआ है।

महावीर—(Mahavira pot)—यज्ञकर्म संबंधी एक पात्र है। प्रवर्ग्य के संबंध में इसका उल्लेख है। कोई महान् योद्धा युद्ध में गिरा, उसीके नाम पर इसका नाम महावीर रखा गया।[६] इसके बनाने की विस्तृत विधि शत० १४।१।२ में दी गयी है। महावीर का ही सम्भवतः नाम घर्म है।[७] वैसे तो गरम घी और दूध के प्रक्षेप से बना खाद्य विशेष घर्म कहलाता है। इसके बनाने के लिए कृष्णाजिन चर्म को बिछाते हैं, अभ्रि (फडुहा) से मिट्टी खोदते हैं, उसे पानी के साथ सानते हैं, इसमें दीमकवाली मिट्टी (वल्मीकवपा) मिलाते हैं। मिट्टी को फिर खर (mound) पर रखते हैं, और फिर उससे महावीर पात्र गढ़ा जाता है। यह एक प्रादेश (बालिश्त)

१. पवित्रे करोति पवित्रेस्थो (१); अयं वै पवित्रं योऽयं पवते (२)। (१।१।३।१-२)
२. शतपथ ३।१।३।१८-२२
३. अथ यस्मात्सोमं पवित्रेण पावयति। (४।१।२।४)
४. महावीरं परीशासौ पिन्वने (१४।१।३।१); मखस्य ह्येतत्सोम्यस्य शिर एवमितरौ तूष्णीम्पिन्वने तूष्णीं रौहिणकपालो (१४।१।२१ पिन्वने पिन्वयति। "अश्विभ्यां पिन्वस्व"—(शतपथ १४।२।१।११, यजु० ३८।४)
५. प्रोक्षणीरध्वर्य्युरादत्ते (१।३।३।१; ३।५।२।४); अथ याः प्रोक्षण्यः परिशिष्यन्ते। (३।५।२।८)
६. महान्वत नो वीरोऽपादीति तस्मान्महावीरः। (१४।१।१।११)
७. तत्र घर्मपाकाय मृन्निर्मित उलूखलाकारः पात्रविशेषो महावीरः। गौण्या तु वृत्त्या घर्मः, प्रवर्ग्यः, महावीरः—इति त्रीण्येव पदानि समानार्थानीति विवेकः। (तै० साय० भा० ५।११।१)

मात्र ऊँचा होता है। इसके ऊपरी भाग को खींचकर तीन अंगुल की नासिका बना देते हैं।[1]

मार्जालीय—यह मिट्टी का बना कुछ ऊँचा-सा स्थान है जहाँ यज्ञकर्म के बर्तन माँजे और साफ किये जाते हैं। यह ६ ईंटों का बना होता है। चात्वाल के पास सफाई का सारा कार्य किया जाता है, केवल बर्तन मार्जालीय पर माँजे जाते थे। माँजने में बालू का भी उपयोग होता था।[2]

रशना—(Rope)—घोड़े को वश में करने की रास या रस्सी। यह बारह या तेरह अरत्नि (हाथ) लम्बी होती थी।[3] रशना अथवा रज्जु संभवतः रज्जु-दारु अर्थात् लकड़ी की छाल की बनायी जाती थीं।

शास—(Slaughtering knife)—अश्व के लिए सोने का चाकू, पर्यङ्ग्यों के लिए ताँबे का और अन्यों के लिए लोहे का प्रयोग में आता था।[4]

शिक्य—(Netting with holding strings)—शिक्य बुनी हुई गोल चटाई का बना होता था। इसमें ६ डोरियाँ (उद्याम) बँधी होती थीं। ये सब डोरियाँ फिर एक स्थान पर एक रस्सी से बाँध दी जाती थीं। आजकल हम इन्हें छींका कहते हैं। शिक्य शब्द की व्युत्पत्ति शक् (able) धातु से शतपथ में दी गयी है। शिक्य में रखकर उखा अग्नि ले जायी जाती थी। अग्नि वर्ष के समान है और शिक्य ऋतुओं के तुल्य है। ६ ऋतुएँ होती हैं, इसीलिए शिक्य में ६ उद्याम होते हैं। आत्मा अग्नि है, तो प्राण शिक्य हैं, ६ प्राण हैं।[5] आहवनीय अग्नि

१. मृत्पिण्डमुपादाय महावीरङ्करोति प्रादेशमात्रमिव हि शिरो मध्ये संगृहीतं मध्ये संगृहीतमिव हि शिरोऽथास्यो परिष्टात् त्र्यङ्गुलं मुखमुन्नयति नासिकामेवास्मिन्नेतद् दधाति। (१४।१।२।१७)

२. षण्मार्जालीये (९।४।३।८); अथ दक्षिणतः सिकता उपकीर्णा भवन्ति। तन्मार्जयन्ते यऽएव मार्जालीये बन्धुः। (१४।२।२।४३)

३. द्वादशारत्नी रशना कार्य्या त्रयोदशारत्नीरिति...त्रयोदशमरत्निं रशनायामुपादध्यात्तद्यथर्षभस्य विष्टपं संस्क्रियते तादृक्तत्। (१३।१।२।।२)

४. हिरण्मयोऽश्वस्य शासो भवति, लोहमयाः पर्यङ्ग्याणामायसा इतरेषाम्। (१३।२।२।१६)।

५. यद्वेवैनं शिक्येन बिभर्त्ति। संवत्सरः ऽएषोऽग्निर्ऋतवः शिक्यमृतुभिर्हि संवत्सरः शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यमृतुभिरेवैनमेतद्बिभर्त्ति षड् उद्यामं

के ऊपर शिक्य के सहारे कुम्भ लटकाने का उल्लेख "कुम्भ" के साथ किया जा चुका है।[१]

सत--(Bowl)--यह बेंत का बना हुआ कटोरा है। "सद्" शब्द से इसकी व्युत्पत्ति की गयी है। चप्य के साथ इसका उल्लेख हुआ है।[२]

सीर--(Plough)--सीर या हल को जुए में जोतने (युनक्ति) का उल्लेख है। (स+इरा अर्थात् अन्न सहित) इस प्रकार हल को सीर कहते हैं, क्योंकि अन्न उत्पन्न करने में यह साधक है। सीर उदुंबर लकड़ी का बनाया जाता है और इसमें तीन बार बटी हुई मूँज की परिसीर्य्य (cordage) होती है।[३]

स्थाली--(Cauldron)--कुम्भी के साथ, संभवतः पर्य्यायरूप में इसका उल्लेख हुआ है।[४] हिन्दी भाषा का शब्द थाली भी इसी से निकला प्रतीत होता है। थाली, कटोरी, कड़ाही या देगची (जिसमें अन्न पकाया जाय), सभी का नाम स्थाली है। दूध में पके चावल या यव को स्थालीपाक कहते हैं। इसे स्थाली पुलाक भी कहते हैं।

सुरा और परिस्रुत

सुरा, सोम और सौत्रामणी यज्ञ का वैदिक साहित्य में मूलतः क्या अभिप्राय था, यह तो कहना कठिन है, पर ब्राह्मण काल में सौत्रामणी यज्ञ (जिसमें चार दिन लगते थे) के प्रथम तीन दिन तो सुरा बनाने और उसे परिपक्व करने में लगते थे। शतपथ ब्राह्मण के १२वें काण्ड के ७वें अध्याय में सौत्रामणी हवि का उल्लेख है। जब त्वष्टा

भवति षड् हि ऋतवः (१८)। आत्मैवाऽग्निः प्राणाः शिक्यं प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुं यच्छक्नोति तस्माच्छिक्यं प्राणैरेवैनमेतद् बिभर्त्ति षडुद्यामं भवति, षड् हि प्राणाः। (२०) (६।७।१।१८, २०)

१. **शतपथ ५।५।४।२८ और भी देखो--आसन्दी शिक्यं रुक्मपाशः। (७।२।१।१६)**

२. **सतम्भवति सदेवावरुन्धे (१२।७।२।१३), सते सं स्रवान्त्समवनयति (१२।८।३।१४), वैतसः सतो भवति। (१२।८।३।१५)**

३. **सीरं युनक्ति...अन्नेन समर्द्धयति सीरं भवति सेरं हैतद्यत्सीरमिरामेवास्मिन्नेतद्दधाति (२)। औदुम्बरं भवति। ऊर्ग्वै रसऽउदुम्बरऽऊर्जैवैनमेतद्रसेन समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्य्यं त्रिवृत्तस्योक्तो बन्धुः (३)। (७।२।२।२-३)**

४. **सोऽएव कुम्भी सा स्थाली। (६।७।१।२४)**

के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मारा, तो त्वष्टा ने इन्द्र पर जादू किया, और अभिचरणीय (जादूवाला) सोम इन्द्र ने पी लिया। वह मतवाला होकर इधर-उधर घूमने लगा और तब उसके अंग-अंग से वीर्य्य बहने लगा। आँख से जो तेज निकला वह धूम्रवर्ण का अज (बकरा) बना, आँखों की पलकों से जो निकला वह गेहूँ बना, आँसू से जो बहा वह कुवल फल (बदर या कर्कन्धु) बना, नासिका से जो बहा वह अवि (भेड़) बना, श्लेष्मा से जो बहा वह उपवाक बना, उसमें जो स्निग्ध भाग था वह बदर फल बना, मुख से जो बहा वह वृषभ बना, जो फेन था वह जौ (यव) बना, और जो स्नेह था वह कर्कन्धु फल बना।

इसी काण्ड के सातवें अध्याय के तीसरे ब्राह्मण में सुरा बनाने के पदार्थों को क्रय करने का उल्लेख है—सुरा बनाने के पदार्थ ये हैं—व्रीहि, श्यामाक, गोधूम, कुवल, उपवाक (Indra grain), बदर, यव, कर्कन्धु, शष्पत्र तोक्म (rice and barley germinated) इसी प्रकार ग्राम्य और आरण्य अन्न आदि (१२।७।२।९)। सुरा तयार करने के लिए शत छिद्रों की कुम्भी, सत (कटोरा) चप्य (तश्तरी), छानने के लिए पवित्र (छन्ना), वाल (tail-whisk), अश्वत्थ से बने पात्र, उदुम्बर और न्यग्रोध से बने पात्र, मिट्टी की हाँडी (स्थाली), पलाश के बने सहायक पात्र (उपशय), अपाष्ठहन् (talon slaying bird) के दो पंख—इस प्रकार से सब मिलाकर ३६ उपकरणों का संग्रह किया जाता था (१२।७।२।१५)।

यजुर्वेद, अध्याय १९ के प्रथम मंत्र में —"स्वाद्वीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणा-मृताममृतेन। मधुमतीं मधुमता सृजामि सं सोमेन"—स्वादिष्ठ को स्वादिष्ठ से, तीव्र को तीव्र से, अमृत को अमृत से और मधुमान् को मधुमान् से मिलाने की ओर संकेत है। महीधर ने (और शतपथ ने भी कदाचित्) सोम और सुरा के मिश्रण से यहाँ अभिप्राय समझा है। सोम और सुरा दोनों के चार गुण बताये हैं—स्वादुना-मृष्टेन, तीव्रेण कटुरसेन, अमृतेन सुधातुल्येन, मधुमता मधुरस्वादेन, तीव्र का अर्थ कटु अथवा पटु और शीघ्र मादकता देनेवाला (शीघ्रमदजनकाम्—उवट)।

सुरा बनाने का विवरण कात्यायन ने १९।१।२०।२१ में और महीधर ने (**यजु०** १९।१) में दिया है जो इस प्रकार है:—पहले शष्प (विरूढ़ या अंकुरित धान), तोक्म (विरूढ़ यव) और लाजा (लावा, भुने धान के) और बहुत से मसाले (जिन्हें नग्नहू कहते हैं, और जो स्वाद और किण्व कर्म के लिए काम आते हैं) खरीद कर इकट्ठे किये जाते हैं। नग्नहू में मसाले ये हैं—सर्ज की छाल (bark of vatica robusta) त्रिफली, सोंठ, पुनर्नवा, चतुर्जातक, पिप्पली, गजपिप्पली, वंशावका, बृहच्छत्रा, चित्रक,

इन्द्रवारुणी, अश्वगन्धा, धान्यक (धनिया), यवानी (अजवाइन), जीरकद्वय (ज़ीरा), हरिद्रा (हलदी), विरुढ़ यव और विरूढ व्रीहि (ये सब मिलाकर नग्नहू कहलाते हैं)। इन्हें अग्नि गृह में ले जाया जाता है और दो भागों में अलग-अलग पीसा जाता है। व्रीहि और श्यामाक (millet) को बहुत से जल में अलग-अलग पकाकर चरु तैयार करते हैं। तब तक पकाते हैं, जब तक उबाल न आ जाय, और फिर उबाल से बहे हुए (overflowing) (निःस्राव) पानी को दो पृथक् पात्रों में ले लेते हैं। इस निःस्राव में अलग -अलग ही शष्प, तोक्म, लाजा के पृथक् पिसे हुए भाग का एक-एक तिहाई छोड़ते हैं, और नग्नहू का एक-एक चौथाई भाग (दोनों निःस्रावों में मिलाकर आधा भाग) छोड़ देते हैं। इस मिश्रण (चूर्ण संसृष्ट आचाम) का नाम "मासर" है (आचाम–वह जल जिसमें चावलादि उबाला गया है)। इस मासर को सुखाकर पीस लिया जाता है। जो पिसा हुआ शष्प, तोक्म और लाजा बचा था उसका आधा और पूरा नग्नहू आधा-आधा करके इन दोनों में मिला देते हैं। अब इन सबको एक बड़े बर्तन में मिलाकर तीन दिन-रात के लिए रख छोड़ते हैं।[1]

सोम के समान सुरा बनाने और तीन रात में तैयार करने की ओर संकेत **शतपथ** में भी है।[2] इस प्रकार प्राप्त बिना छनी सुरा को परिस्रुत (unstrained

१. **विरूढा व्रीहयः शष्पम्। विरूढा यवास्तोक्माः। भृष्टव्रीहयो लाजाः। सर्जत्वक् त्रिफलाशुण्ठी-पुनर्नवा-चतुर्जातक-पिप्पली-गजपिप्पली-वंशावका - बृहच्छत्रा-चित्र-केन्द्रवारुण्यश्वगन्धा धान्यक यवानी जीरक-द्वयहरिद्रा-द्वय विरूढ-यव-व्रीहिय एकीकृता नग्नहुः। शष्पतोक्मलाजनग्नहून्दक्षिणद्वारेणाग्निगृहं नीत्वा संचूर्ण्य दर्शपौर्णमासधर्मेण व्रीहिश्यामकयोश्चरू बहुजले पक्त्वा शृतालम्भनानतरं तयोश्च वोर्निः स्रावमुष्णं पृथक् पात्रयोरादाय शष्पादि चतुर्णां चूर्णैः संसृज्य स्थापयेत्। द्वयं चूर्णाचामरूपं मासराख्यम्।....ततः शष्पतोक्मलाजचूर्णानां पृथक् त्रिधा-कृतानां तृतीयांशं द्वेधा कृत्वा चामयोः क्षिपेत्। ततः नग्नहुचूर्णं द्वेधा कृत्वैकमर्धं द्विधा विभाज्याचामयोः क्षिपेत्। एवं चूर्णसंसृष्टाचामयोर्मासर संज्ञा। ततः शष्पतोक्मलाज चूर्णानां द्वितीयं तृतीयांशं द्विधा कृत्वैकैकं भागमोदनयोः क्षिपेत्। नग्नहुचूर्णं द्वितीयार्धं द्वेधा कृत्वौदनयोः क्षिपेत्। तत ओदनावेकपात्रे कृत्वाचामौ क्षिपेत्।....ततस्त्रिरात्रनिधानम्। (महीधर, यजु० १९।१)**

२. **आसुनोतिसुत्या यै तिस्रो रात्रीर्वसति तिस्रो हि रात्रीः सोमः क्रीतो वसति सोम-रूपमेवैनां करोति। (१२।७।३।६)**

liquor) कहते हैं। इसको फिर "पवित्र" अर्थात् छन्नों द्वारा छानकर साफ किया जाता है। साफ करने की विधि का विस्तार एगलिंग ने इस प्रकार दिया है—**दक्षिण** वेदी के पीछे एक गड्ढा खोदा जाता है, और इसके ऊपर बैल का चर्म बिछा देते हैं। इस चर्म पर परिस्रुत उँडेलते हैं और ऊपर से बाँस के बने महीन छेदों वाले "पवित्र" से दबाते हैं। ऐसा करने से साफ सुरा तो ऊपर छेदों में से बाहर निकल आती है, और कचरा नीचे बैठ जाता है। अथवा कभी ऐसा करते हैं, कि चर्म पर "पवित्र" को रख देते हैं, और ऊपर से परिस्रुत उंडेलते हैं। कचरा "पवित्र" पर रह जाता है, और छनी हुई सुरा चर्म पर नीचे आ जाती है।

छनी हुई सुरा को अब "सत" (कटोरा) में उँडेलते हैं, और गाय के या घोड़े के बालों के बने छन्नों द्वारा छानकर साफ कर लेते हैं।[1] सुरा में गाय का दूध मिलाने का भी विधान है। पहली रात में एक गाय का दूध, दूसरी रात में दूसरी गाय का और तीसरी रात में तीसरी गाय का[2] (इस प्रकार सौत्रामणी की तीन रातों में सुरा तैयार हो जाती है)।

सुरा भभके में उड़ाकर शोधी जाती थी या नहीं, इसका विस्तार नहीं मिलता। शतपथ के एक स्थल पर "आसुनोति सुत्यायै" (शत० १२।७।३।६) शब्द आसव बनाने की भभकेवाली क्रिया की ओर संकेत अवश्य करते हैं। (**ऋग्वेद** ९।१०८।७) में "आसोता", और **अथर्ववेद** में "आसुनोता" (२०।१२७।७) शब्दों का प्रयोग हुआ है। हो सकता है कि "आसु" का अर्थ केवल निचोड़ना ही हो, और बाद के साहित्य में इसका अर्थ भभके में उड़ाना (distil) भी आने लगा हो, (इसी से "आसव" शब्द बना)।

पय, पयस्या, दधि, सान्नाय आदि गव्य

पय या दूध—सुरा बनाने के समान ही दूध से दही बनाने की प्रक्रिया भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि दोनों किण्वज प्रक्रियाएँ हैं। दूध से दही बनने में रासायनिक क्रियाएँ क्या होती हैं, इसका पुराने आचार्य्यों को पता नहीं था, पर दूध से दही जमा लेना और

१. **पवित्रेण पावयन्ति। अजाविकस्य वाऽएतद्रूपं यद् पवित्रमजाविकेनैवैनं पुनन्ति (१३)। बालेन पावयन्ति। गोऽश्वस्य वाऽएतद्रूपं यद्बालो गोऽश्वेनैवैनं पुनन्ति (१४)। (१२।८।१।१३-१४)**

२. **एकस्यै दुग्धेन प्रथमां रात्रिम्परिषिञ्चति, द्वयोर्दुग्धेन द्वितीयां, तिसृणां दुग्धेन तृतीयाम्। (१२।८।२।११)**

फिर दही से मट्ठा बनना और उसको मथकर घी निकाल लेना इस देश की पुरानी परम्परा है। शतपथ में दूध को ही सोम के तुल्य बताया गया है, और सुरा को अन्न के तुल्य।[१] दूध क्षत्रिय है, तो सुरा वैश्य है। दूध ही प्राण है। ऐसी काली गाय का, जिसका बछड़ा श्वेत हो, दूध बहुत अच्छा माना गया है। जिस पात्र में दूध दुहा जाता है उसे "दोहन" कहते हैं। दूध ही प्राणियों का पोषक अन्न है, और इसलिए प्रजापति ने पहले दूध उत्पन्न किया—मा के स्तन में दूध दिया।

दूध को गार्हपत्याग्नि पर रखकर पकाया जाता है (उबाला जाता है—शृत)। उबालते समय यह मटकी के ऊपर तक उफन कर न आ जाय—इसकी सावधानी रखनी चाहिए (नोदन्तंकुर्य्यात्)।[२]

दूध या दही—गरम दूध और दही को मिलाकर जो आहुति देते हैं, उसे **दधि घर्म** कहते हैं।[३] गरम दूध देनेवाली गाय को घर्मदुघा कहते हैं।[४]

दही को जीवन का रस बताया है। दधि इन्द्र का दिया हुआ है। दधि इस लोक का रूप है, घृत अन्तरिक्ष का और मधु द्यौ का। इन तीनों से मिलकर मधुपर्क बनता है। यह पात्री, स्थाली या उरुबिली (चौड़े मुँह का पात्र) में रखा जाता है।[५]

१. सोमो वै पयोऽन्नं सुरा···क्षत्रं वै स पयो, विट् सुरा (१२।७।३।८) प्राणः पयः (९।२।३।३१); कृष्णायै शुक्लवत्सायै पयसा (९।२।३।३०); दोहनेन हि पयः प्रदीयते (९।२।३।३०)। तद्वै पयऽएवान्नम्। एतद् ह्यग्रे प्रजापतिरन्नमयजनयत तद्वाऽअन्नमेव प्रजाऽअन्नाद्धि सम्भवन्तीदं हि यासां पयो भवति स्तनावेवाऽभिपद्य तास्ततः सम्भवन्त्यथ यासां पयो न भवति जातमेव ताऽअथाऽदयन्ति तदु ताऽअन्नादेव सम्भवन्ति तस्मादन्नमेव प्रजाः (२।५।१।६)। यदैवस्त्रियै स्तनावाप्यायेतेऽऊधः पशूनामथैव यज्जायते तज्जायते तास्तत स्तनावभिपद्य सम्भवन्ति। (२।५।१।५)

२. तद्दुग्ध्वाऽधिश्रयति। शृतमसदिति तदाहुर्य्यह्यु दन्तं....तद्वैनोदन्तं कुर्यात्। (२।३।१।१४)

३. अथ प्रसुते दधिघर्मेण चरन्ति। (१४।३।१।२९)

४. अथ यैषा घर्मदुघा तामध्वर्य्यवे ददाति। (१४।३।१।३३)

५. रसो वै दधि (७।४।१।३८)। ऐन्द्रं वै दधि (७।४।१।४२)। तमभ्यनक्ति। दध्ना मधुना घृतेन, दधि हैवास्य लोकस्य रूपं, घृतमन्तरिक्षस्य, मध्वमुष्य (७।५।१।३)। एतत्त्रयं समासिक्तं भवति दधि मधु घृतं पात्र्यां वा स्थाल्यां वोरुबिल्याम्। (९।२।१।१)

पयस्या (Clotted curd--दही का छेना, जिससे श्रीखंड बनता है)--इसे मैत्रावरुणी बताया गया है। दूध (पयस्) पर प्रजा निर्भर है, अतः पयस्या की आहुति देनी चाहिए। पयस्या नारी (योषा) है, और वाजिन (whey) रेत या वीर्य्य है।[1]

वाजिन (Whey)--दही में से जो पानी अलग छूटने लगता है, उसे 'वाजिन' कहते हैं। वाजिओं (घोड़ों) को इससे आहुति देते हैं, अतः इसका नाम वाजिन है। विभिन्न दिशाओं में वाजिन से व्याघार करने (छिड़कने) का भी आदेश है। दूसरे कांड, चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में इसका विस्तार दिया गया है।[2]

सान्नाय (Mixture of sweet and sour milk)--अमावस्या को (और पूर्णिमा को भी शायद) सान्नाय की आहुति अग्नीषोम या मैत्रावरुण को देते हैं। (२।४।४।१९)। सम्+नी (साथ लाना) से सान्नाय शब्द बना है, क्योंकि सान्नाय दूध और दही या मट्ठे को मिलाकर तैयार किया जाता है।[3] पकाये हुए (श्रृत) दूध का ही व्यवहार दधि के साथ किया जाता था।[4] जिसने सोमयज्ञ नहीं किया हो वह सान्नाय की आहुति नहीं दे सकता था।[5]

१. **मैत्रावरुणी पयस्या (२।४।४।१४, १८)। अथाऽतः पयस्यै पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति (२।५।१।१५)। योषा पयस्या रेतो वाजिनम् (२।५।१।१६)। उभयत्र पयस्ये भवतः, पयसो वै प्रजाः सम्भवन्ति (२।५।२।९)। मैत्रावरुणी पयस्या (५।४।३।२७)। मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति (५।४।४।१); मैत्रावरुण्यै पयस्यायै। (६।२।२।३९)**

२. **तस्यै वाजिनेन चरन्ति (९।५।१।५७)। अथ वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति। ऋतवो वै वाजिनो रेतो वाजिनं तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते तदृतवो रेतः सिक्तमिमाः प्रजाः प्रजनयन्ति तस्माद् वाजिभ्यो वाजिनं जुहोति (२।४।४।२२)। अथ दिशो व्याघारयति। (२।४।४।२४)**

३. **सान्नाय्यमामावास्यं यज्ञः। (१।६।२।६)**

४. **तस्माद् दध्यथ यदेनं श्रृतेनैवाऽश्रयंस्तस्माद् श्रृतम् (१।६।४।८)। स यो हैवं विद्वान् सन्नयत्येवं हैव प्रजया पशुभिराप्यायतेऽप पाप्मानं हते तस्माद्वै सन्नयेत् (१।६।४।९)**

५. **नाऽसोमयाजी सन्नयेदिति। (१।६।४।१०)**

मस्तु (Sour creem or whey) **और आमिक्षा** (Mixture of boiled and coagulated milk)—पाकयज्ञ के संबंध में इन दोनों का उल्लेख है। उबले हुए फटे दूध को आमिक्षा कहते हैं। मस्तु और वाजिन में क्या अन्तर है, यह कहना कठिन है।[1]

आज्य, घृत, सर्पि—घी के लिए इन तीनों शब्दों का प्रयोग होता है। घृत (१।८।१।७, ९) के उदाहरण दिये जा चुके हैं। आहुति देने के लिए जिस घी का प्रयोग होता है, उसे बहुधा आज्य कहते हैं। वेद में सर्पि शब्द का प्रयोग विशेष हुआ है (अथर्व० १०।९।१३)। ऐतरेय ब्राह्मण में घी के लिए नवनीत, आज्य, घृत और आयुत चार शब्द दिये गये हैं। इनमें देवों के लिए जो घी है, वह आज्य; मनुष्यों के लिए जो घी है, वह घृत; पितरों के लिए जो है वह आयुत और गर्भस्थ जीवों के लिए जो है, वह नवनीत कहलाता है।[3] कुछ लोग पिघले घी को आज्य, जमे हुए को घृत, आधे पिघले को आयुत और मक्खन को नवनीत मानते हैं। इसी से तीनों बनाये जाते हैं।[4]

पय, क्षीर या दूध—दूध के लिए पयस्, क्षीर और दुग्ध तीनों शब्दों का पर्याय रूप से प्रयोग हुआ है। गाय के स्तन से दुहे जाने के कारण इसे दुग्ध कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण में पयस् शब्द का ही प्रयोग अधिक हुआ है। बिना उबले दूध की आहुति देना मना है, उबालकर ही दूध की आहुति दे।[5] अगर कभी खालिस दूध (क्षीरं केवलम्) पीना हो, तो उसमें शान्ति के लिए एक बूँद पानी अवश्य छोड़ ले।[6]

१. तत्राऽपि पाकयज्ञेनेजे स घृतं दधि मस्त्वामिक्षामित्यप्सु जुहवाञ्चकार (१।८।१।७)। अप्स्वाहुतीरहौषीर्घृतं दधि मस्त्वामिक्षाम् (१।८।१।९)। आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु। (अथर्व० १०।९।१३)
२. अथैकऽआज्यं निर्वपति (१।२।१।२२)। ते वाऽआज्यहविषो भवन्ति। (१।५।३।४)
३. ऐतरेय (१।१।३)
४. सर्पिर्विलीनमाज्यं स्याद् घनीभूतं घृतं विदुः। ईषद् विलीनमायुतम्। नवनीतस्य पाकजन्यास्तिस्रोऽवस्थाः—पक्वमीषत् पक्वं निःशेषपक्वं च। द्रव्यान्तरप्रक्षेपेण सुरभि निःशेषपक्वम्।
५. तद् दुग्ध्वाऽधिश्रयति (१४)। अधिश्रित्यैव जुहुयात् (१५)। (२।३।१।१४-१५)
६. तम्माद्यद्येनं क्षीरं केवलं पानेऽभ्याभवेदुदस्तोकमाश्चोतयितवै ब्रूयाच्छान्त्यै न्वेव रसस्यो चैव सर्वत्वाय। (२।३।१।१६)

पुरुष और करीष (Manure)—गाय के गोबर की खाद का नाम करीष है। सभी पशुओं के मल को पुरीष कहते हैं। गोबर के दो उपयोग विशेष हैं, कण्डों या उपलों के रूप में इसे आग के लिए जलाना और दूसरा, खेत में खाद के रूप में इसे छोड़ना। पुरीष पर ही खेती निर्भर है, और खेती पर ही पशु। इसी लिए पुरीष को पशु का प्रतीक माना गया है। पुरीष ही धन-धान्य का मूल है। जो श्री (वैभव) को प्राप्त करता है, उसे ही पुरीष्य (भाग्यवान् या श्रीमान्) कहते हैं। पुरीष और करीष एकार्थक शब्द हैं।[१] कृषिकर्म के लिए जो खाद काम में आये उसे करीष कहना उचित ही है।

चर्मकर्म

पशुओं के चर्म के अनेक उपयोग शपतथ ब्राह्मण के समय में होते थे। चर्म यों भी बिछाने के काम में आता था। कृष्णाजिन (काले मृग के चर्म) का उल्लेख पीछे हो चुका है। इसकी दृति (leather bottle) या चमड़े की पेटी और भस्त्रा (मशक के समान वस्तु) बनती थी। वृत्र जब मरा, तो दृति के समान निष्पीत और खाली (संब्लीन) पड़ा रहा, या वह ऐसी भस्त्रा के समान हो गया जिसमें से भरा हुआ सत्तू निकाल लिया गया हो।[२]

पशु के शरीर पर से उतारकर चमड़े को शंकुओं या लकड़ी की खूँटियों से दबाकर तानते थे।[३] चर्म को बिछाकर इसके ऊपर धान फटकते और कूटते थे

१. **तस्माद् दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युद्गूहति पुरीषवतीं कुर्वीत, पशवो वै पुरीषम् (१।२।५।१७) ; पुरीष्यऽइति वै तमाहुर्यः श्रियं गच्छति समानं वै पुरीषं च करीषं च। (२।१।१।७)**

The primary meaning of *Karisha* is 'that which is scattered or strewn about', hence 'refuse or rubbish' Its secondary meaning, as is that of *Purisha* is 'manure', an article naturally valued by an agricultural population. Eggeling I—279

२. **तद्वेव खलु हतो वृत्रः। स यथा दृतिर्निष्पीतऽएवं संब्लीनः शिश्ये यथा निर्धूतसक्तुर्भस्त्रैवं संब्लीनः शिश्ये। (१।६।३।१६)**

३. **तद्यथा शंकुभिश्चर्म विहन्यात्। (२।१।१।१०)**

(अध्यवहनन और अधिपेषण)।[1] देवताओं ने रेतस् (वीर्य) को चर्मपात्र में लिया।[2]

कृष्णाजिन के अतिरिक्त शार्दूलचर्म (शेर की खाल) का भी उल्लेख है।[3] वराह (सुअर) के चमड़े के जूते (उपानह) बनते थे, जिनके पहनने (उपमुंचन) की ओर संकेत है। राजसूय यज्ञ में जब आसन्दी पर बैठे तब जूता पहने।[4]

बाण रखने के चमड़े के तरकस (बाणवन्त) भी बनाये जाते थे और धनुष पर भी चमड़ा मढ़ा जाता था।[5] धनुष पर साँप की केंचुल का चमड़ा मढ़ते थे। साँप के केंचुल छोड़ने की ओर कई स्थलों पर संकेत है।[6] देवताओं और असुरों ने पृथ्वी का आपस में बटवारा करने के लिए औक्ष्ण चर्म (बैल के चमड़े) का प्रयोग किया, इस प्रकार पूर्व और पश्चिम अलग-अलग बाँट लिये।[7]

पंचतत्त्व की भावना का अभाव

पंचतत्त्व या पंचभूत की कल्पना ब्राह्मण-काल के बाद की है, यद्यपि अग्नि, पृथिवी, जल और वायु का महत्त्व एक साथ बहुत काल से ही स्वीकार किया गया है। छः देवता जो गिनाये गये हैं उनमें अग्नि, पृथ्वी, आपः और वात के साथ दिन और रात

१. तस्मात् कृष्णाजिनमधिदीक्षन्ते यज्ञस्यैव सर्वत्वाय तस्मादध्यवहननमधिपेषणं भवति। (१।१।४।३)
२. तद्धैतद्देवाः, रेतश्चर्मन्वा यस्मिन्वा। (१।४।५।१३)
३. शार्दूलचर्मणो जघनार्द्धे (५।४।१।९); अथैनं शार्दूलचर्माऽरोहयति (५।४।१।११); अथैनमन्तरेव शार्दूलचर्मणि। (५।४।२।६)
४. अथ वाराह्याऽउपानहाऽउपमुच्यते।..... तस्माद् वाराह्याऽउपानहाऽउपमुञ्चते (५।४।३।१९)। आसन्द्याऽउपानहाऽउपमुञ्चते। (५।५।३।७)
५. प्युक्षणवेष्टितं धनुश्चर्ममया बाणवन्तः। (५।३।१।११)
 प्युक्षण—covering for a bow made of sinews or of the skin of a serpent (मोनियर विलियम्स)
६. स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्येत। (२।३।१।६; २।५।२।४७)
७. ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमानाऽअभीयुः। (१।२।५।२)

भी संमिलित हैं ।[1] यज्ञ में जल और अग्नि का महत्त्व माना गया । जल पुरुष है और अग्नि स्त्री ।[2] जल भी पवित्र है और अग्नि भी पवित्र है ।[3] अग्नि, पवन और सूर्य्य का एक स्थल पर साथ-साथ वर्णन है । इन्हें तीन वीर देवता माना गया है ।[4]

शतपथ ब्राह्मण (६।१।२) में प्रजापति द्वारा सृष्टि उत्पत्ति का जो क्रम आया है वह इस प्रकार है—उसने अग्नि के द्वारा पृथिवी से मैथुन किया, उससे एक अण्ड बना । इसके भीतर जो गर्भ था वह वायु बना, जो अश्रु स्वयं बहा था वह पक्षी (वयांसि) बना, जो कपाल में रस लिप्त रह गया वह मरीचि बना, और जो कपाल रहा वह अन्तरिक्ष बन गया । वायु द्वारा अन्तरिक्ष के साथ प्रजापति ने जो मैथुन किया उससे आदित्य (सूर्य्य) बना, जो अश्रु बहा उससे अश्मन् (पत्थर) बना, जो कपाल में रस लिप्त रहा वह रश्मि बना, और शेष कपाल द्यौ हो गया । आदित्य और दिव् के मैथुन से इसी प्रकार क्रमशः चन्द्रमा, तारे, अवान्तर दिशाएँ—और मुख्य दिशाएँ उत्पन्न हुई ।[5]

बृहदारण्यकोपनिषद् में (जो शतपथ के १४वें काण्ड का अन्तिम भाग है)—इयम् पृथिवी (१), इमा आपः (२), अयमग्निः (३), अयमाकाशः (४), अयं वायुः (५), अयमादित्यः (६), अयञ्चन्द्रः (७), इमा दिशः (८), इयं विद्युत् (९), अयं स्तनयित्नुः (१०), अयं धर्मः (११), इदं सत्यम्, (१२), इदं मानुषम् (१३), और अयमात्मा (१४), इस प्रकार चौदह पदार्थ गिनाये गये हैं, पर इन चौदह पदार्थों में से प्रथम पाँच पंच-महाभूत या पंचतत्त्व हैं, ऐसी कोई स्पष्ट कल्पना नहीं है ।[6] आगे चलकर पृथिवी, आपः, अग्नि, आकाश, वायु, आदित्य, चन्द्र-तारक, दिशा, विद्युत्, स्तनयित्नु—इस क्रम से दस पदार्थों का उल्लेख है ।[7] पंचतत्त्व वाला क्रम इससे भिन्न माना जाता है—आकाश-वायु-अग्नि-आपः-पृथिवी (छिति जल पावक गगन समीरा अथवा 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं काल दिग् आत्मा मन इति द्रव्याणि—वैशेषिक) ।

१. षण्मोर्वीरंहसस्पान्त्वग्निश्च पृथिवी चापश्च वातश्चाहश्च रात्रिश्चेत्येता मा देवताः (१।५।२।२२)
२. योषा वाऽआपो वृषाग्निः । (१।१।१।२०)
३. पवित्रं वा आपः । (१।१।१।१)
४. ततऽएते देवानां वीराऽअजायन्ताऽग्निर्योऽयं पवते सूर्यः । (२।२।४।१०)
५. शतपथ ६।१।२।१-४
६. शतपथ १४।५।५।१-१४
७. शतपथ १४।६।७।७-१६

अन्यत्र एक स्थल पर क्रम यह है—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, नक्षत्र (८ वसु) ।[१] एक स्थल पर ६ पदार्थों का एक संघट्ट है—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ[२] (८ और इस ६ वस्तुओं के संघट्ट में जल (आपः) को स्थान नहीं मिला) । जो आठ आयतन गिनाये गये हैं उनका क्रम यह है—पृथिवी, रूप, आकाश, काम, तेज, तम, आप, रेतस् ।[३] एक स्थल पर ब्रह्म को विज्ञानमय, मनोमय, वाङमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, आकाशमय, वायुमय, तेजोमय, आपोमय, पृथिवीमय, क्रोधमय, अक्रोधमय, हर्षमय, अहर्षमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय बताया है ।[४] इसमें अवश्य आकाश-वायु-तेज-अप्-पृथिवी का वही क्रम है, जो पंच तत्त्वों में साधारणतया माना जाता है। पर विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय आदि कोषों का अथवा वाक्, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का वह क्रम नहीं है, जो पंचकोषों और पंचेन्द्रियों में माना जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पंचतत्त्वों की कल्पना के लिए कुछ भूमिका ब्राह्मणकाल में अवश्य पड़ गयी थी, पर आगे चलकर कुछ दिनों के बाद ही इस कल्पना ने दृढ़ता पायी ।

विभिन्न क्रियाएँ

यज्ञकर्म के साथ-साथ अनेक प्रक्रमों का होना ब्राह्मण युग में स्वाभाविक था । इनके लिए जिस शब्दावली का प्रयोग हुआ है, उसका प्रयोग आज भी रासायनिक भाषा में किया जा सकता है । ब्राह्मण साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न क्रियाओं में से कुछ की सूची यहाँ दी जाती है ।

अधिवृज्—(आग पर रखना)—अधिवृणक्ति (१।२।२।७)

अधिश्रि—(आग में रखना)—अधिश्रयति (२।३।१।१४)

अध्यूह—(ऊपर रखना)—अध्यूहति (१।२।१।९)

१. कतमे वसवऽइति । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षञ्चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवऽएतेषु हीदं सर्वं वसु हितमेते हीदं सर्वं वासयन्ते तद्यदिदं सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसवऽइति । (१४।६।९।४)

२. अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षञ्चादित्यश्च द्यौश्चैते षडित्येते ह्येवेदं सर्वं षडिति । (१४।६।९।८)

३. शतपथ १४।६।९।११–१८

४. शतपथ १४।७।२।६

अपलुप्—(अलग या दूर हटा देना)—अपलुम्पति (२।४।१।१३)
अपविच्—(भूसी आदि को अन्न से अलग करना)—अपविनक्ति (१।१।४।२२)
अपिधा—(ढाँकना या बन्द करना)—अपिदधाति (१।७।१।२०)
अभिघृ—(छिड़कना, चुआना)—अभिघारयै (१।७।३।६)
अभिमृश्—(स्पर्श करना)—अभिमृशति (१।२।२।१५)
अभिवस्—(ढाँकना, उढ़ाना)—अभिवासयति (१।२।२।१६)
अभिषु—(द्रव की सहायता से निचोड़ना)—अभिषुणुयात् (४।५।१०।२)
अभ्याधा—(आग पर रखना)—अभ्यादधाति (१।३।४।५)
अवनिज्—(धोना)—अवनेनिजानस्य (१।८।१।१)
अवहन्—(भूसी अलग करना)—अध्यवहननम् (१।१।४।३)
आतञ्च्—(फाड़ना, स्कंधन करना)—आतच्य (१।६।४।६)
आधु—(द्रव को टारना, चलाना)—आधवनीयश्च मे (यजु० १८।२१)
आसु—(निचोड़ना, चुआना)—आसुनोति (१२।७।३।६)
आस्कु—(तोड़ना, खींचना)—आस्कौति (१।२।१।५)
इन्ध्—(जलाना, आग प्रदीप्त करना)—इन्धे (१।३।५।१), समिन्धे (१।३।५।१)
उत्कॄ (उद्-कॄ)—(खोदना)—उत्किरन्ति (२।१।१।७)
उद्गुह्—(मरोड़ना, एँठना)—उद्गूहति (१।३।१।१७)
उद्वस्—(अलग करना)—उद्वास्य (२।२।२।११)
उदूह—(ऊपर खींचना)—उदूहति (१।२।१।४)
उन्नी—(चमचे आदि से ऊपर उठाना)—उन्नयति (२।३।१।१७)
उपतप्—(भूनना, गरम करना)—उपतप्य (२।५।२।१४)
उपस्तॄ—(तह बिछाना)—उपस्तीर्य्य (१।७।२।१०)
उल्लिख्—(रेखा खींचना)—उल्लिखति (२।१।१।२)
कण्डू—(कुरेदना))—कण्डूयेत (३।२।१।३१)
क्लप्—(कतरना, काटना)—कल्पयति (१।३।३।१२)
क्षिप्—(उँड़ेलना)—क्षिपेत् (महीधर, यजु० १९।१)
क्ष्णु—(तेज़ करना, धार रखना)—क्ष्णुत् (६।३।१।३४)
खन्—(खोदना)—खनति (६।३।१।३६)
जन्—(उत्पन्न करना)—जनयित्वा (६।५।१।३)
तीव्री-कृ—(तेज़ या तीक्ष्ण करना)—तीव्री-करोति (१।७।१।१८)

द्वेधा-कृ—(दो में बाँटना)—द्वेधा-करोति (१।२।२।४)
निनी—(उँड़ेलना)—निनयति (१।९।३।५)
निर्णिज्—(धोना)—निर्णिज्य (१।३।१।८)
निष्पू—(फटकना)—निष्पुनाति (१।१।४।२१)
परिक्षल्—(धोना)—परिक्षालयेत् (१।३।१।८)
पर्यग्नि-कृ—(चारों ओर आग ले जाना)—पर्यग्नि करोति (१।२।२।१३)
पर्य्यस्—(नीचे बिछाना)—पर्य्यस्यति (६।५।२।११)
पिन्व—(फुलाना)—पिन्वयति (१४।१।२।१७)
पिष्—(पीसना)—पिनष्टि (१।२।१।२०)
प्रतप्—(गरम करना)—प्रतप्य (१।३।१।८)
प्रतितराम्—(अधिकाधिक सिकुड़ना)—प्रतितराम् (२।३।२।१२)
प्रत्यानी—(उँडेलना, फिर से भरना)—प्रत्यानयति (१४।२।२।४०)
प्रथ—(फैलाना)—प्रथयति (१।२।२।८)
प्रदह् (जलना, जलाना) —प्रदहेत्, प्रदह्येत (१४।२।२।५४)
प्रयु—(मिट्टी गूँधना)—प्रयौति (६।५।१।९)
प्रली—(घुल जाना)—प्रलीयेत (१४।२।२।५४)
प्रवे—(बुनना)—प्रवयति (५।३।५।१५)
प्रसिच्—(पिघलाना)—प्रसिच्येत (१४।२।२।५४)
प्रोक्ष—(छिड़कना)—प्रोक्षति (१।१।३।५)
मृद्वी-कृ—(नरम करना)—मृद्वीं-कृत्वा (६।५।१।१९)
विविच्—(फटक कर भूसी से दाने को अलग करना) विविनक्ति (१।१।४।२२)
विहन्—(चर्म को खींचकर बढ़ाना)—विहन्यात् (२।१।१।१०)
व्याघृ—(ऊपर या चारों ओर छिड़कना)—व्याघारयति (२।४।४।२४)
श्रा—(उबालना, पकाना)—श्रपयति (१।२।२।१४)
संशम्—(बुझाना, बुझ जाना)—संशाम्यतः (२।३।२।१२)
संनी (सम्+नी)—(मिलाना)—सन्नयेत् (१।६।४।९)
संपू—(पूरी तरह साफ़ करना)—सम्पावयन्ति (१।७।१।१३)
सम्भृ—(तैयार करना)—संभृत्य (१।६।४।६)
संयु—(मिलाना)—संयौति (१।२।२।३)
संवप्—(मिलाना, उँड़ेलना)—संवपति (१।२।२।१)

संसृज्——(मिलाना, मिश्रित करना)——संसृजति (६।५।१।६)
संनह्——(बाँधना, जोड़ना)——सन्नह्यति (१।३।१।१३)
सम्मृज्——(झाड़ से साफ़ करना)——सम्मृज्य (१।३।१।८), सम्मार्ष्टि (१।३।१।७)
समवदो (सम्+अव+दो)—— (टुकड़े अलग करके फिर जोड़ना)—— समवद्यति (१।८।१।१७)

निर्देश

१. **शतपथब्राह्मणम्** (दो भाग), अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी (सं० १९४४, १९९७ वि०)।

२. जे० इगलिंग, **शतपथ ब्राह्मण** (अंग्रेजी अनुवाद), क्लेरण्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड (१९०० ई०)।

द्वितीय खण्ड

आयुर्वेद काल

प्राक्कथन

सार्व-सामूहिक ज्ञान को विच्छिन्न धाराओं में बहने में समय न लगा। वेद के नैसर्गिक ज्ञान को व्यवहार में लाने के लिए उपवेद की कल्पना हुई—धनुर्वेद, अर्थवेद, गान्धर्ववेद और आयुर्वेद। रोग और मृत्यु से हम शरीर में रहते हुए भी उन्मुक्त हो सकते हैं, इस आस्था ने आयुर्वेद को जन्म दिया। अथर्ववेद से इस उपवेद को प्रेरणा मिली। अनेक तपस्वी मनीषियों ने यह अनुभव किया कि मानव के चारों ओर बिखरी सृष्टि में ही उसके रोगों की निवृत्ति के साधन भी विद्यमान हैं। जहाँ से मनुष्य को आहार प्राप्त है, वहीं से उसे आहार से उत्पन्न रोगों का निवारण भी प्राप्त हो सकता है।

कहा जाता है कि यह उद्‌बोधन मनुष्य को पशुओं से प्राप्त हुआ। अथर्व के एक मन्त्र में संकेत है कि वराह, नकुल, सर्प, सुपर्ण, रघट, हंस, पतत्री, मृग, गौ, अजा और अवि न जाने कितनी वनस्पतियों, ओषधियों एवं वीरुधों से परिचित हैं, जिनका उपयोग वे नैसर्गिक रूप से अपने रोगों को दूर करने के लिए करते हैं। इस प्रेरणा ने आयुर्वेद काल में मानव से एक-एक ओषधि और वनस्पति का संग्रह कराया। आयुर्वेद-काल वनस्पतियों और उनसे प्राप्त रसों के उपयोग का युग है। रोगों को इस समय वर्गीकृत किया गया, और वनस्पतियों को भी।

दीर्घायु की कामना करनेवाले मनीषी अभी सोना बनाने की आकांक्षा से मुक्त थे। ओषधियों में भी धातु-भस्म प्रयोग करने का प्रचलन संकेत मात्र ही था। गन्धक और पारद आयुर्वेद के प्रांगण से अभी दूर थे। यज्ञ के उपकरण और यज्ञशाला के क्रिया-कलाप आयुर्वेदशाला के आधार बन गये। सर्वलोक हितार्थ सर्वमानव के समवेत प्रयास से आयुर्वेद जीता-जागता शास्त्र बन गया। महर्षि भरद्वाज, आत्रेय, पुनर्वसु, चरक और अग्निवेश ने आयुर्वेद की बिखरी परम्परा का संकलन किया। यह आयुर्वेद किस प्रकार आगे बढ़ा, और अपने प्रौढ़ काल में रसतंत्र की नवीन धारा से इसका समन्वय किस प्रकार हुआ, और दोनों धाराएँ एक साथ कैसे आगे चलीं, इसका आभास आगे के पृष्ठों में मिलेगा।

तीसरा अध्याय

आयुर्वेद काल की पृष्ठभूमि

कहा जाता है कि सृष्टि से पूर्व प्रजापति अकेला था। उसने कामना की कि मैं प्रजा और पशुओं का सर्जन करूँ। उसने इस निमित्त अपनी वपा को अग्नि में डाला और उससे अजस्तूपर उत्पन्न हुआ। इस अजस्तूपर के अनन्तर ही विकास-क्रम में गाय, अश्व और खुरवाले प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार अजा, अवि, अश्व, गो आदि ग्राम्य पशुओं की सृष्टि हुई।[1] मनुष्य भी इसी परम्परा में एक ग्राम्य पशु कहलाया। यह मनुष्य रोग और मृत्यु से पीड़ित था। अतः उसने अपने इस कष्ट की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद की शरण ली। साधारणतया आयुर्वेद को अथर्ववेद का एक उपवेद माना जाता है।[2] काश्यप संहिता में लिखा है कि आयुर्वेद अथर्व-उपनिषद् के रूप में पहले उत्पन्न हुआ।[3] अथर्ववेद का काल निर्धारित करने का प्रयास करना हमारा यहाँ अभीष्ट नहीं है।

आयुर्वेद के आठ अंग माने गये--कौमारभृत्य, कायचिकित्सा, शल्याहर्त्तृक, शालाक्य, विषतंत्र, भूततंत्र, अगदतंत्र और रसायन तंत्र (**काश्यप संहिता**)। चरक ने इन आठ तंत्रों के नाम इस प्रकार दिये हैं--कायचिकित्सा, शालाक्य, शल्यापहर्त्तृक,

१. प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्। सोऽकामयत प्रजाः पशून्त्सृजेयेति। स आत्मनो वपामुदक्खिदत् तामग्नौ प्रागृह्णात् ततोऽजस्तूपरः समभवत् तं स्वायै देवताया आऽलभत ततो वै स प्रजाः पशूनसृजत। यः प्रजाकामः पशुकामः स्यात् स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत प्रजापतिमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवास्मै प्रजां पशून् प्रजनयति। यच्छ्मश्रुणस्तत् पुरुषाणां रूपं यत् तूपरस्तदश्वानां यदन्यतोदन् तद् गवां यदव्या इव शफास्तदवीनां यदजस्तदजानामेतावन्तो वै ग्राम्याः पशवः। (तै० सं० २।१।१)

२. हस्तिशिक्षा सलक्षणा। आयुर्वेदविद्यास्तथा।... सर्वे ते अथर्ववेदस्योपवेदा भविन्त। (प्रतिज्ञापरिशिष्ट, कंडिका ३५, कात्यायन मुनि)

३. अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः। (काश्यप सं०)

विष-गर-वैरोधिक प्रशमन, भूतविद्या, कौमारभृत्यक, रसायन और वाजीकरण (सूत्र० ३०।२८)। छान्दोग्य उपनिषद् में भी भूतविद्या का उल्लेख मिलता है।[1] विधाता ने जिस आयुर्वेद-संहिता का प्रथम सर्जन किया उसका नाम ब्रह्मसंहिता पड़ा, इस प्रकार का एक उल्लेख भावप्रकाश में मिलता है।[2] परन्तु एक लाख श्लोकों की यह ब्रह्मसंहिता, संभव है, केवल काल्पनिक हो।

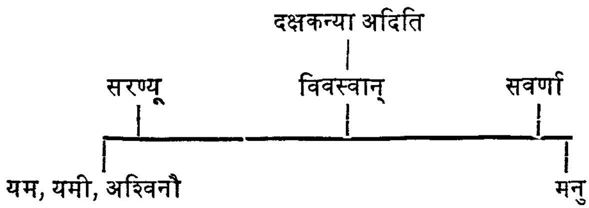
किंवदन्ती है कि आयुर्वेद का ज्ञान ब्रह्मा ने दक्ष और भास्कर को दिया। दक्ष की परम्परा में सिद्धान्त को प्रश्रय दिया गया था, और भास्कर की परम्परा में व्याधिनाश अर्थात् चिकित्सा-पद्धति को। यह भी कहा जाता है कि ब्रह्मा सर्ग के आदि में उत्पन्न हुए। उन्होंने आयुर्वेद का उपदेश अपने शिष्य दक्ष-प्रजापति को दिया। यह भी कहा जाता है कि भास्कर ने भी ब्रह्मा से ही आयुर्वेद शास्त्र सीखा, किन्तु उसने स्वतंत्र संहिता की रचना द्वारा चिकित्सा पद्धति का अधिक विस्तार किया।[3] मुण्डक उपनिषद् में अथर्वा को ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है (१।१।१)। आज हमारे लिए यह कहना कठिन है कि ब्रह्मा कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था, अथवा केवल प्राग्-ऐतिहासिक काल की एक कल्पना थी।

प्रजापति और दक्ष के संबंध में भी कितनी बातें ऐतिहासिक हैं, और कितनी कल्पित, यह कहना कठिन है। पुराने उल्लेखों में तीन दक्षों का विवरण है—मानस-पुत्र दक्ष, प्राचेतस दक्ष और पार्वति दक्ष। इसी प्रकार २१ प्रजापतियों का उल्लेख भी मिलता है। प्राचेतस दक्ष इन्हीं २१ प्रजापतियों में से एक था। आयुर्वेद की परम्परा में जिसे दक्ष-प्रजापति कहा गया है, वह भी संभवतः प्राचेतस दक्ष था।[4] चरक संहिता में लिखा है कि दक्ष प्रजापति ने ब्रह्मा से आयुर्वेद का अध्ययन किया।[5]

१. ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां...भगवोऽध्येमि।(छांदोग्य, ७।१।२)
२. विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्।
 स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥ (भावप्रकाश १।१)
३. कृत्वा तु पञ्चमं वेदं भास्कराय ददौ विभुः।
 स्वतंत्रसंहितां तस्माद् भास्करश्च चकार सः। (ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्मखंड, अ० १६)
४. ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसतामुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ.....भागमयरि-कल्पयतः (अष्टांग संग्रह, निदान० १।४)
५. ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः। (चरक, सूत्र० १।४)

संभवतः ये दक्ष प्रजापति कृतयुग के अन्त में हुए थे; अथवा ये त्रेता के आरंभ में हुए। चरक में एक स्थल पर लिखा है कि द्वितीय युग (त्रेता) में दक्ष प्रजापति ने अपने यज्ञ में शिव की उपेक्षा की।[1]

प्राचीन परम्परा में दक्ष-प्रजापति के बाद अश्विनीकुमारों का नाम बहुधा लिया जाता है। कहा जाता है कि दक्ष-प्रजापति की तीन कन्याएँ थीं—दिति, दनु और अदिति। इनकी सन्तानें ही क्रमशः दैत्य, दानव और देव कहलायीं। देव या आदित्य संख्या में १२ थे। इनमें से तीन प्रसिद्ध देव विवस्वान्, इन्द्र और विष्णु कहलाये। विवस्वान् की दो पत्नियों के पुत्र थे मनु, यम और दो अश्विन्। विवस्वान् (विवह्-वन्त) का उल्लेख पुराने पारसी साहित्य में भी है। निरुक्तकार यास्क ने भी विवस्वान् आदित्य के इतिहास पर प्रकाश डाला है—



दोनों अश्विनों ने दक्ष प्रजापति से ही आयुर्वेदशास्त्र का अध्ययन किया।[2] अश्विनौ के अनेक नाम साहित्य में प्रचलित हैं—अश्विनौ, नासत्यौ, दस्रौ, देवभिषजौ, यज्ञवहौ आदि। वायुपुराण में एक स्थल पर उल्लेख है कि अश्वि-द्वय ने अमृतसर्जन के लिए क्षीरोदसागर के चारों ओर फैले हुए पर्वतों पर ओषधियाँ उगायीं। वहीं पर एक पर्वत सोमक नाम का था, जहाँ अमृत रखा गया और एक द्रोण पर्वत था जिस पर

१. **द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम्।**
दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः॥
तपोविघ्नाशनाः कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनः।
पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः प्रजापतिः (चरक, चि० ३।१५-१६)

२. **(क) अश्विभ्यां कः प्रददौ। (काश्यप सं०, विमान०)**
(ख) प्रजापतिः जग्राह निखिलेनादावश्विनौ तु पुनस्ततः। (चरक, सू० १।४)

विशल्यकरणी और मृतसंजीवनी ओषधियाँ उगायी गयीं।[1] देवों ने अमृत की प्राप्ति की, जिससे वे भूख और मृत्यु को जीत सके।[2]

अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा में बड़े-बड़े चमत्कार दिखाये। वृद्ध च्यवन इनकी ही चिकित्सा से यौवन को प्राप्त हुआ (देखो **शतपथ**, ४।१।५।१–१२)। अरुण कुलोत्पन्न किलास-ग्रस्त श्वेतकेतु की चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने की।[3]

शतपथ ब्राह्मण में आलंकारिक उल्लेख आता है कि अश्विद्वय ने यज्ञ का (ब्रह्मा का) सिर जोड़ दिया। प्राचीन वाङ्मय में यज्ञशिरः-संधान की कथा विख्यात है।[4] ब्राह्मण ग्रन्थों में '**अदन्तकः पूषा**' वचन मिलता है। चरक के चिकित्सास्थान रसायनपाद १।४।४२ में उल्लेख है कि पूषन् के प्रशीर्ण दाँतों की चिकित्सा अश्वि-द्वय ने की। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में '**अन्धो भगः**' पाठ मिलता है और चरक, चिकित्सा० रसायनपाद १।४।४२ में लिखा है कि अश्विनीकुमारों ने भग के नेत्रों की चिकित्सा की, जब कि दक्ष प्रजापति के यज्ञ में शिव ने भग के नेत्र हरे थे (**सुश्रुत**, उत्तर तंत्र ३७।१३)। चरक के कथनानुसार अश्वि-द्वय ने इन्द्र की स्तब्ध भुजा को भी रोगमुक्त किया था। इसी प्रकार चन्द्र जब यक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुआ तो उसे भी अश्वि-द्वय ने रोगमुक्त किया।

कहा जाता है कि अश्विनीकुमारों ने आयुर्वेद संबंधी कुछ ग्रन्थ भी रचे, पर यह बात विश्वसनीय नहीं है। अनेक ग्रन्थकारों ने आश्विन-संहिता आदि नामों से अपने अपने ग्रन्थों को विख्यात किया, ऐसी ही संभावना प्रतीत होती है।[5]

१. **द्वितीयः पर्वतश्चन्द्रः सर्वौषधिसमन्वितः।**
अश्विभ्याममृतस्यार्थे ओषध्यस्तत्र संस्थिताः॥
पञ्चमः सोमको नाम देवैर्यत्रामृतं पुरा।
संभृतं च हृतं चैव मातुरर्थे गरुत्मता॥
चतुर्थः पर्वतो द्रोणो यत्रौषधाः महाबलाः।
विशल्यकरणी चैव मृतसञ्जीवनी तथा॥ वायु० ४९।७, १०, ३५)

२. **ते देवा अमृतेन क्षुधं कालं चानुदन्त। (कश्यप सं०, रेवती कल्प, कल्पस्थान)**

३. **श्वेतकेतुं हारुणेयं ब्रह्मचर्यं चरन्तं किलासो जग्राह। तमश्विनावूचतुः "मधुमांसौ किल ते भैषज्यम्" इति। (याजुष चरक संहिता, आचार्य विश्वरूप, याज्ञ० स्मृति, बाल क्रीडा टीका, १।३२)**

४. **शतपथ १४।१।१।१८**

५. **(क) 'गदनिग्रह' (भाग १) में आश्विनसंहिता का उल्लेख है—**

देवराज इन्द्र—अश्विनीकुमारों ने अपने पितृव्य इन्द्र को भी आयुर्वेद का ज्ञान कराया। बारह आदित्यों में से इन्द्र भी एक आदित्य है—भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, पूषा, त्वष्टा, इन्द्र और विष्णु ये बारह आदित्य हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र के अनुसार इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में एक सहस्र मंत्री थे, और इसलिए इसे सहस्राक्ष भी कहा गया।[1] चरक-संहिताकार ने कई स्थलों पर कहा है कि इन्द्र ने अश्विनौ से आयुर्वेद सीखा। इन्द्र ऐतिहासिक व्यक्ति है, यह कहना कठिन है। पर चरक में यह भी लिखा है कि इन्द्र ने भृगु, अंगिरा, अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, अगत्स्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम आदि ऋषियों को आयुर्वेद के कुछ योग बताये। अष्टांगहृदय के अनुसार आत्रेय को भी इन्द्र ने आयुर्वेद सिखाया।[2] (वस्तुतः आत्रेय पुनर्वसु भरद्वाज का शिष्य है, जैसा कि चरक में उल्लेख है।)

इन्द्र संबंधी विषय बड़ा विवादास्पद है, और इस पर हम यहाँ विचार करना आवश्यक नहीं समझते। केवल इतना कहेंगे कि चरक आदि ग्रन्थों में आयुर्वेद की प्राचीनतम परम्पराओं में इन्द्र का भी नाम लिया जाता है, चाहे वह काल्पनिक व्यक्ति ही क्यों न रहा हो।

रोग का आरम्भ—कहा जाता है कि आदि काल तथा कृत युग में प्रजाएँ नीरोग थीं। मनुष्य की आयु उस समय ४०० वर्ष की बतायी गयी है। स्वायंभुव मनु की भृगु-प्रोक्त संहिता में ऐसा लिखा है कि उत्तरोत्तर युगों में मनुष्य की यह आयु क्रमशः घटती

'शूलानि नाशयति वातबलासजानि, हिंग्वाद्यमुक्तमिदमाश्विनसंहितायाम्।'

(ख) ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है कि अश्विनीकुमारों ने चिकित्सा-सारतंत्र और भ्रमघ्न नामक ग्रन्थ लिखे—"चिकित्सासारतन्त्रञ्च भ्रमघ्नञ्चाश्विनीसुतौ।" (ब्रह्मखंड, अ० १६)

(ग) नाडीपरीक्षा नामक एक ग्रन्थ भी अश्विनीकुमारों का बताया जाता है—"अश्विनीदेवताकृतौ नाडीपरीक्षायां सप्तविंशति श्लोकाः समाप्ताः"—मद्रास सरकार की हस्तलिखित पोथियों की सूची, भाग २३, सं० १३,१५१

१. (क) इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषद् ऋषीणां सहस्रम्। स तच्चक्षुः।
तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।१५।६०-६२)

(ख) अश्विभ्यां भगवान् शक्रः प्रतिपेदे ह केवलम्।
ऋषिप्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्रमुपागमत्॥ (चरक, सूत्र० १।५)

२. सोऽश्विनौ तौ सहस्राक्षं सोऽत्रिपुत्रादिकान्मुनीन्। (अष्टांगहृदय, १।३)

गयी ।[१] कृतयुग में मनुष्य दीर्घायु थे । आदि युग में निश्चय ही पृथ्वी-रस से उत्पन्न आहार पर लोग निर्वाह करते थे । चरक-संहिता में लिखा है कि आदि काल में यज्ञों में पशु केवल स्पर्श के लिए लाये जाते थे, न कि वध के लिए ।[२] पुराकल्प में यज्ञ में पशु समालम्भ के लिए भी नहीं लाये जाते थे, केवल व्रीहि से ही यज्ञ हो जाता था, इस प्रकार की एक अनुश्रुति महाभारत में भी है ।[३] इस प्रकार आहार-विहार नियन्त्रित होने के कारण उस आदि काल के व्यक्ति नीरोग और दीर्घायु थे । कृत-युग के अन्तिम काल में अत्यन्त (आहार पदार्थ) लेने से लोगों के शरीर में गुरुता या स्थूलता आ गयी । इसलिए उन्हें श्रम अधिक करना पड़ा । श्रम से आलस्य, आलस्य से सञ्चय, सञ्चय से परिग्रह और परिग्रह से लोभ की उत्पत्ति हुई । त्रेता में लोभ से अभिद्रोह की भावना उत्पन्न हुई । त्रेता में धर्म का एक पाद लुप्त हुआ, और साथ ही साथ वनस्पतियों के गुणों में भी उतनी ही हीनता आ गयी । आहार-विहार में भी परिवर्तन हुए और परिणामस्वरूप लोग व्याधि आदि से आक्रान्त होने लगे ।[४]

चिकित्सक भृगु—आर्य इतिहास में २१ प्रजापति कहे गये हैं । वायुपुराण के अनुसार (६५।७३) भृगु प्रथम प्रजापति थे । महर्षि भृगु ब्रह्मा के मानसपुत्र भी

१. अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः ।
कृते त्रेतादिषु ह्येषां वयो ह्रसति पादशः ।। (२।२३)

२. (क) पृथ्वीरसोद्भवं नाम आहारं ह्याहरन्ति वै ।(वायुपुराण ८।४८)
(ख) आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुर्नालंभाय प्रक्रियन्ते स्म । (चरक, चिकित्सा० १९।४)

३. श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः ।
येनायजन्त विद्वांसः पुण्यलोकपरायणाः ।। (महाभारत, अनु० १७७।५४)

४. भ्रश्यति तु कृते युगे केषाञ्चिदत्यादानात् साम्पन्निकानां सत्त्वानां शरीर गौरवमासीत्, शरीरगौरवाच्छ्रमः, श्रमादालस्यम्, आलस्यात्सञ्चयः, सञ्चयात् परिग्रहः, परिग्रहाल्लोभः प्रादुर्भूतः कृते ।।

ततस्त्रेतायां लोभादभिद्रोहः ।.... ततस्त्रेतायां धर्मपादोऽन्तर्द्धानमगमत् । पृथिव्यादीनां च गुणपादप्रणाशोऽभूत् । तत्प्रणाशकृतश्च सस्यानां स्नेहवैमल्य.. गुणपादभ्रंशः । ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीयमानगुणपादैश्चाहारविहारैरयथा पूर्वमुपष्टभ्यमानानि...प्राग्व्याधिभिराक्रान्तानि ।।

(चरक, विमान० ३।२४)

माने जाते हैं। शतपथ ब्राह्मण में भृगु को वारुणि भी कहा गया है और वह अपने को पिता से अधिक विद्वान् समझने लगा, ऐसा भी उल्लेख है।[1] ऐतरेय में भी भृगु को वारुणि कहा गया है, क्योंकि वरुण ने उसको ग्रहण किया था।[2] साहित्य में अनेक भृगुओं का उल्लेख है। हो सकता है कि कहीं-कहीं पर ये भृगु काल्पनिक ही हों। आयुर्वेद से भी संबंध रखनेवाला कोई भृगु था, चाहे वह काल्पनिक रहा हो, चाहे ऐतिहासिक। अष्टांगहृदय, हेमाद्रि-टीका (चिकित्सास्थान ३।१६७, १६८) में एक स्थल पर लिखा है कि "भृगूपदिष्टं हि रसायनं स्यात्।" हेमाद्रि इस यक्ष्मा-नाशक योग को योगरत्न से उद्धृत करता है। यही योग वंगसेनसंहिता, कासप्रकरण (श्लोक १७० आदि) में है। ऐसा अनुमान है कि भृगु-संहिता नामक एक आयुर्वेदसंहिता भी प्रचलित थी।

महाभारत से पूर्व शालिहोत्र ऋषि का एक हयशास्त्र भी प्रचलित था। राजगुरु हेमराज ने इस हयशास्त्र के कतिपय श्लोकों का काश्यप-संहिता, उपोद्घात में एक टिप्पणी में उल्लेख किया है। इन श्लोकों में भृगु का भी नाम आयुर्वेद-विशेषज्ञों की श्रेणी में अंकित है।[3] वाग्भटसुत तीसट के ग्रन्थ **चिकित्सा-कलिका** में भी भृगु का नाम भेल, अग्निवेश, चरकादि के साथ आया है।[4]

वसिष्ठ—ब्रह्मा के मानसपुत्र अंगिरा और अत्रि ने आयुर्वेद के कुछ योग दिये या नहीं, इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आंगिरस कुल में महर्षि भरद्वाज और अत्रिकुल में आत्रेय पुनर्वसु आयुर्वेद के जाज्वल्यमान रत्न हैं, जिनका उल्लेख चरक में हमें विस्तार से प्राप्त है। प्रजापति वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानसपुत्र माने जाते हैं।

१. भगुर्ह वै वारुणिः वरुणं पितरं विद्ययातिमेने। (शतपथ ११।६।१।१)

२. तं वरुणो न्यगृह्णीत। तस्मात् स भृगुर्वारुणिः ॥ (एतरेय ब्राह्मण १।१३।१०)

३. वसिष्ठो वामदेवश्च च्यवनो भारविस्तथा (भार्गवस्तथा)।
असितो देवलश्चैव कौशिकश्च महाव्रताः।
उद्दालकश्च भगवान् श्वेतकेतुर्भृगुस्तथा ॥
इन्द्रश्च देवराजश्च सर्वलोकचिकित्सकाः।
एते चान्ये च बहव ऋषयः संश्रितव्रताः ॥
आयुर्वेदस्य कर्त्तारः सुस्नातं ते दिशन्तु ते ॥ (काश्यप संहिता १।१५९)

४. हारीत-सुश्रुत-पराशर-भोज-मेल-भृग्वग्निवेश-चरकादिचिकित्सकोक्तैः ॥
(चिकित्साकलिका २)

संभवतः ये ही उत्तरकाल में मैत्रावरुण वसिष्ठ हुए। इनके पुत्र शक्ति और पौत्र पराशर थे। पराशर को भी आयुर्वेद का विद्वान् माना जाता है। वसिष्ठ नाम के कितने ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं, और कितने काल्पनिक, आज यह निर्धारण करना हमारे लिए संभव नहीं है। चरकसंहिता में एक ब्राह्म रसायन का उल्लेख है जिसके सेवन से वसिष्ठ, कश्यप, अंगिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु आदि ने जरा और व्याधि से मुक्ति पायी। यह घटना और नामावली ऐतिहासिक है या काल्पनिक, यह निर्णय करना कठिन है।[१]

महाभारत के शान्तिपर्व में (३०८।८) मैत्रावरुण वसिष्ठ का उल्लेख आता है। वसिष्ठ और कराल-जनक के संवाद में वसिष्ठ शीर्षरोग, अक्षिरोग, दन्तशूल, गलग्रह, जलोदर, तृषारोग, ज्वरगण्ड, विषूचक, श्वित्रकुष्ठ, अग्निदग्ध, सिध्म और अपस्मार रोगों का स्मरण करता है।

हेमाद्रि के लक्षणप्रकाश में उद्धृत शालिहोत्र का जो वचन हम ऊपर दे आये हैं, उसमें वसिष्ठ का नाम सर्वलोकचिकित्सकों में सर्वप्रथम गिनाया गया है। अष्टांग-हृदय में कासचिकित्सा प्रकरण में वसिष्ठ के एक रसायन का उल्लेख आया है।[२] अष्टांगसंग्रह में भी वासिष्ठ हरीतकी का उल्लेख है।[३]

कश्यप—ब्रह्मा के मानसपुत्रों में एक मरीचि है। महाभारत, शान्तिपर्व (२००।१८) के अनुसार प्रजापति कश्यप मरीचि के मानसपुत्र थे। आयुर्वेदीय काश्यप संहिता में कश्यप को मारीच तथा प्रजापति कहा गया है। महाभारत, शान्तिपर्व (२०१।८) में कश्यप का एक नाम अरिष्टनेमि भी दिया गया है।[४] पर अन्यत्र अरिष्टनेमि और कश्यप भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी माने गये हैं। काश्यप-संहिता, जो आज प्राप्त है, उसमें कश्यप के लिए ज्वलनार्कतुल्य, तपोद, लोकपूजित,

१. एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः।
जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्।
यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः॥ (चरक, चिकित्सा० १।४।५)

२. रसायनं वसिष्ठोक्तमेतत् पूर्वगुणाधिकम्। (अष्टांगहृदय, कास० ३।१४०)

३. वासिष्ठहरीतकिर्वा। (अष्टांगसंग्रह, चिकित्सा० १०)

४. मरीचेः कश्यपः पुत्रस्तस्य द्वे नामनी श्रुते।
अरिष्टनेमिरित्येकं कश्यपेत्यपरं विदुः॥ (महाभारत, शान्ति० २०१।८)

सर्वशास्त्रज्ञ, वेद-वेदांगपारग, वदतांवर, सर्वशास्त्र विदांवर, भिषजांश्रेष्ठ आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। कश्यप के संबंध में यहाँ लिखना व्यर्थ है क्योंकि हम अन्यत्र काश्यप संहिता का विवरण विस्तार से देंगे।

अगस्त्य—ब्रह्मवैवर्त पुराण (ब्रह्मखंड, अ० १६) में एक स्थल पर उल्लेख है कि अगस्त्य को आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का ज्ञान भास्कर से प्राप्त हुआ। अगस्त्य ने भास्कर-तंत्र का अध्ययन किया। इसी पुराण के अनुसार भास्कर के सब शिष्यों ने स्वतन्त्र संहिताएँ रचीं। इनमें से जो अगस्त्यतंत्र रचा गया, उसका नाम **द्वैध-निर्णय तंत्र** था।[1] चरकसंहिता, सूत्रस्थान १।६२ की टीका में चक्रपाणि ने अगस्त्य का एक श्लोक उद्धृत किया है, पर यह कहना कठिन है कि यह श्लोक किस अगस्त्य का है, और उसके किस ग्रन्थ का।[2]

वामदेव—अंगिरा-कुल में उत्पन्न वामदेव का उल्लेख मत्स्यपुराण में और वाल्मीकीय रामायण में आता है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में अंगिरा—रहूगण—गोतम—वामदेव—बृहदुक्थ इस प्रकार की वंशपरंपरा दी हुई है। आयुर्वेद का कर्त्ता इसी परंपरा का कोई वामदेव था, अथवा भिन्न, यह निर्णय करना कठिन है। शालिहोत्र के आधार पर जो नामावली हम पीछे दे आये हैं, उसमें भी वामदेव की गणना सर्व-लोकचिकित्सकों में की गयी है। गदनिग्रह (प्रथम भाग) में प्रमेह रोग के संबंध में वामदेव के नाम पर प्रचलित एक गुटिका का उल्लेख है।[3]

शालिहोत्र के उक्त उद्धरण के अनुसार असित, देवल और गौतम भी आयुर्वेद-कर्त्ता हैं। असित का पिता कश्यप था, उसका एक भाई वत्सर था। असित की पत्नी का नाम एकपर्णा और पुत्र का नाम देवल था (वायुपुराण ७२।१७)। गौतम का कोई आयुर्वेद-ग्रन्थ तो हमें प्राप्त नहीं है, पर चरक ने सिद्धि स्थान में (अध्याय ११) फलवस्ति की श्रेष्ठता के संबंध में जो परिचर्या दी है, उसमें गौतम नामक एक

१. **द्वैधनिर्णयतन्त्रञ्च चकार कुम्भसंभवः। (ब्रह्मवैवर्त०)**

२. **रसायनतपोजप्ययोगसिद्धैर्महात्मभिः।**
कालमृत्युरपि प्राज्ञैर्जीयते नालसैर्नरैः॥ (चक्रपाणि)

३. **प्रमेहे वामदेवेन कथिता गुटिका—**
कटुत्रिकं वचा मुस्ता विडङ्गं चित्रकं विषम्।...
वदरसमात्र गुटिका कार्या। एषा गुटिका प्रमेहं, आमवातं, गुल्मं, मन्दाग्नि हन्ति विशेषतश्च लालामेहम्॥ (गदनिग्रह, प्रथम भाग, पृ० १७६)

व्यक्ति ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं। अष्टांगसंग्रह के निदानस्थान में ज्वर-विवेचना और नक्षत्र के संबंध में उल्लेख करते हुए गौतम का भी नाम आया है।[१] माधवनिदान का व्याख्याकार विजयरक्षित अर्शोनिदान के श्लोक ३३–३४ की व्याख्या करते हुए गौतम के वचनों को उद्धृत करता है।[२] निस्सन्देह गौतम नाम के अनेक विद्वानों का उल्लेख हमारे वाङमय में आता है, और यह भी कहना कठिन है कि इनमें से कितने नाम ऐतिहासिक और कितने काल्पनिक हैं।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में भास्कर की शिष्यपरम्परा

इस पुराण में यह किंवदन्ती दी गयी है कि भास्कर ने प्रजापति ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। आयुर्वेद को इस पुराण में पंचम वेद माना गया है, जिसकी रचना अन्य चारों वेदों के चिन्तन के आधार पर ही हुई। इस पुराण में भास्कर के १६ शिष्य और उनके चलाये गये पृथक्-पृथक् तंत्रों की नामावली दी हुई है[३] (संभव

शिष्य	तंत्र	शिष्य	तंत्र
१. धन्वन्तरि	चिकित्सा तत्त्व विज्ञान	९. च्यवन	जीवनदानतंत्र
२. दिवोदास	चिकित्सादर्शन	१०. जनक	वैद्य सन्देह भञ्जन
३. काशिराज	चिकित्सा कौमुदी	११. चन्द्रसुत	सर्वसार
४. नासत्य (अश्विनौ) +	चिकित्सासार तंत्र	१२. जाबाल	तन्त्रसारक
५. दस्र	भ्रमघ्न	१३. जाजलि	वेदांगसार तंत्र
६. नकुल	वैद्यकसर्वस्व	१४. पैल	निदान
७. सहदेव	व्याधिसिन्धुविमर्दन	१५. करथ	सर्वधर तंत्र
८. अर्कियम	ज्ञानार्णव	१६. अगस्त्य	द्वैधनिर्णय तंत्र

१. (क) कटु तुम्बममन्यतोत्तमं वमने दोषसमीरणं च तत्।
तदवृष्यमशैत्यतीक्ष्णताकटुरौक्ष्यादिति गौतमोऽब्रवीत्॥
(चरक, सिद्धि० ११।६)

(ख) चतूरात्रेऽष्टरात्रे वा क्षेममित्याह गौतमः। (अष्टांगसंग्रह, निदान० १।३२)

२. यदाह गौतमः।—
श्लेष्मा पञ्चविधोरस्थः श्लेष्मकादि स्वकर्मणा। (माधवनिदान)।

३. भास्करश्च स्वशिष्येभ्यआयुर्वेदं स्वसंहिताम्।
प्रददौ पाठयामास ते चक्रुः संहितास्ततः॥
तेषां नामानि विदुषां तन्त्राणि तत्कृतानि च।

है कि भास्कर और विवस्वान् दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों, जो केवल काल्पनिक हो)।

ब्रह्मवैवर्त पुराण की इस नामावली की ऐतिहासिक सत्यता कितनी है, यह कहना कठिन है। हमारे पुराने वाङ्मय में नामों और उनके पर्य्यायों का हेर-फेर हो जाना सामान्य बात है। कहा जाता है कि नकुल का **अश्ववैद्यक** आज भी सुलभ है। सहदेव का कोई एक ग्रन्थ गो-चिकित्सापरक भी बताया जाता है। चन्द्रसुत या बुध का एक नाम राजपुत्र भी कुछ विवेचकों ने माना है। इसका एक ग्रन्थ मत्स्यपुराण

व्याधिप्रणाशबीजानि साध्वि मत्तो निशामय।
धन्वन्तरिर्दिवोदासः काशिराजोऽश्विनीसुतौ।
नकुलः सहदेवोऽर्किश्च्यवनो जनको बुधः।
जाबालो जाजलिः पैलः करथोऽगस्त्य एव च।
एते वेदाङ्गवेदज्ञाः षोडश व्याधिनाशकाः॥
चिकित्सातत्त्वविज्ञानं नाम तंत्रं मनोहरम्।
धन्वन्तरिश्च भगवान् चकार प्रथमे सति॥
चिकित्सादर्शनं नाम दिवोदासश्चकार सः।
चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशिराजश्चकार सः॥
चिकित्सासारतन्त्रञ्च भ्रमघ्नञ्चाश्विनीसुतौ।
तन्त्रं वैद्यकसर्वस्वं नकुलश्च चकार सः॥
चकार सहदेवश्च व्याधिसिन्धुविमर्दनम्।
ज्ञानार्णवं महातन्त्रं यमराजश्चकार हि॥
च्यवनो जीवदानञ्च चकार भगवानृषिः।
चकार जनको योगी वैद्यसन्देहभञ्जनम्॥
सर्वसारं चन्द्रसुतो जाबालस्तन्त्रसारकम्।
वेदाङ्गसारं तन्त्रञ्च चकार जाजलिर्मुनिः॥
पैलो निदानं करथस्तन्त्रं सर्वधरं परम्।
द्वैधनिर्णयतन्त्रञ्च चकार कुम्भसम्भवः॥
चिकित्साशास्त्रबीजानि तन्त्राण्येतानि षोडश।
व्याधिप्रणाशबीजानि बलाधानकराणिच॥ (ब्रह्मवैवर्त्त, ब्रह्मखंड, अ० १६)

के अनुसार गज-वैद्यक (हस्तिशास्त्र) भी था। ब्रह्मवैवर्त पुराण की नामावली में जो 'सर्वसार तंत्र' इसके नाम के साथ दिया हुआ है, उसका पूरा नाम **सर्वगज वैद्यकसार** भी हो सकता है।

भास्कर के ऐतिहासिक होने में सन्देह है, पर परम्परा में इसके नाम का प्रचलन पुराना है। गौतमधर्मसूत्र में एक वचन है कि **"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्"**। तीसट ने अपनी **चिकित्साकलिका** में सूर्य के प्रति वंदना की है। यह सूर्य भी भास्कर का पर्य्याय है, और धन्वन्तरि एवं सुश्रुत से पूर्व इसका नाम लिया जाना भी महत्त्व रखता है।[१] **रसरत्नसमुच्चय** में २७ रससिद्धिप्रदायकों की एक सूची है जिसमें भी भास्कर का नाम आया है। यह कहना कठिन है कि रसतन्त्र का भास्कर और आयुर्वेद का भास्कर एक ही व्यक्ति है।

चिकित्सकों की परम्परा में पौराणिक नाम

कवि उशना, बृहस्पति, सनत्कुमार, नारद, धन्वन्तरि (प्रथम) या आदिदेव, गर्ग, च्यवन, विश्वामित्र, जमदग्नि, वरुण और काश्यप या वृद्ध काश्यप इनका उल्लेख चिकित्सा के संबंध में पौराणिक वाङमय में प्रचुर मात्रा में मिलता है। कुछ की ख्याति तो देवताओं के समान हो गयी है, और उनकी ऐतिहासिकता में स्वाभाविक सन्देह है।

भृगुपुत्र होने से कवि उशना को भार्गव भी कहा गया है—**कविर्वै भार्गवः** (जैमिनीय ब्राह्मण १।१६६)। शुक्र नाम भी पुराणों में कवि उशना के लिए प्रयुक्त हुआ है। कवि उशना को असुरों का पुरोहित माना गया है।[२] चिकित्सकों को कविराज या कविरत्न कहने की परम्परा कवि उशना (शुक्राचार्य) से ही चली ऐसा प्रतीत होता है। कवि उशना गन्धर्वलोक का राजा था। ऐसा संकेत जैमिनीय ब्राह्मण में भी है। असुर-गुरु उशना आयुर्वेद विशेषज्ञ था, अपने पिता भृगु से इसने संजीवनी विद्या प्राप्त की।

१. सूर्याश्विधन्वन्तरिसुश्रुतादीन्। (चिकित्साकलिका १)

२. (क) देवासुराणामाचार्यं शुक्रं कविवरं ग्रहम्।
शुक्र एवोशना नित्यमतः काव्योऽपि नामतः॥ (ब्रह्माण्ड पुराण ३।१।७६)

(ख) अग्निर्देवानां दूत आसीत्। उशनाकाव्योऽसुराणाम्। (तैत्ति० सं० २।५।८)

(ग) उशना वै काव्यो देवेष्व अमर्त्यं गन्धर्वलोकं ऐच्छत्.....
(जैमिनीय ब्राह्मण १।१२७)

किंवदन्ती है कि भृगु ने अपनी पत्नी को संजीवनी विद्या के बल से शिरश्छेदन के अनन्तर भी जीवित कर लिया था। कवि उशना ने इसी संजीवनी विद्या के आश्रय पर जमदग्नि को जीवित किया, जिसका उल्लेख ब्रह्माण्ड पुराण में है।[1] महाराज त्र्यरुण का पुरोहित वृश भी संजीवनी विद्या जानता था, जिसका उल्लेख **बृहद्देवता** में मिलता है। त्र्यरुण के रथ के नीचे कुचलकर किसी ब्राह्मण-पुत्र का सिर कट गया था। राजा ने अपने पुरोहित से कहा तो उसने अथर्वाङ्गिरस मंत्र देखकर उस शिशु को जीवित कर दिया।[2] भार्गव उशना अनेक आथर्वण मंत्रों तथा ऋक् ९।८७-८९ का द्रष्टा था।

जैसे उशना असुरों का आचार्य था, उसी प्रकार बृहस्पति देवों का पुरोहित था।[3] बृहस्पति वेद-वेदांगों का ज्ञाता था। वाल्मीकीय रामायण के युद्धकाण्ड (५०।९८) में बृहस्पति के चिकित्सा-कौशल का उल्लेख है। मंत्रयुक्त ओषधियों से यह चिकित्सा करता था।[4] बाद को जो बृहस्पति आयुर्वेदकर्त्ता माना गया वह यही देवताओं का पुरोहित था, अथवा अन्य कोई यह कहना कठिन है। शालिहोत्र वाली सूची में जो हमने पहले उद्धृत की है, बृहस्पति का नाम विश्वेदेव, मरुत्, और देवराज इन्द्र के साथ आया है, अतः यहाँ पर तो यह बृहस्पति देव-पुरोहित ही रहा होगा। महाभारत के शान्तिपर्व में (३४४।१।३) उल्लेख है कि महाराज उपरिचरवसु ने बृहस्पति से चित्र-शिखण्डि शास्त्र का अध्ययन किया। अर्थशास्त्र का रचयिता बृहस्पति तो संभवतः कोई अन्य व्यक्ति रहा होगा। **अष्टांग संग्रह** में बृहस्पति के कुछ योगों की ओर संकेत है।[5] बार्हस्पत्य गजशास्त्र का भी उल्लेख वैदिक वाङ्मय में है।

शुक्राचार्य और बृहस्पति के साथ-साथ सनत्कुमार का नाम भी चिकित्सकों की

१. तच्छ्रुत्वा स भृगुः शीघ्रं जलमादाय मंत्रवित्।
सञ्जीविन्या विद्यया तं सिषेच प्रोच्चरन्निदम्॥ (ब्रह्माण्डपुराण, ३।३०।५८)

२. स ब्राह्मणकुमारस्य रथोगच्छञ्छिरोऽच्छिनत्।
एनस्वीत्यब्रवीच्चैव स राजैनं पुरोहितम्।
सोऽथर्वाङ्गिरसान्मन्त्रान् दृष्ट्वा संजीव्य तं शिशुम्। (बृहद्देवता, ५।१४-१६)

३. बृहस्पतिर्देवानां पुरोहित आसीद् उशना काव्योऽसुराणाम्।
(जैमिनीय ब्राह्मण १।१२५)

४. तानार्तान्नष्टसंज्ञांश्च परासूंश्च बृहस्पतिः।
विद्याभिर्मन्त्रयुक्ताभिरोषधीभिश्चिकित्सति॥ (वाल्मी० यद्ध०, ५०।९८)

५. अथ योगाः प्रवक्ष्यन्ते बृहस्पतिकृताः शिवाः। (अष्टांग संग्रह, सूत्र० ८।१०२)

नामावली में प्रसिद्ध है। महाभारत और वायुपुराण में सनत्कुमार को ब्रह्मा का मानस-पुत्र माना गया है। इसके नामों के कई पर्य्याय प्रचलित हैं—स्कन्द, स्वामी, महासेन, सेनानी, षाण्मातुर, कार्तिकेय, कुमार, गुह, विशाख आदि। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार को स्कन्द भी कहा है।[१] सनत्कुमार नाम से संबंधित तीन आयुर्वेद ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में आजकल उपलब्ध बताये जाते हैं—(क) **सनत्कुमार संहिता,** जिसमें आँखों के रोग दूर करने का योग दिया गया है,[२] (ख) **वाहट ग्रन्थ** (जिसमें निदानयोग, तैलयोग, चूर्णवटक योग, कषाय योग, घृत योग, औषध योग, पथ्यापथ्य योग, लेह्यवर्ग समापि और रसयोग हैं); (ग) **अनुभोगकल्पक** जो जड़ी-बूटी से सबंध रखता है। मद्रास और तंजोर के पुस्तकालयों में इन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, पर इनके प्राचीन होने में नितान्त सन्देह है। किसीने स्वयं ग्रन्थ लिखकर, सनत्कुमार के नाम पर इन्हें प्रचलित करने की चेष्टा की होगी।

कहा जाता है कि नारद ने सनत्कुमार से रोग-विषयक अनेक कल्प सुने। भावप्रकाश के अनुसार नारद ने शिव से अर्शोहर योग सीखा।[३] शालिहोत्र वाली चिकित्सकों की सूची में भी नारद का नाम है। इंडिया आफिस के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, सं० २७१५, के अन्तर्गत नारद के आयुर्वेदीय धातु लक्षण ग्रन्थ का उल्लेख है। नारद का

१. मृदितकषायं तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तं स्कन्द इत्याचक्षते। (छान्दोग्य० ७।२६)

२. शृणु नारद धर्मज्ञ कल्पं नारायणाख्यकम्।
अक्षिरोगहरं पुण्यमायुष्यं पापनाशनम्॥···
काशिपुर्यां पुराब्रह्मन् आसीद्राजा सुधार्मिकः।
पारिभद्र इति ख्यातः तस्य पुत्रो बृहद्रथः॥
भगवन् मम पुत्रस्य अक्षिरोगो भयावहः।
तस्य शान्तिर्भवेत्केन तत्त्वं ब्रूहि महामुने॥
मध्वक्तैः तिन्त्रिणीपुष्पैः चक्रगायत्रिया हुनेत्।
खर्जूरं नारिकेलं च द्राक्षां धात्रीं हरीतकीम्॥ (सनत्कुमार संहिता, अ० ९४)

३. प्रणम्य शंकरं रुद्रं दण्डपाणिं महेश्वरम्।
जीवितारोग्यमन्विच्छन्नारदोऽपृच्छदीश्वरम्॥
सुखोपायेन हे नाथ शस्त्रक्षाराग्निभिर्विना।
चिकित्सामर्शसां नृणां कारुण्याद् वक्तुमर्हसि॥ (भावप्रकाश २।२)

ग्रन्थरचयिता होना एक कल्पनामात्र है। **अष्टांग संग्रह** उत्तरस्थान में नारद के लशुनासव का उल्लेख है।[१]

सनत्कुमार और नारद के समान ही धन्वन्तरि का नाम प्राचीन वाङमय में बड़ा प्रचलित है। **वाल्मीकीय रामायण,** पश्चिमोत्तर पाठ, बालकाण्ड, अध्याय ४१ में धन्वन्तरि की उत्पत्ति का वर्णन है। क्षीरसागर में अनेक ओषधियाँ डाली गयीं, और उसका मन्थन करके अमृत का घट प्राप्त किया गया। अमृत के पश्चात् ही धन्वन्तरि उत्पन्न हुआ। यह धन्वन्तरि अमृत का कमण्डलु धारण किये हुए था।[२] धन्वन्तरि ने चिकित्सा संबंधी ज्ञान भास्कर से प्राप्त किया।[३] व्याधि-घातक छः आचार्यों में धन्वन्तरि की गणना है—धन्वन्तरि, दिवोदास, काशिराज, अश्विनौ, नकुल और सहदेव।[४] ब्रह्मवैवर्त्त पुराण की सूची के अनुसार धन्वन्तरि ने **चिकित्सा तत्त्वविज्ञान तंत्र** की रचना की।

कहा जाता है कि महाराज भुमन्यु का पुत्र गर्ग था। तारापद भट्टाचार्य के अनुसार गर्ग का समय ईसा से २ शती पूर्व से लेकर ईसा की प्रथम शती तक माना जा सकता है। वास्तुशास्त्र में भी गर्ग निपुण था। कहा जाता है कि गर्ग ने शालिहोत्र से अश्ववैद्यक सीखा। अश्ववैद्यक अवश्य गर्ग ने लिखा होगा, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।[५]

१. सुखाद्यनां विशेषेण प्रयोज्यो लशुनासवः।
नारदेनोद्धवस्यैष वातभग्नस्य कल्पितः॥ (अष्टांग संग्रह, उत्तर०)

२. (क) अमृतानन्तरं चापि धन्वन्तरिरजायत।
वैद्यराडमृतस्यैव बिभ्रत् पूर्णं कमण्डलुम्॥ (वाल्मीकीय रामायण)
(ख) अथ वर्षसहस्रेण आयुर्वेदमयः पुमान्।
उदतिष्ठत्सुधर्मात्मा सदण्डः सकमण्डलुः॥
(वाल्मीकीय रामायण, बाल० ४।१८-२०)

३. गजेन्द्रं च सहस्राक्षो हयरत्नं च भास्करः।
धन्वन्तरिं च जग्राह लोकारोग्यप्रवर्त्तकम्॥ (मत्स्य० २५१।४।३-४)

४. धन्वन्तरि दिवोदासः काशिराजस्तथाऽश्विनौ।
नकुलः सहदेवश्च षडेते व्याधिघातकाः॥
(देखो गंगानाथ झा का लेख—सम रेयर वर्क्स ऑन वैद्यक, कृष्णस्वामी आयंगर स्मारक ग्रन्थ, पृ० २८४)

५. (क) शालिहोत्रेण गर्गेण सुश्रुतेन च भाषितम्।

च्यवन ऋषि भृगु के पुत्र थे। अथर्ववेद में च्यवन शब्द का अर्थ ज्वर है। चरक संहिता में च्यवन को आद्य ऋषि माना गया है। ऋषियों के जिस सम्मेलन का चरक संहिता में उल्लेख है, उसमें भी च्यवन ऋषि सम्मिलित हुए थे। च्यवन ने संभवतः भरद्वाज से आयुर्वेद ज्ञान प्राप्त किया। अश्विनीकुमारों ने च्यवन को दीर्घायु दी, इसका उल्लेख भारतीय वाङ्मय में बहुत मिलता है। च्यवन किसी तैल के प्रयोग से युवा हुआ या च्यवनप्राश के सेवन से यह कहना कठिन है।[1] च्यवनप्राश संबंधी योग आयुर्वेद-ग्रन्थों में मिलते हैं। यह निश्चय करना कठिन है कि च्यवनप्राश का आविष्कारक च्यवन था, अथवा च्यवन के निमित्त किसी अन्य ने उसका आविष्कार किया। **सुश्रुतसंहिता** (चि० १५।५) में एक च्यावन-मंत्र का भी उल्लेख है।

चरकसंहिता में जो परम्परा दी हुई है, उसके अनुसार विश्वामित्र ने भी भरद्वाज से आयुर्वेद का अध्ययन किया। हारीतसंहिता के अनुसार अश्विनीकुमारों ने विश्वामित्र को अश्वि-रसायन का उपदेश किया। विश्वामित्र के वचन अष्टांग-हृदय की टीका में हेमाद्रि ने और सुश्रुत की टीका में डल्हण ने उद्धृत किये हैं।[2]

शालिहोत्र के वचनानुसार जमदग्नि भी एक सर्वलोक चिकित्सक था, पर आयुर्वेद संबंधी इसके योगों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। वरुण का एक निम्बारिष्ट योग अष्टांग संग्रह (चि० अध्याय २१) में दिया हुआ है, पर वरुण के ऐतिहासिक होने में सन्देह है।[3]

आयुर्वेदीय अनेक संहिताओं में काश्यप और वृद्ध काश्यप के नाम और उनके योगों का उल्लेख है। संभव है कि काश्यप संहिता का जो विस्तृत भाग हो वही वृद्ध-

तत्त्वं यद् वाजिशास्त्रस्य तत्सर्वमिह संस्थितम् ।।
(हेमराज शास्त्री, काश्यपसंहिता उपोद्घात, पृ० ७०)

(ख) ये शालिहोत्र-सुश्रुत-गर्गमहर्षिभिः पुराकथिताः ।
स्वे स्वे तुरङ्गशास्त्रे योगाश्शान्त्यै विकाराणाम् ।।
(गणकृत अश्वायुर्वेद, G.O.M.L. XXIII १३३१९, पृ० ८९७२)

१. (क) अस्य प्रयोगात् तैलस्य महर्षिः च्यवनः किल ।
पुनर्युवत्वमापन्नो जरारोगविवर्जितः ।। (नावनीतक)
(ख) अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत पुनर्युवा । (च्यवनप्राशयोग)

२. तथा च विश्वामित्रः––"त्वग्गतं तु यदस्त्रावि किलासं तत् प्रकीर्तितम्" इत्यादि । (सुश्रुत संहिता, डल्हण टीका, निदान० ५।१६)

३. निम्बारिष्ट इति ख्यातो वरुणेनैष निर्मितः । (अष्टांगसंग्रह, चिकि०, अ० २१)

काश्यप कहलाता हो, और इसी ग्रन्थ के लघु संस्करण को साधारण काश्यप संहिता कहते हों। चरकसंहिता में वर्णित ऋषि-सम्मेलन में काश्यप भी उपस्थित था। काश्यप के वचन अनेक आयुर्वेद संहिताओं में उद्धृत मिलते हैं।[१] काश्यप के नाम के साथ इतने आयुर्वेदीय ग्रन्थों का संबंध मिलता है—(क) काश्यप ऋषि-प्रोक्त स्त्रीचिकित्सा-सूत्र, (ख) काश्यपीय रोग निदानम्, (ग) काश्यप संहिता, काश्यप और वृद्ध काश्यप के नाम पर अनेक योग हैं। काश्यप संहिता के संबंध में हम विस्तार से अन्यत्र कहेंगे।

निश्चय है कि आयुर्वेद की परम्परा इस देश में बड़ी पुरानी रही होगी, और अनेक आचार्य्यों ने इसके प्रवाह में योग दिया होगा। भारतीय वाङमय में जिन विचारकों और मनीषियों के नाम हमें मिलते हैं उनको ऐतिहासिक कसौटी पर परखना हमारे लिए आज दुष्कर है। पूर्वापर संबंध भी निर्धारित करना संभव नहीं प्रतीत होता पर इतना तो स्पष्ट ही है कि हमारी संस्कृति का कोई भी युग ऐसा नहीं रहा होगा जब मनुष्य ने रोग और मृत्यु से बचने के उपाय न सोचे हों। उसके इस प्रयास ने जिस शास्त्र का विकास किया वह आरंभ में आयुर्वेद कहलाया, और आयुर्वेद की यह परम्परा ही शनैः-शनैः रसायन की परम्परा में परिणत हो गयी।

१. (क) तच्छ्रुत्वा मारीचिवचः काश्यप (काप्य) उवाच। सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। (चरक, सूत्र० १२।१२)
   (ख) आयुर्वेदीय चरक संहिता, चिकित्सा० २३।१४, की व्याख्या में चक्रपाणिदत्त लिखता है—"वृद्ध काश्यपेऽप्युक्तम्—संयोगजञ्च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते। इत्यादि"।

निर्देश

१. कविराज सूरमचन्द, आयुर्वेद का इतिहास, शिमला (१९५२)
२. गिरिन्द्रनाथ, हिस्ट्री आव् इंडियन मेडिसिन, तीन भाग, (१९२३, १९२६, १९२९)।
३. एच० आर० सिम्मर, हिन्दू मेडिसिन, बाल्टिमोर (१९४८)
४. भगवद्दत्त, वैदिक वाङमय का इतिहास।

चौथा अध्याय

चरक के युग में रसायन की परम्परा

(ईसा से एक सहस्र से पाँच शती पूर्व)

वैदिक और ब्राह्मण युग के अनन्तर चरक की परम्परा हमें प्राप्त होती है। जो **चरक संहिता** हमें इस समय प्राप्त है, वह वस्तुतः अग्निवेश द्वारा रची गयी थी और उसका प्रति-संस्कार अथवा संशोधन चरक ने किया। **चरक संहिता** में ८ खंड हैं, जिनमें से प्रत्येक को **स्थान** कहते हैं--(१) सूत्र स्थान, (२) निदान स्थान, (३) विमान स्थान, (४) शारीरस्थान, (५) इन्द्रिय स्थान, (६) चिकित्सा स्थान, (७) कल्प स्थान, (८) सिद्धि स्थान। प्रत्येक खंड के अन्त में जो "इति वाक्य" आते हैं, उनसे स्पष्ट है कि **चरक संहिता** मूलतः अग्निवेशकृत एक तंत्र था जिसका प्रति-संस्करण चरक ने किया।[1] बाद को ऐसा प्रतीत होता है कि **चरक संहिता** के कुछ अंश खंडित हो गये, जिनकी संपूर्ति दृढबल ने की। चिकित्सास्थान के नवम अध्याय से आगे के जो "इतिवाक्य" हैं, उनमें दृढबल का नाम भी सम्मिलित कर लिया गया है।[2] इस प्रकार जो संहिता इस समय प्राप्त है वह अग्निवेश, चरक और दृढ़बल इन तीन के परिश्रम का फल है। **चरक संहिता** में ८ स्थान, १२० अध्याय, २५०१४ पंक्तियाँ, और १५६०६४ शब्द हैं।

संहिता का प्रारम्भ भरद्वाज से होता है[3] दीर्घजीवन की इच्छा से भरद्वाज इन्द्र के पास पहुँचा। वस्तुतः आयुर्वेद का ज्ञान ब्रह्मा से दक्ष प्रजापति को मिला था, और प्रजापति से यह ज्ञान अश्विनीकुमारों (अश्विनौ) को मिला, और इन्द्र ने यह ज्ञान

१. इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रोगभिषग्जितीयं विमानं नामाष्टमोऽध्यायः, अथवा—अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते। अनेनाविधिना स्थानं विमानानां समर्थितम्।

२. इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽप्राप्ते दृढबलपूरिते चिकित्सास्थाने उन्मादचिकित्सितं नाम नवमोऽध्यायः।

३. दीर्घं जीवितमन्विच्छन् भरद्वाज उपागमत्। इन्द्रमुग्रतया बुद्ध्वा शरण्यम-मरेश्वरम। (सू० १।३)

अश्विनीकुमारों से पाया। जब रोगों के कारण तप, उपवास, अध्ययन, ब्रह्मचर्य्य और व्रत में विघ्न पड़ने लगा, तो महर्षिगण हिमालय के पार्श्व में एकत्र हुए।[१] ये ऋषि अंगिरा, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप, भृगु, आत्रेय, गौतम-सांख्य, पुलस्त्य, नारद, असित, अगस्त्य, वामदेव, मार्कण्डेय, आश्वलायन, पारिक्षि, भिक्षु आत्रेय, भरद्वाज, कपिञ्जल, विश्वामित्र, आश्मरथ्य, भार्गव-च्यवन, अभिजित, गार्ग्य, शाण्डिल्य, कौण्डिन्य, वार्क्षि, देवल, गालव, सांकृत्य,वैजवापि, कुशिक, बादरायण, बडिश, शरलोम, काप्य, कात्यायन, कांकायन, कैकशेय, धौम्य, मारीच, काश्यप, शर्कराक्ष, हिरण्याक्ष-कुशिक, लोकाक्ष, पैंगि, शौनिक, शाकुनेय, मैत्रेय-मैमतायनि, वैखानस, वालखिल्य, और साथ में अन्य अनेक भी थे।[२] उन सबने मिलकर यह निश्चय किया कि इन्द्र के पास जाना चाहिए। इन्द्र के पास जाकर प्रतिनिधित्व करने का कार्य्य भरद्वाज को मिला, वस्तुतः भरद्वाज ने स्वयं इस कार्य्य के लिए अपने को अर्पित किया। इन्द्र ने भरद्वाज को रोगों के संबंध में तीनों बातें सिखायीं—हेतु (कारण), लिंग (पहिचान) और औषध। भरद्वाज से अन्य ऋषियों ने यह ज्ञान सीखा। इसके बाद पुनर्वसु ने यह ज्ञान अपने ६ शिष्यों को दिया—(१) अग्निवेश, (२) भेल, (३) जतूकर्ण, (४) पराशर, (५) हारीत, और (६) क्षारपाणि। इनमें से अग्निवेश इस तंत्र का प्रथम कर्त्ता हुआ, अर्थात् पहली बार उसने आयुर्वेद को तन्त्रबद्ध या ग्रन्थबद्ध किया।[३] अग्निवेश के अनन्तर ही भेल आदि सभी ने अपने-अपने तन्त्र भी रचे। ऋषियों के एक संघ में इन सबों ने अपने-अपने तंत्रों को सुनाया। इस संघ का नेतृत्व आत्रेय ऋषि ने किया था।[४] इन तंत्रों में से अग्निवेश के तंत्र को अधिक प्रतिष्ठा मिली, और यह तंत्र ही चरक और दृढबल के परिश्रम से इस समय हमें **चरकसंहिता** के रूप में प्राप्त है।

१. (क) तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे। (सू० १।७)
(ख) हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवसिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्य-वामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः॥ (चि० १।४।३)

२. सू० १।८–१३

३. तन्त्रस्य कर्ता प्रथममग्निवेशो यतोऽभवत्। (सू० १।३२)

४. अथ भेलादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च।
श्रावयामासुरात्रेयं सर्षिसङ्घं सुमेधसः॥ (सू० १।३३)

हिमालय की तलेटी में ऋषियों का एकत्र होना महत्त्व की बात है, क्योंकि हिमालय वनस्पतियों और ओषधियों का भंडार है।[१] आपस में मिलकर परस्पर परामर्श करके रोग के कारण, लिंग और ओषधियों का निर्णय करना स्वयं एक महत्त्व की घटना है। पुरानी परम्परा के इतिहास की स्मृति आदरपूर्वक बनाये रखना भी उल्लेखनीय है। ऋषियों की जो परम्परा ऊपर गिनायी गयी है, उसमें अंकित बहुत से ऋषि तो वैदिक-मंत्रों के द्रष्टा हैं। ऊपर की सूची में दिये गये ऋषियों के अतिरिक्त जिन ऋषियों का चरक में उल्लेख है, वे निम्न हैं––अत्रि, कुमारशिरा भारद्वाज, कुशसांकृत्यायन, कौशिक, जनकवैदेह, धन्वन्तरि, निमिवैदेह, पूर्णाक्ष्यमौद्गल्य, भद्रकाप्य, भद्रशौनक, वामक (काशीपति), वार्योविद् राजर्षि, शाकुन्तेय ब्राह्मण। चरक संहिताओं में कई स्थलों पर किसी एक के अभिमत से संतोष न करके विभिन्न विचार रखनेवाले अन्य आचार्य्यों के नामों का भी निर्देश है। उदाहरण के लिए सिद्धि स्थान के एकादश अध्याय में प्रश्न उठाया गया है कि आस्थापन की योजना (corrective enema) में कौन-सा फल अधिक श्रेष्ठ है। इस विवाद में भृगु, कौशिक, काप्य, शौनक, पुलस्त्य, असित, गौतम आदि ने भाग लिया।[२] सूत्रस्थान के द्वादश अध्याय (वातकलाकलीय अध्याय) में वात के संबंध में जो विवाद उठाया गया है, उसमें कुमारशिरा भरद्वाज, भिषक् काङ्कायन बाह्लीक, बडिशधामार्गव, वार्योविद, मरीचि, काप्य, पुनर्वसु आत्रेय, आदि ने भाग लिया और अन्त में आत्रेय ने सबके मतों को सुनकर निर्णय दिया और उस निर्णय से सबको सन्तोष हुआ।[३] इसी प्रकार सूत्रस्थान के पंचविंश अध्याय (पुरुषीय अध्याय) में प्रागुत्पत्ति के संबंध में जो विवाद है, उसमें काशीपति वामक, पुनर्वसु, पारीक्षि मौद्गल्य, शरलोमा, वार्योविद, हिरण्याक्ष (कुशिक), कौशिक, भद्रकाप्य, भरद्वाज, कांकायन,

१. ओषधीनां पराभूमिर्हिमवाञ् शैलसत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु॥
आपूर्णरसवीर्य्याणि काले काले यथाविधि।
आदित्यपवनच्छायासलिलप्रीणितानि च॥ (चि० १।३८-३९)

२. भगवन्तमुदारसत्त्वधीश्रुतिविज्ञानसमृद्धमत्रिजम्।
फलवस्तिवरत्वनिश्चये सविवादा मुनयोऽभ्युपागमन्॥
भृगुकौशिककाप्यशौनकाः सपुलस्त्यासितगौतमादयः।
कतमत् प्रवरं फलादिषु स्मृतमास्थापन योजनास्विति॥ (सि० ११।३-४)

३. तदृषयः सर्व एवानुमेनिरे वचनमात्रेयस्य भगवतोऽभिननन्दुश्चेति। (सू० १२।१४)

भिक्षु आत्रेय, पुनर्वसु आदि ने भाग लिया और अन्त में आत्रेय ने उपसंहार किया।[1] शारीर स्थान के षष्ठ अध्याय में एक विवाद इस विषय पर है कि कुक्षि में गर्भ किस प्रकार उत्पन्न होता है। इस विवाद के संबंध में कुमारशिरा भरद्वाज, भिषक् कांकायन बाह्लीक, भद्रकाप्य, भद्रशौनक, बडिश, जनक वैदेह, मारीचि कश्यप, और धन्वन्तरि के विचार प्रस्तुत किये गये और अन्त में धन्वन्तरि के विचार को मान्य समझा गया।[2] सूत्र स्थान के षड्विंश अध्याय (आत्रेय भद्र काप्यीय अध्याय) में एक विचारविमर्श का उल्लेख आता है जो चैत्ररथ वन में हुआ था।[3] इसमें आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, पूर्णाक्ष, मौद्गल्य, कौशिक हिरण्याक्ष, कुमारशिरा, भरद्वाज, वार्योविद, राजा निमि वैदेह, बडिश, बाह्लीक कांकायन, और बाह्लीक के अन्य वैद्यों ने भाग लिया था। विचारविमर्श में भाग लेनेवाले व्यक्ति ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, जितेन्द्रिय और महर्षि थे। रस कितने हैं, इस संबंध में सबने अपने-अपने विचार प्रकट किये। अन्त में आत्रेय पुनर्वसु ने ६ रसों के पक्ष में निर्णय दिया (सू० २६।८–९)। भरद्वाज और आत्रेय के बीच में तो विचारविमर्श अनेक स्थलों पर दिया हुआ है। यह विवाद केवल विवाद के लिए नहीं होता था, प्रत्युत सत्य के निर्णय के लिए। पुनर्वसु ने इसके संबंध में एक स्थल पर कहा है––"इस प्रकार विवाद मत करो, क्योंकि अपना पक्ष पकड़ लेने पर तत्त्वदुर्लभ हो जाता है। जैसे कोल्हू पर बैठा हुआ मनुष्य चलते रहने पर भी गमन के अन्त को नहीं प्राप्त होता, उसी प्रकार प्रतिवादों और वादों के क्रम को हठात् चलाते रहने पर भी पक्ष का अन्त प्राप्त नहीं होता।"[4]

१. सू० २५।१–३० २. शा० ६।२१

३. आत्रेयो भद्रकाप्यश्च शाकुन्तेयस्तथैव च।
पूर्णाक्षश्चैव मौद्गल्यो हिरण्याक्षश्च कौशिकः॥
यः कुमारशिरा नाम भरद्वाजः स चानघः।
श्रीमान् वार्योविदश्चैव राजा मतिमतां वरः॥
निमिश्च राजा वैदेहो बडिशश्च महामतिः।
कांकायनश्च बाह्लीको बाह्लीकभिषजां वरः॥
एते श्रुतवयोवृद्धा जितात्मानो महर्षयः।
वने चैत्ररथे रम्ये समीयुर्विजिहीर्षवः॥ (सू० २६।३-६)

४. मैवं वोचत तत्त्वं हि दुष्प्रापं पक्षसंश्रयात्॥
वादान् सप्रतिवादान् हि वदन्तो निश्चितानिव।
पक्षान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीडकवद्गतौ॥ (सू० २५।२६-२७)

चरक का रचना काल और देश

चरकसंहिता की रचना हिमालय की तलहटी में हुई जिसका उल्लेख हम इस अध्याय के आरंभ में ही कर आये हैं।[1] हिमालय ही ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या, क्षीरपुष्पी, श्रावणी आदि अनेक ओषधियों का भंडार है।[2] गंगा और पंचनद प्रदेश का भी चरक में उल्लेख आया है। अतः यह तो स्पष्ट है कि हिमालय के निकट उत्तर भारत में **चरकसंहिता** की रचना हुई थी।

चरक का रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है। चरक में जिस भरद्वाज का निर्देश है, हो सकता है कि वह वैदिककाल का भरद्वाज वाजिनेय अथवा गोवध बन्द करानेवाला गवेषक भरद्वाज हो। कुमारशिरा भरद्वाज का भी चरक में उल्लेख है, जैसा कि पीछे दी हुई सूची से स्पष्ट है। कुमारशिरा क्यों इसका नाम पड़ा, यह कहना कठिन है, संभवतः इसलिए क्योंकि यह मानता था कि कुक्षि में बच्चे का सिर ही पहले बनता है।[3] अनेक स्थलों पर भरद्वाज का ऐसा उल्लेख भी आता है, जिससे प्रतीत हो कि भरद्वाज नाम के कई पृथक् व्यक्ति भी थे। (सू० २५।२०; शा० ३।१५) इन विचारविमर्शों में भाग लेनेवाले भरद्वाज आत्रेय-गुरु बार्हस्पत्य भरद्वाज से भिन्न प्रतीत होते हैं।

आत्रेय भी वैदिक ऋषि है। कायचिकित्सा का यह पारंगत विद्वान् था। आत्रेय को ही पुनर्वसु आत्रेय या केवल पुनर्वसु भी कहा है (सू० १२, १३; सू० १५।२५)। कृष्णात्रेय भी संभवतः यही व्यक्ति है। (सू० ११।६५; चि० १६।७१)। बौद्धकाल में आत्रेय को जीवक (जो प्रसिद्ध चिकित्सक था) का गुरु बताया गया है। जीवक का उल्लेख इस देश के ही नहीं, बाहर के बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलता है। तिब्बतीय उपकथा में जीवक का गुरु यह आत्रेय तक्षशिला का निवासी बताया गया है। ब्रह्मादेश के साहित्य में यह लिखा है कि जीवक अध्ययन के लिए काशी गया, न कि तक्षशिला, और उसका गुरु दिशा प्रमुख, माणकाचार्य या कपिलाक्ष था। साहित्य में यह भी नहीं मिलता कि जीवक और अग्निवेश दोनों आत्रेय के गुरुकुल के सहपाठी थे। जीवक तो वस्तुतः शिर की शल्य चिकित्सा का विशेषज्ञ था, और आत्रेय पुनर्वसु काय-चिकित्सक था। **चरकसंहिता** में जिस भिक्षु आत्रेय का उल्लेख आता है, वह भी पुनर्वसु आत्रेय का

१. सू० १।७; चि० १।४।३
२. दिव्याश्चौषधयो हिमवत्प्रभवाः प्राप्तवीर्य्याः। (चि० १।४।६)
३. शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति। (शा० ६।२१)

समकालीन था (सू० १।२५; २५।२४)। चरक संहिता, भेल संहिता और कश्यप-संहिता में तक्षशिला जिसका संबंध जीवक से था का कहीं भी उल्लेख नहीं है। गान्धार, पांचाल, काम्पिल्य, पंचगंगा और काशी का उल्लेख अवश्य इन ग्रन्थों में है। तक्षशिला की ख्याति तो ई० से ७०० वर्ष पूर्व से ५०० ई० तक शिखर पर रही। तक्षशिला के प्रमुख शिष्यों में जीवक, ब्रह्मदत्त, कौटिल्य, पतंजलि, पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष थे। पाणिनि ने भी तक्षशिला का उल्लेख किया है।

पर चरक संहिता तक्षशिला की ख्याति से बहुत पूर्व की है। चरक में जिस काम्पिल्य और पाञ्चाल का उल्लेख है, उसकी प्रमुखता शुक्ल यजुर्वेद, तैत्तिरीय ब्राह्मण, मैत्रायणीय काठक संहिता आदि के समय में थी। यह समय हमारे साहित्य के ब्राह्मणकाल का समकालीन है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि आत्रेय पुनर्वसु के समकालीन मरीचि-काश्यप, वार्योविद (सू० १।१२) और निमि वैदेह एवं बाह्लीक कांकायन (सू० २६।४-५) थे। ये सब बातें चरक का रचनाकाल **शतपथ, ऐतरेय ब्राह्मण** और **तैत्तिरीय संहिता** के निकट ले जाती हैं। चरक और **शतपथ** ब्राह्मण दोनों सुश्रुत से पुराने हैं। **चरक संहिता** में शरीर की हड्डियों की संख्या ३६० बतायी गयी है।[१] **शतपथ** ब्राह्मण में भी अस्थियों की संख्या ३६० बतायी गयी है।[२] आगे के शल्यकाल में **सुश्रुत** ने यह सिद्ध किया कि हड्डियाँ ३०० ही हैं।[३] चरक में छाती की हड्डियों की संख्या १४ बतायी गयी है, पर सुश्रुत में १७ बतायी गयी हैं।[४] **शतपथ** में उरस् को त्रिष्टुभ् बताया है, जिसमें ग्यारह अक्षर के चार चरण होते हैं। छाती की हड्डियों (कीकस) को ककुभ बताया है, जिसमें (८+१२+८) इस प्रकार तीन चरणों में अक्षरों की संख्या होती है।

कुछ व्यक्तियों ने चरक के आत्रेय का काल **अथर्ववेद** के बाद और शतपथ के पहले का बताया है। मेरा अपना अनुमान है कि **चरकसंहिता शतपथ** के कुछ बाद की ही है; पाणिनि के समय और बौद्ध समय से यह पूर्व की है। यह सर्वथा भ्रम है कि चरक संहिता का चरक वही है जिसका उल्लेख चीन देश के त्रिपिटक में आता है, और जो

१. त्रीणि सषष्ठीनि शतान्यस्थ्नाम्। (शा० ७।६)
२. तस्यास्थीन्येव परिश्रितस्ताः षष्ठिश्च त्रीणि च शतानि भवन्ति (शत० १०।५।४।१२)
३. शल्यतन्त्रेषु तु त्रीण्येव शतानि। (सुश्रुत, शा० ५।१।१८)
४. चतुर्दशोरसि (शा० ७।६); सप्तदशोरसि (सुश्रुत, शा० ४।१९) उरस्त्रिष्टुभः (शतपथ ८।६।२।७); कीकसाः ककुभः।

कनिष्क का राजवैद्य था (ईसा के बाद दूसरी शती में)। चरक की रचना का काल ब्राह्मण साहित्य के काल के बहुत कुछ निकट का है।

संकलन की दृष्टि से **चरकसंहिता** के १२० अध्यायों में से ७९ अध्यायों के इति-वाक्यों में "अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते" शब्दों का प्रयोग है। इनमें दृढबल का नाम नहीं है। शेष ४१ अध्यायों में "अप्राप्ते दृढबल संपूरिते" शब्द भी आये हैं (कहा जाता है कि चिकित्सा स्थान के २५ वें अध्याय के इतिवाक्य में "अप्राप्ते" शब्द नहीं है—अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रतिसंस्कृते दृढबल संपूरिते)। आत्रेय से लेकर दृढबल तक लगभग १००० वर्ष की अवधि अवश्य रही होगी, अतः चरक संहिता का जो संस्करण हमें प्राप्त है, उसका कुछ अंश बौद्धकाल से प्रभावित भी हो सकता है।

यह विचित्र बात है, कि **चरक संहिता** के समान भेलसंहिता, **काश्यप संहिता, सुश्रुतसंहिता** और **अष्टांग हृदय** में भी अध्यायों की योगसंख्या १२० ही रखी गयी है और विभाजन भी सूत्र स्थान, निदान स्थान, विमान स्थान, शारीर स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, सिद्धि स्थान और कल्प स्थान-इस प्रकार ८ स्थानों में ही किया है।[1]

आहार द्रव्य और उनका वर्गीकरण

चरक ने अपने सूत्रस्थान में आहार द्रव्यों को बारह वर्गों में विभाजित किया है[2]—

१. स्थान	अध्याय	चरक	भेल	काश्यप	सुश्रुत	अष्टांग हृदय
सूत्र	अध्याय	३०	३०	३०	४६	३०
निदान	”	८	८	८	१६	१६
विमान	”	८	८	८	—	—
शारीर	”	८	८	८	१०	६
इन्द्रिय	”	१२	१२	१२	—	—
चिकित्सा	”	३०	३०	३०	४०	२२
सिद्धि	”	१२	१२?	१२	—	६
कल्प	”	१२	१२	१२	८	—
उत्तरतंत्र	”	—	—	—	—	४०
	योग	१२०	१२०	१२०	१२०	१२०

सुश्रुत के अन्त में ६६ अध्यायों का एक उत्तरतंत्र भी बाद में मिलाया गया।

२. शूकधान्य शमीधान्य मांस शाक फलाश्रयान्।
वर्गान् हरितमद्याम्बुगोरसेक्षुविकारिकान्॥
दश द्वौ चापरौ वर्गौ कृतान्नाहारयोगिनाम्।
रसवीर्यविपाकैश्च प्रभावैश्च प्रचक्ष्महे॥ (सू० २७।६-७)

१. **शूकधान्य वर्ग**--Monocotyledon Corns-(क) विभिन्न प्रकार के शालि अर्थात् चावल जैसे, रक्त शालि, महाशालि, कलम, शकुनाहृत, तूर्णक, **दीर्घशूक,** गौर, पाण्डुक, लांगुल, सुगन्धक, लोहवाल, सारिवाख्य, प्रमोदक, पतंग, तपनीय, यवक, हायन, पांसुवाप्य, नैषधक, षष्टिक, वरक, उद्दालक, चीन, शारद, उज्ज्वल, दर्दुर, गन्धन, कुरुविन्द व्रीहि, और पाटल।

(ख) **तृणधान्य--कोरदूष** (millet), श्यामाक (सांवाँ), हस्ति-श्यामाक, नीवार, तोयपर्णी, गवेधुक, प्रशान्तिका, अम्भश्यामाक, लौहित्य, अणु प्रियंगु, मुकुंद, झिंटिगर्मूटी, वरुक, वरक, शिबिर, उत्कट, जूर्णाह्व (जुआर)।

(ग) यव, वेणुयव, गोधूम, नान्दीमुखी, मधूली।

२. **शमीधान्य वर्ग**--Dicotyledons or pulses--(क) मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), राजमाष, कुलत्थ (कुलथी), मकुष्ठक (मोठ), चणक (चना), मसूर, खण्डिका, (ख) तिल, शिम्बि (legumes), आढक्य (अरहर), अवल्गुज (बावची) ऐडगज, काकांड, उमा, आत्मगुप्त।

३. **मांसवर्ग**--(क) **प्रसह पशुपक्षी** (tearer group)--गो, खर, अश्वतर, उष्ट्र, अश्व, द्वीपि (चीता), सिंह, ऋक्ष, वानर, वृक (भेड़िया), व्याघ्र, तरक्षु, बभ्रु, मार्जार (बिल्ली), मूषिका, लोपाक (लोमड़ी), जम्बुक (गीदड़), श्येन (बाज़), वान्ताद (कुत्ता), चाष, वायस (कौआ), शशघ्नी, मधुहा, भास, गृध्र, उलूक, कुलिंगक, धूमिका, और कुरर।

(ख) **भूमिशय** (furrowing creature)--काकुली मृग (साँप विशेष), कूर्चिका, चिल्लट, द्रमेक, गोधा, शल्लक, गण्डक, कदली, नकुल और श्वावित्।

(ग) **अनूप मृग** (Wetland creatures)--सृमर (सेमर), चमर, खड्ग (गेंडा), महिष, गवय, गज, न्यंकु, वराह, रुरु।

(घ) **वारिशय मृग** (Aquatic animals)--कूर्म (कछुआ), कर्कटक (केंकड़ा), मत्स्य, शिशुमार, तिमिङ्गल, शुक्ति, शंख, उद्र, कुम्भीर, चुलुकी, मकर।

(ङ) **वारिचारि खग** (Aquatic birds)--हंस, क्रौंच, बलाका, बक, कारण्डव, प्लव, शरारि, पुष्कराह्व, केशरी, मणितुण्डक, मृणालकण्ठ, मद्गु, कादम्ब, काकतुण्डक, उत्क्रोश, पुण्डरीकाक्ष, मेघराव, अम्बुकुक्कुटी, आरा, नन्दीमुखी, वाटी, सुमुखा, सहचारी, रोहिणी, कामकाली, सारस, रक्तशीर्षक, चक्रवाक।

(च) **जांगल मृग**--पृषत, शरभ, राम, श्वदंष्ट्र, **मृगमातृका,** शश, **उरण,**

कुरंग, गोकर्ण, कोट्टकारक, चारुष्क, हरिण, एण, शम्बर, काल-पुच्छक, ऋष्य, वरपोत।

(छ) **विष्किर** (Gullinaceous birds)——लाव (बटेर), वर्तीरक, कपिञ्जल, वार्तीक, चकोर, उपचक्र, कुक्कुभ, रक्तवर्मक, लावा, वर्त्तक, वर्तिका, बर्ही (मोर), तित्तिरि, कुक्कुट, कंक, शारपद, इन्द्राभ, गोनर्द, गिरिवर्त्तक, ऋकर, अवकर, वारड।

(ज) **प्रतुद पक्षी**——शतपत्र, भृंगराज, कोयष्टि, जीवजीवक, कैरात, कोकिल, अत्यूह, गोपापुत्र, प्रियात्मज, लट्टा, लट्टूषक, बभ्रु, बटहा, डिंडिमानक, जटी, दुन्दुभि, पाक्कार, लोहपृष्ठ, कुलिंगक, कपोत, शुक, शारंग, चिरटी, कंकु, यष्टिका, सारिका, कलविंक, चटक, अंगारचूडक, पारावत, पाण्ड(न)विक।

४. **शाकवर्ग** (Vegetables)——पाठा, शुषा, शटी, वास्तुक (बथुआ), सुनिषण्णक, काकमाची (मकोय), राजक्षवक, कालशाक, कलाय शाक (मटर का साग), अम्लचांगेरी, उपोदिका (पोई), तण्डुलीयक (चौलायी), मण्डूकपर्णी, वेत्राग्र, कुचेला, वनतिक्त, कर्कोट (कंकोड़ा), अवल्गुज, पटोल (परवल) शकुलादनी, वृषपुष्प (अड़ूसा के फूल), शार्ङ्गेष्ट (मकोय), **कठिल्लक**, केम्बूक, नाडी, कलाय, गोजिह्वा, वार्ताक (बैंगन), तिलपर्णिका (हुलहुल), कौलक (करेला), कार्कश, निम्ब, पर्पटक, ये कटुविपाक वाले शाक; इनके अतिरिक्त अनेक सूप्यशाक (मरसा, पालक, राई, लोनिया, जौ और कुम्हड़े के), पुष्पशाक (जैसे शण, कचनार और शालमल के शाक), पल्लवशाक (जैसे न्यग्रोध, गूलर, अश्वत्थ, प्लक्ष, आदि के), वातनाशक जैसे बिल्व, वत्सादनी (गिलोय), गण्डीर चित्रक आदि के, एरण्ड, तिल, वेतस, त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), अलाबू (कड़वी लौकी), पक्वकूष्माण्ड, केलूट कदम्ब आदि, उत्पल (कमल), खर्जूर, लालशस्य, कुमुद, विदारिकन्द, अम्लीकन्द, सर्पच्छत्रक आदि।

५. **फलवर्ग**——मृद्वीका (मुनक्का), खर्जूर, फल्गु (अंजीर), आम्रातक (अंबाड़ा), तालशस्य (ताड़ फल), नारिकेल (नारियल), भव्य (कमरख), परूषक (फालसा), द्राक्षा, बदर (बेर), आरुक (आलूबुखारा), कर्कन्धु (झरबेरी), निकुच (बड़हल), पारावत (अमरूद), काश्मर्यफल (गंभारी), तूद (शहतूत), टंक (नासपाती), कपित्थ (कैथा), बिल्व (बेल), आम्र (आम), जम्बूफल (जामुन), सिम्बितिका (सेब), गांगेरुकी, करीर, बिम्बी, तोदन, धन्वन या धामनी, पनस (कटहल), मोच (केला), राजादन (खिरनी), लवली, इंगुदी (हिंगोट),

तिन्दुक (तेंदु), आमलक (आँवला), विभीतक (बहेड़ा), दाडिम (अनार), अम्लिका (इमली), वृक्षाम्ल (कोकम), मातुलुंग (चकोतरा), केसर, कचूर, नागरंग (नारंगी), वाताम (बदाम), अभिषुक, अक्षोट (अखरोट), मुकूलक (चिलगोज़ा), निकोचक (पिस्ता), उरूमाण (खुमानी), श्लेष्मातक (लसोड़ा), अंकोटफल, शमीफल, कारंज, करमर्दक (करोंदा) दन्तशठ (जंबीरी नींबू), ऐरावतक (नारंगी विशेष), वार्ताक (बैंगन), आक्षिकी फल, अश्वत्थ, उदुंबर, प्लक्ष, न्यग्रोध आदि के फल और भल्लातक (भिलावा)।

६. **हरित वर्ग**---आर्द्रक (**अदरख**), जम्बीर, बाल-मूलक (कच्ची मूली), शुष्कमूलक (सूखी मूली), सुरस (तुलसी), यवानी (अजवाइन), अर्जक, शिग्रु, (सहजन), शालेय (सौंफ), मृष्टक (राई), गंडीर, जल पिप्पली, तुम्बरु (तेजबल), शृंगवेरिका (अदरख की बाल), **भूस्तृण** (रूसा घास), खराह्वा (अजमोद), धान्यक (धनिया), अजगन्धा, सुमुख (तुलसी विशेष), गृञ्जनक (गाजर), पलाण्डु (प्याज़), लशुन (लहसुन)।

७. **मद्य वर्ग**---सुरा, मदिरा, जगल, अरिष्ट, शार्कर, पक्वरस, शीतरसिक, गौड (गुड़, की) सुरासव, मध्वासव, धातक्या, मृद्वीका और इक्षु, के रस से बना आसव, यवकृतसुरा, मधूलिका, सौवीरक, तुषोदक, अम्लकांजिक।

८. **जलवर्ग**---आकाश से वर्षा जल (दिव्य जल), अकाल वृष्ट जल, नदियों का जल, पर्वत प्रभव जल, वापी, कूप, तडाग आदि का जल, और समुद्र जल।

९. **गोरस वर्ग**---(क) गव्य (गाय का), माहिष (भैंस का), उष्ट्री (उँटनी का), एक शफ (एक खुरवाले पशु का), छाग (बकरी का), **आविक** (भेंड़ का), मानुष (स्त्री का),---इनके दूध।

(ख) दधि (दही), दधिसर (दही की मलाई), तक्र (मट्ठा), नवनीत (ताज़ा मक्खन), घृत (घी) (गाय, बकरी, भेंड़ और भैंस का) पीयूष, मोरट और **किलाट,** तक्रपिंडक।

१०. **इक्षु वर्ग**---गन्ने का रस (पौंड्रक--पौंडे का रस), गुड, मत्स्यण्डिका (राब), खण्ड (खाँड़), शर्करा (शक्कर), गुड़-शर्करा, मधुशर्करा, चार प्रकार का मधु (माक्षिक, भ्रामर, क्षौद्र, पौत्तिक)

११. **कृतान्न वर्ग** (Cooked food)---विलेपी (thick gruel), मण्ड (मांड़), लाजपेया (खीलों का मांड़), लाजमंड, लाजसक्तु (लाई का सत्तू), ओदन (मांड़ पसाया भात), मांस, शाक-घृत, तैल-फल-वसा-मास-तिल-और मुद्ग, आदि के

साथ पकाया भात (खिचड़ी, तहेरी और पुलाव) ; कुल्माष, सौप्य (मूँग आदि की दालों का सूप), गोधूम, यव आदि को उबालकर सिद्ध किया अन्न, यूष, रस, और सूप, यवसक्तु (जौ का सत्तू), शालिसक्तु, यवापूप (जौ के पुए), यावकबाटी, विरूढधान (germinated grams), **शष्कुली**, मधुक्रोड, पिण्डक, पूप, पूपलिका, वेशवार, दूध, मधु, तिल, और शर्करा से बनाये गये पदार्थ, गेहूँ के आटे से बने पकवान (धाना, पर्पट, पूप आदि), पृथुका (चिवड़ा), यावा (चिपटा किया जौ), अन्नविकृत सूप्य (दालों के सूप), कई प्रकार से बनाये गये विमर्दक, गुड़ और दही से बना रसाला (रायता), द्राक्ष, खर्जूर, बेर, फालसे, गन्ने के रस, शक्कर आदि से बने पानक (शर्बत), राग और षाडव (चटपटे मसालों से युक्त), आम और आँवले से बने अवलेह (चटनी), सिरके (शुक्त) और **शिण्डाकी** आदि से बने भोजन।

१२. **आहार योगिवर्ग**—(क) एरण्ड, सर्षप, प्रियाल (चिरौंजी), अतसी, कुसुम्भ आदि के तेल, वसा, मज्जा (जान्तव चर्बियाँ)।

(ख) मसाले—जैसे विश्वभेषज (सोंठ), पिप्पली, मरिच, हिंगु, (हींग), सैन्धव (नमक), सौवर्चल (शोरा या सोडा), बिड (लवणविशेष), औद्भिद लवण (efflorescence salt), सामुद्र लवण, पांशुज लवण, यवक्षार, सर्जिकादि **क्षार, कारवी** (काला ज़ीरा), कुञ्चिका (कलौंजी), अजाजी (जीरा), यवानी (अजवाइन), धान्य (धनिया), तुम्बुरु (नेपाली धनिया)।

चरककालीन पार्थिव द्रव्य

इन पार्थिव द्रव्यों में से मुख्य का विवरण कुछ विस्तार से आगे दिया जायगा, केवल सूची यहाँ दी जाती है।

अगारधूम—चि० २३।५१
अग्र्यलवण—चि० २३।९६
अंजन—सू० १।७०
अद्रिजतु—चि० १६।७८
अमृतासंग—सू० ३।१०
अमृतासंज्ञ—चि० ७।११४
अयस्—सू० १।१३१
अयस् गुड—सू० १।१३१
अयस् चूर्ण—चि० ७।८८
अयस् मल—चि० १६।७८
अयस् रजस्—चि० १२।२१
अयस्कृति—चि० १३।७३
अर्क (मणि)—चि० ७।८५
अल—चि० १७।७८
अश्मन्—शा० ८।३४
अश्मकासीस—चि० २५।१००
अश्मघन—शा० २।३०
अश्मजतु—चि० १६।८१

सार–चि० २३।२५२
सिकता–सू० १।७०
सीसक–शा० ३।१६
सुधा–सू० १।७०
सुवर्ण–सू० १।७०
सुवर्णमाक्षिक–चि० ७।७१
सूर्यकान्त–चि० ९।१८
सैन्धव–सू० १।८८
सौगन्धिक–सू० ३।१०
सौराष्ट्री–चि० ७।११४
सौवर्चल–सू० १।८८
सौवीराञ्जन–सू० ५।१५
स्फटिक–चि० १।४।२२
हरिताल–सू० ५।२६
हिरण्य–वि० ८।९
हेमन्–वि० ८।९

लवणों का ज्ञान

चरक के विमानस्थान में लवणवर्ग[1] के अन्तर्गत निम्न पदार्थों को गिनाया गया है—

सैन्धव (Rock salt)
सौवर्चल (Sanchal salt)
काल (काला नमक) (Black salt)
बिड (Vida)
पाक्य (Crystallised salt through hot process)
आनूप (Salt from swamps)
कूप्य (Salt from well water—कुएँ के पानी से प्राप्त)
वालुकैल (Salt from sandy deposits)
मौलक (Crystallised mixed salt)
सामुद्र (Salt from sea water)
रोमक (Salt from Sambhar lake)
औद्भिद (Salt from efflorescence)
औषर (Salt from alkaline land)
पाटेयक (Poitou salt)
पांशुज (Salt from ashes)

१. सैन्धव-सौवर्चल-काल-विड-पाक्यानूप-कूप्य-वालुकैल-मौलक-सामुद्र-रोमकौद्भिदौषरपाटेयक-पांशुजान्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवणवर्गपरिसंख्यातानि। (वि० ८।१४१।१)

आजकल की रासायनिक परिभाषा में ये लवण सोडियम और पोटैसियम के क्लोराइडों, नाइट्रेटों, सलफेटों और कार्बोनेटों के मिश्रण हैं। काले नमक तथा मौलक में संभवतः कुछ सलफाइड भी हैं।

नमक का व्यवहार भोजन और ओषधि दोनों में होता है। इसमें उष्ण और तीक्ष्ण गुण बताये गये हैं, और यह अन्नद्रव्य अर्थात् भोजन को रुचिकर बना देता है। पर यदि इसका अत्यर्थ (अत्यधिक) प्रयोग किया जाय तो यह ग्लानि, शैथिल्य और दुर्बलता उत्पन्न करता है। इसके सेवन करनेवाले चाहे गाँव के, नगर के, निगम के अथवा जनपद के क्यों न हों, उनमें शिथिलता, ग्लानि, मांस और रुधिर के दोष, एवं क्लेश सहने के प्रति असहनशीलता आ जाती है। चरकसंहिताकार इस बात की पुष्टि में बाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धुप्रदेश और सौवीर देश के निवासियों का नाम लेते हैं, जिनको नमक इतना प्रिय है कि वे दूध के साथ भी नमक का सेवन करते हैं।[१]

संहिताकार इस बात से भी परिचित हैं कि ऊसर भूमि में नमक का आधिक्य होने के कारण ओषधियाँ और वनस्पतियाँ या तो उत्पन्न ही नहीं होतीं, और यदि होती भी हैं, तो उनमें विशेष शक्ति नहीं होती (अल्प-तेजस् होती हैं)।[२]

जहाँ कहीं भी "लवणद्वय" शब्द का प्रयोग है (जैसे सू० २।५ में), वहाँ सैन्धव लवण और सौवर्चल लवण से (अथवा काले नमक से) अभिप्राय है। कभी-कभी "लवणत्रय" शब्द का भी उपयोग हुआ है (जैसे चि० १५।१७७), ऐसे स्थल पर सैन्धव, सौवर्चल और विड लवण से अभिप्राय है। जहाँ कहीं लवणपंचक शब्द आया है (चि० १३।१२७), वहाँ सैन्धव, सौवर्चल, काल, विड और पाक्य ये पाँचों अभिप्रेत हैं।

चरक और क्षार

क्षार का प्रयोग अनेक चिकित्साओं में किया गया है। ढाक (पलाश) की पत्तियों और लकड़ियों को जलाकर जो राख मिलती थी उससे बहुधा यह क्षार तैयार करते

१. **लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्, . . .अन्नद्रव्यरुचिकरं,....तदत्यर्थमुपयुज्यमानंग्लानि-शैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्रामनगरनिगम-जनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसकशोणिता अपरि-क्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—बाह्लीक सौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः, ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति। (वि०।१७–१८)**

२. **येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधि वीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्प-तेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। (वि० १।१८)**

थ।[१] चिकित्सास्थान के १५वें अध्याय में कतिपय क्षारयोग दिये गये हैं, जो अनेक रोगों के निवारणार्थ काम आते थे। इस प्रसंग में जो विधियाँ दी गयी हैं, उनसे यही सारांश निकलता है कि क्षार अनेक ओषधियों से तैयार किये गये रस-क्वाथ को सुखाकर और फिर जलाकर तैयार किया जाता था।[२] एक योग में भल्लातक, त्रिकटुक, त्रिफला, लवणत्रय, इन सबको गोबर की आग में जलाकर क्षार बनाने का उल्लेख है।[३] कुछ योगों में गाय, भैंस और बकरे के मूत्र के साथ अनेक वानस्पतिक पदार्थों को जलाकर क्षार तैयार करने का उल्लेख है।[४] कमल की नाल, मृणाल और केशर से भी क्षार बनाये जाते थे।[५] जलाने की विधि के साथ "अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा" इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है।[६] अन्तर्धूम का अर्थ यह किया गया है कि जलाने की प्रक्रिया में धुआँ अन्दर ही बना रहे, वायु का आना-जाना कम हो (air tight method), और इस प्रकार जलाने का कार्य धीरे-धीरे किया जाय।

यवक्षार और सर्जिका (या स्वर्जिका) क्षार इन दोनों का अन्तर भी चरककार को ज्ञात था।[७] जहाँ कहीं "द्वौ क्षारौ" (चि० ५।८०) के समान शब्दों का प्रयोग हुआ है, वहाँ दो क्षारों से अभिप्राय यवक्षार (potassium carbonate)

१. तरुणपलाशक्षारं स्रुतम्। (चि० २३।१०१)
२. खण्डीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे।
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम्॥ (चि० १५।१७५)
३. भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रयम्।
अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत्॥
स क्षारः....(चि० १५।१७७)
४. गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्॥....
दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः॥
मुस्तं च वस्तमूत्रेण दहेत् क्षारोऽग्निवर्धनः॥ (चि० १५।१८०–१८२)
५. क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य।
मृणालपद्मोत्पलकेशराणां तथा पलाशस्य तथा प्रियंगोः।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन॥ (चि० ४।९३-९४)
६. चि० १५।१७५, १७७, १९१ आदि।
७. सौवर्चलयवक्षारस्वर्जिकोद्भिदसैन्धवम्। (चि० २६।२२७)

और सर्जिकाक्षार (sodium carbonate) से ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षार का ज्ञान देशवासियों को विस्तृत रूप से था, और इसका प्रयोग खाद्यपदार्थों में बहुत होने लगा था। क्षार के सतत प्रयोग से लोगों में अन्धापन, नपुंसकता, गंजापन और हृदय के रोग फैलने लगे थे। ये रोग प्राच्य और चीन दोनों देशों में क्षार के अति प्रयोग के कारण थे।[१]

यवक्षार से अभिप्राय बहुधा तो पोटैसियम कार्बोनेट से था, जो यव या जौ को जलाकर तैयार किया जाता था। कभी-कभी साहित्य में यह क्षार शब्द शोरे के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

क्षारों के क्षारक (caustic) अथवा दाहक प्रभाव से चरक के समय के चिकित्सकों का अच्छा परिचय था। यद्यपि कास्टिक सोडा या कास्टिक पोटाश तो इस समय संभवतः शुद्ध रूप में वे न बना पाये थे, पर दाहकर्म (cauterization) में क्षारों का प्रयोग करनेवालों को "क्षारतन्त्रविदः" कहा गया है।[२]

क्षार और अम्ल का विरोध--क्षारों के प्रयोग से अम्लों का खट्टापन दूर हो जाता है, इसका ज्ञान भी चरक संहिताकार को था और इस गुण का उल्लेख मद्य का खट्टापन मिटाने में एक स्थल पर किया गया है--'अम्ल से उपसंहित होने पर क्षार माधुर्य को प्राप्त होता है।'[३] मद्य में वस्तुतः खट्टापन सिरका या एसीटिक अम्ल बनने के कारण होता है, और यह खट्टापन क्षार मिलाने पर शीघ्र ही दूर हो जाता है।

धातुप्रयोग और चरक

चरक के समय में (१) कनक, सुवर्ण या कंचन, (२) ताम्र, (३) कालायस् और तीक्ष्णायस् (दो प्रकार के लोहे), (४) त्रपु, (५) रजत (रूप्य), (६) सीसक, इतनी धातुओं से परिचय था। इन ६ धातुओं में से सुवर्ण अर्थात् सोने को छोड़-

१. ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यषाण्ढ्यखालित्यपालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च भवन्ति, तद्यथा--प्राच्याश्चीनाश्च; तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत। (वि० १।१७)

२. दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम्।
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम्॥ (चि० ५।६३, ६४)

३. क्षारो हि याति माधुर्यं शीघ्रमम्लोपसंहितः।
श्रेष्ठमम्लेषु मद्यं च यैर्गुणैस्तान् परं शृणु॥ (चि० २४।११४)

कर शेष सबको "पंचलोह" के अन्तर्गत गिना जाता था। उन पार्थिव द्रव्यों में, जिनका प्रयोग ओषधियों में होता है, अर्थात् भौम-औषधों में सुवर्ण, मल (मण्डूर), पंचलोह, सिकता (बालू), सुधा (चूना), मनःशिला, मणि, लवण, गैरिक और अंजन को संग्रह में रखने का उल्लेख है[१]—यहाँ पंचलोह से अभिप्राय उपर्युक्त पाँच धातुओं से ही है।

चिकित्सा-कार्य में हिमालय प्रदेश में पायी जानेवाली ओषधियों को ही श्रेष्ठतम माना गया है। जो व्यक्ति इन ओषधियों के पाने में असमर्थ हैं, और फिर भी सुख की कामना करते हैं, उनके लिए साधारण ओषधियों के साथ अन्तिम श्रेणी में हेम (सोना), ताम्र, प्रवाल, अयस्, स्फटिक, मुक्ता, वैदूर्य, शंख और रजत के चूर्णों का व्यवहार करने का विधान किया है।[२] मण्डल कुष्ठरोग के विनाश के लिए भी त्रपु (वंग या टीन), सीस और अयस् (लोहा)—इन तीनों के चूर्णों के लेप का विधान है।[३]

लोहचूर्ण का प्रयोग—अयस्-चूर्ण से भी बारीक पिसे हुए पदार्थ को अयोरज कहते थे। त्रिफलारस और अन्य ओषधियों के साथ इसका सेवन करने से शोफ (edema) कष्ट दूर होता था।[४] इस प्रकार के योग में लोहा अपने कोलायडीय (colloidal) रूप में रहता है। आजकल भी कोलायडीय ओषधियाँ चिकित्सा कार्य्य के प्रयोग में आती हैं। अयोरज और यवक्षार (यावशूक) दोनों का त्रिफला के साथ जो कषाय शोफ रोग के निवारण के लिए बनाया जाता था, उसमें कोलायडीय लोह की प्रधानता रहती थी।[५] अयोरज का प्रयोग त्रिफलादि क्षार बनाने में भी इसी प्रकार होता था (चि० १५।१८८)। पांडु रोग (anemia)

१. **सुवर्णं समलाः पञ्चलोहाः ससिकताः सुधा।**
मनःशिलाले मणयो लवणं गैरिकाञ्जने॥
भौममौषधमुद्दिष्टम्......... (सू० १।७०)

२. **हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च।**
मुक्तावैदूर्यशंखानां चूर्णानां रजतस्य च॥ (चि० १।४।२२)

३. **त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत् फल्गुचित्रकौ बृहती।**
गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत्॥ (चि० ७।८८)

४. **व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणी च सायोरजस्का त्रिफलारसेन।**
पीतं कफोत्थं शमयेत्तु शोफं गव्येन मूत्रेण हरीतकी च॥ (चि० १२।२१)

५. **अयोरजस्त्र्यूषणयावशूकचूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन** (चि० १२।४२)

में अयोरज को गाय के मूत्र और दूध के साथ पिलाते थे, और आजकल भी रक्तहीनता या पांडुरोग के निवारण में लोह से बने लवणों का प्रयोग किया जाता है।[१] मधु और घी के साथ त्रिफला आदि ओषधियाँ मिलाकर जो औषध बनती थी उससे कुष्ठ, पांडु, अर्श आदि रोग दूर होते थे। ऐसे चूर्ण का नाम नवायस चूर्ण था।[२] हिक्का, श्वास और खाँसी के रोग को दूर करने के लिए एक चूर्ण बताया गया है, जिसमें अन्य ओषधियों के साथ-साथ मुक्ता, प्रवाल, वैदूर्य, अयोरज, ताम्ररज, रूप्य (चाँदी का चूर्ण), सीसा, गन्धक आदि का प्रयोग किया जाता था (चि० १७।१२५-१२७)। व्रणों अर्थात् घावों की चिकित्सा में जो लेप काम आते थे, उनमें भी अयोरज का प्रयोग कासीस और त्रिफला आदि के साथ हुआ है।[३] इनके उपयोग से नयी काली त्वचा आसानी से तैयार हो जाती है। नेत्ररोग के अंजन में भी त्रिफला, कासीस, अंडे का छिलका और समुद्रफेन के साथ अयोरज का उपयोग बताया गया है।[४] सिर पर काले बाल उगाने के लिए जिस लोहचूर्ण का प्रयोग बताया गया है, वह नमक, सिरका और अन्य अम्लों के साथ उबाला जाता था और उससे सिर पर लेप किया जाता था। लोहचूर्ण और अम्लों के योग से जो विलयन प्राप्त होता था वह बालों को काला करता था। रात भर बालों पर यह लगाया जाता था, और प्रातःकाल त्रिफला के पानी से सिर धो डाला जाता था।[५]

त्रिफला, अम्ल और लोहचूर्ण के योग से बने पदार्थ बालों के रंगने में बड़े महत्त्व के माने जाते थे।[६]

मण्डूर या लोहमल का प्रयोग––लोहे पर जो जंग लगता है, उसे अयोमल या

१. सप्तरात्रं गवां मूत्रे भावितं वाऽप्ययोरजः।
पाण्डुरोगप्रशान्त्यर्थं पयसा पाययेद् भिषक्॥ (चि० १६।६९)

२. चि० १६।७०, ७१ और भी देखो १६।९७-९९, १०५, ११९।

३. अयोरजः सकासीसं त्रिफलाकुसुमानि च।
करोति लेपः कृष्णत्वं सद्य एव नवत्वचि॥ (चि० २५।११५)

४. चि० २६।२५४

५. पचेत् सैन्धवशुक्ताम्लैरयश्चूर्णं सतण्डुलम्।
तेनालिप्तं शिरः शुद्धमस्निग्धमुषितं निशि।
तत् प्रातस्त्रिफलाधौतं स्यात् कृष्णमृदुमूर्धजम्॥ (चि० २६।२८०, २८१)

६. अयश्चूर्णोऽम्लपिष्टश्च रागः सत्रिफलो वरः। (चि० २६।२८२)

मण्डूर कहते हैं। अयोरज के समान इसका भी प्रयोग पाण्डुरोग (anemia) में होता था। गुड़, सोंठ, तिल, पिप्पली आदि ओषधियाँ मण्डूर में मिलाकर गुटिका या गोलियाँ बना ली जाती थीं।[1] यह मण्डूर सुरमे-जैसा काला होता था।[2] मण्डूरचूर्ण और अन्य द्रव्यों के साथ बनी ओषधियाँ पाण्डुरोग, प्लीहा, अर्श, विषम-ज्वर, ग्रहणी, कुष्ठ और कृमि रोग में उपकारी मानी गयी है।[3]

चरक में एक स्थल पर लोहे से बनी सभी औषधों का नाम "अयस्कृति" (iron preparations) दिया हुआ है।[4]

अयोरज के समान ताम्ररज और हेमचूर्ण का भी रोगों में मधु के साथ सेवन बताया गया है। (चि० २३।२४०)

धातुओं का शोधन—एक स्थल पर आँखों में लगानेवाले अंजन और आश्च्योतन (eyedrops) का विवरण देते हुए संहिताकार ने कहा है कि जिस प्रकार विविध प्रकार के कनक (स्वर्ण) आदि से बने पदार्थ, तैल, वस्त्र (चेल) और बुरुश (कच) आदि से रगड़ने और फिर धोने से साफ हो जाते हैं, उसी प्रकार अंजन लगाने और आश्च्योतन के प्रयोग से नेत्र भी अच्छे रहते हैं।[5] आग से स्वर्ण स्वच्छ होकर अपनी प्रकृति में आ जाता है (हेमप्रकृतिदर्शकः हुताशः—चि० २४।७२)।

धातुओं से बने पदार्थ—अनेक प्रसंगों में संहिताकार ने कुछ ऐसी वस्तुओं का उल्लेख किया है, जो धातुओं से बनती थीं—

(क) लोहे की गोलियाँ या अयोगुड।[6]

(ख) धातुओं की बनी जीभियाँ या जिह्वानिर्लेखन—ये अतीक्ष्ण होनी चाहिए

१. **गुडनागरमण्डूरतिलांशान्मानतः समान्।
पिप्पलीं द्विगुणां कुर्याद् गुटिकां पाण्डुरोगिणे॥ (चि० १६।७२)**

२. **मण्डूरं द्विगुणं चूर्णाच्छुद्धमञ्जनसन्निभम्। (चि० १६।७४)**

३. **चि० १६।९३–११६**

४. **गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा।
सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम्॥ (चि० १३।७३)**

५. **यथा हि कनकादीनां मलिनां विविधात्मनाम्।
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचेलकचादिभिः।
एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योतनादिभिः॥ (सू० ५।१८, १९)**

६. **पीतमत्यग्निसन्तप्ता भक्षिता वाऽप्ययोगुडाः। (सू० १।१३१)**

और झुकी हुई (अनृजु), ये सोने, चाँदी, ताँबे, त्रपु (राँगे) या रीति (पीतल) की बनी होनी चाहिए।[१]

(ग) सुइयाँ रखने के लिए सोने और चाँदी से बने पिप्पलक (बटुए) और तीक्ष्णायस (फौलाद) से बने शस्त्र।[२]

(घ) सोने, चाँदी या मिट्टी के बने, पवित्र और दृढ़, घी से चुपड़े घड़े (कुम्भ)।[३]

(ङ) सोने, चाँदी और मणियों से बने मदिरा पीने के पात्र (भाजन)।[४]

(च) बस्तिकर्म (एनिमा) के लिए सोने, चाँदी, त्रपु (राँगा), ताम्र, रीति (पीतल), कांस्य (काँसा), अस्थिशस्त्र, लकड़ी (द्रुम), वेणु (बाँस), हाथीदाँत, नल, सींग आदि से बने नेत्र (नली, ट्यूब) का भी प्रयोग।[५]

(छ) सोने, चाँदी और काँसे से बने पानी पीने के पात्र।[६]

(ज) गुल्मभेदन (breaking open nodular affections) कर्म में गरम लोहे, लवण, पत्थर, सोने और ताँबे से दबाकर (प्रपीडन), अथवा क्षार, बाण या सुवर्ण से जलाकर शमन करना।[७]

(झ) सोने की अँगूठी आदि के समान जिनका शरीर से स्पर्श आभरण होता रहे।[८]

१. **सुवर्णरूप्यताम्राणि त्रपुरीतिमयानि च।**
जिह्वानिर्लेखनानि स्युरतीक्ष्णान्यनृजूनि च॥ (सू० ५।७४-७५)

२. **द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि (शा० ८।३४)**

३. **सौवर्णे राजते मार्त्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्। (चि० १।२।४)**

४. **सौवर्णै राजतैश्चापि तथा मणिमयैरपि।**
भाजनैर्विमलैश्चान्यैः सुकृतैश्च पिबेत् सदा॥ (चि० २४।१५)

५. **सुवर्णरूप्यत्रपुताम्ररीतिकांस्यास्थिशस्त्रद्रुमवेणुदन्तैः।**
नलैर्विषाणैर्मणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि त्रिकर्णिकानि॥ (सि० ३।७)

६. **हेमराजतकांस्यानां पात्राणां शीतवारिभिः। (चि० २४।१५४)**

७. **अयोलवणपाषाणहेमताम्रप्रपीडनैः।**
ग्रन्थिः पाषाणकठिनो यदा नैवोपशाम्यति।
अथास्य दाहः क्षारेण शरैर्हेम्नाऽथवा हितः॥ (चि० २१।१३१-१३३)

८. (क) **हेमशंखप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च।**
चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान् स्पृशेत्॥ (चि० ३।२६२)

(ञ) लौह रसायन के समान हेम (स्वर्ण) और रजत (चाँदी) का भी रसायन।[१]

(ट) सोना, चाँदी, ताँबा, त्रपु और सीसे की मूर्तियाँ या आकृतियाँ बनायी जाती थीं। इन आकृतियों को तैयार करने के लिए मोम के विग्रह या साँचे बनाये जाते थे।[२] इस काम के लिए धातुएँ गली हुई अवस्था (उपसिच्यमान) में ली जाती थीं।

(ठ) ओषधियाँ तैयार करने के लिए ताँबे का भाजन (पात्र)[३] या लोहे का भाजन।[४]

माक्षिक (Pyrites)

कुष्ठ रोग के निवारण के लिए लेलीतक (गन्धक) और माक्षिक (आयरन पाइराइटीज़) का प्रयोग उपकारक माना गया है।[५] हम यह जानते हैं कि माक्षिक में गन्धक और लोहा होता है, और पुराने समय में भी लोहा संभवतः माक्षिक से तैयार करते थे। (केवल "माक्षिक" शब्द का प्रयोग मधु के अर्थ में होता है, और माक्षिक धातु का प्रयोग लोहे के माक्षिक या पाइराइटीज़ के लिए होता है।) माक्षिक धातु का (अर्थात् स्वर्ण माक्षिक का) प्रयोग मण्डूरवटिका में (चि० १६।७३), योगराज नामक योग में (चि० १६।८२), और सुवर्ण माक्षिक का प्रयोग गन्धक और पारे

(ख) हिरण्यहेमरजतमणि मुक्ताविद्रुमक्षौम परिदधीत् (वि० ८।९);
क्षौमहेमहिरण्यरजतमणिमुक्ताविद्रुमालंकृतम्। (वि० ८।११)

१. भवेत् समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम्।
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च। (चि० १।३।२२-२३)

२. कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु, तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते। (शा० ३।१६)

३. कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकासीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे॥ (चि० ७।११७)
(और भी देखो, चि० २६।२५५)

४. लोहपात्रे ततः पूतं संशुद्धमुपयोजयेत्। (चि० २६।२७४)

५. लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः।
सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण॥ (चि० ७।७०)

(रस) के साथ कुष्ठ रोग के लिए अन्यत्र भी बताया गया है।[१] (सुवर्ण माक्षिक शब्द का अर्थ पीला माक्षिक (yellow pyrites) है।

अंजन और सौवीरांजन

अंजन शब्द आजकल के एंटिमनी सलफाइड के लिए प्रयोग में आता था और नेत्रों को साफ करने में इसका प्रयोग होता था। पार्थिव द्रव्य-संग्रह का जहाँ उल्लेख है (सू० १।७०), वहाँ सुवर्ण, पंचलोह, मनःशिला, सिकता, गैरिक आदि के साथ इसे भी गिनाया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी गैरिक, मनःशिला, गृहधूम (कज्जली), कासीस आदि के साथ अंजन का उल्लेख है।[२] सौवीराञ्जन भी यही एंटिमनी सलफाइड है। इसका प्रयोग आँख का पानी बहाने के लिए (स्रावणार्थ) उपकारी माना गया है।[३]

कासीस या फेरस सलफेट

कासीस लोहे का सलफेट है, और यह लोह-माक्षिक के उपचयन अथवा लोहे और सलफ्यूरिक अम्ल के योग से बनाया जाता है। चिकित्सा-स्थान में एक स्थल पर अश्म-कासीस शब्द का भी प्रयोग हुआ है और व्रणों की पीड़ा दूर करनेमें अन्य ओषधियों के साथ यह उपकारी माना गया है।[४] अंजन के साथ इसका उल्लेख अभी हम ऊपर कर ही आये हैं (सू० ३।५)। अमृतासंज्ञ (नीलाथोथा, तूतिया), गन्धक और मनःशिला के साथ अन्यत्र भी यह अनेक रोगों में उपकारी बताया गया है, जैसे दाद, पामा, विर्चाचिका, शोफ, कुष्ठ आदि रोगों में।[५] भल्लातक (भिलावाँ) के साथ कासीस

१. श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा।
सर्वव्याधिनिर्बहणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम्॥ (चि० ७।७१)

२. वचा हरेणुस्त्रिवृता निकुम्भो भल्लातकं गैरिकमञ्जनं च।
मनःशिलाले गृहधूम एला कासीसलोध्रार्जुनमुस्तसर्जाः॥ (सू० ३।५)

३. सौवीरमञ्जनं नित्यं हितमक्ष्णोः प्रयोजयेत्।
पंचरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थे रसाञ्जनम्॥ (सू० ५।१५)

४. भूर्जग्रन्थ्यश्मकासीसमधोभागानि गुग्गुलुः।
व्रणावसादनं तद्वत् कलविंककपोतविट्॥ (चि० २५।१००)

५. कुष्ठामृतासंज्ञकटं कटेरी कासीसकम्पिल्लकमुस्तलोध्राः।
सौगन्धिकं सर्जरसो विडंगं मनःशिलाले करवीरकत्वक्॥ (सू० ३।१०)
(इसी प्रकार चि० ७।१०२; १०९; ११४; ११७ आदि में भी)

मिलाकर लेप (मलहम) भी तैयार करते थे।[1] योनिरोगों के निवारण में फिटकरी (कांक्षी) आदि के साथ इसका कई स्थलों पर उपयोग बताया गया है।[2]

तूतिया, तुत्थ या अमृतासंज्ञ

कासीस के साथ कई स्थलों पर अमृतासंज्ञ या तूतिया का हम उल्लेख अभी कर आये हैं। अमृतासंज्ञ शब्द भी (चि० ७।११४) इसी के लिए प्रयुक्त हुआ है। चिकित्सास्थान में एक स्थल पर "द्वे तुत्थे" अर्थात् दो प्रकार के तुत्थ बताये गये हैं, जिनमें संभवतः मयूरतुत्थ (तूतिया) और खर्पर-तुत्थ (calamine) दोनों ही अभिप्रेत हैं।[3] मनःशिला के साथ तुत्थ का उपयोग कई रोगों म गुणकारी बताया गया है।[4] कनकक्षीरी तैल में हरिताल, तुत्थ, अमृतासंज्ञ, कासीस, सर्जिकालवण आदि का उपयोग बताया गया है। इसमें तुत्थ और अमृतासंज्ञ दोनों शब्द एक साथ आये हैं, जिनमें से एक मयूरतुत्थ के लिए और दूसरा खर्परतुत्थ (calamine) के लिए है (चि० ७।११४)।[5]

तुत्थ का प्रयोग सौवीरांजन, ताप्य धातु (लोहमाक्षिक), मनःशिला, लोह, मणि, और पौष्पांजन के साथ नेत्ररोग के अंजन के लिए भी हुआ है।[6] पौष्पांजन शब्द इसी एक स्थल पर आया है, और यह यशद या जस्ते का लवण (white zinc) है। आँख धोने के लिए जिंक सलफेट (यशद और सलफ्यूरिक अम्ल से बने लवण) का विलयन आज भी व्यवहार में आता है। कई प्रकार की कॉपर आयंटमेंट भी आँख के लिए प्रयोग में आ रही हैं।

मनःशिला और हरिताल

मनःशिला (red arsenic या realgar) का हम कई स्थल पर ऊपर उल्लेख

१. भल्लातकास्थिकासीसं लेपो भिन्द्याच्छिलामपि। (चि० २१, १२६)
इसी प्रकार अयोरज और त्रिफला के साथ, चि० २५।११५।
२. चि० ३०। ७९, १२१
३. तिक्तालाबुकबीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे। (चि० ७।१०८)
४. तुत्थं विडङ्गं मरिचानि कुष्ठं लोध्रं च तद्वत् समनःशिलं स्यात्। (सू० ३।१२)
५. हरितालमवाक्पुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासंज्ञः।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम्॥ (चि० ७।११४)
६. सौवीरमञ्जनं तुत्थं ताप्यो धातुर्मनःशिला।
चक्षुष्या मधुकं लोहा मणयः पौष्पमञ्जनम्॥ (चि० २६।२५०)

कर आये हैं। चिकित्सास्थान में ओषधियों के अनेक योगों में इसका प्रयोग किया गया है।[१] "मनःशिलाले" शब्द का जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ उसे मनः शिला और हरिताल का संक्षिप्त संयुक्त रूप समझना चाहिए (सू० ३।५, १०)। तुत्थ के साथ हरिताल का प्रयोग हम ऊपर दे आये हैं (चि० ७।११४)। मूर्ध-विरेचन के लिए मनःशिला और हरिताल दोनों के धूम का प्रयोग बताया गया है।[२] हरिताल सफेद या पीले वर्ण की होती है (yello warsenic)। पीतक चूर्ण के बनाने में भी मनःशिला, यवक्षार, हरिताल, सैन्धा नमक आदि का प्रयोग बताया गया है।[३]

गैरिक, सौराष्ट्री और अन्य मिट्टियाँ

कई प्रसंगों में गैरिक (red ochre) या गेरू मिट्टी का हम उल्लेख ऊपर कर आये हैं। इसका उपयोग अनेक योगों में किया गया है।[४] बहुधा इसका प्रयोग वैदूर्य, मणि, मोती, शंख, चन्दन आदि के साथ-साथ किया गया है।[५] गैरिक और अंजन शब्दों के प्रयोग भी बहुधा साथ आये हैं।[६]

सौराष्ट्री या सोरठी मिट्टी का उल्लेख तुत्थ के साथ हमने ऊपर किया था (चि० ७।११४)। गेरू लाल रंग का होता है, पर सौराष्ट्री पीले रंग की मिट्टी (yellow ochre) है।[७] (फिटकरी के लिए भी सौराष्ट्रिका शब्द का कहीं-कहीं प्रयोग हुआ है।) मृत्तिकांजन शब्द भी पीली सोरठी मिट्टी के लिए प्रयुक्त हुआ है।[८]

१. चि० ३।३०६; ७।११७, १६७, १७०; १७।७७, १४५; १८।५२, ६९, ७१, ७३, ७४, ७५, १३०, १४६, १४७, १६९; २०।३९; २३।५५, ७८, १९०, १९२, २१३; २५, ११४; २६।१५२, १९६, २३५, २५०, २५२।

२. **श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।**
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमं मूर्धविरेचने॥ (सू० ५।२६)

३. **मनःशिला यवक्षारो हरितालं ससैन्धवम्।** (चि० २६।१९६)

४. सू० १।७०; ३।५; चि० ४।७३, ७९, ९९; २०।३३; २१।८२; २५।११७; २६।२१०, २३२, २३५; ३०।९१

५. **वैदूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छंखहेमामलकोदकानाम्।** (चि० ४।७९)

६. **यवासागुरुपत्तङ्गगैरिकाञ्जनमावपेत्।** (चि० २६।२१०)

७. **पटोलनिम्बपत्रैला सौराष्ट्र्यतिविषात्वचः।** (चि० १५।१३७)
सौराष्ट्रिकादाडिमत्वगुदुम्बरशलाटुभिः। (चि० ३०।७९)

८. **अटरूषकनिर्यूहे प्रियंगुं मृत्तिकाञ्जने।** (चि० ४।६६)

चरकसंहिता में कई प्रकार की मिट्टियों का उल्लेख अनेक प्रसंगों में हुआ है, जैसे काली मीठी मिट्टी (कृष्ण मधुर मृत्तिका) और सुवर्ण मृत्तिका या पीली मिट्टी (सू० १४।४५; चि० १।२।११)। घी से चुपड़े मिट्टी के घड़े का उल्लेख है।[२]

बहुत से बच्चों और स्त्रियों की मिट्टी खाने की प्रकृति हो जाती है। उन्हें "मृत्तिकादनशील" कहते हैं। यदि यह मिट्टी कषाय स्वाद की (कसैली) है, तो वात दोष, यदि खारी है तो पित्त दोष और यदि मीठी है तो कफ दोष उत्पन्न होगा।[३] खायी हुई इस मिट्टी (भक्षिता मृत्तिका) को चिकित्सक युक्तिपूर्वक शरीर से निकलवा दे।[४]

काली मिट्टी का उपयोग वस्तिकर्म के योगों में लेप के रूप में भी किया गया है।[५]

काली मिट्टी, काली बालू और मिट्टी के नये कपालों को लाल तपाकर अग्निनिभ करके (red hot) पानी या ओषधि-विलयनों में बुझाकर पेय तैयार करने का भी उल्लेख हुआ है।[६]

कांक्षी या फिटकरी

इसका चरक में दो स्थलों पर उपयोग है (चि० २३।५४; ३०।१२१)। योनिपिच्छलता रोग में इसका उपयोग कासीस, त्रिफला आदि के साथ बताया गया है।[७]

१. प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा। (सू० १४।४५)
स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा। (चि० १।२।११; क० १।९)

२. सुचौक्षे मार्त्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते। (चि० १।४।२१)
तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्त्तिके घृतभाजने। (चि० २।४।२६)

३. मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्॥ (चि० १६।२७)

४. निपातयेच्छरीरात्तु मृत्तिकां भक्षितां भिषक्। (चि० १६।११७)

५. कृष्णमृत्तिकयाऽऽलिप्य स्वेदयेद् गोमयाग्निना। (चि० १९।६४)

६. सिद्धेऽम्भस्यग्निनिभां कृष्णमृदं कृष्णसिकतां वा।
तप्तानि नवकपालान्यथवा निर्वाप्य पाययेताच्छम्॥ (चि० २२।४४, ४५)

७. कासीसं त्रिफला कांक्षी समङ्गाऽऽम्रास्थि धातकी।
पैच्छिल्ये क्षौद्रसंयुक्तश्चूर्णो वैशद्यकारकः॥ (चि० ३०।१२१)

स्फटिक, मुक्ता, वैदूर्य, शंख, प्रवाल और मणि

स्फटिक (quartz crystal) का उल्लेख चरक में दो स्थलों पर है[1] (चि० १।४।२२; १७।१२५)। वैदूर्य (cat's eye beryl) का उल्लेख अनेक स्थलों पर हम पहले भी कर चुके हैं (इ० ७।१२; चि० १।४।२२; ४।७९, १०६; १७।१२५; २३।२५२; २६।२४६)। वैदूर्य, मुक्ता, मणि आदि बहुमूल्य पदार्थ पानी आदि रखने के भाजनों (बरतनों) मे भी प्रयुक्त होते थे।[2] मणियों, हीरों, मरकतों, कर्केतन (पद्मराग), सर्पमणि, गजमुक्ता के आभरण पहनने से सर्पविष की ओर से सुरक्षा प्राप्त होना कहा गया है।[3] शंख, प्रवाल, वैदूर्य, लोह, ताम्र आदि से तैयार किये गये चूर्णों से जो वर्ति या बत्ती बनती है, उससे नेत्र रोगों में लाभ होता है।[4]

गन्धक और पारद

मेरा अपना यह अनुभव है कि चरक के समय में गन्धक और पारद का प्रयोग अज्ञात था। चिकित्सास्थान के सप्तम अध्याय में तीन श्लोक एक साथ आये हैं जिनमें गन्धक और पारे के प्रयोग का उल्लेख है--

लेलीतकप्रयोगो रसेन जात्याः समाक्षिकः परमः ।
सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ॥७०॥

जाई के रस और माक्षिक अर्थात् मधु के साथ लेलीतक अर्थात् गन्धक का प्रयोग सत्रह प्रकार के कुष्ठों को मारनेवाला है। इसी प्रकार गोमूत्र के साथ लोहमाक्षिक का प्रयोग भी गुणकारी है। (कुछ पुरानी प्रतियों में "लेलीतक प्रयोगः" शब्दों के स्थान में "नवनीत प्रयोगः" शब्द आये हैं)।

---

१. हेमताम्रप्रवालाना मयसः स्फटिकस्य च।
मुक्तावैदूर्यशंखानां चूर्णानां रजतस्य च ॥ (चि० १।४।२२)
मुक्ताप्रवालवैदूर्यशंखस्फटिक मञ्जनम्। (चि० १७।१२५)

२. वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानाम्। (चि० ४।१०६)

३. वज्रं मरकतः सारः पिचुको विषमूषिका।
कर्केतनः सर्पमणिर्वैदूर्यं गजमौक्तिकम् ॥
धार्यं गरमणिर्याश्च वरौषध्यो विषापहाः। (चि० २३।२५२, २५३)

४. शंखप्रवालवैदूर्यलौहताम्रप्लवास्थिभिः।
स्रोतोजश्वेतमरिचैर्वर्तिः सर्वाक्षिरोगनुत् ॥ (चि० २६।२४६)

श्रेष्ठं गन्धकयोगात् सुवर्णमाक्षिकप्रयोगाद्वा ।
सर्वव्याधिनिवर्हणमद्यात् कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥७१॥

कुष्ठ रोग से पीड़ित व्यक्ति पारे में गन्धक या लोहमाक्षिक मिलाकर प्रयोग करे। यह सब व्याधियों की अचूक औषध है। (यहाँ रस शब्द का पारे से अभिप्राय है)।

वज्रशिलाजतु सहितं सहितं वा योगराजेन ।
सर्वव्याधिप्रशमनमद्यात् कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ॥७२॥

अथवा पारे को हीरे और शिलाजीत के साथ अथवा योगराज गुग्गुल के साथ मारकर (निगृह्य) नित्य सेवन करे। यह भी सर्व रोगों को शान्त करनेवाला योग है। ("निगृह्य" शब्द पारे के मारे जाने की ओर संकेत करता है)।

चिकित्सास्थान में पारे के लिए एक स्थल पर "रसोत्तम" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग भी बाद का प्रक्षिप्त प्रतीत होता है—

कालीयकनताम्रास्थिहेमकान्तारसोत्तमैः ।
लेपः सगोमयरसः सवर्णीकरणः परः ॥ (चि० २५।११६)

कालीयक (पीला चन्दन), तगर, आम की गुठली, नागकेसर, मजीठ और पारे का गोबर के रस के साथ बना लेप देह के प्राकृतिक रंग को देनेवाला होता है।

सूत्रस्थान (३।१०) में एक स्थल पर "सौगन्धिक" शब्द आया है, जिसका अर्थ भी गन्धक बताया जाता है —

सौगन्धिकं सर्जरसो विडङ्गं मनःशिलाले करवीरकत्वक् ।

"गन्धक" और "सौगन्धिक" शब्द चिकित्सास्थान में भी एक-एक बार पास-पास मिलते हैं (चि० १७।१२५, १२६)—

ससारगन्धकाचार्कसूक्ष्मैलालवणद्वयम् ।
ताम्रायोरजसी रूप्यं ससौगन्धिकसीसकम् ॥

इस प्रकार कुछ इने-गिने स्थलों पर ही गन्ध, गन्धक, सौगन्धिक और लेलीतक ये चार शब्द गन्धक के लिए पाये जाते हैं। पारद शब्द भी चरक में नहीं है। इतनी बड़ी संहिता में पारे के लिए एक-एक स्थल पर रस और रसोत्तम शब्द और "निगृह्य" (पारे का मारण) सन्देह ही उत्पन्न करता है। अतः प्रतीत होता है कि चरकसंहिता के समय में पारा और गन्धक दोनों अज्ञात थे और संहिता में ये ५–६ श्लोक बाद में मिश्रित हो गये। अथवा किञ्चिन्मात्र ही परिचय इन पदार्थों का रहा होगा। चिकित्सा में इनका बहुव्यापी प्रयोग आगे के काल में ही आरंभ हुआ। एक समय था जब गन्धक शब्द का प्रयोग इत्र आदि के समान सुगन्ध पदार्थों के लिए होता था।

सौरभमय पदार्थों को पीसने या तैयार करनेवाली नारी को "गन्धकपेषिका" कहते थे। "सौगन्धिक" का अर्थ भी गन्धक बाद को ही पड़ा। लेलितक या लेलीतक शब्द गन्धक के पर्याय कैसे बने यह कहना कठिन है।

सुरा, मद्य, आसव आदि का निर्माण

चरकसंहिता के सूत्रस्थान, २५वें अध्याय के अन्तिम भाग में आसवों के ८४ भेदों का उल्लेख है। इन सबके परस्पर मिश्रण से आसवों के और भी बहुसंख्यक भेद बनाये जा सकते हैं। जिस पदार्थ से आसव तैयार हुआ है, उसके आधार पर आसव का वर्गीकरण किया जाता है (सू० २५।४९)

६ **धान्यासव**--(१) सुरा, (२) सौवीर, (३) तुषोदक, (४) मैरेय, (५) मेदक और (६) धान्याम्ल।

२६ **फलासव**--(१) मृद्वीका (मुनक्का), (२) खर्जूर, (३) काश्मर्य, (४) धन्वन, (५) राजादन (खिरनी), (६) तृणशून्य (केतकी), (७) परूषक (फालसा), (८) अभय (हरड़), (९) आमलक (आँवला), (१०) मृगलिण्डिका (घोगर), (११) जाम्बव (जामुन), (१२) कपित्थ (कैथ), (१३) कुवल (बड़ा बेर), (१४) बदर (बेर), (१५) कर्कन्धु (झड़बेर), (१६) पीलु, (१७) प्रियाल (चिरोंजी), (१८) पनस (कटहल), (१९) न्यग्रोध (बरगद), (२०) अश्वत्थ (पीपल), (२१) प्लक्ष (पिलखन), (२२) कपीतन (पारस पीपल), (२३) उदुम्बर (गूलर), (२४) अजमोद, (२५) शृंगाटक (सिंघाड़ा) और (२६) शंखिनी।

११ **मूलासव**--(१) विदारिगन्धा (शालपर्णी), (२) अश्वगन्धा, (३) कृष्ण-गन्धा, (४) शतावरी, (५) श्यामा, (६) त्रिवृत्, (७) दन्ती, (८) द्रवन्ती, (९) बिल्व, (१०) उरुबूक (एरण्ड) और (११) चित्रक।

२० **सारासव**--(१) शाल, (२) प्रियक, (३) अश्वकर्ण (साल), (४) चन्दन, (५) स्यन्दन (तिनिश), (६) खदिर (कत्था), (७) कदर (सफेद कत्था), (८) सप्तपर्ण, (९) अर्जुन, (१०) असन, विजयसार (११) अरिमेद (रेवां), (१२) तिन्दुक, (१३) किणिही (सफेद शिरीष), (१४) शमी, (१५) शुक्ति (बेर), (धविन) (१६) शिंशपा (शीशम) (१७) शिरीष, (१८) वञ्जल, (१९) धन्वन और (२०) मधूक (महुआ)।

१० **पुष्पासव**--(१) पद्म (कमल), (२) उत्पल (नीला कमल), (३) नलिन, (४) कुमुद, (५) सौगन्धिक, (६) पुण्डरीक, (७) शत-पत्र, (८) मधूक, (९) प्रियंगु और (१०) धातकी (धाय)।

४ **काण्डासव**--(१) इक्षु (ईख), (२) काण्डेक्षु (ऊख), (३) इक्षु-बालिका और (४) पुण्ड्रक (पौंड़ा)।

२ **पत्रासव**--(१) पटोल (परवर), (२) ताडक (ताड़)।

४ **त्वगासव**--(१) तिल्वक, (२) लोध्र, (३) एलवालुक, (४) क्रमुक।

१ **शर्करासव**--(१) शर्करा

आसव शब्द की व्युत्पत्ति भी चरक ने दी है--'एषामासवानामासुतत्वादासव-संज्ञा' अर्थात् आसुत होने के कारण आसवों की 'आसव' संज्ञा है। इनके बनाने (द्रव्य-संयोग विभाग विस्तार) की और इनका संस्कार करने की अनेक विधियाँ हैं। संयोग, संस्कार, देश-काल और मात्रा के अनुसार इन आसवों के गुणदोष अलग-अलग होते हैं।

प्रारम्भ में "आ+सु" धातु का अर्थ केवल निचोड़ना या दबाकर रस निकालना था, बाद को इसके साथ भभकेवाली आसवन प्रक्रिया (distillation) भी संयुक्त कर दी गयी। द्रव्यों को पीस-कूटकर पानी के साथ रख छोड़ना, और फिर इन्हें निचोड़ लेना या छान लेना ही मूल क्रियाएँ थीं, जिनसे आसव तैयार किये जाते थे। बाद को भभके द्वारा इन्हें उड़ाने और चुआने की विधियाँ भी विकसित हुईं।

मद्यसार को उड़ाने और चुआने की प्रथा चरक के समय अपने आदि स्वरूप में ही रही होगी। विभिन्न स्थलों पर विभिन्न आसवों, सुराओं या मद्यों के तैयार करने का उल्लेख है, जिनमें से कुछ विधियाँ प्रतीकरूप से यहाँ दी जाती हैं--

१. **सुरायोग**--लोध्र के कषाय को एक पक्ष तक रख छोड़ने पर इसमें सुरा के गुण उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

२. **तिल्वक अरिष्टयोग**--दन्ती और चित्रक को पृथक्-पृथक् एक आढक (२५६ तोला) लेकर जल के एक द्रोण (१०२४ तोले) में पकाये (समुत्क्वाथ्य) और फिर १ तुला (४०० तोला) गुड़ और १ अंजलि (१६ तोला) लोध्र मिलाये और १५ दिन रख दे। इस प्रकार मद्य पीनेवालों के लिए एक विरेचन तैयार हो जाता है।[2]

१. सुरां लोध्रकषायेण जातां पक्षस्थितां पिबेत्। (क० ९।८)

२. दन्तीचित्रकयोर्द्रोणे सलिलस्याढकं पृथक्।

३. **मध्वासव**——कत्थे (खदिर) और देवदार के सार का ३२ तोला (आठ पल) क्वाथ तैयार करे और इसमें ६४ तोला (एक प्रस्थ) मधु मिला दे। इसका जल के स्थान पर व्यवहार करे। फिर इसमें ३२ तोला (८ पल) लोहे का चूर्ण मिला दे, और फिर इसमें त्रिफला, एला (इलायची), दालचीनी (त्वक्), मरिच, तेजपात (पत्र) और रक्त-नागकेसर इनमें से प्रत्येक को एक-एक कर्ष (१ तोला) मिलाये। अब इसमें मधु की मात्रा में ही खाँड़ (मत्स्यण्डिका) डाले, और इसको लोहे के बरतन में एक मास तक रख छोड़े। ऐसा करने से मध्वासव तैयार होता है, जिससे कुष्ठ और किलास में लाभ पहुँचता है।[1]

४. **कनकबिन्दु अरिष्ट**——१ द्रोण (१०२४ तोला) खदिर के कषाय को घी से चुपड़े घड़े में रखे और इसमें त्रिफला, त्र्योष (त्रिकटु), विडंग, रजनी (हल्दी), मुस्ता (मोथा), आटरूषक (अड़ूसा), इन्द्रयव, सौवर्णी (दारुहल्दी), त्वक् (दालचीनी), छिन्नरुहा (गिलोय), इन सबको चूर्ण करके ६-६ पल मिलाये। फिर इस क्वाथ को एक मास तक धान्यराशि में (अन्न के ढेर में) रख दे। इस प्रकार कनकबिन्दु अरिष्ट तैयार हो जायगा।[2]

५. **मेदक सुरा और किण्व**——स्वच्छ केले, पलाश, पाटलि, निचुल, इनके क्षाराम्भ (alkali solution) को मांस, आटे की पिट्ठी या किण्व में पानी की जगह मिलाकर रख छोड़े तो उससे मेदक सुरा बनती है। किण्व से उत्पन्न प्रलेपन भी हित-

समुत्क्वाथ्य गुडस्यकां तुलां लोध्रस्य चाञ्जलिम्।
आवपेत्तत् परं पक्षान्मद्यपानां विरेचनम्॥ (क० ९।९।९, १०)

१. खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद्रसेन तोयार्थः।
क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये तेचाष्टपलिके च॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽमूनि।
त्रिफलैले त्वङ्ग मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम्॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे।
मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः॥ (चि० ७।७३-७५)

२. खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य।
द्रव्याणि चूर्णितानि च षट् पलिकान्यत्र देयानि॥
त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः।
सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम्॥ (चि० ७।७६, ७७)

कारी है। इसका लेप करके धूप में बैठने से मण्डल कुष्ठ और कृमियों का नाश होता है।[1]

चिकित्सास्थान के २४वें अध्याय में इन्द्र और सौत्रामणि यज्ञ की ओर संकेत करते हुए सुरापान के मूल्यों की ओर संकेत किया गया है। यह सुरा जिन विधियों से तैयार होती थी, उनमें उस युग में किण्व और किण्वबीज का तो अवश्य प्रयोग होता था, पर भभके द्वारा उड़ाने और चुआने का प्रयोग अभी आरंभ नहीं हुआ था।

दही, काँजी और सिरका

अरिष्ट, आसव, मद्य और सुरा जिन विधियों द्वारा तैयार की जाती थी, उनमें बहुधा खट्टापन भी आ जाता था। यह अम्लता सिरका या एसीटिक अम्ल बन जाने के कारण है। सिरका या शुक्त भी उसी प्रकार किण्व क्रिया से बनता है, जैसे मदिरा। अन्तर केवल विभिन्न किण्वों का है। दही और काँजी दूसरे प्रकार के किण्वों से तैयार होते हैं। इन सब पदार्थों की गिनती संयोग से चिकित्सा स्थान के एक स्थल (२९।६) पर आ गयी है[2]—

(१) दधि, (२) आरनाल (खट्टी काँजी), (३) सौवीर मदिरा, (४) शुक्त (सिरका), (५) तक्र (मट्ठा), (६) सुरा और (७) आसव।

शुक्त—साधारणतया सिरका गुड़ या गन्ने के रस से तैयार किया जाता था जिसे गुड़शुक्त भी कहते थे। मधु से बनाये गये सिरके को मधुशुक्त कहा गया है।[3]

चरकसंहिता के टीकाकार ने शुक्तों की परिभाषाएँ दी हैं,[4] जिनसे शुक्त तैयार किया जाना स्पष्ट हो जायगा।

१. कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन।
मांसेषु तोयकार्यं कार्यं च पिष्टे च किण्वे च॥
तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितं प्रलेपनं शस्तम्।
मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नं च॥ (चि० ७।८९, ९०)

२. कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः॥ (चि० २९।६)

३. भूर्जग्रन्थिर्विडं मुस्तं मधुशुक्तं चतुर्गुणम्। (चि० २६।२२७)

४. (क) कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च।
यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते॥

काञ्जी—टीकाकार की परिभाषा के अनुसार वर्षा ऋतु के चावल या आशु-धान्य को कूटकर जल मिलाकर तब तक बन्द करके रख दे जब तक खट्टापन न आये। इस विधि से कांजी तैयार होती है।[1] कांजी ज्वर और दाह को नाश करती है और मलबद्धता दूर करती है।[2]

धान्याम्ल—कुल्माष को चावल के माँड़ के साथ थोड़ा-सा पकाकर जो कांजी बनती है, वह 'धान्याम्ल' कहलाती है।[3] चरकसंहिता में संग्रहणीय पदार्थों की सूची में धान्याम्ल को भी स्थान मिला है (सू० १५।७)। कल्पस्थान में धान्याम्ल के

(कन्द मूल फलादि को तेल और लवण मिलाकर किण्वक्रिया के लिए रख दिया जाय तो शुक्त बनता है।)

(ख) यन्मस्त्वादिशुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकांजिकम्।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते॥

मस्तु (मट्ठा) आदि को गुड़, शहद और कांजी के साथ शुद्ध बर्तन में अन्न के ढेर में तीन रात रखने पर 'चुक्र' बनता है।

(ग) गुडाम्बुना स तैलेन कन्दशाकफलैस्तथा।
आभृतं चाम्लतां यातं गुडशुक्तं तदुच्यते॥

(गुड़ के रस में तेल, कन्द, शाक, फल मिलाकर तब तक रखे कि खट्टापन आ जाय, इस प्रकार गुड़शुक्त बनता है।

(घ) एवमेवेक्षुशुक्तं स्याद् मृद्वीकासंभवं तथा।
(गुडशुक्त के समान ही ईख के रस का और मुनक्कों का शुक्त बनता है।

(ङ) जम्बीरस्वरसप्रस्थं मधुनः कुडवं तथा। तावच्च पिप्पलीमूलादेकीकृत्य घटे क्षिपेत्। धान्यराशौ स्थितं मासं मधुशुक्तं तदुच्यते॥

(नीबू का रस १ प्रस्थ और शहद १ कुडव लेकर पिप्पली मूल डालकर घड़े में बन्द करे और अन्न के ढेर में एक मास रखे, तो मधुशुक्त तैयार होगा।)

१. आशुधान्यं क्षोदितञ्च बालमूलन्तु खण्डशः।
कृतं प्रस्थमितं पात्रे जलं तत्राढकं क्षिपेत्॥
तावत् सन्धाय संरक्षेत् यावदम्लत्वमागतम्।
काञ्जिकं तत्तु विज्ञेयमेतत् सर्वत्र पूजितम्॥

२. दाहज्वरापहं स्पर्शात् पानाद् वातकफापहम्।
विबन्धघ्नमवस्रंसि दीपनं चाम्लकाञ्जिकम्॥ (सू० २७।१९२)

३. कुल्माषो धान्यमण्डेन चाभृतं कांजिकम् भवेत्।

साथ फलाम्ल और दध्यम्ल को भी गिनाया है। इनको वातरोग में गुणकारी बताया गया है।[१]

तुषोदक––कल्पस्थान के उपर्युक्त उल्लेख में सुरा और सौवीरक तथा धान्याम्लादि के साथ तुषोदक का नाम आता है। चिकित्सास्थान में ज्वरनाशक जो योग दिये गये हैं, उनमें से एक की सूची में इसका भी उल्लेख है।[२] तुषोदक जौ या माष की भूसी को पानी के साथ थोड़ा-सा गरम करके तैयार किया जाता था।

दधि––दधि का उल्लेख तो अनेक स्थलों पर चरक में किया गया है। दधि का प्रयोग इस देश की अति प्राचीन परम्परा में है, अतः दही जमाने का विस्तार हमें साहित्य में नहीं मिलता। दधि के साथ चरक में दधिमण्ड[३] अर्थात् दही के ऊपर के पानी, दधिमस्तु अर्थात् दही में दुगुना पानी मिलाकर बनाये गये मट्ठा,[४] दधिसर अर्थात् दही के ऊपर जमी मलाई[५] और दध्यम्ल का उल्लेख कई स्थलों पर आया है।[६]

धूमपान और सिगार (धूमवर्ति)

चिकित्सा कार्य में अनेक प्रकार के धूमों का प्रयोग चरक की एक विशेषता है। आजकल तंबाकू के धूम का आनन्द लेने के लिए जिस प्रकार बीड़ी, सिगरेट और सिगार हैं, उसी प्रकार चरक ने भी धूमवर्तियों की चर्चा की है। ये धूमवर्तियाँ वसा (चर्बी), घृत और मोम (मधूच्छिष्ट) की तैयार की जाती थीं और इनमें मधुवर्ग की बहुत-सी

१. तानि च यथादोषं प्रयुञ्जीत सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकधान्याम्लफलाम्लदध्यम्लादिभि र्वाते। (क० १।१२)

२. तेन कषायेणतेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डारनालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रे विपाचयेत्। (चि० ३।२६७)
तुषोदक की परिभाषा "वनौषधिदर्पण" कार ने इस प्रकार दी है––
सतुषयवकाञ्जिकम्। भृष्टान् माषतुषान् सिद्धान् यवांस्तु चूर्णसंयुतान्। आभृतानम्भसा तद्वज्जातं तच्च तुषोदकम्॥ तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः।

३. दधिमंडेन वा युक्तम्। (क० ८।१०)

४. विपाच्यमूत्रे दधिमस्तु संयुते। (सि० ११।३२)

५. दध्नः सरेण वा कार्यम्। (चि० ५।६८)

६. सुरा समण्डा दध्यम्लम्। (चि० २४।१६१)

ओषधियों का प्रयोग होता था।[1] सिर की पीड़ा, जुकाम, नेत्रवेदना, खाँसी, हिक्का, श्वास, गलग्रह, दन्तदौर्बल्य, कान, नाक अथवा आँख दोष, दन्तशूल, गलशुण्डी, उपजिह्विका, केशपतन आदि रोगों में श्वेता, ज्योतिष्मती, हरिताल, मनःशिला, अगुरु, तेजपात आदि सुगन्धित द्रव्यों का उपयोग होता था। इस प्रयोग का नाम मूर्ध-विरेचन था।[2] धूमपान मुख से और नाक से दोनों से करने का विधान है (सिर, आँख और नाक के रोगों में नाक से और गले के रोगों में मुख से)। नाक से धुआँ भीतर ले जाय, तो मुँह से बाहर निकाले, पर मुँह से भीतर लिया गया धुआँ नाक से बाहर न निकाले, नहीं तो आँखों को हानि होगी।[3] धूमपान करने की नली या सिगार को "धूम-नेत्र" (Smoking pipe) कहते हैं। यह सीधा होता है, और इसके मार्ग में तीन फूले हुए कोष होते हैं। इसका आगे का मुख इतना चौड़ा होता है कि बेर की गुठली इसमें से जा सके। बस्ति-नली (enema tube) जिन द्रव्यों की बनी होती है, उन्हीं का धूमनेत्र भी बनता है।[4] चिकित्साविषयक इस धूमपान में तंबाकू का उल्लेख नहीं है।

नस्यकर्म और अणु तैल

अनेक रोगों का शमन नस्यकर्म से होता था। रुई के फाहे (अर्थात् पिचु) से नाक में प्रति दूसरे दिन तीन-तीन बार तेल डालने का विधान है।[5] इस काम के लिए जिस तैल का विशेष व्यवहार होता था उसे "अणु तैल" कहा गया है। यह तैल

१. वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युयुक्तांवरौषधैः।
वर्तिं मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूममाचरेत्॥ (सू० ५।२५-२६)

२. श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गन्धाश्चागुरुपत्राद्या धूमं मूर्ध विरेचने॥ (सू० ५।२६-२७)

३. धूमयोग्यः पिबेद्दोषे शिराघ्राणाक्षिसंश्रये।
घ्राणेनास्येन कण्ठस्थे मुखेन घ्राणपो वमेत्॥
आस्येन धूमकवलान् पिबन् घ्राणेन नोद्वमेत्।
प्रतिलोमं गतो ह्याशु धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषी॥ (सू० ५-४६-४८)

४. ऋजु त्रिकोषाफलितं कोलास्थ्यग्रप्रमाणितम्।
वस्तिनेत्रसमद्रव्यं धूमनेत्रं प्रशस्यते॥ (सू० ५।५०-५१)

५. स्निग्धस्विन्नोत्तमाङ्गस्य पिचुना नावनैस्त्रिभिः।
त्र्यहात् त्र्यहाच्च सप्ताहमेतत् कर्म समाचरेत्॥ (सू० ५।६९)

चन्दन, अगुरु, तेजपात, दारुहल्दी का छिल्का, मुलहठी, बला, प्रपौण्डरीक, छोटी इलायची, वायुविडंग, बेल, उत्पल, सुगन्धबला, खस, केवड़ी मोथ, दालचीनी, मोथा, कपूरी, स्थिरा, जीवन्ती, पृश्निपर्णी, देवदार, शतावरी, रेणु, बृहती, व्याघ्री, सुरभी और पद्मकेशर को सौ गुने वर्षाजल में पकाकर तैयार किया जाता था।[1] तेल का दस गुना कषाय (अर्थात् जितना तेल बनाना है, उसका दस गुना) जब बच रहता था, तो इसे आग पर से उतार लेते थे। इस कषाय का फिर दशांश लेकर, फिर उसमें उतना ही तेल मिलाते थे, और फिर तब तक उबालते थे कि तेल ही बच रहे। एक ही तेल के साथ यह प्रक्रिया दस बार की जाती थी। अन्तिम उबाल में बकरी का दूध भी मिला देते थे। इस प्रकार अणु तैल तैयार हो जाता था।[2] स्पष्टतया यह अणु तैल अनेक सुगन्धित तैलों का मिश्रण है।

जैसे आजकल शुद्ध कार्यों के लिए आसुत जल (distilled water) का प्रयोग करते हैं, उस प्रकार उस समय "माहेन्द्रविमलेऽम्भसि" अर्थात् वर्षा द्वारा आकाश से गिरे हुए शुद्ध जल का प्रयोग करते थे।[3]

तेल के विविध उपयोग

चरक के समय में तेल का प्रयोग अनेक कार्यों में होने लगा था। सिर की पीड़ा से बचने के लिए नित्य प्रति सिर में तैल-निषेवण (सिर की तेल से मालिश), कान में तेल की बूँद डालना (कर्णतर्पण), शरीर में तेल की मालिश (स्नेहाभ्यङ्ग) और पैर में तेल की मालिश (पादाभ्यङ्ग), इन क्रियाओं का उल्लेख सूत्रस्थान में विस्तार से है। तेल के गरारे या कुल्ला करने के लिए तैल-गण्डूष (oil gargles बताये गये हैं। (सू० ५।७८–९२)

सुगन्धित द्रव्य

यह कहना कठिन है कि गुलाब, चमेली आदि का इत्र तैयार किया जा सकता था या नहीं। तेल बनाने की जो विधियाँ दी गयी हैं, उनमें उबालने, पकाने का उल्लेख

१. सू० ५।६३-६६

२. तैलाद्दशगुणं शेषं कषायमवतारयेत्।
तेन तैलं कषायेण दशकृत्वो विपाचयेत्॥
अथास्य दशमे पाके समांशं छागलं पयः।
दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्य संविधिः॥ (सू० ५।६६-६८)

३. विपाचयेच्छतगुणे माहेन्द्रे विमलेऽम्भसि। (सू० ५।६६)

८ अंगुल की होती थी। इसका आगे का मुँह इतना चौड़ा होता था कि इसमें मूँग या मटर प्रवेश पा सके,[१] इसका पुटक बैल, भैंसे, हिरण, सुअर, शूकर या बकरे की बस्ति (मूत्राशय) का बना होना चाहिए, और यह पुटक बस्तिनेत्र के साथ डोरे या मजबूत सूत्र से बाँध देना चाहिए।[२] यदि पशुओं की बस्ति न मिले तो प्लव पक्षी के गले या चमगादड़ के चमड़े का प्रयोग करना चाहिए।[३]

बस्तिकर्म के लिए गुडूची (गिलोय), त्रिफला आदि पंचमूल, मैनफल, और बकरे का मांस पानी में पकाया जाता था। इसे छानकर फिर इसमें बहुत-सी ओषधियाँ मिलाकर गरम करते, फिर गुड़, घी, तैल मधु और नमक मिलाते, और फिर खज (मथानी) से मथते, और इस प्रकार प्राप्त द्रव्य को बस्ति में भरते, और बाद को सावधानी से रोगी की गुदा में तेल लगाकर (स्निग्ध करके) बस्तिनेत्र प्रविष्ट कराते थे। विस्तार से इस प्रक्रम का वर्णन दिया गया है। बस्तिकर्म द्वारा अनेक रोगों में विभिन्न द्रव्य गुदा मार्ग से भीतर प्रविष्ट कराये जाते थे।

उत्तर बस्तिकर्म और पुष्पनेत्र (Urethral douchesand catheters)--मूत्रमार्ग से जो बस्तिकर्म किया जाता है उसे 'उत्तर बस्ति' कहते हैं। इस काम के लिए सोने या चाँदी के बने पतले चिकने चमेली (जाति) या अश्वहन (कनेर) के फूल के डंठल के आकार के तथा सरसों के दाने के बराबर छेदवाले ट्यूबों का प्रयोग होता था। इन्हें 'पुष्प नेत्र' कहते थे। ये १२ अंगुल लंबे और दो कानों से युक्त होते थे।[४] मूत्रनाड्य में विशेष ओषधियों से बनायी गयी बत्तियाँ (वर्ति) भी चिकित्सक के निरीक्षण में प्रविष्ट करायी जाती थीं।[५] स्त्रियों के योनिशूल में भी औषधसंस्कृत उत्तरबस्ति का प्रयोग किया जाता था। इनके काम का पुष्पनेत्र १० अंगुल का होता था और इसका छेद मूँग के दाने के बराबर।[६]

विष और उनका परीक्षण

चिकित्सा स्थान के २३ वें अध्याय में विषों का विस्तार से उल्लेख है। विषों के साधारणतया दो भेद हैं—(१) जंगमविष (animal poison) अर्थात् पशुओं की

१. सि० ३।७-१० २. सि० ३।१०-१२ ३. सि० ३।१३-२७
४. पुष्पनेत्रं तु हैमंस्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्। जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्। रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलम्। (सि० ९।५०-५१)
५. सि० ९।५७-६१ ६. सि० ९।६५-६९

दाढ़ों से उत्पन्न विष, जैसे साँप, कीट, चूहा, मकड़ी, बिच्छू, छिपकली, जोंक, मेंढक, शेर, व्याघ्र, लोमड़ी, भालू, कुत्ता, नेवला आदि के काटने से। (२) स्थावर विष, जो मुस्तक, पौष्कर, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, शृंगीविष, हालाहल आदि वानस्पतिक पदार्थों से प्राप्त होते हैं। इन वर्गों के अतिरिक्त **गर-संज्ञक** विष भी है, जो धीरे-धीरे शरीर में रोग उत्पन्न करता है, और जो अनेक द्रव्यों के संयोग से बनता है।[1] विष के निवारण की २४ विधियाँ बतायी गयी हैं, जिनमें वेणिकाबन्धन (कसकर बाँध देना, जिससे विष आगे न फैले), निष्पीडन, उत्कर्त्तन, विष-चूषण, रक्तस्रावण, क्षार प्रयोग और ओषधि सेवन मुख्य हैं।[2] राजा के संरक्षकों को विशेष सावधानी रखनी पड़ती थी कि शत्रु उसे विष न दे दें।[3]

जैसे ही किसी व्यक्ति पर सन्देह हो कि इसने भोजन में विष दिया है, उस भोजन को खिलाने से पूर्व आग पर फेंकना चाहिए। विष द्वारा आग की ज्वाला में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[4]

विष के संयोग से अग्नि की ज्वाला (अर्चि) में विचित्र रंग प्राप्त होते हैं, जैसे मोरपंख में। ज्वाला से निकला धुआँ भी तीक्ष्ण, असह्य और रूक्ष होता है, और इसमें से ऐसी गन्ध निकलती है मानों मुर्दा जल रहा हो (कुणप)। आग में चट-चट शब्द भी सुनाई दे सकता है। ज्वाला की जिह्वा चक्कर खानेवाली होती है अथवा विष से कभी-कभी यह बुझ भी जाती है।[5]

ज्वाला द्वारा किसी भी पदार्थ के परीक्षण का संभवतः यह सबसे पुराना उल्लेख है। रसायनशास्त्र के विद्यार्थी ज्वाला परीक्षण की उपयोगिता से परिचित हैं। आज तो रसायन का यह अंग बहुत विकसित हो गया है।

विष के अन्य परीक्षण––रसायन का सबसे उपयोगी अंग विश्लेषण और परीक्षण

१. चि० २३।९-१४ २. चि० २३।९, ३५-१०४

३. रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः।
आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत ॥ (चि० २३।१०६)

४. दृष्ट्वै न तु सहसा भोज्यं कुर्यात्तदन्नमग्नौ तु।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः ॥ (चि० २३।१०८)

५. शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णाक्षमरूक्षकुणपधूमश्च।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च रयात् ॥ (चि० २३।१०९)

तो है, जिससे मिश्रित तैल तैयार होते थे, पर तिल को अन्य गन्धों द्वारा बसाना स्पष्ट नहीं है। भभके की विधि का प्रयोग नहीं था, इसलिए गन्धियों का व्यवसाय किस प्रकार का था, यह कहना कठिन है। हाँ, सुगन्धित फूलों की मालाओं का पहनना वीर्यवर्द्धक, बलप्रद और सौमनस्यकारक माना गया है।[1]

सुगन्धित धूमों द्वारा कृमिनाश

सुगन्धित पदार्थों के धूमों द्वारा बहुत से लाभ प्राप्त किये जाते थे। इन पदार्थों की बनी धूमवर्तियों का प्रयोग हिक्का (दमा, श्वास, खाँसी) आदि के रोगों में लाभकर माना जाता था। चरकसंहिता में दोनों बृहतियों (कटेरियों) और अरहर (आढकी) की पत्तियों से बनी धूमबत्ती हिक्का में उपयोगी बतायी गयी है।[2] मोरपंख, बलाका (बगुले) की हड्डी, सरसों, चन्दन, और घी इनको जलाकर जो विषनाशक धुआँ बनता है, उसे घर, बिछौने, आसन और वस्त्र इनके कृमियों को मारनेवाला कहा गया है।[3] तगर, कुष्ठ, साँप का सिर, शिरीष का फूल इनका धुआँ सब विषों का नाश करनेवाला और सूजन को नष्ट करनेवाला कहा गया है।[4] जतु (लाख), खस, तेजपात, गुग्गुलु, भल्लातक, ककुभ, पुष्प, सर्ज रस (राल), और अपराजिता (श्वेता) का धुआँ उरग (साँप), आखु (चूहा), कीट और वस्त्रों के कृमियों को मारनेवाला बताया गया है।[5]

विरेचक

चरकसंहिता में सूत्रस्थान के १३ वें अध्याय को स्नेहाध्याय कहा गया है, और इसमें स्थावर स्नेह (vegetable oil) और जंगम स्नेह (animal oil) इस प्रकार के दो भेद किये गये हैं।[6] स्थावर स्नेहों में तिल, प्रियाल, अभिषुक, बिभीतक,

१. **वृष्यं सौगन्ध्यमायुष्यं काम्यं पुष्टिबलप्रदम्।**
सौमनस्यमलक्ष्मीघ्नं गन्धमाल्यनिषेवणम्॥ (सू० ५।९६)

२. **बृहतीद्वयाढकीपत्रधूमवर्तिस्तु हिक्काघ्नी।** (चि० २३।९७)

३. **शिखिबर्हबलाकास्थीनि सर्षपाश्चन्दनं च घृतयुक्तम्।**
धूमो गृहशयनासनवस्त्रादिषु शस्यते विषनुत्॥ (चि० २३।९८)

४. **घृतयुक्ते नतकुष्ठे भुजगपतिशिरः शिरीषपुष्पं च।**
धूमागदः स्मृतोऽयं सर्वविषघ्नः श्वयथुहृच्च॥ (चि० २३।९९)

५. **जतुसेव्यपत्रगुग्गुलुभल्लातककुभपुष्पसर्जरसाः।**
श्वेता च धूम उरगाखु कीटवस्त्रक्रिमिनुदग्र्यः॥ (चि० २३।१००)

६. **स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजंगमा।** (सू० १३।९)

चित्रा, अभया (हरड़), एरण्ड, मवूक, सर्षप (सरसों), कुसुम्भ, बिल्व, आरुक, मूलक, अतसी (अलसी) निकोचक, अक्षोड, करंज और शिग्रु के तेल प्रसिद्ध हैं। जांगम स्नेहों में पक्षी, मत्स्य, मृग आदि से प्राप्त दही, दूध, घी, मांस, वसा और मज्जा ये सम्मिलित हैं।[1]

सब प्रकार के तेलों में तिल के तेल को विशेष प्रधानता दी गयी है, बल के लिए भी और स्नेहन कर्म के लिए भी। परन्तु विरेचन (purgative) की दृष्टि से एरण्ड तैल को ही मुख्य बताया है।[2] विरेचक के रूप में एरण्ड तैल की खोज चरककालीन गवेषणा की सबसे बड़ी देन मानी जा सकती है। एरण्ड तैल (कास्टर ऑयल) का व्यवहार विरेचन के लिए आज तक विद्यमान है, और इतना कोमल, निर्दोष विरेचक और कोई नहीं है। पुराने कब्ज़ को दूर करने के लिए दूध के साथ एरण्ड तेल विरेकार्थ (विरेचन के लिए) प्रतिदिन पिलाने का आदेश है।[3]

काश्मर्य (गम्भारी), त्रिवृत, द्राक्ष, फालसा, त्रिफला, इनको साथ उबालकर जो क्वाथ बनता है, वह नमक और मधु के साथ खाने पर विरेचन का कार्य करता है।

विरेचन और बस्तिकर्म—चरक ने बस्तिकर्म (enema) को जितना बल दिया है, उतना चिकित्सा कार्य में अन्यत्र कम ही मिलेगा। आजकल की पद्धति में एनिमा साबुन के पानी का, नमक के पानी का, ग्लिसरीन का, और विशेष अवस्थाओं में अन्य ओषधियों का दिया जाता है। बस्तिकर्म के विशेष विस्तार के लिए सिद्धि स्थान का तीसरा, चौथा, और पाँचवाँ अध्याय देखना चाहिए। एनिमा देने की नली का नाम वस्तिनेत्र है, यह सुवर्ण, चाँदी, रांगा, ताँबा, पीतल, काँसा, हड्डी, लकड़ी, बाँस, हाथी दाँत, सींग आदि की बनायी जाती थी, और इसमें तीन कान होते थे। यह ६, १० या

१. तिलाः प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूकसर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसी निकोचकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जङ्गमामत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथापदिश्यते॥
(सू० १३।१०-११)

२. सर्वेषां तैल जातानां तिलतैलं विशिष्यते।
बलार्थे स्नेहने चान्यमैरण्डं तु विरेचने॥ (सू० १३।१२)

३. क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः।
बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णक्षीरौदनाशनः॥ (चि० २१।८३)

८ अंगुल की होती थी। इसका आगे का मुँह इतना चौड़ा होता था कि इसमें मूँग या मटर प्रवेश पा सके,[1] इसका पुटक बैल, भैंसे, हिरण, सुअर, शूकर या बकरे की बस्ति (मूत्राशय) का बना होना चाहिए, और यह पुटक बस्तिनेत्र के साथ डोरे या मज़बूत सूत्र से बाँध देना चाहिए।[2] यदि पशुओं की बस्ति न मिले तो प्लव पक्षी के गले या चमगादड़ के चमड़े का प्रयोग करना चाहिए।[3]

बस्तिकर्म के लिए गुडूची (गिलोय), त्रिफला आदि पंचमूल, मैनफल, और बकरे का मांस पानी में पकाया जाता था। इसे छानकर फिर इसमें बहुत-सी ओषधियाँ मिलाकर गरम करते, फिर गुड़, घी, तैल मधु और नमक मिलाते, और फिर खज (मथानी) से मथते, और इस प्रकार प्राप्त द्रव्य को बस्ति में भरते, और बाद को सावधानी से रोगी की गुदा में तेल लगाकर (स्निग्ध करके) बस्तिनेत्र प्रविष्ट कराते थे। विस्तार से इस प्रक्रम का वर्णन दिया गया है। बस्तिकर्म द्वारा अनेक रोगों में विभिन्न द्रव्य गुदा मार्ग से भीतर प्रविष्ट कराये जाते थे।

उत्तर बस्तिकर्म और पुष्पनेत्र (Urethral douchesand catheters)--मूत्रमार्ग से जो बस्तिकर्म किया जाता है उसे 'उत्तर बस्ति' कहते हैं। इस काम के लिए सोने या चाँदी के बने पतले चिकने चमेली (जाति) या अश्वहन (कनेर) के फूल के डंठल के आकार के तथा सरसों के दाने के बराबर छेदवाले ट्यूबों का प्रयोग होता था। इन्हें 'पुष्प नेत्र' कहते थे। ये १२ अंगुल लंबे और दो कानों से युक्त होते थे।[4] मूत्र-नाड्य में विशेष ओषधियों से बनायी गयी बत्तियाँ (वर्ति) भी चिकित्सक के निरीक्षण में प्रविष्ट करायी जाती थीं।[5] स्त्रियों के योनिशूल में भी औषधसंस्कृत उत्तरबस्ति का प्रयोग किया जाता था। इनके काम का पुष्पनेत्र १० अंगुल का होता था और इसका छेद मूँग के दाने के बराबर।[6]

विष और उनका परीक्षण

चिकित्सा स्थान के २३ वें अध्याय में विषों का विस्तार से उल्लेख है। विषों के साधारणतया दो भेद हैं---(१) जंगमविष (animal poison) अर्थात् पशुओं की

१. सि० ३।७-१० २. सि० ३।१०-१२ ३. सि० ३।१३-२७

४. पुष्पनेत्रं तु हैमंस्याच्छ्लक्ष्णमौत्तरबस्तिकम्। जात्यश्वहनवृन्तेन समं गोपुच्छसंस्थितम्। रौप्यं वा सर्षपच्छिद्रं द्विकर्णं द्वादशांगुलम्। (सि० ९।५०-५१)

५. सि० ९।५७-६१ ६. सि० ९।६५-६९

दाढ़ों से उत्पन्न विष, जैसे साँप, कीट, चूहा, मकड़ी, बिच्छू, छिपकली, जोंक, मेंढक, शेर, व्याघ्र, लोमड़ी, भालू, कुत्ता, नेवला आदि के काटने से। (२) स्थावर विष, जो मुस्तक, पौष्कर, वत्सनाभ, बलाहक, कर्कट, शृंगीविष, हालाहल आदि वानस्पतिक पदार्थों से प्राप्त होते हैं। इन वर्गों के अतिरिक्त **गर-संज्ञक** विष भी है, जो धीरे-धीरे शरीर में रोग उत्पन्न करता है, और जो अनेक द्रव्यों के संयोग से बनता है।[१] विष के निवारण की २४ विधियाँ बतायी गयी हैं, जिनमें वेणिकाबन्धन (कसकर बाँध देना, जिससे विष आगे न फैले), निष्पीडन, उत्कर्त्तन, विष-चूषण, रक्तस्रावण, क्षार प्रयोग और ओषधि सेवन मुख्य हैं।[२] राजा के संरक्षकों को विशेष सावधानी रखनी पड़ती थी कि शत्रु उसे विष न दे दें।[३]

जैसे ही किसी व्यक्ति पर सन्देह हो कि इसने भोजन में विष दिया है, उस भोजन को खिलाने से पूर्व आग पर फेंकना चाहिए। विष द्वारा आग की ज्वाला में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं।[४]

विष के संयोग से अग्नि की ज्वाला (अर्चि) में विचित्र रंग प्राप्त होते हैं, जैसे मोरपंख में। ज्वाला से निकला धुआँ भी तीक्ष्ण, असह्य और रूक्ष होता है, और इसमें से ऐसी गन्ध निकलती है मानों मुर्दा जल रहा हो (कुणप)। आग में चट-चट शब्द भी सुनाई दे सकता है। ज्वाला की जिह्वा चक्कर खानेवाली होती है अथवा विष से कभी-कभी यह बुझ भी जाती है।[५]

ज्वाला द्वारा किसी भी पदार्थ के परीक्षण का संभवतः यह सबसे पुराना उल्लेख है। रसायनशास्त्र के विद्यार्थी ज्वाला परीक्षण की उपयोगिता से परिचित हैं। आज तो रसायन का यह अंग बहुत विकसित हो गया है।

विष के अन्य परीक्षण——रसायन का सबसे उपयोगी अंग विश्लेपण और परीक्षण

१. चि० २३।९-१४ २. चि० २३।९, ३५-१०४

३. रिपुयुक्तेभ्यो नृभ्यः स्वेभ्यः स्त्रीभ्योऽथवा भयं नृपतेः।
आहारविहारगतं तस्मात् प्रेष्यान् परीक्षेत॥ (चि० २३।१०६)

४. दृष्ट्वै न तु सहसा भोज्यं कुर्यात्तदन्नमग्नौ तु।
सविषं हि प्राप्यान्नं बहून्विकारान् भजत्यग्निः॥ (चि० २३।१०८)

५. शिखिबर्हविचित्रार्चिस्तीक्ष्णाक्षमरूक्षकुणपधूमश्च।
स्फुटति च सशब्दमेकावर्तो विहतार्चिरपि च स्यात्॥ (चि० २३।१०९)

है। ओषधियों की परीक्षा आजकल पशुओं पर भी करते हैं। चरक ने भी विष-परीक्षण के लिए कुछ प्रयोग दिये हैं--

(१) पात्र में रखा गया विषयुक्त भोजन विवर्ण (decolourised) हो जाता है।

(२) इस भोजन पर बैठनेवाली मक्खियाँ संभवतः मर जायेंगी।

(३) इस विषाक्त भोजन को कौए खायें, तो उनका स्वर क्षीण पड़ जायगा।

(४) इस विषाक्त अन्न से चकोर पक्षी की आँखें रंगरहित हो जाती हैं।[1]

(५) विषयुक्त पानी में नीली रेखाएँ पड़ती है, और विवर्णता आ जाती है।

(६) विषपान किया हुआ व्यक्ति अपनी छाया नहीं देख पाता, या विकृत छाया देखता है।[2]

(७) विषयुक्त पानी में लवण डालने पर फेन माला उठती है (effervescence)।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा विष लवण के साथ फेनमाला देगा। संभवतः अम्लीय विष होगा जो सोडायुक्त नमक के साथ फेन देता है। संखिया, तूतिया आदि के विष ज्वालाओं में विकार उत्पन्न करते हैं।

उपकरण और संभार

ओषधि-निर्माण और चिकित्सा में बहुत-से ऐसे उपकरणों का प्रयोग होता है, जिनका व्यवहार रसायनशालाओं में भी किया जाता है। वैदिक युग में इन उपकरणों का विकास यज्ञकर्म में हुआ। आयुर्वेद ने भी इन उपकरणों को थोड़े-से भेद के साथ अपनाया। पाकशाला के दैनिक कृत्यों में भी इन उपकरणों से सहायता मिली। वस्तुतः यज्ञस्थली, पाकस्थली, और आयुर्वेदस्थली, तीनों के संभार में बहुत कुछ साम्य है, और तीनों के सहयोग से उपकरणों का विकास हुआ।

चरक संहिता के सूत्रस्थान के पञ्चदश अध्याय में संभारों की लम्बी सूची है उनमें से हम यहाँ उनका ही उल्लेख करेंगे, जिनका उपयोग उपकरणों के रूप में किया जाता है। उपकरण ये हैं[3]—

१. पात्रस्थं च विवर्णं भोज्यं स्यान्मक्षिकाश्च मारयति।
क्षामस्वरांश्च काकान् कुर्याद् विरजेच्चकोराक्षि॥ (चि० २३।११०)

२. पाने नीला राजी वैवर्ण्यं स्वांछा च नेक्षते छायाम्।
पश्यति विकृतामथवा लवणाक्ते फेनमाला स्यात्॥ (चि० २३।१११)

३. सू० १५।७

१. पात्री–Dish or beaker
२. आचमनीय–Sipping spoon
३. उदकोष्ठ–Water reservoir
४. मणिक (मटका)–Pot
५. घट (घड़ा)–Cooking pot
६. पिठर (थाली)–Pan
७. पर्योग (कढ़ाई)–Cooking pan
८. कुम्भी–Jug
९. कुम्भ–Pitcher
१०. कुण्ड (कटोरा)–Bowl
११. शराव (प्याला)–Saucer
१२. दर्वी (कलछुल)–Ladle
१३. कट (चटाई)–Mat
१४. उदञ्चन (ढकना)-Cover for pots
१५. परिपचन (पकाने की देगची)–Frying pan
१६. मन्थान (मथनी)–Churner
१७. चर्म–Skins
१८. चेल (वस्त्र)–Cloth
१९. सूत्र (डोरी)–Thread
२०. कार्पास (कपास)–Cotton
२१. ऊर्ण (ऊन)–Wool
२२. भृंगार (गंगासागर)–Kettle
२३. उपधान (बट्टा)–Roller stone
२४. दृषद (सिल)–Grinding slab
२५. धूम नेत्र–smoking pipe
२६. बस्तिनेत्र–Enema tube
२७. उत्तरबस्तिक–Catheter
२८. कुशहस्तक (झाड़ू)–Broom
२९. तुला (तराजू)–Balance
३०. मानभाण्ड (नपना)–Measuring vessel.

आज हमारे लिए यह कल्पना करना कठिन है कि इन उपकरणों की रूपरेखा चरक के समय में कैसी रही होगी, पर जैसी इस देश की परम्परा है, उससे प्रतीत होता है कि उनका रूप आज के रूप से बहुत भिन्न न होगा। ऊपर जो सूची दी गयी है, वह पूरी भी नहीं है; उदाहरणार्थ इसमें मुसल, उलूखल, शूर्प, पावन उपकरण (छाननेवाले), चालनी आदि का निर्देश नहीं है जिनका प्रयोग याज्ञिक काल में ही देश में होने लगा था, और जिनकी ओर संहिता में अन्यत्र संकेत भी किया गया है।[1] मानभाण्ड और तुला ऊपर की सूची की विशेषताएँ हैं, क्योंकि रसायन में नापना और तौलना नित्य प्रति का कार्य है।

रासायनिक प्रक्रियाएँ

प्रारम्भिक काल में रासायनिक विधियाँ अपनी प्रक्रियाओं की दृष्टि से सीमित ही थीं। चरकसंहिता से हम उन प्रक्रियाओं की जिन-जिन का व्यवहार विभिन्न योगों के तैयार करने में किया जाता था। एक सूची बनाने का प्रयत्न करेंगे। विमान-

१. स्थाली (Kettle) (वि० ७।१७); उलूखल (वि० ७।२१); किलिञ्जक या

स्थान के प्रथम अध्याय में भोजन के विस्तार की व्याख्या करते हुए संहिताकार ने कुछ ऐसी बातें कही हैं, जो समस्त औषध-योगों के संबंध में भी सत्य हैं।

आहार-विधि के ८ विशेष आयतन (factors) हैं[१]—

१. प्रकृति–Natural quality	५. देश–Habitat
२. करण–Preparation	६. काल–Stage or time
३. संयोग–Combination	७. उपयोग–Rules of use
४. राशि–Measure or quantum	८. उपयोक्ता–User

इन ८ आयतनों पर किसी भी आहार पदार्थ का उपादेय होना, न होना निर्भर है। पदार्थों का अपना जो आभ्यन्तरिक स्वभाव है उसे प्रकृति कहते हैं, जैसे पदार्थों में गुरुत्व (भारीपन) आदि का होना। द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों का अभिसंस्कार (परिवर्तन–modification) ही 'करण' है। अपने गुणों से भिन्न दूसरे गुण (अर्थात् गुणान्तर) का आ जाना ही संस्कार है।

यह गुणान्तराधान (chemical change) निम्न प्रक्रियाओं से हो सकता है—

(१) तोय—पानी के योग से (Solution)

(२) अग्निसन्निकर्ष–गरम करके (Application of heat)

(३) शौच–साफ़ करना, छानना आदि (Filtration and clarification)

(४) मन्थन–मथकर (Churning and emulsification)

(५) देश (Place effect or storing)

(६) काल–समय पर परिपक्वता (Time effect)

(७) वासन–सुगंध देकर (Flavouring)

(८) भावना (Impregnation)

इनके अतिरिक्त सुरक्षण विधियों (काल प्रकर्ष), तथा जिस बर्तन में द्रव्य रखा गया है, उसपर भी द्रव्यों का गुणान्तर होना निर्भर है।[२]

चटाई (mat); कलश (pot) (वि० ७।२२); उडुप या पिधान (lid); अहत वस्त्र (बिना फटा नया कपड़ा, छानने के लिए); वस्त्रपट्ट (मुँह बाँधने का कपड़ा) (वि० ७।२६)।

१. तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि (वि० १।२१)

२. तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादि-

संयोग (chemical combination) दो या दो से अधिक द्रव्यों के संहति-भाव का नाम है। संयोग द्वारा ऐसे-ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं, जो अकेले-अकेले उन द्रव्यों में नहीं थे। रासायनिक संयोग की यह परिभाषा आज भी रसायन के क्षेत्र में सच्ची है। इस रासायनिक संयोग के दो उदाहरण दिये गये हैं——(१) मधु और घी का संयोग, और (२) मधु, मछली और दूध। ये सब पदार्थ अलग-अलग तो गुणकारी हैं, पर इन्हें मिलाकर खाया जाय, तो ये विष का काम करते हैं।[1]

सर्वग्रह मात्रा और परिग्रह मात्रा का नाम राशि है। माप का पूर्ण योग (total measure) सर्वग्रह मात्रा कहलाता है, और अलग-अलग अवयवों के माप को परिग्रह-मात्रा (measure of individual constituents) कहते हैं। सबकी अलग-अलग तौल या माप परिग्रह कहलाता है, और सबको मिलाकर इकट्ठा तौलने या मापने को 'सर्वग्रह' कहते हैं।[2]

ऊपर सूची में जो प्रक्रियाएँ दी गयी हैं, उनमें तोय, अग्नि-सन्निकर्ष, शौच, मन्थन और भावना विशेष उल्लेखनीय हैं। स्वभावतः इन प्रक्रियाओं के अवान्तर भेद भी बहुत हो सकते हैं, जिनको ग्रन्थकार ने सूची में यहाँ नहीं दिया है। विमानस्थान के सप्तम अध्याय में दिये गये योगों में से इन प्रक्रियाओं को एकत्र किया जा सकता है[3]——

गुणयोगः। करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः। संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासन भावनादिभिःकालप्रकर्ष भाजनादिभिश्चाधीयन्ते। (वि० १।२२)

१. **संयोगः पुनर्द्वयोर्बहूनां वा द्रव्याणां संहतीभावः। सविशेषमारभतेयं पुनर्नैकैकशो द्रव्याण्यारभन्ते; तद्यथा——मधुसर्पिषोः, मधुमत्स्यपयसां च संयोगः। (वि० १।२२)**

२. **राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाण-ग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः, परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते। (वि० १।२२)**

३. **अथाहरेति ब्रूयात्....तान्याहृतान्यभिसमीक्ष्य खण्डशश्छेदयित्वा प्रक्षाल्य पानीयेन सुप्रक्षालितायां स्थाल्यां समावाप्य गोमूत्रेणार्धोदकेनाभिषिच्य साधयेत् सततमवघट्टयन् दर्व्या, तमुपयुक्त भूयिष्ठेऽम्भसि गतरसेष्वौषधेषु स्थालीमवतार्य सुपरिपूतं कषायं सुखोष्णं मदनफलपिप्पलीविडंगकल्कतैलोपहितं स्वर्जिकाल-वणितमभ्यासिच्य बस्तौ विधिवदास्थापयेदेनम्। (वि० ७।१७)**

१. आहरण-(लाना)–To bring
२. अभिसमीक्षण-अच्छी तरह जाँच करना–Close inspection
३. खण्डशः छेदन–टुकड़े-टुकड़े काटना––Cutting into pieces
४. पानीयेन प्रक्षालन–पानी से धोना––Washing with water
५. स्थाल्यां समावापन–हाँड़ी में रखना––Placing in kettle or flask
६. (उदकेन गोमूत्रेण) अभिषेचन––गोमूत्र और पानी से भिगोना–– Soaking in water or cow-urine
७. (दर्व्या सतत) अवघट्टन–कड़छी से बराबर चलाना––Constant stirring with laddle
८. अम्भ का उपयुक्त भूयिष्ठ होना–बहुत-साल उड़ जाना–Water mostly evapordated
९. औषध में गत-रस होना–औषध में से रस निकल आना–Extraction of juices
१०. स्थाली–अवतरण–हाँड़ी का आग से उतारना––Kettle removed from fire.
११. सुपरि पूतिकर्म–अच्छी तरह छानना–Thorough filtration

इन प्रक्रियाओं के अतिरिक्त अन्य योगों में से कुछ और प्रक्रियाएँ दी जाती हैं[२]––

१२. (उलूखले) क्षोदन––उलूखल में कूटना––Pounding in a mortar
१३. (पाणिभ्यां) पीडन––हाथ से दबाकर रस निकालना एवं रसग्रहण–– Taking out juice by hand-pressure
१४. समालोडन––अच्छी तरह मिलाना––Thorough mixing
१५. पूपलिका-कर्म–बाटी बनाना––Making cake
१६. (अंगारेषु) उपकुडन (उपकूलन)–अंगारों पर सेंकना––Baking on fire or cinders.

२. (क) **मूलकपर्णीं समूलाग्रप्रतानामाहृत्य खण्डशच्छेदयित्वोलूखले क्षोदयित्वा पाणिभ्यां पीडयित्वा रसं गृह्णीयात्, तेन रसेन लोहितशालितण्डुलपिष्टं समालोड्य पूपलिकां कृत्वा विधूमेष्वङ्गारेषूपकुड्य....(वि० ७।२१)**

अर्थ––मूलकपर्णी को जड़ और शाखा सहित लेकर छोटे-छोटे टुकड़े करे, फिर उलूखल में पीसे, और हाथ से मसल कर रस निचोड़े, फिर इस रस को

अन्यत्र—

१७. (किलिञ्जके) प्रस्तारण—चटाई पर फैलाना—Spreading on mat

१८. (आतपे) शोषण–धूप में सुखाना—Drying in sun

१९. (दृषदि) सूक्ष्म चूर्ण कर्म–सिल पर महीन पीसना—Pulverising on stone slab

२०. (आतपे) सुपरिभावितानि भावनकर्म–अच्छी तरह भावना देना–impregnation thorough

२१. स्नेह भावन कर्म–तेल से भावित करना—Impregnation with oil

२२. उपवेष्टन–लपेटना—Wrapping

२३. मृदावलेपन—मिट्टी से लेप करना—Pasting with clay

२४. उडुपेन पिधान कर्म–शकोरे से ढाकना—Covering with lid

२५. (निखात का) कुम्भस्योपरि समारोपण–एक घड़े को भूमि में गड़े दूसरे घड़े पर उलटा कर रखना—Placing mouth down-wards on another pot buried in the ground up to the neck.

२६. (गोमयैरुपचित्य) दाह कर्म–घड़े के चारों ओर कंडे चिनकर आग लगाना–Piling round cowdung cakes and igniting

२७. कुम्भ उद्धरण–घड़े का बाहर निकाल लेना—Removing out jug.

अब हम यहाँ तेल बनाने की एक विधि देते हैं जिससे रसायनशाला की कुछ अन्य

लाल शाली के चावल के आटे के साथ मिलाकर बाटी बनावे और फिर धूम रहित अंगारों पर बाटी को सेंके।

(ख) अथाश्वशकृदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्यातपे शोषयित्वोलूखले क्षोदयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्म चूर्णानि कारयित्वा विडंगकषायेण त्रिफला कषायेण वाऽष्टकृत्वो दशकृत्वो वाऽऽतपे सुपरिभावितानि भावयित्वा दृषदि पुनः सूक्ष्माणि चूर्णानि कारयित्वा नवे कलशे समावाप्यानुगुप्तं निधापयेत् (वि० ७।२२)

अर्थ—इसके बाद घोड़े की लीद लाकर बड़ी चटाई पर फैलाकर धूप में सुखावे, फिर उलूखल में कूटकर सिल पर महीन पीसे। फिर विडंग या त्रिफला के कषाय से ८ या १० बार धूप में अच्छी तरह भावना दे, फिर सिल पर महीन पीसकर नये घड़े में डालकर मुख बाँधकर सुरक्षित रख छोड़े।

प्रक्रियाओं पर भी प्रकाश पड़ेगा। इस विधि का उल्लेख भी विमान स्थान के सप्तम अध्याय से लिया गया है। विधि इस प्रकार है—

इसके बाद विडंग के क्वाथ में सने तिल्वक और उद्दालक के बिल्व मात्रा के (४ तोले) दो पिंड, और इससे आधी मात्रा के श्यामा और त्रिवृत् के दो पिंड, और इसी प्रकार इससे आधी मात्रा के दन्ती और द्रवन्ती के दो पिंड, और चव्य और चित्रक के दो पिंड लें। इस संभार या सामग्री को वायविडंग के क्वाथ के आधे आढक (१२८ तोले) में मिलाये, फिर इनमें एक प्रस्थ (६४ तोला) तैयार किया तेल मिलाकर अच्छी तरह चलाये (आलोड्य), फिर बड़े कड़ाहे (पर्योग) में डालकर अग्नि पर चढ़ा दे (अग्नौ अधिश्रित्य), अब आसन पर सुख से बैठकर तेल को निरन्तर देखता हुआ दर्वी या करछुल से टारे या घोंटे, और मृदु आँच पर सिद्ध करे।

जब यह देखे कि शब्द निकलना बन्द हो गया, फेन भी शान्त हो गया है, तेल साफ़ हो गया है और यथोचित (यथास्वं) गन्ध, वर्ण और रस बन गया है, अँगुलियों

(ग) तथा भल्लातकास्थी न्याहृत्य कलशप्रमाणेन चापोथ्य स्नेहभाविते दृढे कलशे सूक्ष्मानेकच्छिद्रब्रध्ने शरीरमुपवेष्टय मृदावलिप्ते समावाप्योडुपेन पिधाय भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्यैवान्यस्य दृढस्य कुम्भस्योपरि समारोप्य समन्ताद् गोमयैरुपचित्य दाहयेत्। स यदा जानीयात् साधु दग्धानि गोमयानि विगतस्नेहानि च भल्लातकास्थीनीति ततस्तं कुम्भमुद्धरेत्। अथ तस्माद् द्वितीयात् कुम्भात् स्नेहमादाय विडंगतण्डुलचूर्णैः स्नेहार्धमात्रैः प्रतिसंसृज्यातपे सर्वमहः स्थापयित्वा ततोऽस्मैमात्रां प्रयच्छेत् (वि० ७।२३)

अर्थ—१ कलश प्रमाण (१२०४ तोला) भिलावां की गुठली लेकर, कूटकर तेल से भावित (तेल सोखे हुए) ऐसे दृढ़ कलश में रखे जिसकी पेंदी में अनेक छोटे-छोटे छेद हों, और जिसके सारे शरीर पर मिट्टी लिपी हो और जो (वस्त्र से) ढँका हो, शकोरे से जिसका मुँह बंद हो। फिर इस घड़े को उलटा करके एक ऐसे दूसरे दृढ़ कुम्भ पर औंधा रख दे जो गड्ढे के भीतर कण्ठ तक दबा हो, और जो तेल से भावित हो। अब इसके चारों ओर गोबर के कण्डे चिन दे, और आग जला दे। जब सब कंडे जलकर बुझ जायँ और भल्लातकों का समस्त तेल पृथक् हो जाय, तब कुंभ को बाहर निकाल ले। इसके बाद दूसरे कुम्भ से तेल को निकाल कर तेल से आधी मात्रायुक्त वायविडंग की मिंगी के चूर्ण से मिलाकर सारा दिन धूप में रखे। इस प्रकार जो प्राप्त हो उसमें से मात्रापूर्वक पीने के लिए दे।

से मसलने पर (मृद्यमानं) ऐसी बत्ती बनती है जो न बहुत मृदु है और न बहुत कठोर, जो अँगुलियों में चिपकती भी नहीं, तो समझ ले कि अब उतारने का समय हो गया है।

इसके बाद उसे उतारकर ठंडा होने दे, ठंडा होने पर नये (बिना फटे, अहत) वस्त्र से छानकर (परिपूय), स्वच्छ दृढ़ घड़े में डालकर ढकने से ढक कर सफ़ेद वस्त्र पट्ट से ढाँप कर डोरी से अच्छी तरह बाँध (वस्त्र पट्टेन अवच्छाद्य, सूत्रेण सुबद्ध) कर सुरक्षित स्थान में रख दे।[1]

अब हम कुछ ऐसे वाक्यांश देंगे, जिनसे प्रक्रिया संबंधी अन्य कुछ रासायनिक परिभाषाओं पर प्रकाश पड़ेगा--

१. कुष्ठतालीसकल्कं बल्वजयूषे मैरेयसुरामण्डे तीक्ष्णे कौलत्थे वा यूषे मण्डूकपर्णीपिप्पलीसंपाके वा संप्लाव्य पाययेदेनाम् (शा० ८।४१)।

अर्थ--कुष्ठ और तालीस के कल्क (paste) को, बल्वज के यूष (juice) में, मैरेया सुरा के मण्ड (scum) में, अथवा तीक्ष्ण कौलत्थ के यूष में अथवा मण्डूकपर्णी और पिप्पली के संपाक (decoction) में घोलकर (संप्लाव्य, having dissolved) पिलाये।

(२) चित्रकोपकुञ्चिका कल्कं खरवृषभस्य वा जीवतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य दृषदि जर्जरीकृत्य बल्वजक्वाथादीनामाप्लावनानामन्यतमे प्रक्षिप्याप्लाव्य मुहूर्तस्थितमुद्धृत्य तदा प्लावनं पाययेदेनाम्। (शा० ८।४१)

अर्थ--चित्रक और उपकुंचिका के कल्क को अथवा मस्त वृषभ (सांड) के जीवित दाहिने कान को काटकर (उत्कृत्य) पत्थर पर पीसकर (जर्जरीकृत्य, mashed)

१. तिल्वकोद्दालकयोर्द्वौ बिल्वमात्रौ पिण्डौश्लक्ष्णपिष्टौ विडङ्गकषायेण तदर्धमात्रौ श्यामात्रिवृतयोः, अतोऽर्धमात्रौ दन्तीद्रवन्त्योः, अतोऽर्धमात्रौ च चव्यचित्रकयोरिति। एतं संभारं विडङ्गकषायस्यार्धाढकमात्रेण प्रतिसंसृज्य, तत्तैलप्रस्थं समावाप्य, सर्वमालोड्य, महति पर्योगे समासिच्याग्नावधिश्रित्यासने सुखोपविष्टः सर्वतः स्नेहमवलोकयन्नजस्रं मृद्वग्निना साधयेद्दर्व्या सततमवघट्टयन्। स यदा जानीयाद्विरमति शब्दः प्रशाम्यति च फेनः प्रसादमापद्यते स्नेहः, यथास्वं च गन्धवर्णरसोत्पत्तिः, स वर्तते च भैषज्यमङ्गुलिभ्यां मृद्यमानमनतिमृद्वनति। दारुणमनङ्गुलिग्राहि चेति, स कालस्तस्यावतारणाय। ततस्तमवतार्य शीतीभूतमहतेन वाससा परिपूय, शुचौ दृढे कलशे समासिच्य, पिधानेन पिधाय, शुक्लेन वस्त्रपट्टेनावच्छाद्य, सूत्रेण सुबद्धं सुनिगुप्तं निधापयेत्। (वि० ७।२६)

बल्वज क्वाथ आदि के आप्लावनों (supernatant fluids) के साथ किसी एक में मिलाकर (आप्लाव्य) या डालकर (प्रक्षिप्य) एक मुहूर्त भर रखकर उस आप्लावन को पीने के लिए दे।

यहाँ आप्लावन शब्द का उपयोग उस ऊपर के स्तर में रहनेवाले द्रव के लिए हुआ है, जिसे निथारा जा सकता है। ऊपर के स्तर के स्वच्छ भाग (supernatant part) के लिए "प्रसाद" (प्रसादं वारुण्या जलं, चि० ८।६९), और कभी मंड शब्द का (वारुणीमंडसंयुतैः चि० २४।१२५) प्रयोग हुआ है।

चरक की मान-परिभाषा

चरकसंहिता के कल्पस्थान के बारहवें अध्याय में तौलने-नापने के कुछ मान दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं (क० १२।८७–९७)।

६ ध्वंशी	=१ मरीचि
६ मरीचि	=१ रक्त सर्षप (सरसों)
८ रक्तसर्षप	=१ तंडुल
२ तंडुल	=१ धान्यमाष
२ धान्यमाष	=१ यव
४ यव	=१ अण्डिका
४ अण्डिका	=१ माषक (हेम,धान्यक)
३ माषक	=१ शाण
२ शाण	=१ द्रंक्षण (कोल,बदर)
२ द्रंक्षण	=१ कर्ष या सुवर्ण
२ सुवर्ण	=१ पलार्ध (शुक्ति, अष्टमिका)
५ पलार्ध	=१ पल (पालिका, बिल्व) = ४ तोला
२ पल	=१ प्रसृत (अष्टमान)
४ पल	=१ अञ्जलि या कुडव=१६तोला
२ कुडव	=१ मानिका=३२ तोला
४ कुडव	=१ प्रस्थ=६४ तोला
४ प्रस्थ	=१ आढक=२५६तोला
८ प्रस्थ	=१ कंस=५१२ तोला
४ कंस	=१ द्रोण (कलश)=२०४८ तोला
२ द्रोण	=१ शूर्प (कुम्भ)=४०९६ तोला
२ शूर्प	=१ गोणी (खारी,भार)= ८१९२ तोला
३२ शूर्प	=१ वाह
१०० पल	=१ तुला= ४०० तोला

ये मान शुष्क द्रव्यों के लिए हैं। द्रवों अथवा ताजी उखाड़ी वनस्पतियों के लिए इसका दुगुना मान लेना चाहिए। मान की दो विधियाँ प्रचलित थीं, एक कालिंग

और दूसरी मागध। इनमें से कालिंग की अपेक्षा मागध को अधिक श्रेष्ठ बताया गया है।[१] मान (measures) के विशेषज्ञों को 'मानविद्' कहा जाता था।

चरक के समय की ओषधियाँ और वनस्पतियाँ

चरक संहिता में २०० से अधिक वनस्पतियों और ओषधियों का उल्लेख आता है। इनकी सूची लैटिन नामों सहित नीचे दी जाती है।

अक्ष--Terminalia belerica

अक्षोट--Juglans regia या Aleurites triloba--अखरोट

अगुरु--Aquilaria agallocha

अग्निमन्थ--Clerodendron phlomoides या Premna spinesa--अरणी, टेकार

अङ्कोट--Alangium lamarkii--अंकोल (A. hexapetallum)

अजकर्ण--Vateria indica--सफेद डामर

अजगन्धा--Peucedanum grande--डुकु

अजमोद--Apium graveolens--अजमोद

अतसी--Linum Usitatissimum--तीसी, अलसी

अतिबला--Abutilon indicum--कंघी

अतिविषा--Aconitum heterophyllum--अतीस

अन्तःकोटर पुष्पी--Argyreia speciosa--समंदर सोख

अपराजिता (गिरिकर्णिका)--Clitoria ternatea

अपामार्ग--Achyranthes aspera--चिरचिटा, चिचिडा

अभीरुपत्री--Asparagus dumosus--दरियाई गजबेल (गुज०)

अम्बष्ठकी--Cissampelos pareira--पाढ़ी, दुःखनिर्विषी

अम्लचाङ्गरी--Oxalis corniculata--तिनपत्तिआ, अम्रूल

अम्लिका--Tamarindus indica--इमली

अम्लिका कन्द--Dioscorea oppositifolia--आंबलियोकन्द (गुज०)

अरिमेद--Acacia leucophloea--सफेद बबूल, रींझ

अर्क--Calotropis gigantea--मदार, आक

१. मानं च द्विविधं प्राहुः कालिंगं मागधं तथा।
कालिंगान्मागधं श्रेष्ठमेवं मानविदो विदुः॥ (कल्प० १२।१०५)

अर्जक—Ocimum gratissimum—दवना, रामतुलसी
अर्जुन—Terminalia arjuna—कौहा
अवाक्पुष्पी—Trichodeoma indicum—छोटा कुल्फा
अशोक—Saraca indica—अशोक
अश्मन्तक—Bauhinia racemosa—आपटा, वनराज
अश्वगन्धा—Withania somnifera—असगन्ध
अश्वत्थ—Ficus religiosa—पीपल
असन—Bridelia montana—खाज, खरक असन
आखुपर्णी—Ipomea reniformis—मूषाकर्णी
आढकी—Cajanus indicum—अरहर
आत्म गुप्ता—Mucuna pruriens—केवाँच
आदित्यवल्ली—Helianthus annuus—सूरजमुखी
आमलक—Phyllanthus emblica—आँवला
आम्र—Mangifera indica—आम
आम्रातक—Spondias mangifera—अम्बाडा
आरग्वध—Cassia fistula—अमलताश
आरुक—Prunus persica—आड़ू, आरू
आर्द्रक—Zingiber cfficinale—अदरख
इक्षु—Saccharam officinarum—ईख, गन्ना
इक्षुरक—Hygrophyila spinosa—तालमखाना
इङ्गुदी—Balanities roxburghii—हिंगोट
इत्कट—Sesbania aculeata—जयन्ती, धूनची
इन्द्रवारुणी—Citrullus colocynthis—इन्द्रायन
उच्चटक—Blepharis edulis—उतंजन
उत्पल—Nymphaea stellata—कृष्ण कमल
उदकीर्यका—Caesalpinia digyna—वाकेरी मूल
उदुम्बर—Ficus glomerata—गूलर
उपकुञ्चिका—Nigella sativa—काला जीरा, मगरैल
उपोदिका—Basella rubra—पोई
उशीर—Andropogon muricatus, Vetiveria zizanoides—खस

एरका—Typha elephantina—होगला, पटेर
एरण्ड—Ricinus communis—रेंड़ी
एर्वारु—Cucumis utilissimus—ककड़ी
एल्वालुक—Brunus cerasus—आलूबालू, एलुवा
एला—Elettaria cardamomum—इलायची
एलापर्णी—Alpinia galanga—बड़ाकुलिंजन
कक्कोल—Piper cubeba—कबाबचीनी
कङ्गु—Panicum italicum—कंगनी
कटमी—Albizzia procera—सफेद शिरीष
कटुतुम्बी—Langenaria vulgaris
कटुफला—Hibiscus abelmoschus—मुष्कदाना
कटुरोहिणी—Picrorrhiza Kurrooa—कुटकी
कट्फल—Nyrica nagi—कायफल
कट्वङ्ग—Ailanthus excelsa—अरलु
कण्टकारी—Solanum xanthocarpum—भटकटैया
कण्टकीकरञ्ज—Coesalpinia bonducella—कंजा
कतक—Strychno potatorum—निर्मली
कदम्ब—Anthocephalus cadamba—कदम्ब
कदर—Acacia senegal—सफेद खैर
कदली—Musa sapientum—केली
कनकपुष्पी—Euphorbia thomsoniana—हीरवी
कपित्थ—Feronia elephantum—कैथ
कपीतम—Thespesia populnea—पारस पिप्पल, भेंडि
कम्पिल्लक—Mallotus phillippinensis—रोरी, रोहिना
कमल—Nelumbium speciosum—कमल
करञ्ज—Pongamia jlabra—करञ्ज
करमर्द—Carissa carandus—करौंदा
करवीर—Nerium odorum—कनेर
करीर—Capparis aphylla—करेर
कर्कटकी—Cucumis sativus—खीरा

कर्कटश्रृंगी—Rhus succedanea—काकड़ासिंगी
कर्कन्धु—Zizgphus nummularia—झरबेरी
कर्कास—Cucumis melo—खरबूजा
कर्कोटक—Momardica dioica—ककौड़ा
कर्चूर—Curcuma zedoaria—कचूर
कर्पूर—Dryobalanops aromatica—कपूर
कर्बुदार—Bauhinia acuminata—कचनार
कलम्ब—Ipomoea aquatiea—नाडी शाक, कलमी
कलाय—Lathyrus sativus—खेसारी
कशेरुक—Seirpus kysoor—कसेरु, चीचण्डा
काकनासा—Pentatropis microphylla—शीगरोटी, कौआठोठो
काकमाची—Solanum nigrum—मकोय
काकाण्डोला—Canavalia ensiformis—सेम
काकोदुम्बरिका—Ficus hispida—तोटमिला, कटगूलर
कारवेल्लिका—Momordica charantia—करेला
कार्पास—Gossypium herbaceum—कपास
कालशाक—Corchorus capsularis—नरिचा
कालानुसारिका—Ichnocarpus fructescens—काली सर, दुधी
कालेयक—Santalum flavum—पीला चन्दन
काश—Saccharum spontaneum—कास
काश्मरी—Gmelina arborea—गंभार, कंभार
कासमर्द—Cassia occidentalis—कसौंदी
किराततिक्त—Swertia chirata—चिरायता
कुंकुम—Crocus sativus—केसर
कुटज—Holarrhena antidysenterica—कोरैया, कुर्ची
कुतुम्बक—Leucas linifolia—गुमा, हाल्कास
कुमारजीव—Putranliva roxburghini—जियापुत, पुत्रजीव
कुमुद—Nymphoea alba—कोंई, छोटा कँवल
कुम्भी—Careya arborea—कुम्भी
कुरण्टक—Barleria prionitis—पीली कटसरैया

कुलत्थ—Dolichos biflorus—कुलथी
कुवल—Zizyphus sativus—वनबेर (उन्नाव)
कुष्ठ—Saussuria lappa—कूठ
कूष्माण्ड—Benincasa cerifera—कोंहड़ा (कद्दू)
कुसुम्भ—Carthamus tinctorius—कुसुम्भ
कुस्तुम्बुरु—Coriandrum sativum—धनिया
कृतवेधन—Luffa aeutangula—कड़ुवी तोरई
कृष्ण चित्रक—Plumbago capensic—कालाचित्ता
कृष्ण शण—Crotalaria verrucosa—वनसन
कृष्ण शैरेयक—Barleria cristata—आसमानी कटसरैया
केशरम्—Ochrocarpus longifolius—नागकेसर
केशी—Corydalis govaniana—भूतकेशी
कैडर्य—Murraya koenigii—गन्धेला
कोद्रव—Pas palum scrobiculatum—कोदों
कोविदार—Bauhinia variegata—कचनार
कोशाम्र—Schleichera trijuga—कुसुम
क्रमुक—Symplocos crataegoides—पठानी लोध
क्षवक—Centipeda orbicularis—नकछिकनी
क्षीरवल्ली—Holostemma rheedii—षिखेल
क्षीरविदारी—Ipomoea digitata—बिलाईकन्द
खदिर—Acacia catechu—खैर, कत्था
खर्जूर—Phoenix dactylifera—खजूर
गजपिप्पली—Scindapsus officinalis—गजपीपल
गवेधुक—Coix lachryma—कसई
गुग्गुल—Balsamodendron mukul
गुञ्जा—Abrus precatorius
गुडूची—Tinospora cordifolia
गोक्षुरक—Tribulus terrestris, T. lanuginosus
गोजिह्वा—Elephantopus scaber
चक्रमर्द—Cassia tora

चञ्चु—Corchorus olitorius
चन्दन—Santalum album—चन्दन
चर्मकषा—Acacia concima
चविका—Piper chaba—चाब
चांगेरी—Oxalis corniculate
चारटी—Ionidium suffruticosum—रतन पुरुष
चित्रक—Plumbago zeylanica—चीता
चिरबिल्व—Holoptelia integrifolia—चिलबिल
चिर्भट—Cucumis melo—फूट ककड़ी
चिल्ली—Chenopodium album—बथुआ
चुक्रिका—Rumex vesicarius—चूका
चुञ्चुपर्णी—Corchorus olitorius—पाट
चोरक—Angelica glauca—चोरा
जम्बु—Eugenia jambos—जामुन
जया—Sesbania oegyptica—जयन्ती
जलपिप्पली—Lippia nodiflora—जलपिप्पली
जाती—Myristica fragrans—जायफल
जाती (प्रवाल)—Jasminum granflorum—चमेली
जिंगिनी—Odina wodier—जिंगन
जीमूत—Luffa echinata—बिंडाल
जीरक—Cuminum cyminum—जीरा
जीवन्ती—Leptadenpia reticulata—जीवन्ती, दोडी
जूर्णाह्वा—Sorghum vulgare—जुआर
ज्योतिष्मती—Celastrus paniculatus—मालकाँगनी
टंक—Pyrus communis—नाशपाती
टुण्टुक—Oroxylum indicum—टेंटु
तगर—Valeriana hardwic—तगर
तण्डुल—Oryza sativa—धान (चावल)
तण्डुलीयक—Amaranthus polygamus—चौलाई
तमाल—Cinnamomun tamala—तेजपात

तरुणी---Rosa centifolia---गुलाब
ताडक---Borassu flabellifer---ताड़
तामलकी---Phyllanthus niruri---भुई आँवला
ताम्बूल---Piper betel---पान
तालमूली---Curculigo orchioides---मुसली
तालीश---Abies webbiana---तालीस पत्र
तिनिश---Ougeinia dalbergioides---सन्दन
तिन्दुक---Diospyros embroypteris---गाव, तेंदू
तिल---Sesamum indicum---तिल
तिलपर्णी---Gynandropis pentaphylla---हुर्हुर्
तुम्बी---Lagenaria vulgaris---कटु लौकी
तुम्बुरु---Xanthoxylum alatum---तेजफल
तुरुष्क---Altingia excelsa---शिलारस
तुवर---Avicennia officinalis---तवरीया
तूद---Morus indica---तूत (शहतूत)
तृणशून्य---Pandanus odortissimus---केवड़ा
त्रायमाण---Delphinium zalil
त्रिवृत्---Ipomoea turpethum---निशोथ (तुरबुद)
त्वक्---Cinnamomum zeylanicum---दालचीनी
दन्तशठ---Citrus limonum---जंबीर
दन्ती---Baliospermum montanum---दन्ती
दर्भ---Poa cynosuroides---दाभ
दाडिम---Punica granatum---अनार
दारुहरिद्रा---Berberis aristata---दारुहलदी
दीप्यक---Carum copticum
दुग्धिका---Euphorbia pilulifera---दूधि
दुःस्पर्शा---Fagonia arabica---धमासा
दुरालभा---Fagonia arabica
दूर्वा---Cynodon dactylon---दूब
देवदारु---Cedrus deodara---देवदार

द्रवन्ती—Jatropha glandulifera—जंगली एरंड
द्राक्षा—Vitis vinifera—अंगूर
धन्वन—Grewia tillioefolia—धामनी
धव—Anogeissus latifolia—धव
धातकी—Woodfordia floribanda—धाऊ
धान्यक—Coriandrum sativum—धनिया
धामार्गव—Luffa aegyptiaca—घिया तुरई
नन्दीतक—Ficus retusa—झिर, पिलखन
नल—Phragmites karka—नरकुल
नलिका—Onosma echioides—रतनजोत
नवमालिका—Jasminum sambac—बेला, मुग्रा
नाकुली—Aristolochia indica—ईशरमूल
नागगला—Grewia populifolia—गंगरेन, गंगोटी
नागरंग—Citrus aurantium—नारंगी
नाडी—Ipomoea aquatica—कलमी साग
नालिकेर—Cocos nucifera—नारियल
निकोचक—Pistacia vera—पिस्ता
निचुल—Barringtonia acutangula—हिज्जल
निम्ब—Melia azadirachta—नीम
निर्गुण्डी—Vitex negundo—निर्गुण्डी
निष्पाव— Dolichos lablab—लोबिया
नीलिका—Indigofera tinctoria—नील
नीवार—Hygroryza aristata—तीनी, तीली
न्यग्रोध—Ficus bengalensis—बट, बरगद
पटोल—Trichosanthes diocea—परवर
पत्तूर—Celosia argentea—सफ़ेद मुर्गा, सुर्वाली
पत्र—Cinnamomum iners—दारचीनी
पद्मक—Prunus puddum—पद्म
पनस—Artocarpus integrifolia—कटहल
पयस्या—Ipomoea digitata—बिलाईकन्द

परूषक—Grewia asiastica—फालसा
पर्पटक—Rangia repens—खरमोर
पर्पटकीफल—Physalis minima—चिरपोटी, परयोटी
पलाण्डु—Allium cepa—प्याज़
पलाश—Butea frondosa—ढाक
पाटला—Stereospermum chelonoides—पाडल
पाठा—Cyelea peltata—पाडा, काली पाट
पारावत—Psidium guyava—अमरूद
पालंक्या—Spinacia oleracea—पालक
पाषाणभेद—Saxifraga lingulata—पाखानभेद
पिण्डालु—Dioscorea globosa—शकरकन्द
पिप्पली—Piper longum—पीपल
पीलु—Salvadora persica—जाल
पुनर्नवा—Boerhaavia repens—साट
पुष्कर—Iris germanica—पोहकरमूल
पूग—Areca catechu—सुपारी
पृथ्वीका—Amomum subulatum—बड़ी इलायची
पृश्निपर्णी—Uraria picta—पिठवन
प्रसारणी—Paederia foetida—गन्धालि
प्राचीनामलक—Flacourtia cataphracta—पनियाला
प्रियंगु—Aglaia roxburghiana—प्रियंगु
प्रियाल—Buchannania latifolia—चार
प्लक्ष—Ficus tsiela—पीपर
फञ्जी—Rivea or nata—फाँग, कलमीलता
फल्गु—Ficus carica—अंजीर
फेनिला—Sapindus trifoliatus—रीठा
वकुल—Mimusops elengi—मौलसिरी
बदरी—Zizyphus jujuba—बेर
वला—Sida cordifolia—कंघी, बरैला
बिभीतक—Terminalia belerica—बहेड़ा

बिम्बी—Cephalandra indica—बंदुरी
बिल्व—Aegle marmelos—बेल, श्रीफल
बीजक—Pterocarpus marsupium—बीया, विजयसार
बीजपूरक—Citrus medica—बिजौरा
बृहती—Solanum indicum—भटकटैया, बरहण्टा
ब्राह्मी—Herpestis monniera—ब्राह्मी
भद्रमुस्ता—Cyperus tuberosus—नागरमोथा
भल्लातक—Semecarpus anacardium—भिलावा
भव्य—Dillenia indica—चाल्ता
भरद्वाजी—Abroma augusta—उलटकंबल
भार्गी—Clerodendron serratum—भारंगी
भूर्ज—Betulu bhojpatra—भोजपत्र
भृंगराज—Eclipta alba—भङ्गरा
मकुष्ठ—Phaseolus aconitifolius—मोठ
मञ्जिष्ठा—Rubia cordifolia—मजीठ
मण्डूकपर्णी—Hydrocotyle asiatica—खडब्राह्मी
मत्स्याख्यक—Alternanthera sessilis—मच्छेछी
मदन—Randia dumetorum—मैनफल
मदयन्तिका—Lawsonia alba—मेंहदी
मधूक—Bassia latifolia—महुआ
मरिच—Piper nigrum—काली मिर्च
मरुबक—Origanum majorana—मरुवा
मसूर—Lens esculenta—मसूर
महाश्रावणी—Sphaeranthus indicus—गोरखमुंडी
मांसी—Nardostachys jatamansi—जटामांसी
मातुलुंग—Citrus decumana—चकोतरा
मारिष—Amaranthus gangeticus—मर्सा, मरखा
मालती—Aganosma caryophyallata—मालती
माष—Phaseolus mungo—उड़द
माषपर्णी—Teramnus labialis—माषनी

मुकूलक—Pinus gerardiana—गुनोवेर, चिलगोज़ा
मुद्ग—Phaseolus radiatus—मूँग
मुद्गपर्णी—Phaseolus trilobus—मुंगनी
मुञ्जातक—Eulophia campestris—सालिब मिश्री
मुष्कक—Schrebera Swietenoides—मोखा
मुस्ता—Cyperus rotundus—मोथा
मूलक—Raphanus sativus—मूली
मर्वा—Clematis triloba—चुरहार
मृगलिण्डिका—Garuga pinnata—खर्पट
मृष्टक—Brassica nigra—राई (काली)
मेषशृंगी—Helicteres isora—मरोरफली
यमानी—Carum copticum—अजवाइन
यव—Hordeum vulgare—जौ
यवासक—Alhagi maurorum—जवास
यष्टिमधु—Glyeyrrhiza glabra—मुलहठी
यूथिका—Jasminum auriculatum—जूही
रक्तचन्दन—Pterocarspus santalinus—रक्त चन्दन
रक्तनाल—Hibiscus sabdariffa—पटवा, लाल अंबारी
राजादन—Mimusops hexandra—खिन्नी, खिर्नी
रास्ना—Pluchea lanceolata—रासना
रुहा—Loranthus falcatus—बाँदा
रोहिणी—Soymida febrifuga—रोहन
रोहितक—Ammoora rohitaka—हरिन हर्र
रोहिष—Andropogon sehoenanthus—रुसा घास
लक्ष्मणा—Atropa mandragora
लवंग—Caryophyllus aromaticus—लौंग
लवलीफल—Phyllanthus distichus—हारफारेवडी
लशुन—Allium sativum—लहसुन
लाङ्गलिकी—Gloriosa superba—कलिहारि, कनोल, दूधियो बछनाग (गुज०)
लामज्जक—Andropogon iwaranacussa—लामज्जक

लिकुच—Artocarpus Lokoocha—बड़हल
लोट्टाक—Eriobotrya japonica—लोकाट
लोणिका—Portulaca oleracea—लोणिआ
लोध्र—Symplocos racemosa—लोध
वंश—Bambusa arundinacea—बाँस
वचा—Acorus calamus—बच
वञ्जुल—Saliz tetrasperma—बेद, बेदमुश्क
वट—देखो न्यग्रोध
वत्सनाभ—Aconitum ferox—बछनाग, सिंगीविष
वरक—Panicum miliacum—चेना, चीन
वरुण—Crataeva religiosa—बरना
वाताम—Prunus amygdalus—बदाम
वार्ताक—Solanum melongena—बैंगन, भाँटा
वालक—Pavonia odorata—सुगन्धबाला
वासा—Adhatoda vasica—अरुसा; अड़ूसा
वास्तुक—Chenopodium album—बचुआ
विकङ्कत—Gymnosporia montana—बैकल
विडङ्ग—Embelia ribes—बावरंग
विषाणिका—Doemia extensa—उत्रण
वृक्षाम्ल—Gracinia indica—कोकम
वृश्चिकाली—Tragia involucrata—बर्हटा
वेतस—Calamus rotang—बेंत
शंखपुष्पी—Evolvulus alsinoides—श्यामक्रान्ता
शंखिनी—Ctenolepis cerasiformis—आँख फूटामणी—
शण—Crotalaria juncea—सन
शतकुसुमा—Peucedanum graves—सोया
शतावरी—Asparagus racemosus—शतावर
शमी—Prosopis spicigera—शमी
शल्लकी—Boswellia serrata—सालई
शाक—Tectona grandis—सागोन

शाल—Shorea robusta—साल, साखू
शालिपर्णी—Desmodium gangeticum—सालवण, सालपान
शालेय—Foeniculum vulgare—सौंफ
शाल्मली—Bombax malabaricum—सेमल
शिशप—Dalbergia sissoo—शीशम
शिग्रु—Moringa pterygospermu—सैंजना, सेंहजन
शिरीष—Albizzia lebbeck—शिरीष
शुण्ठी—Zingiber officinale—अदरख (सौंठ)
शूकरी—Tacca pinnatifida—वाराही कन्द
शृंगाटक—Trapa bispinosa—सिंघाड़ा
शैलेयक—Permelia parlala—सिलावक, पत्थर का फूल
शैवल—Vallisneria spiralis—जल्लील, सियालकाई, शेवाल
श्लेष्मातक—Cordia myxa—भोकर, गोंदी
सप्तपर्ण—Alstonia scholaris—धातियान्, धतिवन, सात्विन
समंगा—Mimosa pudica—लाजवन्ती
सरल—Pinus longifolia—चील, चीड़
सर्षप—Brassica campestris—सरसों
सातला—Acacia concinna—कोची
सारिवा—Hemidesmus indicus—हिन्दी सालसा, अनन्तमूल
सिम्बितिकाफल—Pyrus malus—सेब (apple)
सुधा—Euphorbia nerifolia—सिज, थोहर
सुनिषण्णक—Marsilia quadrifolia—चौपतिया
सुरसा—Ocimum sanctum—तुलसी
सैरेय—Barleria prionitis—कटसरैया, वज्रदन्ती
सोमराजी—Psoralea corylifolia—बावंची, बाबची
स्थौणेयक—Clerodendron infortunatum—थुनेर
स्पृक्का—Melilotus officinalis—अस्पुर्क
हंसपादी—Adiantum lunulatum—हंसपदी, काली झाँप
हपुषा—Juniperus communis—हाउबेर
हरिद्रा—Curcuma longa—हलदी

हरीतकी--Terminalia chebula--हर
हरेणु--Pisum sativum--मटर
हस्तिदन्ती—Croton oblongifolius
हारिद्र--Adina cordifolia--हल्दू, केलीकदम्ब, हलदखो (गुज०)
हिंगु--Ferula asafoetida--हींग
हिंगुपर्णी--Gardenia lucida--डिकामाली

निर्देश

अग्निवेश--**चरक संहिता**-गुलाबकुँवरबा आयुर्वेदिक सोसायटी द्वारा सम्पादित (६ खण्ड) (सं० २००५ वि०)।

पाँचवाँ अध्याय

सुश्रुत का समय

(ईसा से पाँच शती पूर्व)

काय-चिकित्सा के संबंध में जो ख्याति **चरक संहिता** की है, वही ख्याति शल्य चिकित्सा में सुश्रुत की है। यह कहना कठिन है कि **चरक** और **सुश्रुत** अपने विषय के सर्वप्रथम ग्रन्थ हैं, पर यह तो निश्चय ही है कि इन ग्रन्थों की रचना के अनन्तर, इनकी प्रतियोगिता में अन्य रचनाएँ प्रायः लुप्त ही हो गयीं। भारतीय आयुर्वेद का विशेष विकास २७०० वर्ष ई० पू० से लेकर ६०० ई० तक हुआ। तक्षशिला, नालन्दा और काशी के विद्यापीठों ने आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन को विशेष प्रोत्साहन दिया। पुराने प्रयोगों और अनुभवों का ही **चरक** और **सुश्रुत** में संकलन किया गया। हिमालय के उच्च शिखरों से लेकर दूरस्थ प्रदेशों तक प्राप्त होनेवाली ओषधियों और वनस्पतियों के गुण-दोषों पर व्यापक अनुभव प्राप्त हुए। अनेक आचार्यों ने इनके संबंध में मौलिक कार्य किये। चरक संहिताकार के ये शब्द—"विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके" (वि० ८।३) इस बात के प्रमाण हैं। **सुश्रुत** से पूर्व भी शल्य तंत्र थे—

> औपधेनवमौरभ्रं सौश्रुतं पौष्कलावतम् ।
> शेषाणां शल्यतन्त्राणां मूलान्येतानि निर्दिशेत् ।। (सू० ४।९)

उपधेनु, उरभ्र, सुश्रुत और पुष्कलावत् सुश्रुत के समय के प्रचलित शल्य तन्त्र थे।

यह कहना कठिन है कि **सुश्रुत** और **चरक** के समय में कितना अन्तर है। कुछ विद्वान् दोनों ग्रन्थों को ब्राह्मण ग्रन्थों के समकालीन और आर्ष मानते हैं। वौद्धकालीन प्रभाव भी इन ग्रंथों पर प्रतीत होता है। **सुश्रुत** का एक संस्कर्त्ता नागार्जुन है, जिसे भी कुछ लोग बौद्ध नागार्जुन ही मानते हैं। डल्हणाचार्य ने **सुश्रुत** की जो टीका की है, उसमें नागार्जुन का उल्लेख है[1]। **सुश्रुत** में

१. यत्र यत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव।—डल्हण।

नागार्जुन के सुश्रुत संस्कर्त्ता होने का और कोई प्रमाण नहीं मिलता।

विशिखा[१], भिक्षु संघाटी[२], उत्तरकुरु[३], और रामकृष्ण[४]——इन सब शब्दों का प्रयोग ब्राह्मणकालीन और बौद्धकालीन प्रभावों की ओर संकेत करता है।

चरक संहिता की अपेक्षा **सुश्रुत** नवीन ही है। सुश्रुत ने **चरक संहिता** से बहुत कुछ लिया है। दोनों ग्रन्थों में बहुत से वाक्य समान हैं। जैसे, चरक संहिता में स्थानों का वर्गीकरण है, **सुश्रुत** में भी सूत्रस्थान (सू०)——४६ अध्याय, निदान स्थान (नि०)——१६ अध्याय, शारीर स्थान (शा०)——१० अध्याय, चिकित्सा स्थान (चि०)——४० अध्याय और कल्पस्थान (क०)——८ अध्याय हैं, और अन्त में एक उत्तर तन्त्र है जिसमें ६६ अध्याय हैं।

सुश्रुत संहिता के रचयिता महर्षि सुश्रुत थे, जो भगवान् धन्वन्तरि के शिष्य थे। सूत्रस्थान की समाप्ति पर ये वचन हैं——"इति भगवता श्रीधन्वन्तरिणोपदिष्टायां तच्छिष्येण महर्षिणा सुश्रुतेन विरचितायां सुश्रुतसहितायां सूत्रस्थाने षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः"। सुश्रुत महर्षि को काशी का निवासी भी बताया जाता है। सुश्रुत और धन्वन्तरि का यह संबध अन्य स्थानों के अन्त में निर्दिष्ट नहीं है।

सुश्रुत के सूत्रस्थान के प्रारम्भ में धन्वन्तरि को काशिराज दिवोदास बताया गया है। ये काशी नरेश दिवोदास वानप्रस्थ आश्रम में थे और वहीं उनसे

१. अथातो विशिखानुप्रवेशनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः।
विशिखा शब्द का अर्थ कर्म मार्ग या रथ्या दिया गया है। जैन ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग उस स्थान के लिए किया गया है, जहाँ कुश्ती में थकने के बाद मल्ल लोग विश्राम करते हैं।

२. जीर्णां च भिक्षुसंघाटीं धमनायोपकल्पयेत्——
अर्थात् "पुरानी भिक्षुसंघाटी (कन्था, गुदड़िया) का धुआँ दे"। आर्यों को बौद्ध भिक्षुओं के जीर्ण वस्त्रों के प्रति उतनी ही उपेक्षा थी, जितनी कि "पुरीषं कौकुटंकेशाश्चर्म सर्पत्वचं तथा"——मुर्गे की बीट, केश, चर्म और साँप की केंचुलीके प्रति।

३. क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि। यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः (चि० २९।१७) उत्तर कुरु ध्यानशान या देवताओं का पर्वत तिब्बत है।

४. महेन्द्ररामकृष्णानां ब्राह्मणानां गवामपि।
तपसा तेजसा वाऽपि प्रशाम्यध्वं शिवाय वै॥ (चि० ३०।२७)

औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुर-रक्षित और सुश्रुत आदि ऋषियों ने अपनी आयुर्वेद संबंधी जिज्ञासाओं को पूरा किया।[1]

धन्वन्तरि के कहने से प्रतीत होता है कि आयुर्वेद **अथर्ववेद** का उपांग है। जिस आयुर्वेद को प्रजा उत्पन्न करने से पूर्व ब्रह्मा ने एक लाख श्लोक और एक सहस्र अध्यायों में कहा था, उसे ही अल्प आयु एवं अल्प बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए आठ अंगों का बनाया गया। आठ अंग ये हैं--शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, कौमारभृत्य, अगद तंत्र, रसायन तंत्र, और वाजीकरण तंत्र।[2]

सुश्रुत का विशेष क्षेत्र शल्य तंत्र का है। नाना प्रकार के तृण, काष्ठ, पाषाण, पांशु (धूलि), लोह, लोष्ठ (ढेला), अस्थि, बाल, नख, पूय, स्राव, दुष्टव्रण, अन्तःशल्य, गर्भशल्य आदि को निकालने के लिए और यंत्र, शस्त्र, क्षार, अग्नि के प्रयोग के लिए एवं व्रण के निश्चय के लिए शल्य तंत्र है।[3] शल्य तंत्र से रोग की निवृत्ति शीघ्र होती है, अतः सुश्रुत इसे सब तंत्रों से अधिक महत्त्व का मानते हैं।

सुश्रुत ग्रन्थकार चार प्रकार की ओषधियाँ मानते हैं--(१) जंगम, (२) स्थावर, (३) पार्थिव और (४) कालकृत। जंगम चार प्रकार की हैं--जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्। पशु, मनुष्य, व्याल आदि जरायुज है। खग, सर्प, सरीसृप आदि अण्डज है। कृमि, कीट, पिपीलिका आदि स्वेदज हैं और वीरबहूटी, मेंढक आदि को सुश्रुत ने उद्भिज्ज माना है।

स्थावर ओषधियों के त्वक्, पत्र, पुष्प, फल, मूल, कन्द, निर्यास (गोंद) स्वरस आदि व्यवहार में आते हैं। स्थावर ओषधियाँ वनस्पति, वृक्ष, वीरुध और ओषधि कहलाती हैं।[4]

१. अथ खलु भगवन्तममरवरमृषिगणपरिवृतमाश्रमस्थं काशिराजदिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनववैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्यगोपुररक्षितसुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः। (सू० १।३)

२. इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजाः श्लोकशतसहस्रमध्यायसहस्रं च कृतवान् स्वयम्भूः ततोऽल्पायुष्ट्वमल्पमेधस्त्वं चालोक्य नराणां भूयोऽष्टधा प्रणीतवान्। तद्यथा--शल्यं शालाक्यं कायचिकित्सा भूतविद्या कौमारभृत्यमगदतन्त्रं रसायनतंत्रं बाजीकरणतन्त्रमिति। (सू० १।६-७)

३. सू० १।८ ४. सू० १।२९-३०

पार्थिव ओषधियाँ स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, मनःशिला, मृत्कपाल (मिट्टी का ठीकरा) आदि हैं। प्रवात, निवात (वायु रहित), धूप, छाया, ज्योत्स्ना, अंधकार, शीत, उष्ण, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि संवत्सर के प्रभाव को कालकृत कहा गया है। ओषधियों की रचना में इन पर भी विचार रखना पड़ता है।

चरकसंहिता और **सुश्रुत** में बहुत-सी बातें समान रूप हैं, अतः जिनका हम उल्लेख **चरक** के अध्याय में कर आये हैं, उन्हें यहाँ फिर से दोहराना आवश्यक नहीं प्रतीत होता। **सुश्रुत** की कुछ विशेषताएँ ही हम यहाँ देने का प्रयत्न करेंगे।

क्षार-निर्माण

क्षार-निर्माण सुश्रुत की अपनी विशेषता है। सुश्रुत ने क्षार की परिभाषा यह की है—'तत्र क्षरणात् क्षणनाद् वा क्षारः' अर्थात् क्षरण और क्षणन इन दो कर्मों के कारण इन्हें क्षार कहते हैं[1]। दुष्ट मांस आदि के काटने को **क्षरण** और त्वचा, मांस आदि के हिंसन को **क्षणन** कहा गया है। (चरक ने 'भित्वाभित्वाशयान् क्षारः, क्षरत्वात् क्षारयत्यधः" इस प्रकार की परिभाषा की है।)

क्षार को दो प्रकार का माना है—प्रतिसारणीय और पानीय। पानीय क्षार पान के योग्य या खाने योग्य होता है, और प्रतिसारणीय का उपयोग कुष्ठ, किटिभ, भगन्दर, दुष्ट व्रण, विद्रधि, आदि रोगों में किया जाता है। पानीय क्षार भी प्रति सारणीय क्षार के समान ही जलाकर तैयार किया जा सकता है।

प्रतिसारणीय क्षार तीन प्रकार का है—मृदु, मध्य और तीक्ष्ण।[2] इस क्षार को बनाने की विधि इस प्रकार है—

मुष्क की लकड़ी को (उनके मूल, शाखा, फल, फूल आदि सबको) पहले छोटा-छोटा काटते हैं और फिर वायु-रहित प्रदेश में एकत्रित करके चूने के पत्थर डाल-कर तिलनालों से जलाते हैं। जब अग्नि शान्त पड़ जाय तो **तिलनालों** की भस्म और भस्म शर्करा अलग-अलग एकत्रित कर लेते हैं। अब कुटज आदि[3] की लकड़ियों

१. तत्र क्षरणात् क्षणनाद्वा क्षारः। (सू० ११।४)

२. अथेतरस्त्रिविधो मृदुर्मध्यस्तीक्ष्णश्च। (सू० ११।११)

३. निम्न पेड़ों की लकड़ी लेते हैं—कुटज, पलाश, अश्वकर्ण, पारिभद्रक, विभीतक (बहेड़ा), आरग्वध (अमलतास), तिल्वक, अर्क, स्नुही, अपामार्ग (चिरचिटा), पाटला, नक्तमाल (करञ्ज), वृष, कदली, चित्रक, पूतीक (नाटा करञ्ज), इन्द्रवृक्ष, आस्फोत, अश्वमार (कनेर), सप्तच्छद (सतवन), अग्निमन्थ, गुञ्जा, और कोशातकी।

की शाखा, मूल, फल, फूल आदि समस्त भाग को भी इसी प्रकार जला लेते हैं। मुष्क की भस्म और इन कुटज आदि लकड़ियों की भस्म, अलग-अलग बनाते हैं।[1]

इस क्षार दहन के बाद, दो भाग मुष्क भस्म और एक भाग कुटज आदि भस्म (अथवा दोनों बराबर) परस्पर मिला लेते हैं। एक द्रोण इस मिलित भस्म में छः द्रोण पानी मिलाते हैं, अथवा मूत्रों द्वारा २१ बार छानकर बड़े भारी कड़ाहे में दर्वी या कलछुल से धीरे-धीरे चलाते हुए पकाते हैं। जिस समय यह पकता हुआ क्षार निर्मल, तीक्ष्ण और पिच्छिल (चिकना) हो जाय तो एक बड़े वस्त्र में से इसे छानकर इसके दो भाग कर लेने चाहिए। एक तो क्षारोदक (Supernatant liquor), ऊपर का निथरा पानी), और दूसरा भस्म किट्टभूत क्षार (नीचे का बैठा हुआ भाग)। इस क्षारोदक को फिर आग पर रख देना चाहिए और इसमें से एक या डेढ़ कुडव निकाल लेना चाहिए।

१. तं चिकीर्षुः शरदि गिरिसानुजं शुचिरुपोष्य प्रशस्तेऽहनि प्रशस्तदेशजातमनुपहतं मध्यमवयसं महान्तमसितमुष्कमधिवास्यापरेद्युः पाटयित्वा खण्डशः प्रकल्प्यावपाट्य निवाते देशे निचितिं कृत्वा सुधाशर्कराश्च प्रक्षिप्य तिलनालैरादीपयेत्। अथोपशान्तेऽग्नौ तद्भस्म पृथग् गृह्णीयाद् भस्मशर्कराश्च। अथानेनैव विधानेन कुटजपलाशाश्वकर्णपारिभद्रक विभीतकारग्वधतिल्वकार्कस्नुह्यपामार्गपाटलानक्तमालवृषकदलीचित्रकपूतीकेन्द्रवृक्षास्फोताश्वमारक सप्तच्छदाग्निमन्थगुञ्जाश्चतस्रश्च कोशातकीः समूलफलपत्रशाखा दहेत्। ततः क्षारद्रोणमुदकद्रोणैः षड्भिरालोड्य मूत्रैर्वा यथोक्तैरेकविंशतिकृत्वः परिस्राव्य, महति कटाहे शनैर्दर्व्याऽवघट्टयन् विपचेत्। स यदा भवत्यच्छो रक्तस्तीक्ष्णः पिच्छिलश्च, तमादाय, महति वस्त्रे परिस्राव्येतरं विभज्य पुनरग्नावधिश्रयेत्। तत एव क्षारोदकात् कुडवमध्यर्धं वाऽपनयेत्। ततः कटशर्करा भस्मशर्करा क्षीरपाकशंखनाभीरग्निवर्णाः कृत्वाऽऽयसे पात्रे तस्मिन्नेव क्षारोदके निषिच्य पिष्ट्वा तेनैव द्विद्रोणेऽष्टपलसंमितं शंखनाभ्यादीनां प्रमाणं प्रतिवाप्य, सततमप्रमत्तश्चैनमवघट्टयन् विपचेत्। स यथा नातिसान्द्रो नातिद्रवश्च भवति तदा प्रयतेत। अथैनमागतपाकमवतार्यानुगुप्तमायसे कुम्भे संवृतमुखे निदध्यादेष मध्यमः। (सू० ११।११)

एष च वा प्रतीवापः पक्वः संव्यहिमो मृदुः। (सू० ११।१२)

प्रतीवापे यथालाभं दन्तीद्रवन्तीचित्रकलांगलीपूतिकप्रवालतालपत्रीविडसुवर्चिकाकनकक्षीरीहिंगुवचातिविषाः समाश्लक्ष्णचूर्णाः शुक्तिप्रमाणाः प्रतीवापः। एष स प्रतीवापः पक्वः पाक्यस्तीक्ष्णः। (सू० ११।१३)

क्षीणबले तु क्षारोदकमावपेद्बलकरणार्थम्। (सू० ११।१५)

इसके बाद, कटशर्करा (या खड़िया), भस्मशर्करा (जो पीछे तैयार की जा चुकी है), क्षीर पाक (जलशुक्ति), शंखनाभि (शंखग्रन्थि), इनको लाल अंगारे के समान बनाकर लोहे के पात्र में रखे। क्षारोदक में मिलाकर कट शर्करा आदि की मात्रा प्रत्येक आठ पल निर्वापण के लिए बचे क्षारोदक के साथ शंखनाभि आदि को पीसकर (क्षार में गुणोत्पादन के लिए मिलाकर) निरन्तर बिना आलस्य के क्षार को घोटते हुए पाक करना चाहिए। ऐसा यत्न करना चाहिए कि यह क्षार न बहुत गाढ़ा हो, और न बहुत पतला। जब यथेष्ट पाक तैयार हो जाय, तो आग पर से इसे उतारकर लोहे के कुम्भ में उँडेलकर और कुंभ का मुँह बन्द करके सुरक्षित स्थान में रख देना चाहिए। यह मध्यम क्षार बना।

इसी मध्यम क्षार में यदि प्रतिवाप्य द्रव्यों का प्रक्षेप न करके पाक कर लिया जाय, तो यही मृदु क्षार बन जायगा। (प्रतिवाप्य द्रव्य शंखनाभि, कटक शर्करा आदि हैं)।

जिस क्षार में प्रतिवाप्य द्रव्य आदि का प्रक्षेप हुआ है, उसमें यथायोग्य दन्ती, द्रवन्ती, चित्रक, लांगली, पूतीक पल्लव, तालपत्री, विड नमक, सुर्वाचिका, कनकक्षीरी, हींग, वच, प्रतिविष ये सब शुक्ति बराबर मात्रा में लेकर बारीक चूर्ण करके मिला दे। इन प्रतिवाप्य द्रव्यों के साथ पकाया गया क्षार तीक्ष्ण कहलाता है। यदि किसी कारण से क्षार मृदु पड़ जाय, तो पूर्व विधि से बनाये गये क्षारोदक को फिर से मिलाकर और फिर से पाक करके क्षार को तीक्ष्ण कर लेना चाहिए।

दाहक क्षारों (कास्टिक एलकली) के बनाने की यह सबसे पुरानी विधि है।

द्रव्यों का वर्गीकरण

सुश्रुत ने द्रव्य को ३७ गणों में विभाजित किया है और इनकी सूची सूत्रस्थान के ३८वें अध्याय में दी है। अधिकांश पदार्थ तो वे ही हैं, जो चरक संहिता में पाये जाते हैं। प्रत्येक गण का नाम उस गण के अन्तर्गत सूची में दी गयी प्रथम ओषधि के नाम पर है।

१. विदारि गन्धादिगण––

विदारिगन्धा	श्वदंष्ट्रा	कृष्णसारिवा	क्षुद्रसहा	हंसपादी
विदारी	पृथक्पर्णी	जीवक	बृहती	वृश्चिकाली
विश्वेदेवा	शतावरी	ऋषभक	पुनर्नवा	ऋषभी
सहदेवा	सारिवा	महासहा	एरण्ड	

२. आरग्वधादि गण—

आरग्वध	पाठा	निम्व	शार्ङ्गष्टा
मदन	पाटला	कुरुण्टक	करञ्जद्वय
गोपघंटा	मूर्वा	दासी कुरुण्टक	पटोल
कण्टकी	इन्द्रयव	गुडूची	किराततिक्त
कुटज	सप्तपर्ण	चित्रक	सुषवी

३. सालसारादि गण—

सालसार	क्रमुक	कुचन्दन	अर्जुन	अश्वकर्ण
अजकर्ण	भूर्ज	शिंशिपा	ताल	अगुरु
खदिर	मेषशृंगी	शिरीष	शाक	कालीयक
कदर	तिनिश	असन	नक्तमाल	
कालस्कन्ध	चन्दन	धव	पूतिका	

४. वरुणादि गण—

वरुण	मेषशृंगी	सैरेयकद्वय	शतावरी
आर्त्तगल	पूतीक	विम्बी	विल्व
शिग्रु	नक्तमाल	वसुक	अजशृंगी
मधुशिग्रु	मोरट	वसिर	दर्भ
तर्कारी	अग्निमन्थ	चित्रक	बृहतीद्वय

५. वीरतर्वादि गण—

वीरतरु	नल	मोरटा	इन्दीवर
सहचरद्वय	कुश	वसुक	कपोतवंका
दर्भ	काश	वसिर	श्वदंष्ट्रा
वृक्षादनी	अश्मभेदक	भल्लूक	
गुन्द्रा	अग्निमन्थ	कुरुण्टक	

६. लोध्रादि गण—

लोध्र	अशोक	एलवालुक	कदम्ब
साबरलोध्र	फञ्जी	शल्लकी	साल
पलाश	कट्फल	जिंगिनी	कदली
कुटन्नट			

७. अर्कादि गण—

अर्क	भार्ङ्गी	वृश्चिकाली
अलर्क	रास्ना	अलवणा
करञ्जद्वय	इन्द्रपुष्पी	तापसवृक्ष
नागदन्ती	क्षुद्रश्वेता	
मयूरक	महाश्वेता	

८. सुरसादि गण—

सुरसा	सुगन्धक	क्षवक	निर्गुण्डी	काकमाची
श्वेतसुरसा	सुमुख	खरपुष्पा	कुलाहल	विषमुष्टि
फणिज्झक	कालमालिका	विडङ्ग	इन्दुर्कणिका	
अर्जक	कुठेरक	कट्फल	फञ्जी	
भूस्तृण	कासमर्द	सुरसी	प्राचीबल	

९. मुष्ककादि गण—

मुष्कक	चित्रक	शिंशिपा
पलाश	मदन	वज्रवृक्ष
धव	वृक्षक	त्रिफला

१०. पिप्पल्यादि गण—

पिप्पली	मरिच	इन्द्रयव	हिंगु	विडंग
पिप्पलीमूल	हस्तिपिप्पली	पाढा	भार्गी	कटुरोहिणी
चव्य	हरेणुका	जीरक	मधुरसा	
चित्रक	एला	सर्षप	अतिविषा	
शृंगवेर	अजमोदा	महानिम्बफल	वचा	

११. एलादि गण—

एला	त्वक्	व्याघ्रनख	चोच	तुरुष्क	भद्रदारु
तगर	पत्र	शुक्ति	चोरक	कुन्दुरु	कुंकुम
कुष्ठ	नागपुष्प	चण्डा	वालुक	अगुरु	पुन्नागकेशर
मांसी	प्रियंगु	स्थौणेयक	गुग्गुलु	स्पृक्का	
ध्यामक	हरेणुका	श्रीवेष्टक	सर्जरस	उशीर	

१२. वचादि गण—

वच	अतीस	भद्रदारु
मुस्ता	अभया	नागकेशर

१३. हरिद्रादि गण—

हरिद्रा	दारुहरिद्रा	कलशी	कुटज बीज, मधुक

१४. श्यामादि गण—

श्यामा	तिल्वंक	गवाक्षी	छगलांत्री
महाश्वेता	कम्पिल्लक	राजवृक्ष	सुधा
त्रिवृत	रम्यक	करञ्जद्वय	स्वर्णक्षीरी
दन्ती	क्रमुक	गुडूची	
शंखिनी	पुत्रश्रेणी	सप्तला	

१५. बृहत्यादि गण—

बृहती	कण्टकारिका	कुटजफल	पाठा	मधुक

१६. पटोलादि गण—

पटोल, चन्दन, कुचन्दन, मूर्वा, गुडूची, पाठा, कटुरोहिणी।

१७. काकोल्यादि गण—

काकोली	माषपर्णी	तुगाक्षीरी	मृद्वीका
क्षीर काकोली	मेदा	पद्मक	जीवन्ती
जीवक	महामेदा	प्रपौण्डरीक	मधुक
ऋषभक	छिन्नरुहा	ऋद्धि	
मुद्गपर्णी	कर्कटश्रृंगी	वृद्धि	

१८. ऊषकादि गण—

ऊषक (क्षार मिट्टी), सैन्धव (सैंधा नमक), शिलाजतु, कासीसद्वय (हरा कासीस और पीला कासीस), हींग, तुत्थक (नीला थोथा)।

१९. साररिवादि गण—

सारिवा	चन्दन	पद्मक	मधूक पुष्प
मधुक	कुचन्दन	काश्मीरी फल	उशीर

२०. अञ्जनादि गण—

अंजन	नागपुष्प	नीलोत्पल	नलिनकेशर
रसांजन	प्रियंगु	नलद	मधुक

२१. परूषकादि गण--

परूषक	कट्फल	राजादन	शाकफल
द्राक्षा	दाडिम	कतक फल	त्रिफला

२२. प्रियंग्वादि गण--

प्रियंगु	नागपुष्प	रसांजन	योजनवल्ली
समंग	चन्दन	कुम्भीक	दीर्घमूला
धातकी	कुचन्दन	स्रोतोऽञ्जन	
पुन्नाग	मोचरस	पद्मकेसर	

२३. अम्बष्ठादि गण--

अम्बष्ठा	मधुक	नन्दी वृक्ष
धातकी कुसुम	बिल्वपेशिका	पद्मकेशर
समंग	सावर-रोध्र	
कट्वंग	पलाश	

२४. न्यग्रोधादि गण--

न्यग्रोध	कपीतन	जम्बूद्वय	कदम्ब	सावररोध्र
उदुम्बर	ककुभ	प्रियाल	बदरी	भल्लातक
अश्वत्थ	आम्र	मधूक	तिन्दुकी	पलाश
प्लक्ष	कोशाम्र	रोहिणी	सल्लकी	नन्दीवृक्ष
मधुक	चोरक पत्र	वञ्जुल	रोध्र	

२५. गुडूच्यादि गण--

गुडूची निम्ब कुस्तुम्बुरु चन्दन पद्मक

२६. उत्पलादि गण--

उत्पल	सौगन्धिक	मधुक
रक्तोत्पल	कुवलय	
कुमुद	पुण्डरीक	

२७. मुस्तादि गण--

मुस्ता	आमलक	पाठा	द्राविडी
हरिद्रा	बिभीतक	कटुरोहिणी	भल्लातक
दारुहरिद्रा	कुष्ठ	शार्ङ्गष्टा	चित्रक
हरीतकी	हैमवती वच	अतिविषा	

२८. **त्रिकटुक**

पिप्पली, मरिच, शृंगवेर (त्रिकटुक)।

२९. **आमलकादि गण—**

आमलक, हरीतकी, पिप्पली और चित्रक।

३०. **त्रप्वादि गण—**

त्रपु, सीस, ताम्र, रजत, सुवर्ण, कृष्णलोह, लोहमल (किट्ट)

३१. **लाक्षादि गण—**

लाक्षा कुटज कट्फल निम्ब मालती (त्रिफला)
आरेवत अश्वमार हरिद्राद्वय, सप्तच्छद त्रायमाणा।

३२. **लघुपंचमूल**

त्रिकण्टक, बृहतीद्वय (छोटी और बड़ी कटेरी), पृथक्पर्णी, विदारिगन्धा।

३३. **महापञ्चमूल—**

बिल्व, अग्निमन्थ, टिण्टुक, पाटला और काश्मरी।

लघुपंचमूल और महापंचमूल मिलाकर "दशमूल" वर्ग बनता है।

३४. **वल्लीपंचमूल—**

विदारीकन्द, सारिवा, रजनी (हलदी), गुडूची और अजशृंगी।

३५. **कण्टकपंचमूल—**

करमर्दी, त्रिकण्टक (गौखरू), सैरीयक, शतावरी और गृध्रनख।

३६. **तृणपंचमूल—**

कुश, काश, नल, दर्भ, काण्डेक्षुक (गन्ना)।

३७. **त्रिफला—**

हरीतकी, आमलक और बिभीतक।

हम कह चुके हैं कि **चरकसंहिता** में १२ वर्गों में दी गयी सामग्री में २०० के लगभग वनस्पतियों और ओषधियों का समावेश है। सुश्रुत का वर्गीकरण चरक के वर्गीकरण से भिन्न है। एक ही वनस्पति को कई-कई गणों में भी स्थान मिला है। ऊपर दी हुई संपूर्ण सूची में २९१ के लगभग ओषधियों का समावेश है।

इस वर्गीकरण के अतिरिक्त सूत्रस्थान के ४५वें और ४६वें अध्याय में द्रव-द्रव्य विधि और अन्नपान विधि का विस्तार देते हुए सुश्रुत में वर्गों का एक वर्गीकरण दिया हुआ है, जिसका संक्षेप निम्न प्रकार है—

१. **जलवर्ग**—आन्तरिक्ष जल चार प्रकार का है—धार, कार (ओला), तुषार

(ओस), हैम (बरफ)। धार-जल गांग (गंगा का-सा साफ) और सामुद्र (गंदला) दो प्रकार का है। भूमि का पानी तोय है। इनके अतिरिक्त नदी का पानी, चन्द्र-कान्त मणि का पानी, आनूप देश का पानी, जांगल पानी, गरम पानी (उष्णोदक), पर्युषित (बासी) पानी, शृतशीत पानी (उबालने के बाद ठंडा किया) और नालिकेरोदक (नारियल या डाभ का पानी) इन सबकी गिनती जलवर्ग में है।

२. **क्षीरवर्ग**--गाय, बकरी (अजा), ऊँटनी, अवि (भेड़), भैंस, घोड़ी, नारी और करेणु (हथिनी)--इन आठ सस्तन प्राणियों के दूध का इस वर्ग में उल्लेख है।

३. **दधिवर्ग**--गाय, बकरी, भैंस, ऊँटनी, भेड़, घोड़ी, नारी और हथिनी इन सबके दूधों से बने दही के गुण-स्वभाव दिये गये हैं। दही मधुर (मीठा), अम्ल (साधारण खट्टा) और अत्यम्ल (अति खट्टा) हो सकता है।

४. **तक्रवर्ग**--दही में आधे के लगभग पानी मिलाकर मथने से तक्र या मट्ठा बनता है। मथने के बाद अगर इसमें से मक्खन (स्नेह) अलग न किया जाय तो इसे **घोल** कहते हैं।[1] फटी हुई छाछ जिसमें फुटकियाँ हों **तक्रकूर्चिका** कहलाती है। दही और दूध को साथ-साथ पकाने से **दधिकूर्चिका** बनती है। फटे हुए दूध के घने भाग को **किलाट** कहते हैं। तुरत ब्यायी गाय का दूध सात दिन तक **पीयूष** (पेवस) और इसके बाद जब तक साफ न हो **मोरट** कहलाता है। दूध की मलाई को **संतानिका** कहते हैं, और मक्खन को **नवनीत**। इनके अतिरिक्त मण्ड (मस्तु) की भी गिनती तक्रवर्ग में है।

५. **घृतवर्ग**--गाय, भैंस, बकरी, ऊँटनी, भेड़, घोड़ी, नारी (स्त्री) और हथिनी के दूध से निकले घी का वर्णन दिया गया है। पिघले हुए घी के ऊपर का स्वच्छ भाग **सर्पिमण्ड** कहलाता है। दस बरस पुराने घी को **पुराणसर्पि**, और १११ वर्ष तक रखे हुए घी को **महाघृत** कहा गया है, इसी का नाम **कुम्भसर्पि** है।

६. **तैलवर्ग**--तिलतैल और एरण्डतैल के अतिरिक्त निम्ब, अतसी (अलसी) कुसुम्भ, मूलक, जीमूतक, वृक्षक (कुटज), कृतवेधन (तोरई), अर्क (आक), कपिल्ल, हस्तिकर्ण (लाल एरण्ड), पृथ्वीका (काला जीरा), पीलु, करञ्ज, इंगुदी, शिग्रु (सहजन), सर्षप (सरसों), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), विडंग (वायविडंग), ज्योतिष्मती (मालकाँगनी), तुवरक, भल्लातक (भिलावा), सरल, देवदारु, शिंशप (शीशम), अगुरु (अगर), गण्डीर, तुम्बी, कोशाम्र, दन्ती (जमाल-

१. यत्तु सस्नेहमजलं मथितं घोलमुच्यते। (सू० ४५।८६)

गोटा), द्रवन्ती, श्यामा, सप्तला, नीलिका, कम्पिल्ल, शंखिनी, यवतिक्ता (कालमेघ), एकैषिका (काली त्रिवृत का फल), सहकार (आम) आदि के फल, बीज, छाल, काष्ठ आदि से निकले हुए तेलों का उल्लेख है।

तैलवर्ग में ही ग्राम्य (जैसे गाय), आनूप (जैसे भैंस) और औदक (जैसे मछली) पशुओं की वसा, मेद और मज्जा का समावेश है। जांगल (हिरन के समान), एकशफ (घोड़े के समान) और क्रव्याद (मांसाहारी पशु, जैसे शेर), प्रतुद (कबूतर आदि), विष्किर (बटेर आदि) की मज्जा-वसा की भी गिनती इसी वर्ग में है।

७. **मधुवर्ग**--मधु या शहद के आठ भेद हैं--पौत्तिक, भ्रामर, क्षौद्र, **माक्षिक**, **छात्र**, आर्घ्य, औद्दालक और दाल। यह मधु भिन्न-भिन्न जाति की अथवा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहनेवाली मधुमक्खियों से प्राप्त की जाती है। ताजे मधु को **नव मधु** और बहुत समय तक रखे मधु को **पुराण मधु** कहते हैं।

८. **इक्षुवर्ग**--ईख के १२ भेद हैं--पौण्ड्रक (पौंडा), भीरुक, वंशक, श्वेतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काष्ठेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोरा और कोशकृत। दाँत से चूसकर जो रस मिलता है उसे **दन्तनिष्पीडित** रस, कोल्हू में पेरे गये रस को **यान्त्रिक रस** और आग पर पकाये हुए रस को **पक्व रस** कहते हैं। रस से बनी राब को **फाणित** कहते हैं। नये, पुराने, स्वच्छ और मैले सभी **गुड़ों** का भी उल्लेख है। गुड़ से ही **मत्स्यण्डिका** या दानेदार राब बनती है, फिर इससे **खण्ड** (खाँड़) और **शर्करा** (शक्कर) बनती है। शहद् के सूख जाने से **मधुशर्करा** प्राप्त होती है। यवास के क्वाथ को घन करके **यवासशर्करा** बनाते हैं। महुए के फूल से जो राब बनती है, उसे **मधूकपुष्प-फाणित** कहते हैं।

९. **मद्यवर्ग**--मार्द्वीक मद्य (मुनक्के या अंगूर से), खार्जूर मद्य (खजूर से), कोहल मद्य (जौ के सत्तू से), सुरा, श्वेत सुरा, प्रसन्ना (मद्य के ऊपर का स्वच्छ भाग), यवसुरा, मधूलिका (छोटे गेहुँओं से बनी), आक्षिकी (बहेड़ों से बनी), गौड शीधु (गुड़ के रस से बनी), शार्कर (शक्कर से बनी), पक्वरस-शीधु (पके रस से बनी), शीतरसिक (गन्ने के अपक्व रस की), जाम्बव (जामुन से बनी), मधूकशीधु (महुए के फूल से बनी) शराबों का उल्लेख है। मद्य, सुरा, शीधु, आसव, मेरेय (सुरा+आसव) और तत्संबंधी अरिष्टों का भी उल्लेख है। **नव मद्य** (नयी शराब) और जीर्ण मद्य (पुरानी शराब) के गुण-भेदों को भी बताया गया है। कांजी या मस्तु में गुड़ और शहद मिलाकर **शुक्त** तैयार करते थे।

१०. **मूत्रवर्ग**––गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हाथी, घोड़ा, गधा और ऊँट इन आठ जन्तुओं के मूत्रों का वर्णन किया गया है।

११. **शालिवर्ग**––लोहितक शालि (लाल चावल), कलम, कर्दमक (कोदों), पांडुक (रामअजवायन), सुगंधक (वासमती चावल), शकुनाहृत (हंसराज), पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महाशालि, शीतभीरु, रोध्रपुष्प, दीर्घशूक, कांचनक, महिषशूक, महाशूक, हायनक, दूषक, महादूषक, षष्टिक (साठी चावल)––ये हेमन्त और ग्रीष्म में पकनेवाले हैं। व्रीहि धान्य वर्षा में पकते हैं। काली भूसीवाले चावल कृष्ण व्रीहि कहलाते हैं। जो एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान में लगाये जाते हैं, उन्हें **रोप्यातिरोप्य** कहा गया है। कुछ चावल दग्ध वनभूमि पर, कुछ स्थलज (स्थल या जांगल देश में) और कैदार (जलबहुल देश में) होते हैं।

१२. **कुधान्यवर्ग**––कोरदूषक (कोदो), श्यामाक (सावाँ), नीवार, शान्तनु, वरुक (वरटिका), उद्दालक, प्रियंगु, मधूलिका, नान्दीमुखी, कुरुविन्द, गवेधुक, तोदपर्णी, मुकुन्दक, वेणुयव––ये कुधान्य हैं।

दो दलवाले धान्यों को **वैदल** (शमी धान्य) कहते हैं, जैसे मुद्ग (मूँग), वनमुद्ग, कलाय (मटर), मकुष्ठ (मोंठ), मसूर, मंगल्य, चणक (चना), सतीन (विशेष मटर), त्रिपुटक, हरेणु, आढकी (अरहर), माष (उरद), अलसान्द्र (राजमाष), आत्मगुप्ता (कौंच), काकाण्डफल (शूक-शिम्बी), आरण्य माष, कुलत्थ, वन्य कुलत्थ, तिल (सित और असित), इनका भी कुधान्य वर्ग में स्थान है।

यव (जौ), अतियव (काले, लाल जौ), गोधूम (गेहूँ), सफेद-पीली-काली-लाल शिम्बी (छीमियाँ), सहा-द्वय (मूँगपर्णी और माषपर्णी), कुसुम्भ (धनिया), अतसी, सिद्धार्थक (सरसों) ये सब भी कुधान्यवर्ग में हैं।

१३. **मांसवर्ग**––यह छः भागों में विभक्त है––जलेशय (जल में रहनेवाले प्राणियों का), आनूप (जलबहुल प्रदेश के प्राणियों का), ग्राम्य, क्रव्यभुज (मांसाहारी), एकशफ (घोड़ा आदि एक खुरवाले) और जांगल। तरह-तरह के हरिण, विष्किर (बिखेरकर खानेवाले पक्षी––तीतर, बटेर, बतख, चकोर, मोर आदि), प्रसह (कौआ, कुरर, बाज़, गीध आदि), पर्णमृग (मूषिक, गिलहरी, वानर आदि वृक्षों पर चढ़नेवाले), बिलेशय (गोधा, शश, वृषदंश, साँप, चूहा, नेवला, लोपाक आदि बिल में रहनेवाले), ग्राम्य (अश्व, अश्वतर, गाय, खर, ऊँट, बकरा, मेढ़ा आदि), आनूपवर्गी (कूलचर, प्लव, कोषस्थ, पादी और मत्स्य––गज, गवय, रुरु, वाराह, गैंडा), मत्स्यों में नादेय (रोहित, पाठीन, पाटला, राजीव, वर्मि, गोमत्स्य, कृष्णमत्स्य,

वागुञ्जार, मुरल, सहस्रदंष्ट्र आदि नदियों की मछलियाँ) और सामुद्र (जैसे तिमि, तिमिंगिल, कुलिश, पाकमत्स्य, निरालक, नन्दिवारिलक, मकर, गर्गरक, चन्द्रक, महामीन, राजीव आदि समुद्र में रहनेवाली मछलियाँ)—इन सबके शरीरों के विभिन्न अंगों के विविध मांसों का उल्लेख इस वर्ग में किया गया है।

१४. **फलवर्ग**—दाडिम (अनार), आमलक (आँवला), बदर (बेर), कोल (झाड़ी का बेर), कर्कन्धु (छोटा बेर), सौवीर, सिंचितिका, कपित्थ (कैथ), मातुलुंग (बिजौरा), करमर्द (करौंदा), प्रियाल, नारंग (नारंगी), जम्बीर (नीबू), लकुच (बड़हल), भव्य (कमरख), पारावत, वेत्रफल, आम्रातक, तिन्तिडीक (इमली), नीप (कदम्ब), कोशाम्र, आम्लीका (इमली), जाम्बव (जामुन), राजादन, तोदन, शीतफल (उदुम्बर), तिन्दुक, बकुल, धन्वन, फल्गु, परूषक (फालसा), पौष्कर (कमलफल), विल्व, बिम्बीफल, ताल, नारिकेल, मोच (केला), द्राक्षा, काश्मरी, (गम्भारी), खर्जूर, मधूक, वाताम (बादाम), अक्षोट (अखरोट), अभिषुक (अंगूर) निचुल, पिचु, निकोचम (पिस्ता), उरुमाण (नाशपाती), लवली, वसिर, टंक, ऐंगुद, शमीफल, श्लेष्मातक (लसोड़ा), करीर, अक्षक, पीलु, तृणशून्य, आरुष्कर (भिलावा), तौवरक, करंज, किंशुक, अरिष्टफल (निमोली), विडंग, अभया (हरड़), पूगफल (सुपारी), अक्ष (बहेड़ा), जातीकोश (जायफल), शम्याक (अमलतास), बीजपूरक (बिजौरा) आदि फलों को इस वर्ग में रखा गया है।

१५. **शाकवर्ग**—इस वर्ग में पुष्पफल (कूष्माण्ड, कुम्हड़ा), अलाबु (तुम्बी), कालिन्द (कर्कारु), त्रपुस (खीरा), एर्वारु (ककड़ी), कर्कारुक (खीराविशेष), शीर्णवृन्त (ककड़ीविशेष या तरबूज़), पिप्पली, मरिच, नागर (सोंठ), आर्द्रक या शृंगवेर (अदरख), हिंगु, जीरक, कुस्तुम्बुरु (धनिया), जम्बीरक (नीबू), सुमुख (वनबर्बरी), सुरसा (तुलसी), अर्जक (श्वेत कुठेरक), भूस्तृण, सुगन्धक, कासमर्दक (कालकासन्दी), कालमाल, कुठेरक (तुलसी विशेष), क्षवक (छिकनी), खरपुष्प (मरुबक), शिग्रु (कडुआ सहजन), मधु शिग्रु (मीठा सहजन), फणिज्झक (तुलसी विशेष), सर्षप (सरसों), राजिका (राई), कुलाहल (मुंडितक), वेणु (बांस), गण्डीर (शशा), अवगुत्थ (काकादनी), तिलपर्णिका (चोरक, लाल चन्दन विशेष), वर्षाभू (पुनर्नवा), चित्रक (चीता), मूलक (मूली), लशुन (लहसुन), पलाण्डु (प्याज़), कलाय शाक (मटर), जन्तुघ्न, चुच्चू, यूथिका (जूही), तरुणी, जीवन्ती, बिभीतिका (कन्दूरे के पत्ते), नन्दी, भल्लातक, छगलांत्री, वृक्षादनी (बन्दा), फञ्जी, शाल्मली, शेलु (लसोड़ा), वनस्पति-प्रसव

(गूलर), शर्ण, कर्बुदार (कचनार), कोविदार (श्वेत कचनार), क्षीर वृक्ष (अश्वत्थ आदि), उत्पल (कमल), वरुण (वरना), तर्कारी (अरणिका), उरुबूक (सफेद एरण्ड), वत्सादनी (गिलोय), बिल्वशाक, पौनर्नव शाक, तण्डुलीयक (चौलाई), उपोदिका (पोई), अश्वबला (मेथी), चिल्ली (खेत बथुआ), पालंक्या (पालक), वास्तूक (बथुआ), मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), सप्तला (चर्मसाह्वा), सुनिषण्णक (चौपतिया), सुवर्चला (सूर्यावर्त्त), ब्रह्मसुवर्चला (सूर्यमुखी), गुडूची, गोजिह्वा, काकमाची (मकोय), प्रपुन्नाड (पनवाड़), अवल्गुजा (बावची), सतीन (मटर), बृहती (बड़ी कटेरी), कण्टकारिका (छोटी कटेरी), फल, पटोल (परवल), वार्त्ताक (बेंगन), कारवेल्ल (करेला), कटुकिका (कटुकी), केबुक, पर्पटक (पित्तपापड़ा), किराततिक्ता (चिरायता), कर्कोटक (ककड़ा), अरिष्ट (नीम), कोशातकी (तुरई कड़वी), वेत्रकरीर (बेंत का अंकुर), आटरूष (बाँसा), अर्कपुष्पी (आक के पत्ते), कौसुम्भ (धनिये का शाक), लोणिक (लूनी), जातुकपर्णिका, पत्तूर (शालिञ्ची शाक), जीवक, सुवर्चला (ब्राह्मी), डुडुरक, कुतुम्बक, कुठिञ्जर (तुलसी विशेष), कुन्तलिका (नील झिंटी), कुरण्टिका (पीली झिण्टी), राजक्षवक, शटीशाक, ह्रिमन्थ (चना), पूतिकरंज, ताम्बूलपत्र (पान का पत्ता) आदि हैं।

१६. पुष्पवर्ग––(क) इस वर्ग में कोविदार (कचनार), शण, शाल्मली (सिम्बल), आगस्त्य (अगस्तपुष्प), मधु शिग्रु (मीठा सहजन), रक्त वृक्ष (लाल-चन्दन), निम्ब (नीम), मुष्क (क्षार वृक्ष), अर्क (आक), असन, कुटज, पद्म, कुमुद, सिन्धुवार (निर्गुण्डी), मालती, मल्लिका (जूही), वाकुल (मौलसिरी), पाटल (लाल फूल), नाग (नागकेसर), कुंकुम (केसर), चम्पक (चम्पा), किंशुक (ढाक), कुरण्टक, क्षवक (छत्रक), कूलेचर (खुखुंडक), वंशकरीर (वंशांकुर), इन सबके फूल हैं।

(ख) पलाल (पयाल), इक्षु (ईख), करीष (गोबर) और वेणु में उत्पन्न शाकों को उद्भिद् शाक कहा गया है।

(ग) पिण्याक (अलसी या सरसों की खली), तिलकल्क (तिल की खली) और स्थूणिका––इन्हें शुष्क शाक कहा गया है।

(घ) वटक (बड़ियाँ, जो मूँग, उरद आदि की दाल की बनती हैं), सिण्डाकी (मूली का साग आदि मिलाकर जो बड़ी बनायी जाय) इत्यादि का भी इसी वर्ग के अन्तर्गत उल्लेख किया गया है।

विभिन्न वनस्पतियों के पुष्प, पत्र, फल, नाल और कन्द इन सबके गुण-दोष पर सुश्रुत ने विचार किया है।

१७. कन्दवर्ग--इस वर्ग में विदारिकन्द (विदारी), शतावरी, बिस (कमलमूल), मृणाल (कमलनाल), शृंगाटक (सिंघाड़ा), कशेरुक (कसेरू), सुरेन्द्रकन्द (वज्रकन्द), पिण्डालुक, मध्वालुक, हस्त्यालुक, काष्ठालुक, शंखालुक, रक्तालुक, इन्दीवर कन्द (नील कमल), कुमुदकन्द, उत्पलकन्द (लाल या श्वेत कमल), वेणुकरीर (बांस की जड़ का अंकुर), स्थूल कन्द, सूरण कन्द (जमींकन्द), माणक कन्द, वाराह् कन्द आदि का समावेश है।

इनके अतिरिक्त ताल (ताड़), नारिकेल (नारियल) और खर्जूर (खजूर) की मस्तकमज्जाएँ भी कन्दवर्ग में रखी गयी हैं।

१८. लवणवर्ग--(क) सैन्धव (सैंधा या लाहौरी नमक), सामुद्र (गुजरात के समुद्र से प्राप्त), विड (भेड़ी नमक), सौवर्चल (निर्गन्ध काला नमक), रोमक (सांभर नमक), औद्भिद (भूमि में प्राप्त खारे पानी का), ऊषसूत (ऊसर भूमि से प्राप्त), बालुकैल (रेतीली भूमि से प्राप्त, जैसे डिडुआना), शैलमूलाकरोद्भव (पर्वत की जड़ में उत्पन्न खनिज), यवक्षार (जौखार), स्वर्जिकाक्षार (सज्जी खार), ऊषक्षार (ऊसर भूमिवाला), पाकिम (पाक द्वारा बनाया गया) और टंकणक्षार (सुहागा) इस वर्ग में हैं।

(ख) इनके अतिरिक्त स्वर्ण, रूप्य (चाँदी), ताम्र (ताँबा), कांस्य (काँसा), लोह, त्रपु (राँगा) और सीस का भी इसी वर्ग के साथ उल्लेख है।

(ग) मोती (मुक्ता), विद्रुम (प्रवाल, मूँगा), वज्रेन्द्र (हीरा), वैडूर्य, स्फटिक आदि मणियों को भी इसी वर्ग के साथ रखा गया है।

१९. कृतान्नवर्ग--प्रथम १८ वर्गों में तो प्राकृतिक पदार्थों का उल्लेख है, पर इस अन्तिम वर्ग में पाकशाला में तैयार किये गये पदार्थों का विवरण दिया गया है। मण्ड (माँड़), पेया, विलेपी, यवागू, पायस (खीर), कृशरा (खिचड़ी), सूप आदि का उल्लेख है।

जल की विविध मात्रा के अनुसार भक्त, विलेपी, यवागू और पेया--ये चार विभाग बनते हैं। सिक्थ (उबला चावल जिससे पानी पसा दिया गया हो) से रहित भाग को **मंड** (माँड़) कहते हैं। अगर उसमें सिक्थ भी विद्यमान हो, तो उसे **पेया** कहेंगे। यदि सिक्थ बहुत हो, तो इसीका नाम **विलेपी** है, और यदि विरल द्रववाला पाक हो, तो यह **यवागू** कहलायेगा।[1]

१. सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
विलेपी बहुसिक्था स्याद्यवागूर्विरलद्रवा॥ (सू० ४६।३४४)

भूनी हुई चीज़ों को **भृष्ट** कहते हैं। जैसे, भृष्ट तंडुल (भूना हुआ चावल)। सुस्विन्न (अच्छी प्रकर उबाला), निस्तुष (छिलका या भूसी रहित), ईषत्-भृष्ट (कम भुना), स्विन्न (जोश दिया), निष्पीडित (निचोड़ा), स्नेह-संस्कृत (घी या तेल से छौंका) आदि शब्द कृतान्नों के संबंध में उल्लेखनीय हैं।

मांस-भक्ष्यों के संबंध में परिशुष्क (सुखाया हुआ), उल्लुप्तपिष्ट (परिशुष्क मांस को अच्छी तरह काटकर पीस लिया जाय), पिष्ट (पीसा हुआ), भर्जित (भूँना), प्रतप्त (गरम किया), कन्दुपाचित (कड़ाही या पतीली में पकाया या भूना हुआ), प्रदिग्ध (एक प्रकार का मांसपाक), शूल्य (roasted meat), मांसरस, सौराव (शोरबा), खानिष्क (शुष्क मांस को पीसकर तैयार किया), वेशवार (अस्थिरहित मांस को थोड़ा-सा उबालकर, सिल पर पीसकर, मसाले मिलाकर पकाने पर यह बनता है) आदि शब्द महत्त्वपूर्ण हैं।[१]

यूष (Juice) और पानक (**शरबत**)—मुद्गयूष (मूँग की दाल का पानी), रागखांडव (मुद्गयूष में अनार और किशमिश मिलाकर बनाते थे), पंचकयूष (मसूर, मुद्ग, गोधूम, कुलत्थी और लवण इन पाँच को मिलाकर यह बनता था), पटोल यूप (परवल का रसा), निम्बयूष (नीम का रसा), मूलकयूष (मूली का यूष), कुलत्थयूष, तूणी-प्रतूणी यूष, दाडिम और आमलक का यूष, मुद्ग और आमलक का यूष, यव-कोल-कुलत्थी इन तीन का यूष, सर्वधान्ययूष (बहुत से अन्नों को मिलाकर बनाया रसा), खडयूष (तक्र और शमीधान्य मिलाकर अथवा तक्र और शाक मिलाकर यह तैयार किया जाता है), काम्बलिक यूष[२] (इसे मस्तु या मट्ठा, दही, तिल, माष और घी मिलाकर बनाते हैं), षाडव (बेर, कपित्थ या कैथ आदि मिलाकर इसे तैयार करते है), पानक (इमली, किशमिश आदि से बना पना), सिण्डाकी[३] (तिल-विकृति या तिल का लड्डू, पिण्याक-विकृति, शुष्क शाक, विरूढ या अंकुरित धान्य इन सबको मिलाकर इसे बनाते हैं), रसाला (घी, दही, मधु, सोंठ, मिरच, विड, कपूर आदि के साथ पीसकर बनाया जाता है), गुडसंयुक्त दही,

१. सू० ४६।३५३-३६५

२. दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तु यूषः काम्बलिकः स्मृतः। (सू० ४६।३८१)

३. तिलपिण्याकविकृतिः शुष्कशाकं विरूढकम्।
सिण्डाकी च गुरूणि स्युः कफ-पित्तकराणि च ॥ (सू० ४६।३८२)

मन्थ[1] (सत्तू को घी में भूनकर ठंडे पानी में न अति द्रव, और न अति गाढ़ा घोलकर बनता है), इन सबका समावेश भी कृतान्नवर्ग में है।

पानकों (पना या शरबतों) में खांड, किशमिश, शर्करा, अम्ल, मरिच आदि तीक्ष्ण मसाले, और फालसा, बेर, कपूर आदि मिलाये जाते थे।[2]

२०. **भक्ष्यवर्ग**—इस वर्ग में मिठाई आदि पकवान हैं, जैसे घृतपूर (दूध, नारियल और मिश्री या सिता इनको पीसकर घी में पकाकर यह बनता है), मधुशीर्षक, संयावपूप (आटे में चीनी, इलायची आदि मसाले और मधु मिलाकर घी में सेंककर बनाये गये पूए), सट्टक (मट्ठे में लौंग, खाँड, अनारदाना आदि मिलाकर बनाते थे), विष्यन्द (कच्चे गेहूँ के आटे में घी, दूध मिलाकर न अति घने, न अति सान्द्र बने पाक का नाम), फेनक (बताशे) इनका उल्लेख है।

पूप या पुओं में मांस से बने वेशवार भी भरे जा सकते थे। पूरी का नाम शष्कुली भी है, और तिल या पिट्ठी भरी पूरी को पालल (कचौड़ी) कहते थे। उरद की पिट्ठी को पैष्टिक भी कहा गया है। छेना या कूर्चिका से बने पाकों का भी उल्लेख है। घृत-पाचित (घी में पकाये) और तैलकृत (तैल में पकाये) भक्ष्यों की ओर भी संकेत है।

धान (भुना जौ), अलुम्बा (होला, हरा चना), सक्तु (जौ का सत्तू), लाजा (लावा या खील), लाज-सक्तु (लाजा का सत्तू), पृथुका (शालि धान्य भूनकर फिर ऊखल में कूटकर निकाले हुए), धान्यपिष्ट आदि का भी वर्णन है। सत्तू की पिण्डी खर (कड़ी) और मृदु दोनों ही बनायी जाती थीं।

बीस वर्गों में दी गयी यह सूची विस्तार में गणवाली सूची से कुछ बड़ी है। इस वर्गीकरण में भी एक ही द्रव्य कई वर्गों में सम्मिलित किया गया है। एक ही द्रव्य के विभिन्न पर्यायों का भी प्रयोग किया गया है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि सुश्रुत में लगभग ४०० पदार्थों का उल्लेख है। अधिकांश वही हैं जो चरककाल में थे। पारद और गन्धक ऐसे महत्त्वपूर्ण पदार्थों का किसी भी सूची में न होना उल्लेखनीय है।

१. सक्तवः सर्पिषाभ्यक्ताः शीतवारिपरिप्लुताः।
नातिद्रवा नातिसान्द्रा मन्थ इत्युपदिश्यते॥ (सू० ४६।३८५)

२. तदेव खण्डमृद्वीका शर्करासहितं पुनः।
साम्लं सतीक्ष्णं सहिमं पानकं स्यान्निरत्ययम्॥
मार्द्वीकं तु श्रमहरं मूर्च्छादाहतृषापहम्।
परूषकाणां कोलानां हृद्यं विष्टम्भि पानकम्॥ (सू० ४६।३८९-९०)

सुश्रुत के समय की धातुएँ

सुश्रुत में कनक (सोना), रजत, ताम्र, रीति (पीतल), त्रपु (राँगा या वंग) और सीस इन ६ धातुओं के अतिरिक्त कृष्ण लोह (तीक्ष्ण लोह) और लोहमल (किट्ट) का उल्लेख है।[१] इनमें से सुवर्ण, रजत, ताम्र, सीस, त्रपु और लोह तो तत्त्व धातुएँ हैं, पर रीति अर्थात् पीतल मिश्रधातु है। लोहमल लोहे का आक्साइड है।

लवणादि अन्य खनिज

खनिज द्रव्यों का एक स्थल पर सूची में उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि सुश्रुत के समय में इनका प्रयोग अधिक प्रचलित नहीं था। यवक्षार, लवण (पंच लवण), मनःशिला, कासीस, हरताल और सुराष्ट्रजा (फिटकरी) का एक स्थल पर साथ साथ-उल्लेख है।[२] एक स्थल पर कासीस द्वय अर्थात् पीले और हरे कासीस (green vitriol or ferrous sulphate) का उल्लेख है।[३] हरा कासीस शुद्ध है और हवा में रखा-रखा ही यह पीला पड़ जाता है। इसी स्थल पर तुत्थक (मयूरतुत्थ या नीला थोथा (blue vitriol) का भी नाम आया है। ऊषक क्षार-मृत्तिका है और सैन्धव से अभिप्राय सैंधे नमक से है।

एक स्थल पर लवणवर्ग की सूची में सैन्धव, सौवर्चल, विड, पाक्य, रोमक (साँभर नमक), सामुद्रक (समुद्र से प्राप्त नमक), पक्त्रिम (पाक द्वारा बनाया लवण), यवक्षार, ऊषर प्रसूत (ऊसर का खारी लवण) और सुवर्चिका (सज्जी खार) के नाम लिये गये हैं।[४] अन्यत्र एक स्थल पर यवक्षार (potash carbonate), स्वर्जिका

१. कनकं रजतं ताम्रं रैतिकं त्रपुसीसकम्। (सू० २६।२०)
त्रपुसीस-ताम्र-रजतसुवर्णकृष्णलोहानि लोहमलश्चेति। (सू० ३८।६२)

२. कटुत्रिकं यवक्षारो लवणानि मनःशिला।
कासीसं त्रिवृता दन्ती हरितालं सुराष्ट्रजा॥ (सू० ३७।१४)
अर्कोत्तमां स्नुहीक्षीरं पिष्ट्वा क्षारोत्तमानि च।
जातीमूलं हरिद्रे द्वे कासीसं कटुरोहिणीम्॥ (सू० ३७।१६)
बृहती कण्टकारी च हरितालं मनःशिला। (सू० ३७।१८)
कासीसे सैन्धवे किण्वे वचायां रजनीद्वये। (सू० ३७।१९)

३. ऊषकसैन्धवशिलाजतुकासीसद्वयं हिंगु तुत्थकं चेति। (सू० ३८।३७)

४. सैन्धवसौवर्चलविडपाक्यरोमक-सामुद्रक - पक्त्रिमयवक्षारोषरप्रसूतसुवर्चिकाप्रभृतीनि समासेन लवणो वर्गः। (सू० ४२।११)

क्षार (Sodium carbonate), ऊषक्षार (Mixture of salts from alkaline deposits), पाकिम (purified and prepared mild and caustic alkalis) और टंकण क्षार (borax) का उल्लेख है ।[१]

व्रणों के शोधन में कासीस, सैन्धव, मनः शिला (realgar), हरिताल (orpiment) और सैंधे नमक का प्रयोग किया जाता था[२] जो आज भी महत्त्वपूर्ण है ।

लोहभस्म या अयोरज को त्रिकुट, विडंग, हरिद्रा, मधु आदि के साथ चाटने का एक स्थल पर उल्लेख है ।[३] कुम्भकामला रोग में लोहकिट्ट को गोमूत्र में रखकर और नमक मिलाकर पीने का आदेश है ।[४] लोहे के किट्ट (आयस-मल) को बहेड़े की लकड़ियों में दग्ध करके गोमूत्र में बुझाने की ओर संकेत है ।[५]

उत्तर तंत्र के १७ वें अध्याय में नेत्र-दृष्टिगत रोगों का वर्णन है । इन रोगों के निवारण के लिए जो अंजन, मलहम या ओषधियाँ प्रयुक्त होती थीं उनमें गैरिक (गेरू), सैन्धव, सौवीरांजन (galena or sulphide of lead), स्रोतोंजन (stibnite or native sulphide of antimony), मनःशिला (realgar), रसांजन (extract of Berberis asiaticas) आदि का अन्य ओषधियों के साथ व्यवहार होता था ।[६]

१. यवक्षारस्वर्जिकाक्षारोषक्षारपाकिमटंकणक्षारप्रभृतयः । (सू० ४६।३२२)

२. भेदस्ततः समुद्धृत्य दद्यात् कासीससैन्धवे ।
बध्नीयाच्च यथोद्दिष्टं शुद्धे तैलं च दापयेत् ॥
मनःशिलाललवणैः सिद्धमारुष्करेषु च । (चि० १९।१७-१८)

३. अयोरजो व्योषविडंगचूर्णं लिह्याद् हरिद्रां त्रिफलान्वितां वा । (उत्तर० ४४।१७)

४. मूत्रे स्थितं सैन्धवसंप्रयुक्तं मासं पिबेद् वापि हि लोहकिट्टम् । (उत्तर० ४४।३२)

५. दग्ध्वाक्षकाष्ठैर्मलमायसं वा गोमूत्रनिर्वापितमष्टवारान् । (उत्तर० ४४।३२)
लौहं च किट्टं बहुशश्च तप्त्वा निर्वाप्य मूत्रे बहुशस्तथैव । (उत्तर० ४४।३४)

६. गैरिकं सैन्धवं कृष्णागोदन्तस्य मषी तथा ॥६॥
गोमांसं मरिचं बीजं शिरीषस्य मनःशिला ॥७॥
नलिनोत्पलकिञ्जल्कगैरिकैर्गोशकृद्रसैः ॥ ११ ॥
शीतंसौवीरकं वाऽपि पिष्ट्वाऽथ रसभावितम् ॥ १३ ॥
स्रोतोजं सैन्धवं कृष्णां रेणुकां चापि पेषयेत् ॥ १६ ॥
मनःशिलाभयाव्योषबलाकालानुसारिवाः ॥ १८ ॥

सुश्रुत में वर्णित कुछ उपक्रम

प्रयोगों के उपक्रमों में **चरकसंहिता** के समान ही **सुश्रुत** में विस्तार पाये जाते हैं। नीचे हम कुछ योग देते हैं, जिनसे उस समय की प्रक्रियाओं का कुछ अनुमान हो जायगा।

१. कोल्हू की लकड़ी में से तेल अलग करना——अणु तैल का विस्तार देते समय इसका उल्लेख किया गया है। जिस कोल्हू ने बहुत दिनों तक तेल पिया है, उस कोल्हू की लकड़ियों को लाकर, उनके टुकड़े-टुकड़े करके, फिर कूटकर बड़े भारी कड़ाहे में पानी भरके इन्हें भली प्रकार उबाले। ऐसा करने से जो तेल पानी की सतह पर तैरने लगे उसे रुई के फाहे, कपड़े या हाथ से निकाल ले।[1]

२. मिट्टी में तेल बसाकर फिर उससे अलग करना——काली भूमि पर बिल्वादि महापंचमूल की बहुत-सी लकड़ियाँ एकत्रित करके इनको जलाये। एक रात के बाद शान्त हो जाने पर अग्नि को हटाकर, राख से खाली की गयी भूमि पर विदारिगन्धादि गण से सिद्ध किये तेल के एक सौ घड़ों से, एवं एक सौ दूध के घड़ों से इस भूमि पर सेचन करे। फिर एक रात के बाद जितनी भूमि स्निग्ध हो जाय, उतनी की मिट्टी को लेकर गरम पानी में एक बड़े कड़ाहे के अन्दर घोल दे। इससे जो तेल पानी के ऊपर आ जाय उसे हाथों से अलग करके सुरक्षित रखे।[2]

नदीजशिम्बीत्रिकटून्यथाञ्जनं मनःशिला द्वे च निशे शकृद् गवाम् ॥ २७ ॥
प्रत्यञ्जनं स्रोतसि यत्समुत्थितं क्रमाद्रसक्षीरघृतेषु भावितम् ॥ ३६ ॥
मनःशिलात्र्यूषणशंखमाक्षिकैः ससिन्धुकासीसरसाञ्जनैः क्रियाः ॥ ४३ ॥

(उत्तर० अध्याय १७)

१. तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्यानल्पकालं तैलपरिपीतान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वाऽवक्षुद्य महति कटाहे पानीयेनाभिप्लाव्य क्वाथयेत्, ततः स्नेहमम्बुपृष्ठाद्यदुदेति तत् सरकपाण्योरन्यतरेणादाय वातघ्नौषधप्रतीवापं स्नेहपाककल्पेन विपचेत्। (चि० ४।२८)

२. अथ महापंचमूलकाष्ठैर्बहुभिरवदह्यावनिप्रदेशमसितमुषितमेकरात्रमुपशान्तेऽग्नावपोह्य भस्मनिवृत्तां भूमिं विदारिगन्धादिसिद्धेन तैलघटशतेन तुल्यपयसाऽभिषिच्यैकरात्रमवस्थाप्य ततो यावती मृत्तिका स्निग्धा स्यात्तामादायोष्णोदकेन महति कटाहेऽभ्यासिञ्चेत्,तत्र यत्तैलमुत्तिष्ठेत्तत् पाणिभ्यां पर्यादाय स्वनुगुप्तं निदध्यात्। (चि० ४।२९)

३. **पत्रलवण बनाना**--एरंड, मुष्कक, करंज, अडूसा, नाटा करंज, अमलतास, चित्रक आदि के हरे पत्तों को लेकर नमक के साथ ऊखल में कूटकर, घी के घड़े में रख-कर (मुख बन्द करके) मिट्टी से घड़े पर लेप करे। इस घड़े के चारो ओर उपले रखकर जलाये। इस प्रकार पत्रलवण बनेगा जो वातरोग में उपकारी है।[1]

४. **कल्याणक लवण बनाना**--गण्डीर, पलाश, कुटज, मोक्षक, अशोकादि, इन सबको हरा ही मूल-पत्र-शाखा युक्त लाकर सबके बराबर नमक ले। नमक को छोड़कर शेष ओषधियों को पूर्व की भांति क्षारकल्पना से जलाकर इसमें नमक मिला-कर, घोलकर निथार ले। इस निथरे जल को पकाये, और पकाते समय चौथाई भाग पिप्पल्यादिगण या हिंग्वादिगण का प्रक्षेप इसमें मिलाये। इस प्रकार कल्याणक लवण बनता है।[2]

५. **उदर रोग में एक अनुपान**--हर्र का चूर्ण एक प्रस्थ लेकर एक आढक घी में मिलाकर अग्नि पर पिघलाकर, मन्थन दण्ड से मथकर, सुरक्षित करके पन्द्रह दिन जौ के ढेर में रख दे। फिर निकालकर छानकर, हर्र का क्वाथ और खट्टा दही मिलाकर पकाये।[3]

६. **पुटपाक प्रसाधन**--चिकने मांस के दो पिंड, प्रत्येक एक-एक पल लेकर, इनको मधुरौषध, लेखन द्रव्य, तिक्त द्रव्य--इनकी एक पलमात्रा, और द्रव आठ पल लेकर सबको मिलाकर पीस ले। फिर इनका एक गोला बनाकर उस पर पत्ते (गम्भारी, कमल, एरण्ड, केला आदि के) भली प्रकार लपेटकर मिट्टी का लेप कर दे। इसे खैर के अंगारों पर पकाये। जब स्विन्न हो जाय, तब इसे निकाल

१. **गन्धर्वहस्तमुष्ककनक्तमालाटरूषकपूतीकारग्वधचित्रकादीनां पत्राण्यार्द्राणि लवणेन सहोदूखलेऽवक्षुद्य स्नेहघटे प्रक्षिप्यावलिप्य गोशकृद्भिर्दाहयेत्, एतत्पत्र-लवण-मुपदिशन्ति वातरोगेषु। (चि० ४।३०)**

२. **गण्डीरपलाशकुटज... मोक्षकाशोका इत्येवं वर्गं समूलपत्रशाखमार्द्रमाहृत्य लवणेन सह संसृज्य पूर्ववद्दग्ध्वा क्षारकल्पेन परिस्राव्य विपचेत्, प्रतिवापश्चात्र हिंग्वादिभिः पिप्पल्यादिभिर्वा। इत्येतत्कल्याणकलवणम्। (चि० ४।३२)**

३. **हरीतकीचूर्णं प्रस्थमाढके घृतस्या वाप्यङ्गारेष्वभिविलाप्य खजेनाभिमथ्यानुगुप्तं कृत्वार्धमासं यवपल्ले वासयेत्, ततश्चोद्धृत्य परिस्राव्य हरीतकीक्वाथाम्लदधीन्यावाप्य विपचेत्। (चि० १४।१०)**

कर, निचोड़कर रस ले ले (पुटपाक की मिट्टी बाहर से लाल पड़ जाय, तब निकाले)।[१]

७. **मूषा का प्रयोग**—नील कमल के समान कान्तिवाले सौवीरांजन के आठ भाग, ताम्र, स्वर्ण, चाँदी एक-एक भाग, इस प्रकार कुशल वैद्य ये ११ भाग लेकर मूषा में बन्द करके इसको खैर, सिरहटा या कंडों की आग में गरम करके गोबर के रस में, गोमूत्र में, दही में, गाय के घी में, मधु में, तैल-मद्य-वसा-मज्ज-सर्वगन्धोदक में, द्राक्षारस में, ईख के रस में, त्रिफला क्वाथ में एवं अतिशीतल सारिवादि कषाय में बुझाये। इस प्रकार बार-बार गरम करके इन सब द्रव्यों में बुझाता जाय। फिर इसे एक पोटली में बाँधकर वर्षाजल में सात दिन रखे। पश्चात् इसे सुखाकर चूर्ण करे। इसमें मोती, स्फटिक, विद्रुम (मूँगा), कालानुसारिवा, इनको पवित्र वैद्य अल्पमात्रा में मिलाये। इस उत्तम अंजन को हाथी के दन्त, मणि, वैडूर्य, शंख, शैल, विजयसार के अथवा सोने, सींग या चाँदी के अच्छे बने पात्र में रखे।[२]

१. **अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि पुटपाकप्रसाधनम्।**
द्वौ बिल्वमात्रौ श्लक्ष्णस्य पिण्डौ मांसस्य पेषितौ॥
द्रव्याणां बिल्वमात्रं तु द्रवाणां कुडवो मतः।
तदैकध्यं समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम्।;
(काश्मरीकुमुदैरण्डपद्मिनीकदलीभवैः॥)
मृदावलिप्तमङ्गारैः खादिरैरवकूलयेत्॥
कतकाश्मन्तकैरण्डपाटलावृषबादरैः।
सक्षीरद्रुमकाष्ठैर्वा गोमयैर्वाऽपि युक्तितः॥
स्विन्नमुद्धृत्य निष्पीड्य रसमादाय तं नृणाम्। (उत्तर० १८।३३।३७)

२. **अष्टौ भागानञ्जनस्य नीलोत्पलसमत्विषः।**
औदुम्बरं शातकुम्भं राजतं च समासतः॥
एकादशैतान् भागांस्तु योजयेत् कुशलो भिषक्।
मूषाक्षिप्तं तदाध्मातमावृतं जातवेदसि॥
खदिराश्मन्तकाङ्गारैर्गोशकृद्भिरथापि वा।
गवां शकृद्रसे मूत्रे दध्नि सर्पिषि माक्षिके॥
तैलमद्यवसामज्जसर्वगन्धोदकेषु च।
द्राक्षारसेक्षुत्रिफलारसेषु सुहिमेषु च॥

आजकल जैसे आसुत जल (distilled water) का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार यहाँ वर्षा-जल का प्रयोग हुआ है।

८. **लोहकिट्ट के साथ प्रयोग**--लोहकिट्ट को अग्नि में बहुत बार गरम करके बार-बार गोमूत्र में कई बार बुझाये। फिर दोनों को मिलाकर गोमूत्र के साथ पीसकर पात्र में (पतीली में) रखकर पकाये। पकाते समय जलने न पाये, इस बात का ध्यान रखे। सूख जाने पर चूर्ण करके इसको उदश्वित् (छाछ) के साथ पीये।[1]

यह स्मरण रखना चाहिए कि चरक के समान सुश्रुत के समय में भी आसवन विधियों (अर्थात् भभके द्वारा वाष्प के साथ उड़ाने की विधियों) का प्रचलन आरम्भ नहीं हुआ था। मूषा का प्रयोग भी कोई विशेष नहीं है। आगे जब भस्मों का प्रचार बढ़ा, तब मूषा (crucible) का प्रयोग भी अधिक होने लगा।

जल और उसका कलुष-प्रसादन

पानी में मिली हुई अशुद्धियों अथवा अपद्रव्यों को दूर करने का नाम 'कलुष-प्रसादन' है। जिस स्थान पर पानी पंक, शैवाल, हठ (जलकुंभी), तृण, पद्मपत्र आदि से आच्छादित रहता है, चन्द्रमा, सूर्य की किरणें तथा वायु जिस पानी का स्पर्श नहीं करते, जिस पानी में गन्ध, वर्ण, रस स्पष्ट हो, उस पानी को दूषित समझना चाहिए। इस पानी में छः प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं--स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वीर्य और विपाक। खरता (कर्कशता), पैच्छिल्य (mucilaginousness or sliminess), औष्ण्य

सारिवादिकषाये च कषाये चोत्पलादिके।
निषेचयेत् पृथक् चैनं ध्मातं ध्मातं पुनः पुनः॥
ततोऽन्तरिक्षे सप्ताहं प्लोतबद्धं स्थितं जले।
विशोष्य चूर्णयेन्मुक्तां स्फटिकं विद्रुमं तथा॥
कालानुसारिवां चापि शुचिरावाप्य योगतः।
एतच्चूर्णाञ्जनं श्रेष्ठं निहितं भाजने शुभे॥
दन्तस्फटिकवैदूर्यशंखशैलासनोद्भवे।
शातकुम्भेऽथ शार्ङ्गे वा राजते वा सुसंस्कृते॥ (उत्तर० १८।८५-९२)

१. लौहं च किट्टं बहुशश्च तप्त्वा निर्वाप्य मूत्रे बहुशस्तथैव।
एकीकृतं गोजलपिष्टमेतदेकध्यमावाप्य पचेदुखायाम्॥
यथा न दह्येत तथा विशुष्कं चूर्णीकृतं पेयमुदश्विता तत्।(उत्तर० ४४।३४-३५)

(उष्णता) और दन्तग्राहिता——ये स्पर्श के दोष हैं। पंक, सिकता, शैवाल और बहुवर्णता ये रूप के दोष हैं। इष्ट गन्ध या इष्ट रस का न होना गन्धदोष और रसदोष हैं। यदि पानी पीने से तृष्णा, भारीपन, शूल और लाला-स्राव हो तो वीर्य दोष समझना चाहिए। यदि पानी पीने से जीर्ण दोष हो या पेट गुड़गुड़ करे तो विपाक दोष मानना चाहिए। ये सब दोष अन्तरिक्ष जल (वर्षाजल) में नहीं होते।[1]

अति दूषित पानी को आग पर गरम करने से, अल्प दोषवाले पानी को सूर्य की धूप में गरम करने से, मध्यम दोषयुक्त पानी में लोहे की पिंडिका को, रेत को या मिट्टी के ढेले को अग्नि में गरम करके बुझाने से पानी स्वच्छ हो जाता है। दुर्गन्ध को दूर करने के लिए नागकेसर, चम्पा, उत्पल (कमल), पाटला आदि के पुष्पों से आस्थापन करना चाहिए।[2]

सात वस्तुएँ मलिन जल को स्वच्छ करनेवाली हैं——कतक (निर्मली), गोमेदक (गोमेद रत्न का तेजपात), विसग्रन्थि (पद्ममूल), शैवालमूल (काई की जड़), वस्त्र, मुक्ता और मणि (फिटकरी)——ये वस्तुएँ पानी को स्वच्छ करती हैं।[3]

पाँच वस्तुएँ ये भी हैं जिनके ऊपर पानी के बर्तन रखे जाते हैं——फलक, त्र्यष्टक, मुञ्जवलय, उदमंचिका (घड़ौंची) और शिक्य (छींका)।[4]

१. तत्र यत् पङ्कशैवलहठतृणपद्मपत्रप्रभृतिभिरवच्छन्नं रविशशिकिरणानिलैर्नाभिजुष्टं गन्धवर्णरसोपसृष्टं तद् व्यापन्नमिति विद्यात्। तस्य स्पर्शरूपरसगन्धवीर्यविपाकदोषाः षट् संभवन्ति। तत्र खरता पैच्छिल्यमौष्ण्यं दन्तग्राहिता च स्पर्शदोषः, पंकसिकताशैवालबहुवर्णता रूपदोषः, व्यक्तरसता रसदोषः, अनिष्टगन्धता गन्धदोषः, यदुपयुक्तं तृष्णागौरवशूलकफप्रसेकानापादयति स वीर्यदोषः, यदुपयुक्तं चिराद्विपच्यते विष्टम्भयति वा स विपाकदोष इति। त एते आन्तरिक्षे न सन्ति। (सू० ४५।११)

२. व्यापन्नस्य चाग्निक्वथनं सूर्यातपप्रतापनं तप्तायःपिण्डसिकतालोष्ट्राणां वा निर्वापणं प्रसादनं च कर्त्तव्यं, नागचम्पकोत्पलपाटलापुष्पप्रभृतिभिश्चाधिवासनमिति। (सू० ४५।१२)

३. तत्र सप्त कलुषस्य प्रसादनानि भवन्ति तद्यथा——कतकगोमेदकविसग्रन्थिशैवालमूलवस्त्राणि मुक्तामणिश्चेति। (सू० ४५।१७)

४. पंच निक्षेपणानि भवन्ति। तद्यथा——फलकं, त्र्यष्टकं, मुञ्जवलयमुदमञ्चिका शिक्यं चेति। (सू० ४५।१८)

पानी को ठंडा करने के सात उपाय हैं--प्रवातस्थापन (वायु में पानी को रखना), उदकप्रक्षेपण (पानी के घट पर वस्त्र लपेटकर पानी से तर रखना), यष्टिकाभ्रामण (यन्त्र, यष्टिका आदि घुमाकर), व्यजन (पंखा चलाकर), वस्त्रोद्धारण (वस्त्रद्वारा छानकर), बालुकाप्रक्षेपण (पानी के बर्तन को रेत में गाड़कर, या पानी में रेत डालकर), शिक्यावलम्बनम् (छींके में घड़ा लटकाकर)।[1]

जो नदियाँ तीव्र गति से बहती हैं उनका पानी हलका (soft) होता है और जो मन्द गति से बहती हैं और शैवाल से ढकी रहती हैं, उनका पानी भारी (गुरु या hard) होता है। मरुभूमि की नदियों का पानी तिक्त और लवणों से युक्त होता है।[2]

सब प्रकार के भूमिजलों को प्रातः उषःकाल में इकट्ठा करना चाहिए। इस समय पानी में निर्मलता और शीतलता सब समयों से अधिक होती है। पानी के ये ही श्रेष्ठ गुण हैं।[3]

दिन भर सूर्य की किरणों से व्याप्त और रात में चन्द्रमा की किरणों से शीतल किया हुआ पानी आकाश के पानी के समान रुक्षतारहित और अनभिष्यन्दी (रोगोंको उत्पन्न न करनेवाला) होता है।[4]

विष-परीक्षण

सुश्रुत के कल्पस्थान के प्रथम अध्याय में "अन्नपानरक्षाकल्प" का उल्लेख है। राजा को विष मुख्यतया अन्न और पान (भोजन और पेय) द्वारा दिया जा सकता है, पर विष देने के और भी मार्ग हैं, जैसे दन्तकाष्ठ या दातुन द्वारा, अभ्यंग (शरीर पर तेल आदि का मर्दन), अवलेखन (कंघी आदि), उत्सादन (उबटन), कषाय (स्नान का जल), परिषेक (छिड़कने का जल), अनुलेपन (चन्दन आदि लेपों का), स्रक्

१. सप्त शीतीकरणानि भवन्ति। तद्यथा--प्रवातस्थापनमुदकक्षेपणं यष्टिकाभ्रामणं व्यजनं वस्त्रोद्धरणं बालुकाप्रक्षेपणं शिक्यावलम्बनं चेति। (सू० ४५।१९)

२. नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः प्रोक्ता याश्चामलोदकाः।
गुर्व्यः शैवालसंछन्नाः कलुषा मन्दगाश्च याः॥
प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः। (सू० ४५।२२-२३)

३. तत्र सर्वेषामेव भौमानां ग्रहणं प्रत्यूषसि, तत्र ह्यमलत्वं शैत्यं चाधिकं भवति, स एव चापां परो गुण इति। (सू० ४५।२४)

४. दिवार्ककिरणैर्जुष्टं निशायामिन्दुरश्मिभिः।
अरूक्षमनभिष्यन्दि तत्तुल्यं गगनाम्बुना॥ (सू० ४५।२५)

(माला), वस्त्र, शय्या, कवच, आभरण (गहना), पादुका (जूता या खड़ाऊँ), पादपीठ, हाथी-घोड़े की पीठ पर बैठने का हौदा या ज़ीन, विषैले नस्य (नाक द्वारा सूँघने के इत्र आदि), धूम, अंजन आदि।[१]

जन्तु-परीक्षण——राजा के विषैले भोजन में से दी हुई बलि को खाने पर मक्खी और कौए वहीं पर मर जाते हैं।[२]

अग्नि-परीक्षण——विषैले अन्न से अग्नि में चट-चट शब्द बहुत होता है। आग की ज्वाला का रंग मोर की गर्दन के समान हो जाता है। इसका तेज दुःसह होता है। अर्चि या ज्वाला फटी-फटी दीखती है, धूम तीक्ष्ण होता है और आग जल्दी बुझ जाती है।[३]

द्रव द्रव्य-परीक्षण——दूध, मद्य, पानी आदि तरल द्रवों में विष के कारण नाना प्रकार की रेखाएँ आती हैं और बुलबुले उत्पन्न होते है। इनमें प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं देता, और अगर दिखाई भी पड़ता है, तो वह यमल अर्थात् जुड़वाँ, छेदवाला, पतला (तनु) और विकृत होता है।[४]

सुश्रुत ने इस अध्याय में विष से प्रकट होनेवाले अनेक लक्षणों का उल्लेख किया है, और उनके निराकरण के योग भी दिये हैं। ये विष स्थावर और जंगम दोनों प्रकारों के हैं। स्थावर विष मूल, पत्र, फल, पुष्प, त्वक् (छाल), दूध, सार, निर्यास (गोंद), धातु और कन्द–इस प्रकार दस भेदों के बताये गये हैं। धातुविष में फेनाश्म (भस्म) और हरिताल की गिनती है। कुल स्थावर विष ५५ गिनाये गये हैं[५]——

१. **अन्ने पाने दन्तकाष्ठे तथाऽभ्यंगेऽवलेखने। उत्सादने कषाये च परिषेकेऽनुलेपने॥
स्रक्षु वस्त्रेषु शय्यासु कवचाभरणेषु च। पादुकापादपीठेषु पृष्ठेषु गजवाजिनाम्॥
विषजुष्टेषु चान्येषु नस्य धूमाञ्जनादिषु।** (कल्प० १।२५-२७)

२. **नृपभक्ताद् बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये।
तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः॥** (कल्प० १।२८)

३. **हुतभुक् तेन चान्नेन भृशं चटचटायते। मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः॥
भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नचिराच्चोपशाम्यति।** (कल्प० १।२९-३०)

४. **द्रवद्रव्येषु सर्वेषु क्षीरमद्योदकादिषु। भवन्ति विविधा राज्यः फेनबुद्बुदजन्म च॥
छायाश्चात्र न दृश्यन्ते दृश्यन्ते यदि वा पुनः।
भवन्ति यमलाश्छिद्रास्तन्व्यो विकृतास्तथा॥** (कल्प० १।४४-४५)

५. कल्प० २।५

८ मूल-विष---क्लीतक, अश्वमार, गुंजा, सुगन्ध, गर्गरक, करघाट, विद्युच्छिखा और विजया वनस्पतियों की जड़ें ।

५ पत्र-विष---विषपत्रिका, लम्बा, वरदारु, करम्भ और महाकरम्भ के पत्ते ।

१२ फलविष---कुमुद्वती, वेणुका, करम्भ, महाकरम्भ, कर्कोटक, रेणुक, खद्योतक, चर्मरी, ईभगन्धा, सर्पघाती, नन्दन और सारपाक के फल ।

५ पुष्प-विष---वेत्र, कदम्ब, वल्लीज, करम्भ और महाकरम्भ के फूल ।

७ त्वक्-विष, सार-विष या निर्यास-विष---अंत्रपाचक, कर्त्तरी, सौरीयक, कर घाट, नन्दन, और नाराचक की छाल, सार और गोंद।

३ क्षीर-विष---कुमुदघ्नी, स्नुही और जालक्षीरी का दूध।

२ धातु-विष---फेनाश्म और हरिताल।

१३ कन्द-विष---कालकूट, वत्सनाभ, सर्षप, पालक, कर्दमक, वैराटक, मुस्तक, शृंगीविष, प्रपुण्डरीक, मूलक, हालाहल, महाविष और कर्कटक के कन्द ।

जंगम विष अनेक विषैले पशुओं के निम्न सोलह स्थानों में से कहीं से भी प्राप्त हो सकता है---दृष्टि, निःश्वास, दंष्ट्रा (दाँत), नख, मूत्र, पुरीष (विष्ठा), शुक्र, लाला (लार), आर्त्तव, मुख–संदंश (डंक), विशर्धित (गुदा-से किया हुआ कुत्सित शब्द), तुण्ड, अस्थि, पित्त, शूक और शव ।[1]

दिव्य सर्पों की दृष्टि विषैली है। भूसर्प, बिल्ली, कुत्ता, गृहगोधिका (छिपकली), मकर, मण्डूक आदि प्राणी दाँत और नख दोनों से विषैले हैं। चिपिट, पिच्चिटक, कषायवासिक, सर्षपक, तोटक, वर्च, कीट, कौडिन्यक आदि जन्तुओं के विष्ठा और मूत्र में विष है। चूहों के शुक्र में विष बताया गया है। लूता अर्थात् मकड़ी की लाला (लार), मूत्र-विष्ठा, मुख-संदंश, नख, शुक्र और आर्त्तव में विष माना गया है। विच्छू, विश्वम्भर, वरटी, राजीवमत्स्य, उच्चिटिंग और समुद्रवृश्चिक–इनके आर (आल अर्थात् पूँछ में स्थित काँटे) में विष माना गया है। चित्रशिर, सराव, कुर्दिशत, दारुकारि, मेदक, सारिकामुख आदि के मुख—संदंश, विशर्धित, मूत्र और पुरीष (विष्ठा) में विष है। मक्षिका, कणभ और जलायुका (जौंक) के मुख-संदंश में विष है। विष से मारे गये की हड्डी, सर्पकण्टक (साँप का दाँत) और वरटी मछली की अस्थि में अस्थि-विष है। शकुली मत्स्य, रक्तराजी और वरटी मत्स्य के पित्त में विष है। सूक्ष्मतुण्ड, उच्चि-

१. तत्र दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रा नखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्त्तवमुखसन्दंश विशर्धित·तुण्डा स्थिपित्तशूकशवानीति। (कल्प० ३।४)

टिंग, वरटी, शतपदी (गोजर या कनखजूरा), शूक, वलभिका, शृंगी, भ्रमर—इनके शूक और तुंड में विष है। कीट और सर्पों की मृत देह (शव) में विष बताया गया है।[1]

इन सब विषों से होनेवाले रोगों के लक्षण और उनके उपचार सुश्रुत ने कल्पस्थान के कई अध्यायों में विस्तार से दिये हैं।

सुश्रुत में पारा और गन्धक

जिस प्रकार **चरकसंहिता** में केवल दो-तीन स्थलों पर पारे और गन्धक का उल्लेख है, उसी प्रकार **सुश्रुत** में भी। मुख पर लगाये जानेवाले अभ्यंग के योग में हेमांगत्वक्, वट का पाण्डुपत्र, कालीयक, पद्मक, पद्मकेशर, लाल और श्वेत चन्दन आदि के साथ पारद का भी नाम लिया गया है।[2]

एक स्थल पर तार (चाँदी), सुवर्ण, सारिवा (ससुरेन्द्र गोपः) और कुरुविन्द के साथ सुतार शब्द भी आया है (बाजों पर लेप करने के लिए)। **सुतार** का अर्थ टीकाकारों ने पारा किया है।[3]

कुष्ठ, गण्डमाला, भगन्दर आदि रोगों का शमन करने के लिए जो महावज्रक तैल बताया गया है, उसमें अन्य अनेक पदार्थों के साथ "गन्धाह्वा" का भी उपयोग किया गया है, जिसे टीकाकार गन्धक समझते हैं।[4]

निर्देश

सुश्रुतसंहिता, अनु०—अत्रिदेव गुप्त, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी (१९५०)

१. कल्प० ३।५

२. हेमांगत्वक् पाण्डुपत्रं वटस्य कालीयं स्यात् पद्मकं पद्ममध्यम्।
रक्तं श्वेतं चन्दनं पारदं च काकोल्यादिः क्षीरपिष्टश्च वर्गः॥ (चि० २५।३९)

३. विषापहैर्वाऽप्यगदैर्विलिप्य वाद्यानि चित्राण्यपि वादयेत।
तारः सुतारः ससुरेन्द्रगोपः सर्वैश्च तुल्यः कुरुविन्दभाग :॥ (कल्प० ३।१४)

४. मालती कटुतुम्बी च गन्धाह्वा मूलकं तथा।
सैन्धवं करवीरश्च गृहधूमं विषं तथा॥ (चि० ९।६०)

छठाँ अध्याय

वाग्भट और अष्टांगहृदय एवं अष्टांगसंग्रह

[चौथी शती ईसवी]

वाग्भट नाम के दो आचार्य रसायन और आयुर्वेद के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। एक तो वे जिन्होंने **चरक** और **सुश्रुत** की परम्परा पर **अष्टांगहृदय** और **अष्टांगसंग्रह** नामक ग्रन्थ लिखे और जिनका रचनाकाल आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने ८वीं, ९वीं शती के आसपास माना है, और दूसरे वे जिन्होंने नागार्जुन की परम्परा में **रसरत्नसमुच्चय** ग्रन्थ लिखा और जिनका काल १३वीं, १४वीं शती माना गया है। परम्परा की भूल से दोनों ही वाग्भटों को सिंहगुप्त का पुत्र माना गया है। वस्तुतः **अष्टांगहृदय** के रचयिता का पिता ही पहले से सिंहगुप्त प्रसिद्ध था।[1] **अष्टांगहृदय** और **अष्टांगसंग्रह** दोनों ग्रन्थ एक ही रचयिता के हैं, ऐसा प्रतीत होता है, यद्यपि इस संबंध में कुछ विद्वानों ने आपत्ति उठायी है। दोनों की भाषा में साहित्यिक एकात्मकता है, अन्तर केवल यह है कि **अष्टांगसंग्रह** गद्यपद्यमय विस्तृत ग्रन्थ है, और **अष्टांगहृदय** संक्षिप्त तथा केवल पद्यमय है। **अष्टांगसंग्रह** के उत्तरतंत्र के एक अध्याय में वाग्भट ने अपने पितामह का नाम भी वाग्भट बताया है, और अपना जन्मस्थान सिन्धु देश एवं अपने गुरु का नाम अवलोकित अंकित किया है।[2]

१. अष्टांग-हृदय के अध्यायों के अन्त में निम्न प्रकार के वाक्य हैं—

"इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटविरचितायामष्टांगहृदयसंहितायां सूत्रस्थाने शल्याहारणविधिर्नामाष्टविंशोऽध्यायः।"

अष्टांगसंग्रह के सूत्रस्थान के अन्त में निम्न वाक्य है—

"इति श्रीसिंहगुप्तसूनुश्रीमद्वाग्भटाचार्यविरचितेऽष्टांगसंग्रहे प्रथमं सूत्रस्थानं सम्पूर्णम्।"

२. भिषग्वरो वाग्भट इत्यभून्मे पितामहो नामधरोऽस्मि यस्य।
सुतोऽभवत्तस्य च सिंहगुप्तस्तस्याप्यहं सिंधुषु लब्धजन्मा॥
समधिगम्य गुरोरवलोकितात् गुरुतराच्च पितुः प्रतिभां मया।
सुबहुभेषजशास्त्रविलोकनात् सुविहितोऽङ्गविभागविनिश्चयः॥

(संग्रह, उत्तर अ० ५)

पलाण्डु के उपयोग का उल्लेख करते समय शक राजाओं और शक-नारियों का भी उल्लेख इस ग्रन्थ में आया है, जिससे प्रतीत होता है कि वाग्भट शकों के समकालीन थे।[१] ये शक राजा ईसा की ३–४ शती के बाद भारत में हुए। वाग्भट को भट्टार हरिचन्द का समकालीन या ईषत्पूर्ववर्ती माना जाता है, और यदि ऐसा है तो वाग्भट ईसा के बाद चौथी शती के हो सकते हैं। वाग्भट वैदिक ब्राह्मण थे अथवा बौद्ध, इस संबंध में थोड़ा-सा विवाद है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे समय की परम्परा में निष्ठा रखते थे, और मूलतः वैदिक ब्राह्मण होते हुए भी बौद्धों के प्रति सद्भावना रखते थे। **अष्टांग-संग्रह** के मंगलाचरण में उन्होंने बुद्ध को नमस्कार किया है।[२] **अष्टांगहृदय** में आदिवैद्य परब्रह्म को ऐसे शब्दों में नमस्कार किया गया है, जिससे पता न चले कि ये वैदिक हैं या बौद्ध।[३] कुष्ठ आदि रोगों की शान्ति के लिए वाग्भट ने जहाँ ब्रह्मा, शिव, भास्कर आदि वैदिक (पौराणिक) देवताओं की आराधना बतायी है, वहाँ साथ ही साथ उन्होंने बुद्ध, जिन, तारा आदि की भी उपेक्षा नहीं की, उनको भी आराध्यों में सम्मिलित कर लिया है। अर्थात् वाग्भट के समय में बौद्ध और जैन दोनों वैदिकों में आत्मसात् होने लगे थे।[४] वाग्भट की एक वन्दना ऐसी मिलती है, जिसमें उनकी रूपरेखा वैदिक

१. रसोनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम् ।
साक्षादिव स्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम् ॥
यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिव निर्मितानाम् ॥
कपोलकान्त्या विजितः शशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विदेव ॥
(संग्रह, उत्तर अ० ४९)

२. प्रज्ञामन्त्रबलेन यः शमितवान्बुद्धाय तस्मै नमः ॥ (संग्रह, सूत्र० १।१)

३. रागादिरोगान् सततानुषक्तानशेषकायप्रसृतानशेषान् ।
औत्सुक्यमोहारतिदाञ्जघान योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥ (हृदय, सू० १।१)

४. (क) शिवशिवसुतताराभास्करराराधनानि
प्रकटितमलपापं कुष्ठमुन्मूलयन्ति ।
जिनजिनसुतेति इन्दुसम्मतः पाठः, जिनो बुद्धः,
जिनसुता अवलोकितेशादयः । (संग्रह, चि० १९।९८)

(ख) नमश्चक्षःपरिशोधनराजाय तथागतायार्हते सम्यक् सम्बुद्धाय ।
(संग्रह, सू० ८।१००)

ब्राह्मण की सी प्रतीत होती है--लम्बी दाढ़ी, यज्ञोपवीत, चन्दन की माला, नेत्रों में अंजन (पर आगुल्फ कञ्चुकी बौद्धों की वेशभूषा का प्रतीक है)।[1]

वाग्भट और विचारस्वातन्त्र्य--वाग्भट चरक-सुश्रुत परम्परा का अंतिम आचार्य प्रतीत होता है। न तो पूर्ववर्त्ती शास्त्रों के प्रति उसकी अन्धविश्वासी निष्ठा थी, और न वह पूर्णतया उनका विरोधी ही था। उसकी विशुद्ध वैज्ञानिक मनोवृत्ति उन उक्तियों से स्पष्ट होती है, जो उसने **अष्टांगहृदय** के अन्तिम भाग में दी हैं:--

"इस **अष्टांगहृदय** को पढ़ा हुआ, ज्ञान से समर्थ और अनुभव तथा अभ्यास से पूर्ण, न घबरानेवाला वैद्य, यदि चरक आदि विशाल तंत्रों के पंडित को पराजित कर देता है तो आश्चर्य ही क्या।[2]

जो वैद्य केवल चरक को पढ़ता है, वह **सुश्रुत** में वर्णित वर्त्म, सन्धिगत आदि रोगों को नाम मात्र भी नहीं जानता, और जो केवल **सुश्रुत** पढ़ता और चरक-विहीन है वह मन्दबुद्धि दोष, दूष्य, काल, बल, शरीर तथा सत्त्व आदि लक्षणोंवाली चिकित्साएँ कुछ भी नहीं कर सकता।[3]

वस्तु के पक्षपात के वश होकर पक्का मूर्ख अच्छे कहे हुए वाक्य का आदर नहीं करता। वह यदि आदि काल से ब्रह्मा द्वारा कहे हुए प्रथम आयुर्वेद शास्त्र को निश्चिन्त होकर सारी आयु भर खुशी से पढ़ता रहे (तो मुझे क्या आपत्ति)।[4]

१. लम्बश्मश्रुकलापमम्बुजनिभच्छायाद्युतिं वैद्यकान्
अन्तेवासिन इन्दुजेज्जटमुखानध्यापयन्तं सदा।
आगुल्फामलकञ्चुकाञ्चितदरा लक्ष्योपवीतोज्वलत्
कण्ठस्थागरुसारमंजितदृशं ध्याये दृढं वाग्भटम्॥

२. एतत्पठन् संग्रहबोधशक्तः स्वभ्यस्तकर्मा भिषगप्रकम्प्यः॥
आकम्पयत्यन्यविशालतन्त्र-कृताभियोगान् यदि तन्न चित्रम्॥
(हृदय, उत्तर० ४०।८३)

३. यदि चरकमधीते तद्ध्रुवं सुश्रुतादि-
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः।
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥ (हृदय, उत्तर० ४०।८४)

४. अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणितेऽपि न यो दृढमूढकः।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥
(हृदय, उत्तर० ४०।८५)

वात में तैल, पित्त में घी और कफ की शान्ति में मधु देना चाहिए, ऐसा चाहे ब्रह्मा कहें, चाहे ब्रह्मा से उत्पन्न (सनत्कुमार आदि), तो भी वक्ता की प्रतिष्ठा को देखकर ही वचन की विश्वसनीयता स्वीकार नहीं की जा सकती ।[1]

कौन कह रहा है, इसके अनुसार तो द्रव्यों में कोई विशेष शक्ति आ नहीं जाती। अतः मत्सरता या पक्षपात को छोड़कर मध्यस्थता या निरपेक्षता का अवलम्बन करना चाहिए ।[2]

यदि ऋषियों के रचे ग्रन्थों में ही अनुराग है तो **चरक** और **सुश्रुत** को भी छोड़कर भेड और जतुकर्णादि के बनाये ग्रन्थ ही पढ़ने चाहिए। वस्तुतः जो कुछ भी सुभाषित हो उसको ग्रहण करना चाहिए।[3]

द्रव्यों का उल्लेख

अष्टांगहृदय के रचयिता ने औषधादि के काम में आनेवाले द्रव्यों की जो तालिका दी है वह लगभग वही है, जिसका चरक और सुश्रुत ने उल्लेख किया है। वाग्भट ने लगभग सभी प्रमुख अध्यायों में यह वाक्य दुहराया है–"इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः" अर्थात् अमुक अमुक विषय का हम व्याख्यान करेंगे, जैसा कि आत्रेय आदि महर्षियों ने कहा था। **अष्टांगहृदय** के सूत्रस्थान का ५वाँ अध्याय "द्रवद्रव्य विज्ञानीय अध्याय" है। द्रव पाँच माने जाते हैं—पानी, दूध, ईख का रस, तेल और मद्य। इनमें से पानी दो प्रकार का है, दिव्य (आकाश का) और भौम। सुश्रुत के अनुसार दिव्य जल चार प्रकार का होता है—धार, कार (ओला), हैम और तौषार। धार जल गाङ्ग (गंगा के समान निर्मल) और सामुद्र (सुश्रुत, सूत्र ४५।७) है। गाङ्ग जल सबमें श्रेष्ठ है। वर्षा के उस बरसते जल को गाङ्गजल कहते हैं, जिससे चाँदी के पात्र में रखा हुआ

१. वाते पित्ते श्लेष्मशान्तौ च पथ्यं, तैलं सर्पिर्माक्षिकं च क्रमेण।
एतद् ब्रह्मा भाषतां ब्रह्मजो वा, का निर्मन्त्रे वक्तृभेदोक्तिशक्तिः ।।
(हृदय, उत्तर० ४०।८६)

२. अभिधातृवशात् किं वा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्ब्यताम् ।। (हृदय, उत्तर० ४०।८७)

३. ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेडाद्याः किं न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम् ।।
(हृदय, उत्तर० ४०।८८)

निर्मल शालि धान्य अक्लिन्न और अविवर्ण रहे। वही पेय माना गया है।[1] वर्षा के जिस जल में ये गुण नहीं हों वह सामुद्र है, और वह केवल आश्विन मास में पिया जाना चाहिए।[2] आन्तरिक्ष जल से मिलता-जुलता ही कुछ कुछ वह पानी है जो काली या श्वेत भूमि का हो और जिस तक सूर्य की किरणें और वायु पूरी तरह पहुँचती हों।[3] खात (खोद कर निकाला), धौत (झरने का), शिलापृष्ठ से बहता हुआ और वस्त्रादि से छाना हुआ सोने या मिट्टी के बर्तन में रखा हुआ अविकृत जल पीने योग्य माना गया है।[4] आन्तरिक्ष जल न मिलने पर भूमिष्ठ जल पीना चाहिए, जो स्थान-भेद से आठ प्रकार का माना गया है—[5] कौप (कुए का), सारस (बड़े तालाब का), ताडाग (छोटे तालाबों का), चौण्डच (पर्वतीय भूमि को तोड़कर निकला), प्रास्रवण (झरने का), औद्भिद् (स्रोत, चश्मे का), वापी (बावली) और नदी-तोय (नदी का पानी)।

अष्टांगसंग्रह में दूषित जल का विवरण विस्तार से दिया हुआ है। वह जल दूषित है जो सूर्य, चन्द्र और वायु के सम्पर्क में न आता हो, छोटे-छोटे कीड़े जिसमें हों, जिसमें गन्दा बरसाती पानी मिला हो, जो विवर्ण, मलिन और बहुत फेन से युक्त हो।[6] ऐसे पानी का उपयोग नहीं करना चाहिए। पर यदि उपयोग करना ही पड़े, तो इसे मोटे कपड़े से छानना चाहिए, छोटे कीड़े मकोड़ों से सुरक्षित रखना चाहिए। आग पर गरम करके, धूप में रखकर, अथवा तप्त लोहा इसमें बुझाकर इसे शुद्ध करना चाहिए। पर्णीमूल (ऐरक), बिसग्रन्थि, मुक्ता, कतक (निर्मली), शैवाल, वस्त्र, गोमेद मणि

१. येनाभिवृष्टममलं शाल्यन्नं राजते स्थितम्।
अक्लिन्नमविवर्णं च तत्पेयं गाङ्गम्॥ (हृदय, सू० ५।३) (संग्रह, सू० ६।६)

२. अन्यथा—
सामुद्रं, तन्नपातव्यं मासादाश्वयुजाद्विना। (हृदय, सू० ५।४)
(सुश्रुत में भी कहा है—सामुद्रमप्याश्वयुजे मासि गृहीतं गाङ्गवद् भवति)।

३. तदभावे च भूमिष्ठमान्तरिक्षानुकारि यत्।
शुचि पृथ्वसितश्वेते देशेऽर्कपवनाहतम्। (हृदय, सू० ५।५)

४. खातधौतशिलापृष्ठवस्त्रादिभ्यः स्रुतं जलम्॥
हेममृन्मयपात्रस्थमविपन्नं सदा पिबेत्॥ (संग्रह, सू० ६।७-८)

५. कौपसारसताडागचौण्डचप्रास्रवणौद्भिदम्।
वापीनदीतोयमिति तत् पुनः स्मृतमष्टधा॥ (संग्रह, सू० ६।१२-१३)

६. सूर्येन्दुपवनादृष्टं जुष्टं च क्षुद्रजन्तुभिः।
अभिवृष्टं विवर्णं च कलुषं स्थूलफेनिलम्॥ (संग्रह, सू० ६।२२)

आदि के प्रयोग से भी पानी साफ़ किया जा सकता है। इसकी दुर्गन्ध पाटला, करवीर (कनेर) आदि के फूलों के प्रयोग से मिटायी जा सकती है।[१] पानी उबालकर या पकाकर दिये जाने का भी उल्लेख है।[२] पानी उबालकर तो गरम किया ही जा सकता है, इसे गरम किये पत्थर, चाँदी, मिट्टी, स्वर्ण, और लाख से अथवा सूरज की किरणों से भी शुद्ध किया जा सकता है।[३] नारियल के जल (डाब के पानी) को स्निग्ध, स्वादिष्ठ, हलका, प्यास का नाश करनेवाला और मूत्रशोधक बताया गया है।[४]

क्षीरवर्ग में **सुश्रुत** और **चरक** की भाँति वाग्भट ने अपने दोनों ग्रन्थों में ही गाय, भैंस, बकरी, हथिनी, स्त्री, भेड़, ऊँटनी, घोड़ी इनके आठ प्रकार के दूधों का उल्लेख किया है।[५] धारोष्ण दूध का पान अमृत के समान बतलाया है। किन्तु बहुत औटाया दूध भारी बताया गया है।[६] दूध के अतिरिक्त गव्य पदार्थों में दधि (दही), तक्र (मट्ठा या ताक), मस्तु (एक प्रकार का मट्ठा, अथवा दही को कपड़े में निचोड़नेपर उससे निकला पानी), नवनीत (मक्खन), घृतमण्ड (घी की मांड़ी अथवा ऊपर का स्वच्छ भाग), किलाट, कूर्चिका, तक्रपिण्डिका, मोरट, क्षीरशाक और पीयूष इनका उल्लेख है।[७]

१. तद् वर्जयेदभावे वा तोयस्यान्यस्य शस्यते ॥
घनवस्त्र परिस्रावैः क्षुद्रजन्त्वभिरक्षणम् ।
व्यापन्नस्यास्य तपनमग्न्यर्कायसपिण्डकैः ॥
पर्णीमूल बिसग्रन्थि मुक्ताकतकशैवलैः ।
वस्त्र गोमेदकाभ्यां वा कारयेत्तत्प्रसादनम् ॥
पाटलाकरवीरादिकुसुमैर्गन्धनाशनम् ॥ (संग्रह, सू० ६।२५–२८)

२. अजीर्णे क्वथितं चामे पक्वे जीर्णेऽपि नेतरत् ।
शीते विधिरयं तप्तेत्वजीर्णे शिशिरं त्यजेत् ॥ (संग्रह, सू० ६।२९)

३. पाषाणरूप्यमृद्धेमजतुतापार्कतापितम् । (संग्रह, सू० ६।४६)

४. नारिकेलोदकं स्निग्धं स्वादु वृष्यं हिमं लघु ।
तृष्णापित्तानिलहरं दीपनं बस्तिशोधनम् ॥ (संग्रह, सू० ६।४१; हृदय, सू० ५।१९)

५. गव्यंमाहिषमाजं च कारभं स्त्रैणमाविकम् ।
ऐभमैकशफं चेति क्षीरमष्टविधं स्मृतम् ॥ (संग्रह, सू० ६।५२=५३)

६. भवेद् गरीयोऽतिशृतं धारोष्णममृतोपमम् ॥ (संग्रह, सू० ६।६२मे)

७. बल्याः किलाटकूचीकातक्रपिण्डकमोरटाः ।
सक्षीरशाक पीयूषा रोचना वह्निसादनाः ॥ (संग्रह, सू० ६।७८-७९)

[दूध को दही या तक्र के साथ पकाने पर–जब घन और द्रव भाग अलग हो जाय–**कूर्चिका** तैयार होती है। जब बिना पकाये दोनों भाग अलग हों, तो इसे **क्षीरशाक** कहते हैं, घने भाग को अलग करने पर **किलाट** और द्रव भाग को **मोरट** कहते हैं। तुरत की ब्यायी गाय का दूध गरम करने पर जो पेवसी (खीस) बनती है, वह **पीयूष** है। तक्र को कपड़े में बाँध रखने पर जो ठोस भाग रह जाता है, वह **तक्र-पिण्डक** है।]

इक्षुवर्ग में ईख, पौण्ड्रक (पौंडा), फाणित (राब), नव गुड़ (नया गुड़), पुराण गुड़ (पुराना गुड़), मत्स्यण्डिका, खण्ड (खाँड) और सिता आदि शर्करा-पदार्थों का उल्लेख है।[1]

शहद के चार भेद बताये गये हैं—भ्रामर (भौरों का बनाया), पौत्तिक (बड़ी मधुमक्खियों का), क्षौद्र (पाली हुई मक्खियों का) और माक्षिक (साधारण मक्खियों का)।[2]

तैलवर्ग में तिल का तेल, एरण्ड तेल (अंडी का तेल), लाल एरण्ड का तेल, सरसों का तेल, अलसी का तेल, कुसुम्भ का तेल, करंज का तेल, नीम का तेल, सरल वृक्ष का तेल, तुवरक और भिलावे का तेल और इनके अतिरिक्त बहेड़ा (अक्ष), अतिमुक्ता, अक्षोट (अखरोट), नारियल, महुआ, त्रपुस (खीरा), एर्वारुक (ककड़ी), कूष्माण्ड (पेठा), श्लेष्मातक (लसौड़ा), प्रियाल (चिरौंजी), श्रीपर्णी (गम्भारी), किंशुक (ढाक)—इनके तेलों का वर्णन दिया गया है।

वसा-वर्ग में उल्लू, सूअर, पाकहंस और कुक्कुट की चर्बी श्रेष्ठ, पर कुम्भीर, महिष, काकमद्गु और कारण्ड की वसाएँ निन्दित बतायी गयी हैं। बकरी की वसा अच्छी, पर हाथी की निन्दित है।[3]

सुरावर्ग में सुरा, वारुणी, जगल और मेदक इन चार का उल्लेख आता है। शालि-धान्य को पीसकर बनाया गया मादक द्रव्य **सुरा** कहालाता है, इसमें से मण्ड नहीं निका-

१. मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुणवत्तमाः। (संग्रह, सू० ६।८८)

२. भ्रामरं पौत्तिकं क्षौद्रं माक्षिकं च यथोत्तरम्।
वरं जीर्णं च तेष्वन्त्ये द्वे एव ह्युपयोजयेत्॥ (संग्रह, सू० ६।९८)

३. औलूकी शौकरी पाकहंसजा कुक्कुटोद्भवा।
वसा श्रेष्ठा स्ववर्गेषु कुम्भीरमहिषोद्भवा॥
काकमद्गुवसा तद्वत्कारण्डोत्था च निन्दिता।
शाखादमेदसां छागं हास्तिनं च वरावरे॥ (संग्रह, सू० ६।११३-१४)

लते। सुरा के ऊपर के स्वच्छ मण्ड को **वारुणी** कहते हैं और नीचे के सान्द्र भाग को वक्कस या **जगल** कहते हैं। (कुछ आचार्य ताल-खर्जूर से तैयार की गयी मदिरा को वारुणी बताते हैं।) जगल के नीचे के भाग को **मेदक** कहा गया है। यह जगल से घनी होती है।

इनके अतिरिक्त बैभीतकी सुरा (बहेड़े से बनी), यवसुरा (जौ से बनी), कौहली (जौ के सत्तू से बनी सुरा), मधूलक, मार्द्वीक (द्राक्षारस से बनी), खार्जूर (खजूर से बनी), शार्करसुरा (शक्कर से बनी), गौड़ी (गुड़ से बनी) और शीधु (पकाये या बेपकाये ईख के रस से बनी) सुराओं का उल्लेख है। इस संबंध में अरिष्ट, मध्वासव, सुरासव, मैरेय, धातकी-फलासव और द्राक्षासव का भी विवरण है। उबालकर जो तैयार किये जायँ उन्हें अरिष्ट नाम दिया गया है (अरिष्टः क्वाथसिद्धः स्यात्), और बिना क्वाथ के जो बनें वे आसव हैं, ऐसा कुछ आचार्यों का विचार है।[१]

सिरका और काँजी को शुक्तवर्ग में रखा गया है। गुड़, ईख, मद्य और द्राक्ष से तो शुक्त तैयार किये ही जा सकते हैं, कन्द, मूल और फलों को आसुत करके भी शुक्त तैयार किये जा सकते हैं। **शाण्डाकी** का भी उल्लेख है जो हमारी काँजी के समान है। मूली, सरसों, शाक आदि को उबालकर, निचोड़कर इसमें काला ज़ीरा, राई और खटाई मिलाकर इसे तैयार किया जाता है। इनके अतिरिक्त धान्याम्ल (चावल की काँजी), तुषोदकाम्ल (भूसी की कांजी), सौवीरकाम्ल आदि का भी उल्लेख है।[२]

१. सुराऽनिलघ्नी (१२०), तद्गुणा वारुणी (१२०), जगल : पाचनो ग्राही रूक्षस्तद्वच्च मेदकः (१२२), बक्कसो हृतसारत्वाद् (१२२), बैभीतकी सुरा (१२३), विष्टम्भिनी यवसुरा (१२४), कौहली बृंहणी गुर्वी श्लेष्मलस्तु मधूलकः (१२४), यथाद्रव्यगुणोऽरिष्टः सर्वमद्यगुणाधिकः (१२५), मार्द्वीकं लेखनं (१२६), खार्जूरंवातलं गुरु (१२७), शार्करः सुरभिः स्वादुः (१२८), गौडस्तर्पणदीपनः (१२८), वातपित्तकरः शीधुः (१२९), छेदीमध्वासवः (१३०), सुरासवः तीक्ष्णमदः (१३०), मैरेयो मधुरः (१३१), धातक्यभिषुतो जीर्णः (१३१), द्राक्षासवो मधुसमः (१३२), द्राक्षेक्षुर्माक्षिकं शालिरुत्तमा व्रीहिपञ्चमाः। मद्याकरा यदेभ्योऽन्यत्तन्मद्यप्रतिरूपकम्। गुणैर्यथोल्बणैर्विद्यान्मद्यमाकरसंकरात्॥ (१३४)—(संग्रह, सू० ६।१२०-१३४)

२. गुडेक्षुमद्यमार्द्वीकशुक्तं लघु यथोत्तरम्।
कन्दमूलफलाद्यं च तद्वद् विद्यात्तदासुतम्।
शाण्डाकी चासुतं चान्यत्कालाम्लं रोचनं लघु॥

वाग्भट ने कृतान्नों (पकाये या तैयार किये भोजनों) के अन्तर्गत मण्ड, पेया, विलेपी और ओदन का उल्लेख किया है। सिक्थरहित द्रव भाग को **मण्ड** (माँड़) और सिक्थ-युक्त द्रव को **यवागू** कहा है। जिस यवागू में सिक्थ थोड़ा ही होता है, उसे **पेया** कहते हैं, और जिसमें सिक्थ बहुत हो, उसे **विलेपी** कहते हैं (दे० पृष्ठ १७९) (पेया को लपसी और विलेपी को हलुआ माना जा सकता है)। पके हुए भात को **ओदन** कहते हैं।[1]

मांसों के शोरवे का नाम **रस** है। मूँग, कुलथी और माष की दालों के रसे को **यूष** कहते हैं। बेर आदि के फलों से जो रस तैयार होते हैं उन्हें **खल** कहते हैं। मूली, तिल की पिट्ठी, अनार आदि से जो खट्टे रस तैयार किये जाते हैं उन्हें **काम्बलिक** कहते हैं।[2]

तेल, घी आदि में भूने हुए पदार्थों को **कृत**, और इनसे रहित पदार्थों को **अकृत** कहा गया है। जिस किसी भी पक्वान्न में थोड़ा सा मांस मिला दिया जाय, उसका नाम **दकलावणिक** है।[3]

धान्याम्लं भेदि तीक्ष्णोष्णं पित्तकृत् स्पर्शशीतलम्।....
एभिरेव गुणैर्युक्ते सौवीरकतुषोदके ॥ (संग्रह, सू० ६।१३६-१३९)

१. मण्डपेयाविलेपीनामोदनस्य च लाघवम्। (संग्रह, सू० ७।३९)

२. पिशितेन रसस्तत्रयूषो धान्यैः खलः फलैः।
मूलैश्च तिलकल्काम्लप्रायःकाम्बलिकः स्मृतः ॥ (संग्रह, सू० ७।५०)
खल और काम्बलिक की व्याख्या डल्हण ने इस प्रकार की है—
'कपित्थ तक्रचाङ्गेरीमरिचाजाजिचित्रकैः।
सुपक्वः खलयूषोऽयमथ काम्बलिकोऽपरः ॥
दध्यम्ललवणस्नेहतिलमाषसमन्वितः ॥
दधिदाडिममाषशाकस्नेहयुक्तं व्यञ्जनं खलः ॥'
'तिलं सुलुञ्चितं कृत्वा पिष्टं क्षीरे त्र्यहोषितम्।
पटे पूतं पचेद् धीमानार्द्रकावापिते घृते।
मरिचाजाजिसामुद्रैर्युक्तस्तिलखलो भवेत्।'
'दधिमस्त्वम्लसिद्धस्तुयूषःकाम्बलिकःस्मृतः।
पुनः सौवर्चलाजाजीबीजपूरकसौरभैः।
संयोज्य मथितः स्वच्छ एष काम्बलिको भवेत् ॥' (डल्हण, सुश्रुत सू० अ० ४६)

३. ज्ञेया कृताकृतास्ते तु स्नेहादियुतवर्जिताः।
अल्पमांसादयः स्वच्छा दकलावणिकाः स्मृताः ॥ (संग्रह, सू० ७।५१)

द्रव्यगुण समान रहने पर भी यूष की अपेक्षा रस, रस की अपेक्षा सूप और सूप से शाक उत्तरोत्तर गुरु (भारी) हैं। तनु (पतले, रसेदार) की अपेक्षा सान्द्र (गाढ़े) पदार्थ भारी माने गये हैं।[1]

पर्पट (पापड़), क्षारपर्पट (सज्जी आदि मिलाकर बनाये गये पापड़), राग (सिता-मधु आदि से बने), षाडव (अम्लसिद्ध शाक, शर्करादि से बने), मन्थ (ठंडे पानी में घी मिला सत्तू सानकर यह बनता है, जो न अधिक पतला हो, न अधिक गाढ़ा), रसाला (श्रीखंड), पानक (तरह-तरह के शर्बत), लाजा (खील), पृथुक (चिपिट, चिउड़े), धान (भाड़ में भूने हुए), सत्तू (चाहे तो पिण्डी बनाकर और चाहे अवलेह के रूप में पतला सानकर), शष्कुली (पूड़ी-कचौड़ी), मोदक (लड्डू), कर्कन्धु और बेर सुखाकर और पीसकर बनाया गया सत्तू, पिण्याक (कूटा हुआ तिल) और वेशवार मांस जो सोंठ, मरिच आदि मिलाकर अथवा मूँग आदि धान्यों से तैयार किये जाते थे)—इन सब कृतान्नों का उल्लेख वाग्भट ने अपने ग्रन्थों में किया है।[2]

१. विद्याद्यूषेरसे सूपे शाके चैवोत्तरोत्तरम्।
गौरवं तनु सान्द्राम्लस्वादुष्वेषु पृथक् तथा॥ (संग्रह, सू० ७।५२)

२. पर्पटा लघवो रुच्या लघीयान् क्षारपर्पटः (५४), गुरवो रागखाण्डवाः (५४), तृट्छर्दिश्रमनुन्मन्थः शीतः सद्यो बलप्रदः (५५), रसाला बृंहणी वृष्या (५६), वलमहरं पानकं प्रीणनं गुरु (५७), लाजास्तृट्छर्द्यतीसारमेहमेदःकफच्छिदः (५८), पृथुका गुरवो बल्याः (५९), धाना विष्टम्भिनी (५९)।

कण्ठनेत्रामयक्षुत्तृट् श्रमच्छर्दिव्रणापहा।
सक्तवो लघवः पानात्सद्य एव बलप्रदाः॥
निचयात्कठिना गुर्वी प्रोक्ता पिण्डी मृदुर्लघुः।
सक्तूनां द्रवतायोगाल्लघीयस्यवलेहिका।
शष्कुलीमोदकादीनां व्याख्यातैवं च कल्पना॥ (६०–६२)
कर्कन्धुबदरादीनां श्रमतृष्णाक्लमच्छिदः।
सक्तवोऽम्लरसा हृद्या यथाद्रव्यगुणाश्च ते॥
पिण्याको ग्लपनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः।
वेसवारो गुरुः स्निग्धो बलोपचयवर्धनः॥
मुद्गादिजास्तु गुरवो यथाद्रव्यगुणानुगाः। (संग्रह, सू० ७।५४-६५)

कुछ लोग राग का अर्थ शर्बत और षाडव का अर्थ मुरब्बा करते हैं, कुछ लोग

पूये या बाटियाँ (अपूप) कुकूलक (गोबर की कंडी) पर, खर्पर (तप्त मिट्टी के खपड़ों) पर, भ्राष्ट्र (भाड़) में, कन्दु (पंजाबी तन्दूर) पर अथवा अंगारों (जलते हुए कोयलों) पर तैयार किये जाने का उल्लेख है। इन अपूपों की विभिन्न जातियों के नाम घारी, केण्डरिका आदि हैं।[1]

भूमिसात्म्य--विभिन्न प्रदेशों के लोगों की भोजन संबंधी रुचियाँ भी विभिन्न हैं, इसका परिचय वाग्भट ने अष्टांगसंग्रह में एक स्थल पर दिया है। मरुवासी (मारवाड़ी) को दही, दूध और करीर, प्राच्य देशवालों को क्षार, सिन्धु देशवालों को मछली, अश्मक (पठान) लोगों को तैल और अम्ल, मलय देशवालों को कन्दमूल, कोंकणवालों को पेया, उदीच्यों (उत्तर के पर्वतीयों) को मन्थ, अवन्ती देशवालों को गेहूँ, बाह्लीक, बाह्लव और चीन देशवालों को मांस को अंगारों पर सेककर खाना सात्म्य है। शूलीक, यवन और शकों को मांस, गेहूँ और द्राक्षा को शस्त्र में फँसाकर उन्हें आग पर भूनकर खाना सात्म्य है।[2]

धातुओं का प्रयोग--वाग्भट ने **अष्टांगसंग्रह** में सुवर्ण, रूप्य (चाँदी), ताम्र,

राग को रायता मानते हैं। कुछ लोग पानक के दो भेद करते हैं--राग और षाडव--

द्राक्षाक्वाथः शालिसक्तूपपन्नो मध्वंशाढ्यः सत्रिजातः सधान्यः।
गौडोपेतः शर्करापांसुमिश्रो रागो ज्ञेयः षाडवो दाडिमाम्लः॥
सितारुचकसिन्धूत्थैः सवृक्षाम्लपरूषकैः।
जम्बूफलरसैर्युक्तो रागो राजिकया कृतः॥
अथवा--**क्वथितन्तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम्।**
तैलनागरसंयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः॥

१. कुकूलखर्परभ्राष्ट्रकट्वङ्गारविपाचितान्।
एकयोनींल्लघून्विद्यादपूपानुत्तरोत्तरम्॥
घारीकेण्डरिकाद्याश्च गुरवश्च यथोत्तरम्॥ (संग्रह, सू० ७।६६-६७)

२. भूमिसात्म्यं दधिक्षीरकरीरं मरुवासिषु।
क्षारः प्राच्येषु मत्स्यास्तु सैन्धवेष्वश्मकेषु तु॥
तैलाम्लं कन्दमूलादि मलये कोंकणे पुनः।
पेया मन्थ उदीच्येषु गोधूमोऽवन्तिभूमिषु॥
बाह्लीका बाह्लवाश्चीनाः शूलीका यवनाः शकाः।
मांसगोधूममार्द्वीकशस्त्रवैश्वानरोचिताः॥ (संग्रह, सू० ७।२३२-२३४)

कांस्य, त्रपु (राँगा), सीसा, कृष्ण लोह, तीक्ष्ण लोह, इतनी धातुओं का उल्लेख किया है ।[१]

मणि—पद्मराग, महानील, पुष्पराग, विदूरक, मुक्ता, विद्रुम (मूँगा), वज्रेन्द्र, वैदूर्य और स्फटिक इनका उल्लेख अष्टांग-संग्रह में है ।[२]

रसादिक पदार्थ—धातुओं और मणियों के अतिरिक्त काच का भी उल्लेख है। काच शब्द संस्कृत साहित्य में शीशे के लिए, अथवा काच-नमक के लिए और उस मिट्टी के लिए भी प्रयोग में आता है, जिससे काच बनते हैं। वह काच जिसके लिए "सक्षार" शब्द का भी प्रयोग हुआ है, संभवतः काच लवण ही है ।[३] शंख और उदधिमल (समुद्र-फेन) का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त तुत्थ, गैरिक (गेरू), मनोह्वा (मनःशिला), हरिताल, अंजन (स्रोतोऽञ्जन, सौवीराञ्जन और रसाञ्जन), शिलाजतु, वंशरोचना (वंशलोचन) और तवक्षीरी (तुकाक्षीरी) का उल्लेख भी आता है ।[४]

लवण और क्षार—लवणों के अन्तर्गत सैन्धव, सौवर्चल, विड, सामुद्र, औद्भिद, कृष्ण लवण, रोमक लवण, और क्षारों के अन्तर्गत यवक्षार तथा स्वर्जक्षार (सज्जी) का उल्लेख किया गया है। स्वर्जक्षार यवक्षार से गुणों में कम है पर क्षार कार्य में (जलाने में) अधिक है। सब क्षारों में स्वर्जक्षार अति तीक्ष्ण, उष्ण, कृमिनाशक और लघु है ।[५]

१. सुवर्णं बृंहणं (१२), रूप्यं स्निग्धं (१३), ताम्रंसतिक्तमधुरं (१४), कांस्यं-कषायानुरसं (१५), लेखनं पित्तलं किञ्चित् त्रपु सीसं च तद्गुणम् (१६), चक्षुष्यं कृष्णलोहं (१७), तद्वत्तीक्ष्णं विशेषेण (१८)। (संग्रह, सू० १२।१२-१८)

२. पद्मरागमहानीलपुष्परागविदूरकाः।
मुक्ताविद्रुमवज्रेन्द्रवैदूर्यस्फटिकादिकम् ।। (संग्रह, सू० १२।१९)

३. सक्षार उष्णवीर्यश्च काचो दृष्टिकृदञ्जनात् । (संग्रह, सू० १२।२१)

४. शंखोदधिमलौ शीतौ (२२), तुत्थकं कटु सक्षारं (२२), विशदो गैरिकः स्निग्धः (२३), कफघ्नी तिक्तकटुका मनोह्वा (२४), स्निग्धं कषायकटुकं हरितालं (२४), कषायं मधुरं शीतं लेखनं स्निग्धमञ्जनम् (२५), स्रोतोऽञ्जनं वरं तत्र ततः सौवीरकाञ्जनम्, कफघ्नं तिक्तकटुकं छेदि सोष्णं रसाञ्जनम् (२६), कटुकं शिलाजतु रसायनम् (२७), कासघ्नी वंशरोचना (२९), तवक्षीरी क्षय श्वासकासघ्नी (२९) । (संग्रह, सू० १२।२२–२९)

५. लघु सौवर्चलं हृद्यं (३२), ऊर्ध्वाधः कफवातानुलोमनं दीपनं विडम् (३३)

क्षार बनाने का विधान—यवक्षार और स्वर्जक्षार को कास्टिक (दाहक) क्षारों में परिणत करने की विधि का उल्लेख सुश्रुत में आता है। क्षारों के उपयोग से कभी-कभी उन रोगों में भी सहायता मिलती है, जो शस्त्रकर्म द्वारा भी असाध्य हैं, इसलिए छेदन-भेदन कर्म में क्षारों का उपयोग विशेष महत्त्व का है।[1] इस उद्देश्य से वाग्भट ने **अष्टांगहृदय** में तीनों प्रकार के क्षारों का वर्णन किया है—मृदु क्षार, मध्यम क्षार और तीक्ष्ण क्षार। दग्ध चूने की सहायता से तीक्ष्ण क्षार बनाने की विधि भी दी है, जो सुश्रुत की विधि से मिलती-जुलती है।[2]

मोखा, अमलतास, केला, फरहद, अश्वकर्ण, स्नुही, ढाक, आस्फोता, कूड़ा, इन्द्रवृक्ष, आक, पूतीकरञ्ज, नाटा करञ्ज, कनेर, काकजंघा, अपामार्ग, अग्निमन्था, चित्रक, तिल्व, इन्हें गीला ही मूल और शाखाओं के साथ लाकर टुकड़े-टुकड़े कर ले। चारों को शातकी, जौ के शूक और नाल इनको वायुरहित स्थान पर एकत्रित करके तथा मुष्कक आदि को शिलापृष्ठ पर इकट्ठा करके अलग-अलग जलाये। जलाते समय मुष्कक के ढेर में चूने के पत्थर भी डाल दे।

अग्नि के शान्त हो जाने पर चूने के पत्थरों की भस्म को अलग कर ले। अब अमलतास आदि की भस्म एक द्रोण और मुष्कक की भस्म कुछ अधिक ले। इनके

विपाके स्वादु सामुद्रं (३४), तीक्ष्णमुत्क्लेदि चौद्भिदम् (३४), कृष्णे सौवर्चलगुणा (३५), रोमकं लघु पांसूत्थं (३५), श्वासार्शःकफकासांश्च शमयेद्यवशूकजः (३७), स्वर्जिका तद्गुणान्न्यूना क्षारेण तु ततोऽधिका। क्षारः सर्वश्च परमं तीक्ष्णोष्णः कृमिजिल्लघुः (३८)। (संग्रह, सू० १२।३२–३८)

१. सर्वशस्त्रानुशस्त्राणां क्षारः श्रेष्ठो बहूनि यत्।
छेद्य भेद्यादिकर्माणि कुरुते विषमेष्वपि ।। (हृदय, सू० ३०।१)

२. कालमुष्कक शम्याककदलीपारिभद्रकान् ।।
अश्वकर्णमहावृक्षपलाशास्फोतवृक्षकान् ।।
इन्द्रवृक्षार्कपूतीकनक्तमालाश्वमारकान् ।।
काकजङ्घामपामार्गमग्निमन्थाग्नितिल्विकान् ।
सार्द्रान् समूलशाखादीन् खण्डशः परिकल्पितान् ।।
कोशातकीश्चतस्रश्च शूकं नालं यवस्य च।
निवाते निचयीकृत्य पृथक् तानि शिलातले ।।
प्रक्षिप्य मुष्ककचये सुधाश्मानि च दीपयेत्। (हृदय, सू० ३०।८–१२)

आधे भर गोमूत्र एवं आधे भर जल, इन दोनों को मिलाकर इसमें घोलकर मोटे वस्त्र से छाने। इस प्रकार तब तक छानता रहे, जब तक इस जल में पिच्छलता, लालिमा, निर्मलता और तीक्ष्णता न आये। फिर इस छने हुए पानी को लोहे के पात्र में कलछी से चलाते हुए पकाये। चूने के पत्थरों की भस्म, सीप, क्षीरपंक (कौड़ी), शंखनाभि, इनको लोहपात्र में अग्नि में लाल करके इसी क्षारजल से बुझाये तथा इसी क्षारजल से इनको पीसकर एक कुडव की मात्रा में पूर्वोक्त क्षारजल में इनका प्रतिवाप दे। (द्रव द्रव्य में दूसरे महीन पिसे हुए द्रव्य को मिलाना प्रतिमाप या **प्रतिवाप** कहलाता है।)

इनके अतिरिक्त मुर्गा, मोर, गीध, कंक और कबूतर की बीट तथा गौ आदि पशुओं एवं पक्षियों के पित्त और हरिताल, मनःशिला, लवण—इन्हें महीन पीसकर सबमें कलछी से चलाते हुए मिला देना चाहिए। जब इसमें भाप निकलने लगे और बुलबुले उठने लगें और लेई के समान गाढ़ा हो जाय, तो आग पर से इसे उतार ले। तब ठंढा होने पर लोह के पात्र में रखकर जौ के ढेर में इस पात्र को रख दे। यह मध्यम क्षार है।[1]

१. ततस्तिलानां कुतलैर्दग्ध्वाऽग्नौ विगते पृथक्।
कृत्वा सुधाश्मनां भस्म द्रोणं त्वितरभस्मनः॥
मुष्ककोत्तरमादाय प्रत्येकं जलमूत्रयोः।
गालयेदर्धभारेण महता वाससा च तत्॥
यावत्पिच्छलरक्ताच्छस्तीक्ष्णो जातस्तदा च तम्॥
गृहीत्वा क्षारनिष्यन्दं पचेल्लौह्यां विघट्टयन्।
पच्यमाने ततस्तस्मिंस्ताः सुधाभस्मशर्कराः॥
शुक्तीः क्षीरपङ्कशंखनाभीश्चायसभाजने।
कृत्वाग्निवर्णान्बहुशः क्षारोत्थे कुडवोन्मिते॥
निर्वाप्य पिष्ट्वा तेनैव प्रतीवापं विनिक्षिपेत्।
श्लक्ष्णं शकृद्दक्षशिखिगृध्रकङ्ककपोतजम्॥
चतुष्पात्पक्षिपित्तालमनोह्वा लवणानि च।
परितः सुतरां चातो दर्व्या तमवघट्टयेत्।
सबाष्पैश्च यदोत्तिष्ठेद् बुद्बुदैर्लेहवद् घनः।
अवतार्य तदा शीतो यवराशावयोमयः॥
स्थाप्योऽयं मध्यमः क्षारः—(हृदय, सू० ३०।१२–२०)

मृदु क्षार में पीसकर डाले जानेवाले चूने के पत्थरों की भस्म, सीप-कौड़ी आदि का प्रतीवाप नहीं दिया जाता, अपितु इन द्रव्यों को क्षार में बुझाकर निकाल लिया जाता है। **तीक्ष्ण क्षार** में पूर्वोक्त द्रव्यों का प्रतीवापन करने के साथ-साथ लांगलिका, दन्ती, चित्रक, अतीस, वच, सज्जीक्षार, कनकक्षीरी, हींग, कण्टककरञ्ज के पत्ते, तालपत्री और विड नमक इनका भी निक्षेप करते हैं, और सात दिन के बाद इस क्षार का उपयोग करते हैं।[1]

विष और उसकी पहचान—अष्टांगसंग्रह के सूत्रस्थान के आठवें अध्याय का नाम अन्न-रक्षाविधि है। इसमें विषयुक्त भोजन के निम्न लक्षण दिये हुए हैं—

स्राव्य या छानने योग्य भोजन विष मिलने पर अस्राव्य बन जाता है। देर में पकता है। पक जाने पर शीघ्र ही बासी भोजन के समान ठंडा और कठोर हो जाता है। इसके स्वाभाविक वर्ण-गन्ध-रस मिट जाते हैं, यह क्लिन्न हो जाता है और चारो ओर इसमें चन्द्रिकाएँ दीखती हैं।[2]

विषयुक्त व्यंजन शीघ्र सूख जाते हैं। विषयुक्त क्वाथ मलिन हो जाते हैं। व्यंजनों की अपनी छाया हीन, अधिक अथवा विकृत प्रतीत होती है, अथवा दिखाई ही नहीं देती। ऊपर फेन-पटल (झाग-समूह) आ जाता है, अथवा सीमन्त के ऊपर नाना प्रकार की रेखाएँ, तन्तु और बुलबुले बन जाते हैं। जिस अन्न में लवण प्रचुर हो, उसमें फेनमाला विशेष दीखती है।[3]

विषयुक्त रसों (मांसरस या यूषों) में नीली रेखाएँ, दूध में ताम्र वर्ण, मद्य और पानी में काली, दही में श्याव-वर्ण, तक्र में नीली-पीली, मस्तु में कबूतर के रंग की,

१. न तु पिष्ट्वा क्षिपेन्मृदौ। निर्वाप्यापनयेत्तीक्ष्णे पूर्ववत् प्रतिवापनम्॥
तथा लाङ्गलिकादन्तिचित्रकातिविषावचाः।
स्वर्जिका कनकक्षीरिहिङ्गुपूतीकपल्लवाः।
तालपत्री विडं चेति सप्तरात्रात्परं तु सः॥
योज्यः तीक्ष्णोऽनिलश्लेष्ममेदोजेष्वर्बुदादिषु॥ (हृदय, सू० ३०।२०–२२)

२. तत्र सविषमन्नं स्राव्यमानमविस्राव्यं भवति, चिरेण पच्यते पक्वं च सद्यः पर्युषितमिव निरूष्मस्तब्धं च जायते यथा स्ववर्णगन्धरसैर्व्यापद्यते प्रक्लिद्यते चन्द्रिकाचितं च भवति। (संग्रह, सू० ८।१०)

३. व्यञ्जनानामाशु शुष्कत्वं भवति क्वाथस्यध्यामता हीनातिरिक्तविकृतानां चात्र छायानां दर्शनमदर्शनमेव वा फेनपटलसीमन्तकोर्ध्वविविधराजितन्तुबुद्बुद प्रादुर्भावः। विशेषेण लवणोल्बणे फेनमाला। (संग्रह, सू० ८।११)

धान्याम्ल में काली, द्रव ओषधियों में कपिल रंग की, घी में पानी के रंग की, मधु में हरे रंग की, तेल में लाल रंग की और चर्बी की सी गंधवाली होती हैं।[1]

विष के कारण कच्चे फल पक जाते हैं और पके फल गल जाते हैं।[2]

विष के कारण मालाएँ मुरझा जाती हैं, गन्धरहित हो जाती हैं, और फूलों के अग्रभाग झड़ जाते हैं।[3]

विष के कारण लोह (धातु) और मणि आदि से बने गहने कीचड़ के समान मैले हो जाते हैं। इनके स्नेह, रंग, गौरव, प्रभा, वर्ण और स्पर्श गुण नष्ट हो जाते हैं।[4]

विषयुक्त अन्न को पाकर अग्नि एकावर्त (मुसलाकार), रुक्ष, मन्द-ज्योति की, इन्द्रधनुष के समान अनेक रंगोंवाली हो जाती और अधिक चटचट करती है। अग्नि का धुआँ मुरदे के समान गन्धवाला तथा मूर्च्छा, लाला-स्राव, रोमांच, शिरोवेदना, पीनस और आँखों में बेचैनी पैदा करनेवाला होता है।[5] अष्टांगहृदय में विष-प्रकरण श्लोकबद्ध है, लगभग इसी प्रकार का विस्तार इस ग्रन्थ के सूत्रस्थान के ७वें अध्याय में दिया गया है।

विषापहर अंजन—यों तो विषनिवारण के अनेक योग अष्टांगसंग्रह में दिये गये हैं, पर एक अंजन विशेष रूप से दिया गया है, जिसका आविष्कार विदेह राजा ने किया था।

१. रसस्य मध्ये नीला राजी। पयस्ताम्रा। मद्यतोययोः काली। दघ्नः श्यावा। तक्रस्याऽऽनीलपीता। मस्तुनः कपोताभा। धान्याम्लस्य कृष्णा। द्रवौषधस्य कपिला। घृतस्य सलिलाभा। क्षौद्रस्य हरिता। तैलस्यारुणा वसागन्धश्च॥ (संग्रह, सू० ८।१२)
२. फलानामामानां पाकः। पक्वानां प्रकोथः। (संग्रह, सू० ८।१३)
३. माल्यस्य म्लानता गन्धनाशः स्फुटिताग्रत्वम्। (संग्रह, सू० ८।१५)
४. लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहः स्नेहरागगौरवप्रभावर्णस्पर्शनाशश्च। (संग्रह, सू० ८।१७)
५. वह्निस्तु सविषमन्नं प्राप्यैकावर्त्तो रूक्षमन्दार्चिरिन्द्रायुधवदनेकवर्णज्वालो भृशं चटचटायते। कुणपगन्धी धूमश्चास्य मूर्च्छाप्रसेकरोमहर्षशिरोवेदनापीनस-दृष्टयाकुलताः जनयति। (संग्रह, सू० ८।२०–२१)
६. अनन्तरं च तेन विदेहाधिपोपदिष्टेन सर्वार्थेषु सिद्धेनाञ्जनेन यथोक्तानामेवा-ञ्जनभाजनद्रव्याणामन्यतमया शलाकया गोब्राह्मणपूजापूर्वकं शुचिः सनियमो भूत्वा धारणीमिमां विद्यामधीयानः पूतः पूर्वमक्षि दक्षिणमञ्जयेत्। (संग्रह, सू० ८।९९)

यह बड़ी निष्ठा-पूजा के साथ आँखों में शलाका द्वारा लगाया जाता था। यह सौवीरांजन (८ भाग), स्वर्ण, चाँदी और तांबा (१–१ भाग) इनको पीसकर मूषा में खदिर, कदर, धव, तिनिश अथवा गोबर के कंडों से तपाकर बनाते थे। फिर इसे अनेक ओषधियों के रस में बुझाते थे (जैसे गोबर के रस, गोमूत्र, घृत, दधि, हरीतक, आमलक, बिभीतक तथा फलों के क्वाथों में और मांसरसों में)। फिर श्वेत वस्त्र में बाँधकर बारह रात वर्षा-जल में डुबाकर रखते थे। फिर सुखाकर इसमें फिटकरी, मोती, मूँगा आदि पीसकर मिलाते थे। अंजन को रखने के लिए अंजनिका (सुरमेदानी) सोना, चाँदी, ताँबा, शंख, पत्थर, हाथीदाँत, गाय के सींग, वैडूर्य, स्फटिक, मेषशृंग आदि से बनायी जाती थी।[1]

पारा, गन्धक और अन्य रसों का अभाव—हम कह चुके हैं कि यह ग्रन्थ **चरक** और **सुश्रुत** की परम्परा का है। शल्यकर्म की दृष्टि से तो यह **सुश्रुत** की पद्धति का ग्रन्थ है। **अष्टांगहृदय** के सूत्रस्थान का २६वाँ अध्याय शस्त्रविधि-अध्याय कहलाता है, और २५वाँ अध्याय यंत्रविधि-अध्याय है। इसी प्रकार **अष्टांगसंग्रह**, सूत्रस्थान के ३४वें अध्याय में यन्त्र और शस्त्रों का विस्तृत विवरण है।

वाग्भट के समय पारे और गन्धक का प्रयोग प्रचलित नहीं हो पाया था। अहिफेन या अफीम भी प्रचार नहीं पा सकी थी। ये बातें ग्रन्थ की प्राचीनता पर प्रकाश डालती हैं।

---

१. तस्याष्टौ भागाः कनकरजतोदुम्बराणामेकैको भागस्तत्सर्वं मूषायां प्रक्षिप्य बलिमङ्गलपूर्वकमग्निमुपसमाधाय खदिरकदरधवस्यन्दनान्यतमदारुभिर्गोमयैर्वा प्रज्वालयेत्।......

तस्मिन्नग्नौ तदञ्जनं ध्मातं ध्मातमावर्त्य पृथक् पृथक् निषेचयेद् गोशकृद्रसमूत्रघृतदधिक्षौद्रवसामज्जतैलमद्य सर्वगन्धाम्बुशर्करोदकेक्षुरसेषु तथा हरीतक्यामलकबिभीतककाश्मर्यमृद्वीकाभृङ्गाटककसेरुकोत्पलनलिनसौगन्धिकमृणालिकाक्वाथेषु तथा लावकपिञ्जलैणशश हरिणकुलीर रसेषु तथा मधुकचन्दनकालानुसार्य—नलदपद्मकोशीरमञ्जिष्ठाऽनन्तागैरिककुंकुमोदकेषु। ततः शुक्लवाससि बद्ध्वा द्वादशरात्रमान्तरिक्षेऽम्भसि वासयेत्। ततश्छायायां विशोष्यस्फटिकमुक्ताप्रवालकालानुसार्यप्रतिवापं पुनरपि बलिमङ्गलपूर्वकं महद्वाससा कन्यया दृषदि पेषयित्वा सुवर्णरजतताम्रशंखशैलद्विरदनागवलवैदूर्यस्फटिकमेषशृंगासनसारान्यतमघटितायामञ्जनिकायां निधापयेत्। (संग्रह, सू० ८।९३–९६)

वाग्भट की रचनाओं में रासायनिक प्रक्रियाएँ

ओषधियों के तैयार करने में अब तक उन्हीं सरलतम प्रक्रियाओं का प्रचलन था, जिनकी नींव वैदिक काल या ब्राह्मणकाल में पड़ चुकी थी। ऊर्ध्वपातन, भभके में उड़ाकर आसव या अरिष्ट का चुआना (distillation) आदि की विधियाँ अभी प्रचलित न हो पायी थीं।

ओषधियों के तैयार करने में निम्न सामान्य प्रक्रियाओं का उल्लेख **अष्टांगहृदय** या **अष्टांगसंग्रह** में मिलता है—

स्वरस, कल्क, शृत, शीत और फाण्ट ये पाँच कल्पनाएँ हैं। भूमि में से तुरन्त उखाड़ी हुई ओषधि को कूट-पीसकर वस्त्र में डालकर दबाने से जो रस निकलता है, उसको **स्वरस कल्पना** कहते हैं।

द्रव से गीली करके पीसी हुई औषध को **कल्क** कहते हैं। जिस द्रव्य को पानी के द्वारा बिना गीला किये पीसा जाता है, उसे **चूर्ण** कहते हैं।

जो द्रव्य द्रव में भिगोकर पकाया जाय, वह **शृत क्वाथ** कहलाता है।

जो द्रव्य द्रव में सारी रात भीगा रहे, उसे कषाय-कल्पना में **शीत** कहते हैं।

जो द्रव्य द्रव में मथकर तुरन्त छान लिया जाय, वह **फाण्ट** है।[1]

स्वरस की मध्यम मात्रा चार पल की है। चूर्ण या कल्क की एक पल मात्रा को तीन पल द्रव में घोलना चाहिए। यह कल्क की मध्यम मात्रा है। क्वाथ के लिए द्रव्य को एक पल लेकर आधे प्रस्थ पानी में क्वाथ करके चतुर्थांश बचाना चाहिए। शीत-कल्पना में एक पल द्रव्य को छः पल द्रव में भिगोना चाहिए। फाण्ट कल्पना में एक पल द्रव्य को चार पल द्रव के साथ मथना चाहिए। यह सबकी मध्यम मात्रा है।

१. रसः कल्कः शृतः शीतः फाण्टश्चेति प्रकल्पना।
पञ्चधैव कषायाणां पूर्वं पूर्वं बलाधिका॥
सद्यः समुद्धृतात् क्षुण्णाद्यः स्रवेत्पटपीडितात्।
स्वरसः स समुद्दिष्टः कल्कः पिष्टो द्रवाप्लुतः।
चूर्णोऽप्लुतः शृतः क्वाथः शीतो रात्रिद्रवे स्थितः॥
सद्योऽभिषुतपूतस्तु फाण्टः तन्मानकल्पने।
युञ्ज्याद् व्याध्यादिबलतस्तथा च वचनं मुनेः॥ (हृदय, कल्पसिद्धि०, ६।८–११)

२. मध्यं तु मानं निर्दिष्टं स्वरसस्य चतुष्पलम्।
पेष्यस्य कर्षमालोडयं तद् द्रवस्य पलत्रये॥

स्नेहपाक करने में कल्क, स्नेह और द्रव का मान जहाँ पर न कहा गया हो वहाँ चौगुना करते हुए कल्क, स्नेह और द्रव लेने चाहिए (कल्क से स्नेह चार गुना और स्नेह से द्रव चार गुना)। जहाँ पाँच से अधिक द्रव हों वहाँ प्रत्येक द्रव स्नेह के बराबर होना चाहिए।[1]

शौनक के विचार के अनुसार शुद्ध पानी में, क्वाथ में और स्वरस में स्नेह का पाक होता है। इसमें कल्क का परिमाण क्रमशः चतुर्थांश, षष्ठांश और अष्टमांश होना चाहिए। जहाँ पर चार से अधिक द्रव हों, वहाँ पर प्रत्येक द्रव स्नेह के बराबर लेना चाहिए।

जब कल्क अँगुली पर न चिपके, अग्नि में स्नेह डालने पर चटचट शब्द न हो, स्नेह में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श उत्पन्न हो जावे, तब इस तैलपात्र को आग पर से तुरन्त उतार लेना चाहिए। घी में झाग का बन्द होना और तेल में झाग का उत्पन्न होना स्नेहपाक का लक्षण है।

स्नेहपाक तीन प्रकार का होता है—मन्द, चिक्कण और खर-चिक्कण। जिस स्नेहपाक में किट्ट कल्क के समान अँगुली पर न चिपके, वह **मन्द पाक** है। जो किट्ट अँगुली पर चिपक जाय, वह **चिक्कण पाक** है और जो पाक मदन–मोम के समान होता है, बत्ती बनाते समय जो किट्ट कुछ टूटता है और रंग में काला होता है, उसे **खर-चिक्कण** कहते हैं। इससे भी आगे जो दग्ध हो जाय, वह कल्क निष्फल है।[2]

क्वाथं द्रव्यपले कुर्यात् प्रस्थार्धं पादशेषितम् ॥
शीतंप ले पलैः षड्भिश्चतुर्भिस्तु ततोऽपरम् ॥ (हृदय, कल्पसिद्धि० ६।१३–१४)

१. स्नेहपाके त्वमानोक्तौ चतुर्गुणविवर्धितम् ।
कल्क स्नेहद्रवं योज्यमधीते शौनकः पुनः ॥ (हृदय, कल्पसिद्धि० ६।१५)

२. स्नेहे सिद्ध्यति शुद्धाम्बुनि क्वाथस्वरसैः क्रमात् ।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥
पृथक् स्नेहसमं दद्यात्पञ्चप्रभृति तु द्रवम् ।
नाङ्गुलिग्राहिता कल्के न स्नेहेऽग्नौ सशब्दता ॥
वर्णादिसम्पच्च यदा तदैनं शीघ्रमाहरेत् ।
घृतस्य फेनोपशमस्तैलस्य तु तदुद्भवः ।
लेहस्य तन्तुमत्ताऽप्सु मज्जनं सरणं न च ॥
पाकस्तु त्रिविधो मन्दश्चिक्कणः खरचिक्कणः ।

अष्टांगहृदय में ओषधियों को तैयार करने के प्रक्रम सरल ही हैं—पीसना, पकाना या उबालना, ठंडा करना, छानना; इसी प्रकार की क्रियाओं से ही काम ले लिया गया है। यथा—

(क) द्राक्षा, पिप्पली, पंच तृणमूल इनको जल में पकाये। इस प्रकार जो क्वाथ बने उससे दूध को शृत करे (दूध में मिलाकर पकाये) और ठंडा करके शहद एवं शक्कर के साथ पिये।[1]

(ख) शठी, ह्रीबेर, बड़ी कटेरी, शर्करा, सोंठ इनको पीसकर, वस्त्र से छानकर, घी से मूर्च्छित (संस्कृत) करके पिये।[2]

(ग) आठ गुने पानी में पकाये और जब यव-स्वेदन हो जाय (जौ गल जायँ), तो उतार ले, फिर छानकर उसमें हर्रे डाल दे और पुराना गुड़ एक तुला, तैल, घी, आँवले का रस एक-एक प्रस्थ मिलाकर मृदु अग्नि पर फिर पकाये और जब दर्वी या करछुल पर चिपकने लगे तो उतार ले। घी को पुराने घड़े में रखकर धान्य के ढेर में रख दे।[3]

(घ) घी सिद्ध होने पर त्रिजाता (दालचीनी, इलायची और तेजपात) तीन पल मिलाकर मन्थन दण्ड से मिलाये (लीढं खजाहतम्)।[4]

(ङ) बेर के पत्तों के कल्क को घी में भूनकर नमक के साथ खाये।[5]

मन्दः कल्कसमे किट्टे चिक्कणो मदनोपमे।
किञ्चित्सीदति कृष्णे च वर्त्यमाने च पश्चिमः।
दग्धोऽत ऊर्ध्वं निष्कार्यः स्यादामस्त्वग्निसात्कृत्।
मृदुर्नस्ये खरोऽभ्यङ्गे पाने बस्तौ च चिक्कणः॥ (हृदय, कल्पसिद्धि० ६।१६–२१)

१. द्राक्षां कणां पञ्चमूलं तृणाख्यं च पचेज्जले।
तेन क्षीरं शृतं शीतं पिबेत्समधुशर्करम्॥ (हृदय, चिकि० ३।३६)

२. शठीह्रीबेरबृहतीशर्कराविश्वभेषजम्।
पिष्ट्वा रसं पिबेत्पूतं वस्त्रेण घृतमूर्च्छितम्॥ (हृदय, चिकि० ३।३७–३८)

३. पचेदष्टगुणे तोये यवस्वेदेऽवतारयेत्। पूते क्षिपेत्सपथ्ये च तत्र जीर्णगुडात्तुलाम्॥
तैलाज्यधात्रीरसतः प्रस्थं प्रस्थं ततः पुनः। अधिश्रयेन्मृदावग्नौ दर्वीलेपेऽवतार्य च।
धान्ये पुराणकुम्भस्थं मासं खादेच्च पूर्ववत्। (हृदय, चिकि० ३।१३७–१४०)

४. (क) घृतात् त्रिजातात् त्रिपलं ततो लीढं खजाहतम्। (हृदय, चिकि० ५।३१)
(ख) खजेन मथितः। (हृदय, कल्प० ४।२१)

५. बदरीपत्रकल्कं वा घृतभृष्टं ससैन्धवम्। (हृदय, चिकि० ५।३७)

(च) ओषधियों की गोलियाँ, पिंडी, गुड़ या वटिका बना ली जाती थीं।[१]

(छ) बहुत-सी चिकित्साओं में वर्त्ति (बत्तियाँ) बनायी जाती थीं जिनमें तरह-तरह की ओषधियाँ मिली होती थीं।[२]

(ज) बहुत-सी ओषधियाँ वायु रहित स्थान में रख दी जाती थीं (निवाते)।[३]

(झ) सूरणकन्द को मिट्टी से लपेटकर अग्नि में पुटपाक की भाँति पकाने का भी निर्देश है।[४]

(ञ) कोल्हू के तेल में मिलाकर सूर्य की किरणों से गरम करने का भी उल्लेख है।[५]

(ट) ओषधियों से युक्त सुगंधित तैल तैयार किये जाने के अनेक उल्लेख हैं, जैसे झिण्टी के क्वाथ में तगर, वच, शालपर्णी, कूठ, देवदार, इलायची, ह्रीबेर, शिलारस, सौंफ और लाल चन्दन मिलाकर तेल का सिद्ध करना।[६]

(ठ) अमलतास के पके फल को बालू या रेत में गाड़ देने और फिर सात दिन बाद निकालकर धूप में सुखाने का निर्देश है।[७]

(ड) दन्ती और द्रवन्ती के मूल को मधु और पिप्पली से लिप्त करके मिट्टी और दाभ से लपेटकर स्वेदन देकर धूप में सुखाने की ओर निर्देश है।[८]

१. (क) तालीसचूर्णवटकाः सकर्पूरसितोपलाः। (हृदय, चिकि० ५।४९)
(ख) अर्शांसि हन्ति गुलिका। (हृदय, चिकि० ८।१५५)
(ग) गुडेन दुर्नामजयाय पिण्डी। (हृदय, चिकि० ८।१५८)
(घ) कुर्यादक्षसमान् गुडान्। (हृदय, चिकि० १६।२६)

२. सुस्निग्धैः स्वेदयेत् पिण्डैर्वर्तिमस्मै गुदे ततः (हृदय, चिकि० ८।१३५)

३. गुडपलशतयोजितं निवाते। (हृदय, चिकि० ८।१५०)

४. मृल्लिप्तं सौरणं कन्दं पक्त्वाऽग्नौ पुटपाकवत् (हृदय, चिकि० ८।१५६)

५. चाक्रिकतैलेन मिश्रितैरेभिः, दिनकरकराभितप्तैः कुष्ठं घृष्टं च नष्टं च।
(हृदय, चिकि० १९।७२)

६. अथवा नतषड्ग्रन्थास्थिकुष्ठसुराह्वयात्।
सैलानलदशैलेयशताह्वारक्तचन्दनात्॥ (हृदय, चिकि० २१।७१)

७. फलकाले परिणतं फलं तस्य समाहरेत्। तेषां गुणवतां भारं सिकतासु विनिक्षिपेत्।
सप्तरात्रात्समुद्धृत्य शोषयेदातपे ततः॥ (हृदय, कल्प० २।३२-३३)

८. दन्तिदन्तस्थिरं स्थूलं मूलं दन्तीद्रवन्तिजम्।
तत्क्षौद्रपिप्पलीलिप्तं स्वेद्यं मृद्दर्भवेष्टितम्॥
शोष्यं मन्दातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्यस्य विकाशिताम्॥ (हृदय, कल्प० २।५१, ५३)

(ढ) एक स्थल पर स्वर्ण के साथ तैयार किये जानेवाले चार योग दिये गये हैं—(क) स्वर्णभस्म, श्वेत वच और कूट, (ख) अर्कपुष्पी और स्वर्ण, (ग) स्वर्ण, मत्स्याक्षक और शंखपुष्पी, तथा (घ) पर्वतनीम, स्वर्ण और वच ।[१] (वस्तुतः यह कहना कठिन है कि स्वर्ण का प्रयोग होता था या इसकी भस्म का, क्योंकि भस्मों का प्रयोग इस युग की विशेषता नहीं रही है।) इसी प्रकार ताम्ररज और लोहरज का भी उल्लेख है, जो संभवतः ताँबे और लोहे की भस्म हों।

(ण) व्रणों में कासीस, तुत्थ, हरताल, रसांजन, मनःशिला आदि के चूर्णों को छिड़कने अथवा उनके लेपों का प्रयोग करने का आदेश है।[२]

(त) अन्धमूषा में ध्मापन करने का भी उल्लेख एक स्थल पर है। अन्धमूषा में स्रोतोऽञ्जन, ताम्र, लोह, चाँदी और सोना फूंके जाने के बाद मधुरादि गण के क्वाथों में बुझाने का विधान चूर्णांजन बनाने में दिया गया है।[३] इसी प्रकार एक अन्य अंजन में तुत्थ में ताप्य स्वर्णमाक्षिक, स्रोतोंजन, मनःशिला आदि मिलाकर मूषा में अन्तर्धूम विधि से पकाकर चूर्ण बनाने को कहा है।[४]

१. हेम श्वेतवचा कुष्ठमर्कपुष्पी सकाञ्चना।
हेम मत्स्याक्षकः शंखः कैडर्यः कनकं वचा।
चत्वार एते पादोक्ताः प्राशा मधुघृतप्लुताः ॥ (हृदय, उत्तर० १।४७–४८)
कुकूणके हिता वर्तिः पिष्टैस्ताम्ररजोन्वितैः।
क्षीरक्षौद्रघृतोपेतं दग्धं वा लोहजं रजः ॥ (हृदय, उत्तर० ९।३२–३३)
ताप्यायोहेमयष्टया ह्वसिता जीर्णाज्य माक्षिकैः। (हृदय० उत्तर० १३।१६)

२. कासीस रोचना तुत्थ मनोह्वाल रसाञ्जनैः।
लेपयेदम्लपिष्टैर्वा चूर्णितैर्वाऽवचूर्णयेत् ॥ (हृदय, उत्तर० २।७३)

३. स्रोतोजांशांश्चतुःषष्टि ताम्रायोरूप्यकाञ्चनैः।
युक्तान् प्रत्येकमेकांशैरन्धमूषोदरस्थितान् ॥
ध्मापयित्वा समावृत्तं ततस्तच्च निषेचयेत्।
रसस्कन्धकषायेषु सप्तकृत्वा पृथक् पृथक् ॥ (हृदय, उत्तर० १३।२०–२१)

४. निर्दग्धं बादराङ्गारैस्तुत्थं चेत्थं निषेचितम्,
क्रमादजापयः सर्पिः क्षौद्रे तस्मात् पलद्वयम्।
कार्षिकैस्ताप्यमरिचस्रोतोजकटुकानतैः, पटुरोध्रशिलापथ्याकणैलाञ्जनफेनकैः।
युक्तं पलेन यष्टयाश्च मूषान्तर्ध्मातचूर्णितम्। (हृदय, उत्तर० १३।२८-३०)

एक अन्य अंजन में सीसा, गन्धक का पत्थर, ताम्र और हरताल, वंग और अंजन अन्धमूषा में फूंके जाने का उल्लेख है।[1]

(थ) अंजनों के बनाने में ताम्ररज, तुत्थक (तूतिया) और ताम्रपात्र का उपयोग किया जाना महत्त्व की बात है (आज भी कॉपर-आइंटमेण्टों का नेत्र-चिकित्सा में उपयोग होता है)।[2]

(द) व्रणों पर लगाये जानेवाले लेपों में फिटकरी (कांक्षी), लोध, हर्रे, राल, सिन्दूर, सुरमा और तुत्थ का प्रयोग तेल और मोम के साथ उल्लेखनीय है।[3]

(ध) मुखसौन्दर्यवाले योगों में मजीठ, हलदी, कुंकुम, गेरू, चन्दन, लाख, मोम और वसा का प्रयोग उल्लेखनीय है।[4]

रसायन कर्म के उपकरण——**अष्टांगहृदय** में अधिक उपकरणों का उल्लेख नहीं है। दृषद् (सिल), दर्वी (करछुल), खज (मन्थन करने का दण्ड), अन्धमूषा,

१ त्रिंशद्भागा भुजङ्गस्य गन्धपाषाणपञ्चकम्।
शुल्बतालकयोर्द्वौ द्वौ वङ्गस्यैकोऽञ्जनात् त्रयम्॥
अन्धमूषाकृतं ध्मातं पक्वे विमलमञ्जनम्॥ (हृदय, उत्तर० १३।३१-३२)

२. (क) तुत्थकस्य पलं श्वेतमरिचानि च विंशतिः।
त्रिंशता काञ्जिकपलैः पिष्ट्वा ताम्रे निधापयेत्॥
(हृदय, उत्तर० १६।४९)

(ख) जातीमुकुलकासीससैन्धवैर्मूत्रपेषितैः।
ताम्रमालिप्य सप्ताहं धारयेत् पेषयेत्ततः॥ (हृदय, उत्तर० १६।४१)

(ग) ताम्रे घृष्टो गव्यदध्नः सरो वा, युक्तः कृष्णासैन्धवाभ्यां वरिष्ठः॥
(हृदय, उत्तर० १६।३४)

३. कांक्षी रोध्राभयासर्जसिन्दूराञ्जनतुत्थकम्।
चूर्णितं तैलमदनैर्युक्तं रोपणमुत्तमम्॥ (हृदय, उत्तर० २५।५८)

४. मञ्जिष्ठा शबरोद्भवस्तुवरिका लाक्षा हरिद्राद्वयम्
नेपाली हरितालकुंकुमगदा गोरोचना गैरिकम्।
पत्रं पाण्डु वटस्य चन्दनयुगं कालीयकं पारदम्
पत्राङ्गं कनकत्वचं कमलजं बीजं तथा केसरम्॥
सिक्थं तुत्थं पद्मकाद्यो वसाऽऽज्यम् मज्जाक्षीरं क्षीरिवृक्षाम्बु चाग्नौ।
सिद्धं सिद्धं व्यंगनील्यादिनाशे वक्त्रे छायामैन्दवीं चाशु धत्ते॥
(हृदय, उत्तर० ३२।३१-३२)

घृतपात्र या सर्पिपात्र, लोहपात्र, ताम्रपात्र, अयसीपात्री, स्फटिकशुक्ति (स्फटिक मणि की बनी सीपी) आदि का उल्लेख ही यत्र-तत्र है।[1]

गन्धक, माक्षिक और पारद—चरक के समय से लेकर **अष्टांगहृदय** रचयिता-वाग्भट के समय तक गन्धक, माक्षिक और पारद के सम्बन्ध में कोई विशेष ज्ञानवृद्धि नहीं हुई। गन्धक शब्द गन्धोपल, गन्ध और गन्धपाषाण के रूप में दो-तीन स्थलों पर तथा एक स्थल पर दद्रुनाशक चूर्ण बनाने में, कुष्ठ के दूर करने में और अंजन बनाने में प्रयुक्त हुआ है।[2] ताप्य और माक्षिक का प्रयोग भी कई स्थलों पर है।[3]

पारे के लिए पारद, रसोत्तम और रस इन शब्दों का प्रयोग कुछ वैसे ही स्थलों में हुआ है, जैसा चरक में। इन स्थलों में कालीयक शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, जिसे कुछ लोग गन्धक मानते हैं।[4] पारद के यौगिक सिन्दूर का भी उल्लेख है।[5] केवल इतने थोड़े प्रयोगों के आधार पर यह कहना कठिन है कि वाग्भट के समय तक गन्धक

१. दर्वीमालिम्पन् (हृदय, चिकि० ८।१५२), खजेन मथितः (कल्प० ४।२१), प्रभूते खजितं तोये (चिकि० २२।२१), अन्धमूषौदरस्थितान् (उत्तर० १३।२०), अन्धमूषीकृतं ध्मातं (उत्तर० १३।३२), सर्पिः पात्रे (चिकि० ८।१४७), तैलेन लोहपात्रस्थम् (चिकि० २०।८), कल्ये लिप्त्वाऽऽयसीं पात्रीं (चिकि० २२।१७), शंखं ताम्रे स्तन्यघृष्टं (उत्तर० १६।३५); स्फाटिकशुक्तिगतं सतरङ्गं (चिकि० ७।८२)

२. गन्धोपलः सर्जरसो विडङ्गं (हृदय, चिकि० १९।६७), श्रीवेष्टकालगन्धैर्मनः-शिलाकुष्ठकम्पिलैः (चिकि० १९।७१), त्रिंशद्भागा भुजंगस्य गन्धपाषाण-पञ्चकम्। (उत्तर० १३।३१)

३. मासं माक्षिकधातुं वा किट्टं वाऽथ हिरण्यजम् (हृदय, चिकि० १६।५३)
ताप्यायोहेमयष्ट्याह्वसिताजीर्णाज्यमाक्षिकैः। (उत्तर० १३।१६)
षण्माक्षिक इति योगः। (उत्तर० १३।४४)
शर्कराक्षौद्रसंयुक्तं चूर्णं ताप्यसुवर्णयोः। (उत्तर० ३५।५६)

४. कालीयकलताम्रास्थिहेमकालारसोत्तमैः। (त्वचा शुद्धिकारक लेप में) (हृदय, उत्तर० २५।६१), पत्रं पाण्डुवटस्य चन्दनयुगं कालीयकं पारदम्। (मंजिष्ठादि तैल में) (उत्तर० ३२।३१), त्वङ्‌ मनोह्वा निशे वक्रं रसः शार्दूलजो नखः। (विष नाश करने में) (उत्तर० ३६।८२)

५. काच्छीरोध्राभयासर्जसिन्दूराञ्जनतुत्थकम्। (हृदय, उत्तर० २५।५८)

और पारे का प्रचलन हो गया था। इन स्थलों में से कुछ स्थल तो **चरक-सुश्रुत** के स्थलों के अनुकरण में ही हैं, और संभवतः किसी समय में इन सब ग्रन्थों में एक समान ही प्रक्षिप्त हो गये हों। यदि ये प्रक्षिप्त न होते तो सूत्रस्थान में दी गयी सूचियों में सुवर्ण, चाँदी, त्रपु आदि धातुओं के साथ पारे का, और तुत्थ, गैरिक आदि के साथ गन्धक का नाम अवश्य होता। महारस, साधारण रस या उपरसवाला वर्गीकरण भी इस समय तक आरम्भ नहीं हुआ।

वाग्भट की परम्परा—इस अध्याय के आरम्भ में ही हम कह आये हैं कि **चरक-सुश्रुत** की परम्परा का ही **वाग्भट** है, और आत्रेय मुनि का स्मरण तो इसने प्रत्येक अध्याय में किया है। शल्यकर्म की दृष्टि से तो यह **सुश्रुत** के अधिक निकट है। **अष्टांगहृदय** में निम्न व्यक्तियों का प्रसंगवशात् और उल्लेख आया है—

अगस्त्य—(चिकि० ३।१३२)
अग्निवेश—(उत्तर० ४०।५९)
अश्विनीकुमार—(चिकि० ३।११८)
आत्रेय—(उत्तर० ३४।५०) आदि
काश्यप—(उत्तर० ३७।२८)
चरक—(उत्तर० ४०।८८)
जिन—(उत्तर० ३७।४४)
धन्वन्तरि—(सूत्र० ३।१६) आदि
नारायण—(चिकि० १५।१७)
ब्रह्मा—(उत्तर० ३९।२२)
भेड—(चिकि० २१।७२)
मणिभद्र—(चिकि० १९।३२)
वसिष्ठ—(चिकि० ३।१४०)

इनमें से ब्रह्मा और नारायण काल्पनिक हैं अथवा मानुष, यह कहना कठिन है। मणिभद्र नाम का एक यक्ष बताया गया है, जिसने भिक्षुओं को एक योग कुष्ठ, श्वित्र, श्वास, कास, कृमि और गुल्मरोगों के दूर करने के लिए बताया था।

मान-प्रकरण

कल्पसिद्धि स्थान के अन्त में वाग्भट ने मानसंज्ञाएँ दी हैं, जो निम्न प्रकार हैं—[1]

१. **द्वौ शाणौ वटकः कोलं बदरं द्रंक्षणश्च तौ।**
अक्षं पिचुः पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः।
कर्षो विडालपदकं तिन्दुकः पाणिमानिका॥
शब्दान्यत्वमभिन्नेऽर्थे शक्तिरष्टमिका पिचू।
पलं प्रकुञ्चो बिल्वं च मुष्टिराम्रं चतुर्थिका॥
द्वे पले प्रसृतस्तौ द्वावञ्जलिस्तौ तु मानिका।

२ शाण=१ वटक (=कोल=बदर=द्रंक्षण)=१ अठन्नी (चाँदी की)

२ द्रंक्षण=१ पिचु (अक्ष=पाणितल=सुवर्ण=कवलग्रह=कर्ष=विडालपदक=तिन्दुक=पाणिमानिका)=१ तोला

२ पिचु=१ शुक्ति (=अष्टमिका=पल=प्रकुंच=बिल्व=मुष्टि=आम्र=चतुर्थिका) =२ तोला

(२ शुक्ति =१ पल)

२ पल =१ प्रसृत=८ तोला

२ प्रसृत =१ अञ्जलि

२ अञ्जलि=१ मानिका (=आढक=भाजन=कंस)=३२ तोला

१ द्रोण =१ कुम्भ=१ घट=१ अर्मण=१ तुला=१०० पल=४०० तोला

२० तुला =१ भार=८००० तोला

निर्देश

वाग्भट—**अष्टांगहृदयम्**—विद्योतिनी भाषाटीका, अत्रिदेव गुप्त कृत, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस (१९५० ई०)।

वाग्भट—**अष्टांगसंग्रह**—अत्रिदेव गुप्त कृत हिन्दी टीका सहित, निर्णयसागर, बंबई (१९५१ ई०)।

आढकं भाजनं कंसो द्रोणः कुम्भो घटोऽर्मणम्।
तुला पलशतं तानि विंशतिर्भार उच्यते॥

(हृदय, कल्प० ६।२५-२९)

कोई-कोई २ पिचु की १ शुक्ति, २ शुक्ति का १ पल, और २ पल की एक प्रसृति मानते हैं।

सातवाँ अध्याय

वृन्द और चक्रपाणि

(दसवीं शती)

वाग्भट को हमने **चरक** और **सुश्रुत** की परम्परा का अन्तिम बड़ा आचार्य माना है। इसके ग्रन्थों में नागार्जुन और उसके बाद के रसाचार्यों का उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् ८०० ई० के लगभग भारत में धातु की भस्मों का प्रचार बढ़ा। ताम्ररज, स्वर्णभस्म और लोहरज का संशयात्मक प्रयोग **अष्टांग-हृदय** और **अष्टांगसंग्रह** में है, पर अन्य भस्मों का अभी प्रादुर्भाव नहीं हो पाया था। ऐसे ही संक्रान्तिकाल में वृन्द और चक्रपाणिदत्त ने अपने आयुर्वेद ग्रन्थों की रचना की। वृन्द का समय ९७५–१००० ई० के लगभग अनुमान किया गया है और वृन्द के कुछ बाद ही १०५० ई० के लगभग चक्रपाणिदत्त ने **चरक** और **सुश्रुत** पर टीकाएँ कीं और **चक्रदत्त** ग्रन्थ लिखा। यह वह समय था जब भारत में नागार्जुन को इतिहास में स्थान मिल चुका था और चरक-सुश्रुत की परम्परा में कार्य करनेवाले व्यक्ति भी नागार्जुन का नाम सम्मानपूर्वक लेते थे।

वृन्द का **सिद्धयोग** अथवा **वृन्दमाधव** ग्रन्थ नागार्जुनकालीन अनुभूतियों से प्रभावित है। इस समय तक पारे का प्रयोग सिर के जुएँ या यूक मारने में होने लगा था। धतूरे के रस और ताम्बूलपत्र के रस के साथ पारे का प्रयोग यूक-नाश के लिए एक स्थल पर बताया गया है।[१]

एक वर्ति के बनाने में चौदह द्रव्यों का प्रयोग किया गया है, जिनमें त्रिफला, व्योष (सोंठ, मरिच और पिप्पली), सिन्धूत्थ (समुद्रफेन), यष्टी, तुत्थ, रसाञ्जन, प्रपौण्डरीक, जन्तुघ्न, लोध्र और ताम्र का समावेश है। यह योग नागार्जुन का आविष्कृत है, ऐसा भी उल्लेख है (चक्रपाणि ने बिलकुल इसी योग का नाम "नागार्जुन-वर्त्ति" दिया है)।[२]

१. **रसेन्द्रेण समायुक्तो रसो धत्तूरपत्रजः।**
ताम्बूलपत्रजो वाथ लेपनं यौकनाशनम्॥ (सिद्धयोग, ७।१३)

२. **त्रिफलाव्योषसिन्धूत्थयष्टीतुत्थरसाञ्जनम्।**
प्रपौण्डरीकं जन्तुघ्नं लोध्रं ताम्रं चतुर्दशम्॥

धातुओं के मारण का भी उल्लेख संभवतः वृन्द ने किया है।[१] लोह मारण के लिए लोहे को तपाये और फिर सात दिन तक धात्री और पिण्डारक के स्वरस में सूरज की धूप में रखे और फिर काकमाची के रस में पीसे। इस प्रकार लोह मारण हो जाता है।

पर्पटीताम्र नामक एक योग में पारे, गन्धक और ताँबे को पीसकर इनका माक्षिक के साथ पुटपाक विधि द्वारा संयोग कराया गया है। शहद के साथ इसका अवलेह अनेक रोगों में गुणकारी बताया गया है।[२]

इसी प्रकार एक रसामृत चूर्ण का उल्लेख है जो दो कर्ष गन्धक और आधा कर्ष पारे के साथ तैयार होता है। इसकी एक विडालपद (कर्ष) मात्रा घी और शहद के साथ सेवन करने को कहा गया है।[३]

चक्रपाणिदत्त वीरभूम (गौड़ देश—बंगाल) के निवासी थे। इस स्थान का पुराना नाम "वरेन्द्रभूमि" या "वीरेन्द्रभूमि" है। ये "लोध्रबली" नामक दत्तकुल के,

द्रव्याण्येतानि संचूर्ण्य वर्त्तिः कार्या नभोऽम्बुना।
नागार्जुनेन लिखिता स्तम्भे पाटलिपुत्रके॥ (सिद्धयोग ६१।१४८–१४९)

१. सर्वेषां लोहजातानां कान्तं भवति कान्तिदम्।
........पाचयेल्लोहमादौ सप्तदिने ततः॥
धात्रीपिण्डारकोद्भूतस्वरसेनार्करश्मिषु।
स्थापयेत्...........
काकमाची रसे पश्चात्..........
पुनर्मज्जान्ते सर्वत्र खलितव्यं प्रयत्नतः।
पश्चाच्चूर्णं विधातव्यमप्रमत्तेन धीमता।
इति सूर्यमुखेनैव मारणं परिकीर्त्तितम्॥
.................लोहमारणम्॥

२. रसगन्धक ताम्राणां चूर्णं कृत्वा समाक्षिकम्।
पुटपाकविधौ पक्त्वा मधुनालोड्य संलिहेत्॥
सर्वरोगहरञ्चैतत्पर्पटाख्यं रसायनम्।
—पर्पटीताम्र, रसायनाधिकार (सि० यो०)

३. कर्षद्वयं गन्धकस्य तदर्धं पारदस्य च।
विडालपादमात्रन्तु लिह्यात्तन्मधुसर्पिषा॥
—रसामृतचूर्ण, अम्लपित्ताधिकार (सि० यो०)

अम्बष्ठ वैद्य जाति के थे। गौड़ देश के राजा नयनपाल देव के महानस-अधिकारी (भोजन भंडारी) मंत्री नारायण इनके पिता थे। इनके गुरु का नाम नरदत्त था।[1] गौड़ देश में सन् १०६० ई० में विजयसेन ने राज्य स्थापित किया। इस राज्य के राजाओं के नाम के आगे "सेन" नाम मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व तक लगता रहा। सेनों के राज्य से पूर्व "पाल" वंश के राजाओं का शासन था, जिनमें से ही एक राजा नयनपाल देव थे। अतः चक्रपाणिदत्त का जीवनकाल सन् १०६० अर्थात् आज से लगभग ९०० वर्ष पूर्व का अवश्य रहा होगा। श्री चक्रपाणि ने चरकसंहिता पर एक टीका लिखी, जिसका नाम **आयुर्वेददीपिका** है, इसी प्रकार सुश्रुत पर **भानुमती** नाम की एक व्याख्या लिखी। इनके अन्य ग्रन्थ **चिकित्सासंग्रह** और **द्रव्यगुणसंग्रह** हैं।

चक्रपाणिदत्त के दो ग्रन्थों—**चिकित्सासंग्रह** और **द्रव्यगुणसंग्रह** पर शिवदास सेन ने अपनी व्याख्याएँ लिखीं। शिवदास सेन गौड-देशान्तर्गत मालञ्चिका ग्राम के निवासी, और गौड़ देश के राजा अवनीपाल के राज्यवैद्य अनन्तसेन के पुत्र थे। शिवदास सेन ने चरक पर भी एक टीका लिखी जो "चरकतत्त्वदीपिका" नाम से विख्यात है।

चक्रपाणि की **आयुर्वेददीपिका** कृति तो चरक-साहित्य के लिए एक उपयोगी देन है। हम यहाँ केवल कुछ अंश **द्रव्यगुणसंग्रह** से देना काफी समझेंगे। इस छोटे

१. चक्रपाणि ने चिकित्सासंग्रह के अन्त में स्वयं लिखा है—("गौडाधिनाथरसवत्यधिकारिपात्रनारायणस्य तनयः सुनयोऽन्तरङ्गात्। भानोरनु प्रथितलोध्रबलीकुलीनः श्रीचक्रपाणिरिह कर्तृपदाधिकारी।") इस वसन्ततिलका छंद की व्याख्या करते समय शिवदास ने लिखा—"इदानीं ग्रन्थपरिसमाप्तौ पित्रादीनामुत्कीर्तनपूर्वकं स्वनाम निवेशयन्नाह—गौडाधिनाथेत्यादि। गौडाधिनाथो नयनपालदेवः, तस्य रसवती महानसं, तस्य अधिकारी, तथा पात्रमिति मंत्री, ईदृशो यो नारायणस्तस्य तनयः। सुनयो नीतिमान्। अन्तरङ्गादिति। लब्धान्तरङ्गपदवीकाद्भानोरनु नारायणस्य तनय इति योज्यं, तेन भानोरनुज इत्यर्थः। विद्याकुलसंपन्नो हि भिषगन्तरङ्ग इत्युच्यते लोध्रबलीकुलीन इति लोध्रबलीसंज्ञकदत्तकुलोत्पन्नः।"

गुरु के नाम के संबंध में चक्रपाणि ने चरक की टीका में स्वयं कहा है—
"नरदत्तगुरूद्दिष्टचरकार्थानुगामिनी। क्रियते चक्रदत्तेन टीकाऽऽयुर्वेददीपिका।"

से ग्रन्थ में १५ वर्ग हैं--धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, लवणादिवर्ग, फलवर्ग, पानीय-वर्ग, क्षीरवर्ग, तैलवर्ग, इक्षुविकृतिवर्ग, मद्यवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, आहार वर्ग, अनुपानवर्ग और मिश्रकवर्ग।

लवणवर्ग में सैन्धव, सामुद्र, विड, सौवर्चल, कृष्ण, औद्भिद, रौमक, गुडिका लवणों और क्षारों के गुणों का विवरण है। पानीय वर्ग में आन्तरिक्ष, धार, गांग, सामुद्र, कारकादि (hail), नादेय, नद, सारस, ताडाग, वाप्य, कौप, चौण्ड (नये कुएँ का), नैर्झर, औद्भिद, वैकिर (बालू के भीतर का), कैदार, आनूप आदि जलों का विवरण है। थोड़े से पके नारियल के जल के भी गुण दिये हैं—यह जल पित्त को मारता और प्यास को बुझाता है, स्वादु होता है, ठंडा है, अग्नि को दीप्त करता और बस्ति का शोधक है। पुराने नारियल का जल भारी और पित्त बनानेवाला होता है।[1]

इसी प्रकार छोटे क्रमुक (betel nut tree) के फल, ताड़ के फल आदि के पानियों के गुणों का भी उल्लेख है। गरम पानी, धूप में रखे पानी, उबालकर ठंडे किये (शृत शीत) जल, आदि के गुण भी अलग-अलग बताये गये हैं।[2] क्षीरवर्ग में उबाला दूध, धारोष्ण दूध, अति उबाला दूध, दही, परिस्रुत दही, उबाले दूध से निकाला गया दही, मक्खन निकाले हुए दूध से उत्पन्न दही, दही की मलाई, मट्ठा (तक्र), मस्तु घोल, तक्रकूर्चिका, किलाट, पीयूष मोरट, मोरट, घी आदि का विवरण है।[3]

१. नारिकेलोदकं वृष्यं स्वादु स्निग्धं हिमं गुरु।
हृद्यं पित्तपिपासाघ्नं दीपनं बस्तिशोधनम्॥
नारिकेलजलं जीर्णं गुरु विष्टम्भि पित्तकृत्। (द्र० गु० सं० ६।२०–२१)

२. उष्णोदकं सदा पथ्यं कासश्वासज्वरापहम्।........
शृतशीतं त्रिदोषघ्नं यदन्तर्बाष्पशीतलम्।
शीतीकृतं तु विष्टम्भि दुर्जरं पवनाहतम्॥........
शृतं तोयं दिवा रात्रौ गुरु रात्रिशृतं दिवा। (द्र० गु० सं० ६।२५–२८)

३. धारोष्णं गुणवत्क्षीरं विपरीतमतोऽन्यथा।
तदेवातिशृतं सर्वं गुरु बृंहणमुच्यते॥ (१४)
शृतक्षीरात्तु यज्जातं गुणवद् दधि तत् स्मृतम्॥ (२६)
दधि त्वसारं रूक्षं च ग्राहि विष्टम्भि वातलम्॥ (२७)
ससरं निर्जलं घोलं तक्रं पादजलान्वितम्।
अर्धोदकमुदश्वित् स्यान्मथितं सरर्वाजतम्॥

इक्षुविकृतिवर्ग में ईख के रस, फाणित (राब), महुए के फूल की राब, गुड़ (पुराना), खण्ड (खाँड़), शर्करा (यास शर्करा, मधु शर्करा और गुड़ शर्करा), तवराज (शर्करा का एक भेद), मत्स्यण्डिका और तरह-तरह के शहदों (माक्षिक, भ्रामर, क्षौद्र, पौत्तिक) का वर्णन है। मद्यवर्ग में साधारण सुरा, श्वेता सुरा, प्रसन्ना, यव-सुरा, गोधूमसुरा, वल्कली सुरा (बहेड़े से बनी), कोहल सुरा (यवशक्तु-किण्वकृतं मद्यं कोहलः), जगल सुरा (भक्तकिण्वकल्कीकृता सुरा), शीधु (पक्वरसः क्वथितेक्षुरसैर्यः, गन्ने के रस को पकाकर बनता है), गुड़ से बना शीधु, शर्करा से बना शीधु, महुए के फूल से बना शीधु, जम्बु फल के रस से प्राप्त गुड़ से बना शीधु, सुरासव,[1] मैरेय, अरिष्ट, तरह-तरह के शुक्त[2] (सिरका), जैसे गौड-शुक्त, इक्षुरस-शुक्त, मधुशुक्त आदि एवं काञ्जिक, सौवीरक, तुषोदक[3] आदि का विवरण है।

भक्ष्यवर्ग में पृथुका (चिपिटा, चिउड़ा), लाजा (खील या लावा), धाना (भुने जौ), उल्वम्बा (होल्लाका या होरहा या होला)[4], सक्तु (सत्तू), घृतपूर[5],

घोलं पित्तानिलहरं तक्रं दोष त्रयापहम्। (३१-३२)
ग्राहिणी वातला रूक्षा विज्ञेया तक्रकूर्चिका। (३५)
तक्राल्लघुतरो मंडः कूर्चिकादधितक्रजः। (द्र० गु० सं० ७।१४-३६)

१. इदानीं पृथङ मधुगडपिष्टयोनिमद्यान्यभिधाय मध्वादियोनिमेलकनिष्पाद्यं किंचिदौषधयुक्तं मद्यमासवसंज्ञकं निर्दिशन्नाह—सुरा पैष्टी, सैव यत्र तोयकार्यं करोति स सुरासवः। (द्र० गु० सं० टीका १०।१४)

२. यन्मस्त्वादि शुचौ भाण्डे सगुडक्षौद्रकाञ्जिकम्।
धान्यराशौ त्रिरात्रस्थं शुक्तं चुक्रं तदुच्यते॥ (द्र० गु० सं० टीका १०।२३)

३. वितुषयवकृतं सौवीरं (भूसी रहित जौ से बनी काँजी सौवीरक है); सतुषयवकृतं तुषोदकम् (भूसी सहित जौ से बनी काँजी तुषोदक है)। (द्र० गु० सं० टीका १०।२८)

४. धाना भृष्टयवाः, उलवम्बा होल्लाकाः। अत्र मुद्गकलायादिशिम्बा अग्निपक्वा होल्लाका इति डल्हणः। (द्र० गु० सं० टीका १२।३)

५. मर्दिता समिता क्षीरनारिकेलसितादिभिः। अवगाह्य घृते पक्वा घृतपूरोऽयमुच्यते। समिता गोधूमचूर्णम्। (द्र० गु० सं० टीका १२।५)

(गेहूँ के आटे को नारियल, शक्कर, दूध आदि के साथ माँड़कर घी में तलकर घृतपूर बनाया जाता है)

गौडिक (गेहूँ की पिष्ठी और गुड़ से बनी)[१]; मधुशीर्षक, संयाव[२], षट्टक[३], विष्यन्द[४], फेनक[५], मूँग के वेशवार (पकौड़ी या चॉप)[६], पालल, शष्कुली[७], अँकुए निकले अन्न (विरूढक-कृत भक्ष्य) आदि का वर्णन है।

आहारविधिवर्ग में आहार और पात्र का अच्छा उल्लेख है जो अन्यत्र कम ही मिलेगा—घी को कृष्णायस (लोहा-विशेष) के बने पात्र में दे, पेय वस्तुओं को चाँदी के बने पात्र में, फल और सभी भक्ष्यों को पत्तों के पात्रों में दे। परिशुष्क

१. गोधूमपिष्टवेष्टना गुडप्रधानोदरा गौडिका उच्यन्ते। (द्र० गु० सं० टीका १२।६)

२. मधुशीर्षकाः समितावेष्टनाः पाकाद् घनीभूतमधुना कृतोदरा मधुशीर्षका उच्यन्ते। समितामम्बुदुग्धेन मर्दयित्वा सुशोभनाम्। पचेद् घृतोत्तरे खण्डे क्षिपेद् भाण्डे नवे च तत्। संयावोऽसौ युतश्चूर्णैस्त्वगेलामरिचार्द्रकैः। (द्र० गु० सं० टीका १२।७)

३. लवङ्गव्योषखण्डैस्तु दधि निर्मथ्य गालितम्। दाडिमीबीजसंयुक्तं चन्द्रचूर्णावचूर्णितम्। षट्टकस्तु प्रमोदाख्यो नलादिभिरुदाहृतः॥ (द्र० गु० सं० टीका १२।८)

४. आमगोधूमचूर्णं तु सर्पिःक्षीरसितान्वितम्। नातिसान्द्रो नातितनुर्विष्यन्दो नाम पाकतः॥ (गेहूँ के आटे में घी, दूध, शक्कर मिलाकर न बहुत गाढ़ा और न बहुत पतला बनाया गया पाक)। (द्र० गु० सं० टीका १२।८)

५. विमर्द्य विमलां शुक्लां समितां नातिशर्कराम्। संवेष्टनाय गर्भार्थं खरपाकं घृते पचेत्। फेनकं फेनसंकाशं संपूर्णशशिसन्निभम्॥ (गेहूँ के सफेद मैदे में थोड़ी-सी शक्कर मिलाकर, थोड़ा-सा बेलकर घी में पकाकर चाँद की आकृति की फेनी)। (द्र० गु० सं० टीका १२।९)।

६. वेशवार मांस और मूँग दोनों के बनते हैं—
निरस्थि पिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसंयुक्तं वेशवार इति स्मृतः। (हड्डी रहित पीसे और उबाले मांस में गुड़, घी, काली मिरच आदि मिलाकर वेशवार बनाते हैं) (द्र० गु० सं० टीका ११।२१)। मूँग के वेशवार के प्रसंग में—अत्र वेशवारशब्देन मुद्गादीनां स्विन्नपिष्टः कल्क उच्यते। (१२।१०)

७. पललं तिलकल्कस्तत्कृताः पाललाः। शष्कुली तु तिलमुद्गादिचूर्णकृता तैलपक्वा शष्कुलीति लोके। (द्र० गु० सं० टीका १२।११)

और प्रदिग्ध[१] नाम मांसभोजनों को सोने के पात्रों में रखे। मण्ड या प्रद्रवों को चाँदी के बर्तन में रखे। कट्वर (मट्ठा)[२] और खड (मट्ठे में उबाले शाक, मसालेदार) को पत्थर के पात्रों में रखे। ठंडा अथवा उबाला हुआ दूध ताँबे के बर्तन में रखे। पानीय, पानक (शर्बत आदि पेय)[३] या मद्य मिट्टी के पात्रों में दे। वैडूर्य्य पत्थर के बने पात्रों में रागषाडव[४] और षट्टक (एक प्रकार की मिठाई) दे।[५]

भोजन का पाचन——चक्रपाणि के अनुसार भोजन भी पंचभूतों का बना है, और शरीर भी पंचभूतों का। जैसे कच्चे द्रव्यों को आग पर पकाकर भोजन तैयार

१. सिक्तं बहुघृते भृष्टं मुहुरुष्णाम्बुना मृदु। जीरकाद्यैर्युतं मांसं परिशुष्कं तदुच्यते। तदेव गोरसादानं प्रदिग्धमिति विश्रुतम्॥ अर्थात् बहुत-से घी में सेंककर और पानी के साथ अनेक बार भूनकर, जीरा आदि मसाले डालकर जो मांस भोज्य तैयार किया जाता है, वह परिशुष्क कहलाता है, इसी में गोरस मिलाकर प्रदिग्ध नामक भोज्य तैयार करते हैं। (द्र० गु० सं० टीका ११।१७)

२. सौवीराम्लमथात्यम्लकाञ्जिकं कट्वरं विदुः।
सस्नेहदधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्॥ (द्र० गु० सं० टीका १३।५)

३. द्राक्ष, खजूर, कोल आदि के पानक और फालसा, मधु, ईख के रस से बने पानकों का उल्लेख है——

द्राक्षाखर्जूरकोलानां गुरु विष्टम्भि पानकम्। परूषकाणां क्षौद्रस्य यच्चेक्षु-विकृतिं प्रति। तेषां कट्वम्लसंयोगान् पानकानां पृथक् पृथक्॥ (द्र० गु० सं० ११।४२।४३)

४. क्वथितं तु गुडोपेतं सहकारफलं नवम्। तैल नागर संयुक्तं विज्ञेयो रागषाडवः। (गुड़, आम, तैल आदि के योग से रागषाडव बनता है)

५. घृतं कार्ष्णायसे देयं पेया देया तु राजते।
फलानि सर्वभक्ष्यांश्च प्रदद्याद् दलेषु तु॥
परिशुष्कप्रदिग्धानि सौवर्णेषूपकल्पयेत्।
प्रद्रवाणि रसांश्चैव राजतेषूपहारयेत्॥
कट्वराणि खडांश्चैव सर्वान् शैलेषु दापयेत्।
दद्यात्ताम्रमये पात्रे सुशीतं सुभृतं पयः॥
पानीयं पानकं मद्यं मृण्मयेषु प्रदापयेत्।
वज्रवैदूर्यपात्रेषु रागषाडवषट्टकान्॥ (द्र० गु० सं० १३।२–६)

किया जाता है, उसी प्रकार यह भोजन जठराग्नि द्वारा परिपक्व होकर शरीर के पोषक अंग बनाता है, पर शरीर के भीतर यह पाक-कर्म किसी एक अग्नि ही द्वारा नहीं होता। पार्थिव अंशों को जो अग्नि पकाती या पचाती है, उसे भौम-उष्मा कहते हैं, इसी प्रकार जलीय अंशों का पाचन आप्य-उष्मा द्वारा होता है। इसी प्रकार आग्नेय उष्मा, वायव्य उष्मा और नाभस उष्मा की कल्पना अन्य अंशों के लिए की गयी है।[१] रस से रक्त, फिर उससे मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, फिर मज्जा, फिर शुक्र और अन्त में गर्भ बनता है।[२] रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र ये सात शरीर की धातुएँ कहलाती हैं। अग्नि एक तो भूताग्नि है (जो पृथिवी आदि पंचभूतों का पाक करती है), और दूसरी धात्वग्नि है (जो रस, रक्त आदि सात धातुओं का पाक करती है)।

चक्रदत्त

चक्रपाणि दत्त का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ **चक्रदत्त** है, जो चिकित्सा से ही अधिक संबंध रखता है। इसमें ज्वरचिकित्सा, ज्वरातिसार-चिकित्सा, अतीसार-चिकित्सा, ग्रहणीचिकित्सा, अर्शचिकित्सा, अग्निमांद्य-चिकित्सा, क्रिमि-चिकित्सा, पांडुरोगचिकित्सा, विषचिकित्सा आदि से संबंध रखनेवाले ६४ अधिकार हैं। इनके बाद एक "रसायनाधिकार" है। जिस ओषधि के उपयोग से वृद्धावस्थारूपी रोग तथा अन्य व्याधियाँ दूर हों, उसी का नाम **रसायन** है।[३] इस अधिकार में पिप्पली-रसायन, किंशुकक्षार-भावित रसायन, त्रिफला रसायन, सारस्वत घृत आदि का उल्लेख करके अमृतसार लोह-रसायन का विस्तृत विवरण दिया है। इस प्रकरण में चक्रपाणि ने नागार्जुन के लोह-शास्त्र का विशेष उल्लेख किया है।[४] लोहे से

१. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान्-स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥
सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ (द्र० गु० सं० १३।२१-२२)

२. रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥ (द्र० गु० सं० १३।२३)

३. यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्। (चक्रदत्त, ६५।१)

४. नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।
तस्यार्थस्य स्मृतये वयमेतद्विशदाक्षरैर्ब्रूमः॥ (चक्रदत्त, ६५।३५)

तिगुना त्रिफला लेकर उससे मारण, पुट और स्थालीपाक करने कानि र्देश है।[1] इस काम के लिए पानी कितना लेना चाहिए, इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। कृष्णलोह के दोष कैसे दूर किये जा सकते हैं, जिससे यह रसायन अच्छा बने, इसका भी विस्तार दिया गया है (जायफल, नागरमोथा आदि के साथ लोह की अभिक्रिया बतायी गयी है)। लोह का शोधन, मारण देने के बाद इसका निर्वापण बतलाया गया है। इस काम के लिए लोह के पत्रों को दहकती हुई भट्ठी के भीतर रखना चाहिए। पत्र ज्यों-ज्यों गलते जायँ, नये पत्र उसमें डालते रहना चाहिए। जब पत्र द्रव हो जायँ, तो नीचे रखे हुए ऊर्ध्वमुखवाले अंकुश (तलस्थ पात्र) को उठाकर लोह को त्रिफला के क्वाथ में बुझाना चाहिए। ऐसा करने को लोहे का **निर्वापण** कहते हैं। कई बार निर्वापण करने से लोहे का मारण हो जाता है। जो इतना करने पर भी न मरे, वह लोहा त्याज्य है।[2]

लोहे को सूर्य की धूप में त्रिफला-क्वाथ के साथ घोट-घोटकर सुखाने का नाम **भानुपाक** है। त्रिफला का क्वाथ बनाकर कड़ाही में पाक करने का नाम **स्थाली-पाक** है। लोहे को त्रिफला, भाँगरा, नागकेशर, पुनर्नवा आदि के स्वरस की भावना देकर टिकिया बना ले और शरावसम्पुट में बन्द करके **पुटपाक** करे, यह भी विवरण चक्रपाणि ने दिया है[3]। लोहपाक तीन प्रकार के तैयार किये जाते हैं—मृदुपाक, मध्यपाक और खरपाक। जो पाक दर्वी या करछुल में चिपका रहे और आसानी से उतर आये वह **मृदुपाक** है। जिस पाक में लोहा करछुल को बिलकुल छोड़ दे वह **खरपाक** है। इन दोनों के बीच का **मध्यपाक** है, जिसमें लोहा

१. मारणपुटनस्थालीपाकास्त्रिफलैकभागसम्पाद्याः।
त्रिफला भागद्वितीयं ग्रहणीयं लौहपाकार्थम्॥ (चक्रदत्त, ६५।३८)

२. सन्दंशेन गृहीत्वाऽन्तःप्रज्वालिताग्निमध्यमुपनीय।
गलति यथायथमग्रे तथैव मृदु वर्द्धयेन्निपुणः॥
तलनिहितोर्ध्वमुखाङ्कुशलग्नं त्रिफलाजले विनिक्षिप्य।
निर्वापयेदशेषं शेषं त्रिफलाऽम्बु रक्षेच्च॥
यल्लौहं न मृतं तत् पुनरपि पक्तव्यमुक्तमार्गेण।
यन्न मृतं तथाऽपि तत् त्यक्तव्यमलौहमेव हि तत्॥ (चक्रदत्त, ६५।६२–६४)

३. भानुपाक, चक्रदत्त ६५।६५-६६; स्थालीपाक ६५।६७–६८, पुटपाक ६५।६९–७७।

कुछ तो करछुल से आसानी से निकल आता है, और कुछ कठिनता से। दूसरे आचार्यों का मत है कि जिस पाक में लौह कलछी में चिपके और चूहे द्वारा प्रक्षिप्त मिट्टी के समान हो, वह मृदुपाक, जिस पाक में लोहा बालू के समान हो, वह खरपाक और इन दोनों के बीच का मध्यपाक होता है।[1]

इसके बाद चक्रपाणि ने अभ्रकविधि भी दी है। इसके संबंध में कहा है कि अभ्रक को मंडूकपर्ण के रस में रखने के बाद काँजी के साथ घोटे, फिर स्थाली-पाक और पुटपाक करे।[2]

चक्रपाणि ने ताम्ररसायन बनाने की भी विधि दी है, जिसमें पारा, ताँबा और अभ्रक लिया जाता है तथा **गन्धक** मिलाकर पुट देते हैं।[3]

ताम्ररसायन बनाने की विधि संक्षेप में हम यहाँ उद्धृत करते हैं। नैपाली ताम्र के पतले पत्र तथा आमलसार गन्धक बराबर मात्रा में लेकर छोटी हाँडी में नीचे गन्धक बिछाकर, ऊपर से ताम्र रखकर फिर शेष गन्धक से ताम्र को ढँक दे। फिर एक सकोरे से हँडिया की सन्धि शर्करा और भात से बन्द कर दे। इसे किसी बड़ी हाँडी में रखकर हाँडी का शेष भाग बालू से भर दे। इसके बाद हाँडी पर कपड़-मिट्टी करे। कपड़मिट्टी जब सूख जाय, तो हाँडी को आग की भट्ठी पर रखकर ३ घंटे ज़ोरों से गरम करे। फिर स्वांगशीतल हो जाने पर ताँबा हाँडी में से निकाल ले। एक कर्ष (तोला) गन्धक को लोहे के पात्र में पिघलाकर एक तोला ऊपर कहे अनुसार भस्म किया हुआ ताँबा और एक कर्ष शुद्ध पारा मिलाकर लोहे के खरल में खूब रगड़े। इसके बाद ८ बूँद घी मिलाये। फिर मुंडी के ८ तोले स्वरस में इसे घोटकर लोहे के बर्तन में आग पर चढ़ा दे। तब तक बराबर करछुल से घोटता जाय जब तक द्रव सूख न जाय। फिर उतारकर ठंडा करे और मुण्डी का रस मिलाकर गोला बनाये और कपड़े में लपेट ले। फिर इससे बड़े कपड़े में त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) का कल्क गोले के बराबर लेकर इसी कल्क में गोलेवाले वस्त्र

१. अभ्यक्तदर्वि लौहं सुखदुःखस्खलनयोगि मृदु मध्यम्।
उज्झितदर्वि खरं परिभाषन्ते केचिदाचार्याः॥
अन्यविहीनदर्वी-प्रलेपमाखूत्कराकृतिं ब्रुवते।
मृदुमध्यमर्द्धचूर्णं सिकतापुञ्जोपमन्तु खरम्॥ (चक्रदत्त, ६५।८२–८३)

२. अभ्रकविधि (चक्रदत्त, ६५।९४–९८)

३. ताम्ररसायन (चक्रदत्त, ६५।१२६–१३८)

को रखे। इसके बाद एक हाँडी में घी रखकर कल्क तथा गोले-युक्त वस्त्र की पोटली बनाकर डंडे में बाँधकर हाँडी में लटका दे। पोटली घी में डूबी रहनी चाहिए, किन्तु हाँडी के पेंदे में न लगे। हाँडी को चूल्हे पर रखकर नीचे आग जलाये। घी से जब झाग निकलना बन्द हो जाय और पोटली कड़ी पड़ जाय, तो आग पर से उतारकर, ताँबे के गोले को पोटली में से निकाल ले और खरल में घोटे। इस प्रकार सेवन योग्य ताम्ररसायन तैयार हो जायगा।[1]

ताम्ररसायन के बाद शिलाजतुरसायन का विवरण चक्रपाणि ने दिया है। शिलाजतु चार प्रकार का बताया गया है—सौवर्ण, राजत, ताम्र और लौह। सोने की धातु जिन पर्वतों में है, उनसे प्राप्त शिलाजतु सौवर्ण है, और इसी प्रकार अन्य को भी समझना चाहिए।[2] समुद्र का मन्थन करते समय मन्दराचल पर्वत से अमृत के कण के समान शिलाजतु स्वेद के रूप में निकला था। ब्रह्मा ने इसे मनुष्यों के उपकार के लिए पर्वतों के शिलाखण्डों में रख छोड़ा।[3]

वृन्द का सिद्धयोग

वृन्द के **सिद्धयोग** का ही नाम **वृन्दमाधव** है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में ८२ अधिकार हैं जिनमें चिकित्सा का ही विशेष विवरण है। इनमें विविध प्रकार के घृतों, मोदकों और तैलों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

घृत—मसूरघृत, बिल्वाद्य घृत, शुण्ठीघृत, ब्राह्मीघृत, कूष्माण्डक घृत, चित्रक-घृत, माणकघृत आदि।

तैल—नारायण तैल, अश्वगन्धा तैल, कुब्जप्रसारिणी तैल, दीपिका तैल, क्षार तैल, अपामार्ग तैल, दशमूली तैल, बिल्व तैल आदि।

मोदक—प्राणद मोदक, कांकायन मोदक, चतुःसम मोदक, स्वल्पसूरण मोदक आदि।

सिद्धयोग का ६९ वाँ अध्याय "रसायनाधिकार" है। इसमें भी रसायन की परिभाषा उन्हीं शब्दों में की गयी है, जिनमें चक्रपाणि ने की है (यज्जराव्याधि-विध्वंसि भेषजं तद् रसायनम् १९।१)। त्रिफला-कल्क रसायन भी उन्हीं शब्दों में है। हस्तिकर्ण चूर्ण भी दोनों ग्रन्थों में एक-सा है। यही बात धात्रीचूर्ण रसायन, गुडूच्य रसायन, पर्युषित पानीय प्रयोग और जलनस्य के संबंध में है। **सिद्धयोग** का रसायनाधिकार चक्रदत्त के रसायनाधिकार से छोटा है। धातुओं के मारण, जारण का

१. चक्रदत्त ६५।१३३–१४८; २. चक्रदत्त ६५।१५०–१५५; ३. चक्रदत्त, ६५।१८९

उल्लेख इसमें नहीं है। सुश्रुत के समान पुटपाक सिद्धयोग में भी है (३।४५–५१)। ग्रन्थ के अन्त में मान-संख्याओं का उल्लेख है। शुष्क मान भी दिये गये हैं और द्रवमान भी।[1] सात रत्ती का एक माशा, चार माशे का एक शाण, दो शाण का एक वटक या कोल, दो कोल का एक कर्ष (जिसके नाम उदुम्बर, अक्ष, पाणितल, सुवर्ण, कवलग्रह, पिचु, विडालपदक आदि हैं), दो कर्षों या पाणितलों की एक शुक्ति, दो शुक्ति का एक पल (जिसके नाम मुष्टि, प्रकुंच, बिल्व आदि हैं), दो पल का एक प्रसृत, दो प्रसृत का एक कुडव (जिसे अञ्जलि भी कहते हैं), दो कुडव की एक मानिका (=अष्ट पल), दो मानिका का एक प्रस्थ, चार प्रस्थ का एक आढक (जिसे कंसपात्र भी कहते हैं), चार आढक का एक द्रोण (जिसे उन्मान, घट, नल्वण, अर्मण और सूर्प भी कहते हैं), सौ पल की एक तुला और दो हज़ार पलों का एक भार होता है। रत्ती से लेकर कुडव तक द्रव और सूखे द्रव्यों का मान एक ही होता है, पर कुडव से ऊपर प्रस्थ से आरम्भ कर द्रव द्रव्य दूने लिये जाते हैं। पर तुला द्वारा लिये गये मान का दूना नहीं करते। गोणी, द्रोण, आढक, प्रस्थ, कुडव, पल, पिचु, शाणक और माषक इस श्रेणी में सब क्रम से एक दूसरे के चौगुने हैं। अर्थात् ४ माशा=१ शाण,

१. गुञ्जाभिः सप्तभिर्माषः शाणो माषचतुष्टयम्।
द्वौ शाणौ वटकः कोलस्तौ द्वौ कर्ष उदुम्बरः।
अक्षं पाणितलं ज्ञेयं सुवर्णं कवलग्रहः।
पिचुर्बिडालपदकं शुक्तिः पाणितलद्वयम्।
तद्द्वयेन पलं मुष्टिः प्रकुंचो बिल्वमुच्यते।
द्वे पले प्रसृतं विद्यात्तद्द्वयं कुडवोऽञ्जलिः॥
मानिकाऽष्टपलं ते द्वे प्रस्थस्तस्माच्चतुर्गुणम्।
आढकं कंसपात्रं च चतुर्भिर्द्रोण उच्यते॥
तत्पर्याया घटोन्माननल्वणार्मणसूर्पकाः।
तुलापलशतं ताभिर्विंशत्या भार उच्यते॥
शुष्कद्रव्येष्विदं मानं द्विगुणं तु द्रवार्द्रयोः।
ज्ञातव्यं कुडवादूर्ध्वं प्रस्थादि श्रुतमानतः॥
द्वैगुण्यं न तुलामान इति मानविदो विदुः।
गोणीद्रोणाढकप्रस्थाः कुडवश्च पलं पिचुः।
शाणको माषकश्चैव यथापूर्वं चतुर्गुणाः॥

४ शाण=१ पिचु, ४ पिचु= १ पल, ४ पल=१ कुडव, ४ कुडव=१ प्रस्थ, ४ प्रस्थ= १ आढक, ४ आढक=१ द्रोण और ४ द्रोण=१ गोणी।

बिलकुल ऐसा ही विवरण शार्ङ्गधरसंहिता में भी है।

निर्देश

चक्रपाणिदत्त—**चक्रदत्त,** चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, टीकाकार आयुर्वेदाचार्य जगदीश्वरप्रसाद त्रिपाठी (सं० २००६ वि०)।

चक्रपाणिदत्त—**द्रव्यगुणसंग्रहः**—श्री शिवदास कृत व्याख्या सहित, आचार्य वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी द्वारा संशोधित, निर्णय सागर प्रेस, बंबई (१९१४)।

वृन्द—**वृन्दमाधव** अथवा **सिद्धयोग,** श्री कण्ठदत्त विरचित व्याख्या **कुसुमावली** सहित, आनन्दाश्रम प्रेस, पुणें (१९४३)।

पृ. २२० पर दिये गये १, २ और ३ के अन्तर्गत श्लोक आनन्दाश्रम के इस संस्करण में नहीं पाये जाते हैं। आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय ने इन्हें किसी काश्मीरी पाण्डुलिपि में पाया था, जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है।

आठवाँ अध्याय

शार्ङ्गधर संहिता और शार्ङ्गधराचार्य्य

(पन्द्रहवीं शती का आरम्भ)

जो **शार्ङ्गधर संहिता** आज पायी जाती है, उसके रचयिता श्री शार्ङ्गधराचार्य हमीरं भूपति के राज्यकाल के व्यक्ति थे ऐसा अनुमान है। यह राज्यकाल सं० १३८२ से १४०८ वि० तक माना जाता है। ग्रन्थकर्त्ता का जन्म इस वीच में हुआ होगा, और संभवतः उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना चौदहवीं शती ईसवी के अन्तिम भाग में अथवा पन्द्रहवीं शती के प्रारम्भिक भाग में की। **शार्ङ्गधरसंहिता** में तो ग्रन्थकार का कोई परिचय नहीं है। ग्रन्थकार ने केवल यह लिखा है कि पुराने मुनियों ने अपनी-अपनी संहिताओं में जो श्लोक लिखे हैं और अनेक चिकित्सकों ने जिन योगों को अनेक बार अनुभूत किया है, उन्हें ही संग्रह किया जा रहा है। इन योगों के संबंध में प्रत्यक्ष अनुभव पर बल दिया गया है, और अनुमान से भी लाभ उठाया गया है। सर्व लोकहितार्थ ग्रन्थ की रचना की गयी है।[1] ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि इस संहिता में ३२ अध्याय और २,६०० श्लोक हैं।[2] शार्ङ्गधरसंहिता की जो वर्तमान प्रतियाँ प्राप्त हैं, उनमें लगभग २,४०० श्लोक ही पाये जाते हैं (पं० परशुराम शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस द्वारा प्रकाशित संहिता में २,४२२ श्लोक हैं, जिनमें ९७ प्रक्षिप्त माने गये हैं)।

कहा जाता है कि शार्ङ्गधराचार्य का एक ग्रन्थ शार्ङ्गधर-पद्धति भी है। उस ग्रन्थ में उनका परिचय इस प्रकार दिया गया है—"शाकम्भरी देश में चाह्वाण (चौहान)

१. (क) **प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ताश्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तेषां सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय॥** (पू० १।२)

(ख) **प्रयोगानागमात्सिद्धान्प्रत्यक्षादनुमानतः।
सर्वलोकहितार्थाय वक्ष्याम्यनतिविस्तरात्॥** (पू० १।६)

२. **द्वात्रिंशत्संमिताध्यायैर्युक्तेयं संहिता स्मृता।
षड्विंशतिशतान्यत्र श्लोकानां गणितानि च॥** (पू० १।१३-१४)

वंशी हमीरं भूपति थे। उनकी सभा में एक लब्धप्रतिष्ठ सभासद राघवदेव थे। राघवदेव के तीन पुत्र हुए--गोपाल, दामोदर और देवदास। दामोदर के तीन पुत्र हुए--शार्ङ्गधर, लक्ष्मीधर और कृष्ण। अम्बाला ज़िले में कुरुक्षेत्र की उत्तर दिशा की ओर शाकम्भरी देवी का एक मन्दिर है। संभवतः हमीरं भूपति वहीं के राजा रहे हों। **शार्ङ्गधरपद्धति** के रचयिता शार्ङ्गधराचार्य ही संभवतः **शार्ङ्गधरसंहिता** के भी रचयिता हैं।

शार्ङ्गधर संहिता में तीन खंड हैं। पहले खंड में सात अध्याय हैं, दूसरे में बारह अध्याय और तीसरे खंड में तेरह अध्याय। ग्रन्थ को सुबोध लिखने का प्रयत्न किया गया है।

शार्ङ्गधर संहिता में मान--शार्ङ्गधराचार्य का कथन है कि मान (परिमाण या तौल) के बिना द्रव्यों का व्यवहार नहीं किया जा सकता, अतः उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही मानों का उल्लेख किया है।[१] उन्होंने दो प्रकार के मान दिये हैं, एक तो मागध मान, जिनका प्रचलन मगध देश में था[२] और दूसरे कालिंग मान जिनका प्रचलन कलिंग देश में था।

मागध मान--

३० परमाणु = १ त्रसरेणु (= वंशी)
६ त्रसरेणु = १ मरीचि

१. न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित्।
अतः प्रयोगकार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया॥ (पू० १।१४-१५)

२. (क) त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः॥
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते।
(जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स कथ्यते॥)
जालान्तरगतैः सूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते॥ (पू० १।१५-१७)

(ख) इन मानों के लिए पू० १।१५-३२ देखो।

(ग) माषटङ्काक्षबिल्वानि कुडवः प्रस्थमाढकम्।
राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणाः॥

४ माष = १ टंक	**४ कुडव = १ प्रस्थ**	**४ टंक = १ अक्ष**
४ प्रस्थ = १ आढक	**४ अक्ष = १ बिल्व**	**४ आढक = १ राशि**
४ बिल्व = १ कुडव	**४ राशि = १ गोणी**	**४ गोणी = १ खारी**

६ मरीचि =१ राई (राजिका)
३ राजिका=१ सर्षप (सरसों)
८ सर्षप =१ यव (जौ)
४ यव =१ गुन्जा या रक्तिका (रत्ती)
६ रत्ती =१ माषक (माशा) (=हेम=धान्यक)
४ माषक =१ शाण (=धरण=टंक)
२ शाण =१ कोल (=क्षुद्रक=बटक=द्रंक्षण)
२ कोल =१ कर्ष (=पाणिमानिका=अक्ष=पिचु आदि)
२ कर्ष =१ अर्धपल (=शुक्ति=अष्टमिका)
२ शुक्ति =२ अर्धपल=१ पल (=मुष्टि, आम्र=चतुर्थिका=प्रकुन्च =षोडशी=बिल्व)

२ पल =१ प्रसृति (=प्रसृत)
२ प्रसृति =१ अन्जलि (=कुडव=अर्धशरावक=अष्टमान)
२ अन्जलि=२ कुडव=१ मानिका (=शराव=अष्टपल)
२ शराव =१ प्रस्थ
४ प्रस्थ =१ आढक (=भाजन=कंसपात्र=६४ पल)
४ आढक =१ द्रोण (=कलश=नल्वण=अर्मण=उन्मान=घट=राशि)
२ द्रोण =१ शूर्प (=कुम्भ=६४ शराव)
२ शूर्प =१ द्रोणी (=वाह=गोणी)
४ द्रोणी =१ खारी (=४०९६ पल)
२००० पल=१ भार
१०० पल=१ तुला

माषक से चार गुना टंक, टंक से चार गुना अक्ष, अक्ष से चार गुना बिल्व, बिल्व से चार गुना कुडव; इसी प्रकार क्रम से प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी और खारी, एक-दूसरे के चौगुने होते जाते हैं।

परमाणु की परिभाषा यह की गयी है—झरोखे में से सूर्य की किरण निकलने पर जो धूल के कण उड़ते हुए दिखायी देते हैं, उनमें से एक कण का तीसवाँ भाग "परमाणु" कहलाता है। दूसरे शब्दों में, किरण मार्ग में जो धूल का कण दिखाई देता है वह "वंशी" है।

द्रव द्रव्य मान—रत्ती के मान से लेकर कुडव पर्यन्त द्रव (जैसे पानी, दूध), आर्द्र (गीले, हरे), और शुष्क या सूखे द्रव्यों का मान समान ही होता है। परन्तु इसके आगे प्रस्थ आदि के मान के संबंध में द्रव तथा आर्द्र द्रव्य जितना लिखा हो उसके दूने लिये जाते हैं। परन्तु "तुला" के मान को कहीं भी दूना नहीं लिया जाता।[1]

"कुडव" से द्रव नापना हो, तो उसका परिमाण निर्धारित कर दिया गया है। मिट्टी, लकड़ी, बाँस या लोहे आदि का पात्र ४ अंगुल चौड़ा और ४ अंगुल ऊँचा हो, उसे कुडव-पात्र कहते हैं।[2]

कालिंग मान—

१२ गौर सर्षप (सफेद सरसों)	=१ यव
२ यव	=१ गुञ्जा
३ गुञ्जा	=१ वल्ल
८ या ७ गुञ्जा	=१ माषा
४ माषा	=१ शाण (=निष्क=टंक)
६ माषा	=१ गद्याण

१० माषा=१ कर्ष

४ कर्ष=१ पल=१० शाण

४ पल=१ कुडव

शेष प्रस्थ, आढक आदि मान कालिंगमान में भी मागधमान के समान हैं। साधारणतया कालिंगमान की अपेक्षा मागधमान अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं।[3]

विन्ध्याचल और हिमालय की ओषधियाँ—संहिता के कथनानुसार विन्ध्याचल आदि पर्वत आग्नेय (गरम) होते हैं, और हिमालय पर्वत सौम्य (ठंडा), अतः

१. **गुञ्जादि मानमारभ्य यावत्स्यात्कुडव स्थितिः।**
द्रवार्द्र शुष्क द्रव्याणां तावन्मानं समं मतम्।
प्रस्थादि मान मारभ्य द्विगुणं तद्द्रवार्द्रयोः॥
मानं तथा तुलायास्तु द्विगुणं न क्वचित्स्मृतम्। (पू० १।३३–३५)

२. **मृद् वृक्षवेणु लोहादेर्भाण्डं यच्चतुरंगुलम्।**
विस्तीर्णं च तथोच्चं च तन्मानं कुडवं वदेत्। (पू० १।३५–३६)

३. **कालिंगं मागधं चैव द्विविधं मानमुच्यते**
कालिंगान्मागधं श्रेष्ठं मानं मानविदो विदुः॥ (पू० १।४३)

दोनों स्थलों की ओषधियों के गुण-धर्म में भी अन्तर है। समतल भूमि के उपवनों और वनों में भी ओषधियाँ होती हैं। आस्तिक भावनापूर्वक इन ओषधियों का सेवन करना चाहिए।[1]

ओषधियाँ और अवयव--जो ओषधियाँ अत्यन्त मोटी जड़वाली होती हैं, उनकी जड़ की छाल लेनी चाहिए, किन्तु जो छोटी या पतली जड़वाली हों, उनकी तो सम्पूर्ण जड़ ही ले लेनी चाहिए। वट की छाल, विजयसार आदि का सार, तालीस आदि के पत्र, त्रिफला आदि के फल और स्नुही आदि का दूध लेना चाहिए। विदारीकन्द आदि के कन्द, राल आदि के गोंद (गुन्द्र), अखरोट आदि की मज्जा, और इसी प्रकार अन्यों के वे अवयव लेने चाहिए, जिनके लिए वृद्ध अनुभवी लोगों के आदेश हों।[2]

पंचकषाय--**शार्ङ्गधर संहिता** का मध्यम खण्ड पंचकषायों से आरम्भ होता है। पाँच कषाय ये हैं--स्वरस, कल्क, क्वाथ, हिम और फाण्ट।[3]

(क) स्वरस--अहत (अदूषित) तथा तत्काल उखाड़े या काटे हुए (ताजे-हरे) और कूटे-पीसे द्रव्य को कपड़े में से निचोड़ने से जो रस निकलता है वह स्वरस

१. आग्नेया विन्ध्यशैलाद्याः सौम्यो हिमगिरिर्मतः।
अतस्तदौषधानि स्युरनुरूपाणि हेतुभिः।
अन्येष्वपि प्ररोहन्ति वनेषूपवनेषु च॥
गृह्णीयात्तानि सुमनाः शुचिः प्रातः सुवासरे।
आदित्य संमुखो मौनी नमस्कृत्य शिवं हृदि॥ (पू० १।६१-६३)

२. अतिस्थूलजटा याः स्युस्तासां ग्राह्यास्त्वचो बुधैः॥
गृह्णीयात्सूक्ष्ममूलानि सकलान्यपि बुद्धिमान्।
न्यग्रोधादेस्त्वचो ग्राह्याः सारः स्याद् बीजकादितः॥
तालीसादेश्च पत्राणि फलं स्यात् त्रिफलादितः।
धातक्यादेश्च पुष्पाणि स्नुह्यादेः क्षीरमाहरेत्॥
(विदार्यादेश्च कन्दानि गुन्द्रं सर्जरसाहितः।
मज्जा अक्षोटकादेश्च शेषं वृद्धोपदेशतः॥ (पू० १।६८-७१)

३. अथातः स्वरसः कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ।
ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम्॥ (म० १।१)

कहलाता है।[1] स्वरस तैयार करने की और भी अनेक विधियाँ संहिता में दी गयीं हैं। एक कुडव भर द्रव्य को कूटकर दुगुने पानी में दिन-रात (आठ प्रहर) पड़ा रहने दे और इसके बाद कपड़े में निचोड़कर उसका रस निकाल ले।[2] अगर द्रव्य शुष्क है, तो उसे कूटकर आठ गुने जल में पकाये, और जब चौथाई जल रह जाय तो छानकर ग्रहण करे।[3]

इन विधियों से संहिता में गिलोय, आँवले, अडूसा, तुलसी, जामुन, आम-आँवले के पत्ते, बबूल के पत्ते, बीजपूर, मुण्डी, ब्राह्मी आदि के स्वरस तैयार करने का उल्लेख किया गया है। ये स्वरस पीने के काम में ही नहीं आते थे, इनमें से कुछ तलवार आदि के द्वारा किये गये घावों को भी अच्छा करने के काम आते थे।[4]

कल्क-स्वरस——पुट में पकाये हुए कल्क का भी स्वरस ग्रहण किया जाता है, अतः इस प्रकरण में संहिता में पुटपाकों का भी विस्तार दिया गया है। इस काम के लिए उपयोगी द्रव्य का कल्क बनाकर काश्मरी (गम्भारी), वट (बरोटा) तथा जामुन के पत्तों से भलीभाँति लपेटकर और ऊपर से सनी हुई चिकनी मिट्टी का दो अंगुल या डेढ़ अंगुल मोटा लेप चढ़ाकर आग में पकावे। जब लेपका रंग लाल हो जावे, तो निकाल ले। जब ठंडा हो जाय, तो लेप हटाकर कल्क को निकाल ले और कपड़े में निचोड़कर इसका स्वरस प्राप्त कर ले।[5] कण्डित चावल (भूसी उतारे

१. अहतात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात् क्षुण्णात्समुद्धरेत्।
वस्त्रनिष्पीडितो यः स रसः स्वरस उच्यते॥ (म० १।२)

२. कुडवं चूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तं च द्विगुणे जले।
अहोरात्रं स्थितं तस्माद् भवेद्वा रस उत्तमः॥ (म० १।३)

३. आदाय शुष्कद्रव्यं वा स्वरसानामसंभवे।
जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशिष्टं च गृह्यते॥ (म० १।४)

४. खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः।
गाङ्गेरुकीमूलरसैर्जायते गतवेदनः॥ (म० १।२४)

५. पुटपाकस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः।
अतस्तु पुटपाकानां युक्ति रत्रोच्यते मया॥
पुटपाकस्य मात्रेयं लेपस्याङ्गारवर्णता।
लेपं च द्वयंगुलं स्थूलं कुर्याद् वांगुष्ठ मात्रकम्॥
काश्मरी वटजम्ब्वादि पत्रैर्वेष्टनमुत्तमम्।
पलमात्रं रसो ग्राह्यः कर्षमात्रं मधु क्षिपेत्॥ (म० १।२५–२७)

हुए) को आठ गुना पानी में थोड़ी देर पड़ा रहने दे, इस पानी का भी रोगों में उपयोग किये जाने का विधान है। अँतड़ियाँ निकालकर तित्तिरि के पेट में न्यग्रोधादि-गण की ओषधियों को भरकर पुटपाक करके स्वरस तैयार करने का भी एक स्थल पर उल्लेख है।[१] दाड़िम, बिभीतक, शुण्ठी, सूरण, मृगश्रृंग आदि के पुटपाकों का संहिता में विवरण दिया गया है।

(ख) **क्वाथ** ——द्रव्य के दर्दरे चूर्ण को सोलह गुने पानी में डालकर मन्द-मन्द आग पर औटावे। जब आठवाँ भाग बच रहे, तो उतार लेवे। इसे छानकर गरम-गरम पिलावे। इस पके हुए जल का नाम श्रृत, कषाय, क्वाथ या निर्व्यूह है।[२] क्वाथ बनाने के संबंध में यह भी लिखा है कि औटाते समय यदि पात्र का मुँह ढँकने से बन्द कर दिया जायगा, तो क्वाथ दुर्जर हो जायगा, अतः क्वाथ बनाते समय मुँह ढाँकना नहीं चाहिए।[३]

संहिता में गुड़ची, नागर, शालिपर्णी, कायफल, काश्मरी, बीजपूर, पटोल, पंच-भद्र, आरग्वध, कण्टकारी, देवदारु, रास्ना आदि अनेक द्रव्यों के क्वाथों का उल्लेख है। जन्म घुट्टिका बनाने का योग भी दिया है, जिसे नवजात शिशु को पिलाया जाना चाहिए।[४]

क्वाथ में ही यवागू वनाने की विधि इस प्रकरण में इस प्रकार दी है——चार पल

१. न्यग्रोधादेश्च कल्केन पूरयद् गौरतित्तिरेः।
निरन्त्रमुदरं सम्यक् पुटपाकेन तत्पचेत्॥ (म० १।३४)

२. पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत्।
मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम्॥
तज्जलं पाययेद् धीमान् कोष्णं मृद्वग्निसाधितम्।
श्रृतः क्वाथः कषायश्च निर्व्यूहः स निगद्यते॥ (म० २।१–२)

३. अपिधानमुखे पात्रे जलं दुर्जरतां व्रजेत्।
तस्मादावरणं त्यक्त्वा क्वाथादीश्च विपाचयेत्॥ (म० २।७)

४. (शतपुष्पा विडङ्गं च कृतमालो हरीतकी।
वचापलाशबीजानि यवानी टकणं गुडः)॥
श्रृंगी चातिविषा भार्ङ्गी मृद्वीका मुस्तकं कणा।
(सौवर्चलयुतः क्वाथो बालानां जन्मघुट्टिका)॥ (म० २।१५८–१५९)

द्रव्य को चौंसठ पल पानी में पकावे। पकाते-पकाते जब यह आधा शेष रह जाय, तो क्वाथ में (चावल आदि डालकर) खीर जैसी गाढ़ी यवागू तैयार करे।[1]

इसी प्रकार **यूष** के संबंध में लिखा है कि—कल्क किया हुआ द्रव्य एक पल, और सोंठ, पीपल प्रत्येक आधा कर्ष लेकर एक प्रस्थ जल में पकावे। यह द्रव ही यूप कहलाता है।[2] रोगियों को पिलाने के लिए तीन प्रकार का **उष्णोदक** बताया है—साधारण पानी ही इतना उबाल ले, कि (क) वह आठवाँ भाग बच रहे, अथवा (ख) चौथा भाग बच रहे अथवा (ग) केवल एक बार उबल ही जाय, तो यह उष्णोदक रोगी के लिए लाभकर है।[3]

जितना आहार द्रव्य हो, उसका ६ गुना पानी मिलाकर पकावें तो **यवागू** बनता है। पकाने पर यह कुछ और गाढ़ा बन जाय तो इसे **कृशरा** (खिचड़ी) कहते हैं। चावल, मूँग, उड़द और तिल से बनायी गयी यवागू हितकर है।[4]

आहार द्रव्य से चौदह गुने जल में बनायी हुई अत्यन्त पतली वस्तु को **पेया** कहते हैं, और यदि यह कुछ गाढ़ी हो जाय तो इसे **यूष** कहेंगे।[5]

चौदह भाग जल में चार पल चावल पकावे। फिर काँछकर या छानकर मण्ड (माँड़ी) निकाल दे। इस प्रकार "**भक्त**" अर्थात् भात तैयार होता है।[6]

यदि मण्ड बनाना हो तो जितना चावल हो, उससे चौदह गुना पानी लेवे और

१. **साध्यं चतुष्पलं द्रव्यं चतुःषष्टिपले जले।**
तत् क्वाथेनार्धशिष्टेन यवागूं साधयेद् घनाम्॥ (म० २।१७०)

२. **कल्कद्रव्यपलं शुण्ठी पिप्पली चार्धकार्षिकी।**
वारिप्रस्थेन विपचेत्स द्रवो यूष उच्यते॥ (म० २।१७२)

३. **अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्धकेन वा।**
अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं वदेत्॥ (म० २।१७७)

४. **यवागूः षड्गुणजले सिद्धा स्यात्कृशरा घना।**
तण्डुलैर्मुद्गमाषैश्च तिलैर्वा साधिता हिता॥
यवागूर्ग्राहिणी बल्या तर्पणी वातनाशिनी। (म० २।१८५–१८६)

५. **द्रवाधिका स्वल्पसिक्था चतुर्दशगुणे जले।**
सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया यूषः किञ्चिद् घनः स्मृतः॥ (म० २।१८७–१८८)

६. **जले चतुर्दशगुणे तण्डुलानां चतुष्पलम्॥**
विपचेत्स्रावयेन्मण्डं स भक्तो मधुरो लघुः। (म० २।१८९–१९०)

पकावे। सिक्थ (सीठी) को अलग निकाल दे, तो मण्ड तैयार मिल जावेगा। इसमें सोंठ और सैंधा नमक मिलाकर पीवे।[१] इसी प्रकार भूसी रहित (सुकण्डित) भुने हुए जौ को पानी के साथ उबाल कर जो मण्ड तैयार किया जाता है, उसे **वाटच मण्ड** (barley water) कहते हैं, जो रक्त और पित्त का शोधक है।[२]

(ग) **फाण्ट**——अच्छी तरह कुटे एक पल द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख दे और उसमें एक कुड़व उष्ण जल मिला दे। फिर इसे कपड़े से छान ले। तो इस प्रकार **"चूर्णद्रव"** अथवा **फाण्ट** मिलता है। इसमें मधु, मिश्री, गुड़ आदि भी उसी प्रकार मिला सकते हैं, जैसा क्वाथ में मिलाया करते हैं।[३]

महुआ, मुलैठी, लालचन्दन, फालसा, त्रिफला, द्राक्षा और लावा (लाजा) को गरम जल में डालकर और फिर छानकर इनके भी फाण्ट बनाये जा सकते हैं। इनका "हिम" भी बनाया जाता है।[४]

मन्थ——मन्थ भी फाण्ट का ही एक भेद है। चार पल ठंडे पानी में एक पल द्रव्य को कूट-पीसकर मिट्टी के पात्र में डाल दे और जब ओषधियाँ नरम पड़ जायँ, तो अच्छी प्रकार मलकर (हाथ से मन्थ करके) मन्थ प्राप्त कर ले।[५] इस प्रकार खजूर, अनार, मसूर के सत्तू और जौ के सत्तू के मन्थ तैयार किये जाते हैं।

१. नीरे चतुर्दशगुणे सिद्धो मण्डस्त्वसिक्थकः ॥
शुण्ठीसैन्धवसंयुक्तः पाचनो दीपनः परः (म० २।१९०–१९१)

२. सुकण्डितैस्तथा भृष्टै र्वाटचमण्डोयवैर्भवेत् ॥
कफपित्तहरः कण्ठयो रक्तपित्तप्रसादनः (म० २।१९३–१९४)

३. क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग् जलमुष्णं विनिक्षिपेत् ।
मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्रावयेत्पटात् ।
स स्याच्चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम् ।
मधुश्वेता गुडादींश्च क्वाथवत्तत्र निक्षिपेत् ॥ (म० ३।१–२)

४. मधूकपुष्पं मधुकं चन्दनं स परूषकम् ।
मृणालं कमलं लोध्रं गम्भारीं नागकेशरम् ॥
त्रिफलां सारिवां द्राक्षां लाजान्कोष्णजले क्षिपेत् ।
सितामधुयुतः पेयः फाण्टो वासौ हिमोऽथवा ॥ (म० ३।३–४)

५. मन्थोऽपि फाण्टभेदः स्यात्तेन चात्रैव कथ्यते ।
जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत् ॥
मृत्पात्रे मन्थयेत्सम्यक्तस्माच्च द्विपलं पिबेत् । (म० ३।९–१०)

(घ) **हिम**—एक पल द्रव्य को भलीभाँति कूट-पीसकर मिट्टी के पात्र में डालकर ६ पल पानी के साथ भिगोवे, और रातभर रखा रहने दे। इसे हिम या शीतकषाय कहते हैं।[1]

संहिता में आम, जामुन, ककुभ का हिम; मरिच, मुलैठी, कल्क-गूलर और नीले कमल का हिम, धनिया का हिम, चन्दन, वासक, मुस्त, गुडूची आदि के हिम बनाने के विवरण दिये गये हैं।

(ङ) आर्द्र (सरस या हरे ताजे) द्रव्य को शिला पर पीस लिया जाय और यदि द्रव्य शुष्क हो तो पानी के साथ पीसा जाय। इस पिसे द्रव्य को ही **प्रक्षेप, आवाप** या **कल्क** कहते हैं।[2] कल्क में तेल, मधु, घी, शक्कर, गुड़ आदि मिलाकर सेवन करने का विधान है। संहिता में पिप्पली का कल्क, निम्बपत्र कल्क, रसोन कल्क, सोंठ का कल्क, लाक्षा का कल्क, तण्डुलीयक कल्क, त्रिवृतादि कल्क, और इसी प्रकार के अनेक कल्कों का वर्णन दिया गया है।[2]

चूर्ण, वटी और अवलेह—पंचकषायों का वर्णन करने के अनन्तर संहिता में अनेक प्रकार के औषध-चूर्ण तैयार करने का विस्तार दिया हुआ है। अत्यन्त शुष्क द्रव्य को अच्छी तरह पीसकर और कपड़े से छानकर जो मिलता है, उसे **चूर्ण, रज** या **क्षोद** कहते हैं।[3] चूर्ण में बराबर भाग गुड़, दुगुनी शक्कर और भूनकर हींग भी मिलाते हैं।[4]

संहिता में आमलकादि चूर्ण, पिप्पली चूर्ण, त्रिफला चूर्ण, त्र्यूषण चूर्ण, पंचकोल चूर्ण, त्रिगन्ध चतुर्जात चूर्ण, अष्टवर्ग चूर्ण, लवणपञ्चक चूर्ण, क्षारद्वय चूर्ण, सुदर्शन चूर्ण, कट्फलादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण, महाखाण्डव चूर्ण, नारायण चूर्ण, बडवानल चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण (मिश्री १६ तोला, वंशलोचन ८ तोला, पीपल ४ तोला, इला-

१. **क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम्।**
निशोषितं हिमः स स्यात्तथा शीतकषायकः॥ (म० ४।१)

२. **द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत्।**
प्रक्षेपावापकल्कास्ते तन्मानं कर्ष संमितम्॥ (म० ५।१)

३. **अत्यन्तशुष्कं यद्द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्र गालितम्।**
तत्स्याच्चूर्णं रजः क्षोदस्तन्मात्रा कर्षसंमिता॥ (म० ६।१)

४. **चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा भवेत्।**
चूर्णेषु भर्जितं हिंगु देयं नोत्क्लेदकृद् भवेत्॥ (म० ६।२)

यची छोटी २ तोला और दालचीनी १ तोला, सबको पीस-कूटकर बनावे); लवण-भास्कर चूर्ण (जिसमें सामुद्र नमक, सौवर्चल या सञ्चर नमक, विड नमक, सेंधा नमक, धनिया, पीपल, पीपलामूल, कालाजीरा, तेजपत्ता, नागकेसर, तालीसपत्र, अम्लवेत, मरिच, सफेद जीरा (भुना), सोंठ, और अनारदाना होते हैं), पंचनिम्ब चूर्ण आदि उपयोगी चूर्णों का विवरण दिया हुआ है।

चूर्णों से वटक, गुटिका, बटी, मोदक, वटिका, पिण्डी (पेड़ा), गुड़ और वर्त्ति भी तैयार की जा सकती हैं।[1] भिन्न-भिन्न आकार के होने के कारण इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। गुड़, या चीनी अथवा गुग्गुल को आग पर चढ़ाकर अवलेह-सा करके और उनमें ओषधिद्रव्य डालकर **वटी** तैयार की जाती है।[2] संहिता में बाहुशाल गुड़, मरिचादिगुड़, गुड़गुटिका, सञ्जीवनीवटी, व्योपादिवटी, वृद्धदारुक मोदक (विधारा, भिलावा, सोंठ और गुड़ मिलाकर बनाया हुआ), मण्डूर वटक (ओषधियों के साथ धातु भस्म या मण्डूर मिलाकर), पिप्पली मोदक, चन्द्रप्रभावटी, कांकायन वटी, योगराज गुग्गुलु, कैशोर गुग्गुल, त्रिफला मोदक, आदि के विस्तार दिये गये हैं। इन सबके विवरण के लिए संहिता के मध्यम खण्ड का सातवाँ अध्याय देखना चाहिए।

इसी खण्ड के आठवें अध्याय में अवलेहों का विवरण है। क्वाथादि के दोबारा पाक करने से जो घना या गाढ़ा-सा पदार्थ मिलता है, उसे **अवलेह** कहते हैं। इसीका नाम **रस-क्रिया** और **लेह** भी है।[3] अवलेह में चूर्ण (जिसका अवलेह बनाना हो) से चौगुनी चीनी, और दुगुना गुड़ और द्रव पदार्थ चौगुना दिया जाता है[4]। उचित रूप से परिपाक होने पर अवलेह में तार या तन्तु निकलने लगें और अवलेह पानी में डूबने-लायक हो जाय, अथवा उनमें स्थिरता आ जाय, दबाने से गड्ढा या निशान पड़े, और यथोचित गन्ध और रंग आ जाय, तो समझना चाहिए कि अवलेह ठीक तैयार

१. **वटकाश्चाथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी।**
मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्तिस्तथोच्यते॥ (म० ७।१)

२. **लेहवत् साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्करायवा।**
गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी॥ (म० ७।२)

३. **क्वाथादीनां पुनः पाकाद्घनत्वं सा रस-क्रिया।**
सोऽवलेहश्च लेहः स्यात्तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता॥ (म० ८।१)

४. **सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः।**
द्रवं चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः॥ (म० ८।२)

हुआ है।[1] संहिता में कण्टकारी अवलेह, च्यवनप्राश अवलेह, कूष्माण्ड अवलेह, मूरणावलेह, कुटजावलेह, आदि के विस्तार दिये गये हैं।

स्नेहपाक, घृत और विविध प्रकार के तैल——स्नेहपाक तैयार करने में कल्क से चौगुना घी या तेल का उपयोग किया जाता है, और फिर चौगुने पानी में इसे सिद्ध करते हैं। कभी-कभी द्रव्य में चौगुना पानी डालकर पहले क्वाथ तैयार करते है, और जब चौथाई भाग शेष रह जावे, तो तेल या घी मिलाकर स्नेहपाक तैयार करते हैं।[2] विभिन्न प्रकार के स्नेहपाकों में पानी और तेल की मात्रा भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। इन मात्राओं का विवरण सर्वत्र देना शार्ङ्गधर संहिता की विशेषता है। स्नेहपाक पाक की अवस्था के अनुसार तीन प्रकार के माने गये हैं——मृदुपाक, मध्यपाक और खरपाक। जिसमें कल्क थोड़ा-सा रसवान् हो वह **मृदुपाक** है, और जिसमें कल्क थोड़ा-सा कड़ा पड़ जाय वह **खरपाक** है। इन दोनों की बीच की अवस्था में **मध्यपाक** बनता है। यदि खरपाक की अवस्था से और ऊपर पका दिया जाय तो **दग्धपाक** कहलावेगा, जो निकम्मा है। कम देर तक पाक करें तो **आमपाक** (कच्चा पाक) बनेगा, वह भी त्याज्य है।[3]

विविध प्रकार के घृत बनाने में ओषधियों के साथ घी और घी से चौगुना दूध भी मिलाते हैं। संहिता में पिप्पल्यादि घृत, चाङ्गेरी घृत, मसूर घृत, कामदेव घृत, अमृता घृत, महापंचतिक्त घृत, कासीसादि घृत (जिसमें कासीस, हलदी, हरि-

१. **सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहोऽप्सु मज्जति।**
स्थिरत्वं पीडिते मुद्रागन्धवर्णरसोद्भवः।। (म० ८।३)

२. **कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव वा।**
चतुर्गुणे द्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता।।
निक्षिप्य क्वाथयेत्तोयं क्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम्।
पादशिष्टं गृहीत्वा च स्नेहं तेनैव साधयेत्।। (म० ९।१-२)

३. **स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।**
ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत्।
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले।।
ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः।
तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद् दाहकृन्निष्प्रयोजनः।।
आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः। (म० ९।१४-१७)

ताल, मनःशिला, गन्धक, तूतिया आदि के चूर्ण घी में मिलाकर ताँबे के बर्तन में सात दिन तक धूप में रखे जाते हैं । यह घृत फोड़े-फुन्सियों और घावों के लिए हितकर है), षड्बिन्दु घृत, त्रिफला घृत, आदि का विस्तार दिया हुआ है ।

घृतों के समान ही अनेक प्रकार के तेलों के भी विवरण संहिता के मध्य खंड के नवम अध्याय में दिये गये हैं । लाक्षादि तैल (खुजली आदि में अभ्यंग अर्थात् शरीर की मालिश के लिए), अंगारक तैल (जिसकी मालिश ज्वरनाशक है), नारायण तल (जो नस्य, अभ्यंग और वस्तिकर्म में अनेक रोगों में काम आता है), वारुणी तैल, प्रसारिणी तैल, शतावरी तैल (जो कृष्णात्रेय का आविष्कार है), कासीसादि तैल, करञ्ज तैल, भृंगराज तैल, बिल्व तैल, और कान में डालने का क्षार तैल, एवं इसी प्रकार के अनेक तेलों का उल्लेख इस अध्याय में किया गया है । इन तेलों को सुगन्धित करने के लिए मजीठ, नख, कंकोल, नलिका, जातिकोषक (जावित्री), त्वक् (दालचीनी), कुन्दुरुष्क, कपूर, तुरुष्क, श्रीनिवास, केसर, कस्तूरी आदि मिला देने का भी आदेश है ।[1]

जम्बीरी नीबुओं का रस (एक प्रस्थ), मधु (१ कुडव) और पीपल (१ पल), इन सबको मिट्टी के पात्र में भरकर तीन या सात दिन तक रख दें । इस प्रकार **मधुशुक्त** (मीठा सिरका) तैयार हो जायगा । दूसरी विधि इसे बनाने की यह है कि जौ का क्वाथ (एक प्रस्थ), मधु (१ कुडव), शृंगवेर और गुड़ (एक-एक पल), इनको मिट्टी के घड़े में डालकर और मुख बन्द करके तीन दिन तक धान्य (अन्न) के ढेर में दबाकर धर देवें । इससे भी मधुशुक्त तैयार हो जायगा ।[2]

तैलों की गन्धवृद्धि के लिए पत्र-कल्क का विधान इस प्रकार दिया गया है-- गन्ध द्रव्य (कूठ आदि), निर्यास द्रव्य (हींग आदि), और सुगन्धयुक्त फूल (चमेली

१. समंगा नखकंकोल-नलिका-जातिकोषकम् ।
त्वक्-कुन्दुरुष्क-कर्पूर-तुरुष्क-श्रीनिवासकम् ॥
स्पृक्का कुंकुम-कस्तूरी दद्यादत्रावतारिते ॥ (म० ९।१०९-११०)

२. जम्बीराणां फलरसः प्रस्थैकः कुडवोन्मितम् ॥
माक्षिकं तत्र दातव्यं पलैका पिप्पली स्मृता ।
एतदेकीकृतं सर्वं मृद्भाण्डे च निधापयेत् ।
वचाम्भो मधुसंयुक्तं शृंगवेरगुडान्वितम् ।
धान्यराशिस्थितं मासं मधुसूक्तमुदाहृतम् ॥ (म० ९।१७८-१८०)

आदि), यदि तैल में गन्धवृद्धि के लिए डालने हों, तो तैयार तैल को चूल्हे पर से उतारकर ठंढा हो जाने के बाद डालना चाहिए। यह प्रक्षेप **पत्र-कल्क** कहलाता है।[1]

आसव, अरिष्ट, सीधु, सुरा आदि––संहिता के मध्य खंड के दसवें अध्याय में **सन्धित** द्रव्यों का वर्णन है। पानी आदि द्रवों में बहुत समय तक द्रव्यों के पड़े रहने पर जो सन्धित द्रव्य तैयार होते हैं, वे आसव और अरिष्ट आदि कहलाते हैं।[2] अपक्व (कच्चे या विना पकाये) औषध और पानी के योग से सन्धान करके जो मद्य तैयार किया जाता है, वह **आसव** कहलाता है। इसके विपरीत औषध और जल का क्वाथ करके जो सन्धित द्रव्य मिलता है, वह **अरिष्ट** है।[3] अपक्व मधुर द्रवों (जैसे ईख का रस) के सन्धान से बना हुआ द्रव **शीतरस-सीधु** (कच्चा सिरका), और सम्पक्व मधुर द्रव के सन्धान से बना सन्धित द्रव्य **पक्वरस सीधु** कहलाता है। परिपक्व अन्नों के सन्धान से जो सन्धित द्रव्य तैयार होता है, उसे **सुरा** कहते हैं।

सुरा के भेद ये हैं––(१) सुरामण्ड (अर्थात् ऊपर का सार भाग) **प्रसन्ना** कहलाता है। (२) प्रसन्ना की अपेक्षा जो घन भाग होता है, वह **कादम्बरी** कहा जाता है। (३) कादम्बरी की अपेक्षा निम्न श्रेणी की मद्य को **जगल** कहते हैं। (४) जगल की अपेक्षा जो घना होता है, वह **मेदक** कहलाता है। (५) जिस भाग में मद्यांश या सार बिलकुल नहीं रह जाता है, उसे **पक्वोस** (वक्कस या फोक) कहा जाता है। सुरा के बीज को (जिससे सुरा तैयार की जाती है) **किण्वक** कहते हैं।[4]

जो मद्य ताल या खजूर के रस से तैयार की जाती है वह **वारुणी** कहलाती है।[5]

१. गन्धनिर्यासपुष्पाणां सिद्धे शीतेऽवतारिते।
प्रक्षेपो गन्ध वृद्ध्यं पत्रकल्कं तु तद्विदुः॥ (म० ९।२१५)

२. द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्संधितं भवेत्।
आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम्॥ (म० १०।१)

३. यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः।
अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम्॥ (म० १०।२)

४. ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवः। सिद्धः पक्वरसः सीधुः संपक्वमधुरद्रवैः॥
परिपक्वान्नसंधानसमुत्पन्नां सुरां जगुः।
सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्ततः कादम्बरी घना॥
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद् घनः।
पक्वासौ हृतसारः स्यात्सुराबीजं च किण्वकम्॥ (म० १०।४-६)

५. यत्तालखर्जूररसैः संधिता सा हि वारुणी। (म० १०।७)

कन्द (सूरण, जमीकन्द), मूल (गाजरादि), तथा फल को तेलयुक्त पदार्थ (राई, पकौड़ा आदि) और लवण के साथ द्रव में डालकर जो सन्धान किया जाता है, उससे **शुक्त** (सूक्त) बनता है।[१]

जब मधु या मधुर रस रखे-रखे खट्टे हो जाते हैं, तो कहा जाता है कि वे विनष्ट हो गये। यदि विनष्ट होने पर भी उनमें सन्धान हो जाय (खमीर उठने लगे), तो उसे **चुक्र** कहा जाता है।[२] यदि गुड़ का शुक्त बनाना हो तो गुड़, पानी, तेलयुक्त राई, कन्दमूल एवं फलों का सन्धान होने देना चाहिए। इनमें जब खट्टापन आ जाय तो समझना चाहिए कि गुड़शुक्त तैयार हो गया। इसी प्रकार ईख के रस और मुनक्कों से भी शुक्त तैयार किया जा सकता है।[३]

कच्चे एवं दले हुए यवों का सन्धान करने से जो द्रव तैयार किया जाता है, उसे तुषाम्बु, और भूसी रहित परिपक्व यवों के सन्धान से जो द्रव मिलता है, उसे **सौवीर** कहते हैं।[४]

कुल्माष तथा धान्यों (चावल-यव आदि) के मण्ड (मांड़ी) का राई आदि द्वारा सन्धान करने से जो द्रव प्राप्त होता है, उसे काञ्जिक कहते हैं। मूली और सरसों के सन्धान से बनाया गया खट्टा द्रव सण्डाकी कहलाता है।[५]

संहिता में इसी प्रसंग में उशीर आसव, कुमार्यासिव, पिप्पल्यासव, लोहासव[६] (लोहचूर्ण, सोंठ, मिरच, पीपल, मधु, गुड़ आदि को घृत रखने के भाण्ड में सन्धानित

---

१. **कन्द-मूल-फलादीनि सस्नेह लवणानि च।**
यत्र द्रवेऽभिषूयन्ते तत्सूक्तमभिधीयते॥ (म० १०।७-८)

२. **विनष्टमम्लतां यातं मधु वा मधुरद्रवः।**
विनष्टः सन्धितो यस्तु तच्चुक्रमभिधीयते। (म० १०।८-९)

३. **गुडाम्बुना सतैलेन कन्दमूलफलैस्तथा।**
संधितं चाम्लतां यातं गुडसूक्तं तदुच्यते॥
एवमेवेक्षुसूक्तं स्यान्मृद्वीकासंभवं तथा॥ (म० १०।९-१०)

४. **तुषाम्बु-संधितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः।**
यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं संधितं भवेत्॥ (म० १०-११)

५. **कुल्माषधान्यमण्डादि संधितं काञ्जिकं विदुः।**
सण्डाकी संधिताज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः॥ (म० १०।१२)

६. **लोहचूर्णं त्रिकटुकं त्रिफलां च यवानिकाम्।**
विडङ्गं मुस्तकं चित्रं चतुःसंख्यापलं पृथक्॥

करके), मृद्वीकारिष्ट, और इसी प्रकार से विडंग, देवदारु, खदिर, बब्बूल, द्राक्ष, रोहितक और दशमूल के अरिष्टों का विवरण दिया गया है ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि आसव और अरिष्ट बनाने के लिए घृत लिप्त मृत्तिका पात्र का व्यवहार किया गया है। सन्धान योग्य द्रव्य इसमें भरकर रख छोड़े जाते थे । घड़े के मुख को बन्द रखा जाता था। कहीं भी भभके द्वारा उड़ाकर आसव चुआने का संकेत नहीं है।

धातु और उनका मारण-शोधन

शार्ङ्गधर संहिता चरक-सुश्रुत परम्परा का अन्तिम-प्राय ग्रन्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शार्ङ्गधराचार्य के समय तक रस-तंत्रों का कुछ आरंभ अवश्य हो गया था। चिकित्सा के कार्य में धातुओं के उपयोग को भी महत्त्व दिया जाने लगा था। इस संहिता के मध्यम खंड के ग्यारहवें और बारहवें अध्याय में धातुओं के शोधन-मारण, पारद के रसायन और अनेक रसों के बनाने का उल्लेख है।

धातुशोधन--शार्ङ्गधर संहिता में सात धातुएँ मानी गयी है--स्वर्ण, तार (चाँदी), आर (पीतल), ताम्र, नाग (सीसा), वंग और तीक्ष्णक (लोहा)। सोना, चाँदी और लोहे का शोधन करना हो तो इनके पत्रों को अग्नि में तपावे और उनको तप्त-तप्त ही तैल, या तक्र, या काँजी, या गोमूत्र अथवा कुलथी के क्वाथ में तीन-तीन बार बुझावे। नाग और वंग को तपाकर और गलाकर उक्त तैल आदि द्रवों में तीन-तीन बार और आक के दूध में तीन बार निषिक्त करे। ऐसा करने से वे भी शुद्ध हो जावेंगे।[1]

धातकीकुसुमानां तु प्रक्षिपेत्पलविंशतिम् ।
चूर्णीकृत्य ततः क्षौद्रं चतुःषष्टिपलं क्षिपेत् ॥
दद्यात् गुडतुलां तत्र जलद्रोणद्वयं तथा ।
घृतभाण्डे विनिक्षिप्य निदध्यान्मासमात्रकम् ॥
लोहासवममुं मर्त्यः पिबेद् वह्निकरं परम् ॥ (म० १०।३५-३८)

१. स्वर्णताराररताम्राणि नागवंगौ च तीक्ष्णकम् ।
धातवः सप्त विज्ञेयास्ततस्तान् शोधयेद् बुधः ॥
स्वर्णताराररताम्रायः पत्राण्यग्नौ प्रतापयेत् ।
निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा ।
एवं स्वर्णादिलोहानां विशुद्धिः संप्रजायते ॥

सुवर्ण भस्म--शुद्ध सोना और उससे दुगुना पारा ले। दोनों को अम्ल डालकर घोंटे। जब घोंटते-घोंटते गोला बन जाय, तो इस गोले के समान भाग शुद्ध गन्धक पीसे। उसमें से आधा गन्धक एक शराव (सकोरा) में बिछा दे, और उस पर गोला रख दे, और शेष गन्धक गोले के ऊपर रख दे। दूसरे शराव से पहले शराव को ढक दे और कपड़मिट्टी से सम्पुट बनाकर सुखा ले। फिर ३० वनोपलों की आग में पुट दे। चौदह पुटें देने पर सोने का निरुत्थ भस्म तैयार हो जायगा। हर पुट में बार-बार गन्धक देनी चाहिए।[1] गन्धक और सुवर्ण के योग से भस्म बनाने की ६ विधियाँ ग्रन्थकार ने दी हैं।

चाँदी का भस्म--इसे बनाने की दो विधियाँ संहिता में दी हुई हैं। पहली विधि में हरताल का अम्ल के साथ मर्दन करते हैं, और फिर चाँदी के पत्रों को उसके लेप से लिप्त कर देते हैं। इन पत्रों को मूषा के सम्पुट में रखकर ३० कंडों की आग देते हैं। फिर ठंडा करते हैं, और सम्पुट में फिर हरताल रखते हैं, और फिर तपाते हैं। इस प्रकार चौदह बार पुट देने से चांदी का भस्म तैयार हो जाता है।[2]

दूसरी विधि में चांदी के पत्रों पर सोनामाखी और सेंहुड़ के दूध का लेप करते हैं, फिर चौदह बार पुट देते हैं।[3]

नागवंगौ प्रतप्तौ च गालितौ तौ निषेचयेत्।
त्रिधा त्रिधा विशुद्धः स्याद् रविदुग्धेन च त्रिधा॥ (म० ११।१-४)

१. स्वर्णाच्च द्विगुणं सूतमम्लेन सह मर्दयेत्।
तद्गोलकसमं गन्धं निदध्यादधरोत्तरम्॥
गोलकं च ततो रुन्ध्याच्छरावदृढसंपुटे।
त्रिंशद् वनोपलैर्दद्यात्पुटान्येवं चतुर्दश॥
निरुत्थं जायते भस्म गन्धो देयः पुनः पुनः॥ (म० ११।५-७)

२. भागैकं तालकं मर्द्यं यामम्लेन केनचित्।
तेन भागत्रयं तारपत्राणि परिलेपयेत्॥
धृत्वा मूषापुटे रुद्ध्वा पुटेत् त्रिंशद् वनोपलैः।
समुद्धृत्य पुनस्तालं दत्त्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत्॥
एवं चतुर्दश पुटैस्तारं भस्म प्रजायते (म० ११।२१-२३)

३. स्नुहीक्षीरेण संपिष्टं माक्षिकं तेन लेपयेत्।
तालकस्य प्रकारेण तारपत्राणि बुद्धिमान्।
पुटेच्चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते॥ (म० ११।२३-२४)

पीतल और कांसे का भस्म—पीतल के पत्रों पर आक के दूध, गन्धक, और कांजी के बने लेप को चढ़ाते हैं, फिर सम्पुट में धरकर गजपुट में दो पुट देते हैं। ऐसा करने पर पीतल का भस्म तैयार हो जाता है। काँसे का भी भस्म इसी विधि से तैयार किया जा सकता है।[१]

ताँबे का भस्म—संहिताकार ने ताँबे का एक ऐसा भस्म बनाने की विधि दी है, जिसके सेवन करने पर वमन, मूर्च्छा, भ्रान्ति, क्लम (सुस्ती) आदि कुछ नहीं उत्पन्न होती। इस भस्म के बनाने के लिए ताँबे के पत्रों का काँजी या अम्ल में तीन दिन तक स्वेदन करना पड़ता है। फिर ताम्र के टुकड़ों में एक चौथाई पारा डालकर अम्ल के साथ मर्दन करते हैं। फिर इसमें गन्धक मिलाकर गोला ऐसा बना लेते हैं। पुनर्नवा, मीनाक्षी, चांगेरी आदि ओषधियों का कल्क बनाकर इस गोले पर एक अंगुल मोटा लेप चढ़ा देते हैं। फिर इस गोलक को बड़े मृत्पात्र के भीतर रखकर शराव (सकोरे) से ढँक देते हैं। मृत्पात्र के शेष भाग को बालू से भर देते हैं, और पात्र के मुँह को ढँककर और सन्धियों को पानी में सने नमक से बन्द करके एक प्रहर तक धीमी आंच देते हैं, फिर आँच बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार चार प्रहर आँच देने के बाद शराव को ठंडा करते हैं, और बालू अलग करके गोला निकाल लेते हैं। फिर ताम्र गोलक को सूरण के रस के साथ एक दिन पर्यन्त पीसकर फिर गोला बना लेते हैं। गोले पर घी में सने गन्धक का फिर लेप कर देते हैं। सम्पुट में इसे रखकर गजपुट देते हैं। फिर निकालकर स्वाङ्ग शीतल होने देते हैं। पुट में से फिर ताँबे का भस्म निकालकर पीस लेते हैं।[२]

वंग, नाग और लोह के भस्म भी लगभग इसी प्रकार तैयार किये जा सकते हैं।

उपधातु—संहिताकार ने सात उपधातुएँ गिनायी हैं—माक्षिक, तुत्थक, अभ्रक, नीलाञ्जन, मनःशिला, आलक (हरिताल) और रसक।[३] स्वर्णमाक्षिक का शोधन

१. अर्कक्षीरेण संपिष्टो गन्धकस्तेन लेपयेत्।
समेनारस्य पत्राणि शुद्धान्यम्बलद्रवैर्मुहुः॥
ततो मूषापुटे धृत्वा पुटेद्गजपुटेन च।
एवं पुटद्वयेनैव भस्मारं भवति ध्रुवम्॥
आरवत्कांस्यमप्येवं भस्मतां याति निश्चितम्। (म० ११।२५-२७)

२. म० ११।२८–३५।

३. माक्षिकं तुत्थकाभ्रौ च नीलाञ्जनशिलालकाः।
रसकश्चेति विज्ञेया एते सप्तोपधातवः॥ (म० ११।५३-५४)

करना हो तो तीन भाग माक्षिक में एक भाग सैंधा नमक मिलावे और नीबू के रस में मिलाकर लोहे के पात्र में पकावे, और बराबर लोहे की कलछुल से चलाता जावे जब तक पात्र का पेंदा लाल न दहकने लगे।[१]

इसी प्रकार स्वर्णमाक्षिक का मारण करना हो, तो कुलथी के क्वाथ, एरण्ड के तेल, तक्र (मट्ठा) या बकरी के मूत्र के साथ पीसकर पुट देना चाहिए।[२]

विस्तार––भय से हम विमला, तुत्थ, अभ्रक, नीलाञ्जन, मनःशिला, हरताल और रसक का शोधन और मारण यहाँ नहीं दे रहे जिसका इस ग्रन्थ में उल्लेख है। उपधातुओं के सत्त्व प्राप्त करने की भी एक साधारण विधि दी गयी है।[३]

रत्नशोधन––वज्र या हीरे के शोधन के लिए हीरे को कण्टकारी की जड़ के कल्क में रखकर दोलायंत्र में पाचन करने के लिए कहा गया है। कुलथी और कोद्रव (कोदों) का क्वाथ इस काम के लिए प्रयोग करना चाहिए।[४] हीरे के मारण या भस्म बनाने की तीन विधियाँ ग्रन्थकार ने दी हैं। इसी प्रकार वैक्रान्त और अन्य रत्नों के शोधन-मारण का भी विस्तार दिया गया है। दोलायंत्र में जयंती के क्वाथ में स्वेदन करने को कहा गया है, जिससे मणि, मोती, प्रवाल आदि का मारण और शोधन होता है।[५]

क्षार बनाने की विधि––क्षार वृक्ष की सूखी लकड़ियों को आग में जलाकर, उसकी राख को मिट्टी के पात्र में चौगुने पानी में रख छोड़े। दूसरे दिन प्रातःकाल ऊपर का स्वच्छ जल अलग निथार लेवे। इस जल को अग्नि पर तब तक पकावे,

१. माक्षिकस्य त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च।
मातुलुङ्गद्रवैर्वाथ जम्बीरोत्थद्रवैः पचेत्।
चालयल्लोहजे पात्रे यावत्पात्रं सुलोहितम्॥
भवेत्ततस्तु संशुद्धि स्वर्णमाक्षिकमृच्छति। (म० ११।५४–५६)

२. कुलित्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत्॥
तक्रेण वाजमूत्रेण म्रियते स्वर्णमाक्षिकम्। (म० ११।५६–५७)

३. म० ११।७७–७९।

४. कुलित्थकोद्रवक्वाथैर्दोलायंत्रे विपाचयेत्।
व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनं शुद्धिमृच्छति॥ (म० ११।७९–८०)

५. स्वेदयेद्दोलिकायन्त्रे जयन्त्याः स्वरसेन च॥
मणिमुक्ताप्रवालानां यामैकं शोधनं भवेत्॥ (म० ११।८९–९०)

जब तक सब पानी सूख न जावे। इसके बाद खुरचकर श्वेतवर्ण का क्षार प्राप्त कर लेवे। क्षार दो प्रकार का होता है--(क) चूर्ण जैसा, जिसका नाम **प्रतिसार्य** है, और (ख) क्वाथ जैसा तरल, जिसका नाम **पेय** या **पानीय** है।[1]

पारद और उसका रसायन

शार्ङ्गधर संहिता में दरद (शिगरफ) से पारा प्राप्त करने की विधि दी गयी है। दरद को नीबू अथवा नीम के पत्तों के रस में पीसकर और सुखाकर ऊर्ध्वपातन करने पर पारा प्राप्त हो जायगा।[2] पारे के अनेक नाम हैं--रसेन्द्र, पारद, सूत, हरज, सूतक, रस और मुकन्द।[3] पारद की शोधन विधि में दोलायंत्र प्रयोग किया गया है, और अन्त में इसका ऊर्ध्वपातन भी बताया गया है।[4] पारे को यदि विषों या उपविषों के साथ मर्दन करें तो यह **"छिन्न-पक्ष"** हो जाता है, उसके मुख उत्पन्न हो जाता है, यह बुभुक्षित हो जाता है और धातुओं को क्षणभर में ग्रस सकनेवाला बन जाता है। इस प्रसंग में संहिताकार ने ९ विष और ७ उपविष गिनाये हैं। विष हैं--कालकूट, वत्सनाभ, श्रृंगिक, प्रदीपक, हालाहल, ब्रह्मपुत्र, हारिद्र, सक्तुक और सौरा-

१. क्षारवृक्षस्य काष्ठानि शुष्काण्यग्नौ प्रदीपयेत् ॥
नीत्वा तद् भस्म मृत्पात्रे क्षिप्त्वा नीरे चतुर्गुणे।
विमर्द्य धारयेद् रात्रौ प्रातरच्छं जलं नयेत् ॥
तन्नीरं क्वाथयेद् वह्नौ यावत्सर्वं विशुष्यति।
ततः पात्रात्समुल्लिख्य क्षारो ग्राह्यः सितप्रभः ॥
चूर्णाभः प्रतिसार्यः स्यात्पेयः स्यात्क्वाथवत्स्थितः।
इति क्षारद्वयं धीमान् युक्तकार्येषु योजयेत् ॥ (म० ११।१०२-१०५)

२. निम्बूरसैर्निम्बपत्ररसैर्वा याममात्रकम्।
पिष्ट्वा दरदमूर्ध्वं च पातयेत्सूतयुक्तिवत्।
ततः शुद्धरसं तस्मान्नीत्वा कार्येषु योजयेत् ॥ (म० १२।१६-१७)

३. रसेन्द्रः पारदः सूतो हरजः सूतको रसः।
मुकन्दश्चेति नामानि ज्ञेयानि रसकर्मसु ॥ (म० १२।२)

४. राजीरसोन मूषायां रसं क्षिप्त्वा विबन्धयेत्।
वस्त्रेण दोलिकायंत्रे स्वेदयेत् काञ्जिकैस्त्र्यहम् ॥
एवं निपातयेदूर्ध्वं रसो दोषविवर्जितः ॥
अथोर्ध्वं पिठरीमध्ये लग्नो ग्राह्यो रसोत्तमः। (म० १२।४-१३)

ष्ट्रिक। उपविष हैं—आक, सेहुण्ड, धतूरा, लांगली, करवीरक, गुञ्जा और अहिफेन।[१] अहिफेन या अफीम का इस सूची में .होना यह बताता है कि शार्ङ्गधरसंहिता या तो आधुनिक ही ग्रन्थ है, या इसमें बाद को प्रक्षेप बहुत हैं। कम से कम यह तो स्पष्ट है कि यह उस समय का ग्रन्थ है, जब रस-तंत्र का प्रयोग प्रचलित हो गया था। धातुओं के भस्म और पारद से बने रस जनता में लोकप्रिय होने लगे थे। गन्धक का उपयोग भी बढ़ रहा था। दोला यंत्र द्वारा स्वेदन, ऊर्ध्वपातन और मूषा, पुटपाक, गजपुट आदि के व्यवहार भेषजशालाओं में बढ़ने लगे थे। तप्त खल्व का भी उल्लेख पारा के बुभुक्षित करने के प्रसंग में एक स्थान पर किया गया है।[२] (संभवतः यह अंश प्रक्षिप्त है)।

गन्धक जारण के प्रकरण में एक स्थल पर कच्छप यंत्र का भी उपयोग किया गया है। जारण के संबंध में बताया गया है कि मिट्टी के कुण्ड में पानी भरे, उसके मुख पर बड़ा-सा ढकना रख दे (इसका तलभाग जल से लगा रहना चाहिए)। इसके मध्य भाग में मेखला या थाला बना दे। इसमें चूने का लेप कर देना चाहिए और इसमें शुद्ध पारा डाले। पारे पर समान भाग गन्धक का चूर्ण दे और इस पर शराव (सकोरा) रखकर राख सानकर सन्धियाँ मूँद दे। इसके ऊपर चार उपलों का पुट दे। बार-बार गन्धक का जारण करते जाना चाहिए जब तक छः गुने गन्धक का जारण न हो जाय। गन्धक का जारण हो जाने पर पारद अत्यन्त तीक्ष्ण और सब कर्मों के योग्य बन जाता है।[३]

१. कालकूटो वत्सनाभः शृङ्गकश्चप्रदीपकः।
हालाहलो ब्रह्मपुत्रो हारिद्रः सक्तुकस्तथा।
सौराष्ट्रिक इति प्रोक्ता विषभेदा अमी नव।
अर्क-सेहुण्ड-धत्तूर-लाङ्गली-करवीरकम्।
गुञ्जा-हिफेनावित्येताः सप्तोपविषजातयः।
एतैर्विमर्दितं सूतश्छिन्नपक्षः प्रजायते।
मुखं च जायते तस्य धातूंश्च ग्रसते क्षणात्॥ (म० १२।१८–२१)

२. अजाशकृत् तुषाग्निं च भूगर्त्ते त्रितयं क्षिपेत्।
तस्योपरिस्थितं खल्वं तप्तखल्वमिति स्मृतम्॥ (म० १२।२४)

३. अथ कच्छपयन्त्रेण गन्धजारणमुच्यते।
मृत्कुण्डे निक्षिपेत्तोयं तन्मध्ये च शरावकम्॥

पारे के मारण के संबंध में काचकूपी का उल्लेख है। धूमसार (घर का धुआँ), पारा, तोरी (फिटकरी), गन्धक, नौसादर, इन सबका समान भाग लेकर अम्ल के साथ एक प्रहर तक मर्दन करे। फिर इसे सुखाकर काचकूपी में डाल दे और उस कूपी को कपड़-मिट्टी द्वारा सब ओर से लपेट दे। फिर उसके मुख पर मुद्रा देकर (डाट लगाकर) सुखा ले। फिर एक पिठरी (नाद या कुण्ड) के तलभाग में एक छेद करे और इस छेद पर काचकूपी को रख दे और पिठरी को कूपी के गले तक बालू से भर दे। तदनन्तर, पिठरी को चूल्हे पर चढ़ाकर धीरे-धीरे आँच दे, और बाद को धीरे-धीरे आँच बढ़ाता जाय। इस प्रकार बारह प्रहर में पारा मर जाता है। स्वांगशीतल हो जाने पर कूपी को धीरे से तोड़ दे। कूपी के ऊर्ध्वभाग में लगे गन्धक को त्याग दे और अधोभाग में स्थित पारे को उपयोग में लावे।[1]

शार्ङ्गधर संहिता में अनेक रसों का विवरण है, जैसे, ज्वरांकुश रस, ज्वरारि रस

महत्कुण्डपिधानाभं मध्ये मेखलया युतम्।
लिप्त्वा च मेखलामध्यं चूर्णेनात्र रसं क्षिपेत्॥
रसस्योपरि गन्धस्य रजो दद्यात्समांशकम्।
दत्त्वोपरि शरावं च भस्ममुद्रां प्रदापयेत्॥
तस्योपरि पुटं दद्याच्चतुर्भिर्गोमयोपलैः।
एवं पुनः पुनर्गन्धं षड्गुणं जारयेद् बुधः।
गन्धे जीर्णे भवेत्सूतस्तीक्ष्णाग्निः सर्वकर्मकृत्॥ (म० १२।२६–३०)

१. धूमसारं रसं तोरीं गन्धकं नवसादरम्॥
यामैकं मर्दयेदम्लैर्भागं कृत्वा समांशकम्।
काचकूप्यां विनिक्षिप्य तां च मृद्वस्त्रमुद्रया॥
विलिप्य परितो वक्त्रे मुद्रां दत्त्वा च शोषयेत्।
अधः सच्छिद्रपिठरीमध्ये कूपीं निवेशयेत्॥
पिठरीं वालुकापूरैर्भृत्वा चाकूपिकागलम्।
निवेश्य चुल्ल्यां तदधः कुर्याद् वह्निं शनैः शनैः॥
तस्मादप्यधिकं किंचित्पावकं ज्वलयत्क्रमात्।
एवं द्वादशभिर्यामैर्म्रियते सूतकोत्तमः॥
स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं तमूर्ध्वगं गन्धकं त्यजेत्।
अधःस्थं मृतसूतं च सर्वकर्मसु योजयेत्॥ (म० १२।३०–३५)

(पारद, हरिताल, तूतिया, सुहागा और गन्धक के योग से), शीतारि रस (तालक, तुत्थक, ताम्रभस्म, पारद, गन्धक और मनःशिला के योग से), लोकनाथ रस (पारद, गन्धक, टंकण और शंख के खंड के योग से), लघु लोकनाथ रस (कौड़ी की भस्म और मण्डूर के योग से), मृगाङ्क पोटली रस (सोने के पत्र, पारद, सुहागा, और गन्धक के योग से), हेमगर्भ पोटली रस (पारा, सोना, गन्धक और सुहागे के योग से), आनन्द-भैरव रस (दरद, वत्सनाभ, टंकण, आदि के योग से), आदि अनेक रस जो पारा, सोना, गन्धक, मनःशिला, दरद, सुहागा आदि के साथ अनेक वानस्पतिक ओषधियों के योग से तैयार किये जाते हैं। वसन्तकुसुमाकर रस में स्वर्णभस्म, अभ्रकभस्म, लोह भस्म, रससिन्दूर, वंग भस्म, प्रवाल भस्म, मौक्तिक भस्म, और ओषधियाँ एवं मालती के फूल, कस्तूरी, कपूर, तुलसी के पत्ते आदि का भी व्यवहार किया गया है (म० १२।१४३–१४८)।

इस अध्याय के अन्त में जैपाल (जमाल गोटा), विष और अहिफेन (अफीम) के शोधन की विधियाँ भी दी हुई हैं। अफीम शृंगवेर (अदरख) के रस की इक्कीस भावनाएँ देने पर शुद्ध हो जाती है और तब इसका यथेच्छ सेवन किया जा सकता है। जैपाल का शोधन इस प्रकार करते हैं——इसे छीलकर भैंस के गोबर में तीन दिन तक दबाकर रखते हैं। फिर गरम पानी से धोकर मोटे कपड़े की पोटली में बाँधकर खरल में पीसते हैं, फिर उसे नवीन खपरों पर लेप देते हैं। जब उसके तेल दूर हो जायँ, तो फिर नीबू के रस में इसको भावित करते हैं, फिर इसे सुखा लेते हैं।[1]

इन रसों के बनाने, शोधने आदि में निम्न उपकरणों या विधियों का प्रयोग हुआ है——(श्लोक संख्या मध्य खंड के द्वादश अध्याय की है)।

१. बालुका यंत्र (ज्वराररिस, ४८)
२. खल्व (मृगांक पोटली रस, ८६)
३. लवणापूरित भाण्ड (मृगांक पोटली रस, ९०)
४. भूधर यंत्र (हेमगर्भपोटली रस, ९७)
५. स्थालिका यंत्र (सूर्यावर्त्त रस, १६५)
६. दोला यंत्र (करवीर शोधन, ३०१)

१. **जैपालं रहितं त्वगङ्कुररसज्ञाभिर्मले माहिषे,
निक्षिप्तं त्र्यहमुष्णतोयविमलं खल्वे सवासोऽर्दितम्।
लिप्तं नूतनखर्परेषु विगतस्नेहं रजःसंनिभं,
निम्बूकाम्बुविभावितं च बहुशः शुद्धं गुणाढ्यं भवेत्॥ (म० १२।२९०–२९२)**

७. रौद्रयन्त्र (अर्कदुग्ध शोधन, ३०२)
८. पिठरी (उदयादित्य रस, १८४)
९. स्निग्ध भाण्ड (कुष्ठकुठार रस, १८३)
१०. कुपी, कूपी (सूचिकाभरण रस, १२४)
११. राजत पात्र (चाँदी का) (हेमगर्भ पोटली रस, १११)
१२. मृन्मय पात्र (१११)
१३. काचज पात्र (१११)
१४. काच भांड, स्थाली और काचकूपी (सन्निपात भैरव रस, २४१)
१५. लोहपात्र (ग्रहणीवज्रकपाट रस, २५५)
१६. ताम्र पात्र (ज्वराररिस, ४९)
१७. कपर्द (कौड़ी) (लोकनाथ रस, ६०)
१८. शराव (सकोरा) (लोकनाथ रस, ६२)
१९. गर्त्त (गड्ढा) (लोकनाथ रस, ६३)
२०. संपुट (शीतारि रस, ५२)
२१. गजपुट (लोकनाथ रस, ६३)
२२. वास परिवेष्ठन (मृगांक पोटली रस, ८९)
२३. मृदावेष्टन (मृगांक पोटली रस, ८९)
२४. शराव संपुट (मृगांक पोटली रस, ९०)
२५. मूषा संपुट (हेमगर्भ पोटली रस, १०८)
२६. काचलिप्तशराव (सूचिकाभरण रस, १२१)
२७. चुल्ली (चूल्हा) (सूचिकाभरण रस, १२२)
२८. वस्त्र गालन (कपड़े में छानना) (स्वयमग्नि रस, १५६)

निर्देश

शार्ङ्गधर—शार्ङ्गधर संहिता, लालचन्द्र वैद्यकृत सर्वांग सुन्दरी व्याख्या सहित विश्वभारत पंचांग कार्यालय, काशी (सं० २००४ वि०)।

नवाँ अध्याय

आयुर्वेद साहित्य के कतिपय ग्रन्थों का रचनाकाल

आयुर्वेद संबंधी साहित्य के रचनाकाल पर निश्चलकर की कृति 'रत्नप्रभा' से अच्छा प्रकाश पड़ता है, जैसा कि दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के एक लेख से प्रतीत होता है।[1] चक्रदत्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'चिकित्सासंग्रह' की टीका यह 'रत्नप्रभा' है। इस रत्नप्रभा की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय, वंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता और भंडारकर इन्स्टीट्यूट, पुणे में मिलीं। शिवदास ने भी १५०० ई० के लगभग एक टीका 'तत्त्वचन्द्रिका' नाम से चक्रदत्त पर लिखी। शिवदास का पिता अनन्त सेन बार्वकशाह (१४५९-१४७६ ई०) का राजवैद्य था। बार्वकशाह बंगाल का सुलतान था, जैसा कि शिवदास ने चक्रदत्त के **द्रव्यगुणसंग्रह** और **अष्टांगहृदय के उत्तर स्थान** की टीकाओं के अन्त में कहा है।[2]

'रत्नप्रभा' के रचयिता का नाम निश्चल था और वह बंगाल के 'कर' वंश का था। उसको उस समय का आयुर्वेद साहित्य संभवतः राजकीय पुस्तक-संग्रह में बहुत अच्छा प्राप्य था। उसे '**जतूकर्ण संहिता**' की भी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखने को मिली थीं, जो अब बहुत दिनों से अप्राप्य हैं। इस संबंध में उसके शब्द स्पष्ट हैं।[3] निश्चल ने बहुत से प्रयोग स्वयं भी किये थे, क्योंकि कुछ स्थलों पर उसने ये शब्द लिखे हैं--'**दृष्टफलमिदं, ···मयैव बहुधा दृष्टफलम्।**' ···**लोहचूर्ण योगोऽयं बहुधास्मदनुभूतफलो बोध्यः।**' कुछ स्थलों पर तो उसने चिकित्सा के संबंध में अपने लब्धप्रतिष्ठ

१. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य, 'इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली', २३, १२३-१५५ जून १९४७)।

२. योऽन्तरङ्गपदवीं दुरवापां, छत्रमप्यतुलकीर्त्तिमवाप।
गौडभूमिपतिवार्व्वकशाहात्, तत् सुतस्य कृतिनः कृतिरेषा॥

३. अत्र चित्रकात् पले इत्यधिकरणनिर्द्देशः। क्षारस्यापि पलमेकम्। अत्रार्थे तन्त्रान्तरम्--अग्निक्षारपलाभ्यां द्विमूत्रं चतुर्ज्जलं च घृतप्रस्थमिति चक्रः। पुराणपुस्तकत्रयेऽपि जतूकर्णे मया नेदं दृष्टं, दृष्टं चाग्निपलाभ्यां द्विसूत्रं चतुर्ज्जलं घृतादिति। अतः पले इति प्रथमाद्विवचनान्तम्। (उदर चिकित्सा प्रकरण)।

मरीजों तक के नामों का उल्लेख कर दिया है, जैसे, प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु शाक्य रक्षित का।[१]

निश्चल बंगाल का निवासी था। वह संभवतः स्वयं शैव था, पर स्थान-स्थान पर स्वयं उसने बौद्ध आचार्यों के प्रति सद्भावनाएँ व्यक्त की हैं। उसके समय में बंगाल में बौद्धों को अब भी प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उसके समय तक मुस्लिम आक्रमणों ने बिहार के बौद्ध विश्वविद्यालयों को ध्वस्त नहीं कर पाया था।[२] इन सब बातों से स्पष्ट है कि निश्चल १२वीं शती के अन्त से पूर्व ही का कोई कृतिकार है।

निश्चल ने अपनी 'रत्नप्रभा' में कुष्ठ के प्रकरण में **पंचनिम्ब** नामक एक योग दिया है, जिसमें उस घटना का उल्लेख है जब कि नृप रामपाल ने कामरूप के नरेश का स्वागत किया। इस अवसर पर लेखक स्वयं आरोग्यशाला में उपस्थित था। यह आरोग्यशाला उसके गुरु विजयरक्षित की देख-रेख में काम करती थी।[३] रामपाल

१. (क) पृथ्वीका कृष्णजीरकं न तु सूक्ष्मैला। कृष्णजीरकस्य अतीक्ष्णत्वेऽपि द्विगुणशर्करा योगात् मृदुत्वं प्रभावाद्वा रक्तपित्तहन्तृत्वम्। किञ्चास्माभिरेव पण्डितभिक्षुशाक्यरक्षितप्रभृतिषु दृष्टफलः।

(ख) योगोऽयं भोजनवीर्याधिकृत-यतपालित-महातन्त्राधिकृतलोकेश्वरादिष्वस्माभिरेव दृष्टफलः।

२. (क) बोधिचर्यावतारोक्तं कामशोकादि निन्दितम्।

(ख) आचार्यधर्मकीर्त्तिनाप्युक्तं—"कामशोकभयोन्मादस्वप्नचौर..."

(ग) हृदयमन्त्रोऽयमप्यस्तु यथा, ॐ तारे उत्तारे तारस्वाहेति।

(घ) तथा बौद्धागमे अमोघज्ञानतन्त्रेऽपि महता भिक्षुसंघेन सार्द्धमष्टादशभिर्भिक्षुसहस्त्रैः।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि बंगाल में निश्चल के समय में बौद्धों का अच्छा प्रभाव था।

३. मधुना कफपित्तप्राये; वायुपित्तप्राये तिक्तहविषा वक्ष्यमाणतिक्तकादिघृतेन, खदिरासनवारिणेति व्याधिप्रत्यनीकतया। तत्र खदिरवारिपुटदग्धखदिरतनुमूल परिश्रुतरसः, तत्क्वाथो वा असनवारि असनक्वाथ एवेति वृद्धाः उष्णाम्बुनेति वातश्लेष्मप्राय इति बोध्यम्। कामरूपदेशी (य) भूपालप्रवेशाय धवलगृहपर्यन्तमुपगम्य आगच्छद्भिरारोग्यशालाभिषङ्महासत्रमण्डपेऽभीष्टफलप्रदमिष्टदैवतमभ्यर्च्चयितुं तिष्ठद्भिरखिलक्ष्मीपालमौलिमाला (माणिक्य) श्रेणिकिरणनिकरशारदाम्भोजप्राग्भारक्षालितचरणतलश्रीरामपालदेवैरप्ययमर्थः सप्रपञ्चमभ्युपगतः।

ने लगभग ४२ वर्ष तक शासन किया। उसके इस दीर्घ शासनकाल में न केवल विजयरक्षित को सेवा करने का अवसर मिला, प्रत्युत उसके शिष्य निश्चल को भी। निश्चल किस समय का व्यक्ति है, यह हम रामपाल के शासन-समय से निर्धारित कर सकते हैं। "षेकशुभोदया" में एक श्लोक है जिससे नृप रामपाल की मृत्यु-तिथि निश्चयपूर्वक आश्विन बदी १४, गुरुवार युग्म शाके में ठहरती है, गणना करके दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने २३ सितम्बर, सन् ११२० ई० मृत्यु-तिथि निश्चय की है।[१] अतः निश्चल ने अपना ग्रन्थ सन् १११०–२० ई० काल के बीच में लिखा होगा।

अगर निश्चल का समय १११० ई० के निकट का है, तो चक्रपाणि भी १०७५ ई० के निकट जीवित रहा होगा। निश्चल ने उसे अपने बाल्यकाल में देखा होगा। चक्रपाणि के पिता नारायण राजा नयपाल के मंत्री थे। नयपाल का शासन समय १०३८–५५ ई० था। ये बातें तब ठीक हैं, जब कि हम यह मान लें कि चक्रदत्त के संग्रह में दिये गये वाक्य "गौडाधिनाथरसवत्यधिकारिपात्रनारायणस्य तनयः. . ." में पाठदोष नहीं है। इस वाक्य का दूसरा पाठ भेद इस प्रकार है—"गौडाधिनाथ रसवत्यधिकारिपात्रं, नारायणस्य तनयः. . ." इससे स्पष्ट है कि चक्रपाणि स्वयं गौडनृप नयपाल की पाकशाला का अध्यक्ष था, न कि उसका पिता। चक्रपाणि का बड़ा भाई नृप नयपाल का अन्तरंग भिषक् था। अतः चक्रपाणि ने अपना संग्रह १०४३–५० ई० में लिखा। निश्चल ने इस प्रकार अपने बाल्यकाल में चक्रपाणि के दर्शन न किये होंगे। चक्रपाणि के शिष्यों के मत का भी निश्चल ने कई स्थलों पर खंडन किया है। चक्रपाणि के शिष्यों में और निश्चल में ४०–५० वर्षों का अन्तर अवश्य रहा होगा।

चक्रपाणि का रचनाकाल १०४३–५० ई० के निकट मान लेने पर आयुर्वेद के प्रत्येक ग्रन्थ के रचनाकाल में भी थोड़ा-सा अन्तर आ जाता है। इस आधार पर दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने कुछ के रचनाकाल निर्धारित किये हैं।

चक्रपाणि के पूर्व बंगाल में वृन्द के 'सिद्धयोग' ग्रन्थ का अधिक प्रचार था। बाद में चक्रपाणि का ग्रन्थ इतना प्रचलित हुआ कि उसके आगे वृन्द की ख्याति

१. शाके युग्मरेणुरन्ध्रगते कन्यां गते भास्करे,
कृष्णे वाक्पतिवासरे यमतिथौ यामद्वये वासरे।
जाह्नव्यां जलमध्यतस्त्वनशनैर्ध्यात्वा पदे चक्रिणो,
हा पालान्वयमौलिमण्डनमणिः श्रीरामपालो मृतः।

कम हो गयी। वृन्द और चक्रपाणि की प्रतिद्वन्द्विता चक्रपाणि के एक श्लोक से स्पष्ट है।[1]

चक्रपाणि के ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों और कृतिकारों के उल्लेख--निश्चल के कथनानुसार चक्रपाणि ने अपने पूर्ववर्ती निम्न आचार्यों और उनके ग्रन्थों से अपनी रचना में सहायता ली---

अग्निवेश, अमितप्रभ, अमृतमाला, अश्ववैद्यक, अश्विनीकुमारसंहिता, आत्रेय, आयुर्वेदसार, उग्रसेन सेन, कालपाद, कृष्णात्रेय, क्षारपाणि, खरनाद, गन्धशास्त्र, चरक, चरकोत्तर तंत्र, चाक्षुष्येण, चन्द्रट, चिकित्साकलिका, चिकित्सातिशय, जतूकर्ण तीसट, दृढबल, धनुर्वेद, नागार्जुन, नावनीतक संहिता, पराशर, पुष्कलावत, पृथ्वीसिंह, वृहत्तंत्र प्रदीप, भद्रवर्म्मन, भालुकि, **भिषग्मुष्टि,** भेल, भोज, माधवकर, योगपञ्चाशिका, योगयुक्ति, योगशत, रत्नमाला, रविगुप्त, लोहशास्त्र, वाग्भट, विन्दुसार, वृद्ध वाग्भट, वृद्ध विदेह, वृद्ध सुश्रुत, व्यग्र दरिद्र शुभंकर (चक्रपाणि का स्वयं रचित), शालिहोत्र, शिवसिद्धांत, शौनक, सिद्धयोग, सिद्धसार, सुश्रुत, सूदशास्त्र (राजा नल का), स्वल्प वाग्भट, हरमेखला, हारीत।

निश्चलकर की रचना में अपने से पूर्ववर्ती रचनाओं और कृतिकारों के उल्लेख
निश्चल ने अपने ग्रन्थ में अपने समय की और अपने से पूर्व की विशद सामग्री का समावेश किया है---

अच्युत (**आयुर्वेद सार** का रचयिता), अग्निवेश, अमितप्रभ (चक्र के बहुत से योग अमितप्रभ के ही हैं), **अमृतघट, अमृतमाला, अमृतवल्ली** (श्रीकण्ठ का), **अमृतसार** (लोहशास्त्र संबंधी संभवतः), **अमोघज्ञान तंत्र** (बौद्ध ग्रंथ), **अश्ववैद्यक, अश्विनी संहिता,** आत्रेय, **आयुर्वेद प्रकाश, आयुर्वेद सार** (अच्युत का), आपाढ वर्मन, (चरक का भाष्यकर्त्ता, जेज्जट और चक्रपाणि से पूर्व का), **इन्दुमती** (वाग्भट पर टीका, संभवतः यह अष्टांग संग्रह पर इन्दु लिखित **शशिलेखा** टीका ही हो), ईशान देव (चरक का टीकाकार), ईश्वर सेन (चरक का टीकाकार), **उज्ज्वल कोष, उत्तर कारिका,** उमापति (११वीं शती का बंगाल का चिकित्सक), कपिल (दृढबल का पिता), करवीर (कोई प्राचीन आचार्य), **कर्मदण्डी** (जिनदास कृत), **कर्ममाला**

१. यः सिद्धयोगलिखिताधिकसिद्धयोगान्, तत्रैव निःक्षिपतिकेवलमुद्धरेद्वा।
भट्टत्रयत्रिपथवेदविदा जनेन, दत्तः पतेत् सपदि मूर्धनि तस्य शापः॥

(अक्षदेव कृत), **कर्ममाला** (**योगशत** पर गोवर्द्धन की टीका), कलहदास, **कल्याण सिद्धि**, काङ्कायन (प्राचीन आचार्य), कालपाद, कामरूप, कामशास्त्र, कालिदास (कवि), कार्तिक या कार्तिक कुण्ड (**सुश्रुत** पर भाष्य कर्त्ता), काश्मीराः, काश्यप, कृष्णात्रेय, **कौमुदी** (गोवर्धन कृत), कौशिक, क्षारपाणि, खरनाद, गदाधर (दास वंशज, चक्रपाणि से पूर्व का), **गन्धशास्त्र** (वंग देशीय), **गन्धशास्त्र निघण्टु**, गयादास (चरक और सुश्रुत पर भाष्य कर्त्ता), गुणाकर, गोपति, गुरवः (विजय रक्षित), गोपुर रक्षित, गोवर्धन (निश्चल ने इसके उद्धरण बहुत दिये हैं; **रत्नमाला** का रचयिता), गौडाः, चक्र या चक्रपाणि, चक्षुःसेन (पुराना आचार्य), चन्दन, **चन्द्रकला** (योग शत पर भाष्य, ध्रुवपाद और नागार्जुन रचित), चन्द्रट, **चन्द्रिका** (गयदास कृत, **सुश्रुत** पर टीका), चरक, **चरक परिशिष्ट, चरकोत्तर तन्त्र, चिकित्साकलिका** (तीसट कृत), **चिकित्सातिशय** (अमितप्रभ से पूर्व की रचना), चिकित्साश्रय, जतूकर्ण, जिनदास, जीवनाथ (**लोहशास्त्र** का रचयिता), जेज्जड (संभवतः जेज्जट, सुश्रुत का भाष्यकर्त्ता), ज्ञानश्री (छन्दशास्त्र का रचयिता), **तत्त्वकलिका** (छन्दशास्त्र), **तत्त्वप्रदीप, बृहत्, तत्त्वप्रदीप टीका** (गोवर्द्धन कृत), तीसट, त्रिलोचनदास (१०७५ ई०), दण्डी, दारुवाह, **दीपिका** (चक्र की **चरक** पर टीका), दृढबल, देन्तक (दाक्षिणात्य), **द्रव्यगुण** (माधवकर की), **द्रव्यावली** (कोष), **धनुर्वेद**, धरणीधर (कोषकार), धर्मकीर्ति (बौद्ध आचार्य), नन्दनचन्द्र, नरदत्त, नलनृप, नरदेव (नरदत्त ?), **नागतंत्र**, नागदेव, नागार्जुन, **नानार्थ, नानाविधान** (प्राचीन कोष), **नावनीत** (यह ग्रन्थ निश्चल के समय तक लोक प्रिय था और चन्द्रट ने भी इसका उल्लेख किया है), **न्यायसारावली** (गोवर्द्धन कृत), पराशर, **पारिभाषावली**, पिंगल, पालपौल, **पुत्रोत्सवालोक**, पुष्कलावत, पृथ्वीसिंह, प्रभाकर, **प्रश्नसहस्र विधान** (माधवकर कृत), **बालसरस्वती** (छन्दशास्त्र), बिन्दुसार, भट्टारक (हरिचन्द्र), भद्रवर्मा, भद्रशौनक, भवदेव, भव्यदत्त (वैद्यप्रदीप का रचयिता), **भानुमती** (चक्र की **सुश्रुत** पर टीका), भालुकि (प्राचीन आचार्य), **भिषग्युक्ति, भैषगमुष्टि**, भेल, भोज (इस नाम के तीन आयुर्वेदज्ञ विख्यात हैं—(क) दिवादास का शिष्य, और सुश्रुत का सहपाठी; (ख) भोज नृप, जिसका उल्लेख जेज्जट ने किया है, (ग) वृद्ध भोज, **मध्यसंहिता** (वाग्भट रचित, जो बहुत समय से अप्राप्य है, पर जिसमें से निश्चल ने और **तत्त्वबोध** में शिवदास ने भी बहुत से उद्धरण दिये हैं), महीधर (**विश्ववल्लभा** का रचयिता), माधवकर (**माधवसंग्रह, चिकित्सतम्** आदि का रचयिता), मौद्गल्यायनीय, **योगपंचाशिका, योगमञ्जरी** (नागार्जुन कृत),

योगमाला, योगरत्नसमुच्चय (चद्रट कृत ?), **योगरत्नसारसमुच्चय, योगरत्नाकर** (भवदत्त कृत), **योगव्याख्या** (माधवकर कृत), **योगयुक्ति, योगशत** (नागार्जुन कृत), **योगशत** (अक्षदेवीय), रक्षितपादाः (अर्थात् गुरु विजयरक्षित), **रत्नपरीक्षा शास्त्र, रत्नमाला** (गोवर्धन कृत), रम्भराम, रविगुप्त, **रससागर,** रामदेव (**सुश्रुत** का टीकाकार), **रूपरत्नाकर** (व्याकरण), लोकोक, **लोहकल्प** (शंकर-भाषित), **लोहरसायन,** वकुलकर (संभवतः निश्चल का पितृ ज्येष्ठ या ताऊ हो), वररुचि (मीमांसक), वराहमिहिर, **वल्लभा** (सनातन कृत **योगशतक** पर टीका), **वंगसेनसंग्रह,** वाप्यचन्द्र, वाभट, विक्रमपरक्रम, विक्रमादित्य, **वार्तामाला** (नागार्जुन कृत), विदेह, विभाकर, **विश्ववल्लभा,** विश्वामित्र, **विष्णुपुराण,** विष्णुशर्मा, वृद्ध वाभट, वृद्ध विदेह, वृद्ध सुश्रुत, वृन्दकुण्ड या वृन्द (**सिद्धयोग** का रचयिता), वैतरण, **वैद्यप्रदीप** (भवदत्त कृत), **वैद्यप्रसारक, वैद्यसार, व्यग्र-दरिद्र-शुभंकर** (चक्रपाणि की बहुत काल से अप्राप्य पुस्तक, इसका नाम **शुभंकर** भी है), **शब्दार्णव,** (कोष), शंगु (प्राकृत लेखक ?), शालिहोत्र, **शिवसिद्धान्त, शुकतन्त्र, श्रीधर पातञ्जलि शास्त्र** (अथवा **पातञ्जल गणित शास्त्र**), सनातन (योगशत की **वल्लभा** टीका के रचयिता), सन्ध्याकर, **सारोच्चय** (वकुल कृत), **सिद्धयोग** (वृन्द कुण्ड कृत), **सिद्धसार** (रविगुप्त कृत), सुदान्त सेन, सुवीर (**सुश्रुत** का टीकाकार), **सूदशास्त्र** (राजा नल का), **स्वल्पसंहिता** (वाभट कृत), स्वामी दास (चरक का टीकाकार), **हरमेखला** (प्राकृत ग्रन्थ), हरिचन्द्र (भट्टार) (इसने एक संहिता भी लिखी थी, जिसके उद्धरण निश्चल ने दिये हैं और जो **खरनाद संहिता** से भिन्न प्रतीत होती है), **हारावली** (अथवा **द्रव्यावली**) और हारीत।

रचना-तिथियों में सुधार

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने हार्नले के मत के विरुद्ध निम्न रचनाकाल निर्धारित किये हैं—

६०० ई० से पहले—हरिचन्द्र,

६००–९०० ई०—आयुर्वेदसार, विन्दुसार, सिद्धसार आदि,

८५० ई०—वाग्भट,

८७५–९०० ई०—जेज्जट,

९००–९२५ ई०—माधवकर (निश्चल के मतानुसार जेज्जट के बाद माधवकर है)

९५० ई० के निकट——चन्द्रट

९७५–१००० ई०——वृन्द कुण्ड

१०४०–५० ई०——चक्रपाणि।

शिवकोष के समय का निघण्टु साहित्य——कर्पूरीय शिवदत्त मिश्र ने शक १५९९ (१६७७ ई०) में एक ग्रन्थ 'शिवकोष' लिखा। इसमें २८६० के लगभग आयुर्वेद संबंधी द्रव्यों (वनस्पतियों, वृक्षों आदि) के पर्याय सहित ४८६० के लगभग नाम हैं। शिवदत्त के पिता चतुर्भुज स्वयं लब्धप्रतिष्ठ चिकित्सक थे। शिवदत्त ने अपने ग्रन्थ 'शिवकोष' पर स्वयं ही एक टीका 'शिवप्रकाश' भी लिखी।[1] इसी टीका में शिवदत्त ने लगभग १०७ ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। यह सूची बड़ी उपयोगी है। अकारादि क्रम से इसका प्रमुख भाग नीचे दिया जाता है——

अजय, **अनेकार्थ ध्वनि मंजरी, अभिधान चूडामणि, अमर,** अमरचन्द्र, **अमरमाला,** अशोकमल्ल, **अष्टांग संग्रह,** आत्रेय, **आश्चर्यमंजरी, इन्दु,** उज्ज्वलदत्त, **उत्पलिनी,** कालिदास, कुमार, केयदेव, केशव, **केसरमाला,** गान्धिकाः, गालव, **गुणरत्नमाला,** गुर्जराः, गोस्वामिगोपेश्वर, चक्र, चतुर्भुज, चन्द्र, चन्द्र चन्दन, चातुर्भुजि, जेज्झट, डल्लण, तारपाल, त्रिकाण्डशेष, दण्डिन्, **दमयन्तीकाव्यम्,** देवल, **द्विरूप कोष,** धन्वन्तरि, धरणि, धर्मदास, धर्मिष्ठ, नान्यदेव, **नामगुणमाला, नाममाला,** नारायणभट्ट, **निघण्टु,** पंकजभट्ट, पाश्चात्याः, पुरुषोत्तम, **प्रभावतीहरणचम्पू,** प्राच्याः, प्राञ्चः, बाणभट्ट, बोपदेव, भवभूति, भारवि, **भावगुणनाममाला, भावगुण रत्नमाला,** भावमिश्र, मदनपाल, **मदनविनोद,** मद्गुरु वल्लभाः, माघ, माधव, **माधवी, माला, मिताक्षरा,** मुकुट, **मेघदूत, मेदिनी,** रघु, **रत्नकोष,** रन्तिदेव, रभस, **रसरत्नसमुच्चय, रसायनप्रयोग, राजनिघण्टु,** राम, रामाश्रम, रुद्र, रूपनारायण, लोचन, लोलिम्बराज, वाग्भटाचार्य, वाचस्पति, वाप्यचन्द्र, विट्ठल कृष्ण भट्ट, **विदग्धमुखमण्डन, विश्व,** विश्वलोचन, वृद्धाः, **वैजयन्ती,** वोपालित, व्याडि, **शब्दार्णव,** शिवदत्त, **शिवप्रकाश,** शिवाभिध, शुभाङ्क, **शृंगारहार,** श्रीकर्पूरीय, संग्रह, सांयात्रिकाः, **सिद्धमंत्र, सिद्धमंत्र-**

१. आर० जी हर्षे द्वारा संपादित, डेकनकालेज, पुणे से प्रकाशित 'द शिवकोष आव् शिवदत्तमिश्र' (१९५२)। देखो पी. के. गोडे का निबन्ध——पूना ओरिएण्टलिस्ट भाग ७, सं० १–२, पृ० ६६–७०—"कर्पूरीय शिवदत्त एण्ड हिज़ मेडिकल ट्रीटाइज़ेज बिट्वीन ए. डी. १६१५ एण्ड १७००।"

प्रकाश, सिंह, सुभूति, **सुश्रुत,** सोमनन्दिन् , **स्वामिपाठ,** स्वामी, हट्टचन्द्र, हलायुध, **हारावली,** हाल, हालभूभुज्, हृदय दीपक, हेमचन्द्र, हेमाद्रि, हैम ।

निर्देश

दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य——**न्यू लाइट ऑन वैद्यक लिटरेचर,** इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली (१९४७) पृ० १२३–१५५।

शिवदत्त मिश्र——**शिव कोष** (शिवप्रकाश नामक व्याख्या सहित)——आर० जी० हर्षे द्वारा संपादित, दक्षिण कालेज, पूना (१९५२ ई०)।

तृतीय खण्ड

नागार्जुन-काल और रसतंत्र का आरम्भ

प्राक्कथन

ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में इस देश के मानव ने संसार के समस्त सांस्कृतिक देशों से सम्पर्क रखा। भारत के व्यापारी और विद्वान् अपने पड़ोस के देशों में ही नहीं, पृथ्वी के दूरस्थ दुरूह प्रदेशों में भी पहुँच गये। स्थल-स्थल पर नवीन परिस्थितियों के कारण विचारधाराओं में नवीनताएँ आने लगीं। यूनान, अरब, पारस, और मध्य एशिया की अनेक जातियों का ध्यान भी इस भूमि की ओर आकर्षित हुआ। आयुर्वेदशास्त्र का पारस्परिक आदान-प्रदान उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आज से २५०० वर्ष पूर्व भारत कितना समृद्ध था, राज्य और शासन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज्ञान-विज्ञान के समस्त क्षेत्रों से सहयोग किस प्रकार प्राप्त किया गया था, इसका आभास कौटिल्य के प्रसिद्ध अर्थशास्त्र में मिलेगा। रसायन की उस समय की व्यापक अनुभूतियों पर आज हमें गौरव है।

आयुर्वेद-धारा नवीन रूप धारण कर रही थी। विशुद्ध वैदिक धारा में न जाने कितनी धाराओं का समागम हुआ होगा, इसका विश्लेषण करना हमारे लिए असंभव है। राष्ट्र के व्यवस्थित होते ही सुवर्ण का पण्य-मूल्य इस युग की नयी देन हो गयी। स्वभावतः स्वर्ण के प्रति आकांक्षाएँ बढ़ीं। वैदिक काल के अनेक आचार-विचार समाज में रूढ़ि बन गये, जिनके विपरीत एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। आयुर्वेद के क्षेत्र में भी विप्लव और क्रान्ति के चिह्न विकसित होने लगे। पारद और गन्धक ने नयी पद्धति को जन्म दिया। इस युग का प्रवर्त्तक और आचार्य नागार्जुन था। एक नयी परम्परा का अवतरण हुआ। पारद का शास्त्र इतना बढ़ा कि पारद शब्द का पर्याय ही रस शब्द बन गया और रसायन बहुत समय तक पारद का ही शास्त्र रहा। अन्य धातुओं के शोधन, मारण, जारण, सत्त्वपातन और द्रुति की विधियों का विकास हुआ। दोलायंत्र, मूषा, शरावपुट और गजपुट रसकर्मकलापों में सहायता देने लगे। तार बीज और हेम बीज, जिनकी सहायता से सामान्य पदार्थों से रजत और स्वर्ण बनाया जा सके, भारत में ही नहीं, संसार के समस्त सम्पन्न देशों में बनाये जाने लगे। इस आकांक्षा और जगद्-व्यापी प्रतियोगिता ने सभी देशों में रसायनशास्त्र के आशातीत विकास में सहयोग दिया। मनुष्य सोना तो न बना पाया, पर उसकी खोज में उसे तरह-तरह के पदार्थ तैयार करने पड़े जिनका स्वयं भी महत्त्वपूर्ण उपयोग था। नागार्जुन ने जिस युग का नेतृत्व किया, उसका कुछ विवरण आगे के पृष्ठों में अंकित किया गया है।

दसवाँ अध्याय

कौटिल्य और रसायन

(ईसा से तीसरी शती पूर्व)

चाणक्य अथवा कौटिल्य का मुख्य नाम विष्णुगुप्त था। नीतिशास्त्र के आचार्यों में विष्णुगुप्त की प्रतिष्ठा सर्वोपरि मानी जाती है। नीतिसार के रचयिता कामन्दक ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो वन्दना की है, उससे यह बात स्पष्ट है।[१] दण्डी के दशकुमार चरित में कौटिल्य या विष्णुगुप्त के एक अर्थशास्त्र की ओर संकेत है, जिसमें ६००० श्लोक थे।[२] पंचतंत्र में भी चाणक्य के अर्थशास्त्र का उल्लेख है।[३] वात्स्यायन के कामसूत्र में और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में बहुत-से समान उद्धरण पाये जाते हैं। राजा यशोधर के समय में सोमदेव सूरि ने 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक रचना की जिसमें भी चाणक्य का निर्देश है।[४] इसी प्रकार नन्दिसूत्र में एक स्थल पर क्षपक, अमात्यपुत्र, चाणक्य और स्थूलभद्र का उल्लेख आता है।[५] इन सबसे यह स्पष्ट

१. यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
पपातामूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥
एकाकी मन्त्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥
नीतिशास्त्रामृतं श्रीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
य उद्दध्रे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ (नीतिसार, १।१।४–६)

२. अधीष्व तावद्दण्डनीतिम्। इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिश्श्लोक-सहस्रैस्संक्षिप्ता सैवेयमधीत्य सम्यगनुष्ठीयमाना यथोक्त-कार्यक्षमेति। (दश-कुमारचरित २।८)

३. ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि, अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि, कामशास्त्राणि वात्स्यायनादीनि........(पंचतंत्र)

४. श्रूयते हि किल चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति। (नीतिवाक्यामृत)

५. खमए अमच्चपुत्ते चाणक्के चेव थूल भद्दे य ।
भारहं रामायण भीमासुरक्कं कोंडिल्लयम् ॥ (नन्दिसूत्र)

है कि कौटिल्य का कोई अर्थशास्त्र अवश्य था, जिससे लोग परिचित थे। पर यह 'अर्थ-शास्त्र' लुप्तप्राय हो गया। सन् १९०६ के लगभग मैसूर राज्य की अर्थशास्त्र ओरिएंटल लाइब्रेरी को तंजोर के एक पंडित ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र की एक प्रति दी, जिसके आधार पर सन् १९०९ में उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री श्याम शास्त्री ने इस ग्रन्थ का सम्पादन और प्रकाशन किया। श्याम शास्त्री ने इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी किया (१९१५)। पंजाब ओरिएंटल सीरीज़ में प्रोफेसर जॉली के सम्पादन में और ट्रावनकोर राज्य की संरक्षता में प्रकाशित होनेवाली संस्कृत सीरीज़ में स्वर्गीय पंडित गणपति शास्त्री के संम्पादकत्व में इसके दो संस्करण और निकले। इसके दो हिन्दी अनुवाद भी मूल ग्रन्थ सहित प्रकाशित हुए हैं।[1]

इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता में सर आर्थर कीथ को सन्देह है। वे इसे दक्षिण भारत के किसी पंडित का लिखा ईसा के बाद तीसरी शती का मानते हैं। इस ग्रन्थ में जिन रत्नों, हीरकों एवं मुक्ताओं का उल्लेख है, वे प्रायः दक्षिण भारत या सिंहल द्वीप के हैं। आश्चर्य की बात है कि इस ग्रन्थ में कहीं पर भी चन्द्रगुप्त, मौर्य-राज्य अथवा नन्दवंश का उल्लेख नहीं है।[2]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र कोई रसायन का ग्रन्थ तो नहीं है, पर प्रसंगवश इसमें बहुत-सी ऐसी बातें आ गयी हैं, जिनसे उस समय के रासायनिक व्यवसायों पर प्रकाश पड़ता है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य को 'वार्त्ता' कहते हैं।[3] वार्त्ता के कारण ही धान्य, पशु, हिरण्य और ताम्रादि (कुप्यादि) धातुएँ प्राप्त होती हैं, अतः जनता का वार्त्ता से बड़ा उपकार होता है।[4]

मोती और रत्न

मोती––कौटिल्य अर्थशास्त्र में मोतियों के कई भेद दिये गये हैं–(१) ताम्र-पर्णिक (ताम्रपर्णी नदी से प्राप्त), (२) पाण्डचक वाटक (मलय कोटि पर्वत के निकट के सरोवरों से प्राप्त), (३) पाशिक्य (पटना के निकट पाशिका नदी से प्राप्त), (४) कौलेय (सिंहल द्वीप की कुला नदी से प्राप्त), (५) चौर्णेय (केरल

१. पंडित गंगाप्रसाद शास्त्री अनूदित, महाभारत कार्यालय दिल्ली से (१९९७ वि०) और पं० उदयवीर शास्त्री अनूदित मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर से।
२. ए. बी. कीथ––ए हिस्ट्री आव् संस्कृत लिटरेचर, १९४१, पृ० ४५।
३. कृषिपशुपाल्ये वाणिज्या च वार्त्ता। (१।४।२)
४. धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। (१।४।२)

की चूर्णी नदी से प्राप्त), (६) माहेन्द्र (महेन्द्र समुद्र से प्राप्त), (७) कार्दमिक (पारस की कर्दमा नदी से प्राप्त), (८) स्रौतसीय (बर्बर देश की स्रौतसी नदी से प्राप्त), (९) ह्रादीय (बर्बर देश की श्रीकण्ठ या श्रीघण्ट झील से प्राप्त) और हैमवत (हिमालय से प्राप्त)।[1]

मोती प्राप्त करने के तीन स्रोत हैं—शुक्ति (सीप), शंख और प्रकीर्णक (गजमस्तक, सर्पमस्तक आदि से)।[2]

अप्रशस्त अथवा हीन जाति के मोती वे हैं जो आकार में मसूर के समान (मसूरक), तीन किनारे वाले या त्रिपुटक (छोटी इलायची-से), कूर्मक (कछुए के आकार से), अर्ध चन्द्र के से, कञ्चुकित (ऊपर से मोटे छिलकेवाले), यमक (जुड़वाँ), कर्त्तक (कटे हुए), खरक (खुरदरे), सिक्थक (दागवाले), कामण्डलुक, श्याब (काले), नीले और दुर्विद्ध (अस्थान पर बिंधे हुए) हों।[3]

प्रशस्त मोती वे हैं जो स्थूल (मोटे), वृत्त (गोल), निस्तल (लुढ़कनेवाले), भ्राजिष्णु (चमकीले), श्वेत, भारी, स्निग्ध (चिकने) और देशविद्ध (यथोचित स्थान पर बिंधे) हों।[4]

सूत्र में पिरोये गये मोतियों की लड़ी को 'शुद्ध' कहते हैं, पर यदि मणि के साथ मोती पिरोये जायँ, तो इसे 'यष्टि' कहते हैं। इस प्रकार यदि लड़ी में मोती के साथ सोना, और मणि हो, तो इसे 'रत्नावली' कहते हैं। यदि मोती सोने के तार में पिरोये जायँ तो इन्हें 'सोपानक' कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न अन्य आभूषण हैं, जो सिर, हाथ, कमर आदि में पहने जाते हैं।[5]

मणि—मणियों की तीन जातियाँ हैं—(१) कौट (मलय सागर के निकट कोटिस्थान से प्राप्त), (२) मौलेयेक (मुलय देश से प्राप्त), (३) और पार-

१. ताम्रपर्णिकं पाण्ड्यकवाटकं पाशिक्यं कौलेयं चौर्णेयं माहेन्द्रं कार्दमिकं स्रौतसीयं ह्रादीयं हैमवतं च मौक्तिकम्। (२।११।२)
२. शुक्तिः शङ्खः प्रकीर्णकं च योनयः। (२।११।३)
३. मसूरकं त्रिपुटकं कूर्मकमर्धचन्द्रकं कञ्चुकितं यमकं कर्त्तकं खरकं सिक्थकं कामण्डलुकं श्यावं नीलं दुर्विद्धं चाप्रशस्तम्। (११।२।४)
४. स्थूलं वृत्तं निस्तलं भ्राजिष्णु श्वेतं गुरु स्निग्धं देशविद्धं च प्रशस्तम्। (११।२।५)
५. सूत्रमेकावली शुद्धा। सैव मणिमध्या यष्टिः। हेममणिचित्रा रत्नावली। हेममणिमुक्तान्तरोऽपवर्तकः। सुवर्णसूत्रान्तरं सोपानकम्। मणिमध्यं वा मणिसोपानकम्। तेन शिरोहस्तपादकटीकलापजालकविकल्पा व्याख्याताः। (११।२।२२–२८)

सामुद्रिक (समुद्रपार सिंहल द्वीप से प्राप्त)। मणियों के पाँच भेद हैं—सौगन्धिक (नील-कमल सा), पद्मराग (लाल कमल-सा), अनवद्य राग (कमल केसर-सा), पारिजात पुष्पक और बालसूर्यक (बाल-सूर्य-सा)।[1]

वैदूर्य मणि के भेद ये हैं—उत्पलवर्ण (नीलकमल-सा), शिरीष-पुष्पक, उदकवर्ण, वंशराग (बांस-सा हरा), शुकपत्रवर्ण (तोते के पंख-सा), पुष्पराग (हलदी-सा पीला), गोमूत्रक (गोमूत्र-सा पीला), और गोमेदक (गोरोचन-सा)।[2]

इन्द्रनीलमणि के भेद हैं—नीलावलीय, इन्द्रनील (मोरपंख-सा नीला), कलायपुष्पक (मटर के पुष्प-सा), महानील, जाम्बवाभ (जामुनी), जीमूतपुत्र (बादल के रंग-सा), नन्दक (श्वेत और नील), स्रवन्मध्य (मध्य से किरणें छोड़ने वाला)।[3]

श्वेतमणि के भेद ये हैं—शुद्ध स्फटिक, मूलाट वर्ण (तक्र के समान सफेद), शीतवृष्टि, और सूर्यकान्त।[4]

मणियों के गुण ये माने गये हैं—षडतु (छः कोनेवाला), चतुरस्र (चार कोनेवाला), वृत्त (गोल), गहरे रंगवाला, निर्मल, चिकना (स्निग्ध), भारी (गुरु), अर्चिष्मान् (दीप्तिवाला), अन्तर्गतप्रभ (अन्दर से रोशनीवाला), प्रभानुलेपी (अपनी प्रभा से दूसरों को चमकानेवाला)।[5]

मणियों के दोष ये हैं—मन्दराग (हलके रंग का), मन्दप्रभ (धीमी चमकवाला), छोटे-छोटे दानोंवाला (सशर्कर), पुष्पच्छिद्र (छोटे-छोटे छेदोंवाला), खण्डित (कटा हुआ), दुर्विद्ध (अनुचित स्थान पर बिंधा हुआ, और लेखाकीर्ण (रेखाओं से घिरा हुआ)।[6]

१. मणिःकोटौ मौलेयकः पारसमुद्रकश्च, सौगन्धिकः पद्मरागोऽनवद्यरागः पारिजातपुष्पको बालसूर्यकः। (११।२।२९–३०)
२. वैडूर्य उत्पलवर्णः शिरीषपुष्पक उदकवर्णो वंशरागः शुकपत्रवर्णः पुष्परागो गोमूत्रको गोमेदकः। (११।२।३१)
३. नीलावलीय इन्द्रनीलः कलायपुष्पको महानीलो जाम्बवाभो जीमूतप्रभो नन्दकः स्रवन्मध्यः। (११।२।२२)
४. शुद्धस्फटिकः मूलाटवर्णः शीतवृष्टिः सूर्यकान्तश्चेति मणयः। (११।२।३३)
५. षडतुश्चतुरस्रो वृत्तो वा तीव्ररागसंस्थानवानच्छः स्निग्धो गुरुर्राचिष्मानन्तर्गतप्रभः प्रभानुलेपी चेति मणिगुणाः। (२।११।३४)
६. मन्दरागप्रभः सशर्करपुष्पच्छिद्र : खण्डो दुर्विद्धो लेखाकीर्ण इति दोषाः। (२।११।३५)

मणियों के कुछ अवान्तर भेद इस प्रकार हैं—विमलक, सस्यक, अञ्जनमूलक, पित्तक, सुलभक, लोहिताक्ष, मृगाश्मक, ज्योतीरसक, मैलेयक, आहिच्छत्रक, कूर्प, प्रतिकूर्प, सुगन्धिकूर्प, क्षीरपक, शुक्तिचूर्णक, शिलाप्रवालक, पुलक और शुक्रपुलक अन्य मणियों को काँचमणि कहते हैं।[1]

वज्र या हीरा—हीरे अपने प्राप्ति स्थान के अनुसार ६ प्रकार के माने गये हैं—(१) सभाराष्ट्रक (विदर्भ या बरार देश का), (२) मध्यराष्ट्रक (कोसल देश का), (३) काश्मीर राष्ट्रक (कश्मीर का), (४) श्रीकटनक (कटनक पर्वत का), (५) मणिमन्तक (मणिमान् पर्वत से उत्पन्न), और (६) इन्द्रवानक (कलिंग देश का)।[2]

हीरों की योनियाँ तीन हैं, अर्थात् तीन प्रकार के स्थलों से प्राप्त होता है—(१) खान से, (२) नदी प्रवाह या स्रोत से, और (३) प्रकीर्णक (इनसे भिन्न किसी और स्थल से जैसे, हाथी दाँत के मूल भाग से)।[3]

रंगों के आधार पर हीरों की जातियाँ ये हैं—मार्जाराक्षक (बिल्ली की आँख के रंग का), शिरीष पुष्पक, गोमूत्रक, गोमेदक (गोरोचन के रंग का), शुद्ध स्फटिक (बिल्लौरी पत्थर के समान), मूलाटी पुष्पक वर्ण, अथवा मणियों के बताये हुए रंगों में से किसी रंगवाला।[4]

उच्च कोटि के हीरों में निम्न गुण होने चाहिए—मोटापन (स्थूल), गुरु (भारी), प्रहारसह (चोट सह सकनेवाला), समकोटिक (समान कोनोंवाला), भाजन-लेखितं (बर्तनों पर रेखा अंकित कर देनेवाला), कुभ्रामि (तकुए के समान घूम जाने-वाला), और भ्राजिष्णु (चमकदार)।[5]

१. **विमलकः सस्यकोऽञ्जनमूलकः पित्तकः सुलभको लोहिताक्षो मृगाश्मको ज्योतीरसको मैलेयक आहिच्छत्रकः कूर्पः प्रतिकूर्पः सुगन्धिकूर्पः क्षीरपकः शुक्तिचूर्णकः शिलाप्रवालकः पुलकः शुक्रपुलक इत्यन्तरजातयः। शेषाः काचमणयः। (२।११।३६-३७)**
२. **सभाराष्ट्रकं मध्यराष्ट्रकं काश्मीरराष्ट्रकं श्रीकटनकं मणिमन्तकमिन्द्रवानकं च वज्रम्। (२।११।३८)**
३. **खनिः स्रोतः प्रकीर्णकं च योनयः। (२।११।३९)**
४. **मार्जाराक्षकं च शिरीषपुष्पकं गोमूत्रकं गोमेदकं शुद्धस्फटिकं मूलाटी पुष्पकवर्ण मणिवर्णानामन्यतमवर्णमिति वज्रवर्णाः। (२।११।४०)**
५. **स्थूलं गुरु प्रहारसहं समकोटिकं भाजनलेखितं कुभ्रामि भ्राजिष्णु च प्रशस्तम्। (२।११।४१)**

निम्न कोटि के अप्रशस्त हीरों में ये बातें पायी जाती हैं---नष्टकोण (कोण जिसके टूट गये हों), निरश्रि, पार्श्वापवर्त (एक पार्श्व से बेढंगा)।[१]

प्रवाल या मूँगा---प्राप्ति स्थान भेद से मूँगा दो प्रकार का बताया गया है---आलकन्दक (आलकन्दक स्थान में पाया जानेवाला), और वैर्वाणिक (विवर्णी नाम समुद्र स्थान से प्राप्त)। मूँगे के दो रंग होते हैं---लाल अथवा पद्म के समान हलका-लाल। मूँगे को यदि कीड़े ने खा लिया है, अथवा वह बीच में मोटा है, तो त्याज्य अथवा हीन जाति का माना जायगा।[२]

आकरज पदार्थ क्षौर धातु कर्म

खानों का सञ्चालन करनेवाला व्यक्ति कौटिल्य के शब्दों में आकराध्यक्ष कहलाता है। इस व्यक्ति को चाहिए कि वह (क) शुल्ब धातुशास्त्र अर्थात् खनिज पदार्थों से ताँबा आदि धातुओं के निकालने, (ख) रसपाक अर्थात् धातुओं के मारण आदि करने, और (ग) मणिराग (मणियों के रंग आदि) का विशेषज्ञ हो। आकराध्यक्ष के सहयोगी कर्मचारी भी इन विषयों के ज्ञाता होने चाहिए। ये सब सहायक उपकरणों (औजारों और यंत्रों) से सम्पन्न होवें। ये लोग मूषा, किट्ट, अंगार, भस्म आदि की सहायता से यह पता लगाते रहें कि कहाँ पर पुरानी या नयी खानें हैं। भूमि, पत्थर, रस (पारा) और धातुओं का भी वर्ण (रंग), गौरव (भारीपन), उग्रगन्ध, और रस के आधार पर परीक्षा करते रहें।[३]

सुवर्ण की खान की पहिचान---किस खान के खनिज में से सोना निकलने की संभावना है, इस सम्बन्ध में कुछ उपयोगी बातें कही गयी हैं---

(क) पर्वतों के परिचित प्रदेशों के बिल एवं गुहा, पर्वत के समीप की ऊँची-नीची भूमि और छिपे हुए गर्त्तों में बहनेवाले, जामुन, आम, तालफल, पक्व हलदी, हरताल, मनःशिला, शहद, हिंगुल, कमल, तोता और मोर के पंखों के समान रंगवाले

१. **नष्टकोणं निरश्रि पार्श्वापवृत्तं चाप्रशस्तम्। (२।११।४२)**

२. **प्रवालकमालकन्दकं वैवर्णिकं च रक्तं पद्मरागं च करटं गर्भिणिकावर्जमिति। (२।११।४३)**

३. **आकराध्यक्षः शुल्बधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तज्जातकर्मकरोपकरणसंपन्नः किट्टमूषाङ्गारभस्मलिङ्गं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमिप्रस्तररसधातुमत्यर्थवर्णगौरवमुग्रगन्धरसं परीक्षेत। (२।१२।१)**

तथा अन्य ओषधियों के से रंगवाले चिकने, स्वच्छ और भारी रसों (पानियों) को देखकर यह समझा जा सकता है कि निकट में ही सोने की खान है।[1]

(ख) उक्त पानी को यदि अन्य जल में मिलाया जाय और उसमें यह जल तेल के समान फैल जाय, अथवा निर्मली के फल के समान यह मैले जल को साफ करके नीचे बैठ जाय, तथा सौ पल चाँदी और ताँबे को एक पल जल ही सुनहरा बना दे (अर्थात् शतवेधी हो), तो समझना चाहिए कि यहाँ पर सोने की खान है।[2]

(ग) यदि ऐसा ही पानी हो, किन्तु उसमें उग्रगन्ध हो, और उग्र रस हो, तो ऐसे स्थान पर शिलाजीत की खान का होना संभव है, ऐसा समझना चाहिए।[3]

(घ) पीले रंग, ताम्रक रंग (ताँबे-सा लाल), अथवा ताम्र-पीतक रंग के भूमि-प्रस्तर धातु हों (मिट्टी-पत्थर मिले अयस्क), जिनके गलाने पर नीली पंक्तियाँ दिखाई पड़ें, या रंग ऐसा हो जाय जैसा मूँग या उड़द पकाने से जल का होता है; अथवा दही के पिंड से चित्रित हलदी का अथवा हरड़, कमल के पत्ते, शैवाल, यकृत या प्लीहा के रंग-सा नीला रंग हो जाय, एवं तोड़ने पर बालू की रेखाओं और बिन्दुओं से युक्त स्वस्तिक का आकार प्रकट हो, अथवा तपाने पर दहकती गोली-सी चमकने लगे, पर टूटे नहीं, बहुत-सा झाग निकले अथवा धुँआ निकले, तो समझना चाहिए कि यहाँ पर सोने की खान है। यदि प्रतीवाप किया जाय, अर्थात् इनको गलाकर ताँबे और चाँदी पर डाला जाय, तो वे भी सोने के समान पीले चमकने लगेंगे।[4]

१. **पर्वतानामभिज्ञातोद्देशानां बिलगुहोपत्यकालयनिगूढखातेष्वन्तः प्रस्यन्दिनो जम्बूचूततालफलपक्वहरिद्राभेदहरितालमनःशिलाक्षौद्रहिङ्गुलकपुण्डरीक-शुकमयूरपत्रवर्णाः सवर्णोदकौषधीपर्यन्ताश्चिक्कणा विशदा भारिकाश्च रसाः काञ्चनिकाः। (२।१२।२)**

२. **अप्सु निष्ठ्यतास्तैलवद् विसर्पिणः पङ्कमलग्राहिणश्च ताम्ररूप्ययोः शतादुपरि वेद्धारः। (२।१२।३)**

३. **तत्प्रतिरूपकमुग्रगन्धरसं शिलाजतु विद्यात्। (२।१२।४)**

४. **पीतकास्ताम्रकास्ताम्रपीतका वा भूमिप्रस्तरधातवः प्रभिन्ना नीलराजीवन्तो मुद्ग-माषकृसरवर्णा वा दधिबिन्दुपिण्डचित्रा हरिद्राहरीतकीपद्मपत्रशैवालयकृद्-प्लीहानवद्यवर्णा भिन्नाश्चुञ्चुवालुकालेखाबिन्दुस्वस्तिकवन्तः सगुलिका अर्चि-ष्मन्तस्ताप्यमाना न भिद्यन्ते बहुफेन धूमाश्च सुवर्णधातवः प्रतीवापार्थास्ताम्र-रूप्यवेधनाः। (२।१२।५)**

चाँदी की खान की पहिचान--जो धातु तपाने पर शंख, कपूर, स्फटिक (बिल्लोर), नवनीत (मक्खन), कपोत, पारावत (विशेष कबूतर), विमलक (पक्षी विशेष), और मोर की गर्दन के रंगवाले, अथवा अन्न (सस्यक) के से हरे रंग, गोरोचन, गुड़, मत्स्यण्डिका (खाँड़ की राब), के से रंग, अथवा कचनार, कमल, पाटली, कलाय (मटर), क्षौम (अलसी विशेष), अतसी (अलसी) के फूलों के से रंग के हों, और जिनमें सीसा अथवा अञ्जन भी मिला पाया जाय, जो दुर्गन्धपूर्ण हों तोड़ने पर जिनमें श्वेत, काली, अथवा श्वेत और काली मिश्रित रेखाबिन्दु प्रकट हों, कोमल होने पर भी जो टूटे नहीं, और जो बहुत-सा झाग (फेन) और धुआँ दें, उन्हें चाँदी के खनिज समझना चाहिए। इनमें से जो खनिज जितना ही भारी होगा, उतनी ही उसमें धातु की अधिक मात्रा होगी।[१]

चाँदी की धातु का सीसा और अञ्जन से संबंध बहु-विदित है, और यह महत्त्व की बात है कि हमारे देश के अनुशीलक इस संबंध से बराबर परिचित रहे।

धातुकर्म--उन धातुखण्डों को, जो अशुद्ध और मूढगर्भ हों, (mixed impurities), तीक्ष्ण मूत्र क्षार में भावना देकर अमलतास, वट, पीलु, गोरोचन, एवं भैंसा, गधा, और ऊँट के बच्चे के मूत्र और मलपिण्ड में प्रतीवाप करके तपा लेवे, या इनका अवलेप करके तपावे। ऐसा करने पर ये शुद्ध होकर पिघल निकलते हैं।[२]

यदि जौ, उड़द, तिल, पलाश, और पीलु के क्षार एवं गाय अथवा बकरी के दूध, कदली, वज्रकन्द आदि के साथ प्रतीवाप किया जाय तो ऐसा करने से धातुखण्ड मृदु हो जाते हैं।[३]

जो धातुखण्ड सैकड़ों-हज़ारों चोटों से भी नहीं टूटता, वह मधु, मधुक (मुलहठी),

१. शंखकर्पूरस्फटिकनवनीतकपोतपारावतविमलकमयूरग्रीवावर्णाः सस्यकगोमेदकगुडमत्स्यण्डिकावर्णाः कोविदारपद्मपाटलीकलायक्षौमातसीपुष्पवर्णा ससीसाः साञ्जनाः विस्रा भिन्नाः श्वेताभाः कृष्णाभाः श्वेताः सर्वे वा लेखबिन्दुचित्रा मृदवो ध्मायमाना न स्फुटन्ति बहुफेनधूमाश्च रूप्यधातवः। सर्वधातूनां गौरववृद्धौ सत्त्ववृद्धिः। (२।१२।६–७)

२. तेषामशुद्धा मूढगर्भा वा तीक्ष्णमूत्रक्षारभाविता राजवृक्षवटपीलुगोपित्तरोचनामहिषखरकरभमूत्रलेण्डपिण्डबद्धास्तत्प्रतीवापास्तदवलेपा वा विशुद्धाः स्रवन्ति। (२।१२।८)

३. यवमाषतिलपलाशपीलुक्षारैर्गोक्षीराजक्षीरैर्वा कदलीवज्रकन्दप्रतीवापो मार्दवकरः। (२।१२।९)

बकरी के दूध, तेल, घृत, गुड़, सुराबीज (किण्व) अथवा सूरणकन्द आदि के योग से तीन बार भावना देने पर ही कोमल पड़ जाता है।[१]

यदि पिघली हुई इन धातुओं पर गाय का दाँत अथवा गाय के सींग द्वारा प्रतीवाप किया जाय, तो गली हुई धातुओं का मृदु स्तम्भन हो जाता है, अर्थात् धातुएँ जम जाती हैं।[२]

ताँबे और सीसे की खान—यदि खान में से निकला पदार्थ भारी, स्निग्ध (चिकना) एवं कोमल हो, और भूमि भाग हरा, कुछ-कुछ लाल या अधिक लाल हो, तो वहाँ ताम्र धातु की स्थिति का अनुमान लगाना चाहिए।[३]

जो भूमि भाग काक के समान काला, कबूतर अथवा गोरोचन-सा भूरा, श्वेत राजियों या पंक्तियों (Streaks) से युक्त और दुर्गन्धपूर्ण हो, वहाँ सीसे की धातु का अनुमान लगाना चाहिए।[४]

त्रपु और लोहे की खान—जो भूमिखण्ड ऊसर जमीन के समान चित्र-विचित्र, अथवा पके हुए मिट्टी के ढेले के आकार का हो, वहाँ पर सीसा धातु होने की सम्भावना मानी जा सकती है।[५]

चिकने पत्थरोंवाले (कुरुम्ब), श्वेत एवं लाल खिले हुए निर्गुण्डी के फूल के से रंगवाले भूमि भाग पर तीक्ष्ण-लोह के होने की सम्भावना है।[६]

कौए के अण्डे या भोजपत्र के तुल्य आकारवाले भू-भाग में वैक्रन्तक लोहे की विद्यमानता समझी जा सकती है।[७]

इसी प्रकार चमकीले, चिकने, शुद्ध अग्नि जलाने पर शब्द करनेवाले, अत्यन्त शीतल, थोड़ा-सा रंग धारण करनेवाले भूभाग में मणियों की खानें होना संभव है।[८]

१. **मधुमधुकमजापयः सतैलं घृतगुडकिण्वयुतं सकन्दलीकम् । यदपि शतसहस्रधा विभिन्नं भवति मृदु त्रिभिरेव तन्निषेकैः ।** (२।१२।१०)
२. **गोदन्तश्रृङ्गप्रतीवापो मृदुस्तम्भनः ।** (२।१२।११)
३. **भारिकः स्निग्धो मृदुश्च प्रस्तरधातुर्भूमिभागो वा पिङ्गलो हरितः पाटलो लोहितो वा ताम्रधातुः ।** (२।१२।१२)
४. **काकमेचकः कपोतरोचनावर्णः श्वेतराजिनद्धो वा विस्रः सीसधातुः ।** (२।१२।१३)
५. **ऊषरकर्बुरः पक्वलोष्ठवर्णो वा त्रपुधातुः ।** (२।१२।१४)
६. **कुरुम्बः पाण्डुरोहितः सिन्दुवारपुष्पवर्णो वा तीक्ष्णधातुः ।** (२।१२।१५)
७. **काकाण्डभुजपत्रवर्णो वा वैक्रन्तकधातुः ।** (२।१२।१६)
८. **अच्छः स्निग्धः सप्रभो घोषवाञ्शीतस्तीव्रस्तनुरागश्च मणिधातुः ।** (२।१२।१७)

धातुओं के अध्यक्ष का नाम लोहाध्यक्ष है। लोह शब्द का प्रयोग धातुमात्र के लिए किया गया है। लोहाध्यक्ष का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी देख-रेख में ताँबे, सीसे, त्रपु (वंग), वैकृन्तक, (इस्पाती लोहा), आरकूट (दृढ़ लोहा), वृत्त (गोल लोहा), कांसा, ताल आदि लोह कर्म करावे।[1]

पण आदि सिक्के

सिक्के बनवाने के अध्यक्ष का नाम लक्षणाध्यक्ष है। रुपया या पण सोलह माशे का बनाया जाता था। इस रुपये में ११ माशे चाँदी, चार माशा ताँबा, और शेष १ माशे में तीक्ष्ण लोह, त्रपु, सीस अञ्जन अथवा अन्य मिलावट होती थी। पण के अतिरिक्त अर्धपण (अठन्नी), पादपण (चवन्नी), और अष्टभागपण (दुअन्नी) भी बनाये जाते थे।[2]

चवन्नी (अर्थात् पण का चतुर्थांश) के काम के लिए ताँबे का एक सिक्का भी प्रचलित था जिसे **माषक** कहते थे। इस माषक में ग्यारह माशा ताँबा, चार माशा चाँदी और एक माशा लोहा आदि होता था। इसी हिसाब से अर्धमाषक, काकणी और अर्धकाकणी सिक्के बनते थे।[3]

खन्यध्यक्ष के कर्त्तव्य—खान के अध्यक्ष को खन्यध्यक्ष कहते थे। इसका कार्य शंख, वज्र (हीरा), मणि, मुक्ता, प्रवाल (मूँगा) तथा यवक्षार का प्रबन्ध करना रहता था। इनका क्रय-विक्रय (पणन व्यवहार) भी खन्यध्यक्ष के हाथ में था।[4]

लवणाध्यक्ष के कर्त्तव्य—लवणाध्यक्ष तैयार किये हुए नमक और बेचने योग्य नमक का संग्रह कराता था और इसके व्यापार का नियन्त्रण करता था।[5] जो घटिया

१. **लोहाध्यक्षस्ताम्रसीसत्रपुवैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोहकर्मान्तान्कारयेत्** (२।१२।२५)
२. **लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भागताम्रं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्यतमं माषबीजयुक्तं कारयेत् पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति।** (२।१२।२७)
३. **पादाजीवं ताम्ररूपं माषकमर्धमाषकं काकणीमर्धकाकणीमिति।** (२।१२।२८)
४. **खन्यध्यक्षः शंखवज्रमणिमुक्ताप्रवालक्षारकर्मान्तान्कारयेत्। पणनव्यवहारं च।** (२।१२।३४–३५)
५. **लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रयं च यथाकालं संगृह्णीयात्। विक्रयाच्च मूल्यं रूपं व्याजीम्।** (२।१२।३६–३७)।

नमक तैयार करे उसे दण्ड दिया जाता था। बिना राजाज्ञा के जो नमक तैयार करते थे वे भी दण्डित होते थे। केवल वानप्रस्थियों के लिए इस नियम का अपवाद था, अर्थात् अपने उपयोग के लिए नमक तैयार कर लेने के लिए उन्हें राजाज्ञा लेना आवश्यक न था। श्रोत्रियों एवं तपस्वियों के लिए भी यह छूट थी। अन्य सब लोगों को लवण और क्षार के व्यापार में शुल्क देना पड़ता था।[१]

अक्षशाला——खान से निकला सोना जहाँ पर साफ किया जाता है, उसे अक्षशाला कहते हैं। इसका अध्यक्ष सुवर्णाध्यक्ष कहलाता है। अक्षशाला में एक द्वार और चारो ओर चार ऐसे कमरे होते हैं जिनमें एक से दूसरे में प्रवेश न किया जा सके। विशिखा या सर्राफे में विश्वासी सौवर्णिक (सर्राफ) रखे जाने चाहिए।[२]

विविध प्रकार के सोने और उनका शोधन——(क) मेरु पर्वत की जम्बू नदी से उत्पन्न होनेवाले सोने को 'जाम्बुनद' कहते हैं। इसी प्रकार शतकुम्भ पर्वत से जो सोना निकलता है, उसे 'शातकुम्भ' कहा जाता है। खान से प्राप्त सोने को 'हाटक' कहते हैं। वेणु पर्वत पर उत्पन्न सोना 'वैणव' कहलाता है। (ख) पर्वत से उत्पन्न शुद्ध सोना 'जातरूप' कहलाता है, रसों के योग से बना सोना 'रसविद्ध' (chemical gold) और खानों से साफ़ करके बनाया गया सोना 'आकरोद्गत' कहलाता है।[३]

कमल के रज (किञ्जल्क) के रंग का सोना जिसमें मृदुता और स्निग्धता हो, जो शब्द रहित हो और चमकदार हो, श्रेष्ठ माना गया है। जो रक्तपीतक (लाल-पीला) हो वह मध्यम है, परन्तु जो लाल हो वह अधम वर्ग का है।[४]

अच्छे सोने को गलाकर पृथक् कर लेने के बाद जो पीला-सा सफेदी लिए अंश रह

१. **त्रिलवणमुत्तमं दण्डं दद्यात्। अनिसृष्टोपजीवी च। अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः। श्रोत्रियास्तपस्विनो विष्टयश्च भक्तलवणं हरेयुः। अतोऽन्यो लवणक्षारवर्गः शुल्कं दद्यात्।** (२।१२।४२–४६)

२. **सुवर्णाध्यक्षः सुवर्णरजतकर्मान्तानाम संबंधावेशनचतुःशालामेकद्वारामक्षशालां कारयेत्। विशिखा मध्ये सौर्वणिकं शिल्पवन्तमभिजातं प्रात्ययिकं च स्थापयेत्।** (२।१३।१–२)

३. **जाम्बुनदं शातकुम्भं हाटकं वैणवं शृङ्गशुक्तिजं, जातरूपं रसविद्धमाकरोद्गतं च सुवर्णम्।** (२।१३।३)

४. **किञ्जल्कवर्णं मृदु स्निग्धमनादि भ्राजिष्णु च श्रेष्ठम्। रक्तपीतकं मध्यमम्। रक्तमवरम्।** (२।१३।४–६)

जाय, उसे 'अप्राप्तक' कहते हैं। इसमें चौगुना सीसा मिलाकर तपावें, तो इसमें से शुद्ध सोना प्राप्त हो जायगा। यदि सीसा मिलाने पर सोना फटने लगे, तो उसे सूखे उपलों पर धौंकना चाहिए। ऐसा करने पर वह शुद्ध हो जायगा। यदि रूक्षता के कारण सोना फटता हो, तो उसमें तेल और गोबर की भावना देनी चाहिए।[1] खान से उत्पन्न सोना भी यदि सीसा मिलाने पर फटने लगे, तो तपाकर उसके पत्र बना डालने चाहिए, और उसे फिर घन पर खूब कूटना चाहिए। इसके बाद उसे कन्दली लता और वज्र कन्द के कल्क (रस) में बुझाना चाहिए।[2]

विविध प्रकार की चाँदी और सीसे के योग से शोधन—तुत्थ पर्वत से प्राप्त चाँदी को 'तुत्थोद्‌ग', कम्बु पर्वत से प्राप्त चाँदी को 'काम्बुक', असमदेश से प्राप्त चाँदी को 'गौडिक' और चक्रवाल खान से प्राप्त चाँदी को 'चाक्रवालिक' कहते हैं।[3]

श्वेत, चिकनी और मृदु चाँदी श्रेष्ठ मानी गयी है, और इससे विपरीत गुणों वाली चाँदी, विशेषतया जो फट जाती हो (स्फोटन), अधम समझी जानी चाहिए।[4]

चाँदी में चौथाई भाग सीसा मिलाकर तपावें, तो वह शुद्ध हो जायगी। जब उसमें चूलिका-सी उठ आवे और वह स्वच्छ दही के रंग के समान चमकने लगे, तो उसे शुद्ध मानना चाहिए।[5]

सोना और कसौटी पर उसकी परीक्षा—हल्दी के समान रंग का शुद्ध सोना सोलह माशे का एक वर्णक कहलाता है। इसमें ताँबे की विभिन्न मात्राएँ मिलायी जा सकती हैं। एक-एक करके सोलह काकसी तक इसमें ताँबा मिलाया जा सकता है। इनको ताँबे की इस मात्रा के अनुसार एक वर्णक, द्विवर्णक,. . .,षोडशवर्णक कहते हैं। ताँबे मिले सोने का नाम 'वर्णिका' है। 'निकष' अर्थात् कसौटी पर कसके पता लगाया

१. श्रेष्ठानां पाण्डुश्वेतं चाप्राप्तकम् ॥ तद्येनाप्राप्तकं तच्चतुर्गुणेन सीसेन शोधयेत्। सीसान्वयेन भिद्यमानं शुष्कपटलैर्ध्मापयेत्। रूक्षत्वाद् भिद्यमानं तैलगोमये निषेचयेत्। (२।१३।७–१०)

२. आकरोद्‌गतं सीसान्वयेन भिद्यमानं पाकपात्राणि कृत्वा गाण्डिकासु कुट्टयेत्। कन्दलीवज्रकन्दकल्के वा निषेचयेत्॥ (२।१३।११–१२)

३. तुत्थोद्‌गतं गौडिकं काम्बुकं चाक्रवालिकं च रूप्यम्। (२।१३।१३)

४. श्वेतं स्निग्धं मृदु च श्रेष्ठम्। विपर्यये स्फोटनं च दुष्टम्। (२।१३।१४–१५)

५. तत्सीसचतुर्भागेन शोधयेत्। उद्‌गतचूलिकमच्छं भ्राजिष्णु दधिवर्णं च शुद्धम्। (२।१३।१६–१७)

जा सकता है, कि वर्णिका में कितना ताँबा है। कसौटी पर पहले तो शुद्ध सोने को कसते हैं (उससे रेखा खींचते हैं), और फिर वर्णिका से कसते हैं। अनिम्नोन्नत देश में (अर्थात् कसौटी के ऐसे स्थान में जहाँ वह न ऊँची उठी हो, न नीची दबी हो) खींची गयी रेखा शुद्ध सोना द्वारा एक-रंग की (सम-राग की) आती है।[1]

छल करने वाले व्यक्ति खोटे सोने को अधिक रगड़कर, अथवा अच्छे सोने को हलके से रगड़कर, अथवा नखों के बीच में गेरू आदि दबाकर फिर उसके साथ-साथ रेखा खींचकर धोखा देने का प्रयत्न करते हैं।[2]

जाति हिंगुल (शिंगरफ विशेष), या पुष्पकासीस (हरताल) के साथ गोमूत्र में भीगे हुए हाथ से धोया हुआ सोना श्वेत-सा दीखने लगता है।[3]

कमल के केसर के समान रंग की, एवं चिकनी, कोमल और चमकदार कसौटी पर कसी हुई रेखा सोनेके श्रेष्ठ होने की सूचक है।[4]

निकष या कसौटी—कलिंग देश का अथवा तापी नदी का मूँग के रंग का काला कसौटी का पत्थर श्रेष्ठ माना गया है। जो कसौटी सर्वदा एक-सी रेखा देती रहे वह सोना बेचनेवाले और खरीदने वाले, दोनों के लिए एक-सी उत्तम है। हाथी के चमड़े के तुल्य खुरदरी, और हरी-सी रंगत देनेवाली कसौटी सोना बेचनेवाले के हित में होती है। इसके विपरीत, बड़ी, दृढ़ अथवा कठोर, विषमवर्ण की, और कम रंग देने-वाली कसौटी खरीदनेवाले के हित में होती है।[5]

क्षेपण, गुण और क्षुद्रक—स्वर्णशाला में अर्थात् सुनारी के काम में तीन प्रकार की बातें होती हैं—क्षेपण, गुण और क्षुद्रक। आभूषणों में मणि आदि का जड़ना 'क्षेपण'

१. **शुद्धस्यैको हारिद्रस्य सुवर्णो वर्णकः। ततः शुल्बकाकण्युत्तरापसारिता आचतु-सीमान्तादिति षोडश वर्णकाः। सुवर्णं पूर्वं निकष्य पश्चाद् वर्णिकां निकषयेत्। समरागलेखमनिम्नोन्नते देशे निकषितम्। (२।१३।१८—२१)**

२. **परिमृदितं परिलीढं नखान्तराद्वा गैरिकेणावचूर्णित मुपधिं विद्यात्। (२।१३।२२)**

३. **जातिहिङ्गुलकेन पुष्पकासीसेन वा गोमूत्रभावितेन दिग्धेनाग्रहस्तेन संस्पृष्टं सुवर्णं श्वेतीभवति॥ (२।१३।२३)**

४. **सकेसरस्निग्धो मृदुर्भ्राजिष्णुश्च निकषरागः श्रेष्ठः। (२।१३।२४)**

५. **कालिङ्गकस्तापी पाषाणो वा मुद्गवर्णो निकषः श्रेष्ठः। समरागी विक्रय-क्रयहितः। हस्तिच्छविकः सहरितः प्रतिरागी विक्रयहितः। स्थिरः परुषो विषमवर्णश्चाप्रतिरागी क्रयहितः। (२।१३।२५—२८)**

कहलाता है। सुवर्ण के सूत्रों के गूँथने को 'गुण' कहते हैं। भरी हुई या पोली घुंघरू आदि का बनाना 'क्षुद्रक' कहलाता है। जड़ते समय मणि का पाँचवाँ भाग सोने के भीतर कर देना चाहिए, और दशवाँ भाग 'कटुमान' कहलाता है (सोने की भराई, कुन्दन-करवाई)। ताँबे का कुछ अंश मिली हुई चाँदी अथवा चाँदी का कुछ अंश मिला हुआ सोना, 'शुद्ध' सुवर्ण के नाम से ही इसमें लगा देते हैं। सुवर्णाध्यक्ष को चाहिए कि इस प्रकार की चालाकी के प्रति सावधान रहे।[1]

छोटी-छोटी मणियों के जड़ने के लिए सोने के पाँच भाग किये जाने चाहिए। इनमें से तीन भाग तो परिभाण्ड के लिए हैं, अर्थात् स्वस्तिक आदि आभूषणों के लिए। अब जो दो भाग बचे, वे वास्तुक के लिए हैं, अर्थात् आधार-पृष्ठ के लिए। कभी-कभी वास्तुक के निमित्त चार भाग अथवा परिभाण्ड के लिए तीन भाग भी किये जा सकते हैं।[2]

त्वष्टृ कर्म अर्थात् ताँबे-चाँदी पर पत्र चढ़ाना

ताँबे के मूल आभूषण के बराबर सोना चढ़ाना चाहिए। चाँदी का आभूषण ठोस हो या पोला, उस पर आधा सोना चढ़ाना चाहिए। ताँबे या चाँदी के आभूषण का चौथाई भाग सोना लेकर बालुका (गन्धद्रव्य विशेष) के रस और हिंगुल चूर्ण के साथ उस पर सोने का पानी चढ़ाया जाना चाहिए।

तपनीय स्वर्ण बहुत ही अच्छा होता है। इसमें आकर्षक रंग होता है। बराबर मात्रा सीसा मिलाकर इसके पत्रों को तपाना चाहिए, फिर सिन्धु देश की मिट्टी से रगड़ कर चमकाना चाहिए। इस तरह जब सोना शुद्ध हो जावे, तो उसे नीले, पीले, श्वेत, हरे, तोते या कपोत के रंगवाले मणियों में जड़े जाने के लिए उत्तम मानना चाहिए।

१. क्षेपणो गुणः क्षुद्रकमिति कर्माणि। क्षेपणः काचार्पणादीनि। गुणः सूत्रवानादीनि। घनं सुषिरं पृषतादियुक्तं क्षुद्रकमिति। अर्पयेत् काचकर्मणः पञ्चभागं काञ्चनं दश भागं कटुमानम्। ताम्रपादयुतं रूपं रूप्यपादयुक्तं वा सुवर्णं संस्कृतं तस्माद् रक्षेत्। (२।१३।४१-४६)

२. पृषतकाचकर्मणस्त्रयो हि भागाः परिभाण्डं द्वौ वास्तुकम्। चत्वारो वा वास्तुकं त्रयः परिभाण्डम्। (२।१३। ४७–४८)

३. त्वष्टृकर्मणः शुल्बभाण्डं समसुवर्णेन संयूहयेत्। रूप्यभाण्डं घनं घनसुषिरं वासुवर्णार्धेनावलेपयेत्। चतुर्भाग सुवर्णं वा वालुकाहिंगुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत्। (२।१३।४९-५१)

इस सोने को तेज़ आँच पर तपाने पर यह मोर की गर्दन के रंग का हो जाता है, काटने पर यह श्वेत चमचमाता है। इसके पीसे टुकड़ों में एक कांकणी ताँबा मिला दें तो सोना खूब चमकने लगता है।[१]

चाँदी और सोने की मिलावट--अस्थितुत्थ (हड्डी और मिट्टी की बनी मूषा) में चार बार, समसीस तुत्थ में (मिट्टी और बराबर की मात्रा सीसा की बनी मूषा में) चार बार, शुष्क तुत्थ (सूखी मिट्टी की बनी मूषा) में चार बार, कपाल (Cupel) पर तीन बार, गोबर की मूषा में दो बार, इस प्रकार विभिन्न तुत्थों में सत्रह बार तपा कर और अन्त में सैन्धविका (सिन्धु देश की मिट्टी) से रगड़कर चमका कर, अति शुद्ध चाँदी प्राप्त की जा सकती है। इसमें से यदि एक काकणी (माशे का चौथा अंश) चाँदी निकाल कर सोने में मिलायी जाय और धीरे-धीरे मिलाते-मिलाते दो माशे तक चाँदी बढ़ा दी जाय और फिर चमकायी जावे तो ऐसा करने पर "श्वेत तार" तैयार होगा।[२]

फिर तीन अंश तपनीय स्वर्ण लेकर उसमें ३२ भाग "श्वेततार" मिलाया जावे तो "श्वेत लोहितक" नामक सोना मिलेगा। ताँबा मिलाने पर पीला रंग आता है। तपनीय स्वर्ण को उज्ज्वल करके उसमें तीन भाग ताँबा मिला दें, तो उसका पीला-लाल रंग हो जाता है।[३]

श्वेततार नामक चाँदी के दो भाग और उसमें एक भाग सोना मिला दिया जावे, तो वह सोना मूँग के रंग का चमकने लगता है।[४]

छठा भाग कालायस (लोह विशेष) मिला देने पर सोने में से काली छटा निकलती है। पिघले हुए लोहे या चाँदी के रस से मिला हुआ सोना तोते के पंखों के रंग का

१. तपनीयं ज्येष्ठं सुवर्णं सुरागं समसीसातिक्रान्तं पाकपत्रपक्वं सैन्धविकयोज्ज्वालितं नीलपीतश्वेतहरितशुककपोतवर्णानां प्रकृतिर्भवति। तीक्ष्णं चास्य मयूरग्रीवाभं श्वेतभङ्गं चिमचिमायितं पीतचूर्णितं काकणिकः सुवर्णरागः (२।१३।५२-५३)

२. तारमुपशुद्धं वास्थितुत्थे चतुः समसीसे चतुः शुष्कतुत्थे चतुः कपाले त्रिर्गोमये द्विरेवं सप्तदशतुत्थातिक्रान्तं सैन्धविकयोज्ज्वालितम्। एतस्मात्काकण्युत्तरापसारिता, आद्विमाषादिति सुवर्णे देयं पश्चाद्रागयोगः श्वेततारं भवति॥ (२।१३।५४-५५)

३. त्रयोऽशास्तपनीयस्य द्वात्रिंशद्भागश्वेततारमूर्च्छितं तत् श्वेतलोहितकं भवति॥ ताम्रं पीतकं करोति। तपनीयमुज्ज्वाल्य रागत्रिभागं दद्यात्। पीतरागं भवति। (२।१३।५६-५९)

४. श्वेततारभागौ द्वावेकस्तपनीयस्य मुद्गवर्णं करोति। (२।१३।६०)

हो जाता है। रंगों के कम-अधिक करने के निमित्त पहले बताये गये वर्णिकों की-सी क्रिया समझ लेनी चाहिए।[1]

स्वर्णअपहरण की विधियाँ

सुनार लोग अनेक छलों से सोना मारने की चेष्टाएँ किया करते हैं। साधारणतया सुनार निम्न प्रकार के आभरण या गहने तैयार करते हैं---(१) ठोस (घन), (२) घनसुषिर अर्थात् कुछ ठोस और कुछ पोले, (३) संयूह्य (मोटे पत्र चढ़े); (४) अवलेप्य पतले पत्र चढ़े, (५) संघात्य (पीट कर कड़ियाँ जोड़ना); और (६) वासितक (पानी चढ़ाये हुए)। इन आभरणों में से सोने का हरण करने के पाँच प्रकार हैं---(क) तुला विषम, (ख) अपसारण, (ग) विस्रावण, (घ) पेटक, और (ङ) पिङ्क।[2]

तुला विषम---तराजू या तुला की विषमता आठ प्रकार की बतायी गयी है---संनामिनी (अंगुली के संकेत पर तुला का झुक जाना); उत्कीर्णिका (तुला की डंडी के छेदों में चुपके से लोहा भर देना); भिन्न-मस्तका (आगे के भाग में छेदों का होना); उपकण्ठी (गाँठ पड़ी हुई); कुशिक्या (खराब शिक्या या पलड़ों वाली); सकटुकक्ष्या (खराब डोरी से बंधी); पारिवेली (वायु के झोंके से हिलने-डुलने वाली); और अयस्कान्ता (अर्थात् चुम्बक के प्रयोग से बनी हुई)। इन सब विधियों से सुनार डंडी मार कर सोने का अपहरण तौलने के समय कर सकते हैं।[3]

अपसारण---अपसारण इस प्रकार का छद्म है---दो भाग चाँदी और एक भाग ताँबा मिला देने से जो चाँदी तैयार की जाती है वह 'त्रिपुटक' कहलाती है। इसको मिलाकर जो सोना उड़ाया जाता है, उसे 'त्रिपुटकापसारित' कहते हैं। इसी प्रकार केवल ताँबा मिलाकर जो सोना उड़ाया जाता है उसे 'शुल्बापसारित' कहते हैं। लोहा और चाँदी मिलाकर, वेल्लक तैयार करते हैं और इसको मिलाकर जो सोना उड़ाया

१. कालायसस्यार्धभागाभ्यक्तं कृष्णं भवति। प्रतिलेपिना रसेन द्विगुणाभ्यक्तं तपनीयं शुकपत्रवर्णं भवति। तस्यारम्भे रागविशेषेषु प्रतिवर्णिकं गृह्णीयात्॥ (२।१३।६१-६३)

२. घनं घनसुषिरं संयूह्यमवलेप्यं संघात्यं वासितकं च कारुकर्म। तुलाविषममपसारणं विस्रावणं पेटको पिङ्कश्चेति हरणोपायाः। (२।१४।१८-१९)

३. संनामिन्युत्कीर्णिका भिन्नमस्तकोपकण्ठी कुशिक्यासकटुकक्ष्या पारिवेल्ययस्कान्ता च दुष्टतुलाः। (२।१४।२०)

जाता है, उसे 'वेल्लकापसारित' कहते हैं। ताँबे में सोना मिलाकर हेम तैयार करते हैं, और शुद्ध सोने में हेम मिलाकर जो सोना उड़ाया जाता है, वह 'हेमापसारित' कहलाता है।[1]

जिन उपकरणों द्वारा स्वर्णकार सोना उड़ाता है वे ये हैं-- मूकमूषा (भूसे में छिपी बन्द मूषा), पूतिकिट्ट (लोहे का जंग), करटकमुख (कन्त्री), नाल (फूँकने की नली); संदंश (संडासी), जोङ्गनी (लोहे की शलाका) और सुवर्चिका लवण (सुहागा)।[2]

सुनार लोग पहले से ही भिन्न-भिन्न धातुओं की बनी मूषिकाएँ अँगीठी या भट्टियों में छिपाकर रख देते हैं, और छलपूर्वक इन मूषिकाओं को बदल देते हैं, और इस प्रकार सोना अपहरण करने का प्रयत्न करते हैं।[3]

विस्रावण—कड़ियाँ जोड़ने के पश्चात् अथवा जड़े हुए पत्रों की परीक्षा हो लेने के अनन्तर चाँदी मिले हुए पत्रों को शुद्ध सोने के पत्रों के बदले में दे देना, इस अपहरण का नाम 'विस्रावण' है। सोने की खान की बालुका को लोहे की बालुका से बदल देना भी 'विस्रावण' कहलाता है।[4]

पेटक—पेटक नाम का अपहरण दो प्रकार का होता है—'गाढ' और 'अभ्युद्धार्य'। इसका प्रयोग सुनार संयूह्य, अवलेप्य और संघात्य कर्मों में करते हैं। सीसे के पत्रों को सोने के पत्रों से लाख आदि के (अष्टक के) द्वारा जोड़ कर जो सोना उड़ाया जाता है, वह 'गाढ पेटक' है। इस बन्धन में यदि लाख आदि का प्रयोग न करें, तो इसी का नाम 'अभ्युद्धार्य पेटक' है।[5]

१. **रूप्यस्य द्वौ भागावेकं शुल्बस्य त्रिपुटकम्। तेनाकरोद्गतमपसार्यते तत् त्रिपुटकापसारितम्। शुल्बेन शुल्बापसारितम्। वेल्लकेन वेल्लकापसारितम्। शुल्बार्धसारेण हेम्ना हेमापसारितम्। (२।१४।२१–२५)**

२. **मूकमूषा पूतिकिट्टः करटकमुखं नाली संदंशो जोङ्गनी सुवर्चिकालवणम्। तदेव सुवर्णमित्यपसरणमार्गाः। (२।१४।२६–२७)**

३. **पूर्वप्रणिहिता वा पिण्डवालुका मूषाभेदादग्निष्ठा उद्ध्रियन्ते। (२।१४।२८)**

४. **पश्चाद्बन्धने आचितकपत्रपरीक्षायां वा रूप्यरूपेण परिवर्त्तनं विस्रावणम्। पिण्डबालुकानां लोहपिण्डबालुकाभिर्वा। (२।१४।२९–३०)**

५. **गाढश्चाभ्युद्धार्यश्च पेटकः संयूह्यावलेप्य संघात्येषु क्रियते। सीसरूपं सुवर्णपत्रेणावलिप्तमभ्यन्तरमष्टकेन बद्धं गाढपेटकः। स एव पटलसंपुटेष्वभ्युद्धार्यः। (२।१४।३१–३३)**

अवलेप्य कर्म में दो पत्रों को जोड़कर एक-सा कर देना अथवा दो पत्रों के बीच में चाँदी या ताँबे का पत्र रख देना भी 'पेटक' कहलाता है।[१]

संघात्य कर्म में भी पेटक द्वारा छल करते हैं। इस कर्म में ताँबे के पत्र को सुवर्ण पत्र से ढक कर साफ करके–इधर-उधर जोड़ देते हैं। उसी ताँबे की कड़ी पर दोनों ओर से सोना चढ़ाकर चिकना कर साफ़ चमका दिया जाता है। भीतर से तो ताँबा या चाँदी होती है, पर ऐसा उत्तम रंग कर दिया जाता है, मानो शुद्ध सोना हो।[२]

इन दोनों प्रकार के पेटकों की ताप और निकष (कसौटी) से परीक्षा की जा सकती है। हलकी-सी चोट मारने अथवा खरोचने या लकीर खींचने से इस छल का पता चल सकता है। बेर की खटायी अथवा लवण घुले पानी से भी अभ्युद्धार्य पेटक की परीक्षा हो सकती है।[३]

पिङ्क—ठोस एवं पोले आभूषणों में बहुधा सुवर्ण-रज (मिट्टी), बालू या हिंगुल का कल्क तपाकर भर दिया जाता है। जब आभूषण का मूल ढाँचा बन जाता है तो उसमें बहुधा सुवर्ण बालुका मिली हुई लाख (जतु) भर देते हैं, या सिंदूर-पंक (गान्धार पंक) तपाकर भर देते हैं। ऐसी स्थिति में इन आभरणों का तपाना और तोड़ देना ही उनका शोधन है।[४]

घुँघरूदार मणिबन्ध आदि में लवण को उल्का से तपाकर या छोटी-छोटी कंकड़ियों को तपाकर छल द्वारा रख दिया जाता है। बदराम्ल (बेर के रस) में उबालकर इनकी शुद्धि की जा सकती है।[५]

१. पत्रमाश्लिष्टं यमकपत्रं वावलेप्येषु क्रियते। शुल्बं तारं वा गर्भः पत्राणाम्॥ (२।१४।३४–३५)

२. संघात्येषु क्रियते शुल्बरूपसुवर्णपत्रसंहतं प्रमृष्टं सुपार्श्वम्। तदेव यमकपत्र-संहतं प्रमृष्टं ताम्रताररूपं चोत्तरवर्णकः। (२।१४।३६–३७)

३. तदुभयं तापनिकषाभ्यां निःशब्दोल्लेखनाभ्यां वा विद्यात्। अभ्युद्धार्यं बदराम्ले लवणोदके वा साधयन्तीति पेटकः। (२।१४।३८–३९)

४. घनसुषि रेवा रूपे सुवर्णमृद्बालुकाहिङ्गुलकल्को वा तप्तोऽवतिष्ठते। दढ़वास्तुके वा रूपे बालुकामिश्रजतु गान्धारपङ्को वा तप्तोऽवतिष्ठते। तयोस्तापनमवध्वंसनं वा शुद्धिः (२।१४।४०–४२)

५. स परिभाण्डे वा रूपे लवणमुल्कया कटुशर्करया तप्तमवतिष्ठते। तस्य क्वाथनं शुद्धिः (२।१४।४३–४४)

अभ्रक (अभ्रपटल), लाख आदि भरकर आभरण के वास्तुक (आधारभूत पीठ या मूल भाग) को दुगुना तक कभी-कभी भारी कर देते हैं। ऐसी अवस्था में यदि आभरण को बेरी के क्वाथ में डुबाने का प्रयत्न करें, तो उसमें अभ्रक का भाग पूरी तरह से नहीं डूबता, केवल एक ओर से ही डूबता है। यदि ताँबे आदि के पत्र आभरण के भीतर चढ़े हों तो सूची भेदन द्वारा अर्थात् आभरण के भीतर सुई चुभाकर पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार छल द्वारा ठोस या पोले गहनों में से चाँदी या सोने के अपहरण का नाम 'पिङ्क' है। तपाने अथवा तोड़ने पर इस प्रकार के अपहरण को पकड़ा जा सकता है, अथवा इस प्रकार उन आभरणों की शुद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है।[1]

पुराने आभूषणों के संस्कार में सोने का अपहरण

सुनारों के यहाँ पुराने गहने भी सफाई के लिए, अथवा उनके सोने से अन्य आभरण तैयार करने के लिए आया करते हैं। उनमें से भी सोने का अपहरण किया जा सकता है। पुराने गहनों में से सोना चुराने के चार प्रकार हैं—परिकुट्टन, अवच्छेदन, उल्लेखन और परिमर्दन। पेटक परीक्षा के बहाने छोटे-छोटे घुँघरू, तार आदि का काट लिया जाना 'परिकुट्टन' कहलाता है। द्विगुणित सोनेवाले गहने के वास्तुक में से कुछ सोना काट लेना और उसके स्थान में सीसा भर देना 'अवच्छेदन' कहलाता है। ठोस सोने पर से रेती चला कर थोड़ा-सा सोना झाड़ लेने को 'उल्लेखन' कहते हैं। हरिताल, मनःशिला, हिंगुल या कुरुविन्द चूर्ण से रगड़ कर सोना उड़ा लें, तो उसे 'परिमर्दन' कहते हैं।[2]

१. **अभ्रपटलमष्टकेन द्विगुणवास्तुके वा रूपे बध्यते, तस्य पिहितकाचकस्योदके निमज्जत एकदेशः सीदति, पटलान्तरेषु वा सूच्या भिद्यते। मणयो रूप्यं सुवर्णं वा घनसुषिराणां पिङ्कः। तस्य तापनमवध्वंसनं वा शुद्धिरिति पिङ्कः। तस्माद् वज्रमणिमुक्ताप्रवालरूपाणां जातिरूपवर्णप्रमाणपुद्गललक्षणान्युपलभेत। (२।१४।४५–४८)**

२. **कृतभाण्डपरीक्षायां पुराणभाण्डप्रतिसंस्कारे वा चत्वारो हरणोपायाः। परिकुट्टनमवच्छेदनमुल्लेखनं परिमर्दनं वा पेटकापदेशेन पृषतं गुणं पिटकां वा यत्परिशातयन्ति तत्परिकुट्टनम्। यद्द्विगुणवास्तुकानां वा रूपे सीसरूपं प्रक्षिप्याभ्यन्तरमवच्छिन्दन्ति तदवच्छेदनम्। यद्घनानां तीक्ष्णेनोल्लिखन्ति तदुल्लेखनम्। (२।१४।४९–५३)**

सुवर्ण अपहरण के साधन निम्न गिनाये गये हैं —अवक्षेप (नज़र बचाकर सोना उड़ा देना), प्रतिमान (बदल देना), अग्नि (आग के भीतर तपाते समय उड़ा देना), गण्डिका (घन की चोट मारकर अपहरण), भण्डिका (गला हुआ सोना जिस पात्र में डाला जाय, उसमें अपहरण), अधिकरणी (सोना रखने का पात्र), पिच्छ: (पाँख), सूत्र (तुला की डोरी), चेल्ल (वस्त्र में ढाककर), बोल्लन (बातचीत में फँसाकर गाहक का ध्यान बटा कर), शिर (शिर खुजा कर), उत्संग (गोदी में गिराकर), मक्षिका (मक्खी उड़ाने के बहाने), स्वकायेक्षा (अपना शरीर दिखाकर), दृति (धौंकनी), उदक शराव (जल पात्र) और अग्निष्ठ (अँगीठी)।[1]

प्रतिमान और तुला

तौल और नाप के अधिकारी का नाम कौटिलीय अर्थशास्त्र में पौतवाध्यक्ष है। पौतव कर्म के लिए प्रतिमान या बाट तैयार किये जाने के आदेश हैं। उड़द धान्य के दाने के बराबर माषा माना गया है। दस धान्यमाषों या पाँच गुञ्जाओं (पाँच रत्ती) का एक सुवर्ण माषा होता है। १६ माषों का एक सुवर्ण या कर्ष होता है। चार कर्षों का एक पल होता है। अट्ठासी सफेद सरसों के दानों के बराबर एक रूप्य-माषक माना गया है। सोलह रूप्यमाषकों का एक धरण होता है। एक धरण सेम के बीस दानों के बराबर भी माना गया है। बीस तंडुलों (चावलों) का एक वज्रधरण होता है।[2] इनके द्वारा हीरे तौले जाते हैं।

अर्धमाषक, माषक, द्विमाषक, चत्वारिमाषक, अष्ट-माषक, और फिर सुवर्ण, दो सुवर्ण, चार सुवर्ण, आठ सुवर्ण, दस सुवर्ण, बीस सुवर्ण, तीस सुवर्ण, चालीस सुवर्ण और सौ सुवर्णों के बराबर तौल के बाट होने चाहिए। इसी प्रकार से धरण, द्विधरण, चतुर्धरण आदि बाट भी होने चाहिए। ये प्रतिमान या तो लोहे के बने हों या मागध

१. अवक्षेपः प्रतिमानमग्निर्गण्डिका भण्डिकाधिकरणी पिच्छः सूत्रं चेल्लं बोल्लनं शिर उत्सङ्गो मक्षिका स्वकायेक्षादृतिरुदकशरावमग्निष्ठमिति काचं विद्यात्। (२।१४।६०)

२. पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान्कारयेत्। धान्यमाषा दश सुवर्णमाषकः पञ्च वा गुञ्जाः। ते षोडश सुवर्णः कर्षो वा। चतुः कर्षं पलम्। अष्टाशीति गौरसर्षपा रूप्यमाषकः। ते षोडश धरणम्। शैंब्यानि वा विंशतिः। विंशति तण्डुलं वज्रधरणम्। (२।१९।१-८)

या मेकल देश के दृढ़ पत्थर के बने हों। प्रतिमान ऐसे पदार्थ के भी बनाये जा सकते ह जो पानी, प्रदेह (लेपादि), गरमी आदि से घटें-बढ़ें नहीं।[1]

सोने चाँदी आदि पदार्थों को तौलने के लिए छः अंगुल से लेकर आठ-आठ अंगुल बढ़ाते हुए दस प्रकार की तुलाएँ (तराजू) बनायी जा सकती हैं (६ अंगुल, १४, २२... ७८ अंगुल तक)। इनकी तौल १ पल लोहे से लेकर उत्तरोत्तर १-१ पल बढ़ाते हुए १० पल तक की होनी चाहिए। तुला में दोनों ओर शिक्य (पलड़े) होने चाहिए। ये तुलाएँ तो सोना तौलने के लिए हुईं।[2]

इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों को तौलने के लिए ३५ पल लोहे की बनी हुई ७२ अंगुल (३ हाथ) लम्बी, गोलाकार या समवृत्ता तुला होनी चाहिए। इसमें ५ पल का मण्डल बँधा होना चाहिए, जिससे तुला का समकरण (balance) हो सके। समकरण बिन्दु निकालकर एक कर्ष, दो कर्ष, तीन कर्ष, पल, १० पल, १२ पल, १५ पल, २० पल आदि के चिह्न लगाने चाहिए। २० पल के आगे फिर १०-१० पल के अन्तर से १०० पल तक के चिह्न लगाने चाहिए। अक्षों पर नान्दी-पिनद्ध अर्थात् स्वस्तिक का-सा चिह्न भी लगा होना चाहिए। (पाँच या पाँच के गुणितों को सूचित करने के लिए ये चिह्न लगे होते है।[3]) यह समवृत्ता तुला है।

समवृत्ता तुला से दुगुने लोहे की बनी (७० पल की बनी) ९६ अंगुल (चार हाथ) लम्बी तुला को 'परिमाणी' तुला कहते हैं। इसमें भी एक कर्ष से लेकर सौ पल तक के चिह्न लगा दे, फिर बीस, पचास और सौ के चिह्न लगा दे।[4]

१. अर्धमाषकः, माषकः, द्वौ, चत्वारः, अष्टौ माषकाः सुवर्णो द्वौ, चत्वारः, अष्टौ सुवर्णाः दशविंशतिः, त्रिंशत् चत्वारिंशत् शतमिति ॥ तेन धरणानि व्याख्यातानि। प्रतिमानान्ययोमयानि मागधमेकलशैलमयानि यानि वा नोदकप्रदेहाभ्यां वृद्धिं गच्छेयुरुष्णेन वा ह्रासम्, (२।१९।९-११)

२. षडंगुलादूर्ध्वमष्टांगुलोत्तरा दश तुलाः कारयेल्लोहपलादूर्ध्वमेकपलोत्तरा यन्त्रमुभयतः शिक्यं वा। (२।१९।१२)

३. पञ्चत्रिंशत्पललोहां द्विसप्तत्यंगुलायामां समवृत्तां कारयेत्। तस्याः पञ्च पलिकं मण्डलं बद्ध्वा समकरणं कारयेत्। ततः कर्षोत्तरं पलं पलोत्तरं दशपलं द्वादश पञ्चदश विंशतिरिति पदानि कारयेत्। तत आशताद्दशोत्तरं कारयेत्। अक्षेषु नान्दीपिनद्धं कारयेत्। (२।१९।१३-१७)

४. द्विगुणलोहां तुलामतः षण्णवत्यंगुलायामां परिमाणीं कारयेत्। तस्याः शतपदादूर्ध्वं विंशतिः पञ्चाशत् शतमिति पदानि कारयेत्। (२।१९।१८-१९)

कौटिल्य अर्थशास्त्र में कई प्रकार की मापों का उल्लेख हैं। आयमानी नाप वह है जो राजकीय कार्यों में चले। व्यावहारिक माप जनता के उपयोग के लिए है। भाजनीय माप नौकरों के लिए है। अन्तःपुर-भाजनीय माप रनिवास या अन्तःपुर के लिए है। आयमानी से लेकर अन्तःपुर-भाजनीय मापों में प्रत्येक द्रोण में क्रमशः १२।। पल की कमी होती जाती है। १ आयमान द्रोण=२०० पल (धान्यमाष के); १ व्यावहारिक द्रोण=१८७।। पल; १ भाजनीय द्रोण=१७५ पल; १ अन्तःपुर-भाजनीय द्रोण=१६२ पल)। यह स्मरण रखना चाहिए कि २० तुला=१ भार; १० धरणी=१ पल और १०० पल=१ आयमानी; आयमानी से पाँच पल कम एक व्यावहारिकी तुला अर्थात् व्यावहारिकी=९५ पल; इसी प्रकार ९० पल=१ भाजनी; ८५ पल=अन्तःपुर भाजनी तुला।[1]

सुरा और किण्व

कौटिलीय अर्थशास्त्र में सुरा और उसके तैयार करने का जितना सुन्दर विवरण है, उतना किसी अन्य प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है। सुरा की तैयारी किण्वों की सहायता से की जाती थी। राज्य की ओर से सुरा बनाने पर नियन्त्रण था। इस विभाग के अधिकारी का नाम सुराध्यक्ष था। उसके नियन्त्रण में ही किण्व तैयार किये जाते थे, सुरा तैयार की जाती थी और इस काम के लिए कुशल व्यक्ति रखे जाते थे। यह विभाग सुरा के क्रय-विक्रय की देख-रेख भी करता था।[2]

सुरा के छः भेद माने गये हैं—मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु।

एक द्रोण जल, आधा आढक चावल, तीन प्रस्थ (तीन सेर) किण्व, इनको मिलाकर जो सुरा बनायी जाती है, वह 'मेदक' कहलाती है।[3]

१. विंशतितौलिको भारः। दशधरणिकं पलम्। तत्पलशतमायमानी। पञ्चपलावरा व्यावहारिकी भाजन्यन्तःपुरभाजनी च। (२।१९।२०–२३) अथ धान्यमाषद्विपलशतं द्रोणमायमानम्। सप्ताशीतिपलशतमर्धपलं च व्यावहारिकम्। पञ्चसप्ततिपलशतं भाजनीयम्। द्विषष्टिपलशतमर्धपलंचान्तःपुरभाजनीयम्। (२।१९।३२–३५)

२. सुराध्यक्षः सुराकिण्वव्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जात सुराकिण्वव्यवहारिभिः कारयेत्। एकमुखमनेकमुखं वा विक्रयक्रयवशेन वा। (२।२५।१)

३. मेदकप्रसन्नासवारिष्टमैरेयमधूनामुदकद्रोणं तण्डलानामर्धाढकं त्रयः प्रस्थाः किण्वस्येति मेदकयोगः। (२।२५।१७)

बारह आढक चावल की पिट्ठी, पाँच प्रस्थ किण्व या पुत्रक वृक्ष की त्वचा और फल, एवं जातिसम्भार (मसाला) मिलाने से 'प्रसन्ना' नामक सुरा तैयार होती है।[1] एक तुला (१०० पल) कैथ (कपित्थ), पाँच तुला फाणित या राब, एक प्रस्थ मधु, इन सबको मिलाकर जो सुरा बनती है, उसे 'आसव' कहते हैं। इसमें मादक फल सवाया कर दिया जाय तो 'ज्येष्ठ जाति का आसव' तैयार होगा, और मादक फल का चतुर्थांश कम कर दिया जाय, तो 'कनिष्ठ जाति का आसव' तैयार होगा।[2] ये ही सुराएँ यदि चिकित्सक की देख-रेख में तैयार हों, तो इनका नाम 'अरिष्ट' है।[3] मेषशृंगी की छाल का क्वाथ बनाकर और उसमें गुड़ का योग देकर पिप्पली, मरिच, मसाला, त्रिफला, आदि मिलाकर जो सुरा तैयार होती है, उसे 'मैरेय' कहते हैं। जितनी भी सुराएँ गुड़ से बनती हैं, उनमें त्रिफला का मसाला मिलाया जा सकता है।[4] मुनक्का के रस से जो सुरा बनती है, उसे 'मधु' कहते हैं। कपिशा नाम की नदी के तट पर जो मधु सुरा बनती है, उसे 'कापिशायन' और हरहूर नगर में जो बनती है, उसे 'हारहूरक' कहते हैं।[5]

माषकलनी (उरद की दाल का आटा) एक द्रोण, कच्चे अथवा पकाये हुए तंडुल (चावल) की पिट्ठी पौने दो द्रोण तथा मोरट आदि ओषधियों का एक-एक कर्ष (तोला) मिलाने पर 'किण्वबन्ध' तैयार होता है।[6]

पाठा, लोध्र, तेजोवती (गजपिप्पली), इलायची, वालुक (सुगन्धि द्रव्य), मधु, मुलहठी, केसर, दारुहलदी, मरिच, पिप्पली, इन सबके ५-५ कर्ष लेकर मेदक और प्रसन्ना नामक सुराओं का किण्व तैयार किया जाता है।[7]

१. **द्वादशाढकं पिष्टस्य पञ्चप्रस्थाः किण्वस्य पुत्रकत्वक् फलयुक्तो वा जातिसम्भारः प्रसन्नायोगः। (२।२५।१८)**
२. **कपित्थतुला फाणितं पञ्चतौलिकं प्रस्थो मधुन इत्यासवयोगः। पादाधिको ज्येष्ठः पादहीनः कनिष्ठः। (२।२५।१९–२०)**
३. **चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशोविकाराणामरिष्टाः। (२।२५।२१)**
४. **मेषशृंगित्वक् क्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवापः पिप्पलीमरिचसंभारस्त्रिफलायुक्तो वा मैरेयः। गुडयुक्तानां वा सर्वेषां त्रिफलासंभारः॥ (२।२५।२२–२३)**
५. **मृद्वीकारसो मधु। तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशायनं हारहूरकमिति। (२।२५।२४–२५)**
६. **माषकलनीद्रोणमामं सिद्धं वा त्रिभागाधिकतण्डुलं मोरटादीनां कार्षिकभागयुक्तः किण्वबन्धः॥ (२।२५।२६)**
७. **पाठालोध्रतेजोवत्येलावालुक मधु मधुरसाप्रियंगुदारुहरिद्रा मरिच पिप्पलीनां च पञ्चकार्षिकः संभारयोगो मेदकस्य प्रसन्नायाश्च। (२।२५।२७)**

मुलहठी का काढ़ा (मधुकनिर्यूह) बनाकर उसमें रवेदार शर्करा मिला देने से सुरा का रंग बहुत अच्छा निकलता है।[1]

दालचीनी, चित्रक (चीता), वायविडङ्ग, गजपिप्पली, इस सबका एक-एक कर्ष लेकर तथा दो-दो कर्ष सुपारी, मुलहठी, मोथा और लोध, कुल आठ कर्ष, मिला लेने पर आसव का किण्व बनता है। दालचीनी आदि का दशवाँ भाग लिया जाय, तो 'बीज-बन्ध' तैयार होता है।[2]

प्रसन्ना सुरा का योग ही श्वेत सुरा का योग कहलाता है। आम का रस डालकर जो सुरा तैयार की जाय, उसे 'सहकारसुरा' कहते हैं। इसके अतिरिक्त, जिसमें पूर्वोक्त मसाले अधिक पड़े हों, उसे 'सांभरिकी सुरा' कहते हैं।[3]

मोरट, पलाश, पत्तूर, मेषश्रृंगी, करञ्ज और क्षीर वृक्ष के कषाय (काढ़े) में चासनी किया हुआ रवेदार शक्कर का चूर्ण, और इनसे आधा लोध्र, चित्रक, वायविडङ्ग, पाठा, मुस्ता, कलिंगयव, दारुहलदी, इन्दीवर, सौंफ, अपामार्ग, सप्तपर्णी, निम्ब और आस्फोत का कल्क बनाकर एक मुट्ठी भरकर जल-भरे कुंभ या घड़े में डालने से राजाओं के पीने योग्य (राजपेया) सुरा तैयार होती है। यदि इसमें पाँच पल राव (फाणित) और मिला दी जाय, तो स्वाद बहुत अच्छा हो जाता है।[4]

सुरा-किण्व के संग्रह का कार्य स्त्रियों और बच्चों को सौंपा जाता था। सुरा राजकीय दुकानों पर ही बेची जाती थी। अन्य स्थानों से सुरा खरीदने वालों पर सौ पण दण्ड लगता था। सुरा की दुकानों पर सुरका, मेदक, अरिष्ट और मधु के साथ-साथ फलाम्ल और फलशीधु (fruit juices and cocktail) भी बिकते थे।[5]

१. **मधुकनिर्यूहयुक्ता कटशर्करा वर्णप्रसादिनी च। (२।२५।२८)**

२. **चोचचित्रकविलङ्गगजपिप्पलीनां च पञ्चकर्षिकः क्रमुकमधुकमुस्तालोध्राणां द्विकर्षिकश्चासवसंभारः। दशभागश्चैषां बीजबन्धः। (२।२५।२९-३०)**

३. **प्रसन्नायोगः श्वेतसुरायाः। सहकारसुरा रसोत्तरा बीजोत्तरा वा महासुरा संभारिकी वा॥ (२।२५।३१-३२)**

४. **तासां मोरटापलाशपत्तूरमेषश्रृंगीकरञ्जक्षीरवृक्षकषायभावितंदग्धकटशर्कराचूर्णलोध्रचित्रकविलङ्गपाठामुस्ताकलिंगयवदारुहरिद्रेन्दीवरशतपुष्पापामार्गसप्तपर्णनिम्बास्फोतकल्कार्धयुक्तमन्तर्नखो मुष्टिः कुम्भीं राजपेयां प्रसादयति। फाणितः पञ्चपलिकश्चात्र रसवृद्धिर्देयः। (२।२५।३३-३४)**

५. **सुराकिण्वविचयं स्त्रियो बालाश्च कुर्युः।
अराजपण्याः शतं शुल्कं दद्युः सुरकामेदकारिष्टमधुफलाम्लाम्लशीधूनां च। (२।२५।३८-३९)**

चर्म

कौटिलीय अर्थशास्त्र में चमड़े के व्यवसाय का अच्छा उल्लेख है। हिमालय पर्वत में उत्पन्न चमड़ा, जिसे उत्तरपर्वतक चर्म कह सकते हैं, दो प्रकार का है—कान्तनावक और प्रैयक। कान्तनावक चमड़ा मोर की गर्दन के रंग का होता है, और प्रैयक चमड़ा सफेद रेखाओं से युक्त, चितकबरा और नीले-पीले रंग का होता है। इन दोनों प्रकार के चमड़ों की चौड़ाई आठ अंगुल की होती है।[1]

द्वादश ग्राम में तैयार होनेवाला चमड़ा 'बिसी' और 'महाबिसी' कहलाता है। 'विसी' चर्म वह है, जो अस्पष्ट या अव्यक्त रूप का हो, बालोंवाला और चित्र-विचित्र रंगों के मृगों का हो। कठोर और श्वेतप्राय रंग का (बहुत कुछ सफेद) चमड़ा 'महा-विसी' कहलाता है। बिसी और महाबिसी नामक दोनों चमड़े बारह अंगुल चौड़े तक माने गये हैं।[2]

आरोह प्रदेश में उत्पन्न चमड़े पाँच प्रकार के हैं—श्यामिका, कालिका, कदली, चन्द्रोत्तरा और शाकुला। कपिल रंग का (कुछ पीला-सा) चितकबरा (बिन्दुचित्रित) चमड़ा श्यामिका कहलाता है। कपिल या कपोत (कबूतर) के रंग-जैसा चमड़ा कालिका कहलाता है। ये दोनों (श्यामिका और कालिका) आठ अंगुल चौड़े होते हैं।[3] कदली चर्म कठोर या खुरदरा और एक हाथ लम्बा होता है। चन्द्रोत्तरा चमड़े पर चँदवे बने होते हैं। शाकुला चर्म कदली से तीन-गुना बड़ा होता है (तीन हाथ का)। इसमें मण्डलाकार धब्बे होते हैं और कृतकर्णिक हरिण के तुल्य चित्रित होता है।[4]

हिमालय के बाह्लव प्रदेश में सामूर, चीनसी और सामूली ये तीन प्रकार के चमड़े होते हैं। इनमें से सामूर चर्म का रंग अंजन-सा और इसकी चौड़ाई ३६ अंगुल

१. कान्तनावकं प्रैयकं चोत्तरपर्वतकं चर्म। कान्तनावकं मयूरग्रीवाभम्। प्रैयकं नीलपीतं श्वेतं लेखि बिन्दुचित्रम्। तदुभयमष्टांगुलायामम्। (२।११।७७–८०)

२. बिसी महाबिसी च द्वादशग्रामीये। अव्यक्तरूप दुहिलितिका चित्रा वा बिसी। परुषा श्वेतप्राया महाबिसी। द्वादशांगुलायाममुभयम्। (२।११।८१–८४)

३. श्यामिका कालिका कदली चन्द्रोत्तरा शाकुला चारोहजाः। कपिला बिन्दुचित्रा वा श्यामिका। कालिका कपिला कपोतवर्णा वा। तदुभयमष्टांगुलायामम्। (२।११।८५–८८)

४. परुषा कदली हस्तायता। सैव चन्द्र-चित्रा चन्द्रोत्तरा। कदली त्रिभागा शाकुला कोठमण्डलचित्रा कृतकर्णिकाजिनचित्रा चेति। (२।११।८९–९१)

की होती है। चीनसी चमड़े का रंग लाल-काला या पीत-काला होता है। सामूली चमड़े का रंग गेहुआँ होता है।[१]

उद्र देश के चमड़े तीन नामों से प्रचलित हैं—सातिना, नलतूला, और वृत्तपुच्छा। सातिना चमड़ा कृष्णवर्ण का होता है। नलतूला चमड़ा नलतूल (नरसल) के रंग का और वृत्तपुच्छा चमड़ा कपिल वर्ण का।[२]

ये सब चमड़े की जातियाँ हैं। इनमें श्रेष्ठ चमड़ा वह है जो मृदु, चिकना और अधिक रोएँवाला हो।[३]

ऊन और आविक

भेड़ के ऊन से बने कपड़ों को 'आविक' कहते हैं (अवि भेड़)। ये सफ़ेद, लाल और लाल-सफ़ेद मिश्रित रंग के होते हैं। ऊनी वस्त्र कुछ तो खचित (कसीदे से बुने हुए), कुछ वानचित्रित (फूल आदि के चित्रों से अंकित), कुछ खंडसंघात्य (ऊन के टुकड़ों को पीट और जोड़कर) और कुछ तन्तुविच्छिन्न होते हैं। ये ऊनी कपड़े तैयार किये जाते थे—कम्बल, कौचपक (सिर के टोपे), कुलमितिका (हाथी की पीठ पर का वस्त्र), सौमितिका (अम्बारी का काला वस्त्र), तुरगास्तरण (घोड़े की झूल), वर्णक (रंगा कपड़ा), तलिच्छक (दरी या carpet), वारवाण (chester या ऊनी कोट), परिस्तोम (हाथी की झूल), समन्तभद्रक (चारखाने का कम्बल)।[४] श्रेष्ठ ऊनी वस्त्र वह है जो चिकना, आर्द्र, महीन और कोमल हो। नेपाल में 'कृष्णा-भिङ्गसी' और 'अपसारक' नाम के ऊनी कपड़े बनते हैं। भिङ्गसी काले रंग की और आठ टुकड़ों को जोड़कर तैयार की जाती है, और अपसारक ऊन वर्षा के जल से रक्षा करती है।[५]

१. सामूरं चीनसी सामूली च बाह्लवेयाः। षट्त्रिंशदंगुलमञ्जनवर्णं सामूरम्। चीनसी रक्तकाली पाण्डुकाली वा। सामूली गोधूमवर्णेति। (२।११।९२-९५

२. सातिना नलतूला वृत्तपुच्छा चौद्राः। सातिना कृष्णा, नलतूला नलतूलवर्णा, कपिला वृत्तपुच्छा च ॥ (२।११।९६–९९)

३. इति चर्मजातयः। चर्मणां मृदु स्निग्धं बहुलरोम च श्रेष्ठम्। (२।११।१००–१०१)

४. शुद्धं शुद्धरक्तं पक्षरक्तं चाविकम्। खचितं वानचित्रं खण्डसंघात्यं तन्तुविच्छिन्नं च। कम्बलः कौचपकः कुलमितिका सौमितिका तुरगास्तरणं वर्णकं तलिच्छकं वारवाणः परिस्तोमः समन्तभद्रकं चाविकम्। (२।११।१०२–१०४)

५. पिच्छलमार्द्रमिव च सूक्ष्मं मृदु च श्रेष्ठम्। अष्टप्लोति-संघात्या कृष्णाभिङ्गिसी वर्षवारणमपसारक इति नैपालकम्। (२।११।१०५–१०६)

मृगरोम से बने वस्त्र निम्न हैं—संपुटिका (जाँघिया), चतुरश्रिका (चौकोना कपड़ा, बेलबूटोंदार), लम्बरा (ओढ़ने का वस्त्र), कटवानक (मोटे डोरे से बना वस्त्र), प्रावरक (किनारीदार दुपट्टा) और सत्तलिका (नीचे बिछाने का वस्त्र)।[1]

वंग देश में बना वांगक दुशाला श्वेतरंग का और चिकना होता है। पुण्ड्र देश का बना दुशाला पौण्ड्रक काला और मणि के समान चिकना होता है। असम देश के सुवर्णकुडच्य स्थान का सौवर्ण कुडचक दुशाला सूर्य की तरह चमकीला होता है।[2]

ये ऊन और मृगरोम से बने वस्त्र चिकने, उदकवान (जल में भिगोकर बनाये गये), चतुरश्रिवान (चारो ओर किनारियोंवाले) एवं व्यामिश्रवान (चित्र-विचित्र धारियों से युक्त) होते हैं। ये एक, दो, तीन अथवा चार तन्तुओं को मिलाकर तैयार किये जाते हैं।[3]

जैसे तरह-तरह के ऊनी वस्त्र तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार काशिक, पौण्ड्रक और क्षौम (रेशमी) वस्त्रों को भी समझ लेना चाहिए।[4]

पत्तों के तन्तुओं का ऊन तीन प्रकार का होता है—मागधिक, पौंड्रिक और सौवर्ण-कुडचक। यह तन्तु साधारणतया चार वृक्षों से प्राप्त किये जाते हैं—नागवृक्ष, लकुच, वकुल और वट। नागवृक्ष के तन्तु से बने वस्त्र पीले रंग के, लकुच तन्तु के वस्त्र गेहुआँ रंग के, वकुल तन्तु से बने वस्त्र श्वेत रंग के और शेष सब मक्खन के रंग के होते हैं। इनमें से सौवर्णकुडचक ऊन श्रेष्ठ माना जाता है।[5]

इसी प्रकार का विस्तार कौशेय, चीनपट्ट और चीनभूमिज (चाइना सिल्क) रेशमों का भी समझ लेना चाहिए।[6]

१. संपुटिका चतुरश्रिका लम्बरा कटवानकं प्रावरकः सत्तलिकेति मृगरोम्णः। (२।११।१०७)
२. वाङ्गकं श्वेतं स्निग्धं दुकूलं पौण्ड्रकं श्यामं मणिस्निग्धं सौवर्णकुडचकं सूर्यवर्णम्। (२।११।१०८)
३. मणिस्निग्धोदकवानं चतुरश्रिवानं व्यामिश्रवानं च। एतेषामेकांशुकमर्धं द्वित्रि-चतुरंशुकमिति। (२।११।१०९–११०)
४. तेन काशिकं पौण्ड्रकं क्षौमं व्याख्यातम्॥ (२।११।१११)
५. मागधिका पौण्ड्रिका सौवर्णकुडचका च पत्रोर्णाः। नागवृक्षो लकुचो वकुलो वटश्च योनयः। पीतिका नागवृक्षिका। गोधूमवर्णा लाकुची। श्वेता वाकुली। शेषा नवनीतवर्णाः। तासां सौवर्णकुडचका श्रेष्ठा। (२।११।११२–११८)
६. तया कौशेयं चीनपट्टाश्च चीनभूमिजा व्याख्याताः। (२।११।११९)

कपास के वस्त्रों में माधुर, अपरान्तक, कालिंगक, काशिक, वाङ्गक, वात्सक और माहिषक वस्त्र (मदुरा, कोंकण, कलिंग, काशी, वंग, वत्स और मैसूर या माहिष्मती के बने वस्त्र) श्रेष्ठ माने जाते हैं।[1]

वस्त्रों की रंगाई—वस्त्रों की रंगाई में नील, पुष्प (पलाश आदि के), लाक्षा, मंजिष्ठ आदि के रंगों का उपयोग होता था। हलकी रंगाई के लिए रंगरेज़ को ५ दिन, नील रंग से रंगने के लिए ६ दिन और अन्य रंगों से रंगाई करने के लिए आवश्यकतानुसार ७ दिन तक दिये जा सकते थे।[2]

विष और विषपरीक्षण

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में निम्न पदार्थ विष अथवा विषवर्गीय बताये हैं—कालकूट, वत्सनाभ, हालाहल, मेषशृंग, मुस्ता, कुष्ठ, महाविष, वेल्लितक, गौरार्द्र, बालक, मार्कट, हैमवत, कालिंगक, दारदक, अंकोलसारक, उष्टक। घड़े में साँप और कीट सड़ाने से भी विष तैयार होता है।[3]

भोजन में विष का परीक्षण—यदि भोजन में विष मिला हो, तो अग्नि में उसकी लपट नीली और धुआँ भी नीला ही निकलेगा। अग्नि में शब्दस्फोट भी होगा, अर्थात् चटचट सा शब्द निकलेगा। विषाक्त भोजन यदि पक्षी खायें, तो विपदा में पड़ जायेंगे।[4] विषाक्त भोजन में से जो भाप उठती है, वह भी मोर की गर्दन के रंग की होती है। विषयुक्त भोजन शीघ्र ठंडा पड़ जाता है, तोड़ने पर उसमें वर्ण (रंग) की भिन्नता प्रतीत होती है। किसी-किसी विष के कारण भोजन में से पानी छूटने लगता है। इसके विपरीत किसी-किसी भोजन में बड़ी रुक्षता आ जाती है।[5]

१. माधुरमापरान्तकं कालिङ्गकं काशिकं वाङ्गकं वात्सकं माहिषकं च कार्पासिकं श्रेष्ठमिति। (२।११।१२०)
२. पञ्चरात्रिकं तनुरागम्। षड्रात्रिकं नीलं पुष्पलाक्षामञ्जिष्ठारक्तम्। गुरुपरिकर्मयत्नोपचार्यंजात्यं वासः सप्तरात्रिकम्। (४।१।२४–२६)
३. कालकूट-वत्सनाभ-हालाहल-मेषशृंग-मुस्ताकुष्ठ - महाविषवेल्लितक - गौरार्द्र - बालक मार्कट-हैमवतकालिङ्गक-दारदकांकोलसारक्रोष्ट्रकादीनि विषाणि। सर्पाः कीटाश्च त एव कुम्भगता विषवर्गः। (२।१७।१२–१३)
४. अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य वयसां विपत्तिश्च। (१।२१।१०)
५. अन्नस्योष्मा मयूरग्रीवाभः शैत्यमाशुक्लिष्टस्यैव वैवर्ण्यं सोदकत्वमक्लिन्नत्वं च। (१।२१।११)

व्यञ्जन अर्थात् दाल, शाक में विष हो तो वे शीघ्र शुष्क पड़ जायेंगे। वे क्वाथ या काढ़े के समान श्याम दीखने लगेंगे। किसी-किसी में से फेन निकलने लगेगा, अथवा आकार विकृत हो जायगा। उन भोजनों के गन्ध, स्पर्श, रस आदि गुणों में भी अन्तर प्रतीत होगा।[1]

पतले शाकों या द्रव्यों में पुरुष की छाया का आकार ही दूसरे प्रकार का दिखाई देने लगता है। उनमें से फेन उठता है, कभी-कभी पानी अलग और शाक अलग हो जाता है। उसके ऊपर उठी हुई रेखा-सी दृष्टिगत होती है।[2]

शाक आदि के रस में विष हो, तो नीली पंक्ति, दूध में लाल, मद्य और जल में काली, दही में श्याम और शहद में सफेद धारियाँ दीखती हैं। आर्द्र (गीले) भोजन वासी जैसे दीखने लगते हैं, अथवा सड़ने लगते हैं, पकाये जाने पर ठीक से पकते नहीं और उनका क्वाथ नील-श्याम वर्ण का प्रतीत होता है।[3]

धातु और मणियों के पात्र विषाक्त भोजन के सम्पर्क से पंक (कीचड़) से लिप्त-जैसे दीखने लगते हैं। विष-मिली वस्तुओं की चिकनाहट (स्नेह), रंग (राग), गौरव (भारीपन), प्रभाव, वर्ण और स्पर्श इन सब गुणों में विकार उत्पन्न हो जाता है।[4]

यदि कोई व्यक्ति विष से मारा गया प्रतीत होता हो, तो उसके बचे भोजन की दूध से परीक्षा करनी चाहिए। उस मृतक का हृदय यदि आग में डाला जाय, तो यदि उसमें से चिट-चिट की ध्वनि निकले और जलते समय ज्वाला में इन्द्रधनुष का-सा रंग हो, तब उस व्यक्ति को विष द्वारा मारा गया मानना चाहिए।[5]

१. व्यञ्जनानामाशुशुष्कत्वं च क्वाथश्याम फेनपटलविच्छिन्नभावो गन्धस्पर्शरस-वधश्च। (१।२१।१२)

२. द्रव्येषु हीनातिरिक्तच्छायादर्शनम्। फेनपटलसीमान्तोर्ध्वराजीदर्शनं च। (१।२१।१३–१४)

३. रसस्य मध्ये नीला राजी, पयसस्ताम्रा, मद्यतोययोः काली, दध्नः श्यामा, च मधुनः श्वेता। द्रव्याणामार्द्राणामाशुअम्लानत्वमुत्पक्वभावः क्वाथेनीलश्यामता च। (१।२१।१५–१६)

४. लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहता। स्नेहरागगौरवप्रभाववर्णस्पर्शवधश्चेति विषयुक्तलिङ्गानि। (१।२१।२१–२२)

५. विषहतस्य भोजनशेषं पयोभिः परीक्षेत। हृदयादुद्धृत्याग्नौ प्रक्षिप्तं चिट-चिटायदिन्द्रधनुर्वर्णं वा विषयुक्तं विद्यात्। (४।७।१२–१३)

रासायनिक धूम और युद्ध

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे योग दिये हैं, जिनके द्वारा युद्ध के समय शत्रुओं को पीड़ा पहुँचायी जा सकती है। अर्थशास्त्र के चौदहवें प्रकरण को औपनिषदिक अधिकरण कहा गया है। इस अधिकरण में इस प्रकार के अनेक योग दिये गये हैं। मालूम नहीं कि ये योग कहाँ तक विश्वसनीय हैं। हम यहाँ उदाहरण के लिए कुछ योग देंगे।

१. **भोजन द्वारा शीघ्र प्राणहरण**—चितकबरा मेंढक, कौण्डिन्यक, कृकल, पंचकुष्ठ, शतपदी (कानखजूरा), इन सबके चूर्ण को भिलावा और बावची के रस में मिलाकर खिला दे या इनका धुआँ दे, तो शीघ्र मृत्यु होती है। यही बात उच्चिदिंग, कंबली कीड़े, कृकलास आदि के लिए भी है। गृह गोलिका, अंधा साँप, कृकणक (जंगली तीतर), पूतिकीट और गोमारिका—इनका भी चूर्ण भिलावा और बावची के रस में प्राणहर है। इनका धुआँ भी प्राणहर है।[1]

२. **धूम द्वारा प्राणहरण**—शतावरी, कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोल का घिसा हुआ लेप, उच्चिदिंग, कनेर, कटुतुम्बी और मत्स्य के धुएँ, धतूरा, कोदों, पलाल (पयाल) अथवा धनिया, ढाक अथवा पलाल के साथ हवा में उड़ाये जायँ तो जहाँ तक यह हवा जायगी, वहाँ तक लोगों को मार देगी।[2]

३. **अन्धीकर धूम**—पूतिकरंज, पत्रक, हरिताल, मनःशिला, गुञ्जा, लाल कपास, और पलाल—इनको स्फोट काँच और गोबर के रस में पीसा जाकर धुआँ दिया जाय, तो आँखों में लगने पर आँखें अन्धी हो जायँगी। साँप की कैंचुल (सर्पनिर्मोक), गोबर, घोड़े की लीद और अन्धे साँप का सिर—इनको मिलाने से भी अन्धीकर धूम तैयार होता है।[3]

१. **चित्रभेककौण्डिन्यककृकणपञ्चकुष्ठशतपदीचूर्णमुच्चिदिङ्गकंबलीशतकन्देध्मकृकलासचूर्णं गृहगोलिकान्धाहिककृकणकपूतिकीटगोमारिकाचूर्णं भल्लातकावल्गुकारसयुक्तं सद्यः प्राणहरमेतेषां वा धूमः। (१४।१।५)**

२. **शतकर्दमोच्चिदिङ्गकरवीरकटुतुम्बीमत्स्यधूमो मदनकोद्रवपलालेन हस्तिकर्णपलाशपलालेन वा प्रवातानुवाते प्रणीतो यावच्चरति तावन्मारयति। (१४।१।१०)**

३. **पूतिकरञ्जपत्रकहरितालमनःशिलागुञ्जारक्तकार्पासपलालान्यास्फोटकाचगोशकृद्रसपिष्टमन्धीकरो धूमः। सर्पनिर्मोकं गोश्वपुरीषमन्धाहिकशिरश्चान्धीकरो धूमः॥ (१४।१।१२-१३)**

४. **अन्धीकरण अंजन**—शारिका, कपोत, बगुला और बलाका—इनकी विष्ठा को आक, अक्षि, पीलु और स्नुही (सेंहुड़) के दूध में पीसने से अन्धीकरण अंजन तैयार होता है। यह पानी को भी विषैला बना देनेवाला मिश्रण है।[1]

५. **मदनयोग** (पागल बना देनेवाला)—जौ, शालिधान, मैनफल, चमेली, पत्रक, नरमूत्र, प्लक्ष, विदारीमूल, मूक गूलर, धतूरा, कोदों, हस्तिकर्ण (धनिया) और पलाश इनके क्वाथ आदि के योग से मदनयोग तैयार होता है।[2]

६. **नेत्रवध, उन्माद, कुष्ठ और प्रमेहकर योग**—कृतकण्डल, कृकलास, गृहगोलिका (छिपकली), अन्धा सर्प, इनका धुआँ दृष्टि का नाश कर देता है और उन्माद भी उत्पन्न करता है।

गिरगिट (कृकलास) और गृहगोलिका को मिलाकर खिलाने से कुष्ठरोग उत्पन्न होता है।

इस योग में चितकबरे मेंढक की आँत और मधु मिलाकर खिलाने से प्रमेह रोग उत्पन्न होगा।[3]

७. **विषूचिकाकर योग**—दूषी विष, धतूरा, कोदों के चूर्ण और दीमक-कीट के साथ तैयार किये योग से अथवा मातृक पक्षी, अञ्जलिकार ओषधि, प्रचलाक, मेढक, अक्षिवृक्ष, पीलु वृक्ष, इनसे तैयार किये गये योग से विषूचिका रोग उत्पन्न होता है।[4]

८. **ज्वरकर योग**—पञ्चकुष्ठक (कूट के पाँचों अंग), कौण्डिन्यक कीड़ा, अमलतास, मधु और महुआ इनके मिलाने से ज्वर रोग उत्पन्न करनेवाला योग तैयार होता है।[5]

१. **शारिका-कपोत-बक-बलाका-लेण्डमर्काक्षिपीलुक-स्नुहीक्षीरपिष्टमन्धी-करण-मञ्जनमुदकदूषणं च। (१४।१।१६)**
२. **यवकशालिमूलमदनफलजातीपत्रनरमूत्रयोगः प्लक्षविदारीमूलयुक्तो मूकोदुम्बर-मदनकोद्रवक्वाथयुक्तो हस्तिकर्णपलाशक्वाथ युक्तो वा मदनयोगः। (१४।१।१७)**
३. **कृतकण्डलकृकलासगृहगोलिकान्धाहिकधूमो नेत्रवधमुन्मादं च करोति। कृकलासगृहगोलिकायोगः कुष्ठकरः। स एव चित्रभेकान्त्रमधुयुक्तः प्रमेह-मापादयति। (१४।१।२०–२२)**
४. **दूषीविषं मदनकोद्रवचूर्णमुपजिह्विकायोगः मातृवाहकाञ्जलिकारप्रचलाक-भेकाक्षिपीलुक योगो विषूचिकाकरः। (१४।१।२४)**
५. **पञ्चकुष्ठककौण्डिन्यकराजवृक्षमधुपुष्पमधुयोगो ज्वरकरः। (१४।१।२५)**

निर्देश

चाणक्य–**कौटिलीय अर्थशास्त्र**—गंगाप्रसाद शास्त्री द्वारा अनूदित, महाभारत कार्यालय, मालीवाड़ा, दिल्ली (१९९७ वि०)।

आर० श्यामशास्त्री—**कौटिलीय अर्थशास्त्र** (अंग्रेजी अनुवाद), मैसूर (१९२९)।

गणपति शास्त्री—**अर्थशास्त्रम्**, त्रिवेन्द्रम् संस्कृतसीरीज़, गवर्नमेंट प्रेस, ट्रिवेण्ड्रम्।

सत्यप्रकाश–**वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा**, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना (१९५४)।

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्य और बौद्ध तान्त्रिक

शाब्दिक रूप से 'तन्त्र' का अभिप्राय विधि, नियम अथवा शास्त्र से है। उदाहरण के लिए शंकराचार्य ने "सांख्य-तंत्र", इस प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया है। तन्त्र शब्द या तो 'तन्' धातु से निकला है, जिसका अर्थ प्रसार या फैलाना है,अथवा यह 'ततृ' या 'तन्तृ' धातु से भी बन सकता है, जिसका अर्थ 'व्युत्पादन' है। पहली व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है "तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन, इति तन्त्रम्"। शैवसिद्धान्त के **कामिक आगम** के तन्त्रान्तर पटल में तन्त्र के संबंध में यह कहा गया है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् इसका नाम तन्त्र इसलिए है कि यह तत्त्व और मंत्र-संबंधी विपुल अर्थों का विस्तार करता है, और इसलिए भी कि यह त्राण या रक्षा करता है।

तंत्र न केवल शाक्तों के हैं, यह आगम के अन्य संप्रदायों के भी हैं; शैवों के भी और वैष्णवों के भी। आगम से अभिप्राय उन शास्त्रों से है जिनमें सगुण ईश्वर की भक्ति-साधना प्रतिपादित है। आगम का उपयोग प्रत्येक वर्ण, पुरुष और नारी सबके लिए है। वैदिक आचार के बन्धन से यह मुक्त है। आगम के तीन वर्ग हैं, जो क्रमशः शक्ति, शिव अथवा विष्णु की उपासना का विधान करते हैं—शाक्त आगम, शैवागम और वैष्णवागम। इन आगमों में से कुछ को वैदिक और कुछ को अवैदिक माना जाता है। कूर्म पुराण (१६।१) ने अवैदिक आगमों में निम्न को गिनाया है—कपाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पंचरात्र, पाशुपत इत्यादि। लाकुल के समान पाशुपत भी वैदिक और अवैदिक दोनों है।

सनत्कुमार संहिता के अनुसार शैवागम दो प्रकार का है--श्रौत और अश्रौत। श्रौत को श्रुतसारमय कहा गया है, और यह दो प्रकार का है—स्वतन्त्र और इतर। स्वतंत्र के भी दश भेद हैं। इसके बाद सिद्धान्त को १८ प्रकार का बताया गया है। इतर को 'श्रुतिसार' कहा है, जिसके भी सैकड़ों भेद हैं।[1]

१. **श्रौताश्रौतविभेदेन द्विविधस्तु शिवागमः ।**
श्रुतिसारमयः श्रौतः सः पुनर्द्विविधो मतः ॥

यद्यपि प्रत्येक आगम अपना मूल स्रोत श्रुतियों को ही बताता है, पर आचार-विचार के अनुसार सबमें बहुत-से भेदोपभेद हो गये हैं। शैवों के कई उपसंप्रदाय हैं। शाक्तों के नौ आम्नाय और चार सम्प्रदाय (केरल, कश्मीर, गौड और विलास) हैं। इनके फिर दो-दो भेद हैं (देखो **सम्मोहन तंत्र**, अ० ५)। उत्तर भारत के कश्मीर का शैवतंत्र 'त्रिक्' कहलाता है, दक्षिण का 'शैव-सिद्धान्त' कहलाता है। शाक्त भी समस्त देश में फैले हुए हैं, यद्यपि प्रधानतया वे बंगाल और आसाम में हैं। अर्धनारीश्वर मूर्ति के शिव पार्श्व की शैव, और शक्ति-पार्श्व की शाक्त उपासना करते हैं। आगमवादी शैव और शाक्त सभी ३६ तत्त्व मानते हैं। इनमें पृथिवी से प्रकृति तक २४ तत्त्व हैं, जिनमें पुरुष, माया, पाँच कंचुक (कला, काल, नियति, विद्या और राग), शुद्ध विद्या (या सद् विद्या), शक्ति और शिव सम्मिलित हैं। इन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है—शिवतत्त्व, विद्यातत्त्व, आत्मतत्त्व अथवा शुद्ध, शुद्धाशुद्ध तथा अशुद्धतत्त्व। शिव-शक्ति तत्त्व से लेकर सद्विद्यातत्त्व तक सब शुद्ध तत्त्व कहलाते हैं। प्रकृति से पृथिवी तक के २४ तत्त्व अशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं, और इन दोनों के बीच के तत्त्व शुद्धाशुद्ध तत्त्व कहलाते हैं।

दूसरे विभाजन के अनुसार शिव-तत्त्व के वर्ग में शिवतत्त्व और शक्ति-तत्त्व आते हैं। विद्यातत्त्व से अभिप्राय सदाशिव से लेकर सद्विद्या तक है, और आत्मतत्त्व से अभिप्राय माया और कञ्चुकों से लेकर पृथिवी तक के तत्त्वों से है।

छत्तीस तत्त्वों की सूची इस प्रकार है—

१. शिव	१०. काल	१९. चक्षु	२८. स्पर्श
२. शक्ति	११. नियति	२०. जिह्वा	२९. रूप
३. सदाशिव	१२. जीव	२१. घ्राण	३०. रस
४. ईश्वर	१३. प्रकृति	२२. वाक्	३१. गंध
५. शुद्ध विद्या	१४. मन	२३. पाणि (हाथ)	३२. आकाश
६. माया	१५. बुद्धि	२४. पाद	३३. वायु
७. विद्या (अविद्या)	१६. अहंकार	२५. पायु	३४. तेज
८. कला	१७. श्रोत्र	२६. उपस्थ	३५. जल
९. राग	१८. त्वक्	२७. शब्द	३६. पृथ्वी

स्वतंत्र इतरश्चेति स्वतंत्रो दशधा पुरा॥
तथाऽष्टदशधा पश्चात् सिद्धान्त इति गीयते।
इतरः श्रुतिसारस्तु शत-कोटि-प्रविस्तरः॥ (सनत्कुमारसंहिता)
(वायुसंहिता १।२८ भी देखो)

शाक्तों के तीन वर्ग बताये गये हैं। कौल या शाक्त शास्त्र के ६४ तन्त्र हैं, मिश्र के ८ तन्त्र हैं और समय-वर्ग के ५ तंत्र हैं। शाक्त आगम तीन प्रकार के हैं। सात्त्विक अधिकारियों के लिए जिन आगमों का उपदेश किया गया है उन्हें 'तंत्र' कहते हैं, जो राजस प्रवृत्तिवालों के लिए हैं, उन्हें 'यामल' कहा जाता है, और तामस प्रवृत्तिवालों के लिए जो हैं, उन्हें 'डामर' कहा जाता है। तांत्रिकों के सर्वश्रेष्ठ कौलाचार को ही अवधूत मार्ग बताया गया है। तांत्रिकों और अवधूतों में भी बहुधा भेद किया जाता है। तांत्रिक लोग पहले बहिरंग उपासना करते हैं और अन्त में क्रमशः सिद्धि प्राप्त करते हुए कुण्डलिनी शक्ति की उपासना करते हैं, जो वस्तुतः सर्वथा अवधूत मार्ग की उपासना है। अवधूतों, कापालिकों और इसी प्रकार के अन्य तांत्रिकों के मूल उपास्य देवता शिव हैं, इन्हें आदिनाथ कहा जाता है। शंकराचार्य के अद्वैत मत का पराभव एक कापालिक के द्वारा हुआ, जिसका उल्लेख 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' में है। कापालिक और अवधूत दोनों इस अर्थ में 'नाथ-मत' में हैं, कि श्री "नाथ" ने ही दोनों को प्रकट किया। कापालिकों के बारह आचार्यों में[1] प्रथम नाम आदिनाथ का ही है, और बारह शिष्यों में से कई नाथ-मार्ग के आचार्य भी हैं।[2]

शाक्त मतानुसार चार प्रधान आचार हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त, जिनमें उत्तरोत्तर एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं, अर्थात् शाक्ताचार श्रेष्ठतम है, और वैदिक निम्नतम। शाक्त आचार भी चार तरह के हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें कौलाचार श्रेष्ठतम है। कौलमार्ग ही अवधूत मार्ग है। तांत्रिकों का कौलमार्ग और कापालिक मत दोनों ही नाथ-मत के अनुयायी कहे जाते हैं।

नाथ-पंथी

नाथ-पंथियों का मुख्य संप्रदाय गोरखनाथी योगियों का है। इन्हें साधारणतया कनफटा और दर्शनी साधु कहा जाता है, (कनफटा इसलिए कि ये कान फाड़कर उनमें मुद्रा धारण करते हैं, और मुद्रा के नाम पर ही इन्हें दर्शनी कहा जाता है।) गोरखनाथी साधु सारे भारतवर्ष में आज भी बिखरे हुए हैं। पंजाब, हिमालय के

१. कापालिकों के बारह आचार्य—आदिनाथ, अनादि, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव, नाथ, बटुकनाथ, वीरनाथ और श्रीकण्ठ।
२. कापालिकों के बारह शिष्य—नागार्जुन, जड़ भरत, हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष, चर्पट, अवद्य, वैरागी, कंथाधारी, जालंधर और मलयार्जुन।

पाददेश, बंगाल और बंबई में ये लोग "नाथ" कहे जाते हैं। गोरखनाथी मुख्यतया बारह शाखाओं में विभक्त हैं—सत्यनाथी, धर्मनाथी, रामपंथी, नाटेश्वरी, कन्हड़, कपिलानी, वैरागपंथी, माननाथी, आईपंथी, पागलपंथी, धजपंथी और गंगानाथी। उड़ीसा में सत्यनाथी, नेपाल में धर्मनाथी, गोरखपुर में रामपंथी, बंगाल में कपिलानी, बंगाल के दिनाजपुर ज़िले में आईपंथी, पंजाब में पागलपंथी और गंगानाथी विशेषतया पाये जाते हैं। कच्छ में कन्हड़ और पुष्कर के आस-पास वैरागपंथी हैं। यह बारह पंथ तो आजकल के हैं। कहा जाता है कि आरंभ में शिव ने बारह पंथ चलाये थे और गोरखनाथ ने भी बारह चलाये। पर दोनों दल आपस में लड़ने-झगड़ने लगे, तो गोरखनाथ ने स्वयं शिव के छः पंथ तोड़ दिये और छः पंथ अपने तोड़ दिये, इस प्रकार दोनों के मिलाकर बारह पंथ फिर से स्थापित किये।[1]

पुराने सिद्ध

'हठयोगप्रदीपिका' में बहुत से ऐसे सिद्धों के नाम दिये हुए हैं, जिन्हें अन्धविश्वासी आज भी जीवित और ब्रह्मांड में विचरते हुए मानते हैं। इस सूची में ये नाम हैं—

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, सारदानंद, भैरव, चौरंगी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबोध, कन्हड़ीनाथ, कोरंटक नाथ, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटीनाथ, कासेरीनाथ, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजननाथ, कापालिनाथ, बिंदुनाथ, काकचण्डीश्वर, मयनाथ, अक्षयनाथ, प्रभुदेव, घोड़ा चूलीनाथ, टिण्ढिणीनाथ, भल्लरीनाथ, नागबोध और खण्डकापालिका। भिन्न-भिन्न स्थलों में सिद्धों की भिन्न-भिन्न सूचियाँ मिलती हैं। नेपाल की एक परंपरा में सर्वथा भिन्न नाम गिनाये गये हैं—प्रकाश, विमर्श, आनन्द, ज्ञान, सत्य, पूर्ण, स्वभा, प्रतिभा और विभग।

१. शिव-प्रवर्त्तित ६ पंथ जो बचे रहे—भुज (कच्छ) के कंठरनाथ, पेशावर और रोहतक के पागलनाथ, अफगानिस्तान के रावल, पंख या पंक, मारवाड़ के वन और गोपाल या राम के।

गोरखनाथ-प्रवर्त्तित ६ पंथ जो बचे—हेठनाथ, आईपंथ के चोलीनाथ, चाँदनाथ कपिलानी, रतननाथ और वैरागपंथ (मारवाड़) जयपुर के पावनाथ और धजनाथ महावीर।

आजकल जो बारह पंथ माने जाते हैं, वे ये हैं—सतनाथ, रामनाथ, धरमनाथ, लक्ष्मणनाथ, दरियानाथ, गंगानाथ, बैराग, रावल या नागनाथ, जालंधरिया, आईपंथ, कपिलानी और धजनाथ।

सिद्धों की संख्या प्रत्येक युग में बढ़ती गयी, चौरासी सिद्धों की बात लोक में अब तक प्रचलित है। 'वर्णरत्नाकर' में नाथसिद्धों की एक सूची दी हुई है जिसमें ७६ सिद्धों के नाम हैं। राहुल सांकृत्यायन ने सहयानियों के ८४ सिद्धों की एक सूची प्रकाशित की है ('गंगा का पुरातत्त्वांक' १९८९ वि०)। 'वर्णरत्नाकर', 'महार्णवतन्त्र', 'हठयोगप्रदीपिका', 'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह', 'योगिसंप्रदायनिष्कृति', 'सुधाकर चन्द्रिका' और 'ज्ञानेश्वर चरित्र', इन सबकी यदि सूची बना ली जाय, तो सिद्धों की संख्या १३७ तक पहुँचती है (राहुलजी की सूची को छोड़कर)। इन सूचियों में नागार्जुन, मन्थानभैरव, नित्यनाथ, काकचंडीश्वर, भैरव आदि ऐसे नाम हैं, जिन्होंने रसतंत्र संबंधी ग्रन्थ भी लिखे।

यह स्मरण रखना चाहिए कि नाथ परंपरा में आदिनाथ के बाद सबसे महत्त्वपूर्ण नाम आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ का है, जो मीननाथ और मछन्दरनाथ के नाम से लोकप्रिय हुए। इनके संबंध की बहुत-सी कथाएँ लोक में प्रचलित हैं। 'कौलज्ञाननिर्णय' के अनुसार यह मत्स्येन्द्रनाथ ही कौलमार्ग के प्रथम प्रवर्त्तक थे। "कुल" का अर्थ है शक्ति और "अकुल" का अर्थ है शिव। कुल से अकुल का संबंध स्थापन ही कौल-मार्ग है।[1] मत्स्येन्द्रनाथ के समान ही जालंधरनाथ और कृष्णपाद की महिमा भी मानी गयी है। जालंधरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के गुरु-भाई माने जाते हैं। कृष्णपाद जालंधरनाथ के शिष्य थे, और इनका नाम कण्हपा, कान्हूपा, कानपा आदि प्रसिद्ध है। कोई तो इन्हें कर्णाटक का मानता है, और कोई उड़ीसा का। जालंधर और कृष्णपाद ने कापालिक मत का प्रवर्त्तन किया। कापालिक शब्द क्यों इस वर्ग के लिए पड़ा, यह कहना कठिन है। 'चर्याचर्यविनिश्चय' की टीका में दातड़ीपाद का एक श्लोक है,[2] जिसमें कहा गया है कि प्राणी वज्रधर है, जगत् की स्त्रियाँ कपालवनिता (कपालिनी) हैं, और साधक हेरुक भगवान् की मूर्ति है (पौराणिक मत में हेरुक शिव का एक गण है)। कापालिकों की साधना स्त्रियों के योग से होती है। अतः इस श्लोक के आधार पर इस मत को कापालिक कहा गया माना जा सकता है।

कापालिक की साधना में स्त्री की सहायता आवश्यक है। रसतंत्र ग्रन्थों में भी

१. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलेऽस्य संबंधः कौलमित्यभिधीयते ॥ (सौभाग्य-भास्कर, पृ० ५३)

२. प्राणी वज्रधरः कपालवनितातुल्यो जगत्स्त्रीजनः।
सोऽहं हेरुकमूर्त्तिरेष भगवान् यो नः प्रभिन्नोऽपि च ॥

नारी की सहायता सर्वत्र आवश्यक मानी गयी है।[१] कापालिकों की परम्परा हमारे देश में बड़ी पुरानी है। 'मालतीमाधव' में कापालिकों का वर्णन मिलता है; 'मालती-माधव' का कापालिक अपनी शिष्या कपालकुण्डला के साथ योग-साधन करता था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में सोमसिद्धान्त नामक कापालिक का वर्णन है। राजशेखर कवि की लिखी 'कर्पूरमञ्जरी' में भैरवानन्द नामक कापालिक की चर्चा है। 'रसार्णव' ग्रन्थ में कापालिक योगों का अनेक स्थलों पर उल्लेख आता है, मानों उन्होंने धातुओं के मारण की कोई विशेष विधि निकाली हो।[२]

बौद्ध वज्रयानी सिद्ध

भारतवर्ष में सर्वत्र ही सिद्धों का उदय छठी से ११वीं शती के बीच में हुआ। तिब्बत देश में भी सिद्धों का व्यापक प्रभाव था। तिब्बत के सिद्धों की सूची इस प्रकार है—लूहिपा, लोल्लप, विरूपा, डोम्भीपा, शबरीपा, सरहपा, कंकालीपा, मीनपा, गोरक्षपा, चोरंगीपा, वीणापा, शांतिपा, तंतिपा, चमरिपा, खंड्गपा, नागार्जुन, कराहपा, कर्णरिपा, थगनपा, नारोपा, शलिपा, तिलोपा, छत्रपा, भद्रपा, दोखंधिपा, अजोगिपा, कालपा, धोम्भिपा, कंकणपा, कमरिपा, डेंगिपा, भदेपा, तंधेपा, कुकरिपा, कुसूलिपा, धर्मपा, महीपा, अचिंतिपा, भलहपा, नलिनपा, भुसुकपा, इंद्रभूति, मेकोपा, कुड़ालिपा, कमरिपा, जालंधरपा, राहुलपा, धर्मरिपा, धोकरिपा, मेदिनीपा, पंकजपा, घटापा, जोगीपा, चेलुकपा, गुंडरिपा, लुचिकपा, निर्गुणपा, जयानंत, चर्पटीपा, चंपकपा, भिखनपा भलिपा, कुमरिपा, जवरिपा, मणिभद्रा, मेखला, कनखलपा, कलकलपा, कंतलिपा, धहुलिपा, उधलिपा, कपालपा, किलपा, सागरपा, सर्वभक्षपा, नागबोधिपा, दारिकपा, पुतलिपा, पनहपा, कोकालिपा, अनंगपा, लक्ष्मीकरा, समुदपा और भलिपा।

इन नामों के अन्त में "पा" प्रत्यय जो लगा है, वह संस्कृत "पाद" शब्द का लघुरूप है। राहुलजी का ऐसा विचार है कि तिब्बत के सिद्धों की परम्परा "सरहपा" से आरंभ हुई होगी, और नारोपा पर पूरी हुई होगी। सरहपा चौरासी सिद्धों में सर्व-प्रथम रहा होगा इसका प्रमाण अन्यत्र भी मिलता है।

१. रसार्णव में रसकर्म में सहायता देने के लिए काकिणी, कीकणी, काञ्चिकाचिनी, पद्मिनी आदि नारियों के गुणों का वर्णन है। (२।१७–२६)

२. वंगतीक्ष्णकपाली (रसार्णव १६।४५), वैक्रान्तनागकपाली (१६।४६), वंगाभ्रक कपाली (१४।६४), तीक्ष्ण शुल्व कपाली (१४।७७), नागाभ्रक कपाली (१४।१३७), शुल्वाभ्रक कपाली (१४।१३६) आदि।

लामा तारानाथ की एक पुस्तक से पता चलता है कि सरहपा, नागार्जुन, शबरी, लुई, डोम्बी, नारोपा और तेलोपा महामुद्रा के प्रभाव द्वारा अनुप्राणित थे। विरूपा, डोम्बी, हेरुक जैसे सिद्ध चण्डिका की किसी साधना से प्रभावित थे और इंद्रभूति, अनंगवज्रादि कर्म-मुद्रा के साधक थे। सिद्धों की एक चित्रावली भी उपलब्ध है, जिसमें उनके नाम के द्योतक चित्र बनाये गये हैं, जैसे नागार्जुन का सर्पों से घिरा रहना, डोम्भिपा का व्याघ्र के ऊपर सवार होकर सर्प से परिवेष्टित होना, भलिपा एक वृक्ष से टँगे जान पड़ते हैं, नारोपा एवं तेलोपा अपनी पीठ पर शव लिए हुए हैं, इत्यादि इत्यादि।

रसायन से संबंध

बौद्ध और आर्य तान्त्रिकों ने रसायन का अवलंबन क्यों किया, यह एक विचारणीय विषय है। ऐसा प्रतीत होता है, रसाचार्यों के आविर्भाव के समय भारतीय जनता परोक्ष, परलोक और मृत्यु के अनन्तर मुक्ति प्राप्त करने के लिए अधिक उत्सुक थी, और उसी के निमित्त यज्ञ-याग आदि करती थी। उसकी प्रतिक्रिया में रस-तंत्र का उदय हुआ। मरने के बाद मुक्ति प्राप्त हुई तो क्या लाभ ! शरीर जीवित रहते ही अमरत्व मिले, तो वास्तविक कल्याण हो सकता है। 'रसार्णव' में पार्वती भैरव-महादेव से कहती हैं कि जीवन्मुक्ति किस प्रकार प्राप्त हो सकती है, इसका आप उपदेश करें। भैरव स्पष्ट समर्थन करते हैं कि "पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः", अर्थात् शरीर के न रहने पर यदि मोक्ष मिला, तो वह निरर्थक है। वे आगे कहते हैं कि "पिण्डे तु पतिते देवि गर्दभोऽपि विमुच्यते।" अर्थात् शरीर न रहने पर तो गदहा भी मुक्त हो जाता है। इसलिए इस पिंड को सुरक्षित रखने का प्रयत्न होना चाहिए। पिंड का सुरक्षित रखना रस और रसायन से ही संभव है। वैदिक साहित्य के षड्-दर्शन तो पिण्ड-पातन पर मुक्ति होना दर्शाते हैं, और वह मुक्ति कहीं प्रत्यक्ष हस्तामलकवत् दीखती नहीं। मरने के बाद किसने देखा है कि क्या होगा !

इस दृष्टिकोण से प्रेरित होकर तान्त्रिकों ने रसविद्या के विकास में रुचि दिखायी। उन्होंने इस दिशा में क्या किया, यह आगे के विवरणों से स्पष्ट हो जायगा।

तांत्रिक लोग सोना और चाँदी बनाने के चक्कर में क्यों फँसे ? हो सकता है कि मूढ़ जनता पर आतंक जमाने के लिए चमत्कार दिखाना और प्रलोभन देकर अपनी ओर आकर्षित करना उन्हें अभीष्ट था। अथवा उस युग में समस्त देशों में सोना बनाने के प्रयोग हो रहे थे, और उनके प्रभाव से तान्त्रिक भी मुक्त न रह सके। रसायनों की सहायता से जो मिश्र-धातुएँ बनीं उनमें चाँदी से मिलता-जुलता सफेद रंग और सोने का-सा पीला रंग भी मिला, जिसने उनकी आस्था को इस दिशा में सम्पुष्ट कर दिया।

निर्देश

१. सर जॉन वुड्रफ—शक्ति एण्ड शाक्त, गणेश एण्ड कंपनी, मद्रास (१९२९)

२. जार्ज वेस्टनब्रिग्स—गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज, कलकत्ता (१९३८)

३. प्रबोधचंद्र बागची—स्टडीज इन द तंत्र, कलकत्ता (१९३९)

४. हजारीप्रसाद द्विवेदी—'नाथ संप्रदाय', हिन्दुस्तानी एकेडेमी इलाहाबाद (१९५०)

५. परशुराम चतुर्वेदी—बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, साहित्यभवन, इलाहाबाद (१९५८)।

बारहवाँ अध्याय

नागार्जुन का आविर्भाव

(आठवीं शती)

भारतीय रसायन के इतिहास में नागार्जुन का नाम परम उल्लेखनीय है। यह ठीक है कि वैदिक काल में ही चिकित्सा और उद्योगों के साथ-साथ रसायन के कुछ मूल तत्त्वों की कल्पना आरंभ हो गयी थी, पर तंत्र-युग में पारद और गन्धक के साथ-साथ महारसों, उपरसों और अन्य साधारण रसों एवं धातुओं का योग करके रसायन में एक नया ही क्षेत्र आरंभ किया गया। रसायन के इस नवीन प्रयोग में अनेक आचार्यों और सिद्धों ने चमत्कारपूर्ण कार्य किया। इन व्यक्तियों में नागार्जुन का स्थान निस्सन्देह बहुत ऊँचा है।

नागार्जुन की कृति जो हमें प्राप्त है, वह **रसरत्नाकर** अथवा **रसेन्द्रमंगल** है। कहा जाता है कि **कक्षपुटतंत्र** और **आरोग्यमंजरी** ये दो ग्रन्थ भी उसके थे। डल्हण ने **सुश्रुत** की टीका में एक स्थान पर नागार्जुन को सुश्रुत का प्रतिसंस्कर्ता भी बता दिया है, जो अधिक जँचता नहीं है—

"यत्र यत्र परोक्षे लिट् प्रयोगस्तत्र तत्रैव प्रतिसंस्कर्त्तृसूत्रं ज्ञातव्यमिति। प्रतिसंस्कर्त्ताऽपीह नागार्जुन एव।"

नागार्जुन कौन था और उसका अवधिकाल क्या माना जाय; इसके संबंध में विवाद है। बौद्धों के महायान संप्रदाय का प्रवर्त्तक और माध्यमिकों का आचार्य भी एक नागार्जुन था, जो संभवतः ईसा की दूसरी शती के अन्त अथवा तीसरी शती के प्रारम्भ का माना जा सकता है। रसरत्नाकर ग्रन्थ भी बौद्ध महायानियों का एक तंत्र ग्रन्थ है। इसमें बुद्धों का उल्लेख है[१] और एक स्थल पर प्रज्ञापारमिता का भी निर्देश है, जिसने नागार्जुन को स्वप्न में दर्शन दिया और रसायन विद्या का उपदेश किया।[२]

१. **प्रणिपत्य सर्वबुद्धान् (सद्बोधान्) सकलदोषनिर्मुक्तान्।**
वक्ष्ये सर्वहितार्थं कक्षापुटं सर्वसिद्धिकरम्॥

२. **प्रज्ञापारमिता निशीथसमये स्वप्ने प्रसादीकृतम्।**
नाम्ना तीक्ष्णमुखं रसेन्द्रममलं नागार्जुनप्रोदितम्॥

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने इतिहास के अन्त में **रसरत्नाकर** शीर्षक के अन्तर्गत जो उद्धरण दिये हैं, उनमें इस ग्रन्थ का नाम **रसेन्द्रमंगल** भी प्रतीत होता है। एक स्थल पर तो द्वितीय-अधिकरण के अन्त में निम्न वाक्य है—

"इति नागार्जुनविरचिते रसरत्नाकरे वज्रमारणसत्त्वपातन-अभ्रकादिद्रुति-द्रावण-वज्रलोहमारणाधिकारो नाम द्वितीयः।"

और अन्यत्र इस प्रकार के भी वाक्य हैं—

"अथातो रसेन्द्रमंगलानि यन्त्रविधिः।"

"इति रसेन्द्रमंगलं समाप्तम्।"

इस **रसरत्नाकर** या **रसेन्द्रमंगल** में नागार्जुन को महान् सिद्ध और पर्वतप्रदेश (श्रीशैल) का रहनेवाला बताया गया है।[1] **रसरत्नाकर** में रसायन विद्या संबंधी

१. श्रीशैलपर्वतस्थायी सिद्धो नागार्जुनो महान्।
सर्व्वसत्त्वोपकारी च सर्वभाग्यसमन्वितः।
प्रार्थितो ददते शीघ्रं यश्च पश्यति यादृशम्।
दृष्ट्वा त्यागञ्च भोगञ्च सूतकस्य प्रसादतः॥
सर्वसत्त्वामयावेधी स्वरसेन तथैव च।
तेषां मध्ये प्रधानश्च रत्नघोषः प्रचारकः।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा नागार्जुनपुरः स्थितः।
पृच्छते रसकर्माणि विद्यादानं ददस्व मे॥

श्रीनागार्जुन उवाच—

साधु साधु महाप्राज्ञ तुष्टोऽहं भक्तवत्सलः।
कथयामि न सन्देहस्तत्वया परिपृच्छ्यताम्॥
बलीपलितनाशञ्च तथा कालस्य ध्वंसनम्।
यथा लोहे तथा देहे क्षमते नात्र संशयः॥
सत्त्वानां भोजनार्थाय साधिता वटयक्षिणी।
द्वादशानि च वर्षाणि महाक्लेशः कृतो मया॥
तत्कालदृष्टद्रव्याणां दिव्या वाणी मया श्रुता।
अदृष्टप्रार्थिता पश्चाद् दृष्टा त्वं भव साम्प्रतम्॥

श्रीवटयक्षिण्युवाच—

साधु साधु महासिद्ध.......
किंचित्प्रार्थय मे सिद्ध तत्सर्वं प्रददाम्यहम्॥

विषयों का प्रतिपादन संवाद के रूप में किया गया है। यह संवाद रत्नघोष, नागार्जुन, वटयक्षिणी, शालिवाहन और माण्डव्य के बीच में हैं। रत्नघोष और माण्डव्य उस समय

श्रीनागार्जुन उवाच--

यदि तुष्टासि मे देवि सर्वदा भक्तवत्सले।
दुर्लभं त्रिषु लोकेषु रसबन्धं ददस्व मे॥

शालिवाहन उवाच--

सुवर्णरत्नभाण्डारं कुमारी मदसुन्दरी।
निवेदितो मयात्मा मे आदेशो देवि दीयताम्॥
साधु साधु महाप्राज्ञ ममादेशप्रपालक।
साधयामि न सन्देहो युष्मत्सत्येन साधकम्॥
पुनरन्यं प्रवक्ष्यामि माण्डव्येन यथा कृतम्।
रसोपरसयोगेन सिद्धं सूतं सुसाधितम्॥
विद्धशुल्वायनं नागं यथार्थकाञ्चनं कृतम्।

० ० ० ०

शास्त्रं वसिष्ठमाण्डव्यं गुरुपार्श्वे यथा श्रुतम्।
तदहं सम्प्रवक्ष्यामि साधनञ्च यथाविधि॥
सहायशोभनाः प्राज्ञा निरालम्बा दृढव्रताः।
कुलीनाः पापहीनाश्च साधयन्ति जितेन्द्रियाः॥
कोष्ठिका वक्रनालञ्च गोमयं सारमिन्धनम्।
धमनं लोहपत्राणि औषधं काञ्जिकं विडम्॥
कन्दराणि विचित्राणि.................
सर्वमेलायनं कृत्वा ततः कर्म समारभेत्॥

रत्नघोष उवाच--

साधयित्वा प्रयत्नेन कोटिवेधी महारसः।
शरीरेण विनैतेन सर्वं भवति निष्फलम्॥

नागार्जुन उवाच--

कथयामि न सन्देहः साकाण्डेन यथा कृतम्।
आर्द्रत्वञ्च घनत्वञ्च चापल्यं गुरुतेजसः।
यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्याद् गुरु सूतकम्॥

के बड़े विख्यात रसायनाचार्य माने जाते थे और उनका उल्लेख प्रतिष्ठा-पूर्वक इस ग्रन्थ में ही नहीं, अन्यत्र भी किया जाता रहा है। शालिवाहन कौन था, इसके संबंध में विवाद है।

रत्नघोष हाथ जोड़कर नागार्जुन के समक्ष उपस्थित है, और रसकर्म संबंधी विद्या-दान के लिए प्रार्थी है। नागार्जुन उस पर प्रसन्न हो जाता है और वचन देता है कि जो तुम पूछोगे उसका उत्तर दूंगा, उन सब ओषधियों को बताऊँगा, जिनसे मुख की झुर्रियाँ दूर हों, बाल श्वेत न पड़ें और वुढ़ापा न आये। उसने घोषित किया कि इन ओषधियों का जैसा प्रभाव धातुओं (लोह) पर पड़ता है, वैसा ही शरीर पर भी। नागार्जुन ने यह भी बताया कि जीवित प्राणियों के हित के लिए मैंने बारह वर्ष महाक्लेश सहते हुए साधना की और वट-यक्षिणी (वट वृक्ष पर निवास करनेवाली यक्षिणी) की सेवा की, तब मैंने दिव्यवाणी सुनी। उस वाणी ने मुझ पर प्रसन्न होकर कहा "महासिद्ध! साधु! साधु! जो कुछ तुमने प्रार्थना की है वह सब दूंगी।" इसके उत्तर में नागार्जुन ने माँगा कि हे देवि! यदि तुम मुझ पर प्रसन्न हो तो मुझे रसबन्ध (पारा बाँधने) की विधि बताओ, जो तीनों लोकों में दुर्लभ है। आगे चलकर संवाद में शालिवाहन कहता है कि हे देवि! मैंने स्वर्ण और रत्न ये सब निछावर किये। अब मुझे आदेश दो। इस पर देवी ने कहा, "साधु-साधु, हे महाप्राज्ञ, मेरी आज्ञा के हे प्रपालक! मैं तुझे वह विधियाँ बताऊँगी, जिनको माण्डव्य ने सिद्ध किया है। ऐसे-ऐसे योग बताऊँगी, जिनसे सिद्ध किये हुए पारे द्वारा साधारण ताँबा, सीसा आदि धातुएँ स्वर्ण बन जाती हैं। इस विद्या को प्राप्त करनेवाला शिष्य कुलीन, प्राज्ञ, निरालम्ब और दृढ़व्रती एवं पाप-वासना से हीन होना चाहिए। इन विधियों में कोष्ठिका, वक्रनाल (blow pipe), गोबर, लकड़ी का ईंधन, धौंकनी, लोहपात्र, औषध, काञ्जी, विड आदि के प्रयोग होंगे, अतः इनका संग्रह होना चाहिए।

रत्नघोष ने कोटिवेधी महारस तैयार किया था, जिसका एक भाग करोड़ भाग सामान्य धातु को सोने में परिवर्त्तित कर सकता था। पर रत्नघोष का कहना है कि शरीर को जरा-मृत्यु की व्याधियों से यदि दूर न किया जा सका, तो ये कोटिवेधी महा-रस निष्फल ही तो होंगे।

नानावर्णं भवेत्सूतं विहाय घनचापलम्।
लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्च्छितं तं वदन्ति हि॥
गुरुत्वमरुणत्वं वा तेजो भास्करसन्निभम्।
अग्निमध्ये यथा तिष्ठेत् खोटबन्धस्य लक्षणम्॥

इस संवाद में आगे चलकर नागार्जुन कहता है कि साकाण्ड ने जो-जो प्रयोग किये, वे सब मैं तुम्हें बताऊँगा।

मरे हुए या बँधे हुए पारे का लक्षण नागार्जुन इस प्रकार बताता है—आर्द्रत्व, घनत्व, चपलता, गुरुत्व, चमक, जिसमें ये गुण न हों उसे 'गुरुसूतक' (बद्ध पारा) मानना चाहिए। घनता और चापल्य दूर हो जाने के बाद जिस पारे में विविध प्रकार के रंग आ गये हों उसे 'मूर्च्छित' पारा कहते हैं। ऐसा पारा, जिसमें उदित सूर्य के समान लाली और तेज हो, और जिसमें गुरुत्व हो और जो आग में रखने पर ठहर सके (वाष्पवान् न हो), उसे 'खोट-बन्ध' पारा कहते हैं।

रसरत्नाकर में प्रयुक्त यंत्र—अभी हम ऊपर 'रसरत्नाकर' का एक उद्धरण दे चुके हैं, जिसमें कोष्ठिका यंत्र, वक्रनाल (mouth blow pipe), धमन (धौंकनी) और लोहपत्र का निर्देश था। आगे चलकर इस ग्रन्थ में "अथातो रसेन्द्र-मंगलानि यन्त्रविधिः" कहते हुए यंत्रों की एक सूची दी गयी है—

शिलायंत्रं, पाषाणयंत्रं, भूधरयंत्रं, वंशयंत्रं, नलिकायंत्रं, गजदन्तयंत्रं, दोलायंत्रं, अधःपातनयंत्रं, भुवःपातनयंत्रं, पातनयंत्रं, नियामकयंत्रं, गमनयंत्रं (?), तुलायंत्रं, कच्छपयंत्रं, चाकीयंत्रं, बालुकायंत्रं, अग्निसोमयंत्रं, गन्धकत्राहिकयंत्रं, मूषायंत्रं, हण्डिका-यंत्रं, कम (?) भाजनयंत्रं, घोणायंत्रं, गुडाभ्रकयंत्रं, नारायणयंत्रं, जालिकायंत्रं, चारण-यंत्रम्।

इन यंत्रों का **रसरत्नाकर** में नामनिर्देश ही है। इनमें से कुछ का विस्तृत उल्लेख आगे के रसग्रन्थों में, जैसे **रसार्णव** और **रसरत्नसमुच्चय** में पाया जाता है। खल्ल या खरल का इस सूची में उल्लेख नहीं है, पर अन्यत्र इसका निर्देश किया गया है—"निक्षिप्य खल्ले परिमर्दितञ्च" अथवा "निक्षिप्य खल्ले त्रिपुरान्तकस्य।" पातनयंत्र का भी प्रयोग बताया गया है[1]—

१. अथ प्रवक्ष्ये सुगुरूपदेशान् यः पाटलाख्यस्य रसस्य वृद्धः।
यस्य प्रभावात् क्षयमेहकच्छ्ज्वरादिकुष्ठामयनिग्रहः स्यात्॥
निक्षिप्य खल्ले त्रिपुरान्तकस्य बीजं द्विशुद्धार्धपलप्रमाणम्।
क्वाथेन तस्य त्रिपुरोद्भवेन सम्मर्दयेत्तु त्रिदिनानि यावत्॥
कन्यारसेन त्रिदिनं ततश्च सप्तार्चिषा चाथ दिनत्रयञ्च।
चूर्णेस्मिकाया रजनीरजेन सम्मर्दितं तमुषतोयधौतम्॥
त्रीणि प्रमाणान्यथ सप्तमञ्च सम्पातयेत् पातनयंत्रयोगात्।

महारसों का शोधन और सोना बनाने का प्रयास

साधारणतया महारस आठ माने जाते हैं—माक्षिक, विमल, शैल, चपल, रसक, सस्यक, दरद और स्रोतोऽञ्जन (**रसार्णव** ७।२)। **रसरत्नसमुच्चय** में आठ महारस ये गिनाये गये हैं—अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, अद्रिज (शैलेय या शिलाजतु), सस्यक, चपल और रसक (२।१)। नागार्जुन ने **रसरत्नाकर** में महारसों के वर्ग में राजावर्त्त, गन्धक, रसक, दरद, माक्षिक, विमल, हेम, तार इनके शोधन का उल्लेख किया है।

इसमें आश्चर्य ही क्या यदि राजावर्त (lapis lazuli) को शिरीष-फूल के रस से भावित किया जाय तो इसकी एक गुञ्जा से श्वेत स्वर्ण अर्थात् चाँदी की १०० गुञ्जा को नवोदित सूर्य के समान तेजवाले सोने में परिवर्तित किया जा सकता है![1] इसमें भी क्या आश्चर्य है यदि पीले गन्धक को पलाश के गोंद के रस से शोधित किया जाय और आरने कण्डों की आग पर तीन बार पकाया जाय, तो इससे चाँदी को सोने में बदला जा सकता है![2] इसमें भी क्या आश्चर्य यदि रसक (calamine) को तीन बार ताँबे के साथ तपाया जाय, तो ताँबा सोने में बदल जाता है![3] इसमें भी क्या

सम्पातितो निर्मलतामुपैति सर्वप्रयोज्योऽपि हितं प्रशस्तम् ॥
पलं समादाय रसस्य तस्य शुल्वस्य शुद्धस्य च कर्षमेकम् ।
कृत्वाष्टपिष्टी विधिवर्त्तयोश्च गन्धाश्मचूर्णं द्विगुणञ्च देयम् ॥
घृत प्रयोगेन विपाच्य पश्चात् निक्षिप्य खल्ले परिमर्दितञ्च ।
निष्कञ्च मात्रां त्वमृतस्य दत्त्वा गुञ्जाप्रमाणा गुटिका च कार्या ।
श्रीलोकनाथस्य विभोः प्रसादात् ज्ञातं मया पोटलिकाविधानम् ॥

१. अथ महारसशोधनं व्याख्यास्यामः ।
किमत्र चित्रं यदि राजवर्त्तकं शिरीषपुष्पाग्ररसेन भावितम् ।
सितं सुवर्णं तरुणार्कसन्निभं करोति गुञ्जाशतमेकगुञ्जया ॥
—राजावर्त्तशोधनम् ।

२. किमत्र चित्रं यदि पीतगन्धकः पलाशनिर्यासरसेन शोधितः ।
आरण्यकैरुत्पलकैस्तु पाचितः करोति तारं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥
—गन्धकशुद्धिः ।

३. किमत्र चित्रं रसको रसेन..........
क्रमेण कृत्वाम्बुधरेण रञ्जितः करोति शुल्वं त्रिपुटेन काञ्चनम् ॥
—रसकशोधनम् ।

आश्चर्य यदि दरद (cinnabar) को कई बार भेड़ के दूध से और अम्लवर्ग के पदार्थों के साथ भावित किया जाय और धूप में रखा जाय तो चाँदी केसरिया रंग के सोने में परिवर्त्तित हो जाती है![1]

कुलत्थ और कोद्रव के क्वाथ में एवं नरमूत्र के साथ पकाकर तथा वेतसादि अम्ल वर्ग के पदार्थों के साथ भावित करके, और फिर क्षार मिलाकर तीन बार आग की पुट दे, तो इस प्रकार अनेक खनिजों या रसों का शोधन हो जाता है।[2] यदि सूरणकन्द में रखकर एवं कदलीरस के साथ पकाकर और अंडी के तेल तथा घी के साथ पुट देकर माक्षिक का शोधन हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या![3]

(संभवतः इस विधि में ताम्रमाक्षिक (copper pyrites) या ताप्य से ताँबा धातु प्राप्त हो जाती है।)

दुगुनी हर्र (पथ्या), कदलीरस (रम्भातोय) आदि मिलाकर और ताम्रपत्रों को अर्क या मदार के दूध और लवणों के साथ लेप करने से विमल रस की शुद्धि होती है।[4] निर्गुण्डी के रस द्वारा सिक्त करके सात बार अग्नि पर तपाकर ८ मास में ताँबे (शुल्व) की शुद्धि होती है।[5] इसी प्रकार सभी धातुओं की शुद्धि की जा सकती है।[6] विमल रस की शुद्धि अम्लवेतस, धान्याम्ल और भेड़ के दूध द्वारा होती है।[7]

१. किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः पयेन मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
सितं सुवर्णं बहुधर्मभावितं करोति साक्षात् वर कुंकुमप्रभम्॥
—दरदशुद्धिः।

२. कुलत्थकोद्रवक्वाथे नरमूत्रेण पाचयेत्।
वेतसाद्यम्लवर्गेण दत्त्वा क्षारं पुटत्रयम्॥

३. किमत्र चित्रं कदलीरसेन सुपाचितं सूरणकन्दसंस्थम्।
वातारितैलेन घृतेन ताप्यं पुटेन दग्धं वरशुद्धिमेति॥
—माक्षिकशोधनम्।

४. द्विगुणा विमला पथ्या रम्भातोयेन संयुता।
लवणैरर्कदुग्धेन ताम्र–पत्राणि लेपयेत्॥

५. अग्नौ सन्तप्य निर्गुण्डीरससिक्तानि सप्तधा।
मासान् वसुरसेनैव शुल्वशुद्धिर्भविष्यति॥

६. परतः सर्वलोह शोधनम्। ७. अम्लवेतसधान्याम्लमेषीतोयेन शुध्यति।
—विमलशुद्धिः।

चपल और अन्य धातुएँ नीबू के रस में तीन दिन तक भावना देने पर शुद्ध होती हैं। पाँच मिट्टियों, भस्मों और लवणों के साथ पुटपाक द्वारा सोना शुद्ध होता है।[1]

चाँदी को शुद्ध करना हो तो इसे सीसे के साथ गलाये, और क्षारों के साथ तपाये, फिर छोटी जटामांसी (पिशाची) के तेल में तीन बार डुबाये।[2]

इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि पृथ्वी से उत्पन्न क्षारों और भेड़ के दूध अथवा घृत एवं सोलहवें भाग तेल के साथ गलाया जाय तो ताँबा ऐसा चमकदार हो जाता है, जैसे चन्द्रमा की कला।[3] (यह विधि आजकल की पोलिंग (poling) विधि के समान है, जिसमें पिघले ताँबे को हरी डंडी से टारकर शोधित करते हैं।)

सत्त्वपातन—(Essence Preparation)—वैक्रान्त को मोक्ष, आरोट और पलाश के क्षार के साथ पीसकर गोमूत्र से भावित करे और इसमें वज्रकन्द (शिखा, कल्क, फूल, मूल सब सहित) पीसकर मिलाये, फिर इसमें मधु, मेष शृंगी आदि मिलाकर, गोला बनाकर मूकमूषा या अन्धमूषा में तेज आग पर तपाये, तो इस वैक्रान्त का सत्त्व मिलेगा।[4]

१. चपलाद्या धातवः सर्वे जम्बीररसभाविताः।
शोधितास्त्रिदिनं पञ्चमृत्तिकाभस्मलावणैः।
संयुताः संशोधयन्ति पुटपाकेन काञ्चनम्॥
—हेमशोधनम्।

२. नागेन क्षारराजेन ध्मापितं शुद्धिमृच्छति।
तारं त्रिवारनिक्षिप्तं पिशाचीतैलमध्यगम्॥
—तारशुद्धिः।

३. अहो नु चित्रं पृथिवीभवेन क्षारेण मेषीपयसा घृतेन।
तैलेन शुद्धं द्रुतषोडशांशं भवेच्च शुल्वं शशिशृंगसन्निभम्॥

४. मोक्षमारोटपालाश-क्षारगोमूत्रभावितम्।
वज्रकन्दशिखाकल्कं-फूलमूलसमन्वितम्॥
तत्कल्कं कण्टकं साक्षाच्चूर्णवैक्रान्तसंभवम्।
सारघेन समायुक्तं मेषशृंगी द्रवान्वितम्॥
पिण्डितं मूकमूषास्थं धामितञ्च हठाग्निना।
तत्रैव पतते सत्त्वं वैक्रान्तस्य न संशयः॥
—वैक्रान्तसत्त्वम्।

माक्षिक का सत्त्व ताँबे के समान चमक वाला तैयार करना हो तो इसको मधु, गंधर्व तेल, घी, गोमूत्र, दूध, अंडी का तेल, कदलीरस आदि के साथ मूषा में तपाना चाहिए।[1] ताप्य का सत्त्व प्राप्त करने के लिए महावृक्ष और अर्क का दूध, स्त्री का दूध, इनके साथ भावना देकर मूषा में तपाने को कहा गया है। इसी प्रकार ताप्य सत्त्व के लिए कंकुष्ठ, टंकण (सुहागा), कांजी और कटुत्रय (सोंठ, मरिच, पीपल) तथा माक्षिकसत्त्व के लिए मधु, गृहधूम, घी, कदलीरस, एरण्डतैल आदि का प्रयोग और मूक या अन्धमूषा में गरम करना बताया गया है।[2]

यदि रसक (calamine) का सत्त्व प्राप्त करना हो तो इसे धान्याम्ल (धान की कांजी), क्षार और घी के साथ भावित कर, ऊन, लाख, हर्र (पथ्या), केंचुआ (भूलता), धूम, सुहागा आदि के साथ मूकमूषा में तपाना चाहिए। इसका सत्त्व कुटिल अर्थात् राँगे के समान चमकवाला होता है।[3]

१. क्षौद्रं गन्धर्वतैलं सघृतमभिनवं गोरसं मूत्रकञ्च,
भूयो वातारितैलं कदलीरसयुतं भावितं कान्तितप्तम्।
मूषां कृत्वाग्निवर्णामरुणकरनिभां प्रक्षिपेन्माक्षिकेन्द्रम्,
सत्त्वं नागेन्द्रतुल्यं पतति च सहसा सूर्यवैश्वानराभम्॥

२. महावृक्षार्कक्षीराभ्यां स्त्रीस्तन्येन सुभावितम्।
मूषायामग्निवर्णायां द्रवेत्ताप्यं न संशयः॥
कंकुष्ठटंकणाभ्याञ्च ताप्यं स्त्रीस्तन्यमर्दितम्।
पश्चात् सत्त्वं निपतति सत्यं मूषा तु अग्निवत्।
काञ्जिकं बहुशः स्विन्नं ताप्यचूर्णं कटुत्रिकम्।
कृत्वाम्बुमधुभ्यां पक्वं वज्रपायसभावितम्॥
गृहधूमं घृतं क्षौद्रं संयुतं पुनरेव च।
धामितं मूकमूषायां शशिशुल्वनिभं भवेत्॥
कदलीरसशतभावितं घृतमध्वेरण्डतैलपरिपक्वम्
ताप्यं मुञ्चति सत्त्वं रसकञ्चैव त्रिसंघाते॥

—माक्षिकसत्त्वपातनविधिः।

३. क्षारस्नेहैश्च धान्याम्लै रसकं भावितं बहु।
ऊर्णा लाक्षा तथा पथ्या भूलता धूमसंयुतम्॥
मूकमूषागतं ध्मातं टंकणेन समन्वितम्।
सत्त्वं कुटिलसंकाशं पतते नात्र संशयः॥ —रसकसत्त्वम्।

विमल का सत्त्व प्राप्त करना हो तो इसे कांक्षी (फिटकरी), कासीस (green vitriol), सुहागा, शिग्रु (सहजन) के रस, वज्रकन्द, कदलीरस आदि के साथ भावित करना चाहिए और मूकमूषा में माक्षिकक्षार से संयुक्त करके ज़ोरों से तपाना चाहिए। ऐसा करने पर सोने की-सी दमकवाला सत्त्व प्राप्त होता है।[1]

पातना-यंत्र में (Sublimation या distillation apparatus) यदि दरद (cinnabar) लिया जाय, और पानी से भरे बर्तन के भीतर पातन किया जाय, तो पारे की सी चमकवाला सत्त्व प्राप्त होता है।[2] (दरद हिंगुल है, और वस्तुतः इस प्रकार प्राप्त सत्त्व पारा ही है।)

गन्धकादि के योग से अभ्रकादि के सत्त्व भी प्राप्त करने का उल्लेख है।[3]

द्रुतपातन विधि—सत्त्वपातन विधि के समान ही द्रुतपातन विधियाँ हैं, जिनसे विभिन्न रसों की द्रुतियाँ प्राप्त की जाती हैं। गले या घुले हुए अंशों को साधारणतया 'द्रुति' कहा जा सकता है। द्रुति तैयार करने में (रत्नों या मोतियों की) वेतसाम्ल, साधारण वानस्पतिक अम्ल और कांजियों का प्रयोग बहुधा किया जाता है। द्रुति तैयार करने में पुटपाक (पुट के भीतर रखकर गरम करने) का भी प्रयोग किया जा सकता है।[4]

धातुओं और रसों का हनन और मारण—ताल या हरिताल द्वारा वंग को, दरद (cinnabar) द्वारा तीक्ष्ण को, नाग या सीसा द्वारा सोने को, मनःशिला द्वारा नाग

१. विमलं शिग्रुतोयेन कांक्षीकासीसटंकणैः।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः॥
माक्षीकक्षारसंयुक्तं धामितं मूकमूषके।
सत्त्वं चन्द्रार्कसंकाशं पतते नात्र संशयः॥ —विमलसत्त्वम्।

२. दरदं पतनायंत्रे पातितञ्च जलाशये।
सत्त्वं सूतकसंकाशं जायते नात्र संशयः॥ —दरदसत्त्वम्।

३. गन्धकञ्च प्रभावेण सत्त्वभूयं स्वभावतः।
ततः स्यातं महासत्त्वं रसेन्द्रस्य समं ततः॥—अभ्रकादिसत्त्वपातनविधिः।

४. एक एव महाद्रावी पार्वतीनाथसंभवः।
किं पुनस्त्रिभिः संयुक्तो वेतसाम्लाम्लकाञ्जिकैः॥
मुष्काफलानि सप्ताहं वेतसाम्लेन भावयेत्।
पुटपाके ततश्चूर्णं द्रवते सलिलं यथा।
कुरुते योगराजोऽयं रत्नानां द्रावणे परम्॥ —अभ्रकादिद्रुतपातनविधिः।

(सीसा) को, गन्धक द्वारा ताँबे (शुल्व) को और माक्षिक द्वारा चाँदी को मारा जा सकता है।[1] इसी प्रकार ताँबे को बकरी के दूध और गन्धक द्वारा, चाँदी को स्नुही (सेहुंड) के दूध और माक्षिक द्वारा मारा जा सकता है। लोह अर्थात् धातुएँ मारी जाने पर रसवान् हो जाती हैं, फिर इनसे रोग, जरा आदि का विनाश संभव है।[2]

रसबन्ध या पारे का बन्धन—पारे को रसों का राजा (रसनृप) कहा जाता है। इसे यदि नीबू के रस, नवसार (Salammoniac), अम्ल, क्षार, पंचलवण, कटु-त्रय (सोंठ, मरिच, पीपल), शिग्रु के रस, सूरणकन्द आदि के साथ घोटा जाय तो यह आठो धातुओं के साथ संयुक्त होने के योग्य हो जाता है।[3]

दिव्य देह प्राप्त करने का अनुयोग—नागार्जुन ने रसरत्नाकर में एक ऐसा योग दिया है, जिसके द्वारा दिव्य देह प्राप्त की जा सकती है। पारे में बराबर मात्रा में सोना मिलाया जाता है, फिर इस पिष्टी में गन्धक, द्विपदी (नागकेशर), हलदी (रजनी), कदली (रम्भा), सुहागा (टंकण) आदि मिलाकर मर्दन करते हैं। फिर इसे अन्ध-मूषा में तपाते हैं (भूसी की आग पर)। इस प्रकार हलकी आँच (लघु पुट) देकर जो ओषधि तैयार होती है, उसके सेवन से दिव्य देह प्राप्त होती है।[4]

१. तालेन वंगं दरदेन तीक्ष्णं नागेन हेमं शिलया च नागम् ।
गन्धाश्मना चैव निहन्ति शुल्वं तारञ्च माक्षीकरसेन हन्यात् ।।

२. शुल्वमजाक्षीरसुगन्धकेन तारं स्नुहीक्षीरसुमाक्षिकेण ।
यद् यस्य धातोर्विहितञ्च युक्तं निरुत्थघातं कथितञ्च तीक्ष्णैः ।।
मृतानि लोहानि रसीभवन्ति रसेन युक्त्यामयनाशनानि ।
अभ्यासयुक्तया पलितादिनाशं कुर्वन्ति तेषाञ्च जराविनाशम् ।।

३. अथातो रसबन्धाधिकारं व्याख्यास्यामः ।
जम्बीरजेन नवसारघनाम्लवर्गैः क्षाराणि पंचलवणानि कटुत्रयञ्च ।
शिग्रूदकं सुरभिसूरणकन्द एभिः संर्मादतो रसनृपश्चरतेष्ट लोहान् ।।
—चारणजारणविधिः

४. रसं हेमसमं मर्द्यंपीठिकागिरिगन्धकम् ।
द्विपदीरजनीरम्भां मर्दयेत् टंकणान्विताम् ।।
नष्टपिष्टञ्च शुष्कञ्च अन्धमूष्यां निधापयेत् ।
तुषाल्लघुपुटं दत्त्वा यावद् भस्मत्वमागतः ।
भक्षणात्साधकेन्द्रस्तु दिव्यदेहमवाप्नुयात् ।।

* * *

गर्भ यन्त्र—पारे की पिष्टी को भस्म करने के लिए इस यंत्र का विधान बताया गया है। मिट्टी की बनी ऐसी मूषा ले जो चार अंगुल लंबी, तीन अंगुल चौड़ी और गोल मुँह की सुदृढ़ बनी हो। २० भाग नमक और १ भाग गुग्गुल, दोनों को पानी देकर महीन चिकना पीस ले। मूषा पर इससे लेप करे। धान की भूसी की आग में धीमी-धीमी आँच दे। इस प्रकार मृदु स्वेदन द्वारा पिष्टी की भस्म बनती है।[1]

अगर कज्जली बनानी हो, तो १ पल पारा ले, उसमें चौथाई अंश साक्तुक विष, बराबर भाग गन्धक और ताँबा पीसकर मिलावे। फिर इस कज्जलिका में गन्धक मिलाकर घी के साथ लोहे के बर्तन में पकावे। जैसे ही पिघले, इसे केले के पत्ते में या पुट में उँडेल ले।[2] इसे 'पर्पटिकारस' कहा जाता है।

निर्देश

प्रफुल्लचन्द्र राय—'हिस्ट्री ऑव् हिन्दू केमिस्ट्री', कलकत्ता (प्रथम भाग), १९०२, (द्वितीय भाग १९०९)

पी. राय—'**हिस्ट्री ऑव् केमिस्ट्री इन एन्शेण्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया**', (प्रफुल्लचन्द्र राय के ग्रन्थ का सम्पादित संस्करण), इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)

१. गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पीठिकाभस्मकारकम्।
चतुरंगुलदीर्घेण विस्तारेण च त्र्यंगुलम्॥
मूषान्तु मृन्मयीं कृत्वा सुदृढां वर्तुलां बुधः।
विंशभागन्तु लोणस्य भागमेकं तु गुग्गुलोः॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु तोयं दत्त्वा पुनः पुनः।
मूषालेपं दृढं बध्वा लोणार्द्धमृत्तिकां बुधः॥
कर्षं तुषाग्निना भूमौ मृदुस्वेदेन स्वेदयेत्॥

२. सूतकस्य पलं ग्राह्यं तुर्यांशं साक्तुकं विषम्।
तत्समं गन्धकं शुल्वं चूर्णं कृत्वा विनिक्षिपेत्॥
कृत्वा कज्जलिकामादौ पलं दत्त्वा च गन्धकम्।
घृतपक्वञ्च तच्चूर्णं पचेदायसभाजने॥
यावद्द्रवत्वमायाति तत्क्षणात् तं विनिक्षिपेत्।
पुटे वा कदलीपत्रे सिद्धं पर्पटिकारसम्॥

तेरहवाँ अध्याय

भिक्षु गोविन्द और रसहृदयतन्त्र

(आठवीं शती)

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने भिक्षु गोविन्द को बौद्ध भिक्षु माना है, जो वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य के अनुसार समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रथम अवबोध में वेदान्त द्वारा प्रतिपादित एक (अद्वितीय) ब्रह्म की ओर संकेत है, और इसी प्रकार वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप आदि के प्रति अतीव निष्ठा भी सूचित की गयी है।[1] वस्तुतः पहले अवबोध में रूपक और श्लेष अलंकार द्वारा भिक्षु गोविन्द ने पारे और रसों की अध्यात्म तत्त्वों से तुलना की है। पारे के विशेषण ये बताये गये हैं—पीताम्बर (पारे के चार वस्त्र बताये गये हैं—श्वेतारुणहरिद्राभकृष्णा विप्रादिपारदाः) अथवा पीत+अम्बर=पीत+अभ्रक, अर्थात् जिसके सामने अभ्रक पीला पड़ जाय, (अथवा अभ्रक का जो मारण कर दे), बलिजित् (बलिवसारूपं गन्धकं जयतीति बलिजित्, अर्थात् गन्धक को जीर्ण करनेवाला), नाग-क्षय (सीसे को मारनेवाला), गरुडचर (गरुड स्वर्ण का नाम है, इसे मारण करनेवाला)।[2] रूपकों के आधार पर यह कहना कि भिक्षु गोविन्द आर्य संस्कृति के ही थे, यह कोई आवश्यक नहीं है। बौद्ध भिक्षु भी इन रूपकों का व्यवहार कर सकता है। रूपकों के भीतर छिपी हुई एक व्यञ्जना भी यह है कि असली हरि, हर या परमात्मा तो रसराज पारा ही है, न कि अदृष्ट कोई सत्ता।

कुछ लोगों का यह विचार है कि भिक्षु गोविन्द भी वही व्यक्ति हैं जिन्हें सर्वदर्शनसंग्रह (रसेश्वर दर्शन) में "गोविन्द भगवत्पादाचार्य" कहा गया है, अथवा रसेन्द्र-

१. परमात्मनीव नियतं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम्।
एकोऽसौ रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते॥ (१।१३)
यज्ञाद्दानात् तपसो वेदाध्ययनाद्दमात्सदाचारात्।
अत्यन्तं श्रेयः किल योगवशादात्मसंवित्तिः। (१।१९)

२. पीताम्बरोऽथ बलिजिन्नागक्षयबहलरागगरुडचरः।
जयति स हरिरिव हरजो विदलितभवदैन्यदुःखभरः॥ (१।२)

चिन्तामणि में भगवद्गोविन्दपाद कहा गया है।[१] इसी प्रकार **रसेश्वर दर्शन** में '**रसेश्वर सिद्धान्त** से उद्धृत श्लोक में "गोविन्दभगवत्पादाचार्यो गोविन्दनायकः" शब्द आये हैं। वैद्य यादवजी का कहना है कि शंकराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पाद ही भिक्षु गोविन्द हैं। भिक्षु गोविन्द के **रसहृदय** ग्रन्थ में एक श्लोक है, और शंकराचार्य ने भी उन्हीं भावों को लेकर एक श्लोक रचा है।[२] दोनों श्लोकों के भावों की समानता गुरु-शिष्य भाव की पुष्टि करती है। निष्कर्ष यह है कि **रसहृदय** के रचयिता भिक्षु गोविन्द ही शंकर के गुरु भगवत् गोविन्दपाद या गोविन्द भगवत्पाद हैं।

भिक्षु गोविन्द **रससार** के रचयिता गोविन्दाचार्य से बिलकुल भिन्न हैं, जैसा कि गोविन्दाचार्य के आत्मविवरण से स्पष्ट है।[३]

वाग्भट के **रसरत्नसमुच्चय** के प्रथम अध्याय में संख्या ३३ से लेकर संख्या ५९ तक २७ आर्याछन्द हैं। ये सब आर्याएँ भिक्षु गोविन्द के **रसहृदय** के प्रथम अवबोध में आर्या संख्या ३ से संख्या ३३ तक के बीच की हैं, चार आर्याएँ बीच में ऐसी हैं जो **रसहृदय** में तो हैं पर **रसरत्नसमुच्चय** में नहीं हैं।[४]

यदि भिक्षुगोविन्द और शंकराचार्य के गुरु भगवत् गोविन्दपाद एक हैं, तो **रसहृदय** की रचना का समय सं० ७१० शक से पूर्व होना चाहिए। '**रसहृदय**' के

१. भगवद्गोविन्दपादास्तु कलांशमेव ग्रासं लिखन्ति ।। (रसेन्द्रचिन्तामणि ३।३८)

२. बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वादलम्पटः परतः ।
जातविवेको वृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयान्मुक्तिम् ।। (रसहृदय, १।३०)
बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ।।
(चर्पटपंजरी—शंकराचार्य)

३. मोढज्ञातिसमुत्पन्न आचार्यः सहदेवकः ।
सर्वशास्त्रप्रवीणोऽसौ मन्त्रसिद्धो द्विजोत्तमः ।।
तदुत्पन्नस्तु यः सूनुः सुरादित्यः कृती भुवि ।
तत्संभवः सुतः ख्यातो गोविन्दः शिववन्दकः ।
शिष्यः श्रीवीरदेवस्य रसकर्मसु कोविदः ।। (रससार २६।३०–३२)

४. "मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति" (३३) से लेकर "तस्माज्जीवन्मुक्ति समीहमानेन योगिना प्रथमम्। दिव्या तनुर्विधेया हरगौरी सृष्टिसंयोगात्" (५९) तक (रसरत्नसमुच्चय में)।

अन्त में भिक्षु गोविन्द ने अपना जो विवरण दिया है, उससे भी इस काल की ही पुष्टि होती है। इस विवरण में किरात देश के एक राजा मदनराज का उल्लेख है, जो चंद्रवंशीय हैहयकुल का था।[1] कनिंग्हम ने जो हैहयवंशीय राजाओं की सूची दी है, उसमें मदनदेव तो नहीं, पर कामदेव नामक एक राजा का उल्लेख है, जो ईसा की आठवीं शती में सिंहासनारूढ़ था। अतः यह ही मदनदेव माना जा सकता है (नामों का पर्याय संस्कृत साहित्य में प्रचुरता से मिलता है)। वंशावली में और कोई कामदेव भी नहीं है। अतः **रसहृदय** का रचयिता ईसा की आठवीं शती का व्यक्ति ठहरता है।

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ में चार आर्याएँ और दी हैं, जो यादव जी के ग्रन्थ में केवल पाद टिप्पणी में हैं। इनमें से एक आर्या से स्पष्ट है कि भिक्षु गोविन्द मंगल विष्णु का नाती और सुमनविष्णु का पुत्र था, और तथागत में इसकी निष्ठा थी।[2]

किरात देश कहाँ है? **शिवशक्तिसंगम** तन्त्र का एक श्लोक देकर यादवजी की मान्यता है कि किरातदेश विन्ध्याचल के निकट है (हैहयवंश के व्यक्ति इधर आज भी काफ़ी हैं)।[3]

१. **शीतांशुवंशसंभवहैहयकुलजन्मजनितगुणमहिमा।**
स जयति श्रीमदनश्च किरातनाथो रसाचार्यः॥
यस्य स्वयमवतीर्णा रसविद्या सकलमंगलाधारा।
परमश्रेयोहेतुः श्रेयः परमेष्ठिनः पूर्वम्॥
तस्मात् किरातनृपतेर्बहुमानमवाप्य रसकर्मनिरतः।
रसहृदयाख्यं तन्त्रं विरचितवान् भिक्षुगोविन्दः॥ (रसहृदय,१९।७८–८०)

२. **येन चतुर्वर्णम्लेच्छादि व्याधादि लब्धसत्त्वाभम्।**
दक्षिणरसा गृहीता आदि वराहेणेव महाप्रलये॥
नष्टशरीरविवर्णा हीनांगाःकुष्ठिनो गुणाढ्यस्य॥
अभिनवसोमेश्वरतामापुरपि पुनर्नवैरङ्गैः॥
नप्त्रा मंगलविष्णोः सुमनोविष्णोः सुतेन ग्रन्थोऽयम्।
श्री गोविन्देन कृतस्तथागतः श्रेयसे भूयात्॥
अष्टादश संस्कारं रसेन्द्र देवस्य दिव्यतनु दृष्ट्वा।
लिखितमिदं पुण्यतमं रसहृदयमवाप्यते सकलम्॥

३. **तप्तकुण्डं समारभ्य रामक्षेत्रान्तकं शिवे!।**
किरातदेशो विज्ञेयो विन्ध्यशैलेऽवतिष्ठते॥ (शिवशक्तिसंगमतंत्र)

आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे और वैद्य यादवजी त्रिविक्रम जी आचार्य द्वारा संपादित **रसहृदय** ग्रन्थ १९११ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकाशित ग्रन्थ में श्री चतुर्भुज मिश्र विरचित 'मुग्धावबोधिनी' एक व्याख्या भी है। श्री चतुर्भुज मिश्र खण्डेलवाल ब्राह्मण जाति के कुरल नामक कुल में उत्पन्न हुए। इनके पिता श्री महेश मिश्र और बाबा श्री हरिहर मिश्र थे। खण्डेलवाल ब्राह्मण जयपुर-सीकर-बीकानेर आदि स्थानों में विशेषतया पाये जाते हैं। रसतंत्र ग्रन्थों पर टीकाएँ नहीं पायी जाती हैं, अतः **रसहृदय** ग्रन्थ पर टीका का प्राप्त होना इस ग्रन्थ की उपयोयोगिता का परिचायक है।

सम्पूर्ण ग्रन्थ में १९ अवबोध हैं (अध्याय का नाम अवबोध दिया गया है) जिनमें क्रमशः (१) रसप्रशंसा, (२) रसशोधन, (३) निर्मुखवासनामुखान्तर्भूतसमुखपत्राभ्रकचारण, (४) सत्त्वाभ्रकचारण, (५) गर्भद्रुति, (६) बीजादिजारण, (७) बिड, (८) रसरञ्जन, (९) बीजविधान, (१०) शुद्धरससत्त्वपातन, (११) बीजनिर्वाहण, (१२) द्वन्द्वाधिकार, (१३) संकर बीज विधान, (१४) बीजयोजन, (१५) बाह्यद्रुति, (१६) सारण, (१७) क्रामण, (१८) वेधविधान, और (१९) भक्षणविधान आदि का उल्लेख है।

रस, उपरस और पूति लोह—भिक्षु गोविन्द के समय में ही संभवतः रस-उपरस इस प्रकार का विभाजन आरम्भ हुआ। **रस हृदय तन्त्र** में नवम-अवबोध में निम्न आठ रस गिनाये गये हैं—

वैक्रान्त (वज्रभूमिजरज), कान्त (चुम्बकोत्थ या चुम्बकोद्भव अर्थात् चुम्बक-लोह), सस्यक (चपल), माक्षिक (ताप्य), विमल (रौप्यमाक्षिक), अद्रि (शिलाजतु), दरद (हिंगुल), रसक (खर्परिक)।[1]

आठ उपरस निम्न हैं—गन्धक, गैरिक, शिला (मनःशिला या मनोह्वा), आल (हरिताल), क्षिति (स्फटिक), खेचर (कासीस), अञ्जन (नीलांजन), कंकुष्ठ (विरंग)।

सारलोह निम्न हैं—शिखि (स्वर्ण), तारक (चाँदी)।[2]

१. वैक्रान्तकान्त सस्यक माक्षिक विमलाद्रिदरदरसकाश्च।
अष्टौ रसास्तथैषां सत्त्वानि रसायनानि स्युः॥ (९।४)

२. गन्धकगैरिकसुशिलाक्षितिखेचरमञ्जनञ्च कंकुष्ठम्।
उपरससंज्ञमिदं स्यात् शिखिशशिनौ सारलोहाख्यौ। (९।५)

पूतिलोह निम्न हैं—ताम्र (नेपालक), आर (राजरीति, या पीतल), तीक्ष्ण (सार), कान्त (चुम्बकोद्भव), अभ्रसत्व (अभ्रक या गगनसार), लोह (मुण्ड लोह), वंग, नाग (सीसा)।[1]

दुर्गन्ध निकलने के कारण इन्हें पूतिलोह कहा गया है।

लवण और क्षार—सौवर्चल (रुचक), सैन्धव, चूलिक (काच लवण), सामुद्र (क्षाराब्धिज), रोमक, विड (लवण विशेष कदाचित् काला नमक), ये ६ लवण हैं।

सर्जी (सर्जिका या सज्जी मिट्टी), टंकण (सौभाग्य या सुहागा), और यवक्षार—ये तीन क्षार हैं।[2] (कोष्ठक में दिये हुए पर्याय चतुर्भुजमिश्र की मुग्धावबोधिनी व्याख्या से लिये गये हैं।

रसकर्म—संस्कार अथवा रसकर्म १८ गिनाये गये हैं—स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छना, उत्थापन, पातन, रोधन, नियमन, दीपन, गगनग्रास, चारण, गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जारण, रसराग, सारण, क्रामण, वेधन और भक्षण।[3] द्वितीय अवबोध में स्वेदन से लेकर दीपन तक ८ संस्कार दिये गये हैं। शेष संस्कारों के विस्तृत उल्लेख आगे के अवबोधों में हैं।

रस यंत्र और उपकरण

रस हृदयतंत्र के अनेक स्थलों में रसकर्म में प्रयुक्त होनेवाले उपकरणों और यंत्रों का सांकेतिक उल्लेख आया है। कुछ यंत्रों का विवरण चतुर्भुज मिश्र ने अपनी टीका में भी दिया है।

मूषाओं के अन्तर्गत प्रकाशमूषा,[4] मूकमूषा (गुप्तमूषा),[5] वज्रमूषा[6], और

१. **ताम्रारतीक्ष्णकान्ताभ्रसत्वलोहानि नागवङ्गौ च।**
कथितौ च पूतिसंज्ञौ तेषां संशोधनं कार्यम्॥ (९।६)

२. **सौवर्च्चलसैन्धवकचूलिकसामुद्ररोमकविडानि।**
षड् लवणान्येतानि तु सर्जीयवटङ्कणाः क्षाराः॥ (९।७)

३. **स्वेदनमर्दनमूर्च्छोत्थापनपातननिरोधनियमाश्च।**
दीपनगगनग्रासप्रमाणमथ चारणं चैव॥
गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतिजारणरसरागसारणं चैव।
क्रामणवेधौ भक्षणमष्टादशधेति रसकर्म॥ (२।१-२)

४. (क) **शतगुणमथ मूषायां जरति रसेन्द्रो द्रवति गर्भे च** (५।१८)
(**निर्व्यूढं अन्धमूषायां वा प्रकाशमूषायां—टीका**)
(ख) **सा च प्रकाशमूषा न्युब्जा कार्याऽर्धाङ्गुलसुनिविष्टा।** (१६।२२)

दीर्घमूषा[1] का निर्देश मिलता है। एक स्थल पर छाग (बकरे) की हड्डियों के भस्म से बनी गोस्तन के आकार की (मल्लकाकार) मूषा का भी नाम लिया गया है। इस मूषा में घने छिद्र होते थे, और सुहागे, विष और गुञ्जा का लेप किया होता था। दल योग या पत्रमेलन कार्य में इसका प्रयोग होता था।[2]

रस हृदय तंत्र में साधारण खल्व[3] और तप्तखल्व,[4] दोनों का ही निर्देश है।

भस्त्रा या धौंकनी का कई स्थलों पर प्रयोग बताया गया है।[5] अधिक तेज़ आँच

५. (क) क्रमवत्तौ रविरसकौ संशुद्धौ मूकमूषिकाध्मातौ।
त्रिगुणं चीर्णो जीर्णो हेमाभो जायते सूतः॥ (८।१५)
(ख) शुल्बस्य गुप्तमूषा कार्या पुटिताप्यथ च ध्माता (१८।५६)
यहाँ ताँबे की बनी गुप्त या अन्धमूषा से अभिप्राय है।

६. (क) कृतमित्येतत्पिण्डं हेमाभ्रं मिलति वज्रमूषायाम्। (१२।१०)
(मृदस्त्रिभागाः शणलद्दिभागौ भागश्च निर्दग्धतुषोपलादेः। किट्टार्धभागं परिखण्डच वज्रमूषां विदध्यात्खलु सत्वपाते——टीका, अर्थात् ३ भाग मिट्टी, २ भाग शण और लीद, तुषा की राख, पत्थर, किट्ट, इन्हें पीसकर वज्रमूषा बनती है——रसरत्नसमुच्चय १०।९)
(ख) गगनं चिकुरतैलघृष्टं गोमयलिप्तं कुलिशमूषायाम्। (१५।५)

१. कृत्वाऽत्र दीर्घमूषां सुदृढां ध्मातं तु भस्मगर्तायाम्। (५।३९)
दीर्घां गोस्तनाकाराम्——टीका अर्थात् दीर्घ मूषा से गोस्तनाकार मूषा से अभिप्राय है।)

२. छागास्थिभस्मनिर्मितमूषां कृत्वैव मल्लकाकाराम्।
दलयोगे घनरन्ध्रां टङ्कणविषगुञ्जकृतलेपाम्। (११।१३)

३. देयं खल्वे घृष्टो (२।१३); आदौ खल्वे मृदितां पिष्टीं (३।१०); त्रुटिशो दत्त्वा मृदितं सारे खल्वेऽभ्रहेमलोहादि (३।११)
(खल्वोऽश्माद्यो निरुद्गारो द्विरङ्गुलकटाहकः। अष्टांगुला वटी कार्या दीर्घा वा वर्तुला तथा। द्वादशाङ्गुलदीर्घेण मर्दकश्चतुरङ्गुलः। मुखं वृत्तं तु कर्त्तव्यं दर्पणोदरसंनिभम्॥——टीका)

४. स्वेदनविधिना ज्ञात्वा मृदितां तप्ते तु खल्वतले। (५।३३)

५. भस्त्राद्वयेन हठतो ध्मातव्यं (१०।४); नैव पतति तावत्सत्वं भस्त्रान्ते न यावदाह्रियेत (१०।८); कोष्टकधमनविधिना तीव्रं भस्त्रानलेन तत्पतति। (१०।१७)

देने के लिए इसका प्रयोग होता था। गरम करने के लिए कोयलों (अंगार) का प्रयोग भी बताया गया है, वनोपलों का तो साधारणतया है ही, और तुष की आग का भी।[१]

भिक्षुगोविन्द ने अपने इस ग्रन्थ में लोहे के बने फलक, या शस्त्र पात्र अथवा आयस पात्र एवं लोह कटोरिकाओं का विवरण बीजजारण के संबंध में दिया है। तीक्ष्ण लोहे के बने शस्त्र-पात्र में चार भाग गन्धक और एक भाग पारा लेवे, और आग देकर पिघलावे, फिर ओषधियों के रस के साथ पीस कर वटिका बना ले, फिर वटिका को छाया में ही सुखावे, और लोहे के फलक पर उसको रखे, और लोहे की एक छोटी कटोरी से ढके, और लवण मिली मिट्टी को पानी में सानकर ऊपर से लेप कर देवे, जिससे बाहर धुआँ न निकलने पावे। फिर सुदृढ़ कोयलों (खदिर आदि के बने) की आग से दो भस्त्राओं की सहायता से तपावे। तब तक गरम करे जब तक लाल रंग की "खोटिका" न बन जाय। फिर आग पर से उतार कर अपने आप ठंडा होने देवे। फिर कटोरिका को उखाड़ कर उसके भीतर से मृत पारा निकाल लेवे।[२]

पातना यंत्र—नाग और वंग इन दोनों दोषों से पारे को मुक्त करने के लिए पातना-यंत्र का प्रयोग बताया गया है।[३] चतुर्भुज मिश्र ने पातनायंत्र के विवरण में वे श्लोक अपनी टीका में दिये हैं, जो **रसरत्न समुच्चय** में (९।६–८) दिये गये हैं। कुछ

१. पातयति सत्वमेषां पिण्डी ध्माता दृढाङ्गारैः (१०।७) (दृढ अंगार से अभिप्राय खदिर आदि के कोयले से है—टीका)

२. (क) प्रद्राव्य शस्त्रपात्रे गन्धकपादेन सूतकं दद्यात्।
स्वरसेन चौषधीनां वटिकां निष्पिष्य कुर्वीत॥
संस्थाप्य लोहफलके छायाशुष्कां तु तां वटिकाम्।
लघुलोहकटोरिकया स्थगयित्वा लेपयेत् सुदृढम्॥
लवणार्द्रमृदा लिप्तां सुदृढं कुर्वीत धूमरोधाय।
दत्त्वा सुदृढाङ्गारान्भस्त्राद्वयवह्निनैव निर्धूमे॥
तावद् यावद्ध्माता रक्ताभा खोटिका भवति।
अपनीय ततोऽङ्गारान्स्वभावशीतां कटोरिकां मत्वा॥
उत्खन्योत्खन्यः ततः कटोरिकाया रसो ग्राह्यः।
एष मृतसूतराजो गोलकवद् भवति स च सुखाध्मातः॥ (१४।२–६)

(ख) मुञ्चति सोष्णे ग्राह्यमायसपात्रे तु पिष्टिका भवति (१०।१०)

३. अमुना विरेचनेन हि सुविशुद्धो नागवङ्गपरिमुक्तः।
सूतः पातनयन्त्रे समुत्थितः काञ्जिककवाथात्॥

श्लोक पातनायंत्र संबंधी टीकाकार ने और दिये हैं, जो भूल से आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय के ग्रन्थ में इस प्रकार दे दिये गये हैं, मानो रस हृदय तंत्र के ही ये श्लोक हों।[1]

दोला यन्त्र—इसका उल्लेख कई स्थानों पर है।[2] स्वेदन के लिए यह यंत्र विशेष उपयोगी है।[3] दोलायंत्र में गन्धक द्वारा पारा भी जीर्ण किया जा सकता है।[4] हिंगुल, मनःशिला, हरिताल, गन्धक, माक्षीक, पक्व मृत नाग, कंकुष्ठ, प्रवाल आदि की कंकुशी के तैल में बनी पिष्टी लेकर उसके बीच में पारा रखे और लोहे के खरल में मर्दन करे और फिर वंश नलिका में रखकर तीन दिन तक दोलायंत्र में स्वेदन करे।[5]

कृत्वातु शुल्बपिष्टिं निपात्यते नागवंगशंकातः।
तस्मिन्दोषान्मुक्त्वा निपतति शुद्धस्तथा सूतः॥ (२।७८)

१. द्वौ भागौ शुद्धसूतस्य शुल्बभागैकसंयुतौ।
विंशांशं लवणं दत्त्वा पिष्टीकुर्याच्च सुन्दरम्।
अष्टांगुलविस्तीर्णं दैर्घ्येण दशाङ्गुलं त्वधोभाण्डम्।
कण्ठादधः समन्ताच्चतुरङ्गुलीकृतजलाधारम्॥
अन्तः प्रविष्टतलभाण्डवदनं जलमग्ननिजमुखप्रान्तम्।
उपरिष्टाच्चिपिटघटी देयोदरषोडशाङ्गुलविशाला।
तस्मिन्नधोर्ध्वभाण्डे निपातितः सकलदोषनिर्मुक्तः।
सुतरां भवति रसेन्द्रो जीर्णग्रासोऽपि पात्योऽसौ॥ (टीका २।८)

२. अन्येऽपि तुच्छमतयो गन्धकनिष्पिष्टिशुल्बपिष्टिरजः।
दोलनविधिनोद्भूतं रसजीर्णं तदिति मन्यन्ते॥ (३।१५)

टीका में—"गन्धपाषाणचूर्णं च चणकस्य रसेन तु। भावयेत्सप्तवारं तु स्त्रीरक्तेन च सप्तधा॥ शुद्धसूतं पलैकं तु खर्परे दापयेत्ततः। भावितं गन्धकं दद्यान्नरपिण्डेन संयुतम्॥ दोलायन्त्रेऽपि तापेन पिष्टिका भवति क्षणात्।"

३. दृढवस्त्रबाह्यबद्धे दोलास्वेदेन जारयेद् ग्रासम्।
सौवीरेणार्धभृते कुम्भे सक्षारमूत्रकैरथवा॥ (६।२)

४. आवृत्य कनककरिणौ शिलया प्रतिवापितौ ततो भुक्त्वा॥
दोलायंत्रे गन्धकजीर्णस्तारे दशांशवेधी स्यात्॥ (१८।२२)

५. अथवा दरदशिलालैर्गन्धकमाक्षीकपक्वमृतनागैः।
कंकुष्ठप्रवालसहितैः पिष्टैश्च कंकुणीतैले॥
मध्ये सूतो युक्तो मृदितः खल्वे तथायसे विधिना।
संस्वेद्य वंशनलिकां दोलायन्त्रेण स्वेदितं त्रिदिनम्॥ (१८।६४–६५)

दीपिका यंत्र—अभ्रक, पारे और गन्धक के योग से पिष्टि बनाने के प्रसंग में इस यंत्र का उल्लेख हुआ है। पहले खल्व में थोड़ा-थोड़ा गन्धक लेवे, और फिर इसमें थोड़ा-थोड़ा पारा मिलाकर पीसता जावे, जब तक कि पिष्टी या कज्जली न बन जावे। फिर इसमें बराबर की मात्रा में अभ्रक मिलावे और पिघलाई हुई बलि-वसा (अर्थात् भेक, मत्स्य, कर्कट, शिशुमार आदि की चर्बी) के साथ अच्छी तरह मर्दन करे। फिर दीपिका यंत्र में अधःपातन करे। ऐसा करने पर मल से रहित पारा प्राप्त हो जायगा।[1]

स्वर्णजारण यंत्र—पहले सैंधा नमक को ब्राह्मी के स्वकीय रस में मिलावे। फिर इसे और ताम्बूल पत्र को सिलपर पीसे। फिर इसे लोहे के बर्तन में भरे, और तीन पुट की आग से तपावे, जबतक कि यह अच्छी तरह मृत न हो जाय। फिर इसके ऊपर चौड़े मुँह की औंधी कटोरी रखे (मुखाधारा कटोरी से अभिप्राय औंधी कटोरी से है, जिसका मुख ही आधार है)। यह कटोरी चार अंगुल ऊँचाई की हो, और इसमें तीन छेद हों, जिनमें लोहे की शलाकाएँ लगी हों। इन छेदों में सोने के पत्र लगा देवे। इस प्रकार बनाये यंत्र के नीचे से आग देवे। ऐसा करने पर जो धूम निकलेगा, उसके सम्पर्क से सोना काला पड़ जायगा।[2]

१. दत्त्वा खल्वे त्रुटिशो गन्धकमादौ रसं च त्रुटिशोऽपि।
तावच्च मर्दनीयं यावत्सा पिष्टिका भवति॥
तदनु द्रुतबलिवसया समभागनियोजितं तथा गगनम्।
त्रुटिशो रसं च दत्त्वा कुर्वीत यथेप्सितां पिष्टिम्॥
साऽपि च दीप्तैरुपलैर्निपात्यतेऽधोऽथ दीपिकायंत्रे।
तदनु च निर्मुक्तमलो निकृन्त पक्षोऽभ्रगन्धाभ्याम्। (३।२१-२३)

२. लवणं देवीस्वरसप्लुतमहिपत्रं विचूर्णितं शिलया।
एतत्पुटनत्रितयात्सुमृतं संस्थापयेदयःपात्रे॥
विहिताऽर्धाङ्गुलनिम्ना स्फुटविकटकटोरिका मुखाधारा।
तस्योपर्यदिया कटोरिका चाऽङ्गुलोत्सेधा॥
विहितच्छिद्रत्रितया शस्ता चतुरङ्गुलोर्ध्वच्छिद्रेषु।
लोहशलाका योज्यास्तत्रापि च हेमपत्राणि॥
संस्थाप्य विधूप्यन्ते यन्त्राधस्तात् प्रदीपयेदग्निम्।
धूमोपलेपमात्राद् भवन्ति कृष्णानि हेमपत्राणि॥ (५।८-११)

बीज द्रावण उपकरण—दीर्घतमा अर्थात् औंधी उलटी मूषा के तल भाग में रसेन्द्र (पारे) और बीज से बनायी गयी पिष्टी को अच्छी तरह लगा देवे, और मिट्टी को खर्परा के आधे टुकड़े पर रख देवे। फिर धीरे-धीरे गन्धक, हरिताल, मनःशिला और रसक का धुआँ देवे। खर्परा पर गन्धक रखकर फिर आग देवे। फिर खर्परा और मूषा के बीच की संधियों को मिट्टी से बन्द कर देवे, और कण्डे की आग पर तपावे। ऐसा करने से बीज का द्रावण हो जाता है। अधिक गरम करने पर इसका मारण भी संभव है।[1]

नागजारण के लिए पोटलिका—श्रेष्ठ जाति का सीसा, पारा, और स्वर्ण बीज, इन तीनों को मिलावे। फिर इसमें गन्धक, मनःशिला, और हरिताल मिलावे। इन छः पदार्थों का मिश्रण दीप-वर्त्ति प्रयोग से निर्नाग (सीसा-रहित) हो जाता है, अर्थात् इस प्रकार नाग का जारण हो जाता है। इन ६ पदार्थों के मिश्रण को नये मज़बूत कपड़े की पोटली में बाँधे, फिर पोटली को तेल में डुबोकर रखे, और नीचे से दीपक रखकर दीपक की शिखा से गरम करे।[2]

बीज के लिए हण्डिका पाक—रसहृदय में कई स्थलों पर हण्डिका (हाँडी) में पाक तैयार करने का उल्लेख है।[3] उदाहरण के लिए वरबीज विधान में अभ्रक

१. अथवा गन्धकधूमं तालकधूमं शिलाह्वरसकस्य।
दत्त्वाऽधोभागमुखीं दीर्घतमां खर्परस्यार्धे।
ऊर्ध्वं लग्ना पिष्टी सुदृढा च यथा तथा च कर्त्तव्या।
दत्त्वा खर्परपृष्ठे दैत्येन्द्रं दाहयेत्तदनु॥
स्तोकं स्तोकं दत्त्वा कर्षाग्नौ ध्मापयेन्मृदा लिप्ताम्।
गर्भे द्रवति हि बीजं म्रियते च तथाधिके दाहे॥ (५।२४–२६)

२. वरनागं रसराजं बीजवरं सारितं तथा त्रितयम्।
गन्धकशिलालसहितं निर्नागं दीपवर्त्तितो भवति॥
बद्ध्वा सुदृढे वस्त्रे पोटलिकायां शिखीकृतो दीपः।
तैले मग्नं कृत्वा निर्नागं जायते क्षिप्रम्। (५।३७–३८)

३. (क) तत्पादशेषलवणं हण्डिकपाकेन पाचितं सुदृढम्। (५।४८)
(बीजवर विधान)

(ख) त्रिगुणेन माक्षिकेण तु कनकं च मृतं रसकसुतालयुतम्।
पटुसहितं तत्पक्वं हण्डिकया यावदिन्द्रगोपनिभम्॥ (८।१७)
(स्वर्णमारण)

का पत्र, अभ्रक का सत्व, फिटकरी या कांक्षी, कान्त या चुम्बक, स्वर्ण माक्षिक, इनको इकट्ठा करके निर्गुण्डी, कुमारी, चांगेरी, पलाश, और शाक इनके रस में पुट देवे। फिर इन ओषधियों का चौथाई भाग नमक मिलाकर मिट्टी की हाँडी में तब तक पकावे जब तक सिन्दूर का-सा रंग न आ जावे। यह बीज पारे के गर्भ में द्रवित होता है, और पारे का जारण करता है।[1]

खर्पर विधि—खपड़े या खर्पर का उल्लेख पीछे भी हम कर आये हैं। गर्भद्रुति आदि के कार्य में मिट्टी के खर्पर का भी प्रयोग किया जा सकता है।[2]

कच्छप यंत्र—इस जलयंत्र में जारण का कार्य किया जाता है।[3] एक स्थल पर इस यंत्र के संबंध में लिखा है कि पानी से भरे पात्र के बीच में घड़े का बड़ा-सा खर्पर (कुम्भ खण्ड) रखे, और खर्पर के बीच में मिट्टी का कूंडा बनाकर उसके भीतर विड और पारा रखे। इसके ऊपर लोहे की एक छोटी कटोरी उलटकर रख दे और सन्धियों पर कपड़-मिट्टी (कपरौटी) कर देवे। फिर घट-खर्पर को कंडे और तुषा की आग से तपावे।[4]

(ग) यंत्रं हण्डचां पक्वं पञ्चमृदावाप्य पुटपक्वम्।
वक्ष्यामि चालेपविधिं क्रमति च सूतो यथाहि पत्रेषु।
रञ्जति येन च विधिना समासतः सूतराजस्तु॥ (१८।५९) (क्रामण)

१. पत्राभ्रकं च सत्त्वं कांक्षी वा कान्तमाक्षिकं पुटितम्।
निर्गुण्डीगृहकन्याचाङ्गेरीपलाशशाकैश्च॥
तावत्पुटितं कृत्वा यावत्सिन्दूरसप्रभं भवति।
तत्पादशेषलवणं हण्डिकपाकेन पाचितं सुदृढम्॥
एकैकं शतव्यूढं बीजवरं जारयेद्रसेन्द्रस्य।
गर्भे द्रवति क्षिप्रं ह्यभिषवयोगेन मृदित मङ्गुल्या॥ (५।४७–४९)

२. अथवाप्यौषधपिण्डे दोलातप्ते सु खर्परे विधिना।
पुनरपि पिण्डे क्षेप्यं गर्भे यावद्द्रुतिर्भवति॥ (५।५७)

३. दोलायां चत्वारो ग्रासा जार्या यथाक्रमेणैव।
शेषाः कच्छपयन्त्रे यावद्द्विगुणादिकं जरति॥ (६।९)

४. जलपूर्णपात्रमध्ये दत्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम्।
तदुपरि विडमध्यगतः सूतः स्थाप्यस्ततः कुडचे॥
लघुलोहकटोरिकया कृतपटमृत्सन्धिलेपयाच्छाद्य।

वालुक यंत्र—चौदह अंगुल की मूषा के भीतर पारे को दूसरी छोटी मूषा से ढाककर हलकी आँच से तपाने का उल्लेख है।[1]

सारण यंत्र—गहरी मूषा में तेल भरके उसमें पारा, और पारे का दुगुना सोना (अथवा चाँदी आदि) डालकर वेध करके पारे में विशेष गुणों का उत्पन्न करना ही 'सारण' कहलाता है।[2] रस हृदय में सारण संबंधी पाँच विधान षोडश अवबोध में दिये गये हैं।[3] (क) तीन स्थानों पर नली (प्रणालिका) से बँधी एक दीर्घ मूषा

पूर्णं तद्घटखर्परमङ्गारैस्तुषकरीषयुतैः ।। (६।१६–१७)

(देखो रसरत्न समुच्चय, ९।११-१२)

(आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने रसहृदय के किसी पाठ से कच्छप यन्त्र संबंधी निम्न आर्या और दी है–(इनमें कच्छप यंत्र और दीपिका यंत्र दोनों का निर्देश है)—

कृत्वाथ नष्टपिष्टिं त्रिफलाशिखिशिग्रुराजिकापटुभिः ।
संलेप्य चोर्ध्वभाण्डं दीप्तैरुपलैरधः पात्यः ।।
अथवा दीपकयंत्रे निपातितः सकलदोषनिर्मुक्तः ।
कच्छपयन्त्रान्तर्गत मृन्मयपीठस्थदीपिकासंस्थः ।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिका यन्त्रम् ।।)

१. अथवा वालुकयंत्रे सुदृढे चतुर्दशाङ्गुलमूषायाम् ।
मध्ये सूतं मुक्ता लघुतर पुटयोगतो पिहिता ।। (१८।३३)

२. तद्वद् गभीरमूषे सारणतैलार्द्रमेव रसराजम् ।
सूताद् द्विगुणं कनकं दत्त्वा प्रतिसारयेत्तदनु ।। (१६।९)

३. (क) कृत्वा मूषां दीर्घां बन्धितत्रिभागप्रणालिकां तां च ।
तस्याग्रे प्रकटमूषा सच्छिद्रा सुदृढमृत्तिकालिप्ता ।।
तस्मिन्प्रक्षिप्य रसं सारणतैलान्वितं तप्ते ।
प्रद्राव्य तुल्यकनकं क्षिप्तेऽस्मिन् मिलति रसराजः ।। (१६।११-१२)

(ख) कृत्वा नलिकां दीर्घां षडङ्गुलां धूर्तकुसुमसंकाशाम् ।
मूषाप्यधो विलग्ना कर्त्तव्या वै मृदालेप्या ।।
अपरा सूक्ष्मा नलिका कार्या सप्तांगुला सुदृढा ।
मध्ये प्रविशति च यथा तद्वत्कार्या च सुदृढमुखा ।।
तस्मिन्सूतः क्षिप्तः सारण तैलान्वितो मदनरुद्धमुखः ।
तदनु खलु बृहत्तमया हेम प्रद्राव्य हेमकोष्ठिकया ।।

लेवे, और उससे छिद्रवाली प्रकाश मूषा संयुक्त कर देवे। सन्धियों पर मिट्टी का लेप करे। इस मूषा में सारण तैल से अन्वित पारा रखे, और फिर बराबर मात्रा का सोना देकर गलावे। ऐसा करने पर पारा और सोना मिलकर एक हो जावेगा।

(ख) धतूरे के फूल के समान दीर्घ मूषा पहले के ही समान लेवे। इसमें ६ अंगुल की नली लगावे। इस मूषा की नली के नीचे दूसरी मूषा रखे, और पूर्ववत् मिट्टी से लेप करे। फिर एक दूसरी सात अंगुल माप की एक सूक्ष्म, पर मज़बूत नली लेवे, और इसे पहली नली के भीतर प्रविष्ट कर देवे। फिर सारण तैल से अन्वित पारे को भर दे, और मुख को मोम से बंद कर दे। फिर स्वर्ण कोष्ठी से सोना निकालकर गलाकर इसमें मिलावे। नली के अग्र भाग को मोड़कर अधोमुख कर दे (नीचे की ओर झुका देवे)। ऐसा करने से सोने-पारे का सारण हो जायगा।

(ग) आठ अंगुल माप की धतूरे के फूल के आकार की मूषा दृढ़ और चिकनी ले, और इसके भीतर दूसरी छिद्र से युक्त सात अंगुल की मूषा रखे। इस भीतर-

तस्मिन्मध्ये क्षिप्त्वा नलिकाग्रमधोमुखीं कुर्यात्।
ऊर्ध्वं भाराक्रान्तां सरति रसो नात्र संदेहः॥ (१६।१३-१६)

(ग) कृत्वाऽष्टाङ्गुलमूषां धूर्तकुसुमोपमां दृढां श्लक्ष्णाम्।
अपरा मध्यगताऽपि च सच्छिद्रा च सप्ताङ्गुला कार्या॥
निरुद्धां तां च कृत्वा सूतं प्रक्षिप्य तैलसंयुक्तम्।
निर्धूमं कर्षाग्नौ स्थाप्य च मूषां सुसन्धितां कृत्वा॥ (१६।१७-१८)

(घ) वितस्तिमात्रनलिकेऽपि कार्ये सुदृढे तदग्रतो मूषे।
उत्तानैका कार्या निश्छिद्रा छिद्रमुद्रिता च तनौ॥
दत्त्वा सूतं पूर्वं सारणतैलान्वितं निधाप्य भुवि।
उत्तानायां तस्यां मूषायां बीजमावृत्य॥
स्वच्छं ज्ञात्वा च ततस्तद्बीजं छिद्रसंस्थितं कुर्यात्।
बीजं सूतस्योपरि निपतति बध्नात्यसंदेहम्॥
सा च प्रकाशमूषा न्युब्जा कार्याऽर्धाङ्गुलसुनिविष्टा।
नलिका कार्या विधिना ऊर्ध्वे सूतस्त्वधो बीजम्॥
मूषां निरुध्य विधिना ध्माता कोष्ठे द्रुतं बीजम्।
ज्ञात्वा परिवर्त्य ततो निबध्नाति सूतराजं च॥ (१६।१९-२३)

(ङ) अथवा डमरुक यंत्रे सारणविधिना नियोजितः सूतः।
सरति रसेन्द्रो विधिना ज्ञात्वा तत्कर्मकौशल्यम्॥ (१६।२४)

वाली मूषा में तैल से अन्वित पारा लेकर मूँदकर, बिना धुएँवाली कंडे की आग पर पहले के समान तथा (सन्धियों को भली-भाँति मूँद देवे)।

(घ) दो मूषाएँ लेवे। एक मूषा ऊपर रखे और दूसरी नीचे और दोनों के बीच में एक बालिश्त की नली हो। ऊपरवाली मूषा छिद्र रहित, और मुँदे छेदों की हो। सारण तैल से अन्वित पारे को ऊपरवाली मूषा में रखे और बीज को पिघला कर इससे पारे को आच्छादित कर दे। द्रवीभूत निर्मल बीज छेद में से होकर पारे के ऊपर छोड़े। बालिश्तवाली नलिका आधी अंगुल प्रकाश-मूषा के भीतर लगी हो। पारा ऊपर और बीज नीचे, ऐसी आयोजना-नली द्वारा की जाय। मूषा को बन्द करके कोष्ठी यन्त्र में इसे तपावे। ऐसा करने पर बीज गलकर पारे को मार देवेगा।

(ङ) पारे का सारण करने के लिए डमरुक यंत्र का भी प्रयोग किया जा सकता है। इस कार्य में कौशल की आवश्यकता है जो अनुभवी व्यक्तियों से सीखी जा सकती है।

बिड—रसार्णव (९।२–३) में दिये गये बिड के विवरण में और **रसहृदय** के विवरण में बहुत कुछ समानता है। जो केवल आग के योग से धातु की प्रचुर मात्रा का जारण कर दे, वही 'बिड' है। सौवर्च्चल, कटुकत्रय, फिटकरी, कासीस और गन्धक—इनके मिश्रण से 'बिड' बनता है, जो शिग्रु के रस में सौ बार भावना देने पर ताम्रदल का भी जारण कर देता है।[1] इसी प्रकार सोने को मारने के लिए भी एक बिड दिया गया है।[2]

१. **ग्रासं न मुञ्चति न वाञ्छति तञ्च भयः,**
कांश्चिद् गुणान् भजति भुक्तविभुक्तिमात्रात् ॥
यज्जीर्यते प्रचुर केवल वह्नियोगात्,
तस्माद् बिडैर्मुनिबिडैः सह जारणा स्यात् ॥
सौवर्च्चलकटुकत्रयकांक्षी कासीसगन्धकैश्च बिडैः ।
शिग्रो रसशतभाव्यैस्ताम्रद्रलान्यपि च जारयति ॥ (७।१–२)

२. (क) **सर्वाङ्गदग्धमूलकभस्म प्रतिगालितं सुरभिमूत्रेण ।**
शतभाव्यं बलिवसया तत्क्षणतो जार्यते हेम ॥ (७।३)

(ख) **गन्धकतालकशैलाः सौवीरकरसकगैरिकं दरदम् ।**
क्षाराम्ल पटूनि बिडो माक्षिकवैक्रान्तविमलसमभागैः ॥ (५।२७)
इस बिड में गन्धक, हरिताल, शिलाजीत, सौवीराञ्जन, खर्परिका, गैरिक, हिंगुल, क्षार, अम्ल लवण, माक्षिक, वैक्रान्त, रूपामाखी (विमल) इतने पदार्थ होते हैं।

क्षार—(क) कदली, पलाश, (तिल), निचुल, कनक, देवदार, वास्तुक, ऐरण्ड, वर्षाभू, वृष, मोखा ये ऐसे वृक्ष, गुल्म या ओषधियाँ हैं जिनसे क्षार प्राप्त होता है। इनसे मृदु क्षार बनाने की विधि दी गयी है जो सुश्रुत की विधि का अनुकरण है, किन्तु उतने विस्तार से नहीं है। लिखा है कि इन वृक्षों के फूल, फल, त्वचा, पत्ते इन सबको टुकड़े-टुकड़े करके और शुष्क पत्तों को सिल पर पीस कर तिल के काण्डों की आग में जलाये। फिर हाथी, घोड़ा और गाय के मूत्र की भावना दे और फिर वस्त्र से छान ले। भस्म भाग को निकाल कर जल भाग लेवे और हंस पाक विधि द्वारा धीमी आँच पर पकावे। (ख) इस प्रकार सूखते-सूखते जब इसमें से बहुत-सी भाप और बुलबुले निकलने लगें, तो इसमें कटुकत्रय, हिंगुल, गन्धक, क्षारत्रय, षट् लवण, भूखग आदि मिलाकर फिर पुटपाक देवे। इसके अनन्तर सात दिन तक कटोरी में बन्द करके धान्य में गाड़ कर रख दे। ऐसा करने से जो क्षार जल-पाक मिलेगा वह जारण कार्य के लिए उपयोगी है। (ग) जम्बीरी नीबू, बिजौरा, चांगेरी, और वेतसाम्ल के संयोग से ये क्षार गर्भद्रुति और जारण में उपकारी पाये गये हैं।[1]

पारे का जारण—पारे की जितनी मात्रा हो उसका अष्टमांश बिड ऊपर-नीचे रखकर धीरे-धीरे अग्नि को बढ़ाते हुए तपाने से पारे का जारण हो जाता है।[2]

१. (क) कदलीपलाशतिलनिचुलकनकसुरदालिवास्तुकैरण्डाः।
वर्षाभूवृषमोक्षकसहिताः क्षारो यथालाभम्॥
आनीय क्षारवृक्षान् कुसुमफलशिफात्वक् प्रवालैरुपेतान्।
कृत्वाऽतः खण्डशस्तान् विपुलतरशिलापिष्टपात्रातिशुष्कान्॥
दग्ध्वा काण्डैस्तिलानां करिसुरभिहयाम्भोभिरास्राव्य वस्त्रैः।
भस्म त्यक्त्वा जलं तन्मृदुशिखिनि पचेद्वंशपाकेन भूयः॥ (७१४-५)
(ख) तच्छुष्यमाणं हि सबाष्प बुद्बुदान्, यदा विधत्ते क्षणभंगुरान् बहून्।
तदा क्षिपेत् त्र्यूषणहिंगुगन्धकं, क्षारत्रयं षल्लवणानि भखगौ॥
द्रव्याणि संमिश्रय निवृत्य भूतले, व्यवस्थितं शस्त्रकटोरिकापुटे।
संस्थापयेत् सप्त दिनानि धान्यगतं, प्रयोज्यं रसजारणादिकम्॥ (७१६-७)
(ग) जम्बीरबीजपूरकचांगेरीवेतसाम्लसंयोगात्।
क्षारा भवन्ति नितरां गर्भद्रुतिजारणे शस्ताः॥ (७१८)

२. बिडमधरोत्तरमादौ दत्त्वा सूतस्य चाष्टमांशेन।
कुर्य्याज्जारणमेवं क्रमक्रमाद् वर्द्धयेदग्निम्॥ (७१९)

मूषा—मूषा बकरे की हड्डी की भस्म से बनाने को कहा गया है और यह आँवले की आकृति की हो और इसके भीतर सुहागा, विष और गुंजा का लेप किया गया हो।[1]

रसराग[2]

रसार्णव ग्रन्थ के समान रसहृदय में भी पारे को रंग प्राप्त कराने के कुछ योग दिये गये हैं। (क) यदि पारे को अभ्रक की सहायता से जीर्ण किया जाय, तो इसमें घनी अनुकम्पिनी छाया दिखायी देगी, और काले, लाल, पीले, सफेद और अनेक मिश्रित रंग भी उत्पन्न किये जा सकेंगे।(ख) काले अभ्रक के योग से पारे में सफेद, लाल, पीली आदि आभाएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। (ग) अभ्रक सत्त्व से जारण करने पर पारे में बल आता है, तीक्ष्ण लोह के संपर्क से रंग आता है, सारलोह से इसे बन्धता प्राप्त होती है और नाग और वंग द्वारा इसका सारण होता है। (घ) तीक्ष्ण से ही पारे का क्रामण होता है, और इससे ही इसका जारण होता है। तीक्ष्ण ही स्वर्ण-योनि है, और तीक्ष्ण से ही रंग प्राप्त होते हैं। (ङ) तीक्ष्ण के साथ दरद (हिंगुल Cinnabar) और माक्षिक और मदार के दूध का प्रयोग करने से चारण और जारण और भी विशेषता से होते हैं। (च) रसरञ्जन कार्य में कान्तलोह, तीक्ष्ण-

१. छागास्थिभस्मनिर्मित मूषां कृत्वैव मल्लकाकाराम्।
दलयोगे घनरन्ध्रां टंकणविषगुञ्जकृतलेपाम्॥ (११।१३)

२. (क) जीर्णाभ्रको रसेन्द्रो दर्शयति घनानुरूपिणीं छायाम्।
कृष्णां रक्तां पीतां सितां तथा संकरे मिश्राम्॥ (८।१)

(ख) कृष्णाभ्रकेण बलवदसितरागैर्युज्यते रसेन्द्रस्तु।
श्वेतैः रक्तैः पीतैर्वह्लैः खलु वर्णतो ज्ञेयः॥
अथ निजकर्म वर्णं न जहाति यदा स रज्यते रागैः।
क्रमशो हि वक्ष्यमाणैर्निर्णिक्तो रञ्जनं कुरुते॥ (८।२-२)

(ग) बलमास्तेऽभ्रकसत्त्वे जारणरागाः प्रतिष्ठितास्तीक्ष्णे।
बन्धश्च सारलोहे सारणमथ नागवङ्गाभ्याम्॥ (८।४)

(घ) क्रामति तीक्ष्णेन रसस्तीक्ष्णेन जीर्यते क्षणाद्ग्रासः।
हेम्नो योनिस्तीक्ष्णं रागान् गृह्णाति तीक्ष्णेन॥ (८।५)

(ङ) तदपि च दरदेन हतं हत्वा वा माक्षिकेण रविसहितम्।
वासितमपि वासनया घनवच्चार्यञ्च जार्यञ्च॥ (८।६)

लोह, फिटकरी, वज्र, सस्यक ये सब एक समान ही उपयोगी हैं। (छ) वंग (कुटिल) रसरञ्जन कार्य में बल देता है, तीक्ष्ण लोहा रंग देता है, सीसा स्निग्धता प्रदान करता है और कमला (ताँबा) राग, स्नेह और बल तीनों देता है। (ज) इन सभी धातुओं द्वारा माक्षिक और विड के योग से पारा धातुओं में प्रविष्ट हो जाता है। (झ) हरिताल, दरद, मनःशिला, तेल, क्षार,अम्ल, लवण इनके साथ एक, दो या तीन पुट देने से वंग और सीस का मारण हो जाता है। (ञ) लाल तेल के द्वारा अभिषिक्त करके पारे की पिष्टि बना लें, तो चारण और जारण-मात्र से इसमें वीरबहूटी का-सा रंग आ जावेगा। (ट) अथवा, विमला, ताँबा, दरद, इनका बीज वपन करके तीन बार जारण करने से पारे में लाख का-सा रंग आ जावेगा। (ठ) इसी प्रकार लाल-रंग के वर्गवाले पदार्थों और पशु-मूत्र द्वारा भावित करके ताप्य, गन्धक और मनः-शिला एवं ताँबे की भस्म द्वारा बीज वपन करके पारे में रंग उत्पन्न किया जा सकता है। (ड) गन्धक से राग बाहर आता है, मनःशिला और हरताल से विलुलित राग उत्पन्न होता है। माक्षिक और रसक ये दोनों रञ्जन कार्य में प्रशस्त हैं।

(च) कान्तं वा तीक्ष्णं वा कांक्षी वा वज्रसस्यकं वापि।
एकतमं सर्वं वा रसरजने संकरोऽभीष्टः॥ (८।७)

(छ) कुटिले बलमभ्यधिकं रागस्तीक्ष्णे तु पन्नगे स्नेहः।
रागस्नेहबलानि तु कमले शंसन्ति धातुविदः॥ (८।८)

(ज) सर्वैरेभिर्लोहैर्माक्षिकनिहतैस्तथाद्रुतंगर्भे
बिडयोग तु जीर्णो रसराजो बन्धमुपयाति॥ (८।९)

(झ) तालकदरदशिलाभिः स्नेहक्षाराम्ललवणसहिताभिः।
समकद्विगुणत्रिगुणात् पुटो वहेद् वंगशस्त्रादीन्॥ (८।१०)

(ञ) रक्तस्नेहनिषेकैः शषं कुर्य्याद् रसस्य कृष्टिरियम्।
चारणजारणमात्रात् कुरुते रसमिन्द्रगोपनिभम्॥ (८।११)

(ट) अथवा केवलममलं कमलं दरदेन वापितं कुरुते।
त्रिगुणं चीर्णजीर्णं लाक्षारस सन्निभं सूतम्॥ (८।१२)

(ठ) रक्तगणगलितपशुजलबहुभावित ताप्य गन्धक शिलानाम्।
एकेन वापितमृतं कमलं रञ्जयति रसराजम्॥ (९।१३)

(ड) बाह्यो गन्धकरागो विलुलितरागे मनःशिलाताले।
माक्षीकसत्त्वरसकौ द्वावेव हि रञ्जने शस्तौ॥ (८।१४)

स्वर्ण बनाने का प्रयत्न[1]

साधारण धातुओं में सोने की-सी चमक लाने का प्रयत्न इस युग की विशेषता थी। पारे में सोने के से रंग उत्पन्न करने के कुछ योग **रसहृदय** ग्रन्थ में दिये गये हैं। (क) मूक मूषा (बन्द मूषा) में मदार के दूध और रसक (Calamine, ज़िंक सलफाइड) के साथ पारे का यदि तीन बार जारण करें तो इसमें सोने का-सा रंग आ जाता है। (ख) काले अभ्रक के चूर्ण का पुट पाक करें तो यह लाल पड़ जावेगा, और इससे तीन बार जारण करने पर पारे में स्वर्ण द्रुति का-सा रंग आ जावेगा। (ग) माक्षिक, मदार, हरताल, इनके योग से बन्द हाँडी में पकाने पर बीरबहूटी का-सा रंग आ जावेगा। (घ) स्वर्ण के समान रंगे हुए पारे से सभी धातुएँ रंगी जा सकती हैं। (ङ) पत्र से आठ गुणा सत्त्व, सत्त्व से आठ गुणी द्रुति, और द्रुति से आठ गुणा बीज जारण कर्म में उपयोगी है।

बीज—चाहे पारा लाल क्यों न हो, पर बिना बीज के यह कार्य-कर नहीं होता। बीज पीला और श्वेत होता है, और पारद सिद्धि में इसका उपयोग करना चाहिए।

बीज में अभ्रक, रस, उपरस, लोह, चूर्ण आदि मिले होते हैं, इस प्रकार बीज शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का होता है। अशुद्ध बीज से शुद्धि कभी भी नहीं की जा सकती। अशुद्ध वीज से जो पारा तैयार किया जाता है वह न तो जारण आदि कर्म में उपयोगी है, और न ओषधियों में।[2]

१. (क) क्रमवृत्तौः रविरसकौः संशुद्धौ मूकमूषिकाध्मातौ।
त्रिगुणं चीर्णो जीर्णो हेमाभो जायते सूतः॥ (८।१५)
(ख) अथ कृष्णाभ्रकचूर्णं पुटितं रक्त भवेत्तथा सकलम्।
त्रिगुणं चीर्णो जीर्णो हेमद्रुतिसंनिभः सूतः॥ (८।१६)
(ग) त्रिगुणेन माक्षिकेण तु कनकं च मृतं रसकसुतालयुतम्।
पटुसहितं तत् पक्वं हण्डिकया यावदिन्द्रगोपनिभम्॥ (८।१७)
(घ) तच्चूर्णं सूतवरे त्रिगुणं चीर्णं हि जीर्णं तु।
द्रुतहेमनिभः सूतो रञ्जति लोहानि सर्वाणि॥ (८।१८)
(ङ) पत्रादष्टगुणं सत्त्वं सत्त्वादष्टगुणा द्रुतिः।
द्रुतेरष्टगुणं बीजं तस्माद् बीजं तु जारयेत्॥ (८।१९)

२. इति रक्तोऽपि रसेन्द्रो बीजेन विना न कर्मकृद् भवति।
द्विविधं तत् पीतसितं नियुज्यते सिद्धमेवैतत्॥

धातुओं और अन्य रसों का शोधन—शोधन-कार्य में सूर्यावर्त्त, कदली, घृतकन्या, कोशातकी, सुरदाली, शिग्रु, वज्रकन्द, नीरकण और काकमाची आदि ओषधियों को रस लवण, अम्ल एवं क्षारों द्वारा भावित करके प्रयोग में लाया जाता है। इनकी सहायता से रस और उपरसों का शोधन होता है, और उनके सत्व भी प्राप्त होते हैं।[1]

(क) क्षार और अम्लों के साथ उबालकर और फूंककर वैक्रान्त का शोधन होता है। शश-रक्त (खरगोश के रुधिर) की भावना देकर कान्तलोह की द्रुति प्राप्त होती है। (ख) रक्त वर्णवाले पदार्थों और तेल और रंगों के साथ भावना देकर सस्यक (तूतिया) का शोधन होता है। (ग) विमल का शोधन करना हो तो इसे पहले क्षार और तैल से भावित करे और अन्त में अम्ल से। और इसी प्रकार रसक (calamine), दरद (cinnabar), और माक्षिक (pyrites) का भी शोधन करना चाहिए। (घ) ताम्र के पतले पत्रों के लवण, क्षार, अम्ल, मदार और स्नुही के दूध, निर्गुण्डी का रस इनके द्वारा लिप्त करके और फूंक करके इसका शोधन किया जा सकता है। इस प्रकार ताम्र की द्रुति प्राप्त होती है। (ङ) नाग, वंग और घोष (कांस्य) धातुएँ मदार के दूध, निर्गुण्डी रस आदि के साथ सात बार भावना देकर शुद्ध की जा सकती हैं। (च) लाल वर्ग के पदार्थों के साथ गलाकर और पशुओं के मूत्र की भावना देकर, केले के फूल की तीन बार भावना देकर तीक्ष्ण लोह का शोधन किया जा सकता है। (छ) माक्षिक सत्त्व और गन्धक द्वारा मारा गया ताँबा वीरबहूटी के रंग का शुद्ध प्राप्त किया जा सकता है।[2]

तस्य विशुद्धिर्बहुधा गगनरसोपरसलोहचूर्णैश्च।
द्विविधं बीजं तैरपि नाशुद्धैः शुध्यते वैतत्॥
यः पुनरेतैः कुरुते कर्माशुद्धैर्भवेद् रसस्तस्य।
अव्यापकः पतङ्गी न रसेन रसायने योग्यः॥ (९।१–३)

१. सूर्यावर्त्तः कदली कन्या कोशातकी च सुरदाली।
शिग्रुश्च वज्रकन्दो नीरकणा काचमाची च॥
आसामेकरसेन तु लवणक्षाराम्लभाविता बहुशः।
शुद्धयन्ति रसोपरसा ध्माताः सत्त्वानि मुञ्चन्ति॥ (९।८-९)

२. (क) स्विन्नं सक्षाराम्लैः ध्मातं वैक्रान्तकं हठाद्द्रवति।
तद्द्रुतमात्रं शुध्यति कान्तं शशरक्तभावनया॥
(ख) सस्यकमपि रक्तगणैः सुभावितं स्नेहरागसंसिक्तम्।
शुध्यति बारैः सप्तभिरतः परं युज्यते कार्ये॥

निर्देश

गोविन्द भगवत् पाद (भिक्षु गोविन्द)—रसहृदय तंत्र, वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य और त्र्यम्बक गुरुनाथ काळे द्वारा संपादित, मुग्धबोधिनी व्याख्या, चतुर्भुज मिश्र कृत, बम्बई (१९११ ई०)।

(ग) क्षारैः स्नेहैरादौ पश्चादम्लेन भावितं विमलम्।
शुध्यति तथा च रसकं दरदं माक्षीकमप्येवम्॥

(घ) तनुरपि पत्रं लिप्तं लवणक्षाराम्लरविस्नुक्क्षीरैः।
ध्मातं निर्गुण्डीरससिक्तं बहुशो भवेद्धि रक्तं च॥

(ङ) शुद्ध्यति नागो वंगो घोषो रविणा च वारटोमुनिभिः।
निर्गुण्डीरससेकैस्तन्मूलरजः प्रवापैश्च॥

(च) रक्तगणगलितपशुजलभावितपुटितं हि रज्यते तीक्ष्णम्।
शुद्ध्यति कदलीशिखिरसभावितापुटितात्रिभिर्वारैः॥

(घ) सर्वः शुद्ध्यति लोहो रज्यति सुरगोपसन्निभो वापात्।
माक्षिक दरदेन भृशं शुल्बं वा गन्धकेन मृतम्॥ (९।१०-१६)

चौदहवाँ अध्याय

तीसट और चिकित्साकलिका

(नवीं शताब्दी)

तीसट की 'चिकित्साकलिका' का प्रकाशन १९५० ई० में वैद्यसारथि प्रेस, कोट्टयम (केरल प्रान्त) से श्री नारायण के पुत्र श्री शंकर शर्मा के सम्पादकत्व में हुआ। तीसट और उसका पुत्र चन्द्रट दोनों प्रसिद्ध आयुर्वेद-ग्रन्थकार हैं। डा० होर्णल ने चन्द्रट का कार्यकाल सन् १००० ई० के निकट का बताया है, परन्तु प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के अनुसार चन्द्रट का समय सन् ९५० के आसपास ठहरता है,[1] और इसलिए उसके पिता तीसट का समय सन् ९०० ई० के निकट माना जा सकता है। तीसट के पिता भी लब्धप्रतिष्ठ आयुर्वेदमर्मज्ञ थे (जैसा कि चन्द्रट ने लिखा है)। कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में जो वाक्य मिलते हैं, उनसे पता चलता है,कि तीसट के पिता वाग्भट थे[2], पर क्या ये वही वाग्भट थे जो 'अष्टांगहृदय' या 'अष्टांगसंग्रह' के रचयिता थे, इसमें सन्देह हो सकता है (यह भी तो सन्दिग्ध ही रहा है कि अष्टांग-

१. 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली' में प्रो० दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य ने पृ० १५३ पर (जून १९४७) आयुर्वेदकर्त्ताओं का समय इस प्रकार ठहराया है—'चरकन्यास' का रचयिता भट्टार हरिचन्द्र—सन् ६०० ई० से पूर्व; 'आयुर्वेदसार', 'बिन्दुसार', 'सिद्धसार' आदि का समय सन् ६०० से ९०० ई० के बीच में; वाग्भट (जो ८०० ई० से पहले का तो हो ही नहीं सकता)—सन् ८५० ई० के लगभग; चन्द्रट सन् ९५० ई० के लगभग; वृन्दकुण्ड सन् ९७५–१००० के लगभग, और चक्रपाणि दत्त सन् १०४०-५० के निकट।

२. भाण्डारकर इन्स्टीटयूट की 'चिकित्साकलिका' प्रति के आदिम भाग में ये शब्द हैं—"वाग्भटसूनुना तीसटेन विरचितम्", और ग्रन्थ के अन्त में—"इति वाग्भटसूनुना तीसटदेवेन रचितं चिकित्साशास्त्रम्।" हो सकता है कि यहाँ वाग्भट से अभिप्राय "अष्टांगहृदयसंहिता"—कर्त्ता वाहट नाम के आचार्य से हो। यह मत डा० आफ्रेच्ट को भी स्वीकृत है।

हृदय और अष्टांगसंग्रह के रचयिता एक ही वाग्भट है, अथवा एक वाग्भट है और दूसरा वाहट)।

'चिकित्साकलिका' के अन्त में एक श्लोक है, जिसमें इस ग्रन्थ को ४०० छन्दों का बताया गया है।[1] इस ग्रन्थ का उल्लेख आचार्य हेमाद्रि ने **अष्टांगहृदयव्याख्या** में, विजयरक्षिताचार्य ने अपनी **मधुकोश** नामक **माधवनिदान** की व्याख्या में एवं वीरसिंह ने स्वरचित **वीरसिंहावलोकन** नामक ग्रन्थों में किया है। हेमाद्रि ने अपनी **अष्टांगहृदयव्याख्या** में देवगिरि के महाराज रामचन्द्र का स्मरण किया है, अतः हेमाद्रि का काल सन् १२७१–१३०९ ई० के बीच का माना जा सकता है। विजयरक्षित और वीरसिंह के समय के विषय में निश्चय करना कठिन है। डा० होर्णेल **अष्टांगसंग्रह** का कर्त्ता वाहट को सन् ६२५ ई० के लगभग और **अष्टांगहृदय** के रचयिता वाहट को आठवीं या नवीं शती का मानते हैं (वे दोनों को भिन्न व्यक्ति मानते हैं)। पर अब तो विद्वान् दोनों को एक ही वाग्भट की रचना स्वीकार करते हैं।

तीसट के पुत्र चन्द्रट ने संभवतः **चिकित्साकलिका** की कोई टीका भी लिखी थी, पर यह कहीं अब तक देखने को नहीं मिली।

तीसट ने **चिकित्साकलिका** के आरंभ में अश्विनीकुमार, धन्वन्तरि, हारीत, सुश्रुत, पराशर, भोज, भेड, अग्निवेश, चरक आदि का स्मरण किया है।[2]

चिकित्साकलिका में ज्वर, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, भगन्दर, शोफ, उदर, गुल्म, विद्रधि, गण्डमाला, विस्फोट, श्लीपद, वातरक्त, विसर्प, कुष्ठ, श्वित्र, प्रमेह, पाण्डु, श्वास, कास, रक्तपित्त, तृष्णा, छर्दि, हिक्का, शूल, उदावर्त, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, कृमि, वात, काय व्रण, भूतोन्माद और विष की चिकित्साएँ दी गयी हैं। इनके अतिरिक्त

१. **एषा चिकित्साकलिका सदर्थगन्धा भिषक्षट्पदवृन्दसेव्या। निरूपिता वृत्तशतैश्चतुर्भिर्योगैः स्रगब्जैरिव तीसटेन ॥ (४०७) (४०० कमलपुष्पों की 'चिकित्साकलिका' एक माला है, जिसकी गन्ध से भिषक्-भ्रमर अवश्य मुग्ध होंगे।)**

२. **सूर्याश्विधन्वन्तरिसुश्रुतादीन्, भक्त्या नमस्कृत्य पितुश्च पादान्।**
कृता चिकित्साकलिकेति योगैर्माला सरोजैरिव तीसटेन ॥१॥
हारीतसुश्रुतपराशरभोजभेडभृग्वग्निवेशचरकादिचिकित्स कोक्तैः।
एभिर्गणैश्च गुणवद्भिरतिप्रसिद्धैर्धान्वन्तरीयरचनारुचिरप्रबन्धैः ॥२॥

शालाक्य तन्त्र, रसायन तंत्र और वाजीकरण तन्त्र भी दिये गये हैं। 'शालाक्य तंत्र' के अन्तर्गत नेत्र, नासारोग, कर्णरोग, मुखरोग और शिरोरोग की चिकित्साएँ हैं। शिशुओं के रोगों के संबंध में एक कौमारतन्त्र हैं, जिसमें तीन श्लोक हैं। प्रारम्भिक प्रकरण में पंचमहाभत, सतोगुण,[१] रजोगुण और तमोगुण, वात, कफ, पित्त[२] आदि का उल्लेख है।

चिकित्सा के लिए **चरक** और **सुश्रुत** के समान इस ग्रन्थ में भी वनस्पतियों और प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग निर्दशित किया गया है।[३] **सुश्रुत** की पद्धति पर क्षार-कर्म, शल्यकर्म आदि का आश्रय भी अनेक चिकित्साओं में मान्य समझा गया है। ओषधियों की सूची कुछ इस प्रकार है —

१. **अनिलामयजित् गण**—रास्ना, त्रिकण्टक, अश्वगन्धा, पुनर्नवा आदि ॥४८॥

२. **पित्तापह ओषधि**—काकोली द्वय, ऋद्धि, मधुक, मेदा, पद्मक, शृंगी, कीचक, रोचना, अमृतलता, मुद्‌ग, माष, जीवन्ती, जीविका, ऋषभा, पुण्डरीका आदि ॥४९॥

३. **कफामयहर**—कृष्णा ग्रन्थिक, चव्य, चित्रक, वृषा, विश्व, पाठा, स्पृक्का, शक्र, यव, अजमोद, भार्ङ्गी, विडङ्ग आदि ॥५०॥

४. **पित्तकफामयघ्न**—त्रायन्तिका, कटुज, बीज, वृष, अमृता, तिक्ता, पटोल, पिचु, दुरालभा, भूनिम्ब, राजतरु, पद्मक, पर्पट आदि ॥५३॥

५. **पित्तवातघ्न**—स्थिरा, पृथक्पर्णी, पुनर्नवा, त्रिकण्टक, एरण्ड, जटोच्चटा, विदा-रिका, नागबेला, बरी आदि ॥५१॥

१. **यद् भूपयःशिखिसमीरवियद्‌भिरेभिर्भूतैर्गुणैरपि च सत्वरजस्तमोभिः ॥४॥**

२. **वातपित्तकफकोपलक्षणं सूत्रितं यदिह सूत्रसंग्रहे।**
प्रोच्यते तदिह सांप्रतं मया रुक्परीक्षणमनेन कारयेत् ॥३३॥
तत्र तावदनिलः शममेति स्नेहवस्तिपरिषेकनिरूहैः।
भुक्तमात्रबलदेन नराणामोदनेन मृदुमांसरसेन ॥४४॥
द्राक्षया त्रिफलया त्रिवृता च स्रंसनेन रुधिरस्रुतिभिश्च।
सर्पिषा च पयसा सितया च, स्वादुना भवति पित्तनिवृत्तिः ॥४५॥
लंघनेन वमनेन यवान्न-प्राशनेन शिरसश्च विरेकैः।
कटुफलादिकबलैरहिमाभिश्चाद्‌भिरत्र शममेति कफश्च ॥४६॥

३. **इतीदमुक्तं यदुदीरितं पुरा समुच्चये सूत्रमविस्तरौषधम्।**
कियद्‌भिरप्यौषधसंग्रहैर्गणैर्निगद्यते चान्यदतश्चिकित्सितम् ॥४७॥

६. **कफवातघ्न**—कट्फल, अम्बुधर, धान्यक, भार्ङ्गी, शृंगी, पर्पटक, विश्ववचा, अभया, अमर सुगन्ध आदि ॥५२॥

७. **कुष्ठहर, मुखनयनामयहर**—विभीतक, आमलक, हरीतक (त्रिफला) ॥५४॥

८. **सन्निपातहर**—विश्व, उपकुल्या, मरिच (त्र्यूषण) ॥५५॥

९. **दीप्तिकारक**—पिप्पली, ग्रन्थिक, चव्य, चित्रक, नागर (पंचकोलक) ॥५६॥

१०. **व्रणघ्न, श्वयथुघ्न**—वटी, वट, उदुंबर, वेतस, अश्वत्थ (पंचमहीरुह) ॥५७॥

११. **विष-श्लेष्मानिलघ्न**—एला, गुग्गुलु, दारु, कुन्दुरु, मुरा, स्थौणेय, कौन्तीनत, चण्डा, चोरक (चोचक चोर), चन्दन, श्रीवेष्टक, ध्यामक, स्पृक्का, कुंकुम, तुरुष्क, फलिनी, मांसी, लवंग, अगुरु, त्वक्, पत्र, केसर आदि ॥५८॥

१२. **पित्तव्याधिघ्न**—काकोलीद्वय, जीवक, ऋषभ, मेदायुग्म, अर्ध, ऋद्धि, वृद्धि, (अष्टवर्ग) ॥५९॥

१३. **वातकफापहारि**—त्वक्, पत्रक, एला (त्रिसुगन्ध) ॥६०॥

१४. **वर्ण्य-विषघ्न**—त्रिसुगन्ध और नागपुष्प (चतुर्जातक) ॥६१॥

१५. **गुल्म-विद्रधि आदि रोगहर**—वरुण, कुरण्टक, शिग्रु, बृहती-द्वय, दर्भ, वरी, ककुभ, करञ्ज, चिरबिल्व, द्विपबला, अग्निमन्थ, मोरटा, कर्कट, मेषशृंगी आदि ॥६२॥

१६. **श्लेष्म-वातामयहर**—श्रीपर्णिका, ज्वलनमन्थ, वसन्तदूती, टुण्टुक (डुण्डूक), विल्व (पृथु पञ्चमूल) ॥६३॥

१७. **पित्त-वात-उल्बणविकारहर**—व्याघ्री, बृहती, अतिगुहा, गुहा, श्वदंष्ट्रा (कनीय पंचमूल) और ऊपर गिनाये हुए पञ्चमूल (दशमूल) ॥६४॥

१८. **कास-श्वास-सन्निपातादिहर**—पाँच पृथु पंचमूल और पाँच कनीय पंचमूल मिलाकर दशमूल ॥६५॥

'चिकित्साकलिका' में जितनी भी वानस्पतिक ओषधियाँ गिनायी गयी हैं, वे लगभग सभी चरक में पायी जाती हैं। द्रव्यों को १८ गणों में विभाजित किया गया है—(१) रास्नादि, (२) काकोल्यादि, (३) कृष्णादि, (४) त्रायन्त्यादि, (५) स्थिरादि, (६) कट्फलादि, (७) एलादि, (८) वरुणादि, (९) पृथु पञ्चमूल, (१०) कनीय पंचमूल, (११) दशमूल, (१२) फलत्रय (त्रिफला), (१३) त्र्यूषण, (१४) पञ्चकोल, (१५) त्वक्पंचक, (१६) अष्टवर्ग, (१७) त्रिसुगन्ध, (१८) चतुर्जात।

इन ओषधियों के योग से जो नुसखे बनते थे वे निम्नोक्त कोटि के थे—तैल, घृत, चूर्ण, कल्क, प्रलेप, सेक, अवगाह, पान, आस्थापन, अनुवासन, नस्य, अञ्जन, वर्त्ति ।[1]

स्वेदन, स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूहण, वस्तिकर्म, नस्यकर्म आदि का भी विधान है ।[2]

रास्ना आदि ओषधियों में पानी मिलाकर और उबालकर कषाय बनाने का विधान भी है ।[3]

लवण, यवक्षार, स्वर्जिकाक्षार आदि का भी 'चिकित्साकलिका में कहीं-कहीं उल्लेख आया है ।[4] क्षार का प्रयोग शस्त्रकर्म (शल्य) में भी होता था ।[5] अधिकतर दो क्षारों और पंचलवण का उल्लेख है ।[6]

१. अष्टादशभिरमीभिर्द्रव्यगणैर्वीक्ष्य वातपित्तकफान् ।
योगा रोगार्त्तानां विभज्य भिषजा प्रकल्प्यन्ते ॥
तैलघृतचूर्णकल्कप्रलेपसेकावगाहपानानि ।
आस्थापनानुवासननस्याञ्जनवर्त्तिविषयश्च ॥६६–६७॥

२. प्राक्पाचनं स्नेहविधिर्विधेयः स्वेदस्ततः स्याद् वमनं विरेकः ।
निरूहणस्नेहनवस्तिकर्म नस्यं क्रमश्चेति भिषग्वराणाम् ॥६९॥

३. रास्नादिभिः पलचतुष्कमितैर्जलस्य द्रोणे शृतैश्चरणशेषकृते कषाये ।
एलादिभिः समधुरैरिति दुग्धपिष्टैस्तैलं विपक्वमनिलापहरं नराणाम् ॥७२॥

४. (क) शुण्ठ्यादिभिः सलवणत्रययावशूकैः,
सस्वर्जिकाख्यचिरिबिल्वजवल्ककल्कैः ।
षड्भिः पलैरिति घृतं शृतमग्निहेतुः,
स्यादार्द्रकद्रवयुतं पृथुषट्पलाख्यम् ॥ (७८)

(ख) सकलिंगवचामगधाम्बु मधुकं लवणेन घृतं मदनांबु पिबेत् । (८०)

(ग) सक्षारातिविषैः सहिंगुहपुषासिन्धूद्भवैः कल्कितैः । (११८)

(घ) सस्वर्जिकालोहितयष्टिकात्वक्, सविश्वलाक्षा क्षणदा समूर्वा । (१२१)

(ङ) सग्रन्थिकं त्रिकटुकं लवणत्रयञ्च, क्षारद्वयं सचविकञ्च सचित्रकञ्च । (१३५)

५. (क) क्षारेण चान्यदनलेन चतुर्थमित्थमित्यागमप्रकुशलाः किल सुश्रुताद्याः । (१४५)

गरम पानी में यव-कोल-कुलत्थ आदि का निकला रस, तक्र, मद्य, दही, मस्तु, सुरा, आसव आदि पेयों का उदरचिकित्सा में निर्देश है।[१]

विद्रधिचिकित्सा के प्रसंग में कासीस, सैन्धव, शिलाजतु और हिंगुचूर्ण का निर्देश है।[२] कुष्ठ और श्वित्र रोग में लोह (अयस्) का घी और मधु के साथ प्रयोग बताया गया है।[३] मण्डूर (Iron rust) और लोहरज का प्रयोग पाण्डुचिकित्सा में बताया गया है।[४] इसी प्रकार **चिकित्साकलिका** में माक्षिक,[५] गैरिक,[६] कंकुष्ठ,[७] विड,[८] मनःशिला,[९] सौवीरकांजन,[१०] रसांजन[११] अथवा अंजन

(ख) क्षाराग्निशस्त्रपतनैरपि ये न सिद्धाः, सिद्ध्यन्त्यनेन वटकेन गुदामयास्ते। (१५१)

(ग) शुक्राशयं यदि गता न गतिर्गुदं वा, स्यात् सेवनीमथ भवेत् प्रचुरव्रणा वा। शस्त्रैर्विदार्य विधिवद् व्रणवद्भिषग्भिः, क्षारेण वा ज्वलनतप्तशलाकया वा। (१५९)

६. द्वौ क्षारौ लवणानि पञ्च (१६४); क्षारद्वयत्रिकटु० (१७३)

१. उष्णोदकेन यवकोलकुलत्थतोयैस्तक्रेण मद्यदधिमस्तुसुरासवैर्वा। नारायणं प्रपिबतः सकलोदराणि नश्यन्ति विष्णुमिव दैत्यगणा द्विषन्तः ॥ (१६६)

२. कासीससैन्धवशिलाजतुहिंगुचूर्ण-मिश्रीकृतो वरुणवल्कलजः कषायः। (१८०)

३. (क) अयः समं मागधिकादिवर्गाच्चूर्णं घृतक्षौद्रमतो द्विभागम्। (२०५)
(ख) लोहचूर्णाढकार्द्धं च त्र्याढकी त्रिफला भवेत्। (२०९)

४. मण्डूरकं द्विगुणमष्टगुणञ्च मूत्रम् (२२२); कर्षाणि लोहरजसश्च नवेति चूर्णम् (२२६)

५. समाक्षिकं चापि विभीतकस्य (३४७); छर्दिछिनत्याशु समाक्षिकं तु (२४९) इसी प्रकार देखो श्लोक २५०, २५८, ३४१, ३८६ आदि।

६. सगैरिका तिक्तकरोहिणी च (२५१); आजं यकृद् गैरिकसम्प्रयुक्तम् (३४५)

७. कंकुष्ठसैन्धवविळैश्च गुडप्रगाढैः। (२६१)

८. सस्वर्जिका विळवचाञ्जनमातुलुङ्ग० (३५१), और देखो श्लोक २६१

९. मरिचमागधिकासमनःशिलाजलधिफेनसकुंकुमशंखकैः (३४२)

१०. सौवीरकाञ्जनमिदं तिमिरामयघ्नम् (३४४)

११. पाके गुदस्य च रसाञ्जनमम्बुपिष्टम् (३८६)

मात्र का भी उल्लेख है। मंजिष्ठा[1] और शिलाजीत[2] का उल्लेख भी कई स्थलों पर हुआ है।

ग्रन्थ के लगभग अन्त में ९ श्लोक (३८८–३९६) विषचिकित्सा के संबंध में हैं। कपित्थ, काश्मर्य, शिरीष, धात्री, इनके फूलों को गरम पानी के साथ पीसकर पीने, से साँप और बड़े विषैले मण्डली साँपों का विष दूर हो सकता है।[3] कबूतर की विष्ठा, मनुष्य के सिर के बाल, गाय का सींग, मोरपंखी, यव और धान का तुष (भूसी), कपास का बीज (बिनौला), इनके धुएँ आदि के प्रयोग से घर के चूहे और साँप दूर किये जा सकते हैं।[4] इसी प्रकार कुत्ते के विष को दूर करने का भी एक योग दिया गया है।[5]

इस पुस्तक में चरक, सुश्रुत, भेड, पराशर, विदेह, धन्वन्तरि, च्यवन ऋषि और आस्तीक मुनि के नामों का उल्लेख आया है।[6]

निर्देश

तीसटाचार्य—'**चिकित्साकलिका**', वयस्कर नारायणशंकर मूस द्वारा सम्पादित, वैद्यसारथि प्रेस, कोट्टयम् (१९५०)।

१. मञ्जिष्ठा सुरकाष्ठकुष्ठ० (२८९); मञ्जिष्ठा सरळागुरु० (२९०); मञ्जिष्ठिकाकुटिलकुष्ठहरेणुकाभिः (२९४); मञ्जिष्ठाष्टकवर्गचन्दन० (३०८)

२. मुष्टिर्मागधिकापलद्वयमयं प्राशः स्मृतश्च्यावनः (२६७); च्यवनरचितप्राशप्राशादपुण्यशतान्यपि (२६९)

३. कपित्थ काश्मर्य शिरीषधात्रीपुष्पाणि पिष्ट्वा सलिलैरनुष्णैः।
पीतानि सर्पस्य विषं निहन्युर्विषं महन्मण्डलिनां सकष्टम्॥ (३८९)

४. कपोतविण्मर्त्यशिरोरुहाणि सगोविषाणं शिखिपिच्छकाग्रम्।
यवस्य धान्यस्य तुषाश्च बीजं कार्पासजं चाध्युषिताऽथ माला॥
इत्यौषधीभिः परिकल्पितोऽयं धूपोऽगदः स्याद् भुजगाखुयुक्ते।
गृहे विधेयः कुशलैरनेन नश्यन्ति सर्पाश्च तथाऽखवश्च॥ (३९२–३९३)

५. तैलार्कदुग्धपललैः सगुडैरमीभिर्योगः समैरिति चतुर्भिरलर्कदष्टे।
स्यात् सारमेयविषहा शरपुंखया वा धत्तूरबीजयुतपिष्टकपिप्पलीवा॥ (३९६)

६. (क) अतः सदा चरकपराशरादिभिः प्रसारिणीश्रृतमिति तैलमर्चितम्। (३०६)
(ख) एतत् सर्वमरुद्विकारशमनं प्रोक्तं विदेहादिभिः। (३०८)
(ग) भेडाभिधानमुनिना गदितं मुनीनाम्। (२५२)
(घ) एषोऽगदः सर्वविषाणि हन्यादास्तीकनाम्ना मुनिना प्रणीतः। (३९४)

पन्द्रहवाँ अध्याय

रसार्णव

(बारहवीं शती)

यह कहना कठिन है कि **रसार्णव** नाम का रसतंत्र ग्रन्थ कब, किसने, कहाँ बनाया। माधव ने अपने ग्रन्थ में जो सूची दी है, उसमें से केवल **रसार्णव** ही अब मिलता है। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर **रसार्णव** का एक प्रामाणिक संस्करण सन् १९१० में एशियाटिक सोसायटी आव् बंगाल की ओर से प्रकाशित कराया। **रसेन्द्रचिन्तामणि, रसरत्नसमुच्चय, सर्वदर्शनसंग्रह, योगतरंगिणी** और **रसकामधेनु** में बहुत-से ऐसे उद्धरण हैं, जो **रसार्णव** से ही लिये गये हैं, और यह बात **रसार्णव** की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। आचार्य राय **रसार्णव** को १२वीं शती का ग्रन्थ मानते हैं, और यह ब्राह्मण-तंत्र अथवा शैव संप्रदाय का माना जाता है (न कि बौद्धतंत्र का)। पर फिर भी इस ग्रन्थ पर नागार्जुन के **रसरत्नाकर** का बड़ा प्रभाव है, और इसे उसी परम्परा का स्पष्ट विशदरूप मानना चाहिए। प्रज्ञापारमिता और बुद्ध का स्थान शैव तंत्रों में शिव और पार्वती ने ले लिया, अन्यथा शेष सब बातों में यह ग्रन्थ भी बौद्ध तंत्रों के समान ही है।

रसार्णव ग्रन्थ अठारह पटलों में विभाजित है—

प्रथम पटल—तन्त्रावतार	द्वितीय पटल—दीक्षाविधान
तृतीय पटल—मंत्रन्यास	चतुर्थ पटल—यन्त्रमूषाग्निवर्णन
पंचम पटल—ओषधिनिर्णय	षष्ठ पटल—अभ्रकादिलक्षणसंस्कार निर्णय
सप्तम पटल—महारसोपरसलोहलक्षण संस्काररत्नद्रावणमारणनिर्णय	अष्टम पटल—बीजसाधन
नवम पटल—विडकथन	दशम पटल—रसशोधन
एकादश पटल—बालजारण	द्वादश पटल—रसबन्धन
त्रयोदश पटल—द्रुतिबन्धन	चतुर्दश पटल—वज्रबन्ध
पञ्चदश पटल—महारसोपरसलोहबन्ध	षोडश पटल—रसरञ्जन
सप्तदश पटल—लोहवेध	अष्टादश पटल—देहवेध

रसार्णव में श्री देव्युवाच और श्री भैरव उवाच के रूप में पार्वती और परमेश्वर (शिव) के बीच में संवाद दिये गये हैं। पटलों की समाप्ति पर इस प्रकार के वचन आये हैं—"इति श्रीपार्वतीपरमेश्वरसंवादे रसार्णवे रससंहितायां बालजारणं नाम एकादशः पटलः", इत्यादि। संवादों में पार्वती प्रश्न करती हैं और श्री भैरव उत्तर देते हैं।

जीवन्मुक्ति—जीवन्मुक्ति शब्द का प्रयोग योग संबंधी अध्यात्म साहित्य में उस निष्काम अवस्था के लिए होता है, जिसमें योगी की सब वासनाओं का क्षय हो जाता है, और शारीरिक धर्मों को करता हुआ व्यक्ति मुक्त व्यक्तियों के समान आचरण करता है। पर **रसार्णव** ग्रन्थ की जीवन्मुक्ति विशेष अर्थ रखती है। श्री देवी पूछती हैं—"जीवन्मुक्तिरियं नाथ ! कीदृशी वक्तुमर्हसि", अर्थात् हे नाथ ! मुझे बताइए कि जीवन्मुक्ति किस प्रकार की होती है। इस प्रश्न के उत्तर में श्री भैरव कहते हैं कि हे महादेवि ! जीवन्मुक्ति तो देवों को भी दुर्लभ है। शरीर के त्याग (पिंडपात) के अनन्तर जो मोक्ष होता है वह तो निरर्थक है। पिण्ड-पात होने पर तो गदहा भी मुक्त हो जाता है। भग के कष्ट से, अर्थात् जन्म लेने के कष्ट से मुक्त होना मुक्ति है, तो बकरे, गदहे और बैल इनमें से कौन इस प्रकार मुक्त नहीं होता ! छः दर्शनों म पिंडपात के होने पर जो मुक्ति प्रतिपादित की गयी है, उसका तो कहीं प्रत्यक्ष होता दीखता नहीं। पाप-मुक्त, मंत्र-यज्ञ के करनेवाले ये सब शरीर धारण ही नहीं करते। देवताओं को भी शरीर का धारण करना दुर्लभ है। यदि पृथ्वी पर रहनेवाले मनुष्यों का शरीर-धर्म ही नष्ट हो गया, तो फिर धर्म ही कहाँ रहेगा ! धर्म नहीं तो क्रिया नहीं, क्रिया नहीं तो योग नहीं, योग नहीं तो गति नहीं, गति नहीं तो मोक्ष नहीं, और यदि मोक्ष नहीं तो रहा ही क्या ? इसलिए पिण्ड या शरीर की रक्षा करना परम धर्म है।[1]

कर्मयोग से शरीर मिलता है। यह कर्मयोग दो प्रकार का है—रस और पवन। रस (पारा) और पवन दोनों ही मूर्छित होने पर रोग का हरण करते हैं, स्वयं मृत

१. **जीवन्मुक्तिर्महादेवि ! देवानामपि दुर्लभा।**
पिण्डपाते च यो मोक्षः स च मोक्षो निरर्थकः।
पिण्डे तु पतिते देवि ! गर्दभोऽपि विमुच्यते॥
यदि मुक्तिर्भगक्षोभे किं न मुञ्चन्ति गर्दभाः।
अजाश्च वृषभाश्चैव किन्न मुक्ता गणाम्बिके ! ॥

होने पर जीवन देते हैं, और बद्ध होने पर खेचरता देते हैं। ज्ञान से ही मोक्ष मिलता है, और पवन धारण करने से ही ज्ञान मिलता है, अतः पारे के स्थैर्य में ही पिण्ड की स्थिरता है।[1] जब तक हर-बीज (शिव-वीर्य) पारद या रस का सेवन नहीं किया जाता, तब तक प्राणी की मुक्ति ही कहाँ, और पिण्डधारण भी कहाँ![2]

पारे की उत्पत्ति और महिमा––शिव कहते हैं कि हे पार्वती, तुम सब प्राणियों की माता हो, और मैं उनका पिता हूँ। हम दोनों के महामैथुन से यह रस (पारा) उत्पन्न हुआ है। उच्चतम साधकों द्वारा यह परार्थ अर्थात् परमार्थ को देनेवाला माना गया है, इसलिए इसे 'पारद' कहते हैं। मेरे प्रत्यंग से उत्पन्न, मेरे ही समान है,

तस्मात् संरक्षयेत् पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः।
शुक्रमूत्रपुरीषाणां यदि मुक्तिर्निषेवणात्॥
किन्न मुक्ता महादेवि! श्वानशूकरजातयः।
षड्दर्शनेऽपि मुक्तिस्तु दर्शिता पिण्डपातने॥
करामलकवत् सापि प्रत्यक्षं नोपलभ्यते।
अकथ्यमपि देवेशि! सद्भावं कथयामि ते॥
शून्यपापो मंत्रयाजी न पिण्डं धारयेत् क्वचित्।
देवानामपि देवेशि! दुर्लभं पिण्डधारणम्।
किं पुनर्मानुषाणान्तु धरणीतलवासिनाम्।
धर्मे नष्टे कुतो धर्मः, धर्मे नष्टे कुतः क्रिया॥
क्रियानष्टे कुतो योगः योगे नष्टे कुतो गतिः।
गतिनष्टे कुतो मोक्षो मोक्षे नष्टे न किञ्चन।
तेन पिण्डो महाभागे! रक्षणीयः प्रयत्नतः॥ (१।८–१७)

१. कर्मयोगेन देवेशि! प्राप्यते पिण्डधारणम्।
रसश्च पवनश्चेति कर्मयोगो द्विधा मतः॥
मूर्च्छितो हरते व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम्।
बद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च पार्वति॥
ज्ञानान्मोक्षः सुरेशानि! ज्ञानं पवनधारणात्।
तत्र देवि! स्थिरं पिण्डं यत्र स्थैर्ये रसः प्रभुः॥ (१।१८–२०)

२. यावन्न हरबीजन्तु भक्षयेत् पारदं रसम्।
तावत्तस्य कुतो मुक्तिः कुतः पिण्डस्य धारणम्॥ (१।२८)

अतः इसे 'सूत' कहते हैं, और मेरी देह का ही रस है, इसलिए इसे रस कहते हैं ।[1] पारे के दर्शन, स्पर्शन, भक्षण, स्मरण, पूजन और प्रदान से ६ प्रकार के फल प्रकट होते हैं ।[2] खगवाद अधम है, बिलवाद मध्यम है, मंत्रवाद उत्तम है, परन्तु रसवाद (पारद-वाद) तो महोत्तम है । रसयोग को बुरा कहनेवाला व्यक्ति मंत्र-तंत्र सब जान लेने पर भी नरक को जाता है और संचित पुण्यों के फल को गँवा देता है । रसविद्या ही पराविद्या है, तीनों लोकों में दुर्लभ है । यह भोग और मुक्ति दोनों को देनेवाली है ।[3]

पारे और पारदवाद की यह महिमा विस्तृत रूप से प्रकट करनेवाला सर्वप्रथम ग्रन्थ **रसार्णव** ही प्रतीत होता है । माधवाचार्य के **सर्वदर्शनसंग्रह** में इसी लिए "रसेश्वर दर्शन" शीर्षक देकर एक पृथक् नवम अध्याय पारदवाद के संबंध में दिया गया है । **शंकरदिग्विजय** में अपमृत्यु और अकाल मृत्यु से बचने के लिए पारद-पान का विधान है और सिद्धोपासकों के लिए यह आवश्यक बताया गया है ।

रसरत्नसमुच्चय ग्रन्थ के पहले अध्याय में भी जीवन्मुक्ति और पारे के संबंध का इसी प्रकार का विवरण है (१।४२–५९) ।

गुरु, शिष्य और रससाधिका—दीक्षाविधान नामक दूसरे पटल में रसार्णवकार ने गुरु-शिष्य और रस-साधिका या रसबन्धकी नारी के लक्षण दिये हैं । गुरु निःस्पृह,

१. त्वं माता सर्वभूतानां पिता चाहं सनातनः ।
द्वयोश्च यो रसो देवि ! महा मैथुनसंभवः ॥
स्वैरतः सम्भवाद् देवि ! पारदः कीर्त्तितो महः ।
पारदो गदितो यश्च परार्थं साधकोत्तमैः ॥
सूतोऽयं मत्समो देवि ! मम प्रत्यङ्गसंभवः ।
मम देहरसो यस्मात् रसस्तेनायमुच्यते ॥ (१।३४–३६)

२. दर्शनात् स्पर्शनात् तस्य भक्षणात् स्मरणादपि ।
पूजनाच्च प्रदानाच्च दृश्यते षड्विधं फलम् ॥ (१।३७)

३. अधमः खगवादस्तु बिलवादस्तु मध्यमः ।
उत्तमो मंत्रवादस्तु रसवादो महोत्तमः ॥
मंत्रतंत्रपरिज्ञाने रसयोगस्य दूषकाः ।
प्रयान्ति नरकं सर्वे छित्वा सुकृतसञ्चयम् ॥
रसविद्या पराविद्या त्रैलोक्येऽपि सुदुर्लभा ।
भुक्तिमुक्तिकरी यस्मात् तस्माद्देया गुणान्वितैः ॥ (१।४४-४६)

निरहङ्कारी, लोभ-माया से रहित, धैर्यवान् (दान्त), शिष्यों को सिखाने में कुशल, मत्सर रहित, धर्मज्ञ, सत्यवक्ता, शीलवान् आदि शुभ गुणोंवाला तो होना ही चाहिए, उसे 'अनेक–रसशास्त्रज्ञ' (रसायन ग्रन्थों में पारंगत), रसमण्डप-कोविद अर्थात् रस-प्रयोगशालाओं की क्रियाओं से पूर्ण परिचित और रसदीक्षा-विधानज्ञ होना चाहिए। उसे निम्न विषय विशेष रूप से ज्ञात होने चाहिए—[1]

यन्त्र—उपकरण—Apparatus

ओषधि—दवाइयाँ—Medicines

महारस—Principal Rasas

रागसंख्या—रंगों की संख्या—Dyes

बीजकला—Science of Beeja (gold, silver and similar substances for transmutation.)

द्वन्द्वमेलापन—दो धातुओं या खनिजों का मिश्रण—Amalgam or mixture of compounds and minerals

विड—पारद जारणोपयोगी द्रव्य—Vida for calcination of mercury.

रञ्जन—रंगना—colouring and dyeing

सारण—तैल से भरे यंत्र में पारे के मध्य में वेधादि करने के लिए सोने का डालना।

सारण-तैल—सारण कर्म के लिए तैल तैयार करना

दल—अनेक धातुओं और खनिजों की सहायता से विशेषतः तैयार किये गये खनिज

१. निःस्पृहो निरहङ्कारो लोभमायाविवर्जितः।
कुलमार्गरतो नित्यं गुरुपूजारतश्च यः।
दान्तः शिष्योपदेशज्ञः शक्तिमान् गतमत्सरः।
धर्मज्ञः सत्यवाग् दक्षः शीलवान् गुणवान् शुचिः॥
अनेकरसशास्त्रज्ञो रसमण्डपकोविदः।
रसदीक्षाविधानज्ञो यन्त्रौषधिमहारसान्॥
रागसंख्यां बीजकलां द्वन्द्वमेलापनं विडम्।
रञ्जनं सारणं तैलं दलानि क्रामणानि च॥
वर्णोत्कर्षं मृदुत्वञ्च जारणां बालवृद्धयोः।
खेचरीं भूचरीं चैव यो वेत्ति स गुरुर्मतः॥ (२।२।२-६)

जिनका प्रयोग जारण से पूर्व किया जाता है—"दलं लोहादिकरणं शुभम्। जारणाविधिहीनस्य द्रव्यसाधनकारणम्"—(रस-सार)

क्रामण—लाँघने की क्रिया—Penetration or transmission

वर्णोत्कर्ष—रंग का बढ़ाना—Deapening of colour

वर्णमृदुत्व—रंग का घटाना—Softening of colour

जारणा—आग में विशेष प्रकार से तपाना—Calcination of mercury "जारणा नाम गालन-पातन-व्यतिरेकेण घनहेमादिग्रासपूर्वकं पूर्वावस्थाप्रतिपन्नत्वम्" (रसेन्द्रचिन्तामणि)। यह दो प्रकार की है—(१) बालजारणा अर्थात् प्रारम्भ अवस्था में पारे का चूर्ण बनाना (Calcination sin early stages), (२) बद्धजारणा—बँधे हुए पारे का जारण (Calcination of mercury when fixed.)

खेचरी—पारे को उड़ाने का योग (Sky-going efficiency of mercury) अथवा खेचरीजारणा

भूचरी—पीसकर चूर्ण बनाने की क्रिया।

शिष्य को देश, काल और क्रिया का जाननेवाला होना चाहिए। वह दया-दाक्षिण्य से युक्त हो, लोभ-माया से हीन हो और मंत्रानुष्ठान में तत्पर हो। सामुद्र शास्त्र में जो शुभ गुण बताये गये हैं उनसे युक्त हो, गम्भीर और गुरु का स्नेहपात्र हो। उसे देवाग्नि, योगिनीचक्र और कुलपूजा में राग होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे विनीत, तन्त्रों का जाननेवाला, सत्यवादी और दृढ़व्रत होना चाहिए।

जो मनुष्य कुम्भ (घड़ा), कुद्दाल (कुदाल), ध्वज, शंख आदि प्राकृतिक चिह्नों (लांछनों) से युक्त हाथवाले हों उन्हें "निधि साधन" कर्म में लगाना चाहिए।

जो बलवान्, महासत्त्वगुण युक्त, काले और लाल नेत्रोंवाले हों, टेढ़ी नाकवाले हों, सदा क्रूर हों, उन्हें "बिल-साधन" कर्म में लगाना चाहिए।

जो निर्मांस हों, ऊँची पिण्डियोंवाले हों, लाल बालोंवाले हों, आलस्य से रहित हों, भारी भरकम पैरों वाले हों, उन्हें "धातुवाद" में लगाना चाहिए।[1]

१. **देशकालक्रियाऽभिज्ञो दयादाक्षिण्यसंयुतः।**
लोभमाया-विनिर्मुक्तो मंत्रानुष्ठानतत्परः॥
सामुद्रलक्षणोपेतो गम्भीरो गुरुवत्सलः।
देवाग्नियोगिनीचक्रकुलपूजारतः सदा।
शिष्यो विनीतस्तन्त्रज्ञः सत्यवादी दृढव्रतः॥

रसकर्म के लिए एक रससाधिका नारी की आवश्यकता होती है। ऐसी नारी जो दुश्चारिणी, दुराचारिणी, निष्ठुर, कलह-प्रिय, बहुत खानेवाली, दुश्चित्त, कोटराक्षी (खोखली आँखोंवाली) और निर्दयी हो एवं रस की निन्दिका हो, उसे ऐसे कामों के लिए नियुक्त न करना चाहिए।[१] नारियाँ तीन प्रकार की बतायी गयी हैं--(क) काकिणी जो कृष्ण पक्ष में ऋतुमती होती हैं, (ख) कीकणी जो दोनों पक्षों में ऋतुमती होती हैं, और (ग) काञ्चिकाचनी जो शुक्ल पक्ष में ऋतुमती होती हैं। साधिका शिष्या वे कहलाती हैं, जो नवयौवन संपन्न हों, रूपवान्, हँसमुख, महीन बालोंवाली, दुग्धाहारी, अच्छा बोलनेवाली, शिवशास्त्र कथा में अनुराग रखनेवाली, कमलमुखी, इन्दीवर (नील कमल) सी आँखों वाली, हीरे से दाँतों वाली, मूँगों के से ओठों वाली, ··· मांसल और चिकने पैरों वाली, वर्तुल और आवर्त्त रोमावलि वाली और पतली कमर-वाली एवं प्रसन्न रहनेवाली हों।[२]

रसमण्डप--रसार्णव के दूसरे पटल में रसकर्म की प्रयोगशाला और रसमण्डप के स्थान का वर्णन है। यह विजन या एकान्त स्थान में जहाँ पशु न हों होना चाहिए। यह स्थान सब प्रकार से प्राकार और परिखाओं (चहारदीवारी) और किवाड़ों से सुरक्षित होना चाहिए। यहाँ अनेक प्रकार के फूलों से युक्त पेड़, दिव्यौषधियाँ, कमल आदि से सम्पन्न उद्यान होने चाहिए। हवा आने के लिए उचित खिड़कियाँ (वातायन) होनी चाहिए, और धुआँ ऊपर निकलने के लिए चिमनियाँ होनी चाहिए। औषध,

ये नराः कुम्भकुद्दालध्वजशंखादिलाञ्छितैः।
करैरधिष्ठिता देवि! योज्यास्ते निधिसाधने।
बलवन्तो महासत्त्वाः कृष्णरक्तविलोचनाः।
वक्रघोणाः सदा क्रूराः प्रशस्ता बिलसाधने॥
निर्मांसानूर्ध्वपिण्डीकान् रक्तकेशान् गतालसान्।
कठिनानुष्णपादांश्च धातुवादे नियोजयेत्॥ (२।७-११)

१. रसार्णव २।१५-१६

२. काकिणी कीकणी नारी तथैव काञ्चिकाचिनी।
कृष्णपक्षे ऋतुमती सा नारी काकिणी स्मृता।
उभयपक्षे ऋतुमती सा नारी कीकणी मता॥
शुक्लपक्षे ऋतुमती सा नारी काञ्चिकाचिनी॥ (२।१७-१९)
रसार्णव २।२०-२४

तुष (भूसी), काष्ठ, गोबर के कंडे आदि के लिए निश्चित स्थान इसमें होने चाहिए। रसमंडप एक-तल्ला या दु-तल्ला होना चाहिए।[1] रसमंडप में पारे और सोने का बना लिंग स्थापित करना चाहिए।[2] इसके पूर्व में शुक्र, दक्षिण में रुद्र, पश्चिम में शिव, उत्तर में उमा, आग्नेय में स्कन्द, नैऋत्य में पवन, वायव्य में पावक और ईशान कोणमें व्यापक की स्थापना करे। और फिर अष्टदल कमल में, ऊर्ध्व और अधः भाग में, कुल मिलाकर इन दस दूतियों को स्थापित करे—लेपिका, क्षेपिका, क्षारिका, रञ्जिका, लोहटी, बन्धकारी, भूचरी, मृत्युनाशिनी, विभूति और खेचरी। फिर आठों दिशाओं में क्रमशः माक्षिक, विमल, शैल (मनःशिला), चपल, रसक, सस्यक, गन्धक और हरिताल, इनकी स्थापना करे।[3]

१. कारयेद् विजने स्थाने पशुर्यत्र न विद्यते। सुगुप्ते सुषमे स्थाने सर्वबाधाविवर्जिते॥
प्राकारपरिखोपेते कपाटार्गलरक्षिते। एकान्ते निर्मले हृद्ये नानापुष्पद्रुमान्विते॥
हंसकारण्डवाकीर्णे चक्रवाकोपशोभिते। दिव्यौषधिगणोपेते सजले श्यामशाद्वले॥
कुमुदोत्पलकह्लार-कदलीखण्डमण्डिते। चित्रिते भवनोद्याने कारयेत् परमेश्वरि !
तन्मध्ये देवदेवेशि ! मत्तवारणसंयुतम्। वातायनसमोपेतमूर्ध्वनिर्गामिधूमकम्॥
रक्त-पताकासंयुक्तं सज्जोपकरणं तथा। प्रविभक्तौषधितुषकाष्ठाऽरण्योपलाऽऽलयम्।
समालिखितदिग्देवं समर्चितविनायकम्।
प्रतिष्ठितमुमेशाभ्यां लोकपालैश्च रक्षितम्॥
निर्म्मापयेदेकतलं द्वितलं वापि मण्डपम्॥ (२।४०-४७)
२. रसलिंगं न्यसेत्तत्र हेम्ना च सहितं प्रिये ! (२।५२)
३. शुक्रं पूर्वेऽभिसंपूज्य स्कन्दमाग्नेयगोचरे।
दक्षिणस्यां ततो रुद्रं पवनं नैर्ऋते तथा।
शिवं पश्चिमभागे तु पावकं वायव्ये न्यसेत्।
उमामुत्तरभागे तु व्यापकं चेशगोचरे॥
लेपिका क्षेपिका चैव क्षारिका रञ्जिका तथा।
लोहटी बन्धकारी च भूचरी मृत्युनाशिनी।
विभूतिः खेचरी चैव दश दूत्यः क्रमेण च।
पूज्यास्त्वष्टदले पद्मे ऊर्ध्वाधस्तु दलेषु च।
माक्षिको विमलः शैलश्चपलो रसकस्तथा।
सस्यको गन्धतालौ च पूर्वादिक्रमयोगतः॥ (२।५५-५९)

रसभरव की स्थापना करके और महारसों को यथास्थान स्थापित करके रस-कर्म को भी देवपूजा के समान महत्त्व प्रदान किया जाना इस युग की विशेषता रही है। रसमण्डप की स्थापना याज्ञिकों के यज्ञमण्डप के अनुष्ठानों का स्मरण दिला देती है। संपूर्ण कर्मकाण्ड का विवरण देने का यहाँ स्थान नहीं है। जो देखना चाहें वे इस विस्तार को **रसार्णव** के दूसरे और तीसरे पटल में देख सकते हैं। **रसरत्न समुच्चय** ग्रन्थ में भी लगभग इसी प्रकार का विस्तार दिया हुआ है। तान्त्रिकों की समस्त पूजा-विधि का अनुकरण और रसांकुश मंत्र का जप रसकर्म के संपादन में किया गया है। अपनी देह में रसभैरव का जितनी निश्चलता से ध्यान किया जायगा, अग्नि के मध्य में पारा भी बद्ध होकर उतना ही निश्चल हो जायगा। उपासना की एक झाँकी इन उद्धरणों से मिल जायगी।[1]

रसकर्म के सम्भार——रसकर्म के लिए संग्रह में रखने योग्य सम्भार कौन-कौन हैं, इनकी गणना चतुर्थ पटल के आरम्भ में ही दे दी गयी है[2] ——

१. व्यापिनी ब्रह्मरन्ध्रस्था तस्योर्ध्वे तून्मना भवेत्।
उन्मना उन्मनीभावमुन्मना पदमव्ययम्॥
तस्योर्ध्वे परमं सत्यं व्योमस्थायि परात्परम्।
शून्यं शून्यं पुनः शून्यं त्रिशून्यञ्च निरामयम्॥
नभश्च गगनं व्योम खमाकाशं च केवलम्।
निष्कलं निर्मलं नित्यं निस्तरंगं निरामयम्।
निष्प्रपञ्चं निराधारं निर्गुणं गुणगोचरम्।
एवं रूपं सदा ध्यायेत् स्वदेहे रसभैरवम्॥
यदा च निश्चलं ध्यायेद् यदा च निश्चलं मनः।
वह्निमध्ये तदा सूतो बध्यते निश्चलस्तथा॥
यदा च चलति ध्यानं रसो वह्नौ न तिष्ठति॥ (२।११३-११८)

२. रसोपरसलोहानि वसनं काञ्जिकं विडम्।
धमनी लोहयंत्राणि खल्लपाषाणमर्दकम्॥
कोष्ठिका वक्रनालं च गोमयं सारमिन्धनम्।
मृन्मयानि च यन्त्राणि मुषलोलूखलानि च॥
संडसी पट्टसंदंशं मृत्पात्रायःकटोरकम्।
प्रतिमानानि च तुलाच्छेदनानि कषोपलम्॥
वंशनाली लोहनाली मूषाङ्गारास्तथौषधीः।

१. रस (पारा)
२. उपरस (गन्धकादि)
३. लोह (सुवर्ण आदि धातुएँ)
४. वसन (विभिन्न साधन)
५. काञ्जिक (चावल आदि की)
६. विड
७. धमनी (धौंकनी)
८. लोहयंत्र (धातु के बने यंत्र)
९. खल्ल (खरल)
१०. पाषाण-मर्दक (सिल-बट्टा)
११. कोष्ठिका यंत्र
१२. वक्रनाल (मुँह से फूँकने की फूँकनी)
१३. सार (resin)
१४. इंधन
१५. मिट्टी के यंत्र
१६. मुशल
१७. उलूखल (ओखली)
१८. संडसी (संडासी)
१९. पट्टसंदंश (कपड़ा काटने की कैंची)
२०. मिट्टी के पात्र
२१. लोहे का कटोरक (कटोरा)
२२. प्रतिमान (बाट)
२३. तुला (तराजू)
२४. छेदन (छेनी)
२५. कषोपल (कसौटी, सोना जाँचने की)
२६. वंशनाली (बाँस की नली)
२७. लोहनाली (लोहे की नली)
२८. मूषा
२९. अंगार (कोयला)
३०. ओषधि
३१. स्नेह (घी, तेल)
३२. अम्ल
३३. लवण
३४. क्षार
३५. विष
३६. उपविष

यंत्रों का विवरण—**रसार्णव** के चतुर्थ पटल में दोलायंत्र, मूषायंत्र, गर्भयंत्र, विभिन्न प्रकार की मूषाएँ (वज्रमूषा, वरमूषा, प्रकाशमूषा, अन्धमूषा, भस्ममूषा), कोष्ठक, वक्रनाल और मर्दक का कुछ विस्तार से उल्लेख किया गया है। **रसरत्न-समुच्चय** ग्रन्थ में इन यंत्रों का और अधिक विस्तृत वर्णन है।

१. **दोलायंत्र**—द्रव द्रव्य से घड़े को आधा भरे, फिर मुख पर एक आड़ी डंडी रख दे, और रस या ओषधि को सूत या डोरे के सहारे घड़े में लटका दे। उबलते हुए द्रव से निकली भाप द्वारा ओषधि का स्वेदन करे। इस प्रकार के कर्म के यंत्र को 'दोला-यंत्र' कहते हैं।[1]

स्नेहाम्ललवणक्षारविषाण्युपविषाणि च ॥
एवं संगृह्य सम्भारं कर्मयोगं समाचरेत् ॥ (४।२–६)

१. द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्द्धोदरस्य च ।

२. **मूषा यंत्र**—इसका प्रयोग पारे, गन्धक, अभ्रक आदि के जारण में होता है। इसमें १२ अंगुल नाप की लोहे से बनी दो मूषाओं का प्रयोग होता है। एक मूषा में गन्धक रखते हैं और इसमें एक छेद होता है, दूसरी में पारा रखते हैं। इसमें पहली मूषा प्रविष्ट रहती है। पारे के ऊपर और नीचे से आँच दी जाती है।

इसके नीचे (एक अलग पात्र में) पानी रखे। पारे और गन्धक को लहसुन (रसोनक) के छाने हुए रस से तर करे। इस उपकरण को एक मिट्टी की पतीली (स्थाली) के भीतर रखे। इस पतीली पर दूसरी पतीली औंधी रखकर, दोनों के बीच की सन्धि को मिट्टी से लेप कर वस्त्र से बाँध दे। कपोतपुट में गोबर की आग से यह तपाया जाता है। नीचे से गोबर के कंडे की तेज आँच देते हैं। तीन दिन में यंत्र को खोल लेते हैं। तप्त चूल्हे पर तप्त जल में तैयार द्रव्य को छोड़ते हैं, ठंडी अवस्था में यह क्रिया नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार गन्धक का जारण हो जाता है। पारे का इसमें क्षय नहीं होता और न कहीं यह उड़कर जाता है।[1]

मुखे तिर्यक्कृते भाण्डे रसं सूत्रेण लम्बितम् ॥
तं स्वेदयेत् तलगतं दोलायंत्रमिति स्मृतम् ॥ (४।७)

१. लोहमूषाद्वयं कृत्वा द्वादशांगुलमानतः।
ईषच्छिद्रान्वितामेकां तत्र गन्धकसंयुताम् ॥
मूषायां रसयुक्तायामन्यस्यां तां प्रवेशयेत्।
तोयं स्यात् सूतकस्याधः ऊर्ध्वाधो वह्निदीपनम् ॥
रसोनकरसं भद्रे यत्नतो वस्त्रगालितम्।
दापयेत्प्रचुरं यत्नाद् आप्लाव्य रसगन्धकौ ॥
स्थालिकायां निधायोर्ध्वं स्थालीमन्यां दृढां कुरु।
सन्धिं विलेपयेद् यत्नात् मृदा वस्त्रेण चैव हि ॥
स्थाल्यन्तरे कपोताख्यं पुटं कर्षाग्निना सदा।
यन्त्रस्याधः करीषाग्नि दद्यात्तीव्राग्निमेव वा ॥
एवं तु त्रिदिनं कुर्यात् ततो यंत्रं विमोचयेत्।
तप्तोदके तप्तचुल्ल्यां न कुर्याच्छीतले क्रियाम् ॥
न तत्र क्षीयते सूतो न च गच्छति कुत्रचित्।
अनेन क्रमयोगेन कुर्याद् गन्धकजारणम् ॥
ऊर्ध्वं वह्निरधश्चापो मध्ये तु रससंग्रहः।
मूषायंत्रमिदं देवि ! जारयेद् गगनादिकम् ॥ (४।८–१५)

३. **गर्भ यंत्र**––यह पिष्टिका की भस्म बनाने के काम में आता है। इसमें ४ अंगुल लम्बी, ३ अंगुल मध्य विस्तार की मिट्टी की दृढ़ मूषा का प्रयोग होता है। इसमें एक गोल छेद होता है। २० भाग लोहा, १ भाग गुग्गुल इन दोनों को पानी में मिलाकर बार-बार पीसते हैं और इससे मूषा पर लेप करते हैं। मूषा के तल में पिष्टिका रखते हैं। भूसी और गोबर के कंडों की आग से स्वेदन करते हैं। एक दिन अथवा तीन दिन में इससे पारे की भस्म तैयार हो जाती है। यह यंत्र जारण, मारण और पारे के रञ्जन में बड़ा उपयोगी है। यह विवरण लगभग वही है जो नागार्जुन के **रसरत्नाकर** ग्रन्थ में दिया गया है।[1]

४. **हंसपाक यंत्र**––एक खर्पर (cupel) पर बालू भरकर उस पर दूसरा खर्पर रखकर मन्दी आँच से इस यंत्र को गरम किया जाता है। पाँचों क्षार (पलाश क्षार, मुष्कक क्षार, यव क्षार, सुर्वाचिका (सज्जी), तिलनालोद्भव क्षार), मूत्र, लवण, विड आदि के द्वारा इस यंत्र में कार्यसिद्धि की जाती है।[2]

५. **कोष्ठिका**––धातुओं के सत्त्व निकालने और सत्त्वों को शोधने के लिए कोष्ठिकाओं का प्रयोग होता है। ये मिट्टी से तैयार की जाती हैं। मिट्टी काली, लाल, पीली और श्वेत होती हैं; इनमें काली मिट्टी सबसे श्रेष्ठ और सफेद निकृष्ट मानी जाती है। लाल और पीली मिट्टियाँ बीच की हैं। धान्यों की भूसी की राख

१. गर्भयंत्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिकाभस्मकारणम्।
चतुरंगुलदीर्घां तु मूषिकां मृन्मयीं दृढाम्॥
त्र्यंगुलां मध्यविस्तारे वर्त्तुलं कारयेन्मुखम्।
लोहस्य विंशतिर्भागा एको भागस्तु गुग्गुलोः॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु तोयं दद्यात् पुनः पुनः।
मूषालेपं ततः कुर्यात् तले पिष्टीं च निक्षिपेत्॥
तुषकर्षाग्निना भूमौ मृदु स्वेदन्तु कारयेत्।
अहोरात्रं त्रिरात्रं वा रसेन्द्रो भस्मतां व्रजेत्॥
जारणे मारणे चैव रसराजस्य रञ्जने।
यन्त्रमेकं परं मर्म यत्रौषध्यो महाबलाः॥ (४।१६–२०)

२. खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरिन्यसेत्।
अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत्॥
पञ्चक्षारैस्तथा मूत्रैर्लवणैश्च विडन्ततः।
हंसपाकः स विज्ञातो यन्त्रतत्त्वार्थकोविदैः॥ (४।२८–२९)

(दग्ध धान्यतुष) कोष्ठिका बनाने की मिट्टी में मिला ली जाती है। इस कोष्ठिका में एक वक्रनाल भी लगा देते हैं। दग्ध (तपाया) गारा, दग्ध तुष, दग्ध बाँवी की मिट्टी, बकरी की लेंड़ी और घोड़े की लीद जलाकर, इन सबको पीसकर और पानी में सान कर कोष्ठी तैयार करते तथा उसमें इसी की वक्रनाल लगाते हैं।[१]

६. **मूषा**--जलाये हुए गारे, तुष (भूसी), वल्मीक-मिट्टी (बाँबी की मिट्टी), कपड़ा, कोयला और लोहे का किट्ट ; इनके मिश्रण से अति दृढ़ उपकरण तैयार किये जा सकते हैं, जो वज्र से भी न टूटें।

दग्ध कोयला ६ भाग, काली मिट्टी एक भाग, कपड़ा, दहकता कोयला और लोहे का किट्ट (जंग) इनसे 'वज्रमूषा' बनाते हैं। तुष (भूसी) और समान भाग कपड़ा, जली मिट्टी ४ भाग और कूपी-पाषाण (नदी की तलैटी के कंकड़-पत्थर) इनसे बनायी गयी मूषा को 'वरमूषा' कहते हैं।

मूषाएँ दो प्रकार की होती हैं। प्रकाशमूषा और अन्ध मूषा। प्रकाश-मूषा (खुली मूषा) शराव (सकोरे) के आकार की होती है, और द्रव्य-निर्वाहण के लिए उपयोगी है। अन्ध-मूषा (बन्द मूषा) गाय के स्तन के आकार की होती है। इसमें उन्नत मस्तक का ढक्कन होता है, जिसे पकड़कर ढक्कन खोला और बन्द किया जा सकता है।

पत्र लेपन, रंगने के काम, द्वन्द्व मेलापन, सारण आदि कामों के लिए छेद से युक्त मूषा अच्छी होती है।

दो भाग तिलकाष्ठ की भस्म और ईंट इनको मिलाकर जो मूषा बनती है उसे 'भस्म-मूषा' कहते हैं। चाँदी के शोधन के लिए यह अच्छी मानी जाती है।

१. **कृष्णा रक्ता च पीता च शुक्लवर्णा च मृत्तिका।
आद्या श्रेष्ठा कनिष्ठाऽन्त्या मध्यमा मध्यमा मता।।
दग्धधान्यतुषोपेता मृत्तिका कोष्ठिका विधौ।
वक्रनाल कृता वापि शस्यते सुरसुन्दरि !
गारादग्धा तुषादग्धा दग्धा वल्मीकमृत्तिका।
अजाश्वानां मलं दग्धं यावत्तत् कृष्णतां गतम्।।
वासकस्य च पत्राणि वल्मीकस्य मृदा सह।
पेषयेद् वह्नितोयेन यावत्तत्श्लक्ष्णतां गतम्।।
मर्दयेत्तेन बध्नीयात् वक्रनालञ्च कोष्ठिकाम्।।** (४।३०-३४)

मोचक्षार दो भाग, ईंट का चूरा और मिट्टी से बनी मूषा भी चाँदी के शोधन के लिए उत्तम है।

रक्त वर्ग के पदार्थों से बनी और रक्तवर्ग के पदार्थों से परिप्लुत और आलेपित मूषा सब चीजों के शोधन के लिए अच्छी है। रक्तवर्ग के स्थान में यदि शुक्ल वर्ग के पदार्थों का प्रयोग होगा, तो ये मूषाएँ शुक्ल वर्ग के द्रव्यों के शोधन के लिए अच्छी होंगी।[1]

७. **कोष्ठक**--यह सोलह अंगुल चौड़ा और एक हाथ लम्बा होता है। धातु-सत्त्वों के निपात के लिए यह उपयोगी है। कोष्ठक में बाँस, खदिर (कत्था), मधूक

१. गारा दग्धा तुषा दग्धा दग्धा वल्मीकमृत्तिका ।
चीरमङ्गारकः किट्टं वज्रेणापि न भिद्यते ।।
दग्धाङ्गारस्य षड्भागा भागेका कृष्णमृत्तिका ।
चीरमङ्गारकः किट्टं वज्रमूषा प्रकीर्त्तिता ।।
तुषं वस्त्रसमं दग्धं मृत्तिका चतुरंशिका ।
कूपीपाषाणसंयुक्ता वरमूषा प्रकीर्त्तिता ।।
प्रकाशाचाऽन्धमूषा च मूषा तु द्विविधा स्मृता ।
प्रकाशमूषा देवेशि ! शरावाकारसंयुता ।
द्रव्यनिर्वाहणे सा च वादिकैः सुप्रशस्यते ।।
अन्धमूषा तु कर्त्तव्या गोस्तनाकारसन्निभा ।
पिधानकसमायुक्ता किञ्चिदुन्नतमस्तका ।।
पत्रलेपे तथा रङ्गे द्वन्द्वमेलापके तथा ।
सैव च्छिद्रान्विता मन्दा गम्भीरा सारणोचिता ।।
तिलभस्म द्विरंशं तु इष्टकांशसमन्वितम् ।
भस्ममूषा तु विज्ञेया तारसंशोधने हिता ।।
मोचक्षारस्य भागौ द्वौ इष्टकांशसमन्वितौ ।
मृद्भागास्तारशुद्ध्यर्थमुत्तमा वरवर्णिनि !
रक्तवर्गेण सम्मिश्रा रक्तवर्गपरिप्लुता ।
रक्तवर्गकृतालेपा सर्वशुद्धिषु शोभना ।।
शुक्लवर्गेण सम्मिश्रा शुक्लवर्गपरिप्लुता ।
शुक्लवर्गकृतालेपा शुक्लशुद्धिषु शोभना ।। (४।३५-४५)

(महुआ), बदरी (बेर) आदि की लकड़ी के कोयले जलाये जाते हैं। भस्त्रा या धौंकनी से इसमें हवा धौंकी जाती है।[1]

वंकनाल--बगुले के गले के समान आकृति की, मिट्टी की, खोखली दीर्घवृत्त नलिकाओं की ये बनायी जाती हैं।[2]

इन यंत्रों के अतिरिक्त 'रसार्णव' में निम्न उपकरणों का भी यत्र-तत्र उल्लेख पाया जाता है।

१. ऊर्ध्वपातन[3]।

२. कच्छप यंत्र[4]--**रसकामधेनु** में इसके दो प्रकार बताये गये हैं--जल-कूर्म-यंत्र और स्थल-कूर्मयंत्र।

३. कपोताख्य पुट[5]--धातुओं, खनिजों और ओषधियों के जारण, पाचन आदि के लिए आठ आरने कंडों से दिया जानेवाला पुट।

४. खल्ल (खल्व या खरल)[6]--खल्ल, तप्त खल्ल और स्निग्ध खल्ल इन तीनों का उल्लेख है। एक स्थल पर खल्ल-पाषाण शब्द भी आया है।

१. **षोडशांगुलविस्तीर्णं हस्तमात्रायतं शुभम्।**
धातुसत्त्वनिपातार्थं कोष्ठकं वरवर्णिनि!
वंशखादिरमाधूकबदरीदारुसंभवैः।
परिपूर्णंदृढाङ्गारैः धमेद् वातेन कोष्ठकम्।
भस्त्रया ज्वालमार्गेण ज्वालयेच्च हुताशनम्॥
प्रविततमुखभागं संवृतान्तःप्रदेशं।
स्थलरचितचिरान्तर्जालकं कोष्ठकं स्यात्॥ (४।५६-५८)

२. **बकगलसममानं वंकनालं विधेयं**
सुषिरनलिनिका स्यान्मृन्मयी दीर्घवृत्ता॥ (४।५९)

३. **ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वपातने। (१०।५५)**

४. **टंकार्द्धं विषपादञ्च विडः पिण्डाष्टमांशतः।**
त्रिदिने कच्छपे जार्यमेवं जार्यन्तु षड्गुणम्॥ (११।१९१)
और देखिए ११।१२०

५. **आरण्यगोमयेनैव कपोताख्यं पुटं ततः। (११।३०)**

६. **(क) तमुद्धृत्य रसं देवि! खल्ले संमर्दयेत्ततः। (११।११६)**
(ख) ततो यन्त्रे विनिक्षिप्य दिवारात्रं दृढाऽग्निना।
तप्तं समुद्धृतं यन्त्रात् तप्तखल्ले विमर्दयेत्॥ (११।११७)

५. गजपुट[1]--गजप्रमाणूर्ध्वाधः पुटं गजपुटं स्मृतम् ।
६. गोल[2]--वज्र-मूषा (**रसकामधेनु**) ।
७. गोस्तनी मूषा[3]
८. **चक्रयंत्र**[4]--कोल्हू के समान अथवा पहिए के समान आकृति का ।
९. **दीपयंत्र**[5]--तिर्यक्पातन यंत्र के समान ही, अथवा इसी का दूसरा नाम (तिर्यक्पातनस्थानमेतत्--**रसकामधेनु**) ।
१०. **पद्मयंत्र**[6]--कमल के आकार का यंत्र ।
११. **पातनायंत्र**[7]--Distillation or sublimation apparatus
१२. **पातालयंत्र**[8]--इसमें पैंदी में छेदवाले एक पात्र को दूसरे पात्र पर रखते हैं। गड्ढे में धँसाकर ऊपर से कंडे की आँच देते हैं। गन्धक, हरिताल आदि का इससे शोधन होता है।

(ग) मर्दयेत् स्निग्धखल्ले तु देवदालीरसप्लुतम् ।। (१५।६५)
(घ) मर्दयेत् खल्लपाषाणे यावन्निश्चेतनं भवेत् । (१६।९१)

१. दत्त्वा पादांशकं सर्वं ततः पातनयंत्रके ।
दद्यात् पुटं गजाकारं पतेत् सत्त्वं सुतालकात् ।। (७।७७)
२. अन्धमूषागतं गोलं छायाशुष्कं तु कारयेत् । (१५।१५१)
३. (क) मूषां तु गोस्तनीं कृत्वा धत्तूरकुसुमाकृतिम्। (१७।२)
(ख) कृत्वा गोस्तनमूषायां लिप्तायां शिलया रसम् । (११।१७२)
४. मारयेत्चक्रयन्त्रेण भस्मीभवति सूतकम् । (१५।१०७)
५. तद्भस्म तु पुनः पश्चात् दीपयन्त्रेण पाचयेत् । (१४।१२९)
६. ताप्यसौवर्चलशिलागन्धकासीसटंकणैः ।
पद्मयंत्रे निवेश्याथ कीलं दत्त्वा सुरेश्वरि!
धमेद् दिनत्रयं मन्दं यावद् बीजं द्रुतं भवेत् । (११।१९४-१९५)
७. (क) मारयेत् पातनायंत्रे शुल्वं तन्म्रियते क्षणात् । (१५।१०२)
(ख) मारयेत् पातनायंत्रे धमनात् खोटतां नयेत् (१५।११२)
(ग) दत्त्वा पादांशकं सर्वं ततः पातनयन्त्रके ।
दद्यात् पुटं गजाकारं पतेत् सत्त्वं सुतालकात् ।। (७।७७)
८. (क) ग्राह्यं तत्फलतैलं वा यंत्रे पातालसंज्ञके । (१२।२१)
(ख) पातालयंत्रे तत्तैलं गृह्णीयात् ताम्रभाजने । (१२।५९)

१३. **पुट**[1]—धातु आदि को कंडी-लकड़ी आदि से जलाने को पुट कहते हैं। अनेक प्रकार के पुट होते हैं। जैसे—कपोतपुट, गजपुट आदि।

१४. **बालुकायंत्र**[2]

१५. **भूधरयंत्र**[3]

१६. **भ्रमरायंत्र**[4]

१७. **मेदिनीयंत्र**[5]—संभवतः पाताल यंत्र के समान हो।

१८. **विद्याधरयंत्र**[6]—पारा आदि निकालने का एक प्रकार का यंत्र
(स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ् निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं दत्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः॥
एतद् विद्याधरं यंत्रं हिंगुलाकृष्टिहेतवे॥ (**रसकामधेनु**)

१९. **वेणुयंत्र**[7]—बाँस का बना हुआ यंत्र।

२०. **सारणायंत्र**[8]—सारणा-कर्म के लिए यंत्र विशेष।

(ग) स्निग्धं द्रव्यभूतं पात्रमधश्छिद्रान्यपात्रकम्।
गर्ते निधायोपर्यग्निः यंत्रं पातालसंज्ञितम्॥
(अत्र अग्निरुपलानां, स्निग्धद्रव्यगन्धतालादिः)—रसकामधेनु

१. मेषशृंगगतं वज्रं मृल्लिप्तं म्रियते पुटैः। (६।९८)

२. (क) जारयेत् बालुकायंत्रे खोटो भवति तत्क्षणात्। (१२।९१)
(ख) जारयेत् बालुकायंत्रे भावितं गन्धकं पुनः। (१५।८७)
(ग) प्रागुक्तबालुकायंत्रे तैलं दत्त्वा विचक्षणः। (१६।८१)
(विवरण के लिए "रसेन्द्रचिन्तामणि" २।५ देखो)

३. (क) पुटयेद् भूधरे यंत्रे स्तम्भते नात्र संशयः (१५।९५)
(ख) मारयेद् भूधरे यंत्रे सप्तसंकलिका क्रमात्। (१८।७८)
(विवरण के लिए "रसेन्द्रचिन्तामणि" २।६ देखो)

४. भ्रमरायंत्रमध्यस्थं पुटं सप्तदिनं भवेत्। (१५।४६)

५. मेदिनीयंत्रमध्ये तु स्थापयेत् तु वरानने!। (१२।६०)

६. (क) विद्याधरेण यंत्रेण भावयेद् दोषवर्जितम्। (१०।४४)
(ख) यन्त्रे विद्याधरे देवि! गगनं तत्र जारयेत्। (१२।६)
(ग) रसेन्द्रं दापयेद् ग्रासं यन्त्रे विद्याधराह्वये। (१२।४१)

७. मूषाख्ये वेणुयंत्रे च त्रिवारमपि भावयेत्। (१२।२२५)

८. सारणायंत्रयोगेन बध्यते सारितो रसः। (१०।२७)

रसार्णव-ग्रन्थकार यंत्रों के प्रयोग का महत्त्व बहुत मानता था। यंत्र में उसकी कितनी निष्ठा थी, इसका संकेत उसकी इन युक्तियों में है--"पारे के जारण, मारण और रञ्जन में यंत्र का प्रयोग परम महत्त्व का है। ओषधियों से भी अधिक महत्त्व का है। ओषधि न होने पर भी यदि उपयुक्त यंत्र हो तो पारे का वध किया जा सकता है।. . . यंत्र के प्रयोग में कभी भी संकोच या प्रमाद नहीं करना चाहिए।"[1]

ज्वाला-परीक्षण--Flame tests--भिन्न-भिन्न धातुएँ आग की ज्वाला को भिन्न-भिन्न रंग देती हैं। ज्वालाओं का रंग देखकर धातुओं की विद्यमानता का अनुमान किया जा सकता है। सोने के सम्पर्क की ज्वाला पीली, चाँदी के संपर्क की सफेद, ताँबे के संपर्क की नीली, लोहे के संपर्क की कृष्णवर्ण की, वंग (टिन) के संपर्क की कपोत वर्ण की, नाग या सीसे के संपर्क की ज्वाला.मलिन धूमवाली, शिलाजीत की धूसर वर्ण की, आयस (लोहे) की कपिल-रंग की, अयस्कान्त की धूम्र वर्ण की, सस्यक की लाल, हीरे की नाना प्रकार की और अभ्रकसत्त्व की पाण्डु या पीले रंग की ज्वाला होती है। यदि न तो चिनगारियाँ निकल रही हों, न बुद्‌बुद् उठ रहे हों, न पृष्ठ पर रेखाएँ हों, और न चटचटाहट या इसी प्रकार का कोई शब्द हो और मूपा में रखने पर रत्न के समान स्थिरता हो तो लोह धातु को विशुद्ध मानना चाहिए।[2]

१. **जारणे मारणे चैव रसराजस्य रञ्जने।
यन्त्रमेकं परं मर्म यत्रौषध्यो महाबलम्॥
ओषधीरहितश्चायं हठाद् यन्त्रेण बध्यते।
सर्वत्र सूतको याति मुक्त्वा भूधरलक्षणम्॥
देवताभिः समाकृष्टो लोष्टस्थोऽपि हि गच्छति।
तस्माद् यंत्रबलं चैकं न विलङ्घ्यं विजानता॥** (४।२०-२२)

२. **आवर्त्तमाने कनके पीता तारे सिता प्रभा।
शुल्बे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि!॥
वङ्गे ज्वाला कपोताभा नागे मलिनधूमका।
शैले तु धूसरा देवि! आयसे कपिलप्रभा॥
अयस्कान्ते धूम्रवर्णा सस्यके लोहिता भवेत्।
वज्रे नानाविधा ज्वाला खसत्त्वे पाण्डुरप्रभा।
न विस्फुलिङ्गो न च बुद्‌बुदश्च यदा न रेखापटलं न शब्दः।
मूषागतं रत्नसमं स्थिरञ्च तदा विशुद्धं प्रवदन्ति लोहम्॥** (४।४९-५२)

रंगों का जो यह विवरण दिया गया है, वह सर्वथा शुद्ध और विश्वसनीय तो नहीं है (जैसे सस्यक या तूतिया से ज्वाला का लाल होना) पर इस वर्णन का महत्त्व इस बात में है, कि ज्वाला के रंगों को देखकर धातुओं की पहिचान की जा सकती है। धातुओं की ही नहीं, प्रत्युत अन्य पदार्थों की भी परीक्षा अग्नि में डालकर की जा सकती है। चार प्रकार के अभ्रक इसी विधि से पहचाने जा सकते हैं। पिनाक-अभ्रक आग में रखने पर चिट्-चिट् शब्द करता है। दर्दुर अभ्रक आग में रखने पर कुक्कुट के समान शब्द करता है। नाग-अभ्रक साँप की-सी फूत्कार करता है, और वज्र-अभ्रक वज्र के समान अग्नि में स्थिर रहता है।[1]

अभ्रक, कान्तपाषाण, वज्र और वैक्रान्तक––रसार्णव के छठे पटल में अभ्रक, कान्तपाषाण, वज्र, और वैक्रान्तक के लक्षण, भेद और संस्कार करने की विधियों का उल्लेख किया गया है। चार प्रकार के अभ्रक–पिनाक, दर्दुर, नाग और वज्र–अभी ऊपर बताये जा चुके हैं। इन अभ्रकों का स्वेदन अनेक वनस्पतियों और ओषधियों के साथ विस्तार से बताया गया है। कोष्ठिका यंत्र में भस्त्रा (धौंकनी) के साथ तीव्र आँच पर अभ्रक सत्त्व प्राप्त किये जाने का भी उल्लेख है।[2] अभ्रक के द्रवण की भी विधियाँ इसी पटल में दी गयी हैं। इन रसकर्मों में वनस्पतियों का प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। जैसे, कपि (केंवाच) और तिन्दुक के साथ बकरे के मूत्र से सिक्त करके आवापन करने पर पानी के समान अभ्रक का प्राप्त होना।[3]

कान्त लोह पाँच प्रकार का बताया गया है––भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और

१. पिनाकं दर्दुरं नागं वज्रं चाभ्रं चतुर्विधम् ।
पिनाकेऽग्नि प्रविष्टे तु शब्दश्चिटिचिटर्भवेत् ॥
दर्दुरेऽग्नि प्रविष्टे तु शब्दः कुक्कुटवद् भवेत् ।
अग्नि प्रविष्टं नागन्तु फूत्कारं देवि ! मुञ्चति ॥
अग्निं प्रविष्टं वज्रं तु वज्रवत्तिष्ठति प्रिये ! ॥ (६।४–६)

२. तिलचूर्णपलं गुञ्जा त्रिपलं पादटङ्कणम् ।
गोधूमवद्धा तत्पिण्डी पञ्चगव्येन भाविता ॥
धमनात् कोष्ठिकायन्त्रे भस्त्राभ्यां तीव्रवह्निना ।
पतत्यभ्रसत्त्वं तु सत्त्वानि निखिलानि च ॥ (६।१५–१६)

३. छागमूत्रेण संसिक्तं कपितिन्दुकरेणुना ।
अभ्रकं वापितं देवि ! जायते जलसन्निभम् ॥ (६।२३)

रोमकान्त। यह लोह पीला, काला और लाल तीन रंगों का होता है। पीला स्पर्शवेधी है, काला रसायन कर्म में श्रेष्ठ है, और रस बन्ध (पारद के बाँधने) में लाल अच्छा बताया जाता है। भ्रामक लोहा अधम माना गया है, चुम्बक कान्त लोह मध्यम है, कर्षक उत्तम है, द्रावक उत्तमोत्तम है। **रसार्णव** का यह वर्णन **रसरत्नसमुच्चय** (५।८४–९२) के विवरण से मिलता-जुलता है।[1]

क्षीरसागर के मन्थन के समय जो अमृत देवताओं ने पिया, उसकी बूँदें कहीं-कहीं भूमि पर चू गयीं। ये ही सूखने पर वज्र (हीरा) बन गयीं।[2] ये हीरे अपनी आकृति के अनुसार पुरुष, स्त्री और नपुंसक तीन भेद के माने गये। रेखा और बिन्दु से मुक्त हीरे पुरुष जाति के, और रेखा एवं बिन्दुओं से जो समायुक्त हैं, वे स्त्री जाति के, और जो तिकोने, पत्तल और दीर्घ होते हैं, वे नपुंसक कहे जाते हैं।[3] श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण इन चार रंगों की दृष्टि से हीरे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के भी माने गये।[4] ओषधियों के संपर्क से हीरे के शोधन की विधि, वज्रमारण

१. **भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा।**
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तञ्च पञ्चमम् ॥४०॥
एकद्वित्रिचतुः पञ्च-सर्वतोमुखमेव तत्।
पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात् पृथक् पृथक् ॥४१॥
स्पर्शवेधि भवेत् पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने।
रक्तवर्णं महाभागे! रसबन्धे प्रशस्यते ॥४३॥
भ्रामकं तु कनिष्ठं स्यात् चुम्बकं मध्यमं प्रिये!
उत्तमं कर्षकं देवि! द्रावकं चोत्तमोत्तमम् ॥४४॥ (६।४०–४९)

२. **सुरासुरैर्मथ्यमाने क्षीरोदे मन्दराद्रिणा। पीतं तदमृतं देवैरमरत्वमुपागतम् ॥**
पिबतां बिन्दवो देवि! पतिता भूमिमण्डले।
शुष्कास्ते वज्रतां याता नानावर्णा महाबलाः ॥ (६।६५-६६)

३. **पुरुषाश्च स्त्रियश्चैव नपुंसकमनुक्रमात्।**
वृत्ताः फलकसंपूर्णास्तेजस्वन्तो महत्तराः।
पुरुषास्ते निबोद्धव्या रेखाबिन्दुविवर्जिताः ॥
रेखाबिन्दुसमायुक्ताः खण्डाश्चैव तु योषितः।
त्रिकोणाः पत्तला दीर्घा विज्ञेयास्ते नपुंसकाः ॥ (६।६८–७०)

४. **ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवमनेकधा।**
श्वेता रक्तास्तथा पीताः कृष्णाश्चैव चतुर्विधाः ॥ (६।६७–६८)

विधि, दोलायंत्र में स्वेदनविधि, और द्रावणविधि इनका विस्तार से विवरण दिया गया है।[१] इन विधियों में से कुछ की ओर संकेत **'रसरत्नसमुच्चय'** में भी दिया गया है, और कुछ का विवरण **'रसरत्नसमुच्चय'** से अधिक भी है (जैसे सोमसेनानी की विधि का)।

दुर्गा भगवती ने महिषासुर को जब मारा, तो पृथ्वी पर जहाँ-जहाँ उसका रक्त गिरा, वहाँ-वहाँ वैक्रान्त की उत्पत्ति हुई। यह विन्ध्यदेश के दक्षिण में पाया जाता है, न कि उत्तर में। धातुएँ इसके संपर्क से विकृत हो जाती हैं, अतः इसका नाम वैक्रान्तक पड़ा है। यह सात प्रकार का है––श्वेत, पीला, लाल, नीला, पारावत के से वर्ण का, मयूरबाल के समान और मरकत के समान। मृदु अग्नि पर अश्व के मूत्र द्वारा सात दिन तक इसका स्वेदन किया जाय और फिर छाया शुष्क हो तो उत्तम वैक्रान्तक प्राप्त होता है। अन्धनाल द्वारा धमन करके वैक्रान्तक का सत्त्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार वैक्रान्तक के द्रावण की विधियाँ भी बतायी गयी हैं।[२]

रसार्णव में दिये गये विवरण का आगे **रसरत्नसमुच्चय** में उपयोग किया गया

१. (क) **श्यामा शमी घनरवो वर्षाभून्मत्तकोद्रवाः।**
आखुकर्णी मुनितरुः कुलत्थं चाम्लवेतसम् ॥
मेषशृंगी रसोऽप्येषां कन्दस्य सूरणस्य तु।
शोधयेत् त्रिदिनं वज्रं शुद्धिमेति सुरेश्वरि! ॥ (६।७९–८०)

(ख) **अन्धमूषागतं ध्मातं वज्रं तु म्रियते क्षणात् ॥ (६।९५)**

(ग) **पुटपाकेन तच्चूर्णं जायते सलिलं यथा ॥ (६।१२२)**

२. (क) **दैत्येन्द्रो महिषः सिद्धो हरदेहसमुद्भवः।**
दुर्गा भगवती देवी तं शूलेन व्यमर्दयत् ॥१२४॥
तस्य रक्तं तु पतितं यत्र यत्र स्थितं भुवि।
तत्र तत्र तु वैक्रान्तो वज्राकारो महारसः ॥१२५॥

(ख) **विन्ध्यस्य दक्षिणे चास्ति उत्तरे नास्ति सर्वथा।**
विकृंतयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः ॥१२६॥

(ग) **वैक्रान्तं चूर्णितं सूक्ष्मं सुरासुरनमस्कृतम्।**
व्याघ्रीकन्दस्य मध्यस्थं धमयित्वा पुटे स्थितम् ॥१३०॥
अश्वमूत्रेण मृद्वग्नौ स्वेदयेत् सप्तवासरात्।
छायाशुष्कं ततः कुर्यादिदं वैक्रान्तमुत्तमम् ॥१३१॥

है। वैक्रान्तक की उत्पत्ति, भेद आदि एक से ही बताये गये हैं, पर इसके शोधन, सत्त्व-पातन, भस्म बनाने आदि के विस्तारों में दोनों ग्रन्थों में अन्तर है (देखो, **रसरत्नसमु०** २।६७–७६)

रसार्णव-ग्रन्थकार का कहना है, कि अभ्रक, वज्र, और वैक्रान्तक का जिन विधियों से द्रावण होता है, उन्हीं से सोने, चाँदी, ताम्र, कान्त लोह आदि का भी हो सकता है।[1]

महारस

रसार्णव ग्रन्थ में महारसों का जो विवरण है वह परम्परापूर्वक नागार्जुन के समय से ही आया होगा। आगे के रसग्रन्थों में इसी वर्गीकरण को मान्य समझा गया है। **रसरत्नसमुच्चय** ग्रन्थ के विवरणों का आधार भी **रसार्णव** ग्रन्थ है। हम महारसों का विशेष विवरण **रसरत्नसमुच्चय** ग्रन्थवाले अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल निर्देश कर देना आवश्यक समझते हैं।

आठ महारस ये हैं––माक्षिक, विमल, शैल (शिलाजतु), चपल, रसक, सस्यक, दरद, स्रोतोऽञ्जन।[2]

माक्षिक––(Copper pyrites)––समाधिस्थ कृष्ण के पैर में मृग के धोखे से व्याध ने जब तीर मारा, तो रुधिर की बूँदें जहाँ-जहाँ गिरीं वहीं माक्षिक खनिज पैदा हो गया। यह दो प्रकार का होता है, पीला और श्वेत। तैल, कांजी, मट्ठा, गोमूत्र, केले का रस, कुलथी, कोदों, शूरणकन्द आदि के क्वाथ से माक्षिक और विमल दोनों का ही स्वेदन किया जा सकता है। क्षार, अम्ल, लवण, एरण्ड, तेल, घी इनकी तीन पुट देकर दोनों ही शुद्ध किये जा सकते हैं।

(घ) वंध्याचूर्णं च वैक्रान्तं समांशेन तु चूर्णयेत् ।
अजामूत्रेण संभाव्य छायाशुष्कं च कारयेत् ॥
अन्धनाले धमित्वा तु मूषासत्त्वं हि जायते॥ १३३॥
(ङ) केतकीस्वरसः कांक्षी मणिमत्थं सखेचरम् ।
स्वेदनाज्जायते देवि ! वैक्रान्तं रससन्निभम्॥१३७॥ (६।१२४-१३७)

१. सुवर्णं रजतं ताम्रं कान्तलोहस्य वा रजः ।
अनेन स्वेदविधिना द्रवन्ति सलिलं यथा॥ (६।१३८)

२. माक्षिको विमलः शैलः चपलो रसकस्तथा ।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम् ॥
अष्टौ महारसाश्चैवमेतान् प्रथमतः शृणु ॥ (७।२)

पिसे हुए माक्षिक को दूध (स्त्री का), स्नुही (सेंहुड) का दूध, मदार का दूध इनसे भावित करके, टंक (सुहागा) और कंकुष्ठ के साथ पीस कर फूँकने से माक्षिक का सत्त्व प्राप्त होता है। इसी प्रकार और भी विधियाँ सत्त्व प्राप्त करने की दी हैं। एक विधि में तो जो सत्त्व प्राप्त होता है उसे ताँबे की-सी आभावाला और मृदु बताया गया है। यह सत्त्व तो वस्तुतः माक्षिक से निकला ताँबा ही है। विधि इस प्रकार है--

(क) शहद, गन्धर्व तेल, गोमूत्र, घी, कदलीकन्द का रस इन सबसे माक्षिक को बार-बार भावित करे, और मूषा में तपावे। ऐसा करने से ताँबे का-सा सत्त्व प्राप्त होगा।

(ख) गोमूत्र, स्नुही का दूध, एरण्ड तेल एवं इत्र में माक्षिक को एक दिन भिगो रखें, फिर पीसकर वटी (गोली) बना ले। फिर जैसे अभ्रक को फूँकते हैं, उसी प्रकार इसको भी फूँके। ऐसा करने से माक्षिक का सत्त्व मिल जायगा। सस्यक (तूतिया) का भी सत्त्व इसी प्रकार तैयार होता है, अर्थात् इसी प्रकार तूतिया से भी ताँबा निकलता है।[1]

१. (क) कृष्णस्तु भारतं श्रुत्वा योगनिद्रामुपागतः ।
तस्य पादतले विद्धं व्याधेन मृगशङ्कया ॥
ये तत्र पतिता भूमौ क्षताद्रुधिरबिन्दवः ।
ते निम्बफलसंस्थाना जाता वै माक्षिकोपलाः ॥ (७।३-४)

(ख) माक्षिको द्विविधस्तत्र पीतशुक्लविभागतः । (७।५)

(ग) तैलाऽऽरनालतक्रेषु गोमूत्रे कदलीरसे ।
कुलत्थकोद्रवक्वाथैः माक्षिकं विमलं तथा ।
मुहुः शूरणकन्दस्थं स्वेदयेद् वरवर्णिनि ! ॥ (७।६)

(घ) क्षाराम्ललवणैरण्ड–तैलसर्पिः समन्वितम् ।
पुटत्रयं प्रदातव्यं तद्वयं शोधितं भवेत् ॥ (७।७)

(ङ) माक्षिकं चूर्णितं स्तन्यस्नुह्यर्कक्षीरभावितम् ।
सत्त्वं मुञ्चति सुध्मातं टङ्क-कङ्कुष्ठमर्दितम् ॥ (७–८)

(च) क्षौद्रगन्धर्वतैलाभ्यां गोमूत्रेण घृतेन च ।
कदलीकन्दसारेण भावितं माक्षिकं मुहुः ॥
मूषायां मुञ्चति ध्मातं सत्त्वशुल्बनिभं मृदु ॥ (७।१०)

(छ) गोमूत्रैश्च स्नुहिक्षीरैः भाव्यमेरण्डतैलकैः ।
माक्षिकं दिनमेकन्तु मर्दितं वटकीकृतम् ॥
अभ्रवद् धमयेत् सत्त्वं सस्यकस्याप्ययं विधिः ॥ (७।१३)

विमल–(a variety of pyrites)—**रसार्णव** के रचयिता ने विमल का बहुत कुछ विवरण माक्षिक के साथ ही दिया है। विमल का शोधन और उससे सत्त्व प्राप्त करने की विधि वही हैं जो माक्षिक की। विमल तीन प्रकार का होता है—सफ़ेद, पीला और लाल। सहजन के रस, फिटकरी, कासीस, सुहागा, वज्रकन्द, और केले के रस की भावना देकर फिर मोक्षक-क्षार के साथ बन्द मूषा में यदि विमल को तपाया जाय, तो सोने की-सी चमक का सत्त्व इसमें से प्राप्त होता है। यह सत्त्व वस्तुतः ताँबा ही है।[1]

शैल या शिलाजतु—शैल दो प्रकार का बताया गया है—पतित और अपतित। गरमी की ऋतु में धूप से तप्त होकर पर्वतों से धरा का जो सार बहता है (ग्रीष्मेऽर्क-तप्त गिरयो जतु तुल्यं वमन्ति यत्–**चरक**), उसे शिलाजतु, शिलावद्धातुक, शैलज, गिरिसानुज, जतु, अद्रिज, गिरि, शैल, आदि नाम दिये गये हैं। क्षार, अम्ल, गोमूत्र आदि के साथ फूँककर शिलाजीत का शोधन किया जा सकता है। (**रसरत्नसमुच्चय** में ध्मातं=फूँकने के स्थान में धौतं=धोकर प्रयोग अधिक उचित किया गया है)। शोधन की दूसरी विधि में गाय का दूध, त्रिफला का काढ़ा, अथवा अदरख का रस लोहे के पात्र में लेकर उसमें शिलाजीत डालने का विधान है।

शिलाजीत को पीसकर धान्याम्ल, विष एवं उपविष के साथ घोंटकर पातनकर्म किया जा सकता है। यह पातन चपल के पातन के समान ही किया जाता है।[2]

१. (क) विमलस्त्रिविधो देवि ! शुक्लः पीतश्च लोहितः ॥ (७।५)

(ख) विमलं शिग्रुतोयेन कांक्षीकासीसटङ्कणैः ।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदलीरसैः ॥
मोक्षकसारसंयुक्तं धामितं मूकमूषया ।
सत्त्वं चन्द्रार्कसङ्काशं प्रयच्छति न संशयः ॥ (७।१६–१७)
(रसरत्न समुच्चय २।१०३–१०४ में यही श्लोक पाठ भेद से है)

२. (क) पतितोऽपतितश्चेति द्विविधः शैल ईश्वरि ! ।
ग्रन्थान्तरेऽपि कीर्त्योऽसौ कीर्त्तितो बहुभिः सुरैः ॥ (८।१८)

(ख) निदाघे घर्मसन्तप्ता धातुसारं धराधराः ।
निर्यासं च विमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्त्तितम् ॥
शिलावत् धातुकं ध्मातं शैलजं गिरिसानुजम् ।
जत्वद्रिजं गिरिः शैलः प्रोक्तस्त्वयानुकीर्त्तितः ॥ (७।१९–२०)

चपल---यह कई रंग का पाया जाता है---गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण इनमें से जो चमक में चाँदी या सोने के समान है वह पारे के बन्धन में बड़ा उपयोगी है। जो अन्तिम दो (अरुण और कृष्ण) लाख के समान शीघ्र गलनेवाले चपल हैं वे निष्फल हैं। चपल वंग (टिन) के समान शीघ्र गलता है, इसीलिए इसे चपल कहते हैं। पुटपाक द्वारा गिरिमस्तक (शोरा) मिलाकर चपल का मारण किया जा सकता है। चपल पारे का शीघ्र वेधन करता है। यह लेखन करनेवाला, स्निग्ध, देह और लोह की सिद्धि करनेवाला है (अर्थात् ओषधियों और धातुकर्म दोनों में इसका उपयोग है।[1]

रसक--(calamine)---**रसार्णव** ने रसक के तीन भेद बताये हैं---मृत्तिका-रसक, गुड-रसक और पाषाण रसक। पीली मिट्टी के समान जो रसक होता है वह श्रेष्ठ है, गुड़ के समान रंगवाला मध्यम और पत्थर का-सा रसक निम्नकोटि का है। कड़वी तुम्बी के रस में पकाकर और सुखाकर इसे शुद्ध किया जा सकता है। शुद्ध होने पर यह पीले रंग का हो जाता है। शोधन की इस विधि का **रसरत्नसमुच्चय** ने भी अनुकरण किया है।

(ग) क्षाराम्लगोजलैर्ध्मातं शुद्धयते च शिलाजतु ।
अथवा गोघृतेनापि त्रिफला द्वयार्द्रकद्रवैः ।
लोहपात्रे विनिक्षिप्य शोधयेत्तत्तु यत्नतः ।। (७।२१)
(देखो, रसरत्नसमुच्चय २।११७)

(घ) शैलं विचूर्णयित्वा तु धान्याम्लोपविषैर्विषैः ।
पिण्डं बद्ध्वा तु विधिवत् पातयेच्चपलं यथा ।। (७।२२)

१. **(क) गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु प्रशस्यते ।**
हैमाभश्चैव ताराभो विशेषाद्रसबन्धकः ।।
शेषौ मध्यौ च लाक्षावत् शीघ्रद्रावौ तु निष्फलौ ।
वंगवत् द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्त्तितः ।। (७।२३-२४)
(देखो, रसरत्नसमुच्चय २।१४३-१४४)

(ख) मारयेत् पुटपाकेन चपलं गिरिमस्तके ।
देहबन्धं करोत्येव विशेषाद् रसबन्धनम् ।। (७।२६)

(ग) चपलश्चपलावेधं करोति घनवच्चलः ।
चपलो लेखनः स्निग्धो देहलोहकरो मतः ।। (७।२७)
(देखो, रसरत्नसमुच्चय २।१४५)

ताँबे से सोने के समान चीज़ भी रसक के उपयोग से बन सकती है। **रसार्णव**-ग्रन्थकार का कहना है कि इसमें आश्चर्य ही क्या, यदि रजस्वला के रुधिर और गन्धक से रसक को भावित करके तीन बार ताँबे के साथ पुट देने पर सोना बन जाता है। (वस्तुतः रसक से जस्ता धातु प्राप्त होती है, जो ताँबे से मिलकर पीतल बनाती है, जिसे रंगसाम्य के कारण रसाचार्य्यों ने सोना समझा)।

रसक में से कुटिल या रांगे (टिन) के समान वर्ण की जस्ता धातु बनाने की एक विधि दी गयी है। रसक को पीसकर कपड़े में बाँधे, फिर स्त्री के मूत्र में सात रात तक रखे। फिर पीले या लाल फूलों के रस में भावना देवे। अथवा क्षार, तैल, अम्ल, ऊन, लाख, हलदी, हर्र, केंचुआ, और घर के धूम से संयुक्त करके और सुहागा मिलाकर बन्द मूषा में तपावे, तो राँगे के समान रंग का सत्त्व निश्चय ही प्राप्त होता है। कुछ-कुछ ऐसी ही विधि दूसरे शब्दों में **रसरत्नसमुच्चय** (२।१६१–१६८) में भी दी हुई है।

रसक के निम्न पर्याय **रसार्णव** ने दिये हैं---गोमद्द, रसक, क्षितिकिट्ट, रसोद्भव, खर्पर, नेत्ररोगारि, रीतिकृत् और ताम्ररञ्जक।[1]

१. (क) **मृत्तिकागुडपाषाणभेदतो रसकस्त्रिधा।**
पीतस्तु मृत्तिकाकारो मृत्तिकारसको वरः॥
गुडाभो मध्यमो ज्ञेयः पाषाणाभः कनिष्ठकः॥ (७।२८–२९)

(ख) **कटुकालाबुनिर्यासेनालोडच रसकं पचेत्।**
शुद्धो दोषविनिर्मुक्तः पीतवर्णस्तु जायते॥ (७।३०)

(ग) **किमत्र चित्रं रसकं रसेन रजस्वलायाः कुसुमेन भावितम्।**
क्रमेण कृत्वा उरगेन रञ्जितं करोति शुल्बं त्रिपुटेन काञ्चनम्॥ (७।३१)

(घ) **रसकं चूर्णयित्वा तु बद्ध्वा वस्त्रे विचक्षणः।**
मूत्रे निधापयेत् स्त्रीणां सप्तरात्रं सुरेश्वरि!"
पुष्पाणां रक्तपीतानां रसैः पत्रैश्च भावयेत्।
क्षारैः स्नेहैस्तथा चाम्लैः भावितं रसकं मुहुः।
ऊर्णालाक्षानिशापथ्याभूलताधूमसंयुतम्।
मूकमूषागतं ध्मातं टङ्कणेन समन्वितम्।
सत्त्वं कुटिलसङ्काशं मुञ्चत्येव न संशयः॥ (७।३३–३६)

(ङ) **गोमद्दो रसकस्तुत्थं क्षितिकिट्टो रसोद्भवः।**
खर्परो नेत्ररोगारिः रीतिकृत्ताम्ररञ्जकः॥ (७।३७)

सस्यक--(तूतिया)--Blue vitriol--गरुड़ ने कालकूट विष पिया और उसके ऊपर से फिर अमृत पी डाला। फलतः उन्हें वमन हुआ। यह वमन ही सस्यक या नीला थोथा बन गया। सस्यक के चूर्ण में चौथाई भाग सुहागा मिलाकर करञ्ज के तेल में एक दिन भिगो रखे। फिर इसे निकालकर बन्द मूषा में कोयले की आग पर गरम करे। ऐसा करने पर बीरबहूटी के रंग का लाल सत्त्व प्राप्त होता है। यह विधि **रसरत्न समुच्चय** में भी उद्धृत की गयी है।[१] (२।१३३–१३४)।

दरद–Cinnabar–दरद या हिंगुल तीन प्रकार का बताया गया है—चर्म्मार, शुकतुण्डक और हंसपाद। आगे के ग्रन्थकारों ने दरद या हिंगुल को महारस नहीं माना केवल "साधारण रस" माना है (**रसरत्नसमु०** ३।१२०)। इनमें हंसपाद सब से उत्तम है, और चर्म्मार सब से कम। चूर्ण और पारद भेद से यह दो प्रकार का और भी माना गया है। गोमांस, भैंस के मूत्र, दही की खटाई एवं तिल के तेल में एक-एक करके तीन दिन पकाकर मोर के पित्त में भावना देवे और फिर पातना यंत्र द्वारा जल से भरे कुंड में इसका पातन करे तो निश्चय ही पारे के समान इसमें से सत्त्व प्राप्त होगा (वस्तुतः यह सत्त्व पारा ही है)।

ग्रन्थकार का कहना है कि इसमें भी क्या आश्चर्य, यदि दरद को भेड़ के दूध, और अम्लवर्ग के पदार्थों के साथ भावित करें और फिर आग में तपावें तो इसका रंग सोने के समान अथवा अच्छी केशर के समान लाल हो जावे।[२]

१. (क) **कालकूटं विषं पीत्वा गरुडः सोढुमक्षमः।**
सुधामपि तथाऽऽवमत् भुवत आशीविषाऽऽमृते॥
स्वयं विनिर्गते चञ्च्वोः सस्यकोऽभूत् स कालिकः॥ (७।३९)

(ख) **तस्य चूर्णं महेशानि पादसौभाग्यसंयुतम्।**
करञ्जतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत्॥
मध्यस्थमन्धमूषायाः धमयेत् कोकिलत्रयम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं सत्त्वं पतति शोभनम्॥ (७।४१–४२)

२. (क) **दरदस्त्रिविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः**
हंसपादस्तृतीयः स्याद् गुणवानुत्तरोत्तरः॥ (७।४६)

(ख) **चूर्णं पारदभेदेन द्विविधो दरदः पुनः।** (७।४७)

(ग) **गोमांसे माहिषे मूत्रे दध्यम्लतिलतैलयोः।**
एकैकं त्रिदिनं पक्त्वा शिखिपित्तेन भावयेत्॥

स्रोतोऽञ्जन––रसार्णवकार स्रोतोऽञ्जन को महारस मानते हैं। आगे के आचार्यों ने इसे अंजन का एक भेद माना है, और अंजन की गिनती उपरसों में की है। स्रोतोऽञ्जन के लक्षण ये हैं––आकार में यह बँमई के अग्रभाग के समान हो, तोड़ने पर भीतर नीले कमल-सा दीखे, घिसने पर गेरू के समान लाली प्रकट करे। गोबर के रस, गोमूत्र, घृत, मधु, वसा इनसे भावित करने पर यह पारे को बाँधनेवाला बन जाता है।[1]

उपरस

ग्रन्थकार ने ८ महारसों के विवरण के अनन्तर ८ उपरसों का विवरण दिया है। ये उपरस हैं––गन्धक, तालक (हरताल), शिला (मनःशिला), सौराष्ट्री, खग (कासीस), गैरिक, राजावर्त्त और कंकुष्ठ।[2] आगे के रसग्रन्थों में उपरसों की नामावली इससे कुछ भिन्न ही दी गयी है––गन्धक, गैरिक, कासीस, कांक्षी (सौराष्ट्री), हरताल, मनःशिला, अंजन और कंकुष्ठ (**रसरत्नसमुच्चय** ३।१)।

गन्धक––शिवजी ने पार्वती को गन्धक की उत्पत्ति की जो कथा बतायी है, वह **रसार्णव** और **रसरत्नसमुच्चय** दोनों ग्रन्थों में एक समान है। क्षीर सागर के किनारे देवांगनाओं से क्रीड़ा करते समय श्वेत द्वीप में सहसा पार्वतीजी को रजःस्राव हो गया, और पार्वती रंगे हुए वस्त्रों को वहीं छोड़कर कैलास पर चली आयीं। ये रञ्जित वस्त्र

दरदं पातनायंत्रे पातयेत् सलिलाशये।
सत्त्वं तु सूतसङ्काशं जायते नात्र संशयः॥ (७।४८–४९)
(देखो, रसरत्नसमुच्चय ३।१४४)

(घ) किमत्रचित्रं दरदः सुभावितः, क्षीरेण मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
सितं सुवर्णं बहुघर्मतापितं, करोति साक्षाद्वरकुङ्कुमप्रभम्॥
(७।५२) (दे०, रसरत्नसमुच्चय ३।१४३)

१. वल्मीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युति।
घृष्टन्तु गैरिकच्छायं स्रोतोजं सुरवन्दिते॥
गोशकृद्रसमूत्रेषु घृतक्षौद्रवसासु च।
भावितं बहुशस्तच्च क्षिप्रं बध्नाति सूतकम्॥ (७।५३–५४)
(दे०, रसरत्नसमुच्चय ३।१०६–१०७)

२. गन्धकस्तालकः शिला सौराष्ट्री खगगैरिकम्।
राजावर्त्तश्च कङ्कुष्ठमष्टावुपरसाः स्मृताः (७।५६)

लहरों ने बहाकर समुद्र में पहुँचा दिये। समुद्रमन्थन के समय यह रज अमृत के साथ ऊपर निकला, जिसकी गन्ध से देव और दानव दोनों प्रसन्न हुए। इसका नाम ही गन्धक पड़ा।[१]

गन्धक तीन प्रकार का होता है--तोते की-सी चोंच का (उत्तम), पीतवर्ण (मध्यम) और शुक्लवर्ण (अधम)। इसके शोधन आदि की विधियाँ दी गयी हैं, जिनमें विभिन्न पदार्थों से भावनाएँ देनी पड़ती हैं, और अन्त में पानी से धोना पड़ता है।[२]

तालक--या हरताल--Orpiment--यह दो प्रकार का होता है--पटल (तपकी) और पिंड (गुवरिका)। कुष्माण्ड (पेठा) के रस में स्वेदन करने से अथवा स्नुही के दूध, कटुलौकी के रस आदि से भावित करके इसका शोधन, और पातना यंत्र द्वारा इसका सत्त्व प्राप्त किया जा सकता है।[३] **रसरत्नसमुच्चय** ने सत्त्व प्राप्त करने की विस्तृत विधि दी है जिसका विवरण आगे के एक अध्याय में दिया जायगा।

शिला या मनःशिला--Realgar--सातवें पटल में केवल लाल रंग की मनःशिला का उल्लेख है जो मातुलुंग (बिजौरा नींबू) के साथ गोमांस में पकाकर शुद्ध की जा सकती है। सफेद, लाल और पीले तीनों प्रकार के फूलों के साथ पृथक्-पृथक् भावना

१. रसार्णव ७।५७-६४, देखो रसरत्नसमुच्चय ३।३-१२

२. (क) स चापि त्रिविधो देवि ! शुकचञ्चुनिभोवरः।
मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छुक्लवर्णोऽधमः प्रिये ॥ (७।६७)

(ख) करञ्जैरण्डतैलेन द्रावयित्वाजदुग्धके।
सिञ्चेदुन्मत्तनिर्यासे त्रीन् वारांस्तं पृथक् पृथक् ॥
ज्वालिनीबीजचूर्णेन मत्स्यपित्तैश्च भावयेत्।
भृङ्गाम्भसा वा सप्ताहं भावितः क्षालितोऽम्भसा ॥ (७।६८-६९)

३. तालकः पटलः पिण्डो द्विधा तत्राऽऽद्य उत्तमः।
कुष्माण्डे तु शतं वारान् तालकं स्वेदयेद् बुधः ॥७४॥
स्नुक्क्षीरकटुकालाबुरसयोः सप्तधा पृथक्।
तिल सर्षपशिग्रूणि लाक्षा च लवणं गुडः।
टङ्कणं च युतैर्ह्येतैः तालकं भूधरे द्रवेत् ॥७५॥
व्याधिघातफलक्षारं मधुकुष्माण्डकं तथा।
द्रवैः पुनर्नवोद्भूतैः सप्ताहं मर्दयेद् बुधः ॥७६॥
दत्त्वा पादांशकं सर्वं ततः पातनयन्त्रके।
दद्यात् पुटं गजाकारं पतेत् सत्त्वं सुतालकात् ॥ (८।७४-७७)

देकर हरताल के समान मनःशिला का भी द्रावण किया जा सकता है। लाल-पीले पुष्पों के रस और पित्त के साथ भावना देने का भी उल्लेख है।[1]

सौराष्ट्री (फिटकरी)—सफ़ेद, काली, और खण्डालिका इसके भेद हैं। गाय के पित्त से १०० बार भावना देकर इसे शोधन करने का उल्लेख किया गया है। इसका सत्त्वपातन अति गुह्य एवं क्लिष्ट है और कल्पना की गयी है कि फूँकने और पातन करने से इसका सत्त्व प्राप्त हो सकता है। "अतिगुह्यकम्" शब्द का प्रयोग ही बताता है कि इसमें से धातु सत्त्व (एल्यूमिनियम) नहीं प्राप्त किया जा सका।[2] इसमें संक्रामण गुण बताये गये हैं।[2]

काशीस—Green vitriol—सफ़ेद, काला और पीला, तीन प्रकार का काशीस बताया गया है। पीसकर कसौंदी के रस और पीली तरोई के रस और पित्त की भावना देने का उल्लेख है।[3]

गैरिक—Red ochre—यह तीन प्रकार का बताया गया है—लाल, स्वर्ण का-सा और एक अन्य (?)। रक्तवर्ग की ओषधियों के रसों, क्वाथों, और पित्तों के साथ इसकी भावना देने का उल्लेख है। गैरिक में से सफ़ेद और लाल सत्त्व क्रमशः प्राप्त होता है।[4] (आगे के कुछ आचार्य गेरू को स्वयं सत्त्वरूप मानते हैं, अतः इसमें से सत्त्व का प्राप्त होना निरर्थक समझते हैं।)

१. रक्ताशिला तु गोमांसे लुङ्गाम्लेन विपाचिता।
(त्रिपुष्पेण पृथग्भाव्या शिला तालकवद् द्रवेत्।)
तां रक्तपीतपुष्पाणां रसैः पित्तैश्च भावयेत्॥ (७।७८)

२. सिता कृष्णा च सौराष्ट्री चूर्णखण्डात्मिका च सा॥७९॥
गोपित्तेन शतं वारान् सौराष्ट्रीं भावयेत्ततः॥
धमित्वा पातयेत् सत्त्वं क्रामणं चाति गुह्यकम्॥ (७-७९-८०)
(यह दूसरा श्लोक 'रसरत्नसमुच्चय', ३।६५, में भी है)

३. काशीसं त्रिविधं शुक्लं कृष्णं पीतमिति प्रिये!
काशीसं चूर्णयित्वा तु कासमर्द्दरसेन च।
राजकोशातकीतोयैः पित्तैश्च परिभावयेत्॥ (७।८१–८२)

४. गैरिकं त्रिविधं रक्तहेमकेवलभेदतः।
रक्तवर्गरसक्वाथपित्तैस्तद्भावयेत् पृथक्॥
अनेन क्रमयोगेन गैरिकं विमलं धमेत्।
क्रमात् सितञ्च रक्तञ्च सत्त्वं पतति शोभनम्॥ (७।८३–८४)

राजावर्त--Lapis lazuli—यह दो प्रकार का है, गोली-सा, और चूर्ण-सा। चूर्ण राजावर्त्त में भैंस का दूध और गाय का घी मिलाकर लोहे के पात्र में पकावे। फिर इस चूरे में मनःशिला और घी मिलावे और सुहागा और पंचगव्य मिलाकर पिण्डी बनावे, और खदिर के कोयलों पर फूंके तो इसमें से सत्त्व मिलेगा।[1]

कंकुष्ठ--इसके संबंध में एक ही पंक्ति है--यह स्वयं सत्त्वमय है और विद्रुमच्छाय है।[2]

षड् धातुएँ

सोना, चाँदी, ताँबा, तीक्ष्ण (लोहा), रांगा (वंग) और सीसा (नाग या भुजंग)-ये ६ पुरानी प्रचलित धातुएँ हैं। इन सभी धातुओं के लिए सामान्य शब्द "लोह" है। लोह का अर्थ लोहा तो आगे साहित्य में रूढ़ि हुआ।[3] इन ६ धातुओं में सोने का क्षय सबसे कम, और क्रमशः अन्तिम धातु, सीसा का सबसे अधिक होता है।

इन ६ धातुओं में से प्रथम दो (सोना और चाँदी) को सार लोह माना जाता है, तीक्ष्ण (लोहा) और शुल्व (ताँबे) को साधारण लोह; वंग, और नाग को पूतिलोह[4]।

(यह दूसरा श्लोक रसरत्नसमुच्चय में राजावर्त्त के प्रकरण में दिया हुआ है--३।१५६। राजावर्त्त का सत्त्व पीला और गैरिक का लाल बताया गया है--क्रमात्पीतं च रक्तं च सत्त्वं पतति शोभनम्--यह पाठ है।)

१. राजावर्त्तो द्विधा देवि! गुलिका चूर्ण भेदतः।
तच्चूर्णं देवदेवेशि महिषीक्षीरसंयुतम्।
विपचेदायसे पात्रे गोघृतेन विमिश्रितम्।
तच्चूर्णितं सुरेशानि! कुनटीघृतमिश्रितम्।
सौभाग्य पञ्चगव्येन पिण्डीबद्धं तु कारयेत्।
धमितं खादिराङ्गारैः सत्त्वं मुञ्चति शोभनम्॥ (७८५-८६)
(देखो रसरत्नसमुच्चय ३।१५४-१५५)

२. कङ्कुष्ठं विद्रुमच्छायं तच्च सत्त्वमयं प्रिये। (७८८)

३. सुवर्णं रजतं ताम्रं तीक्ष्णं वङ्गं भुजङ्गमम्।
लोहन्तु षड्विधं तच्च यथापूर्वं तदक्षयम्॥ (७९७)

४. तत्रादितः सुरेशानि! सारं लोहद्वयं स्मृतम्।
साधारणे तीक्ष्णशुल्बे वङ्गनागौ तु पूतिकौ॥ (७९८)

सोना––सोना तीन प्रकार का बताया गया है––रसज (रासायनिक विधि से बनाया गया), क्षेत्रज (खान से प्राप्त) और लोहसंकरज (धातु मिश्रण से प्राप्त)। रंग के अनुसार यह लाल और पीला दो प्रकार का होता है। ताँबे और चाँदी से मुक्त शुद्ध सोना तपाने पर लाल, छेदने या काटने पर श्वेत और कसौटी पर कुंकुम के रंग-सा होता है। यह भारी, मृदु और स्निग्ध (चिकना) है। स्वर्ण का शोधन करना हो तो विजौरे नीबू के रस, क्षार और लवणों के साथ पाँच दिन तक भावना देनी चाहिए और पुट-पाक का प्रयोग करना चाहिए।[1]

रजत, तार या चाँदी––श्वेत और काली दो प्रकार की चाँदी होती है, उनमें से वह श्रेष्ठ है जो भारी, चिकनी, कोमल और श्वेत हो। यदि इसका शोधन करना हो तो इसे सीसा और सुहागे के साथ गलाना चाहिए, और जटामांसी के तैल में तीन वार बुझाना चाहिए।[2] चाँदी के शोधन की विधि विस्तार से **रसरत्नसमुच्चय** में देखने को मिलेगी।

ताँबा––यह दो प्रकार का होता है, लाल और काला। इनमें वह उत्तम है जो घन की चोट सह सके (आघातवर्ध्य हो), स्निग्ध, मृदु और लाल पत्रोंवाला हो। सेंहुड़ का दूध, लवण, क्षार, और अम्ल से ताम्रपत्र को लेपित करे और निर्गुण्डी के रस में इसे डाले तो इसका शोधन हो जायगा।[3]

१. (क) **रसजं क्षेत्रजं चैव लोहसङ्करजं तथा।**
त्रिविधं जायते हेम चतुर्थं नोपलभ्यते ॥९९॥

(ख) **रक्ताभं पीतवर्णं च द्विविधं देवि ! काञ्चनम्।**
दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुंकुमप्रभम् ॥१००॥

(ग) **मृत्तिका मातुलुङ्गाम्लैः पञ्चवासरभाविता।**
सभस्मलवणा हेम शोधयेत् पुटपाकतः ॥१०२॥(७।९९-१०२)

२. (क) **शुक्लञ्च तारकृष्णञ्च द्विविभं रजतं प्रिये।**
गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं तारमुत्तममिष्यते ॥

(ख) **नागेन क्षारराजेन द्रावितं शुद्धिमिच्छति।**
तारं त्रिवारं निक्षिप्तं पिशाचीतैलमध्यतः ॥(७।१०३-१०४)
रसरत्नसमुच्चय में शब्द ये हैं––नागेन टंकणेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति।
और आगे––तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मती भवेत् (५।३१,३२)।

३. **ताम्रं च द्विविधं प्रोक्तं रक्तं कृष्णं सुरेश्वरि !।**
घनघातसहं स्निग्धं रक्तपत्रं मृदूत्तमम् ॥

तीक्ष्ण या लोहा——इसके तीन भेद हैं——रोहण, वाजर, और चपलालय (अथवा पाठभेद से रोहण, राजक और पटोलक)। गुड़च, हंसपाटी, करञ्ज, त्रिफला, गोपालकी, गोरसना, तुम्बुरु (नेपाली धनिया), इनके रस से लोहे का शोधन किया जा सकता है।[1]

त्रपु या वंग और नाग या सीसा——श्वेत और कृष्णभेद से वंग (राँगा) या त्रपु दो प्रकार का होता है। इनमें से श्वेत वंग मृदु, हलका, स्निग्ध और उत्तम माना गया है। नाग या सीसा तो एक ही प्रकार का माना गया है। यह मृदु, भारी और शीघ्र गलने वाला होता है। वंग और नाग दोनों का शोधन लगभग एक ही प्रकार से होता है, और अनेक ओषधियों का उल्लेख किया गया है, जिनकी भावना देकर ये दोनों धातुएँ शोधी जा सकती हैं।[2]

धातुओं के द्राव की विधियाँ भी इसी पटल में दी गयी हैं। इसी प्रकार रत्नों के द्राव की विधियों का भी उल्लेख है।

धातुओं का मारण——**रसार्णव** में धातुओं के मारण की अनेक विधियाँ दी गयी हैं। सामान्यतः यह कहा गया है, कि धातु रूपी हाथी को मारने के लिए गन्धक रूपी सिंह से बढ़कर कोई नहीं, अर्थात् गन्धक के योग से लगभग सभी धातुएँ मारी जा सकती हैं।[3]

स्नुह्यर्कक्षीरलवणक्षाराम्लपरिलेपितम् ।
ताम्रपत्रं च निर्गुण्डी-रसमध्ये तु ढालयेत् ॥ (७।१०५-१०६)

१. **रोहणं वाजरं चैव तृतीयं चपलालयम् ।**
इति तीक्ष्णं त्रिधा तच्च कान्तलोहमिति स्मृतम् ॥
नीलं कृष्णमिति स्निग्धं सूक्ष्मधारमयः शुभम् ।
गुडूची हंसपादौ च नवतमालः फलत्रयम् ॥
गोपालकी गोरसना तुम्बुरुर्लोहनिघ्नकः ।
एषां रसे ढालयेत्तत् गिरिदोषनिवृत्तये ॥ (७।१०७-१०९)

२. (क) **त्रपु च द्विविधं ज्ञेयं श्वेतकृष्णविभेदतः ।**
श्वेतं लघु मृदु स्निग्धमुत्तमं वङ्गमुच्यते ॥
(ख) **नागस्त्वेकविधो देवि ! शीघ्रद्रावी मृदुर्गुरुः ॥**
महिषस्यास्थिचूर्णेन वापात्तन्मूत्रसेचनात् ।
वङ्गं शुद्धं भवेत्तद्वत् नागो नागास्थिमूत्रतः ॥ (७।११०-११२)

३. **न सोऽस्ति लोहमातङ्गो यं न गन्धककेसरी ।**
निहन्याद् गन्धमात्रेण यद्वा माक्षिककेसरी ॥ (७।१५०)

विड

रसार्णव के पूरे नवम पटल में विड का उल्लेख है। साधारणतः पक्षियों की विष्ठा (मलमूत्र) ही विड है (संभवतः हिन्दी का "बीट" शब्द इसीसे निकला हो)। विड शब्द का आगे चलकर व्यापक प्रयोग भी हुआ।[1]

कासीस, सैन्धा नमक, फिटकरी, सौवीरांजन (galena), व्योष या त्रिकटु (सोंठ, मिरच, पीपल), सज्जी मिट्टी और स्रोतोऽञ्जन को सेंहजन की जड़ के रस से सिक्त करने पर जारण कार्य्य के योग्य विड प्राप्त होता है।[2]

शंखचूर्ण को फूँककर उसमें मदार के दूध में डुबोकर, पुट-अग्नि देकर भी जारण कार्य्य के योग्य विड तैयार होता है।[3]

विड बनाने की एक विस्तृत विधि निम्न प्रकार है, जिसका उद्धरण ढुंढुकनाथ के **रसेन्द्रचिन्तामणि** में भी हुआ है—बथुआ, एरण्ड, कदली, देवदाली (बन्दाल), पुनर्नवा, विसोंटा, पलाश, निचुल, तिल, कांचन और मोक्षक वृक्ष के छोटे-छोटे टुकड़े करके थोड़ा-सा सुखाकर शिला पर रखे। फिर जले हुए तिलसठ और मूली के पञ्चाङ्ग मूत्र-वर्ग में भिगोवे। उससे जो पानी निकले उसको लोहे के बर्तन में डालकर हंसपाक की रीति से पाक करे। जब भाप और बहुत-से बुलबुले उठने लगें, तब कासीस, सौराष्ट्री, तीनों क्षार, त्रिकटु, श्वेत गन्धक, हींग, और षट् लवण इन सबको पीसकर लोहे के बर्तन

१. A kind of salt (either factitious salt procured by boiling earth impregnated with saline particles, or a particular kind of fetid salt used medicinally as a tonic aperient, commonly called vit-lavana or Bitumen, cf. *vid-lavana*; it is black in colour and is prepared by fusing fossil salt with a small portion of Emblic Myrobalan, the product being muriate of soda, with small quantities of muriate of lime, sulphur, and oxide of iron). **मोनियर विलियम्स।**

२. **काशीसं सैन्धवं कांक्षी सौवीरं व्योषगन्धकम्।**
सौवर्च्चलं सर्जिका च मालतीनीरसम्भवम्।
शिग्रुमूलरसैः सिक्तो विडोऽयं सर्वजारणः॥ (९।२)

३. **निर्दग्धं शंखचूर्णन्तु रविक्षीरशतप्लुतम्।**
पुटितं बहुशो देवि! प्रशस्तो जारणा विडः॥ (९।३)

में डाल दे। फिर लोहे के बर्तन को बन्द करके एक सप्ताह तक ज़मीन में गाड़ रखे। इस प्रकार करने से सुन्दर विड तैयार होता है।[1]

हेम या स्वर्ण के जारण के लिए कई विडों का उल्लेख है, जैसे हरताल, मनःशिला, क्षार, लवण, शंख, शुक्ति, इनका हंसपाक विधि से पाक करे, तो हेमजारण कर्म के उपयुक्त विड मिलेगा।[2]

रागसंख्या

रसार्णव के आठवें पटल के आरम्भ में रागसंख्या (number tune) का उल्लेख है। राग संख्या एक काल्पनिक संख्या है। विशिष्ट प्रकार के संस्कारों से सिद्ध किये हुए बीज को पारद में जारित करके पारद में पीले, लाल आदि रंग उत्पन्न करने की क्रिया को 'रञ्जन-संस्कार' कहा जाता है। पारद में इस प्रकार रंग लाने की क्षमता पदार्थों में भिन्न-भिन्न मात्रा में होती है। राग संख्या संभवतः इस क्षमता की ही द्योतक है।[3] सस्यक, चपल, राजावर्त्त, माक्षिक, विमल और गैरिक की रागसंख्या एक-एक

१. वास्तुकैरण्डकदलीदेवदालीपुनर्नवम्।
वासा पलाशनिचुलं तिलकाञ्चनमाक्षिकम्॥ (मोक्षकम् ?)
सर्वाङ्गं खण्डशश्छिन्नं नातिशुष्कं शिलातले।
दग्धकाण्डैस्तिलानां तु पञ्चाङ्गं मूलकस्य च॥
प्लावयेन्मूत्रवर्गेण जलं तस्मात् परिस्रुतम्।
लोहपात्रे पचेद्यन्त्रे हंसपाकेऽग्निमानवित्॥
बाष्पाणां बुद्बुदानाञ्च बहूनामुद्गमो यदा।
तदा काशीस सौराष्ट्री क्षारत्रय कटुत्रयम्॥
गन्धकञ्च सितं हिङ्गुलवणानि च षट् तथा।
एषां चूर्णं क्षिपेदेष लोहसम्पुटमध्यगः।
सप्ताहं भूगतः पश्चाद्धान्यस्थः प्रवरो विडः॥ (९।१०–१४)

२. हरितालशिलाक्षारो लवणं शंखशुक्तिका।
हंसपाकविपक्वोऽयं विडः स्याद् हेमजारणे॥ (९।१८)

३. महारसेषु द्विगुणस्ताम्रराग: सुरेश्वरि!।
गिरिदोषे क्षयं नीते सूतकं रञ्जयन्ति ते॥
सस्यकश्चपलश्चैव राजवर्त्तश्च माक्षिकः!।
विमलो गैरिकञ्चैषामेकैकं द्विगुणं भवेत्॥

करके दुगुनी होती जाती है। भ्रामक आदि कान्त लोहों में यह संख्या एक, दो और तीन गुनी है। श्वेत, पीत, लाल इन अभ्रकों में यह एक-एक है। गन्धक में १८,००० राग बताये गये हैं, दरद में एक अयुत, मनःशिला में दो हज़ार, रसक में सात हज़ार और कंकुष्ठ में चौगुने। नाग या सीसा में ५१२, और वंग में ९००, और शुल्ब या ताँबे में १५० और लाल, पीले और शुक्ल वर्ण के सोने में १६। इन्द्रनील में ६० हज़ार, और महा-नील में इसके दुगुने, माणिक्य में १३ लाख, गजमुक्ता में ३ हज़ार, वारिज में ६० हज़ार और पद्मराग में ९ लाख। ऐसा वज्र या हीरा जो सब धातुओं को काट देता है,

भ्रामकादिषु कान्तेष्वप्येकद्वित्रिगुणो हि सः।
एकैकमभ्रके चैव श्वेतपीतारुणः सिते॥
अष्टादशसहस्राणि स्थिता रागाश्च गन्धके।
अयुतं दरदे देवि! शिलायां द्विसहस्रकम्॥
रसके सप्तसाहस्रं कंकुष्ठे तु चतुष्टयम्।
रसगर्भे प्रकाशन्ते जारणं तु भवेद् यदि॥
द्वादशाग्रं शतः पञ्च नागे रागा व्यवस्थिताः।
शतहीनं सहस्रं तु वङ्गे रागा व्यवस्थिताः॥
रागाणां शतपञ्चाशत् शुल्बमध्ये व्यवस्थिताः।
रक्तपीताश्च शुक्लाश्च हेम्नि रागाश्च षोडशः॥
रागाः षष्ठि सहस्राणि शक्रनीले व्यवस्थिताः।
महानीले च देवेशि! ते रागा द्विगुणाः स्थिताः॥
माणिक्ये तु सुरेशानि रागा लक्ष त्रयोदश।
गजवारिसमुत्पन्नं रत्नं मुक्ताफलं विदुः॥
गजे त्रीणि सहस्राणि षट् सहस्राणि वारिजे।
नवलक्षं च रागाणां पद्मरागे व्यवस्थिताः॥
भेदयेत् सर्वलोहानि यच्च केन न भिद्यते।
तद्वज्रं तस्य देवेशि! रागं लक्षद्वयं विदुः॥
षोडशैव सहस्राणि पुष्परागे व्यवस्थिताः।
पादोनलक्षरागास्तु प्रोक्त मरकते प्रिये॥
रागसंख्यां न जानाति संक्रान्तस्य रसस्य तु।
अधिकं मारयेल् लोहं हीनं चैव प्रकाशयेत्॥ (८१२-१४)

और जिसे कोई नहीं काट सकता उसमें दो लाख राग हैं। पुखराज में १६ हज़ार और मरकत में ७५ हज़ार।

द्वन्द्वमेलापन

दो धातु या खनिजों के मिश्रण का नाम **रसार्णव** में 'द्वन्द्वमेलापन' रखा गया है। स्वर्ण और अभ्रक के संयोग से हेमाभ्र बनता है, चाँदी और अभ्रक से ताराभ्र, रांगे और अभ्रक से वंगाभ्र, सीसा और अभ्रक से नागाभ्र, ताँबे और अभ्रक से शुल्वाभ्र, और इसी प्रकार लोहे और अभ्रक से तीक्ष्णाभ्र। अभ्रक के साथ ये धातुएँ कैसे मर्दन और धमन करके सफलतापूर्वक मिला दी जायँ, इस प्रक्रिया का नाम 'द्वन्द्वमेलापन' है। इसीका नाम कुछ आचार्यों ने 'द्वन्द्वान' भी रखा है--"द्रव्ययोर्मर्दनाद्ध्माना-द्वन्द्वानं परिकीर्त्तितम्"। (**रसरत्नसमुच्चय** ८।५०)

वर्षाभू, कदलीकन्द, काकमाची, पुनर्नवा, नरकपाल का चूर्ण, गुंजा, सुहागा इन्हें दूध और तैल के साथ फूँकने से सोना और अभ्रक से हेमाभ्र बनता है। इसी प्रकार ताराभ्र भी तैयार करते हैं।

इसी प्रकार कदलीकन्द के रस में सुहागा मिलाकर पीसने और बन्द मूषा में फूँकने पर वंग और अभ्रक से वंगाभ्र मिलता है।

इसी तरह नागताप्य (रौप्य माक्षिक और सीसे का मिश्रण) से हेमाभ्र, वंग और हरताल से ताराभ्र, गन्धक से शुल्बाभ्र, और नमक और हिंगुल से तीक्ष्णाभ्र, हरताल से वंग्राभ्र, और मनःशिला से नागाभ्र तैयार किये जा सकते हैं।[1]

१. (क) सङ्कराख्यन्तु दुर्मेल्यं प्रिये मृदु खराह्वयम्।
ततः संमृदितं देवि! द्वन्द्वमेलापनं द्रुतम्॥
भवेत् समरसं गर्भे रसराजस्य च द्रवेत्॥ २३॥

(ख) वर्षाभूकदलीकन्द-काकमची पुनर्नवाः।
चूर्णं नरकपालं च गुंजा टंकणसंयुतम्॥
क्षीरतैलेन सुध्मातं हेमाभ्रं मिलति प्रिये! ॥२५॥
अनेनैव विधानेन ताराभ्रमपि मेलयेत्॥ २६॥

(ग) कदलीकन्दतोयेन मर्द्दयेट्टङ्कणान्वितम्।
अन्धमूषागतं ध्मातं वङ्गाभ्रं मिलति क्षणात्॥ २७॥

(घ) हेमाभ्रं नागताप्येन ताराभ्रं वङ्गतालकात्।
गन्धकेन तु शुल्बाभ्रं तीक्ष्णाभ्रं सिन्धुहिङ्गुलात्॥

बीज लक्षण

साधारणतया रसशास्त्रोक्त विधि से शुद्ध किये हुए सोने और चाँदी को बीज कहते हैं। पारे में यदि यह बीज मिला दिया जाय (लगभग ६४ वाँ अंश), तो पारे में अभ्रकसत्त्व आदि कठिन सत्त्वों को खाने की शक्ति आ जाती है। बीज का उद्देश्य ही यह है कि इसको मिला देने पर पारे की शक्ति कठिन सत्त्वों के प्रति बढ़ जाय। सोने से बना बीज पीले-अरुण रंग का होता है, और चाँदी से बना बीज सफ़ेद होता है।

बीज के तीन भेद हैं, कल्पित बीज, रञ्जित बीज और पक्व बीज। कल्पित बीज के दो भेद किये गये हैं--शुद्ध और मिश्र। सोना और चाँदी शुद्ध बीज हैं, पर हेमाभ्र और ताराभ्र (द्वन्द्वमेलापन से प्राप्त) मिश्र बीज हैं।[1]

रञ्जित बीज द्वारा पारे को रंगा जा सकता है, पारे का रंग लाख या सोने-जैसा हो जाता है। लोहे को माक्षिकचूर्ण और ताम्रचूर्ण से रँगा जा सकता है। ताप्य या स्वर्णमाक्षिक से द्वन्द्वित करके पारा रँगा जा सकता है। विमल, ताम्र और दरद इनके आवाप से प्राप्त बीज द्वारा जारण करने से पारे में लाख ऐसा रंग आ जाता है।[2]

रञ्जित बीजों के अनन्तर **रसार्णव** ने पक्व-बीज का उल्लेख किया है।[3] इनसे पारे के वेधन में सहायता मिलती है। विस्तारभय से इनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है। अष्टम पटल के अन्त में एक तैल का उल्लेख है, जो रंजन-कार्य्य के लिए उपयोगी तो है ही, सारणा कर्म के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मजीठ, किंशुक (ढाक), खदिर, लाल चन्दन, कनेर, देवदार धूप, दोनों प्रकार की

वङ्गाभ्रं हरितालेन नागाभ्रं शिलया मिलेत् ॥ ३१ ॥
(८।२३-४२)

१. **पीतारुणैर्हेमबीजं तारबीजं सितैर्भवेत् ।**
कल्पितं रञ्जितं पक्वमिति भूयस्त्रिधा भवेत् ॥
कल्पितं द्विविधं तच्च शुद्धमिश्रविभेदतः ॥ (८।१७-१८)

२. (क) **घनं माक्षिकचूर्णेन शुल्बचूर्णेन रञ्जितम् ।**
द्वन्द्वितं ताप्यसत्त्वेन रसराजस्य रञ्जनम् ॥ (८।४२)

(ख) **केवलं विमलं ताम्रं वापितं दरदेन च**
कुरुते त्रिगुणं जीर्णं लाक्षाभं निर्मलं रसम् ॥ (८।४५)

३. **बीजानि रञ्जितान्येवं पक्वबीजान्यतः शृणु (८।५०)**

हलदी (साधारण और दारुहल्दी), और लाल रंग के फूल पीसकर लाख के रस के साथ इनका पाक करे। इस तेल से ही बीजादि का रंजन करना चाहिए। लाल रंग के फूल दुगुनी मात्रा में, पीले रंग के फूल चौगुनी मात्रा में मिलाकर क्वाथ बनावे। क्वाथ का चौगुना दूध, एक-गुना तिल का तेल, कंगनी, करंज, कड़वी तुम्बी, पाटला, काक-तुण्डी, इनका रस मिलावे, और फिर उसमें मेंढक, सुअर, मेंढा, साँप, मत्स्य, कछुआ, जलौका, इन सबकी चर्बी सोलहवाँ भाग मिलावे, फिर केंचुए की मिट्टी, शहद, दोनों तरह की इलायची, इनके क्वाथ के साथ सबका पाक कर ले। बस 'सारणा तैल' तैयार हो जायगा।[१]

रसकर्म

पारे के व्यवहार की कला उसीको सिद्ध है, जो इतने रसकर्मों में निपुण हो—स्वेदन, मर्दन, चारण, जारण, द्रावण, रञ्जन, सारण और क्रामण। स्वेदन कर्म द्वारा पारे में तीव्रत्व आता है, मर्दनकर्म द्वारा यह निर्मल होता है, चारण द्वारा इसे बल प्राप्त होता है, जारण द्वारा इसका बन्ध होता है, द्रावण द्वारा इसे एकत्व प्राप्त होता है, रञ्जन द्वारा इसे रंग मिलता है, सारण द्वारा इसे व्यापकत्व और क्रामण द्वारा इसे

१. मंजिष्ठाकिंशुकरसे खदिरं रक्तचन्दनम्।
करवीरं देवदारुं सरलं रजनीद्वयम्॥
अन्यानि रक्तपुष्पाणि पिष्ट्वा लाक्षारसेन तु।
तैलं विपाचयेद् देवि! तेन बीजानि रञ्जयेत्॥
द्विगुणे रक्तपुष्पाणां रक्तपीतगणस्य च।
क्वाथ चतुर्गुणे क्षीरे तैलमेकं सुरेश्वरि!॥
ज्योतिष्मती करञ्जाख्य कटुतुम्बी समुद्भवम्।
पाटली-पिप्पली काम-काकतुण्डी रसान्वितम्॥
भेक-शूकर-मेषाहि मत्स्य-कूर्म-जलौकसाम्।
वसया चैकया युक्तं षोडशांशैः सुपेषितैः॥
भूलतामल माक्षीक द्वन्द्वमेलापनौषधैः। (द्वन्द्वमेलाख्यकौषधैः?)
पाचितं गालितं चैतत् सारणा तैलमुच्यते॥ (८।८०–९५)
(देखो रसेन्द्रचिन्तामणि ३।८३)

क्रामित्व मिलता है। **रसरत्नसमुच्चय** वाले अध्याय में हम इन पारिभाषिक शब्दों का विवरण देंगे।[1]

मान परिभाषा

तौलने की आवश्यकता रासायनिक कर्मों में रहती है। इन मानों की सूक्ष्मता का विवरण इस प्रकार है।[2]—

३ त्रुटि =१ लिक्षा	६ गुञ्जा =१ माषा
६ लिक्षा=१ यूक	१२ माषा =१ तोला
६ यूक =१ रज	८ तोला =१ पल
६ रज =१ सर्षप	३२ पल =१ शुभ
६ सर्षप=१ यव	२००० शुभ =१ भार
६ यव =१ गुञ्जा	

पारे का शोधन

पारे में से दोषों को दूर करने के अनेक अनुयोग दिये गये हैं। जैसे धूमसार (कालिख), गुड, कटुत्रय (व्योष), हलदी, सफेद सरसों, ईटे का चूरा, कांजी, ऊन, इनके साथ तीन

१. **स्वेदनं मर्दनं चैव चारणं जारणं तथा।**
द्रावणं रञ्जनं चैव सारणं क्रामणं क्रमात्।
इति यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य सिध्यति सूतकः॥
तीव्रत्वं जायते स्वेदात् अम्लत्वञ्च मर्दनात्।
चारणेन बलं कुर्याद् जारणाद् बन्धनं भवेत्।
एकत्वं द्रावणात् तस्य रक्तत्वं रक्तकाञ्जनात्।
व्यापित्वं सारणात् तस्य क्रामित्वं क्रामणात्तथा॥ (१०।१०–१२)

२. **षट् त्रुटयश्चैकलिक्षा स्यात् षट् लिक्षा यूक एव च।**
षट् यूकास्तु रजः संज्ञाः कथितास्तव सुव्रते!॥
षड्रजः सर्षपः साक्षात् सिद्धार्थः स च कीर्त्तितः॥
षट् सिद्धार्थाश्च देवेशि! यवस्त्वेकः प्रकीर्त्तितः॥
षड्यवैरेकगुञ्जा स्यात् षड्गुञ्जाश्चैक माषकः।
माषा द्वादश तोलः स्यात् अष्टौ तोलाः पलं भवेत्॥
द्वात्रिंशत्पलकं देवि! शुभन्तु परिकीर्त्तितम्।
शुभस्य तु सहस्रे द्वे भार एकः प्रकीर्त्तितः॥ (१०।३२–३५)

दिन मर्दन करने से पारा शुद्ध हो जाता है।[1] पारे में से वंग और नाग (सीसा) अलग करने हों, तो अड़ूसा, और बहेड़ा के साथ मर्दन करे और फिर ऊर्ध्वपातन।[2] अथवा, ताँबे के साथ पिष्टिका (पिट्ठी) बनावे, और ऊर्ध्वपातन करे, तब भी वंग और नाग इसमें से पृथक् हो जायँगे।[3]

कापालिक योग

'रसार्णव' में कापालिक योग का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यह योग संभवतः शिवोपासक कापालिक (जो बायें हाथ में नर-कपाल लिये रहते थे) किया करते थे। मूषा में विशेष विधि से भस्म करने और रंग दे देने की विधि का नाम 'कपाली योग' था। वज्रबन्ध आदि के रंजन करने अर्थात् रंगने को 'कपाली योग' कहते हैं।[4]

वज्रमारण के संबंध में एक स्थल पर कहा है––मेषशृंग (भेड़े का सींग), साँप की हड्डी, कछुए की पीठ, शिलाजीत, कीलाल (शल्लकी) का रस, स्त्री का दूध, कान्त पाषाण, हीर, वैक्रान्त, इन सबको तेज़ आँच का पुट दे, और जब पुट पूरा हो जाय, तो कुलत्थ[4] कोद्रव, घोड़े का मूत्र, इनके साथ पीसे, और गरम-गरम ही पानी में बुझाये, जब तक भस्म न तैयार हो जाय। यह वज्रमारण का उत्तम कापालिक योग है।[5]

१. धूमसार गुडव्योष-रजनीसितसर्षपैः।
इष्टिकाकाञ्जिकोर्णाभिः त्रिदिनं मर्दयेत्ततः॥
निर्मलो जायते सूतः मत्प्रभावं प्रकाशयेत्॥ (१०।४६–४७)

२. वासकेन बिभीतेन मर्दयेत् पातयेत् पुनः।
नागवङ्गादिका दोषा यान्ति नाशमुपाधिजाः॥ (१०।४८)

३. ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वपातने।
वङ्गनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः॥ (१०।५५)

४. मूषायां भस्मीकरणं तद्रक्तवर्णं कपाली योगः।
वज्रबन्धादिरञ्जनार्थं कपाली योगः। (रसकामधेनु)

५. मेषशृङ्गं भुजंगास्थि कूर्मपृष्ठं शिलाजतु।
स्त्रुक्कीलालरसं स्तन्यं कान्तपाषाणमेव च॥
वज्रकं चापि वैक्रान्तं तन्मध्ये प्रक्षिपेत् प्रिये!
तीव्राऽनले पुटं दत्त्वा पुटान्तं यावदागतम्॥
कुलत्थं कोद्रवं चापि हयमूत्रेण पेषयेत्।
तप्तं निषेचयेत् पीठे यावत्तद्भस्मतां गतम्॥
एष कापालिको योगो वज्रमारण उत्तमः॥ (६।८१–८४)

जीर्ण पारद के कापालिरञ्जन की विधि इस प्रकार बतायी गयी है[1]—एक पल ताँबे का पत्र, आधा पल गन्धक, एक कर्ष सुहागा, एक कर्ष रसकज्जली (पारे और गन्धक से बनी),एक कर्ष माक्षिक इन सबको एक कर ले, और फिर बन्द मूषा में फूंके, तो ऐसा करने पर "खोट" प्राप्त होता है (पारे की अवस्था-विशेष का नाम **खोट** है।) इस खोट को महीन पीस ले, और चने की कांजी के साथ घोंटे। फिर जंगली गोबर के १४ पुट देवे। इस प्रकार तपाने से बीरबहूटी के-से रंग का पदार्थ निश्चयपूर्वक मिलेगा। इसके चूर्ण में शहद मिलाकर शुद्ध चाँदी को रंगा जा सकता है, तीन बार रंगने पर सोना प्राप्त होगा। सभी धातुओं को रंगने का यह कापालिक योग है। इससे बद्ध पारा और वज्रबन्ध (बद्ध हीरा) भी रंगा जा सकता है।

पारे, सोने, सीसे और चन्द्रार्क (चाँदी और तांबे के मिश्रण से प्राप्त धातु) के वेधन के लिए एक योग इस प्रकार है—एक पल शुद्ध पारा, एक पल गन्धक, इन्हें धतूरे के रस में घोंटकर एक कर ले, फिर चक्र-योग द्वारा भावना दे, ऐसा करने पर पारा भस्म हो जाता है, फिर इसे बन्दमूषा में फूंके, तो सुन्दर खोट प्राप्त होता है, जिससे ऊपर बतायी धातुओं का वेधन किया जा सकता है।[2]

१. एवं जीर्णस्य सूतस्य शृणु कापालिरञ्जनम् ॥
शुल्बपत्रपलैकं तु पलार्द्धं गन्धकस्य च।
टङ्कणं कर्षमेकं तु कर्षं रसकांकज्जलीम् ॥
माक्षिकं कर्षमेकं तु सर्वमेकत्र कारयेत्।
अन्धमूषागतं ध्मातं खोटो भवति तत्क्षणात् ॥
तं खोटं सूक्ष्मचूर्णन्तु चणकाम्लेन मर्द्दयेत्।
आरण्यगोमयेनैव पुटान् दद्याच्चतुर्दश: ॥
इन्द्रगोपसंकाशं जायते नात्र संशयः ॥
तच्चूर्णं मधुना युक्तं शुद्धतारं तु रञ्जयेत्।
रञ्जयेत् त्रीणि वाराणि शोभनं हेम जायते ॥
एष कापालिको योगः सर्व लोहानि रञ्जयेत्।
रञ्जयेत् बद्धसूतं च वज्रबन्धञ्च रञ्जयेत् ॥ (१६।२८–३४)

२. शुद्धसूतपलैकं तु पलैकं गन्धकस्य च।
एकीकृत्याथ संमर्द्य धत्तूरस्य रसेन च ॥

एक पल शुद्ध पारा और एक कर्ष गन्धक लेकर देवदाली के रस में भिगोकर स्निग्ध खरल में घोंटे, फिर हाथ की अँगुली से घोंटकर गन्धक की पिष्टि बना ले। इस पिष्टि को नीबू के रस में एक दिन घोंटे, फिर तीन दिन तक पलाश की जड़ के काढ़े के साथ घोंटे। फिर पंचद्रावक (गुंजा, सुहागा, मधु, घी और गुड़) के साथ गोली (वटिका) बना ले। इस गोली को पलाशमूल के कल्क से लिप्त कर ले। फिर विडलवण (काच) और सुहागा मिलाकर फूंके। ऐसा करने पर श्वेत खोट प्राप्त होगा। इसे सावधानी से शुद्ध कर ले। इस खोट द्वारा तिगुना सीसा रंगा जा सकता है। इसके बाद इससे कपालियोग द्वारा सौ गुना शुद्धाभ्रक रंगा जा सकता है।[1]

कपाली-विधि के अन्य प्रयोग निम्न हैं, जिनका **रसार्णव** में उल्लेख है—

तीक्ष्ण शुल्ब कपाली—कपालियों की पद्धति से लोह और ताँबे के योग द्वारा धातु या खनिजों को मारना (१४।७७)।

नागाभ्र कपाली—सीसा और अभ्रक के योग से कपाली विधि द्वारा धातु और खनिजों को मारना (१४।१३७)।

रविनाग कपाली—कापालिकों की क्रिया के अनुसार चाँदी को ताँबा और सीसा की सहायता से मारना (१६।५१)।

भावयेच्चक्रयोगेन भस्मी भवति सूतकम्।
अन्धमूषागतं ध्मातं खोटो भवति शोभनः॥
सूतं हेम च नागं च चन्द्रार्कौ चापि वेधयेत्। (१५।६३-६४)

१. पलैकं शुद्धसूतस्य कर्षकं गन्धकस्य च।
मर्द्दयेत् स्निग्धखल्ले तु देवदालीरसप्लुतम्।
मर्द्दयेत्तु कराङ्गुल्या गन्धपिष्टि स्तु जायते॥
जम्बीरार्द्ररसेनैव दिनमेकन्तु मर्द्दयेत्।
पलाशमूलक्वाथेन मर्द्दयेत् त्रिदिनं ततः॥
पञ्चद्रावकसंयुक्तां वटिकां कारयेत् शुभाम्।
पलाशमूलकल्केन वटिकां तां प्रलेपयेत्।
धमेत् खोटो भवेच्छ्वेतः काचटङ्कणयोगतः॥
शोधयेत् तत् प्रयत्नेन यावन्निर्मलतां व्रजेत्।
तत्खोटं रञ्जयेद् देवि! त्रिगुणं पन्नगं ततः।
शतशो रञ्जयेत् पश्चात् शुद्धाभ्रक-कपालिना॥ (१५।६५-६९)

वंग तीक्ष्ण कपाली—कापालिकों की क्रिया के अनुसार ताँवा और चाँदी को राँगा और तीक्ष्ण लोहे की सहायता से मारना (१६।४५)।

वंगाभ्रक-कपाली—कापालिकों की पद्धति से राँगा और अभ्रक के द्वारा धातुओं या खनिजों को मारना (१४।६४)।

वैक्रान्त नाग कपाली—कापालिकों की पद्धति से वैक्रान्त और नाग से शुद्ध चाँदी को मारना (१६।४६)।

शुद्धाभ्र कपाली—(शुभ्राभ्रकपाली)—कापालिकों की विधि से शुद्ध अभ्रक द्वारा धातु या खनिजों को मारना (१५।६९)।

शुल्ब कपाली—कापालिकों की विधि से ताँबे की सहायता से धातु या खनिजों को मारना (१६।५४)।

शुल्बाभ्रक कपाली—कापालिकों की विधि से ताँबे और अभ्रक की सहायता से धातु या खनिजों को मारना (१४।१३६)।

इन प्रयोगों द्वारा उस समय के रसतान्त्रिक साधारण धातुओं से सोने के समान चमकते हुए, अथवा अन्य रंगों से युक्त पदार्थ तैयार किया करते थे। उनका भी विश्वास था कि साधारण धातुओं से सोने की सी बहुमूल्य धातुएँ तैयार की जा सकती हैं। इन सब प्रयोगों से उन्हें तरह-तरह की मिश्रधातुएँ ही प्राप्त होती थीं न कि सोना।

रसार्णव में प्रयुक्त ओषधियाँ और वनस्पतियाँ

अक्ष–Terminalia belerica (बहेड़ा) १२।३६४

अगस्त्यपुष्प–Sesbania grandiflora, Pers. (हथिया) ६।१०

अगुरु–Aquilaria agallocha, Roxb, (अगर) १।३९

अग्निक–Plumbago zeylanica (चिता) ११।८६

अग्निजार–६।१९

अग्निधमनी–५।८

अंकोल–Alangium lamarkii, Thwaites ७।१२९

अंगनायिका, अजनायिका–काली कपास ५।१०

अजमारी–Cawach, Carpopogon pruriens ५।१२

अजशृंगिका–(मेढाशींगी)–१६।८९

अतसी–Linum usitatissimum, Linn (तीसी) १८।१२४

अतिबला–Sida rhombifolia, Linn (गंगेरन) ६।१०४

अनन्ता–Hemidesmus indicus, R. Br. (अनन्तमूल) ५।३

कासमर्द--Cassia sophora, Linn (कसौंदी) ५।२४
किंशुक--Butea frondosa, Roxb (पलाश का भेद) ५।३९
कीटमारी=रक्त लज्जालुका १२।४२
कीलाल=शल्लकी--Boswellia, Serrata Roxb ६।८१
कुक्कुटी--Bombax maladbaricum, D.c. (शाल्मली, सेंमर) ५।६
कुंकुम--Saffron (केशर) १।३९
कुबेराक्ष=वल्लीकरञ्ज=लताकरञ्ज--७।११३
कुमारी=घृतकुमारी--Aloe vera, Linn., Var. officinalis ८।७७
कुमुद--Nymphaea lotus, Linn. ६।१०
कुमुदिनी--कुंई १२।१२९
कुमुदी--(कायफल) १५।२
कुरबक=रक्त सहचर--Barleria cristata, Linn. ५।२५
कुरुङ्गिणी=मुद्गपर्णी--Phaseolus trilobus, Ait. ५।४
कुलत्थ--Dolicdhos uniforus, Lamk. ६।७९
कुलिश= (स्नुही; सेहुंड)--११।१३१
कुष्ठ--Saussurea lappa, C. B. Clarke (सुगन्ध कूट) ११।१३६
कुष्ठच्छल्ली=कुष्ठचोली--१४।९८
कुष्माण्ड--Benineasa cerifera, Savi, ७।७४
कुसुम्भ--Carthamus tinctorius, Linn ५।३९
कुहुकम्बिका--(कुरण्ड=कुरुण्डिका)--५।१३
कृताञ्जलि=लज्जावती--Mimosa pudica (छुईमुई) ५।२४
कृष्णजीरक--Nigella sativa, Linn (काला जीरा) ५।१४
कृष्णतिल--Sesamum indicum (काला तिल) ६।१३२
कृष्णपर्णी--Black Ocimum Sanctum, Linn. (काली तुलसी) ५।७
कृष्णमार्जारी (कृष्ण मञ्जीरी)--५।१८
कृष्णराजी--(काली सरसों) १२।१५३
कृष्णा--(पीपल ?) ५।४ (कृष्णलता ?)
कृष्णागुरु--(काला अगर) १४।१७
कृष्णोन्मत्त--(काला धतूरा) १२।२२३
केतकी--Pandamus odoratissimus, Roxb. (केवड़ा) ७।१३७

गुडूची--Tinospora cordifolia, Miers. (गिलोय) ७।१०८
गृध्रकर्णी=गृध्रपर्णी--१७।१०
गृहकन्या=घृतकुमारी--Aloe vera, Linn. १०।४५
गोकर्ण=अश्वगन्धा (मदनपाल)=पलाश ?--१०।५०
गोक्षुर--Tribulus terestris, Linn. (गोखरू) ७।१५१
गोजिह्वा-- Elephantopus scaber, Linn. (गोभी, गाजवाँ) ५।५
गोधूम--(गेहूँ)--६।९३
गोधावती=गोधापदी--Vites pedeta, Vahl. १७।९५
गोपालकी=नागबला १७।१०९
गोरम्भा=गोरक्षा ?--१५।१३६
गोसन्धी--५।१४
गौराभा=हरिद्रा--६।१०७
गौरीफल=अखा--७।११३
ग्रीष्म सुन्दर--Mollugo cerviana, Seringe १०।५३
घनध्वनि--Cyperus rotundus, Linn. (नागरमोथा) ५।५
चक्रमर्द--Cassia tora, Linn. (चकवड़) ५।४
चाक्रका=चक्रमर्द--५।१८
चक्री=चक्रमर्द ५।९
चटुलपर्णी--१२।९७
चणक--Cicer arictinum (चना) ५।३१
चण्डालीकन्द=लिंगिनीलता--१५।९४
चन्दन--Santalum album, Linn. १।३९
चन्द्रवल्ली=प्रसारणी; सोमलता (अथवा वाकुची अथवा सोमा)--१५।१४८
चवी (चाव=चविका)--Piper chaba, Hunter. ५।२५
चांगेरी--Oxalis corniculata, Linn ५।३१
चाण्डाली--१५।१३३
चामीकर=शाक वृक्ष=कनक धत्तूर--१७।८५
चिञ्चा--Tamerindus indica, Linn. (इमली) ५।३०
चित्रक--Plumbago zeylanica, Linn (चीता) ७।११६
चिरबिल्व=करञ्ज--१८।१२६

यवचिञ्चा=तिन्तिडी—Tamarind. (इमली) ५।१५
यवचिञ्चिका—(इमली) १५।१३६
रक्तकञ्चुकी—१२।९९
रक्तचन्दन—Pterocarpus santalinus, Linn. (लाल चन्दन) ८।८०
रक्तचित्रक—(i) plumbags rocealinn(लाल चीता) ५।१०
(ii) ricinus communis tinn (एरंड)
रक्तश्रृंगी=रक्त कर्कट श्रृंगी—Rhus Saccedanea, Linn. ५।९
रक्तस्नुही—Red Euphorbia nerifolia, Linn. ५।९
रक्तिका—(लाल गुञ्जा) ५।९
रजनी=हरिद्रा ७।११३
रम्भा=कदली ११।२४
रसोन=लशुन—Allium sativum १३।१७
राक्षस=सोम १२।३
रागिणी=अशोक—Sarka indica Jonesia asoka ११।८६
राजकोशातकी—Luffa acutangula, Roxb. (पीली तरोई) ७।८२
राजिका, राजी—Brassica juncea, Hf. (राई) ५।९, ११।६७
रामठ=हिंगु—Asafoetida ६।११८
रास्ना—Vanda roxburghii, R. Br. ५।६
रुदन्ती=रुदन्तिका—५।१०
रुधिर=कुंकुम=केशर—१७।७
लक्षणा—Solanum xanthocarpum, Schrad, ५।२५
लक्ष्मी=श्वेत तुलसी—Ocimum sanctum, Linn.
लघुपर्णी=मूर्वा—Sansevieria zeylanica, Willd. १०।३९
लशुन=लसुन=रसोन—६।१०५, १६।६
लांगली—Gloriosa Superba Linn. (कलिहारी) ६५।३४
लुंग=मातुलुंग ५।३१
वंशपत्री=बृहत्पर्णी—५।२०
वचा—Acorus calamus, Linn. (बच) ५।३४
वज्रकन्द=वनसूरण—शर्कराकन्द ५।२२
वज्रलता=वज्रवल्ली—(देखो अस्थि श्रृंखल)—६।१३, ६।११५

वज्री=वक्री—Euphorbia antiquorum, Linn. (सेहुँड़) ५।९
वडवामुख=वाराहीकन्द (देखो वाराही) ९।५
वदर=बदर १८।१२६
वनराजी=अश्मन्तक (लसोड़ा)—५।१२
वनशिग्रुक—(जंगली सहजन) ८।२८
वनसूरण—(जंगली सूरन) ६।१२
वरण=वरुण—Crataeva religiosa, Forst. १२।३७१
वराहकर्णी=अश्वगन्धा— Withania somnifera, Dunod. ५।२४
वर्णिका=हरिद्रा—११।१७८
वर्तुलपर्णिका=चटुलपर्णी—५।२०
वर्षाभू=पुनर्नवा ६।७९
वसुहट्ट (वसुभण्टा)=अगस्त—Sesbania grandiflora, Pers. १०।२३
वह्नि=चित्रक—७।८९
वह्नि कर्कोटी—५।२
वह्निशिखा=अग्निशिखा=विषलांगुलीकलहारी—Gloriosa superba, Linn. [११।१९७
वाकुची=बाकुची ५।१४
वाराही—Dioscorea (yam) १५।१८०
वारुणी—(करवीरुणी)—१५।१७५
वासक; वासा—Adhatoda vasaca, Nees. (अडूसा) ८।७६, ९।१०
वास्तुक—Chenopodum album Linn. (बथुआ) ९।७
विडङ्ग—Embelia ribes, Burn. १२।३५५
विभीत=विभीतक=बिभीतक देखो—Terminalia bellerica, Roxb. [(बहेड़ा) ८।७६, १५।१२६
विशल्या=गुडूची—१५।४५
विश्वभेषज=शुण्ठी—१२।१५८
विश्वामित्र-कपाल=नारिकेल—१४।११८
विषतृण—१२।२२९
विषमुष्टिका—Strychnos nuxvomica, Linn, १५।१४१
विष्णुक्रान्ता=नील अपराजिता—Clitoria ternatea, Linn. १५।१३८
वीजपूर—(नीबू) ११।१८
वीजा=जयपाल—Croton tinglium, Linn. (जमालगोटा) ६।९८

निर्देश

रसार्णव (रसतन्त्र)--तारादत्त पन्त की टिप्पणी सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस (१९९५ वि०) सर पी० सी० राय द्वारा संपादित, कलकत्ता।

सोलहवाँ अध्याय

रसरत्नाकर और नित्यनाथ सिद्ध

(बारहवीं शती)

नित्यनाथ सिद्ध के **रसरत्नाकर** में पाँच खंड हैं––रसखण्ड, रसेन्द्रखण्ड, वादिखण्ड, रसायनखण्ड और मंत्रखंड।[1] रसशास्त्र की दृष्टि से **रसायन खण्ड** की विशेष उपयोगिता है, जिसका एक पृथक् संस्करण वैद्य श्री यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य ने आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सन् १९१३ ई० में प्रकाशित किया था। श्री नित्यनाथ सिद्ध किस देश में किस समय उत्पन्न हुए, इसका निर्णय करना कठिन है। वाग्भट कृत **रसरत्नसमुच्चय** में नित्यनाथ सिद्ध का नाम आता है। ये वाग्भट ईसा की तेरहवीं शती में विद्यमान थे, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। अतः नित्यनाथ सिद्ध भी बारहवीं शती के आसपास रहे होंगे। इस ग्रन्थ पर यूनानी चिकित्सा का कुछ प्रभाव भी स्पष्ट व्यक्त होता है, जैसे "बालुकामीन प्रयोग" के संबंध में––"समक उलसेदा–रेगमाही" इन शब्दों का प्रयोग। यह नाम यूनानी चिकित्सकों में ही प्रसिद्ध है। रसायनखण्ड में कुछ वाजीकरण योग भी हैं, एवं कुछ योगों की क्षमता के संबंध में अत्युक्ति और अतिशयोक्ति का भी आश्रय लिया गया है।

रसायन खण्ड में पारा मारने की ग्यारह विधियाँ दी गयी हैं––

पहली विधि––समुख पारा और बराबर का भाग सोना लेकर जारण करे, फिर उतना ही गन्धक मिलाकर ओषधियों के रस के साथ खल्व में तीन दिन तक घोटे, फिर अन्धमूषा में करीष या कंडों की आग पर या तुषाग्नि में तीन दिन, तीन

१. **पञ्चखंडमिदं शास्त्रं साधकानां हितं प्रियम्।**
रसखण्डे तु वैद्यानां व्याधितानां रसेन्द्रके॥
वादिनां वादखण्डे च वृद्धानां च रसायने।
मन्त्रिणां मंत्रखंडे च रससिद्धिः प्रजायते॥ (प्रारम्भ में)

रात स्वेदन करे, फिर दिव्य ओषधियों के रस के साथ घोंटे। फिर वज्रमूषा में चार घड़ी तक तपावे।[1]

दूसरी विधि--शुद्ध पारा और समान मात्रा में सोना ले और एक घड़ी तक काँजी से मर्दन करे और धोकर पिष्टी बना ले। पिष्टी का आधा गन्धक, गन्धक का आधा सुहागा और बराबर भाग हल्दी देकर स्त्रीपुष्प के रस के साथ दिनभर मर्दन करे, फिर इसकी गोली बनाकर बालुकायंत्र में धीमी-धीमी आँच पर पाचन करे। फिर निकालकर पीस डाले। फिर इसमें एक अंश गन्धक देकर गर्भयंत्र में तीन दिन तक तुष (भूसी) की आग पर धीमे-धीमे पकावे। इस प्रकार पारे की भस्म मिल जायगी।[2]

तृतीय प्रकार--तीन भाग शुद्ध पारा और एक भाग ताँबे का चूर्ण ले, और इन्हें दिनभर अम्ल (काँजी) के साथ घोटे। फिर धोकर पिष्टी बना ले। फिर श्वेत माक्षिक सत्त्व के साथ पिष्टी बनावे। इसे फिर तीन दिन तक चक्रमर्द के पत्तों के रस के साथ घोटे। फिर इसकी गोली बना ले और गर्भयन्त्र में तीन दिन तक

१. अथात्र वक्ष्यते सम्यगादौ पारदमारणम्।
समुखस्य रसेन्द्रस्य वासनामुखितस्य वा॥
क्रमेण जारयेत्स्वर्णं समांशं पूर्ववत् ततः।
तत्तुल्यं गन्धकं तस्मिन् दत्त्वा दिव्यौषधिद्रवैः॥
मर्दयेत् त्रिदिनं खल्वे मूषायां चान्धितं ततः।
करीषाग्नौ दिवारात्रं त्रिरात्रं वा तुषाग्निना॥
स्वेदितं मर्दयेद्भूयो बीजैर्दिव्यौषधोद्भवैः।
तुल्यं खल्वे चतुर्यामं वज्रमूषान्धितं धमेत्॥
भस्मसूतं भवेत् तद्वै योज्यं सर्वरसायने॥ (१।२५-२९)

२. शुद्धसूतं समं स्वर्णं याममम्लैर्विमर्दयेत्।
प्रक्षाल्य ग्राहयेत् पिष्टीं पिष्ट्यर्धं शुद्धगन्धकम्॥
गन्धार्धं टंकणं दत्त्वा सर्वतुल्यां हरिद्रिकाम्।
स्त्रीपुष्पेण तु तत्सर्वं मर्द्यं रम्भाद्रवान्वितम्॥
दिनान्ते गोलकं कृत्वा वालुकायन्त्रगं पचेत्॥
दिनं मन्दाग्निना तं वै समुद्धृत्य विचूर्णयेत्।
चूर्णांशं गन्धकं दत्त्वा गर्भयन्त्रे त्र्यहं पचेत्॥
तुषाग्निना लघुत्वेन जायते भस्मसूतकः॥ (१।२९-३३)

तुष की आग में या एक दिन कंडों की आग में पकावे। ऐसा करने पर पारे की भस्म तैयार हो जायगी।[१]

चतुर्थ प्रकार—शुद्ध पारा, अभ्रक सत्त्व और सोना बराबर-बराबर भाग लेकर, और सबके बराबर बिड मिलाकर रम्भा के रस के साथ दिन भर मर्दन करे, फिर दो दिन तक दिव्यौषधियों के बीजों के साथ मर्दन करे और फिर गर्भयंत्र मेंप हले दी गयी विधि के समान ही पकावे। ऐसा करने से पारे का मारण हो जाता है।[२]

पाँचवीं विधि—विमला और शुद्ध पारा बराबर मात्रा में ले और निर्गुण्डी के रस में तीन दिन तक मर्दन करे, फिर इसे काँच की कूपी में भर ले और यदि काँच की कूपी न हो तो शराव-सम्पुट में बन्द करे और फिर बालुकायंत्र में चार घड़ी तक पकावे। ऐसा करने से पारा मर जाता है।[३]

छठी विधि—श्वेत माक्षिक सत्त्व, शुद्ध गन्धक और दोनों के बराबर ही शुद्ध पारा लेकर निर्गुण्डी के रस में दिनभर घोटे, फिर वज्रमूषा में इसका गोला बनाकर बालुका-यंत्र में पकावे। ऐसा करने से लाल रंग का मृत पारा मिलेगा।[४]

१. **शुद्धसूतस्त्रिभागः स्याद् भागैकं ताम्रचूर्णकम्।**
दिनैकं मर्दयेदम्लैः क्षालितं पिष्टिमाहरेत्।
माक्षिकाद्धौतसत्त्वं च पिष्टितुल्यं प्रकल्पयेत्॥
तत्सर्वं त्रिदिनं मर्द्यं चक्रमर्ददलद्रवैः।
तद्गोलं गर्भयन्त्रस्थं त्रिदिनं तुषवह्निना॥
करीषाग्नौ दिवारात्रं पचेद्वा भस्मतां व्रजेत्॥ (१।३३–३६)

२. **शुद्धसूतं व्योमसत्त्वं सुवर्णं च समं समम्।**
सर्वतुल्यं बिडं दत्त्वा मर्द्यं रम्भाद्रवैर्दिनम्।
बीजैर्दिव्यौषधीनां च तुल्यैर्मर्द्यं दिनद्वयम्।
गर्भयन्त्रगतं पच्यान्म्रियते पूर्ववत् पुटे॥ (१।३६–३८)

३. **विमला पारदं शुद्धं तुल्यं निर्गुण्डिकाद्रवैः।**
मर्दयेत् त्रिदिनं तं वै काचकूप्यां निवेशयेत्॥
काचकूप्या ह्यभावे तु निरुन्ध्याच्छ्रावसंपुटे।
पाचयेद् वालुकायन्त्रे चतुर्यामान्मृतो भवेत्॥ (१।४१–४२)

४. **माक्षिकाद्धौतसत्त्वं तु तत्समं शुद्धगन्धकम्।**
द्वाभ्यां तुल्यं शुद्धरसं दिनं निर्गुण्डिकाद्रवैः॥

सातवीं विधि——शुद्ध पारे के ऊपर और नीचे बराबर-बराबर गन्धक रखकर पक्व मूषा में रखे, और काकमाची के रस के साथ धीरे-धीरे बालुकायंत्र में चार घड़ी तक पकावे।[1]

आठवीं विधि——स्नुही अथवा हेमवल्ली के दूध के साथ पारे और बराबर भाग गन्धक को घोटे, फिर गर्भयंत्र में ऊपर दी हुई विधियों के समान ही पकावे।[2]

नवीं विधि——शुद्ध पारा और उतनी ही गुञ्जा, लाख, ऊन, शहद और सुहागा की मात्रा लेकर भृंगज के रस में दिनभर घोटे और वज्रमूषा में बन्द करके फूँके, तो चाँदी के समान भस्म तैयार होती है।[3]

दसवीं विधि——कीटमारिणी, अजमोद, अहिमारी अथवा श्वेतांकुल के रस के साथ पारा और गन्धक बराबर लेकर तीन दिन तक घोटे, फिर मिट्टी के बने सम्पुट में बन्द करके कंडों की आग में एक दिन अथवा भूसी की आग में तीन दिन तक पकावे।[4]

ग्यारहवीं विधि——शुद्ध पारा और मृत हीरा बराबर भाग लेकर तप्त खल्व में हंसपादी के रस के साथ तीन दिन मर्दन करे, वज्रमूषा को दिव्यौषधियों के बीज से लेपन

तत्सर्वं मर्दितं गोलं वज्रमूषान्धितं पचेत् ।
दिनैकं वालुकायन्त्रे मृतं स्याद् रक्तवर्णकम् ॥ (१।४३–४४)

१. ऊर्ध्वाधो गन्धकं तुल्यं दातव्यं शुद्धपारदे ।
उदरे पक्वमूषायाः काकमाचीद्रवं पुनः ॥
द्वाभ्यां चतुर्गुणं दत्त्वा तामाच्छाद्य पचेच्छनैः ।
क्रमाग्नौ वालुकायन्त्रे चतुर्यामान्मृतो भवेत् ॥ (१।४५–४६)

२. स्नुह्या वा हेमवल्ल्या वा क्षीरैः शुद्धरसं दिनम् ।
मर्दयेद् गन्धकं तुल्यं गर्भयन्त्रगतं पुटेत् ॥
पूर्ववत् क्रमयोगेन मृतं योगेषु योजयेत् । (१।४७–४८)

३. शुद्धसूतसमं गुञ्जालाक्षोर्णमधुटंकणम् ।
तत्सर्वं भृङ्गजैर्द्रावैर्दिनमेकं विमर्दयेत् ॥
वज्रमूषान्धितं ध्मातं म्रियते शशिसंनिभम् ॥ (१।४८–४९)

४. द्रवैस्तु कीटमारिण्या ह्यजमोदाद्रवैश्च वा ।
अहिमार्याद्रवैर्वाऽथ किं वा श्वेताङ्कुलद्रवैः ॥
मर्दयेत्पारदं शुद्धं समगन्धं दिनत्रयम् ।
संपुटे मृन्मये रुद्ध्वा करीषाग्नौ दिवानिशि ॥
पचेत्तुषाग्निना वाऽथ त्रिदिनान्म्रियते ध्रुवम् ॥ (१।५०–५२)

करे, मूषा में पहले मर्दन किये पारे को बन्द करे और तुष की आग में तीन दिन तक पकावे। फिर इसे निकालकर उसमें उतनी ही मात्रा पारे की और मिलावे और हंसपादी के रस में तीन दिन तक मर्दन करे, फिर गोला बनाकर पहले के समान ही पकावे।[1]

गर्भयन्त्र——इन विधियों में गर्भयन्त्र का प्रयोग बहुधा किया गया है। इस यन्त्र का सूक्ष्मवर्णन भी **रसरत्नाकर** के इस **रसायन खण्ड** में दिया गया है। यह चार अंगुल लंबा और तीन अंगुल चौड़ा मिट्टी का सम्पुट है जो छाया में ही सुखाया जाता है। २० भाग लवण और १ भाग गुग्गुल लेकर पानी मिलाकर पीसते हैं और इससे संपुट के उदर पर लेप कर देते हैं। इसमें फिर पारा भरते हैं। यह गर्भयंत्र हुआ।[2]

दिव्य रस——**रसायन खण्ड** के दूसरे उपदेश (अध्याय) में अनेक रसों का उल्लेख है, जैसे वज्रपञ्जर रस (हीरा, पारद, स्वर्ण और अनेक ओषधियों के योग से बना), वज्रेश्वर रस (पारा, हीरा, कान्त लोह, अभ्रक और ओषधियों से बना), वज्रधारा रस (वज्र, सूत, हेम्न, अभ्रक), भैरव रस (स्वर्ण, पारद, कान्त), शिलावीर रस (पारद, गन्धक, शिलाजीत), अमृतार्णव, उदयादित्य, गगनेश्वर (पारद, अभ्रक, कान्तलोह, तीक्ष्ण लोह), वटेश्वर, अचलेश्वर, परमेश्वर, गन्धामृत रस, कालकण्टक रस, अमृतेश रस (मृत पारा, अभ्रक, कान्त, विष, ताप्य, शिलाजतु), रसवीरमहारस (पारा, शुद्ध गन्धक, लोहपर्पटी); काञ्चायनरस (मृत पारा, गन्धक, काकमाची आदि), परानन्द रस, महाकाल रस, हेम पर्पटक रस, श्रीकण्ठरस (स्वर्ण, चाँदी, कान्त और

१. **शुद्धसूतं मृतं वज्रं समांशं तप्तखल्वके।
हंसपाद्या द्रवैर्मर्द्यं त्रिदिनान्ते समुद्धरेत्।
बीजैर्दिव्यौषधीनां च वज्रमूषां प्रलेपयेत्॥
तत्र पूर्वरसं रुद्ध्वा त्रिदिनं तुषवह्निना।
पाचयित्वा समुद्धृत्य तत्समं शुद्धपारदम्॥
एकीकृत्य त्र्यहं मर्द्यं हंसपाद्या द्रवैर्दृढम्।
तद्गोलं पूर्ववत् पच्यान्मृतं भवति शोभनम्॥** (१।५२–५५)

२. **चतुरङ्गुल दीर्घं स्याद् विस्तारे चाङ्गुलत्रयम्।
मृन्मयं संपुटं कृत्वा छायाशुष्कं च कारयेत्।
लवणं विंशभागं स्याद् भागमेकं तु गुग्गुलुम्।
सर्वं तोयैः प्रपिष्याथ तेनैव संपुटोदरम्।
लिप्त्वा तत्र रसं सन्ध्याद् गर्भयन्त्रमिदं भवेत्॥** (१।३८–४०)

तीक्ष्ण लोह, अभ्रक सत्व, माक्षिक), खेचरबद्धरस, स्वयमग्निरस, कक्षपुट रस, महाशक्तिरस, नाटकेश्वर रस, बालसुन्दर रस, ब्रह्मपञ्जररस और शिवामृत रस।

तृतीयोपदेश में मृतसंजीवनी गुटिका, वज्रेश्वरी गुटिका, वज्रसुन्दरी गुटिका, हेमसुन्दरी वटिका, वज्रतुण्डा वटिका, दिव्यखेचरी वटिका, आदि अनेक वटिकाओं का २२१ श्लोकों में विवरण है।

केशरञ्जक योग—**रसायन खण्ड** के पञ्चमोपदेश में केशरञ्जक अनेक योगों का उल्लेख है। प्रारम्भ में कुछ उद्वर्तनों (उबटनों) का विवरण है, जो मुँह की झुरियों और श्वेत बालों (वलीपलितनाश) के लिए हितकर हैं। पारद और गन्धक तथा अनेक औषध-द्रव्यों के योग से ये उबटन तैयार किये जाते थे। इनमें जौ और तिल भी पीस दिये जाते थे, और घी, तथा मोम भी मिलाया जाता था।[1]

केशों को रंगने (पलित नाश) के लिए नागचूर्ण (सीस), शंखचूर्ण, नीलिका रंग, त्रिफला, लोहचूर्ण, कुष्ठ, एला, जपापुष्प, लोहकिट्ट, कासीस सिन्दूर आदि पदार्थों का उपयोग लाभप्रद बताया गया है। कुछ योग इस प्रकार हैं–(क) १ पल नागचूर्ण (सीसचूर्ण), २ पल शंखचूर्ण, और पथ्याचूर्ण १ निष्क ले, इन्हें दिनभर अम्ल और दही के साथ पीसे, फिर स्नान करके सिर पर डाले और एरण्ड के पत्ते से लपेटकर आधी घड़ी तक मले। सिर को वस्त्र से ढककर स्नान करे। ऐसा तीन दिन तक करने से बाल रँग जाते हैं। (ख) त्रिफला, लोहचूर्ण, काली मिट्टी, भृंगज रस, ईख का रस इन्हें एक मास तक बर्त्तन में भरकर रखे। पाँच मास तक इसका लेप करे, तो बाल काले पड़ जाते हैं। (ग) लोहकिट्ट, जवापुष्प और धात्रीफल को पीसकर उस मिश्रण का लेप करे तो तीन दिन में भ्रमरों के रंग के काले बाल हो जायँगे।[2]

१. पारदं गन्धकं तुल्यं नारीस्तन्येन मर्दयेत्।
विष्णुक्रान्ता मेघनादा सर्पाक्षी मुनिमुण्डिका॥
आसां द्रवैर्दिनं खल्वे मर्दयेत्तत्समुद्धरेत्।
यवचूर्णं तिलाश्चैव प्रत्येकं रसतुल्यकम्॥
क्षिपेत् तस्मिन् घृतैः क्षौद्रैः सर्वमालोड्य रक्षयेत्।
अनेनोद्वर्तनं सम्यग्वलीपलितनाशनम्।
वत्सराद्दिव्यदेहः स्याज्जीवेद्वर्षसहस्रकम्॥ (५।२–५)

२. (क) नागचूर्णपलैकं तु शंखचूर्णपलद्वयम्।
पथ्याचूर्णं निष्कमेकं सर्वं पेष्यं दिनावधि॥

निर्देश

नित्यनाथ सिद्ध——**रसायन खंड** (रसरत्नाकर के अन्तर्गत)——वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित, बम्बई, (१९१३) ।

अम्लदध्ना युतं यत्नात् स्नात्वाऽदौ शिरसि क्षिपेत् ।
मर्दयेत् घटिकार्धं तु वेष्टचमेरण्डपत्रकैः ।
शिरः संवेष्टच वस्त्रेण प्रातः स्नानं समाचरेत् ।
इत्येवं त्रिदिनं यत्नात्कृत्वा केशांश्च रञ्जयेत् ।। (५।१४–१७)

(ख) त्रिफलालोहचूर्णं तु कृष्णमृद्भृङ्गजद्रवम् । (५।२२)
इक्षुदण्डद्रवं चैव मासं भाण्डे निरोधयेत् ।
तल्लेपाद् रञ्जयेत्केशान् स्याद्यावन्मासपञ्चकम् । (५।२३)

(ग) लोहकिट्टं जपापुष्पं पिष्ट्वा धात्रीफलं समम् ।
त्रिदिनं लेपितास्तेन कचाः स्युर्भ्रमरोपमाः ।।। (५।२३–२४)

सत्रहवाँ अध्याय

रससार और गोविन्दाचार्य

(तेरहवीं शती)

रससार ग्रन्थ के रचयिता श्री गोविन्दाचार्य्य स्वयं गुजराती थे। इनके पिता का नाम सुरादित्य और पितामह का नाम आचार्य सहदेव था। ये श्री धीरदेव के शिष्य थे, जो स्वयं अन्तर्वेद के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे। गोविन्दाचार्य मोढ़ नामक ब्राह्मण जाति के थे। आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय की सम्मति के अनुसार श्रीगोविन्दाचार्य तेरहवीं शती (ईसवी) में पैदा हुए। इन विवरणों की पुष्टि उन श्लोकों से होती है, जो स्वयं गोविन्दाचार्य ने अपनी **रससार** पुस्तक के लगभग अन्त में दिये हैं।[1]

१. (अ) **येन सेवितमात्रेण अमरैः सह मोदते।**
एतच्छास्त्रं मया ख्यातं संक्षेपाच्च सविस्तरम्॥
सर्वकामप्रदं चैव लोहदेहस्य साधनम्।
मोठज्ञातिसमुत्पन्न आचार्यसहदेवकः॥
सर्वशास्त्रप्रवीणोऽसौ मन्त्रसिद्धो द्विजोत्तमः।
तदुत्पन्नस्तु यः सूनुः सुरादित्यः कृती भुवि॥
तत्संभवः सुतः ख्यातो गोविन्दः शिववन्दकः।
शिष्यः श्रीधीरदेवस्य रसकर्मसु कोविदः॥
अनुभूयेदमखिलं शास्त्रं तेन विनिर्मितम्।
कृपया धातुवादीनां दीनत्वस्य विनाशनम्॥
अन्तर्वेदीसमुत्पन्नो ज्ञात्या सारस्वतो द्विजः।
अभयपालपुत्रोऽसौ धीरदेवो हि वादिराट्॥
जारणान्तमिदं कर्म प्रोक्तं श्रेष्ठं च यत्स्फुटम्।
अनुभूतं च यत्सर्वं धीरदेवप्रसादतः॥ (२६।२९-३५)

(ख) **वक्ति श्रीधीरदेवाय साष्टांगं प्रणिपत्य च।**
गोविन्दाचार्यनामाऽयं सच्छिष्यो भक्तिपूर्वकम्॥ (२३।१)

इस ग्रन्थ पर बौद्धमत का समुचित प्रभाव है । गोविन्दाचार्य्य ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने सभी शास्त्रों का मन्थन किया और बार-बार उनमें दिये हुए योगों पर अनुभव प्राप्त किया और फिर बौद्धमत को जाना । इस सब ज्ञान का सार इस ग्रन्थ में उन्होंने रखा । जो कुछ भी अन्य शास्त्रों में है, सबका निचोड़ या सार इस ग्रन्थ में है, और जो कुछ भी इस ग्रन्थ में दिया गया है, उसके लिए अब अन्यत्र जाने की कोई आवश्यकता नहीं ।[१]

इस ग्रन्थ का ज्ञान परम गोपनीय, रक्षणीय और गुह्य है, इसे न तो कुशिष्य को दे, और न किसी दूसरे के शिष्य को दे ।[२]

भोट देश के निवासी बौद्धों के सम्पर्क में भी गोविन्दाचार्य आये थे, और ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना के अवसर पर धातुविद्या इस देश में तो कम, पर बौद्ध देशों में काफी प्रचलित थी ।[३]

वैद्य श्री यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य ने **रससार** का प्रकाशन आयुर्वेदीय ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत १९१२ ई० में कई हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया था ।

रससार ग्रन्थ **रसार्णव** अथवा **रसरत्नसमुच्चय** ग्रन्थों की कोटि का है । इसमें २६ पटल हैं--(१) रसपूजास्वरूप स्तुत्यधिकार, (२) द्रव्यसंग्रहाधिकार, (३) अनुक्रमणिकाधिकार, (४) अष्टचत्वारिंशत् संस्कार, (५) रसशोधनसंस्काराधिकार, (६) रसलोहशुद्धिसत्त्वपातनाधिकार, (७) सत्त्वस्थिरीकरणाधिकार, (८) द्रुतिपात-नानागणनिरूपण, (९) क्षारद्रावबीडपाक दिव्यौषधाधिकार, (१०) रत्नलक्षणद्रावणभेदनमेलापकाधिकार, (११) बीजपाकाधिकार, (१२) महारस-जारणादिविधि, (१३) वेदनादिक्रम, (१४) द्वन्द्वमारपिष्टिस्तम्भननिगडबन्धन-

१. **निर्मथ्य सर्वशास्त्राणि अनुभूय पुनः पुनः ।**
बौद्धं मतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतोमया ।। (२६।३६)
यदुक्तं सर्वशास्त्रेषु तदिहास्त्यखिलं स्फुटम् ।
यदिहास्ति तदन्यत्र नैवास्ति रसकर्मणि ।। (२६।४६)

२. **इदं च परमं गुह्यं रक्षणीयं प्रयत्नतः ।**
कुशिष्येभ्योऽन्यशिष्येभ्यो न देयं यस्य कस्यचित् ।। (२६।४०)

३. **रसोपरसधातूनां रङ्गद्रावं सुशोभनम् ।**
एतद् बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः ।। (९।२)

संकलिकायोगद्रुतिकर्मादिनिरूपण, (१५) रसोपरसलोहकर्माधिकार, (१६) रत्नप्रयोगाधिकार, (१७) अनेककल्कभेदाधिकार, (१८) मणिमूषाकर्मदलाधिकार, (१९) गुटिकाकथन, (२०) गुटिकासाधनोपाय, (२१) क्रौञ्चयोगपक्ष कर्म-दिव्यौषध्यधिकार, (२२) यंत्रमूषाधिकार, (२३) महारससेवनाधिकार, (२४) रसायनकथन, (२५) धातुमारण प्रयोगाधिकार, (२६) महारससेवाधिकार।

द्रव्यसंग्रह--**रससार** के रचयिता ने दूसरे पटल में आवश्यकीय रससामग्री का निर्देश किया है, जिसका संग्रह रसशाला में होना चाहिए।

(क) वैक्रान्त, सस्यक, ताप्य, दरद, रसक, गिरि (शिलाजतु), विमल, कान्त, गन्धक, कुनटी, ताल, गैरिक, कांक्षी, रसाञ्जन, कासीस, टंकण, कंकुष्ठ। (२।१–२)

(ख) अनेक प्रकार का काँच, राजावर्त्त, शिखिग्रीव (तूतिया), क्षार, लवण। (२।३)

(ग) आठ धातुएँ--सुवर्ण, रजत, ताम्र, लोह, त्रपु, सीसक, रीतिका (पीतल), कांस्यक। (२।४)

(घ) मरक्त (मरकत), पुष्पराग, मेद (गोमेद), वैडूर्य, द्रुम (मूँगा)। (२।५)

(ङ) कस्तूरी, कपूर, अगुरु, कृष्णसंज्ञक (अथवा कृष्णसर्जिक), तथा जंगम और स्थावर विष। (२।६)

(च) उलूखल, शिलापट्ट, खल्व, मुसल, पिण्डिका (पत्थर की, जिस पर कल्क पीसते हैं) विविध खर्पर, लोष्ट्र (लोहड़ा), चुल्ली (चूल्हा), कण्डनी (लोहनिर्मित उलूखल), रेतनी (लोह चूर्ण करने का साधन, जिसे कानस भी कहते हैं), नलिका, भस्त्री (धौंकनी), हतोडी (हथौड़ी), कर्तरी (काटने के काम की दाँती या कैंची), कणी (स्वर्णकारों का उपकरण विशेष), छिन्नी (धातुओं को काटने का लोहमय शस्त्र, जिसे छैनी कहते हैं), संदशनी (सँड़ासी), चर्म, अहिणी (जिस पर लोहा आदि रखकर घन से कूटते हैं, इसे एरण भी कहते हैं), और घन (जिससे चोट मारते हैं)। (२।८–९)

(छ) छोटी और बड़ी सब तरह की तराजू (तुला या तोलन) (२।१०)

(ज) दिव्यौषधियाँ, विविध प्रकार के तेल, कन्द, क्षार, मंजिष्ठा आदि। (२।११)

(झ) तरह-तरह की मूषाएँ और टेढ़ी नलियाँ (वक्रनालक), अनेक प्रकार की कोष्ठी, जलाने के लिए लकड़ी और कोयला। (२।१२)

(ञ) सभी जन्तुओं की चर्बी (वसा), रक्त और पित्त (ऐसे जन्तुओं का जो काल आने पर स्वयं मर गये हों)। (२।१३)

(ट) अम्लवर्ग के पदार्थ, कषाय, मूत्र। (२।१४)

(ठ) अनेक प्रकार के यन्त्र, काँचकूपियाँ। (२।१५)

(ड) भूनाग (केचुआ), मृत्तिका, मृत्स्ना, लोहकिट्ट, कर्करा (सुधापाषाण)। (२।१५)

(ढ) व्रीहि और धान्य से उत्पन्न भूसी (तुषा)। (२।१६)

(ड) आचार्य, योगी कन्या और गुरुभक्त सहायक शिष्य या परिचारक जो द्रव्यलोभादि से निस्पृह हों। (२।७,१८,१९)

यन्त्र और मूषा—रससार के बाईसवें पटल में इस विषय के सम्बन्ध में २१ श्लोक हैं। रस प्रयोग संबंधी निम्न यंत्र गिनाये गये हैं—स्वेदन यंत्र, किन्नर यंत्र, विद्याधर, पातनयंत्र, डमरुयंत्र, दीपनयंत्र, दोलास्वेदयंत्र, चक्रराजमहायंत्र, देगयंत्र, भूधरयंत्र, सोमानल यंत्र, दोलकयंत्र, कूपिकायंत्र, जलकूर्म, स्थलकूर्म।[1]

मूषा बनाने के लिए एक भाग लोहकिट्ट, दो भाग दग्धभूसी, तीन भाग मिट्टी, और थोड़ी-सी कपास इन सबको साथ मिलाकर कूटे। ऐसा करने पर मिट्टी वज्र के समान दृढ़ हो जायगी।

अथवा, लोहकिट्ट, दग्धतुष, सीपी का चूर्ण, कर्करा (कंकड़) इन्हें बराबर-बराबर लेकर और फिर उतनी ही मिट्टी लेकर भी वज्रमूषा बनायी जा सकती है। कौप (कुएँ की मिट्टी) अथवा कूर्प (नारियल का खोपड़ा) मिलाकर भी वज्रमूषा बनती है। काँचचूर्ण और मिट्टी मिलाकर भी दृढ़ वज्रमूषा तैयार की जा सकती है।[2]

१. **प्रथमं स्वेदनं यन्त्रं किन्नरं च द्वितीयकम्।**
अथ पातनकं यन्त्रं डमरुं दीपनं तथा।
दोलास्वेदं च विज्ञेयं नियामं च निरोधकम्।
चक्रराजं महायन्त्रं देगयंत्रं च भूधरम्।
यन्त्रं सोमानलं कार्यं जारणे दोलकं शुभम्॥
जारणे कूपिकायंत्रं तृतीयं सिद्धिदं परम्।
अथवा जलकूर्मं च स्थलकूर्मं तथैव च॥ (२२।१–४)

२. **कौपेन च समायुक्ता वज्रमूषा च कथ्यते।**
दग्धात्तुषात्तु भागैकं मृद् भागद्वयमेव च॥
कूर्पेण च समायुक्ता वज्रमूषा च कथ्यते॥
काचचूर्णं च भागैकं समभागं तु मृत्तिका।
मूषाबन्धः प्रकर्त्तव्यो धमनाद् वज्रतां व्रजेत्॥ (२२।८-९)

वक्रनाल डेढ़ हाथ की होनी चाहिए, और कोष्ठिका के भीतर यह बालिश्तभर जानी चाहिए। ऊँचाई और चौड़ाई में कोष्ठिका सोलह अंगुल की होनी चाहिए। कठोर कोयलों की आग से तब तक इसे दहकाना चाहिए जब तक इसमें से सत्त्व का पात होता रहे। अगर सत्त्व का द्रवण न होता हो, तो पिण्डी बाँधकर धमन करना चाहिए।[1]

संदंशिनी (पकड़ने की चिमटी, या संडासी) दो प्रकार की होनी चाहिए---तोते की चोंच-सी या कौए की चोंच-सी। दीर्घ संदंशक एक हाथ लम्बी होनी चाहिए।[2]

धातुओं के चालन के लिए कणी दो हाथ लम्बी होनी चाहिए। रेतनी बालिश्त भर की, छिन्नी आठ अंगुल की हो। अर्हिणी लघु और स्थूल दो प्रकार की हों। हथौड़ी दो प्रकार की आकृति की हो---पत्राकार और वर्तुल। धातुओं को कूटने की घणी २, ४, ८, ७ या १० मण (हिन्दी-मन) की होनी चाहिए। धातु-धमन के लिए भव्य भस्त्री (धौंकनी) हो। लोह खल्व चार पादवाला हो, और इसकी पिण्डी दश अंगुल की हो। उन्मत्त फूल के आकार की छोटी-बड़ी कर्त्तरी (कैंची या कतरनी) हो। योनि की आकृति का भी खल्व होना चाहिए। सिल और लोहड़ा भी उचित माप का हो। लोहे, उदुम्बर और मिट्टी की बनी स्थालियाँ (कटोरा या पतीलियाँ) होनी चाहिए। लकड़ी, कुशा आदि को काटने के लिए वंशक्रक, कुल्हाड़ी आदि होने चाहिए।[3]

१. सार्धहस्तप्रमाणेन भुजा कार्या सुशोभना।
वक्रनालं भुजाग्रेषु कोष्ठिमध्ये वितस्तितः॥
उच्छ्रयेण पृथुत्वेन कोष्ठिका षोडशाङ्गुला।
तावद् द्वितीयकोष्ठं च तदूर्ध्वं सारयेत्ततः॥
धमेत् तावद् दृढाङ्गारैर्यावत्सत्त्वं पतत्यधः।
कदाचिन्न द्रवेत्सत्त्वं पिण्डीं बद्ध्वा धमेत्ततः॥ (२२।११-१३)

२. संदंशिनी द्विधा कार्या शुकचञ्चुश्च वायसी।
दीर्घसंदंशकश्चैव हस्तमात्रोऽतिपत्तलः॥ (२२।१४)

३. कणी द्विहस्तमात्रा तु धातूनां चालने हिता।
रेतनी च वितस्त्यैव छिन्नकोऽष्टांगुलः शुभः॥
द्विविधा अर्हिणी कार्या लघुः स्थूला सुशोभना।
हत्थोडी द्विमुखा कार्या पत्राकारा च वर्तुला॥
द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिः सप्तभिर्दशभिर्मणैः।

हत्थोडी, मण, घणी आदि शब्दों का प्रयोग इस विवरण में उल्लेखनीय है।

द्रुतिपात––**रससार** कीमियागिरी का उल्लेखनीय ग्रन्थ है और **रसार्णव** की परम्परा का प्रतीत होता है। इसके अष्टम पटल में द्रुतिपातन संबंधी ६० श्लोक हैं, जिनमें धातुओं, रसों और उपकरणों के द्रुति-सत्त्व प्राप्त करने का वर्णन है। उदाहरण के लिए एक विवरण हम यहाँ देते हैं––वैक्रान्त सत्त्वचूर्ण, पारा, गन्धक, और नवसार (नौसादर) सबको बराबर-बराबर लेकर अम्ल के साथ मर्दन करें। शराव-संपुट (दो सकोरों के बीच) में रखकर और सन्धियों को बन्द करके (कपरौटी करके) हलकी आँच पर पुट दे, फिर अपने आप ठंडा होने दे, फिर चूर्ण में क्षारोदक की भावना दे। फिर इसे कूपी में रखकर इसमें मधु और अम्ल मिलावे (अथवा मद्याम्ल), और कूपी जब भर जाय तो चमड़े से इसका मुख बाँध दे। फिर घुटने बराबर अथवा एक हाथ गहरा गड्ढा खोदे, और इसमें घोड़े की लीद भर दे। लीद के भीतर दबाकर कूपी को रख दे। तीन-तीन दिन के बाद लीद नयी बदलता जाय। ऐसा करने पर चालीस दिन में सुन्दर द्रुति तैयार हो जाती है। इसे फिर स्थाली (थाली या कटोरे) में निकाल ले और धूप में इसका पानी सुखाये।[1]

प्रकर्त्तव्या घणी भव्या धातूनां कुट्टने हिता।
भस्त्री भव्या प्रकर्त्तव्या धातोर्धमनहेतवे।
लोहखल्वे चतुष्पादे पिण्डिका च दशाङ्गुला॥
उन्मत्त कुसुमाकारा लघुः स्थूला च कर्तरी।
योन्याकारा दृढा खल्वा शिलापट्टः सलोष्टकः॥
कर्परं बहुधा स्थाली लोहोदुम्बरमृन्मयी।
वंशकूकः कुठारश्च कुशी कुट्टलवर्धनम्॥ (२२।१५–२०)

१. **वैक्रान्तसत्त्वचूर्णं तु पादांशौ रसगन्धकौ।**
पादांशं नवसारं च सर्वमम्लेन मर्दयेत्॥
शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा सन्धिं लिप्त्वा पुटेल्लघु।
स्वाङ्गशीतं तु तच्चूर्णं क्षारोदकविभावितम्॥
कूपीमध्ये विनिक्षिप्य समन्वितम्।
कूपिकां पूरयेन्नूनं चर्मणा बन्धयेन्मुखम्॥
जानुमात्रं खनित्वा तु लद्दिं तत्र प्रपूरयेत्।
विनिक्षिपेत्तत्र कूपीं लद्दिना गर्तपूरणम्॥

इसी प्रकार अनेक पदार्थों की द्रुतियाँ तैयार की जा सकती हैं। रत्नों की द्रुति, अभ्रक की द्रुति, वज्रद्रुति आदि के बनाने के विवरण दिये हुए हैं।[1]

रंगाकृष्टि--रससार के नवम पटल में रंगाकृष्टि संबंधी विशेष विवरण है। गोविन्दाचार्य्य का कहना है कि रंगाकृष्टि के प्रयोगों का विवरण अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलता, न किसी शास्त्र में ही इसका उल्लेख है। रस, उपरस और धातुओं के रंग-द्राव की क्रिया केवल भोट देश के निवासियों को मालूम है।[2]

एक मन लोहे का चूर्ण ले और दो मन स्वर्जिका (सज्जी मिट्टी) और फिर तीन भाग चूना मिलावे और तीनों को एक साथ पीस ले। एक बड़े बर्तन या घड़े (भाण्ड) में इस चूर्ण को रखे और मूत्र-जल द्वारा घड़े को भर देवे। घड़े को चूल्हे पर रखकर नीचे आग जला दे। जब सफेद रंग का फेन ऊपर उठ आये, तो दूसरे पात्र में तब तक रख छोड़े जब तक लाल रंग न आ जाय। फिर इस लाल फेन को पात्र के भीतर उँड़ेल दे। फिर जल और मूत्र मिलावे। जब तक लाल रंग आता रहे, तब तक लाल रंग लेकर पात्र में निकालता रहे। जब लाल रंग आना बन्द हो जाय, तो आग पर से हटा ले। लाल रंग के इस विलयन को कपड़े द्वारा छान ले, और मल शेष को फेंक दे। श्वेत फेन से संयुक्त इस रक्त पदार्थ का पानी सुखा दे। फिर काँच की बनी कूपी में इसको भर ले। फिर एक बड़ा भाण्ड (या घड़ा) ले जिसकी कुक्षि (कोख) में छेद हो। भाण्ड के बीच में काच की घटी या कूपी को रख दे और इसके मुख को छेद से संयुक्त कर दे। उसके मुख में काच की नाल (glass tube) लगा दे। नाल का मुख नीचे की ओर झुका हो। दोनों के बीच की सन्धियों को भली प्रकार वन्द कर दे और नाल को भी आधी ढक दे। भाण्ड को बालू से भर दे और उसके द्वार को बन्द कर दे। नीचे से आग जलाये और तब तक तपाये, जब तक उस नाल से

१. नूतनं त्रिदिनादूर्ध्वं लद्दिना गर्तपूरणम्।
चत्वारिंशद्दिने पूर्णे द्रुतिर्भवति शोभना॥
स्थालीमध्ये द्रुतिं मुक्त्वा घर्मेण शोषयेज्जलम्।
द्रुतिर्भवति सर्वेषां सर्वकर्मसु पूजिता॥ (८।२-७)

२. रङ्गाकृष्टिं प्रवक्ष्यामि यथा जानामि तत्त्वतः।
न कुत्रचित्प्रयोगोऽस्ति शास्त्रेऽपि च न दृश्यते।
रसोपरसधातूनां रङ्गद्रावं सुशोभनम्।
एतद् बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः॥ (९।१-२)

द्रुति बहती रहे। फिर यंत्र को ठंडा हो जाने दे, और तब उसे उतारकर घटी या कूपी को धोये। इसमें फिर द्राव भरकर फिर इसी प्रकार पाक करे। इस प्रकार देग यंत्र में अति सुन्दर रंग-द्रुति तैयार हो जाती है।[1]

हेमकृत बीज और तार बीज—रससार के ११वें पटल में बीजपाक का विवरण है, अर्थात् ऐसे पाकों के बनाने का उल्लेख है, जो अन्य साधारण पदार्थों को सोना या चाँदी में परिणत कर दें। इनमें से कुछ शतवेधी, कुछ सहस्रवेधी और कुछ लक्षवेधी या कोटिवेधी भी बताये गये हैं। यदि एक भाग बीज सौ भाग अन्य पदार्थों को सोने

१. मणैकं लोहचूर्णस्य स्वर्जिकाया मणद्वयम्।
त्रिभागं चूर्णकं दत्त्वा एकस्थमतिमर्दयेत्॥
क्षिप्त्वा चूर्णं बृहद् भाण्डे जलमूत्रेण पूरयेत्।
चुल्लिकोपरि संस्थाप्य वह्निं प्रज्वालयेत् ततः॥
यदा फेनः समागच्छेच्छ्वेतवर्णस्तदूर्ध्वतः।
अन्यपात्रे तदाऽऽस्थाप्य यावद् बध्नाति रक्तताम्॥
पश्चात्तं रक्तफेनं च पात्रमध्ये क्षिपेद् पुनः।
क्षीणे मूत्रे जलं दद्याद् यावद्रक्तं च दृश्यते॥
तावद्रक्तं च गृह्णीयात्पुनः पात्रे निधापयेत्।
यदा रक्तं न दृश्येत तदा वह्निं निवारयेत्॥
रक्तं वस्त्रेण संगाल्य मलशेषं विवर्जयेत्।
श्वेतफेनेन संयुक्तं तस्यैतज्जलशोधनम्॥
काचसारितघटचां च तद्धार्यं तदनन्तरम्।
बृहद् भाण्डं समादाय कुक्षौ च छिद्रसंयुतम्॥
भाण्डमध्ये घटीं क्षिप्त्वा मुखं छिद्रे नियोजयेत्।
तदास्ये काचनालं स्यात् तच्च नालमधोमुखम्॥
रुद्ध्वा तदा तयोः सन्धिमर्द्धं च नालकं दिहेत्।
भाण्डं वालुकयाऽऽपूर्य तस्य द्वारं निरुन्ध्य च॥
वह्नेः प्रज्वालनं तावद् यावत्तन्नालकं द्रवेत्।
शीतं यन्त्रं समुत्तार्य घटीं प्रक्षालयेत्ततः॥
द्रावं क्षिप्त्वा पुनर्दद्यात् पुनः पाको विधीयते।
एवं रङ्गद्रुतिः प्रोक्ता देगयन्त्रेऽतिशोभना॥ (९।३–१३)

में परिणत कर दे, तो उसे शतवेधी कहा जाता था। इस पटल में बड़े मनोरञ्जक पद हैं, जिनका आनन्द टिप्पणी में नीचे लिखित अवतरणों से मिल सकता है।[1]

निर्देश

गोविन्दाचार्य--**रससार**--यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित, बंबई, सन् १९१२ ई०।

१. बीजपाकं प्रवक्ष्यामि जारणार्थं रसस्य च।
सूतक्रमोऽयं जीर्णेन समबीजेन सिद्ध्यति॥
रक्ताभ्रं हेम रसकं हेमाभ्रं चपलं शिला।
माक्षिकं कान्ततीक्ष्णं च तीक्ष्णमाक्षिकमभ्रकम्॥
हेमकान्तं च माक्षीकं तीक्ष्णमाक्षिककाञ्चनम्।
तीक्ष्णारुणं च माक्षीकं कान्ताभ्रं ताप्यकाञ्चनम्॥....
रुक्मव्योमखगं चौरं खगं वंगाभ्रकाञ्चनम्।
रुक्मव्योमखगं शैलं सस्याभ्रं काञ्चनं खगम्॥
रुक्मव्योमखगं हंसं तुत्थाभ्रं खगकाञ्चनम्।
रुक्मव्योमखगं शैलं रुक्मव्योमखगं त्रपु॥....
नागं रा रसकं शुल्बं हंसं राश्चौर माक्षिकम्।
राः शुल्बं रसकं हंसं राश्चौरं शुल्बहिंगुलम्॥
चौरं रा दरदं रिरी हंसं राश्चौर हिंगुलम्।....
हेमैकं त्रिगुणा रिरी हेमैकं च त्रितुत्थकम्।
हैमैकं त्रिगुणं घोषं हेमैकं त्रिगुणं त्रपु॥
हैमैकं त्रिगुणं नागं प्रोक्तं बीजमनेकधा
प्रत्येकं श्लोकपादैकं कल्पितं बीजमत्र वै॥ (११।१-२२)

अठारहवाँ अध्याय

काकचण्डेश्वरीमत तन्त्र

(बारहवीं–तेरहवीं शती)

विष्णुदेव विरचित **रसराजलक्ष्मी** के प्रथम उल्लास में कुछ रसग्रन्थों की सूची दी हुई है, उसमें **काकचण्डेश्वरी तन्त्र** का भी उल्लेख है,[1] और **रसरत्नसमुच्चय** में भी काकचण्डीश्वर का नाम तंत्र-रसाचार्य की सूची में दिया गया है।[2] **काक चण्डेश्वरीमत तंत्र** का रचयिता कोई रसाचार्य काकचण्डेश्वर है; अथवा काकचण्डेश्वरी नाम की कोई काल्पनिक योगिनी है; यह कहना कठिन है। **काकचण्डेश्वरीमत तन्त्र** के प्रारम्भ में जो श्लोक हैं, उनमें लिखा है कि कैलास पर्वत पर उमा (पार्वती) और रुद्र (शिव) के साथ बहुत-सी योगिनियाँ थीं, जैसे क्रन्दनन्दी, महाकाली, भृंगचण्डी, विनायकी, कपाली, कालरात्रि, कालचंद्रा, कलाम्बिका, कराली, कालकर्णी, काकचण्डेश्वरी आदि। ये योगिनियाँ भैरव देव को घेरे हुए थीं, कुछ स्तुति कर रही थीं, कुछ ध्यान में लीन थीं, कुछ नाच रही थीं और कुछ गा-बजा रही थीं। त्रिलोचनयुक्त पंचमुखवाले भैरव और उनकी भैरवी को प्रसन्न पाकर काकचण्डेश्वरी देवी ने पूछा— हे भगवन्, हे शंकर, आपसे मैं यह पूछती हूँ कि इस संसार में शरीरधारी जीव-जीव में इतना अंतर क्यों है, एक जीव तो यान पर सवार होकर चलता है, और दूसरा जीव उस यान के बोझे को कन्धे पर ढोता है। इस प्रश्न के उत्तर में सर्वज्ञ भैरव ने अनादि कर्म सम्बन्ध की व्याख्या की और कहा कि जीव काममोहित होकर अज्ञान से अनेक प्रकार के क्लेशदायक कर्म करने लगता है, और फलस्वरूप वह मर्त्य-

१. **दृष्ट्वेमं रससागरं शिवकृतं श्रीकाकचण्डेश्वरी–**
तंत्रं सूतमहोदधिं रससुधाम्भोधिं भवानीमतम्।
व्याडिं सुश्रुतसूत्रमीशहृदयं स्वच्छन्दशक्त्यागमम्,
श्रीदामोदरवासुदेवभगवद्गोविन्दनागार्जुनान्॥ (रसराजलक्ष्मी)

२. **मन्थानभैरवश्चैव काकचण्डीश्वरस्तथा (रसरत्नसमु० १।)**

लोक में दरिद्र, कुब्ज, खंज, नपुंसक आदि उत्पन्न होता है और त्रिगुणात्मक संसार वन्धन में फँसकर यातना भोगता है।[1]

१. कैलासशिखरासीनमुमा रुद्रं जगद्गुरुम्।
क्रन्दनन्द महाकाली भृंगचण्डी विनायकौ॥
योगिनीनामष्ट तत्र गुह्याद् गुह्यतरं परम्।
कपाली कालरात्री च कालचन्द्र कलाम्बिका॥
कराली कालकर्णी च काकचण्डेश्वरी तथा।
एवमादिस्तथा चान्या योगिनीगणगुह्यकैः॥
नृत्यवाद्यसुखेशानैः सानन्दैर्हृष्टचेतसैः।
तत्रस्थं भैरवं देवं योगिनीगणवेष्टितम्॥
केचित्स्तुवन्ति संहृष्टाः केचिद् ध्यायन्ति गुह्यकाः।
केचित् नृत्यन्ति गुह्या ये केचिद् वाद्यं च कुर्वते॥
हृषितं भैरवं देवं पंचवक्त्रं त्रिलोचनम्।
तं दृष्ट्वा भैरवी हृष्टा जगतां त्रिदशेश्वरी॥
कृताञ्जलिपुटा भूत्वा कृष्णतारकलोचना।
काकचण्डेश्वरी देवी उवाचेदं तु भैरवी॥

काकचण्डेश्वरी उवाच—

भगवन् देवदेवेश सर्वज्ञ सर्वविच्छिव।
सर्वज्ञानप्रकाशाय अहं पृच्छामि शंकर॥
(कथं कायस्थितो जीवो जीवकोऽसौ प्रकीर्त्तितः।
कायस्थः कर्मणा केन स्थितः संसारपंजरे।
जराव्याधिदारिद्र्येण ग्रस्तः संसारबंधनैः।
एको व्रजति यानेन एकः स्कन्धे वहेच्च तम्॥
जयजयशब्दं मांगल्यमेकस्थाने च जंतवः।
किं कुर्वाणाः प्रकुर्वाणाः कस्मान्मे ब्रूहि शंकर॥

श्री सर्वज्ञ उवाच—

शृणु त्वं काकचामुंडे साधकानां हितं प्रिये।
गुह्याद् गुह्यतरं वाक्यं पृष्टोऽहं तु वरानने॥

इन सब क्लेशों से छूटने के उपायों के संबंध में काकचंडेश्वरी ने पूछा कि खेचरत्व और आकाशगमन सामर्थ्य प्राप्त करने की क्या विधियाँ हैं, और किस प्रकार रोचन, अंजन, धातुवाद-रसायन, जलूकाबन्ध, रसों का मारण, जारण, रत्नशोधन, वज्र द्रावण आदि कर्म किये जा सकते हैं।[1] काकचण्डी के पूछने पर भैरव ने कहा

कथयामि समासेन शृणु त्वं काकचंडिके।
यस्यार्थश्च परो नित्यः अनादिनिधनेश्वरः॥
सुरूपो निर्गुणः शांतो विश्वव्यापी परात्परः।
अनादिकर्मसंबंधः कायस्थो भवते तु सः॥
जीवे व्याधिभयं कर्म अज्ञानात् संप्रकीर्त्तितम्।
तस्मात् कर्मभवात् क्लिष्टः संसारे संसरेत्तु सः॥
करोति विविधं कर्म संसार-काममोहितः।
द्रव्योपायं न जानाति कामभोगार्थहेतुना।
कायक्लेशेन मानव्यो द्रव्योपायं करोति सः।
कृषिवाणिज्यसेवायां मेधावि क्रय-विक्रये॥
वहन्ति काष्ठभारांश्च तृणभारमनेकधा।
यानं यवनच्छत्रं च किं करोति करोति सः॥
कामासक्तनरः श्रीमान् कुरुते कर्म नैकधा।
कुर्वाणाश्च नराः केचित् कामासक्तार्थचिन्तकाः।
जायन्ते मर्त्यलोकेऽस्मिन् दारिद्रोपहतचेतसः।
जायंते नात्र संदेहो कुब्जखंजा नपुंसकाः।
महासंसारबंधेन त्रिगुणेन सुयंत्रिताः॥
अटव्यां घोरसंघट्टघाटिकां तु नयन्ति तत्॥
एतत्ते कथितं भद्रे यत्त्वं मां परिपृच्छसि।
किमन्यत् पृच्छसे भद्रे तथा ते कथयाम्यहम्॥ (प्रथम पटल)

१. काकचण्डी उवाच—

कथयस्व महादेव कामभोगप्रसाधनः।
अर्थः संपद्यते येन अक्लेशात् परमेश्वर॥
तदहं श्रोतुमिच्छामि कथयस्व प्रसादतः।
आकाशगमनं देव खेचरत्वं यथा भवेत्॥

कि द्रव्यहीन व्यक्ति प्रेत रूप होकर संसार में रहता है; द्रव्य के बिना काम और भोग की भी सिद्धि नहीं होती। कुल, रूप, पांडित्य, सौभाग्य सब इसके बिना व्यर्थ है। द्रव्य साधन के लिए पारे का साधन परमावश्यक है। पारे का जारण-मारण जानना इसलिए आवश्यक है। पारे को यदि बिड लवणों के साथ घोटकर अन्धमूषा में फूंका

पादुकाया दले पंचदिव्यस्त्रीकामसाधनम्।
रोचनं अंजनं चैव धातुवादरसायनम्॥
जलूकाबंधमित्याहुः रसस्य मारणं कथम्।
जारणं रत्नकर्तृत्वं वज्रभद्रावणं कथम्॥
एतत् सर्वं समासेन ब्रूहि मे त्रिपुरांतक॥

श्री भैरव उवाच--

शृणु त्वं काकचामुंडे साधकानां हितं प्रिये!॥
कथयामि समासेन पृथक् सिद्धार्थसाधनम्।
न द्रव्येण विना सिद्धिर्न भोगाः काम एव च॥
द्रव्यहीना नरा मर्त्ये प्रेतरूपेण संस्थिताः।
अटंति मर्त्यलोकेऽस्मिन् पर्युपद्रवकारणम्॥
* * * विवं(?) तेषां जायतोऽपि मृतश्रुतेः।
कुलं सौभाग्यरूपं च पांडित्यं ज्ञानसंस्थितम्।
द्रव्यहीना न शोभन्ते प्राणहीना नरा यथा।
कुत्सितो घ्राणहीनोऽपि केनापि वधिराः स्थिताः॥
पद्यन्ते मर्त्यलोकेऽस्मिन् द्रव्यस्थं मकरध्वजम्॥
तस्मात् संसाधयेद्देवि रसेन्द्रं साधकोत्तमः।
अथातः संप्रवक्ष्यामि रसेन्द्रसाधनं तव॥
मारणं जारणाद्यं च द्रव्यसाधनमुत्तमम्।
वज्रदंडः सुदंडश्च लोहदंडस्तथैव च॥
त्रयो विना ओषधये रसस्य मारणे हिताः।
तान्निबोध समासेन यथा जानंति साधकाः॥
वज्रदंडस्तु वज्री स्यात् लोहदंडं पुटं विडः।
सुदंडं ब्रह्मदंडं च समासात् कीर्त्तितं तव।
ग्राहयेत्तं समासेन साधको हृष्टमानसः।

जाय तो इसका तत्क्षण मारण हो जाता है और यह पारा सहस्त्रवेधी बन जाता है अर्थात् सहस्त्रगुणी साधारण धातु को सोने में परिणत कर सकता है। इस प्रकार के उत्पन्न पारे से ताँबे (शुल्ब) को प्रभावित किया जाय, और उसे अम्ल वर्ग, क्षारवर्ग एवं वज्री क्षीर और मदार के दूध से मर्दन किया जाय, और मूषा में रखकर खदिर की

तद्रसं रससंयुक्तं एकीकृत्य तु मर्दयेत्।
अन्धमूषागतं ध्मातं रसं म्रियेत् तत्क्षणात्॥
सहस्त्रवेधी कर्त्ता च ज्ञायते स महारसः।
मूषां संलेपयेत् तेन पुरागृह्य महौषधीः॥
अंधयित्वाग्निमध्ये तु रतिबंधः अयं विधिः।
पश्चात् पलसहस्त्रैकं शुल्वस्य ग्राहयेद् बुधः॥
अम्लवर्गहतं शुल्वं क्षारवर्गहतं शुभम्।
वज्रीक्षीरार्कक्षीरेण मर्दयेत् शतधा नरः॥
पुटं दद्यात् समासेन कालिकारहितं भवेत्।
मूषागर्भोदरे क्षिप्त्वा धामयेत् खदिरानलैः॥
रसेन्द्रः क्षिप्यते तत्र तारं संजायते क्षणात्।
अथातः संप्रवक्ष्यामि मूषाबंधं यथा भवेत्॥
मृत्तिकाः ग्राहयेत् प्राज्ञस्तृणपाषाणवर्जिताः।
तुषा दग्धास्त्रयो ग्राह्या मृद्भागास्तु त्रयस्तथा॥
एकीकृत्य तु संबंधे मूषां तत् कारयेद् बुधः।
गोस्तनाकारसदृशीमथवामलकं कुरु॥
मूषाबंधमिति ख्यातं साधकानां हिताय वै।
अथान्यत् संप्रवक्ष्यामि रसस्य मारणं यथा॥
ग्राहयेत् पूर्ववद्भूयः ओषधीस्तिस्त्रस्तु साधकः।
मूषां संलेपयेत् तेन धाम्यकर्म समाचरेत्॥
रसेन्द्रो म्रियते क्षिप्रं कुरु कर्म यदिच्छया।
वीतोदकेन कामेन हेमकर्मणि वा शृणु॥
कारयेल्लोहमयं पात्रं तस्योर्द्ध्वं मृन्मयं शुभे।
अन्योन्यपृष्ठसंलग्नं कारयेत् साधकोत्तमः॥
अधोयन्त्रेण तं धाम्य आयसं तत्र जारयेत्।
तप्तखल्वोदरे घृष्टं जरते नात्र संशयः॥

आग में फूँका जाय, तो सोना बन जायगा। लोहे को भी सोने में परिणत करने की विधि दी है जो अस्पष्ट है।

तद्गुणं आयसं तत्र हेमं चाष्टगुणं ददेत्।
क्षीरवज्रं तथा चारी षट्जारी उदिरग्रही।
ग्राहयित्वा रसं तेषां आयसं जारयेन्नरः॥
हेमं संजायते तत्र धर्मकामार्थसाधनम्।
गृह्य खल्वोदरे तप्ते हेमं षड्गुणतां भजेत्॥
पुरा महौषधैर्युक्तं जरते नात्र संशयः।
जारिते सारितं दद्यात् पुनस्तं जारयेद् यदि॥
कुरुते कर्म संघांश्च कर्म सिद्ध्यर्थसाधनम्॥
जारणं मारणं चैव समासात् कीर्त्तितं मया।
किमन्यत् पृच्छसे भद्रे तथा ते कथयाम्यहम्॥ (द्वितीय पटल)
अथान्यं संप्रवक्ष्यामि अभ्रकस्य यथाक्रमम्।
द्रावणं अभ्रकस्येव समासेन विधीयते॥
क्षीरकं चुकिचूर्णेन तद्रसेनाभिभावितम्।
निर्गुण्डी वज्रदण्डं तु तद्रसे भावितं कुरु।
एकैकं सप्तवारैस्तु भावयेत् साधकोत्तमः।
(भावनान्ते) अभ्रकस्य अम्ले क्षिपेद् दिनं त्रयम्।
वृहत्या सप्तरात्रं तु क्षिपेदभ्रं नरोत्तमः।
तेन कल्केन पत्राणि लेपयेदभ्रकस्य च।
कांस्यपात्रेण······स्तारे साधकोत्तमः॥
सूर्यधाम्नि ततो धाप्यः सप्ताहं साधकोत्तमः।
द्रवते नात्र संदेहः प्रियं दृष्ट्वा यथा स्त्रियः॥
रसस्य भागमेकं तु द्रुतभागसमं कुरु।
एकीकृत्य तु तद्धाम्यं म्रियते नात्र संशयः॥
लक्षांशवेधकोऽसौ हि जायते नात्र संशयः।
अथान्यं संप्रवक्ष्यामि यथा संजायते द्रुतिः॥
ग्राहयेदभ्रकं प्राज्ञः पीतं वा कृष्णमेव वा।
पुरा संस्कारयुक्तं तु कर्त्तव्यं साधकेन तु॥

काकचण्डेश्वरी तंत्र में मूषाओं का भी विवरण दिया है (मूषाबंध)। तृण और पत्थर के टुकड़ों से हीन मिट्टी की मूषा बनायी जाती है। तुष की राख और मिट्टी साथ सानकर मूषा बनाते हैं। इसे गो-स्तन के आकार की या आँवले के आकार की बनाते हैं।

जारण आदि कर्मों के संबंध में **काकचंडेश्वरी तंत्र** में तप्त खल्व का भी उल्लेख है। इसका उपयोग आयस (लोहे) को सोने में परिवर्त्तित करने में किया गया है। जारण, सारण और मारण की विधियों का इस संबंध में अस्पष्ट निर्देश है।

काकचंडेश्वरी तंत्र के एक पटल में (षष्ठ) अभ्रक के द्रावण की एक विधि दी है। इस संबंध में क्षीरकंचुकीचूर्ण, निर्गुण्डी, वज्रदण्ड, अम्ल आदि का प्रयोग और तरह-तरह से आँच देने, धूप में रखने आदि का विधान है। इस प्रकार से मारा गया अभ्रक लक्षांशवेधक माना गया है, अर्थात् लाखों भाग अन्य धातुओं को सोने ऐसी धातु में परिणत करने में सफल माना गया है।

वज्रकन्द, अर्कक्षीर, भल्लातक, सुहागा, क्षार-त्रय आदि के प्रयोग से अभ्रक-द्रुति (द्रवरूपक अभ्रक) कैसे तैयार किया जा सकता है, इसका भी **काकचंडेश्वरी तंत्र** में उल्लेख है।

निर्देश

१. पी० रे—**हिस्ट्री आव् केमिस्ट्री इन एन्शेण्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया** (प्रफुल्लचन्द्र राय की हिन्दू केमिस्ट्री का संशोधित संस्करण), इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)।

यवासा चित्रकं धारः कुंचुकीवज्रदंडयोः।
वज्रकंदार्कक्षीरं च भल्लातं टंकणं तथा॥
क्षारत्रयसमायुक्तं पटुपंचसमन्वितम्।
एकीकृत्य तु कल्केन अभ्रपत्राणि लेपयेत्।
मूषागर्भोदरे क्षिप्त्वा धामयेत् खदिरानलैः।
द्रवते नात्र संदेहो..............

(षष्ठ पटल)

चतुर्थ खण्ड

रसतन्त्र का उत्तरकाल

प्राक्कथन

नागार्जुन द्वारा प्रवर्त्तित रसधारा बहुत दिनों तक आयुर्वेदधारा के साथ-साथ आगे बढ़ी। दोनों ही धाराओं ने लोकप्रियता प्राप्त की। दोनों में आदान-प्रदान भी हुआ। धातुओं से बनी हुई ओषधियों का मिश्रण वानस्पतिक ओषधियों के साथ भी होने लगा। पारे में जनता की निष्ठा इतनी बढ़ गयी कि पारे का रसायन स्वयं एक शास्त्र बना। बौद्ध तान्त्रिकों के सम्पर्क में इस देश में एक नया तंत्र आरम्भ हुआ। एक ओर तो बुद्ध को भी पौराणिक अवतारों में स्थान मिला, और दूसरी ओर पार्वती और शंकर भी इस नये तन्त्र के अधीश्वरी और अधीश्वर हुए। आयुर्वेदशालाओं में पारद से बने हुए लिंगों की स्थापना हुई और इनकी अर्चना की नयी विधियाँ आरम्भ हुईं। अभ्रक, पारद और अन्य धातुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पौराणिक कथाएँ कल्पित की जाने लगीं। आर्य्य और बौद्ध दोनों के तंत्रों की मिली-जुली पद्धति चिकित्सा में सहयोग देने लगी। इस युग में अनेक यंत्रों की विकास हुआ--अधः-पातन यंत्र, ऊर्ध्वपातन यंत्र, तिर्यक्पातन यंत्र, कच्छप यंत्र, दीपिका यंत्र, ढेकी यंत्र, विद्याधर यंत्र आदि। अनेक प्रकार की मूषाएँ बनीं, गारमूषा, वरमूषा, रौप्यमूषा, विडमूषा, प्रकाशमूषा, अन्धमूषा आदि। आग को नियंत्रित करने के लिए अनेक प्रकार के पुट काम में आने लगे—वराहपुट, कपोतपुट, भाण्डपुट, कुक्कुटपुट। पारद के अष्टादश संस्कार, स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, संचारण, जारण, सारण, संक्रामण आदि आरंभ हुए। रसबन्धन की पच्चीस शास्त्रीय विधियाँ प्रचलित हुईं। रसकर्पूर, चन्द्रोदय, मकरध्वज और वसन्ततिलक के समान रसों की खोज हुई। रस-विद्या के विकास में तेरहवीं शती से लेकर सोलहवीं शती तक का समय स्वर्णयुग था। अपने हाथ से प्रयोग करने के प्रति लोगों में अभिरुचि थी। बार-बार आचार्यों ने यह घोषित किया कि उन्होंने स्वयं प्रयोगों को किया है और अनुभूत योग ही अपनी-अपनी कृतियों में लिखे हैं। सोलहवीं शती के आसपास इस देश के वासियों का फिरंगियों से संबंध हुआ। फिरंग रोग इस देश में आया एवं और भी बहुत-सी वस्तुएँ आयीं। अहिफेन या अफीम का इसी युग में चिकित्सा में उपयोग आरंभ हुआ। सोलहवीं शती तक भारत के रसायन ने संसार के अन्य देशों के रसायन का साथ दिया। इस युग के बाद इस देश की प्रगति में जड़ता आ गयी। यूरोप के रसायनज्ञों ने पुरानी

रूढ़ियों को तिलाञ्जलि देकर नये रूप से रसायनशास्त्र का निर्माण किया। पंच-तत्त्ववाद से उन्होंने मुक्ति पायी और तुला के प्रमाणों को आधार मानकर रासायनिक प्रतिक्रियाओं का शास्त्रीय अध्ययन आरंभ किया। इन तीन सौ वर्षों तक हमारा देश पुरानी रूढ़ियों में ही ग्रस्त रहा, और पिछड़ गया। यह अब फिर आँखें खोल रहा है।

उन्नीसवाँ अध्याय

रसप्रकाशसुधाकर और यशोधर

(तेरहवीं शती)

यशोधर तेरहवीं शती में हुए, ऐसी कल्पना आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने की है। इनका एक ग्रन्थ **रसप्रकाशसुधाकर** यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य के सम्पादकत्व में आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के अन्तर्गत सं० १९६७ वि० में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थकर्त्ता ने पुस्तक के अन्त में तीन श्लोकों में आतमपरिचय दिया है।[1] इस विवरण के अनुसार ये सौराष्ट्र देश के "जीर्ण दुर्ग" (अर्थात् जूनागढ़) के निवासी थे। गौड़ ब्राह्मण जाति के थे, और इनके पिता का नाम पद्मनाभ था। सौराष्ट्र (काठियावाड़) अथवा गुर्जर देश में गौड़ ब्राह्मण अब भी पाये जाते हैं।

रसप्रकाशसुधाकर में तेरह अध्याय हैं जिनमें क्रमशः इस प्रकार विषयों का प्रतिपादन हुआ है--(१) अष्टादश रससंस्कार, (२) रसबन्ध विधान, (३) रसभस्म-विधि, (४) धातुशोधन-मारण, (५) महारस-निरूपण, (६) उपरस

१. श्रीनारायणभक्तिसक्तमनसो विद्याविनोदाम्बुधेः,
श्रीगौडान्वयपद्मनाभसुधियस्तस्यात्मजेनाप्ययम्।
सद्वैद्येन यशोधरेण कविना विद्वज्जनानन्दकृद्,
ग्रन्थोऽयं ग्रथितः करोतु सततं सौख्यं सतां चेतसि॥
देशानां सुरराष्ट्रमुत्तमतमं तत्रापि जीर्णाभिधः,
प्राकारोऽस्ति स वेदशास्त्रनिरतैर्विप्रैश्च संशोभितः।
तस्मिन् विष्णुपदारविन्दरतिकृच्छ्रीपद्मनाभः स्वयं
तत्पुत्रेण यशोधरेण कविना ग्रन्थः स्वयं निर्मितः॥
संबोधाय सतां सुखाय सरुजां शिष्यार्थसंसिद्धये,
वैद्यानामुपजीवनाय विदुषामुद्वेगनाशाय वै।
श्रीमद्दुर्गपुरातनेऽतिनिपुणः श्रीपद्मनाभात्मजः,
श्रीमद्भट्टयशोधरः कविवरो ग्रन्थं स्वयं निर्ममे॥ (१३।१४-१६)

निरूपण, (७) नवरत्न निरूपण, (८) शतरस निरूपण, (९) दिव्यौषध्यादि निरूपण, (१०)यंत्रादि निरूपण, (११) धातुकौतुक, (१२) वाजीकरण निरूपण, (१३) शुक्रस्तम्भ योग।

ग्रन्थ के आरम्भ में यशोधर ने हरि और हर का स्मरण किया है,[१] और आठ छन्दों में अनुक्रमणिका दी है, जिसमें ग्रन्थान्तर्गत प्रतिपाद्य विषयों का उल्लेख है। यशोधर ने ग्रन्थ में अनेक प्रयोग अपने स्वयं के अनुभव किये हुए लिखे हैं, जिनमें से कुछ का ज्ञान इन्हें अपने गुरु से भी हुआ, और कुछ का शास्त्र पढ़ने से।[२] परन्तु रसप्रकाश-सुधाकर ग्रन्थ में कहीं भी पूर्ववर्त्ती रसाचार्यों का नाम नहीं आया है। नवम अध्याय में सौ रसों का विवरण दिया गया है, पर वहाँ भी किसी आचार्य का नाम नहीं है।

अष्टादश संस्कार--अन्य ग्रन्थों के अनुसार **रसप्रकाशसुधाकर** में भी पारे के १८ संस्कार गिनाये हैं--स्वेदन, मर्दन, मूर्च्छन, उत्थापन, पातन, रोधन, नियामन, प्रदीपन, अभ्रक ग्रासमान, चारण (संचारण), गर्भद्रुति, बाह्यद्रुति, जारण, रञ्जन, सारण, क्रामण, वेध और सेवन।

१. **स्वेदन--स्वेदन कर्म** पंचलवण, अम्ल और क्षार के साथ दोला यंत्र में किया जाना चाहिए। इस काम के लिए त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिफला चित्रक, पुष्पकासीस, सौराष्ट्री, इन सबको लेकर खरल में मर्दन करते हैं और फिर अन्धमूषा में रखते हैं, और उसके बीच में पारा डालते हैं। फिर कपड़े और भूर्जपत्र में लपेटकर पोटली बना लेते हैं। मिट्टी की हाँड़ी में तुष की कांजी भरते और उसमें पोटली को लकड़ी के सहारे डोरी के द्वारा लटका देते हैं। तीन दिन तक मध्यम आँच पर स्वेदन करते हैं।[३]

१. जननपालकसंहरणात्मकं हरिहरं प्रथमं प्रणमाम्यहम्। (मंगलाचरण)

२. (क) अथेदानीं प्रवक्ष्यामि रसराजस्य बन्धनम्।
अनुभूतं मया किञ्चिद् गुरूणां हि प्रसादतः॥ (२।१)

(ख) अथेदानीं प्रवक्ष्यामि धातुशोधनमारणम्।
अनुभूतं मया किञ्चित् किञ्चिच्छास्त्रानुसारतः॥ (४।१)

३. सूतस्य स्वेदनं कार्यं दोलायन्त्रेण वार्तिकैः।
क्षारौ चाम्लेन सहितौ तथा च पटुपञ्चकम्।
त्रिकटु त्रिफला चैव चित्रकेण समन्विता।
पुष्पकासीससौराष्ट्र्यौ सर्वाण्येव तु मर्दयेत्॥

२. **मर्दन**—मर्दन का उल्लेख करते हुए खल्व (खरल) का परिमाण भी इस ग्रन्थ में दिया है। सोलह अंगुल आयाम (लम्बाई), नौ अंगुल विस्तार (चौड़ाई) और नौ अंगुल उत्सेध (ऊँचाई) का हो। नीचे की ओर वह छः अंगुल हो। किनारे की बनावट (कण्ठ) दो अंगुल चौड़ी हो, अर्धचन्द्र के आकार का चिकना खरल हो, और **मर्दक** (घर्षणी या मूसली) दश अंगुल की हो।[1]

ओषधियों और कांजी के साथ तीन दिन तक पारे को खरल में मर्दन करना चाहिए और फिर गरम कांजी के पानी से धो डालना चाहिए।

३. **मूर्च्छन**—मूर्च्छन कर्म में भी पारे को सज्जी, यावशूक, पटुपंचक, (पंचलवण—काँच, सैन्धव, सामुद्र, बिड और सौवर्च्चल), अम्ल आदि ओषधियों के साथ खरल में तीन दिन तक घोटा जाता है। ऐसा करने से पारे के स्वरूप का विनाश हो जाता है।[2]

४. **उत्थापन**—मूर्च्छन दोष दूर करने के लिए उत्थापन संस्कार किया जाता

औषधानि समांशानि रसादष्टमभागतः।
कृत्वाऽन्धमूषां तेषां तु तन्मध्ये पारदं क्षिपेत्॥
त्रिगुणेन सुवस्त्रेण भूर्जपत्रेण वेष्टयेत्।
गुणेन काष्ठखण्डे वै बद्धां तु रसपोटलीम्॥
लम्बायमानां भाण्डे तु तुषवारिप्रपूरिते।
त्रिदिनं स्वेदयेत्सम्यक् स्वेदनं तदुदीरितम्॥ (१।१९–२३)

१. **कलाङ्गुलस्तदायामश्चोत्सेधोऽपि नवाङ्गुलः।**
विस्तरेण तथा कुर्यान्निम्नत्वेन षडङ्गुलम्॥
द्वयङ्गुलः कण्ठविस्तारो मध्येऽतिमसृणीकृतः।
अर्धचन्द्राकृतिश्चापि मर्दकोऽत्र दशाङ्गुलः॥ (१।२६–२७)

२. **अतः परं प्रवक्ष्यामि पारदस्य तु मूर्च्छनम्।**
मूर्च्छनं दोषरहितं सप्तकञ्चुकनाशनम्॥
स्वर्जिका यावशूकश्च तथा च पटुपञ्चकम्।
अम्लौषधानि सर्वाणि सूतेन सह मर्दयेत्॥
खल्वे दिनत्रयं तावद्यावन्नष्टत्वमाप्नुयात्।
स्वरूपस्य विनाशेन मूर्च्छनं तदिहोच्यते॥ (१।३०–३२)

है। तीन दिन तक दोलायंत्र में मूर्च्छित पारे का स्वेदन करते हैं, और फिर धूप में पत्थर से खरल में घोटते हैं।[१]

५. **पातन**--पातन तीन प्रकार के हैं--ऊर्ध्वपातन, अधःपातन और तिर्यक्-पातन। ऊर्ध्वपातन की विधि विस्तार से दी है। इस काम के लिए मिट्टी की दो हाँडियाँ ली जानी चाहिए जो छः अंगुल ऊँची, मुख के पास ७ अंगुल लंबी और घेरे में १३ अंगुल की हों। ऊर्ध्वपातन के काम के लिए दोनों प्रकार के क्षार (यवक्षार और सर्जिका क्षार), रामठ (हींग), पाँचों लवण और अम्ल वर्ग की ओषधियों के साथ पारे को घोटना चाहिए। इस प्रकार बने कल्क से नीचे की हाँडी पर लेप करना चाहिए। इस नीचे की हाँडी के ऊपर दूसरी एक हाँडी उलटकर रखे (दूसरी ऊपर-वाली हाँडी का मुँह नीचेवाली हाँडी के मुख से थोड़ा-सा बड़ा होना चाहिए)। दोनों के मुखों के बीच में संपुट बना दे, और सन्धियों को भस्म और लवण से बनी पिष्टी द्वारा मूँद देना चाहिए। ऊपरवाली हाँडी के पेंदे पर ऊपर की ओर एक जलाधान रख देना चाहिए (अर्थात् चार पर्त किया हुआ कपड़ा पानी से भिगोकर रख देना चाहिए, कपड़ा जब सूख जाय, तो इसे फिर पानी से तर कर दे)। हाँडी को चूल्हे पर चढ़ाकर धान्य को अग्नि से चार घड़ी तक गरम करना चाहिए। फिर आग अलग करके अपने आप ठंडा होने देना चाहिए। ऊपर की हाँडी में जो पारा उड़कर पहुँच जाय उसका संग्रह कर लेना चाहिए।[२]

१. दोलायन्त्रे ततः स्वेद्यः पूर्ववद् दिवसत्रयम्।
सूर्यातपे मर्दितोऽसौ दिनमेकं शिलातले।
उत्थापनं भवेत्सम्यङ मूर्च्छादोषविनाशनम्॥ (१।३४-३५)

२. ऊर्ध्वपातनयन्त्रस्य लक्षणं तदिहोच्यते।
मृन्मयी स्थालिका कार्या चोच्छ्रिता तु षडङ्गुला॥
मुखे सप्ताङ्गुलायामा परितस्त्रिदशाङ्गुला।
इयन्माना द्वितीया च कर्त्तव्या स्थालिका शुभा॥
क्षारद्वयं रामठं च तथा हि पटुपञ्चकम्।
अम्लवर्गेण संयुक्तं सूतकं तैस्तु मर्दयेत्॥
लेपयेत्तेन कल्केन अधःस्थां स्थालिकां शुभाम्।
उपरिस्थामधोवक्त्रां दत्वा संपुटमाचरेत्॥

अधःपातन यंत्र में हाँडियों का प्रबन्ध ऊर्ध्वपातन का उलटा होता है। एक गड्ढा खोदे और इसमें नीचे की हाँडी को गाड़ दे, गड्ढे और हाँडी के बीच की जगह को मिट्टी के गारे से भर दे। ऊपर की हाँडी के पेंदे पर भीतर की ओर पारे के कल्क का लेप हो। ऊपरवाली हाँडी के ऊपर आग जलावे। तीन घड़ी तक गरम करने पर जो पारा नीचे की हाँडी में अधःपातन होकर आ जाय, उसका संग्रह करे।[1]

तिर्यक्पातन विधि का भी सूक्ष्म उल्लेख दिया है। पूर्वोक्त ओषधियों के साथ पारे का मर्दन करे। तिर्यक्घट में इस रस को रखे, और इसके मुख में दूसरा घट रखे। छोटे घट के पेट में एक छेद करे और छेद में लोहे की नली लगावे। नली को जल-पात्र के भीतर होकर जाने दे। रसयंत्र के नीचे तेज़ आँच जलावे। तीन घड़ी तक पारे का तिर्यक्पात होने दे[2] (घटों की स्थिति किस प्रकार हो और दोनों के बीच में नली द्वारा संबंध कैसे हो, इसका वर्णन यहाँ बहुत स्पष्ट नहीं है।)

६. **रोधन**—पारे को ऊपर दी हुई विधियों से शोधित कर लेने के बाद इसका रोधनसंस्कार किया जाता है। एक घड़े में दस पल सैंधा नमक और तीन सेर पानी लेते हैं, और इसमें पारा डाल देते हैं। फिर घड़े पर ढक्कन ढाँककर मिट्टी से मूँद देते

सभस्मलवणेनैव मुद्रां तत्र प्रकारयेत्।
चुल्ल्यां स्थालीं निवेश्याथ धान्याग्नि तत्र कारयेत्॥
तस्योपरि जलाधानं चतुर्यामावधि कुरु।
स्वाङ्गशीतलतां ज्ञात्वा ऊर्ध्वगं ग्राहयेद् रसम्॥ (१।३८–४३)

१. **पूर्वोक्तां स्थालिकां सम्यग्विपरीतां तु पङ्किले।**
गर्ते तु स्थापितां भूमौ ज्वालयेन्मूर्ध्नि पावकम्।
यामत्रितयपर्यन्तमधः पतति पारदः॥
अधःपातनयंत्रं हि कीर्तितं रसवेदिभिः। (१।४४–४६)

२. **पूर्वोक्तैरौषधैः सार्धं रसराजं विमर्दयेत्।**
तिर्यग्घटे रसं क्षिप्त्वा तन्मुखे ह्यपरो घटः॥
कनीयानुदरे छिद्रं छिद्रे चायसनालिकाम्।
नलिकां जलपात्रस्थां कारयेच्च भिषग्वरः।
अधस्ताद्रसयन्त्रस्य तीव्राग्निं ज्वालयद् बुधः॥
यामत्रितयपर्यन्तं तिर्यक्पातो भवेद्रसः॥ (१।४६–४९)

हैं। फिर किसी निर्जन, निर्वात स्थल पर ज़मीन के भीतर गाड़कर छोड़ रखते हैं। ऐसा करने को ही 'रोधनसंस्कार' कहते हैं।[1]

७. **नियमन**—नियमन संस्कार रोधन के बाद किया जाता है। पारे का नमक और पानी से भरे घड़े में तीन दिन तक स्वेदन करते हैं। ऐसा करने से पारा वीर्यवान् हो जाता है।

८. **दीपन**—नियमन के बाद दीपन संस्कार किया जाता है। ऐसा करने से पारे की बुभुक्षा बढ़ जाती है। राजिका, नमक, मरिच, शिग्रु, टंकण (सुहागा), कासीस, कांजी और कांक्षी इनके साथ पारे का तीन दिन तक स्वेदन करते हैं। फिर क्षार के साथ इसका मर्दन करते हैं। ऐसा करने से पारे में दीपन पैदा हो जाता है। दीपन का उपयोग पारे में मुख उत्पन्न करने के लिए भी होता है, जिसका विस्तार भी रसप्रकाशसुधाकर ग्रन्थ में दिया गया है। इस काम के लिए पारे में १८वाँ भाग सोना मिलाया जाता है, और फिर नीबू के रस के साथ एक दिन तक मर्दन करते हैं। फिर क्षार, लवण और कांजी के साथ इसका स्वेदन करते हैं। फिर कांजी के रस से पारे को धोते हैं। ऐसा करने से पारे में मुख उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् अन्य पदार्थों को भक्षण करने की क्षमता इसमें आ जाती है।[2]

१. **सिन्धूद्भवं दशपलं जलप्रस्थत्रयं तथा।**
धारयेद् घटमध्ये च सूतकं दोषवर्जितम्॥
पिधानेन यथा सम्यक् मुद्रितं मृत्स्नया खलु।
निर्वाते निर्जने देशे धारयेद् दिवसत्रयम्।
अनेनैव प्रकारेण रोधनं कुरु वैद्यराट्॥ (१।५१–५३)

२. **अथेदानीं प्रवक्ष्यामि रसराजस्य दीपनम्॥**
बुभुक्षा व्यापकत्वं च येन कृत्वा प्रजायते।
राजिका लवणोपेता मरिचं शिग्रुटङ्कणे॥
कासीससंयुता कांक्षी काञ्जिकेन समन्वितैः।
दिनानि त्रीणि संस्वेद्य पश्चात् क्षारेण मर्दयेत्॥
अनेनैव प्रकारेण दीपनं जायते ध्रुवम्।
तीव्रत्वं वेगकारित्वं व्यापकत्वं बुभुक्षिता॥
बलवत्त्वं विशेषेण कृते सम्यक् प्रजायते।
मुखोत्पादनकं कर्म प्रकारो दीपनस्य हि॥

९. **अभ्रकग्रासमान**--पारा अभ्रक का भक्षण जिस विधि से करता है, उसे अभ्रकग्रासमान कहते हैं। इस काम के लिए करोटी विधि से लोह संपुट तैयार करते हैं। फिर **जल-यंत्र** (जिसे रसेन्द्रचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में कच्छप यंत्र कहा है) द्वारा बिड की सहायता से पारे को अभ्रक का भक्षण कराते हैं। इस संबंध में रसप्रकाशसुधाकर में जलयंत्र का थोड़ा-सा वर्णन दिया हुआ है। लोहे के गोल पात्र में ३ आढक पानी भरते हैं, फिर लोह संपुट में पारा रखकर संपुट को दृढ़ता से बन्द करके पानी के भीतर डाल देते हैं। संपुट में पारे के साथ बिड (१६ भाग) और अभ्रक सत्व (६४ भाग) की उचित मात्रा रख देते हैं। संपुट की सन्धि को पानी में सनी मिट्टी अथवा वह्निमिट्टी (जो खड़िया, नमक, किट्ट आदि से तैयार की जाती है और जो "वह्नितापसह" होती है) से बन्द करते हैं। जलयंत्र को चूल्हे पर रखते हैं और गरम पानी से भरकर उसे डेढ़ दिन तक धीरे-धीरे गरम करते हैं। ऐसा करने पर पारा अभ्रक का भक्षण कर लेता है।[1]

कथयामि समासेन यथावद्रससाधनम् ।
अष्टादशांश भागेन कनकेन च सूतकः ॥
निम्बूरसेन संमर्द्यो वासरैकमतः परम् ।
क्षारैश्च लवणै रम्यै स्वेदितः काञ्जिकेन हि ॥
क्षालिते काञ्जिकेनैव वक्त्रं भोक्तुं प्रजायते । (१।५५-६८)

१. **अतो हि जलयन्त्रस्य लक्षणं कथ्यते मया ।**
सुवृत्तं लोहपात्रं च जलं तत्राढकत्रयम् ॥
तन्मध्ये सुदृढं सम्यक् कर्त्तव्यं लोहसम्पुटम् ।
लोहसंपुटमध्ये तु निक्षिप्तं शुद्धपारदम् ॥
बिडेन सहितं चैव षोडशांशेन यत्नतः ।
चतुः षष्टयंशकं चाभ्रसत्त्वं संपुटके तथा ॥
संपुटं मुद्रयेत्पश्चाद्दृढया तोयमृत्स्नया ।
वह्निमृत्तिकया वापि सन्धिरोधं तु कारयेत् ॥
चुल्ल्यां निवेश्य तं यन्त्रं जलेनोष्णेन पूरितम् ।
क्रमादग्निः प्रकर्तव्यो दिवसार्धकमेव हि ॥
एवं कृते ग्रासमानं भक्षयेन्नात्र संशयः ।
अनेनैव प्रकारेण षड्ग्रासं भक्षयेद्ध्रुवम् ॥ (१।६९-७४)

१०. **चारण**—अभ्रक, हेम आदि का पारे के भीतर अन्तर्भाव होना 'चारण' कहलाता है। ताप्य सत्त्व, अभ्रक सत्त्व, घोषाकृष्ट और ताम्र इन सबको बराबर-बराबर लेकर खदिर की लकड़ी की आग में दो धौंकनियों के साथ तब तक गरम करे जब तक अभ्रक बचा रहे। इस अभ्रसत्त्व का सम भाग लेकर पारे के साथ चारण करे।[1] चारण के लिए गर्भद्रुति का प्रयोग होता है, और जारण के लिए भी।

११. **गर्भद्रुति**—पारे के भीतर ग्रसित लोहादि कोई पदार्थ अग्नि द्वारा द्रव बनकर (पिघलकर) जब पारे से मिल जाता है, तो इसे **गर्भद्रुति** कहते हैं। इसका विस्तार देना **रसप्रकाशसुधाकर** ने आवश्यक नहीं समझा।

१२. **बाह्यद्रुति**—मूषा के भीतर अभ्रक आदि को वज्रवल्ली के रस और सौवर्चल आदि ओषधियों सहित बाहर से ही अर्थात् पृथक् पिघलाकर और फिर पारे के भीतर जारण करने के लिए मिलावें, तो उसे **बाह्यद्रुति** कहते हैं।[2]

१३. **जारण**—जारण के संबंध में **रसप्रकाशसुधाकर** के रचयिता यशोधर ने स्वयं अपने अनुभव के प्रयोग दिये हैं। उन्होंने कहा है—

स्वहस्तेन कृतं सम्यग् जारणं न श्रुतं मया। (१।१०३)

अर्थात् इसके प्रयोग मैंने स्वयं अपने हाथ से किये हैं, न कि सुनकर लिख दिये। द्रुत हुए स्वर्णादि पदार्थ का पारे के साथ जो पाक किया जाता है, उसे **जारण** कहते हैं। ("जारणं हि नाम गालनपातनव्यतिरेकेण घनंहेमादि**ग्रासपूर्वक-पूर्वावस्था-प्रतिपन्नत्वम्**"—आयुर्वेद प्रकाश)। यशोधर ने जारण के कई प्रयोग दिये हैं—(क) अभ्रक और ताप्य सत्त्व को बराबर लेकर आग में फूंके, और फिर जो अभ्रक बच रहे उसे पारे के साथ जारण करे। (ख) इसी प्रकार वंग और नाग (रांगा और सीसा) के साथ भी उनका घन-सत्व लेकर जारण करे। (ग) नाग और वंग

१. **ताप्यसत्त्वाभ्रसत्वं च घोषाकृष्टं च ताम्रकम्।**
समभागानि सर्वाणि ध्मापयेत्खदिराग्निना॥
भस्त्रिकाद्वितयेनैव यावदभ्रकशेषकम्।
तदभ्रसत्वं सूतस्य जारयेत् समभागिकम्। (१।८२–८४)

२. **अभ्रसत्त्वं हि मूषायां वज्रवल्लीरसेन हि।**
सौवर्चलेन संध्मातं रसरूपं प्रजायते॥
अभ्रद्रुतेश्च सूतस्य समांशैर्मेलनं कृतम्।
तेन बन्धत्वमायाति द्रुतिर्बाह्यस्य कथ्यते॥ (१।८६–८७)

ये दोनों अपने स्वाभाविक रूप में सेवन के सर्वथा अयोग्य हैं। इन्हें रेती (file) से रेतकर रज (धूलि) के समान कर लेवे और बुभुक्षित पारे के मुख में इन्हें डाले। (घ) ताम्र पात्र में अम्ल और नमक दूध के साथ रखे। ऐसा करने से तूतिये के समान जो नीले रंग का कल्क मिले उसके साथ तप्त खल्व में पारे का मर्दन तीन दिन तक करे, फिर काँजी के रस से धोवे, और काँच के पात्र में भरे, इसमें विड ऊपर और नीचे रख दे। पारे का अष्टम भाग लेकर संपुट बनाये और मुख पर भूर्जपत्र रखकर डोरे से बाँध दे। संपुट को कपड़े से लपेटकर दोलायंत्र में एक-एक दिन गोमूत्र से, अम्ल वर्ग से और काँजी से स्वेदन करे। फिर पत्थर, लोहे अथवा काँच के पात्र में काँजी के गरम रस से पारे को धोवे। फिर चार पर्तवाले मोटे कपड़े में पारे को निचोड़े। इस प्रकार पारा अभ्रक का जारण करने योग्य हो जाता है।[1]

१. (क) अभ्रकं ताप्यसत्त्वं च समं कृत्वा तु सन्धयेत् ।
अभ्रशेषं कृतं यच्च तत्सत्त्वं जारयेद्रसे ॥ (१।९०')

(ख) एवं पूतिद्वयेनैव घनसत्त्वं हि साधयेत् ।
वातुवादविधानेन लोहकृद् देहकृन्न हि ॥ (१।९१)

(ग) गजवङ्गौ महाघोरावसेव्यौ हि निरन्तरम् ।
साधितं घनसत्त्वं तद्रेतितं रजसन्निभम् ॥
बुभुक्षित रसस्यास्ये निक्षिप्तं वल्लमात्रकम् ।
रसो गद्याणकस्यापि तुर्यभागः प्रकीर्त्तितः ॥ (१।९२–९३)

(घ) ताम्रपत्रस्थमम्लं वै सैन्धवेन समन्वितम् ।
क्षीरेण सहितं वाऽपि प्रहितं त्रिदिनावधि ॥
जातं तुत्थसमं नीलं कल्कं तत्प्रोच्यते बुधैः ।
कल्केनानेन सहितं सूतकं च विमर्दयेत् ॥
दिनत्रयं तप्तखल्वे धौतः पश्चाच्च काञ्जिकैः ।
स्थापयेत्काचपात्रे तु तदूर्ध्वाधो बिडं न्यसेत् ॥
रसस्याष्टमभागेन संपुटं कारयेत्ततः ।
भूर्जपत्रैर्मुखं रुद्ध्वा सूत्रेणैव तु वेष्टयेत् ॥
सम्पुटं वाससा वेष्ठ्य दोलायां स्वेदयेत्ततः ।
गोमूत्रेणाम्ल वर्गेण काञ्जिके न दिनं दिनम् ।
अश्मपात्रेऽथ लोहस्य पात्रे काचमयेऽथवा ।

१४. **रञ्जन**—भली भाँति सिद्ध किये हुए बीज (स्वर्ण और रौप्य) तथा धातुओं के साथ पारद का इस प्रकार जारण करना कि उसमें पीले, लाल आदि रंग उत्पन्न हो जायँ, रञ्जन कहलाता है। **रसप्रकाशसुधाकर** में लोहे, ताम्र, रसक और रक्तवर्ण के समूहवाली ओषधियों के प्रयोग से रञ्जन करने का विधान बताया है। गन्धक में भी पारे में रंग उत्पन्न कर देने की क्षमता है। लाल काँच और लाल नमक से भी रंजन करना बताया है। ताँबे आदि से रंजन करना हो तो अन्धमूषा में पारा रखकर क्रिया करे। इष्टिका यंत्र की सहायता से भी रंजन करे। रसक से रंजन करना हो तो तुला यंत्र का व्यवहार करे। तीक्ष्ण लोह के साथ पारे का मर्दन किया जाय, तो भी पारे में रंग आ जाता है।[1]

१५. **सारण**—तेल से भरी हुई अन्धमूषा में पारा डालकर उसमें सोना, चाँदी आदि धातुओं को डालकर जो वेध किया जाता है अर्थात्, विशेष गुणों का उद्भावन किया जाता है, उसे **सारण** कहते हैं। इस काम के लिए धतूरे के फूल के आकार की, ८ अंगुल लम्बी, चौड़े मुँह की, चार अंगुल घेरे की मिट्टी की शुष्क और चिकनी मूषा लेते हैं। दूसरी एक पिधानिका मूषा छिद्र से युक्त छोटे आकार की लेते हैं। मूषा के भीतर जारण किया हुआ पारा रखते हैं। मछली, कछुआ, मेंढ़क, जलौका, मेष, सूकर इन सबकी चर्बी और तेल सारण कर्म के लिए लेते हैं। केंचुओं का बीट, मोम, कौओं की विष्ठा, शलभ, महिषी-कर्ण का मल, और १६वाँ भाग पारा लेकर कल्क बनाते हैं।

उष्णकाञ्जिकतोयेन क्षालयित्वा रसं ततः ॥
दृढे चतुर्गुणे वस्त्रे क्षिप्त्वाऽधः पीडनाद्रसः ।
निपतत्यन्यपात्रे तु सर्वोऽपि यदि पारदः ॥
तदाऽभ्रं जारितं सम्यग्दण्डधारी भवेद्रसः ॥ (१।९४–१०१)

१. रञ्जनं लोहताम्राभ्यां रसकेन विधीयते ।
तथा रक्तगणेनैव कर्त्तव्यं शास्त्रवर्त्मना ॥
गन्धरागेण कर्त्तव्यं पारदस्याथ रञ्जनम् ।
ताम्रेण रक्तकाचेन रक्तसैन्धवकेन च ॥
अन्धमूषागतं सूतं रञ्जयेत् ताम्रकादिभिः ।
इष्टिकायंत्रयोगेन गन्धरागेण रञ्जयेत् ॥
रसकस्य च रागेण तुलायन्त्रस्य योगतः ।
मर्दनात् तीक्ष्णचूर्णेन रञ्जयेत् सूतकं सदा ॥ (१।१४६–१४९)

वस्त्र से छानकर फिर इसे तैल में छोड़कर पकाते हैं। बीज (सोना आदि) और कल्क को मूषा के ऊपर छोड़ते हैं। दूसरी पिधानिका मूषा से इसे ढँक देते हैं। दोनों मूषाओं के बीच की सन्धियों को भस्म और लवण से मूँद देते हैं। फिर मूषा के तीन भाग को खोदकर ज़मीन पर डाल देते हैं और उसके ऊपर कोयले रखकर आग से फूँकते हैं। इस प्रकार बीज का जारण हो जाता और पारे के भीतर उसका पातन हो जाता है। इस प्रकार पारे का सारण होता है।[1]

१६. **क्रामण**——यशोधर ने स्पष्ट लिखा है कि पारे का क्रामण संस्कार कैसे किया जाय, इसका उल्लेख रसग्रन्थों में नहीं है।[2] **रसेन्द्रसारसंग्रह, रसेन्द्रचिन्ता-**

१. धूर्तपुष्प समाकारा मूषाऽष्टांगुलदीर्घिका।
मुखे सुविस्तृता कार्या चतुरङ्गुल संमिता॥
मृन्मया साऽपि शुष्का च मध्येऽतिमसृणीकृता।
अन्या पिधानिका मूषा सुनिम्ना छिद्रसंयुता॥
शुद्धं सुजारितं सूतं मूषामध्ये निधापयेत्।
मत्स्य-कच्छप-मण्डूक-जलौका-मेष-सूकराः॥
एकीकृत्य वसामेषामेवं तैलं तु सारणम्।
भूनागविट् तथा क्षौद्रं वायसानां पुरीषकम्॥
तथैव शलभादीनां महिषीकर्णयोर्मलम्।
रसस्य षोडशांशेन चैतेषां कल्कमादिशेत्॥
पटेन गालितं कृत्वा तैलमध्ये नियोजयेत्।
सारणार्थे कृतं तैलं तस्मिन् तैले सुपाचयेत्॥
बीजं च कल्कमिश्रं हि कृत्वा मूषोऽपरि न्यसेत्।
पिधानेन द्वितीयेन मूषावक्त्रं निरुन्धयेत्॥
भस्मना लवणेनैव मूषायुग्मं तु मुद्रयेत्।
मूषिकायास्त्रिभागं हि खनित्वा वसुधां क्षिपेत्।
तदूर्ध्वं ध्मापयेत्सम्यग्दृढाङ्गारैः खराग्निना।
एवं संजारितं बीजं रसमध्ये पतत्यलम्॥
बन्धमायाति सूतेन्द्रः सारितो गुणवान् भवेत्।
प्रथमं जारितश्चैवं सारितः सर्वसिद्धिदः॥ (१।१०९-११८)

२. शास्त्रात् कृतं न दृष्टं हि यथावत्क्रामयेद् रसम् (१।१२१)

मणि, रसरत्नसमुच्चय आदि ग्रन्थों में इस संस्कार का विवरण नहीं है। यशोधर ने इस संस्कार का उल्लेख इस प्रकार किया है—भैंस के कान का मल, स्त्री का दूध, और सुहागा इन सबको बराबर-बराबर लेकर दिन भर घोटे। विष, दरद, रसक, रक्त-कान्तक, इन्द्रगोप, तुवरी (फिटकरी), मोम, कौओं की बीट, इनका कल्क बना ले। बीच में पारा रखे और ऊपर नीचे इस कल्क को रखे। फिर काँच चूर्ण देकर अन्ध-मूषा में तपावे। ऐसा करने से पारे का शीघ्र क्रामण हो जायगा। यह विधि नन्दिराज की बतायी हुई है। ताप्य सत्त्व और शुद्ध सीसा ये उत्तम क्रामणक बताये गये हैं। इनसे पारे और बीजों (सुवर्ण, चाँदी आदि) का निश्चयपूर्वक क्रामण हो जाता है।[१]

१७. **वेधन**—धूर्त तैल (धतूरे का तैल), अहिफेन (अफीम), कंगुनी तैल, भृंगतैल, जायफल का तैल, हयमार तैल, शिफा (पद्मकन्द) का तैल आदि को वेधक माना गया है। इनके साथ पारे की इस प्रकार क्रिया करायी जाय कि जो पारा बने उसकी सहायता से लोह आदि साधारण धातुएँ स्वर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं में परिणत हो जायँ। पारे में इस प्रकार के विशिष्ट गुणों का उत्पन्न करा देना वेधन कहलाता है।[२]

१. **कर्णमलं महिषीणां स्त्रीदुग्धं टंकेण संमिश्रम्।**
एतान्येव समानि च कृत्वा द्रव्याणि मर्दयेच्च दिनम्॥
विषं च दरदश्चैव रसको रक्तकान्तकौ।
इन्द्रगोपश्च तुवरी माक्षिकं काकविट् तथा॥
कल्कमेतदधोर्ध्वं हि मध्ये सूतं निधापयेत्।
काचचूर्णं ततो दत्त्वा चान्धमूषागतं धमेत्॥
अनेन क्रामणेनैव पारदः क्रमते क्षणात्।
इदं क्रामणकं श्रेष्ठं नन्दिराजेन भाषितम्॥
ताप्यसत्त्वं तथा नागं शुद्धं क्रामणकं सदा।
बीजानि पारदश्चापि क्रमते च न संशयः॥ (१।१२१-१२६)

२. **येन विज्ञातमात्रेण वेधज्ञो जायते नरः।**
धूर्ततैलमहेः फेनं कङ्गणीतैलमेव च॥
भृङ्गीतैलं विषं चैव तैलं जातीफलोद्भवम्।
हयमारशिफातैलमब्धेः शोषकतैलकम्॥
एतान्यन्यानि तैलानि विद्धि वेधकराणि च।
सिद्धसूतेन च समं मर्दितं वेधकृद् भवेत्॥ (१।१२७-१२९)

वेधन कर्म पाँच प्रकार का है[1]—लेपवेध, क्षेपवेध, कुन्तवेध, धूमवेध और शब्द-वेध। (क) **लेपवेध** पारा वह है, जो ताँबे, लोहे आदि के महीन पत्रों पर लेप कर दिया जाय, और फिर अन्धमूषा में उसे तपाये और ठंडा कर लें, तो लोहा सोना बन जाय। (ख) पिघले ताँबे या पिघली चाँदी में जिस पारे को छोड़ने पर ताँबा या चाँदी, सोना बन जाय उसे **क्षेपवेध** पारा कहते हैं। (ग) सीसा, चाँदी या ताँबे को अलग पात्र में पिघलाया जाय, और वेधवाले पारे को अलग पात्र में पिघलाया जाय, और फिर दोनों को मिलाकर वेध किया जा सके, तो इस पारे को **कुन्तवेध** कहेंगे। (घ) जिस पारे के धूम के स्पर्श मात्र से धातुएँ सोना या चाँदी बन जायँ, उसे **धूमवेध** पारा कहते हैं। (ङ) जिस पारे के स्पर्श से ही ध्वनि निकलने लगे, उसे **शब्दवेध** पारा कहते हैं।[2]

रसरत्नसमुच्चय में शब्दवेध के लक्षण इस लक्षण से भिन्न हैं। लोहे आदि धातु के थोड़े से भाग को अग्नि पर पिघलाया जाता है, उसे मुख में रखे हुए पारद (वेध समर्थ पारद गोली) से एक नली के द्वारा फूँक के जोर से धमने से वह धातु स्वर्ण या चाँदी में परिवर्तित हो जाती है, इसको शब्दवेध कहते हैं।[3]

१. लेपवेधस्तथा क्षेपः कुन्तवेधस्तथैव च।
धूमाख्यः शब्दवेधः स्यादेवं पञ्चविधः स्मृतः॥ (१।१३०)

२. (क) सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कलधूतभवानि च।
कल्केन लेपितान्येवं ध्मापयेदन्धमूषया॥
शीतीभूते तमुत्तार्य लेपवेधश्च कथ्यते। (१।१३१–१३२)

(ख) द्रुते ताम्रेऽथवा रूप्ये रसं तत्र विनिक्षिपेत्॥
विध्येत तेन सहसा क्षेपवेधः स कथ्यते। (१।१३२–१३३)

(ग) द्रावयेन्नागरूप्यं च ताम्रं चैव तथाऽपरान्॥
पारदोऽन्यतमे पात्रे द्राविते़ऽत्र नियोजितः।
वेधते कुन्तवेधः स्यादिति शास्त्रविदब्रवीत्॥ (१।१३३–१३४)

(घ) धूमस्पर्शेन जायन्ते धातवो हेमरूप्यकौ।
धूमवेधः स विज्ञेयो रसराजस्य निश्चितम्॥ (१।१३५)

(ङ) बद्धे रसवरे साक्षात् स्पर्शनाज्जायते रवः।
तथैव जायते वेधः शब्दवेधः स कथ्यते॥ (१।१३६)

३. मुखस्थितरसेनाल्पलोहस्य धमनात्खलु।
स्वर्णरूप्यत्वजननं शब्दवेधः स कीर्तितः॥ —रसरत्नसमुच्चय (८।९५)

१८. **सेवन**—सेवन के अन्तर्गत वे सब विवरण आते हैं, जिनके उपयोग से पारा रोगों में खाने के योग्य बन जाता है। यदि पारे का शास्त्रीय विधि से सेवन किया जाय, तो यह सिद्धि देनेवाला होता है, अन्यथा यह घोर विष है और मनुष्य को मार डालता है। पहले वमन करे, फिर रेचन ले, फिर मृत अभ्रक का सेवन करे और तब पारे का सेवन करे।[1]

रसबन्ध

रसप्रकाशसुधाकर के द्वितीय अध्याय में रसबन्ध का विवरण है। यह वर्णन यशोधर ने बहुत कुछ तो अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर किया है, उसे कुछ ज्ञान गुरु से भी मिला था।[2] जिन क्रियाओं के करने से पारे की चंचलता और दुर्ग्राह्यता दूर होती हैं, उन्हें रसबन्ध कहते हैं। चार प्रकार का रसबन्ध बताया गया है—जलौकाबन्ध, खोठबन्ध, पाटबन्ध और भस्मबन्ध।[3] इनमें से जलौकाबन्ध तो पक्वबन्ध है (**रसरत्नसमुच्चयकार** केवल २५ बन्ध मानते हैं, यद्यपि उन्होंने लिखा है कि कुछ आचार्य्य २६ बन्ध मानते हैं, और २६वाँ जलौकाबन्ध है। यह मनुष्य की देह में प्रयोग नहीं होता, केवल स्त्रियों को वश में लाने के लिए या द्रवित करने के लिए काम में आता है[4])। खोटक में पारा पिष्टी के समान हो जाता है, पाटबन्ध में पर्पटिका (पपड़ी) के समान और भस्मबन्ध में धूल के समान।[5]

१. **यत्नेन सेवितः सूतः शास्त्रमार्गेण सिद्धिदः।**
अन्यथा भक्षितश्चैव विषवन्मारयेन्नरम्॥
आदौ तु वमनं कृत्वा पश्चाद्रेचनमाचरेत्।
ततो मृताभ्रं भक्षेत पश्चात्सूतस्य सेवनम्॥
सम्यक् सूतवरः शुद्धो देहलोहकरः सदा।
सेवितः सर्वरोगघ्नः सर्वसिद्धिकरो भवेत्॥ (१।१३८–१४०)

२. **अथेदानीं प्रवक्ष्यामि रसराजस्य बन्धनम्।**
अनुभूतं मया किञ्चिद् गुरूणां हि प्रसादतः॥ (२।१)

३. **बन्धश्चतुर्विधः प्रोक्तो जलौका खोटपाटकौ।**
तथा भस्माभिधः साक्षात् कथितोऽपि रसागमे॥ (२।२)

४. **केचिद्वदन्ति षड्विंशो जलौकाबन्धसंज्ञकः।**
स तावन्नेष्यते देहे स्त्रीणां द्रावेऽतिशस्यते॥ (रसरत्न समु० ११।६४)

५. **पक्वबन्धो जलौका स्यात्पिष्टीस्तम्भस्तु खोटकः।**
पाटः पर्पटिकाबन्धो भस्मभूतिसमो भवेत्॥ (२।३)

ओषधियों की जड़ों के रस के प्रयोग से पारे का जो बन्ध किया जाता है वह उत्तम है। वज्र सत्त्व, अभ्रक या मणियों की सहायता से पारे का जो बन्ध करते हैं, वह मध्यम है। स्वर्णादि धातुओं के साथ जो बन्ध किया जाता है, वह अधम है, तथा सीसा और रांगा के समान जो बन्ध किया जाता है, वह अधमाधम है।[1] यशोधर ने पारे के पाँच प्रकार के मूलिकाबन्ध, दो प्रकार के वज्रबन्ध या मणिबन्ध, अभ्रकद्रुतिबन्ध, हेमद्रुतिबन्ध, वज्रद्रुति बन्ध, और पूतिबन्ध सहित पाँच प्रकार के धातुबन्ध अपने ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में दिये हैं। उदाहरण के लिए हम यहाँ एक धातुबन्ध देते हैं——

पारा, कान्तलोह, तीक्ष्णलोह, अभ्र सत्त्व, ताप्य सत्त्व और सोना इन सबको बराबर मात्रा में ले और नीबू के रस में घोटे तथा एक दिन रस में भीगा रहने दे, फिर इसका गोला बना ले। पक्व मूषा के भीतर इस गोले को रखे। फिर गोजिह्वा, काकमाची, निर्गुण्डी, दुग्धिका, कुमारी, और मेघनादा के रस में जिसमें मधु और नमक भी मिला दिया गया हो, इसका स्वेदन तब तक करे जब तक गोले में दृढ़ता न आ जाय।[2]

पारा और उसकी भस्म

रसप्रकाशसुधाकर के तीसरे अध्याय में यशोधर ने पारे की सफेद, काली, पीली और लाल चार रंग की भस्मों का उल्लेख किया है।[3]

१. मूलिका च मणिश्चैव स्वर्णकं नागवंगके।
चत्वार एते सूतस्य बन्धनस्याथ कारणम्।
उत्तमो मूलिकाबन्धो मणिबन्धस्तु मध्यमः।
अधमो धातुबन्धस्तु पूतिबन्धोऽधमाधमः॥ (२।४–५)

२. रसेन्द्रं कान्तलोहं च तीक्ष्णलोहं तथैव च॥
अभ्रसत्त्वं तथा ताप्यसत्त्वं हेमसमन्वितम्।
समांशानि च सर्वाणि मर्दयेन्निम्बुकद्रवैः।
निषेचयेद्दिनैकं तु पश्चाद् गोलं तुकारयेत्।
पक्वमूषा प्रकर्तव्या गोलं गर्भे निवेशयेत्।
गोजिह्वा काकमाची च निर्गुण्डी दुग्धिका तथा।
कुमारी मेघनादा च मधुसैन्धवसंयुता। एतासां स्वरसेनैव स्वेदयेद् बहुशो भिषक्।
यावद् दृढत्वमायाति तावत्स्वेद्यं तु गोलकम्॥ (२।१०१–१०५)

३. अथ मया रसभस्म निगद्यते सकलसूतसुशास्त्रनियोगतः।
ससितकृष्णसुपीतसुलोहितं भवति वर्णचतुष्टयभूषितम्॥ (३।१)

भस्मों का विवरण देने से पूर्व दरद (Cinnabar) से जो काले और लाल रंग का मरक्यूरिक सलफाइड है, पारा निकालने की विधि दी है। दरद को नीबू के रस के साथ घोटकर, फिर उसमें लोहे की रज और खड़िया मिलाकर दूध और नमक के साथ मर्दन करके डमरूयंत्र में गरम करते हैं। ऊपर से ठंडा पानी छोड़ते रहते हैं। ऐसा करने से शुद्ध पारा प्राप्त हो जाता है।[1]

रसकर्पूर (Calomel)—इसे बनाने के लिए आठ पल अच्छा पारा ले और इसमें खड़िया, नमक, और कांक्षी (सौराष्ट्री मिट्टी) ४-४ पल और आठ पल शुद्ध स्फटिक मिलावे। फिर पानी के साथ इसे घोटकर नमक और अम्ल जल मिलावे। फिर जो धातु पदार्थ प्रकट हो, उसे मूषा में रखकर डमरूयंत्र में बारह घड़ी तक पकावे। इस प्रकार रसकर्पूर बन जाता है।[2]

रक्तरस (Red sulphide)—गन्धक को लोहे के खर्पर पर ले, और इसमें अभ्रकसत्त्व का चूर्ण (अमलसार रज) छोड़े। गरम करके गन्धक आदि को गला ले, फिर इसमें पारा छोड़े और लोहे की दर्वी (कलछुल) से इसे बराबर घोटता जाय। फिर काँच की कुप्पी में भरकर बालू-यंत्र पर रखकर नीचे से गरम करे। इस प्रकार पारे की लाल भस्म (पारे का लाल सलफाइड) बनती है।[3]

१. दरद अत्र सुरक्तसुशोभितो निखिल निम्बुरसेन विमर्दितः।
नियतयामचतुष्टयमम्लके घनरसे समभागविलोडितः ॥
डमरुकाभिधयन्त्रनिवेशितस्तदनु लोहरजः खटिकासमम्।
सुपयसा लवणेन विमर्दितं कुरु भिषग्वर! यन्त्रसुरोधनम् ॥
नियतयामचतुष्टयमग्निना मृदुसमं रसमत्र विपाचयेत्।
उपरि तत्र जलेन निषिञ्चयेदिति भवेद् दरदाद्वरसूतकः ॥ (३।२–४)

२. विमल सूतवरो हि पलाष्टकं तदनु धातुखटीपटुकांक्षिकाः।
पृथगिमाश्च चतुष्पलभागिकाः स्फटिकशुद्धपलाष्टसमन्विताः ॥
सह जलेन विमर्द्य च यामकं लवणकाम्लजलेन विमिश्रिताः।
उदितधातुगुणस्य च मूषिकां कुरु विषं विनिवेशय तत्र वै ॥
डमरुकाभिधयन्त्रवरेण तं द्विदशयाममुपाचय वह्निना।
पवनपित्तकफक्षयकारकः सकलरोगहरः परमः सदा ॥ (३।६–८)

३. रसविदाऽपि रसः परिशोधितो विगतदोषकृतोऽपि हि गन्धकः।
विमललोहमये कृतखर्परे ह्यमलसाररजःपरिमुच्यताम् ॥

इसी प्रकार उदयभास्कर रस, पारे और गन्धक को नीबू के रस में सिलपर धूप में घोटकर काँच की घटी में बालुका यंत्र पर गरम करने से बनता है।[1]

यशोधर ने इस प्रसंग में रसमाणिक्य, रसपोटली, कृष्णभस्म, रसपर्पटी आदि अनेक पारद भस्मों के विवरण दिये हैं।

धातुओं का शोधन-मारण

यशोधर ने **रसप्रकाशसुधाकर** के चौथे अध्याय में धातुओं का शोधन और मारण दिया है। यह विवरण कुछ उसके अपने अनुभव के आधार पर है, और कुछ पुरानी शास्त्रपरम्परा के आधार पर।[2] आठ धातुएँ ये मानी गयी हैं--सुवर्ण, रजत, ताँबा, और अश्मसार (लोहा) ये चार शुद्ध लोह (शुद्ध धातु) हैं। नाग और वंग ये पूतिलोह हैं। सौराष्ट्र (काँसा), रीति (पीतल) और वर्त्त (भरत या रुक्म लोह)—ये तीन मिश्रलोह हैं।[3]

सोने के शोधन के लिए यशोधर ने खड़िया, नमक, काँजी, सुहागा आदि पदार्थों का निर्देश किया है। सोने के पत्रों को ले और उक्त पदार्थों का मर्दन करके बनाये

अतिकृशाग्नियुते द्रवति स्वयं तदनु तत्र रसः परिमुच्यताम् ।
विशदलोहमयेन च दर्विणा विघटयेत् प्रहरत्रयसंमितम् ।।
तदनु काचघटीं विनिवेश्य वै सिकतयन्त्रवरेण हि पाचितः ।
द्विदशयाममधः कृतवह्निना भवति रक्तरसस्तलभस्मसात् ।। (३।१५–१७)

१. विगतदोषकृतौ रसगन्धकौ तदनुलुङ्गरसेन परिप्लुतौ ।
प्रहरयुग्ममितं च शिलातले रविकरेण विमर्द्य विचूर्णितौ ।।
रुचिरकाचघटीविनिवेशितौ सिकतयन्त्रवरेण दिनत्रयम् ।।
कुरुभिषग्वर बह्निमधस्ततः स च भवेदरुणः कमलच्छविः ।
उदयभास्कर नाम रसो ह्ययं भवति रोगविघातकरः स्वयम् ।। (३।१०–१२)

२. अथेदानीं प्रवक्ष्यामि धातुशोधनमारणम् ।
अनुभूतं मया किंचित् किंचिच्छास्त्रानुसारतः ।। (४।१)

३. सुवर्णं रजतं चेति शुद्धलोहमुदीरितम् ।
ताम्रं चैवाश्मसारं च नागवंगौ तथैव च ।।
पूतिलोहं निगदितं द्वितीयं रसवेदिना ।
संमिश्रलोहं त्रितयं सौराष्ट्ररीतिवर्त्तकम् ।।
एतेऽष्टौ धातवो ज्ञेया लोहान्येवं भवन्ति च ।। (४।२–५)

गये कल्क द्वारा उन पत्रों का लेपन करे। इन्हें फिर संपुट में रखकर कोष्ठिका यंत्र द्वारा तीन पुट की कंडों की आग दे। इस प्रकार सोना शुद्ध हो जाता है।[१] स्वर्ण मारण की चार विधियाँ भी यशोधर ने दी हैं।

सोने के समान चाँदी का भी शोधन दिया गया है, और इस शोधन के निमित्त ताम्र और सीसा का उपयोग हितकर बताया गया है।[२] रजत मारण के लिए चाँदी में चार गुना पारा मिलाये, और नीबू के रस के साथ एक दिन तक घोटे। ऐसा करने से जो पिष्टि प्राप्त हो उसे मूषा में रखे और उसके ऊपर गन्धक रख दे। फिर मूषा को बालुका यंत्र द्वारा तेज आँच पर एक दिन पकावे और फिर अपने आप ठंडा होने दे। फिर सिल पर हरिताल और काँजी के साथ घोंटे। फिर बारह दिन पुट की आग दे।[३]

इसी प्रकार ताम्र, लोह, वंग, नाग, पित्तल (रीतिका), कांस्य, वर्त्तलोह आदि के शोधन और मारण का उल्लेख इस ग्रन्थ में है। पीतल को मारने के लिए मनः-

१. हीनवर्णस्य हेम्नश्च पत्राण्येव तु कारयेत् ।
खटिकापटुचूर्णं च काञ्जिकेन प्रमर्दयेत् ।
पत्राणि लेपयेत्तेन कल्केनाथ प्रयत्नतः ।
आरण्योत्पलकैः कार्या कोष्ठिका नातिविस्तृता ।
मध्ये तत्संपुटं मुक्त्वा वह्निं प्रज्वालयेत्ततः ॥
एवं पुटत्रयं दत्त्वा शुद्धं हेम समुद्धरेत् । (४।८–११)

२. ताम्रादिसंसर्गभवं त्वशुद्धं रूप्यं हि मिश्रं खलु दोषलं च ।
तच्छोधयेद्वै भसितस्य मुष्यां सीसेन सार्द्धं रजतं तु ध्मापयेत् ॥ (४।२४)

३. भागमेकं तु रजतं सूतभागचतुष्टयम् ।
मर्दयेद्दिनमेकं तु सततं निम्बुवारिणा ॥
पेषणाज्जायते पिष्टिर्दिनैकेन तु निश्चितम् ।
मूषामध्ये तु तां मुक्त्वा ह्यधोर्ध्वं गन्धकं न्यसेत् ॥
वालुकायन्त्रमध्यस्थां दिनैकं तु दृढाग्निना ।
पाचितां तु प्रयत्नेन स्वाङ्गशीतलतां गताम् ॥
तालेनाम्लेन सहितां मर्दितां हि शिलातले ।
ततो द्वादशवाराणि पुटान्यत्र प्रदापयेत् ॥
अनेन विधिना सम्यग्रजतं म्रियते ध्रुवम् । (४।२७–३१)

शिला, गन्धक, सैन्धव लवण (सिन्धूत्थ), और इसी प्रकार कांस्य और वर्त्तलोह के मारण के लिए हरिताल (orpiment) और गन्धक का प्रयोग उपयोगी बताया गया है।[1]

महारस और उपरस एवं उनका शोधन-मारण

रसप्रकाशसुधाकर के पाँचवें अध्याय में अभ्रक, ताप्य (सुवर्ण माक्षिक), वैक्रान्त, विमल, संस्यक, शिलाजतु, राजावर्त्त और रसक इन आठ महारसों के भेद, लक्षण, गुण, शोधन, मारण, और इनके सत्त्वपातन का उल्लेख किया गया है। अभ्रक चार प्रकार का बताया है—श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण, और चार भेद इस प्रकार भी किये हैं—वज्र, पिनाक, नाग और मण्डूक। वज्र अभ्रक पर आग का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, नाग अभ्रक गरम किये जाने पर साँप के समान फुफकारता है। पिनाक अभ्रक को आग पर रखें, तो इसके दल अलग-अलग हो जाते हैं। मण्डूक अभ्रक आग पर थोड़ी देर भी नहीं ठहरता, मेंढ़क के समान उछलकर यह बाहर आ जाता है।[2]

यशोधर ने अभ्रक-मारण की तीन विधियाँ दी हैं, और इस विवरण के अनन्तर उसने अभ्रक के सत्त्वपातन के दो प्रकार दिये हैं। अभ्रसत्त्व से बढ़कर और कोई उत्तम रसायन नहीं माना जाता।[3] अभ्रक में चौथाई भाग सुहागा मिलावे और मुसली के रस के साथ पीसे, फिर कोष्ठिकायंत्र में इसे फूंके या दहकावे। ऐसा करने से अभ्रक में सत्त्व रूप उत्पन्न हो जाता है। खरल में पीसकर इसका चूर्ण बना ले।

१. (क) **शिलागन्धकसिन्धूत्थरसैश्चाति प्रमर्दितैः ।**
रीतिपत्राणि लेप्यानि पुटितान्यष्टधा पुनः ॥
सद्योभस्मत्वमायाति ततो योज्या रसायने । (४।११०–१११)
(ख) **हरितालकगन्धाभ्यां म्रियते पञ्चभिः पुटैः ।** (४।११४)
(ग) **गन्धतालेन पुटितं म्रियते वर्त(कांस्य) लोहकम् ।** (४।११८)

२. (क) **वज्राभ्रं ध्मायमानेऽग्नौ विकृतिं न भजेत् कदा ।**
(ख) **पिनाकं चाग्निसंतप्तं विमुञ्चति दलोच्चयम् ।**
(ग) **नागाभ्रं ध्मापितं सम्यङ नागवत्स्फूर्जते ध्रुवम् ।**
(घ) **क्षणं चाग्नौ न तिष्ठेत मण्डूकसदृशां गतिम् ।** (५।८–१०, १२)

३. **संशुष्कं भक्षयेद् विद्वान् सर्वरोगहरं परम् ।**
अभ्रसत्त्वात्परं नास्ति रसायनमनुत्तमम् ॥ (५।२९)

फिर कपड़े से छानकर घी में डुबोकर लोह-खर्पर से (कड़ाहे में) दश बार भूँजें, और तब तक घोटता हुआ भूँजता जाय जब तक अग्निवर्ण के समान न हो जाय। फिर वट के मूल के क्वाथ या कषाय और शुकपिच्छ (गन्धक) के साथ घोटकर वाराह संज्ञक पुट द्वारा २० पुट दे। फिर वरा (त्रिफला) के कषाय के साथ वैसे ही २० पुट दे, और फिर नीली, गुञ्जा, त्रिफला, पथ्या (हर्रे), मूली आदि के रस की भावना दे, और रोगों के अनुसार इसका सेवन करे।[1]

हम यहाँ वह विस्तार नहीं दे रहे हैं, जो राजावर्त, वैक्रान्त, सस्यक, विमल, शिलाजतु, रसक और माक्षिक के शोधन, मारण, सत्त्वपातन आदि से संबंध रखता है। यशोधर ने षष्ठ अध्याय में इसी प्रकार का विवरण तालक, सौराष्ट्री, मनःशिला, अञ्जन (पाँच प्रकार के—सौवीराञ्जन, रसाञ्जन, स्रोतोऽञ्जन, पुष्पाञ्जन और नीलाञ्जन), गन्धक, कंकुष्ठ, कासीस, नवसार, विड, वराटिका (कौड़ी), अग्निजार, गिरिसिन्दूर, दरद और बोदार श्रृंग के संबंध में दिया है। इनमें से तालक (orpiment), तुवरी (alum) या सौराष्ट्री, गन्धक, कंकुष्ठ, कुनटी, मनःशिला (realgar), सौवीर (galena), गैरिक (red ochre) और खेचर या कासीस (green vitriol) ये आठ उपरस माने गये हैं।[2] मनःशिला का सत्त्वपातन इसे घी, गुड़, किट्ट, गुग्गुल इनके साथ घोटकर, पिण्डी बनाकर

१. पादांशं टङ्कणं दत्त्वा मुशलीरसमर्दितम् ।
धमापितं कोष्ठिकायन्त्रे सत्वरूपं प्रजायते ॥
खल्वे पिष्ट्वा तु मतिमान् सूक्ष्मचूर्णं तु कारयेत् ।
गालितं वस्त्रखण्डेन घृतेन च परिप्लुतम् ।
भर्जितं दशवाराणि लोहखर्परकेण वै ।
अग्निवर्णसमं यावत्तावत्पिष्ट्वा तु भर्जयेत् ॥
शुकपिच्छसमं पिष्ट्वा क्वाथे तु वटमूलजे ।
ततो विंशति वाराणि पुटेच्छूकरसंज्ञिकैः ॥
वराकषायैर्मतिमान् तथा कुरु भिषग्वर ।
नीलीगुञ्जावरापथ्यामूलकेन सुभावयेत् ॥ (५।२४–२८)
(इसी से मिलता-जुलता विवरण रसरत्नसमुच्चय में, २।३७–४१ में है।)

२. तालकं तुवरी गन्धं कंकुष्ठं कुनटी तथा ।
सौवीरं गैरिकं चैव अष्टमं खेचराह्वयम् ॥ (६।१)

कोष्ठिका यंत्र में फूँकने से तैयार होता है। अञ्जनों का सत्त्वपातन भी मन शिला के सत्त्वपातन की भाँति है।[१] सौराष्ट्री या फिटकरी का सत्त्वपातन करना हो तो इसे धान्य की काँजी में भिगोकर तीन दिन रखे, फिर क्षार और अम्ल के साथ घोटकर आग पर फूंके। इसी प्रकार कासीस का भी सत्त्वपातन होता है।[२] बोदार श्रृंग गुजरात में अर्बुद पर्वत के पास पाया जाता है, यह दल-युक्त और पीले रंग का है। बोदार श्रृंग का नाम ही **रसरत्नसमुच्चय** में मृद्दारश्रृंग (मुरदा संग) दिया हुआ है।[३]

ओषधियाँ

यशोधर ने अपने ग्रन्थ के नवम अध्याय में ओषधियों की नामावली दी है। इनमें से कुछ ओषधियों के लक्षण तो सोमदेव ने अपने ग्रन्थ में दिये हैं, विस्तारभय से यशोधर ने इनके लक्षण नहीं दिये, केवल नाम देकर ही सन्तोष किया है।[४] समस्त ओषधियों के यशोधर ने चार विभाग किये हैं---६४ दिव्यौषधियाँ, ६८ रसौषधियाँ, ६८ महौषधियाँ और ६८ रसाधिका महौषधियाँ। इन ओषधियों की सूची नीचे दी जा रही है (कहीं-कहीं ग्रन्थ में निर्दिष्ट संख्या पूरी नहीं होती)।

दिव्यौषधियाँ---सोमवल्ली, सोमवृक्ष, सोमकला, सोमलता, भूपद्मिनी, गोनसा, उच्चटा, ईश्वरीलता, भूतकेशी, कृष्णलता (१०), लशुनी, रुदन्तिका, वाराही, सप्त-

१. (क) सर्पिषा च गुडेनाथ किट्टगुग्गुलुनाऽथवा।
शिलाया अष्टमांशेन पिण्डीकृत्वा प्रयत्नः॥
ध्माता तु कोष्ठिकायन्त्रे मुञ्चेत्सत्त्वं न संशयः (६।२१-२२)
(ख) शिलायाः सत्त्ववत्सत्त्वमञ्जनानां च पातयेत्। (६।२९)

२. (क) धान्याम्ले तुवरी क्षिप्ता शुद्धयति त्रिदिनेन वै।
क्षारैरम्लैश्च मृदिता ध्माता सत्त्वं विमुञ्चति।
तत्सत्त्वं धातुवादार्थे चौषधेनोपपद्यते। (६।१५-१६)
(ख) सौराष्ट्रीसत्त्ववत्सत्त्वमेतस्यापि समाहरेत्। (६।६६)
(कासीस-सत्त्वपातन प्रकरणमें)

३. भवेद् गुर्जरके देशे सदलं पीतवर्णकम्।
अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे नाम्ना बोदार श्रृंगकम्॥ (६।८५)
(देखो रसरत्नसमुच्चय ३।१५५)

४. तास्तु लक्षणसंयुक्ताः सोमदेवेन भाषिताः।
ग्रन्थविस्तरभीत्याऽत्र नाममात्रेण कीर्तिताः॥ (९।११-१२)

पत्रा, नागिनी, सर्पिणी, छत्रिणी, गोशृंगी, ज्योति, रक्तिका (२०), पत्रवल्ली, काकिनी, चाण्डाली, ताम्रवल्लिका, पीतवल्ली, विजया, अमरीलता, नवनीता, रुद्रवल्ली, लम्बिनी (३०), भूमितुम्बिका, गान्धर्वी, व्याघ्रपादी, गोमारी, त्रिशूलिनी, त्रिदण्डी, करसी, भृंगवल्ली, चमरिका, करवल्ली लता (४०), वज्रांगी, चिरवल्ली, रोहिणी, बिल्विनी, भूतशोचनी, मार्कण्डी, करीरी, अक्षरा, कुटजा, मूलकन्दा (५०), अम्बुवल्ली, मुनिवल्ली, घृतगन्धा, निम्बुवल्ली, तिलकन्दा, आतसीलता, बोधवल्ली, सत्त्वगन्धा, कूर्मवल्ली, माधवी (६०), विशाला, महानागी, मण्डूकी और क्षीरगन्धिका (६४)।

रसौषधियाँ--जलोत्पला, चिञ्चिका, जलापामार्गमांसिका, जलकुम्भी, मेघनादा, ईश्वरी, अपराजिता, माला, अर्जुनी, वेणुका (१०), शिखिपादी, तिक्तिका, काश्मरी, अतिविषा, समङ्गा, जालिनी, तुषाम्बुका, दुर्गन्धा, पापाणी, शुकनासिका (२०), वनमाली, वराही, गोजिह्वा, मुशली, पटोली, शठिका, मूर्वा, पाटली, जलमूलका, रसा (३०), अजमारी, शीशिका, सितगन्धिनी, पोतकी, विषघ्नी, बृहती, गुरडी, तुलसी, विदारी, मञ्जिष्ठा (४०), चित्रपालिका, जलपिप्पलिका, भार्गी, मण्डूकी, उत्तमा, चन्द्रोदका, सारिवा, हरिणी, कुक्कुटा, सर्पाक्षी (५०), हंसपादी, वनकुष्माण्डवल्लिका, मर्कस्फोटी, धन्वयास, पागव, स्थलसारिणी, अर्धचन्द्रा, हेमपुष्पी, मोहिनी, वज्रकन्दिका (६०), अलम्बुषा, हलिनी, रसचित्रा, नन्दिनी, वृश्चिकाली, गुडूची, वासा और शृंगी (६८)।

महौषधियाँ--ऋद्धि, शोषिणी, अधोगुप्ता, श्रावणी, सारिवा, ज्योतिष्मती, तेजवती, रास्ना, वाकुची, बिम्बिका (१०), विषाणिका, अश्वगन्धा, वर्षाभू, शरपुष्पिका, बला, अतिबला, नागबला, दन्ती, महाबला, द्रवन्ती (२०), नीलिनी, शतपुष्पा, प्रसारिणी, वरा, शतावरी, एला, हपुषा, सातला, त्रिवृत्, स्वर्णक्षीरी (३०), तुगा, पृथ्वी, विशाला, नलिका, आमली, इन्द्रवारुणी, काकाह्वा, सिन्दुवार, अजमोदिका, त्रायमाणा (४०), आसुरी, शंखपुष्पी, गिरिकर्णिका, धातकी, कदली, दूर्वा, अम्लिका, कासमर्दिका, जन्तुपादी, निर्गुण्डी (५०), द्राक्षा, नीलोत्पल, शमी, नालिकेरी, खर्जूरी, फल्गु, शिंशी, मल्लिका, वार्षिकी, शाल्मली (६०), जाती, ग्रीष्मवर्षा, यूथिका, केकिचूडा, अजगन्धा, लक्ष्मणा, तरुणी (६७)।

रसाधिका महौषधियाँ--देवीलता, कालवर्णी, विजया, आसुरी, सिंहिका, पालाशतिलका, क्षेत्री, संवीरा, ताम्रवल्लिका, नाही (१०), कन्या, सोमराजिका, टुटुम्भटी, कुबेराक्षी, गृध्रनखी, पर्पटी, छिद्रलम्बिका, क्षुत्कारी, दुग्धिका, भृङ्गी (२०), गंगेटी, शरपुंखिका, अष्टावल्ली, राजशमी, पनसी, जयन्तिका, विषखर्परिका, अवन्ती,

काकाण्डोला, अम्बुमूलिका (३०), सिद्धेश्वरी, हंसपादी, खोटका, शृंगरीटिका, अधःपुष्पी, मधुरा, शृंखला, गुञ्जनी, जारावली, महाराष्ट्री (४०), सहदेवेश्वरी, काष्ठगोधामती, देवगन्धारी, रजनी, इंगुदी, पलाशिनी, नाकुली, काम्बोजी, अश्विनी, चक्रवल्ली (५०), सर्पदंष्टा, शल्लकी, रोहिता, तौवरी, वङ्गजा, राजपद्मा, जम्बीर-वल्लिका, गजपिप्पलिका, भृंगवल्ली, अर्कवल्ली (६०), जन्तुकारा, शिग्रवल्ली, करवीरा शिवाटिका, नाराची, काञ्चनी, अजगन्धा (६७)।

यंत्र

यशोधर ने केवल यन्त्रों का नाम ही दिया है, उनका विवरण नहीं दिया। उनके दशम अध्याय से ३९ यंत्रों की यह सूची हम नीचे दे रहे हैं--

दोलायंत्र, पलभलीयंत्र, ऊर्ध्वपातन यंत्र, अधःपातन यंत्र, तिर्यक्पातन यंत्र, घटीयंत्र, गर्भ यंत्र, इष्टका यंत्र, जलयंत्र, खल्व यंत्र (१०), डमरुयंत्र, चिपिट यंत्र, तुला यंत्र, लवण यंत्र, कोष्ठिका यंत्र, अन्तरालिक यंत्र, धूपयंत्र, नाभिक यंत्र, ग्रस्तयंत्र, विद्याधर यंत्र (२०), कुण्डक यंत्र, ढेकी यंत्र, सोमानल यंत्र, निगड यंत्र, किन्नर यंत्र, भैरव यंत्र, बालुका यंत्र, पाताल यंत्र, भूधर यंत्र, सारणा यंत्र (३०), गुह्य यंत्र, गन्धपिष्टक यंत्र, कूपीयंत्र, पालिका यंत्र, दीपिका यंत्र, स्थालीयंत्र, भस्मयंत्र, देवयंत्र, घाणिकायंत्र, और हंसपाक यंत्र (४०), (यंत्रों की यह संख्या ३९ नहीं, प्रत्युत ४० निकलती है।)

रसरत्नसमुच्चय आदि ग्रन्थों के प्रकरण में हमने इनमें से कुछ यंत्रों का विवरण दे दिया है। पादटिप्पणी में हम **रसेन्द्रचूडामणि** (अध्याय ५) से कुछ यंत्रों का विवरण और दे रहे हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलता या कम ही मिलता है।[1]

१. पलभली यन्त्र--

यत्र लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम्। तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम्॥
पूर्वपात्रोपरि न्यस्य स्वल्पपात्रे परिक्षिपेत्। रसं संमूर्च्छितं स्थूलपात्रमापूर्य काञ्जिकैः॥
द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे। तत्स्यात्पलभलीयंत्रं रससाद्‌गुण्यकारकम्॥

जलयंत्र--अभ्रक-ग्रासमान के संबंध में इसका विवरण हम पहले इसी रसप्रकाश-सुधाकर (१।६९-७४) से दे आये हैं। रसेन्द्रचूडामणि में इसका नाम कच्छप यंत्र है।

आन्तरालिक यंत्र--कृत्वा लोहमयीं मूषां वृन्ताकाकारसंयुताम्।
वितस्त्या संमितां कान्तलोहेन परिनिर्मिताम्॥

यंत्रों की नामावली देने के अनन्तर यशोधर ने मूषाओं का वर्णन कुछ विस्तार से दिया है--योगमूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रूप्यमूषा, विडमूषा, वज्रमूषा, वृन्ताकमूषा, गोस्तनी मूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, महामूषा, मञ्जूषमूषा, गर्भ मूषा,

मुण्डलोहोद्भवां वाऽपि कण्ठाधो द्वयङ्गुलादधः ।
द्वयंगुलं वलयं दद्यान्मध्यदेशेन कण्ठतः ।।
पिधानाधारकं चिञ्चापत्रविस्तीर्णकङ्कणम् ।
पिधानमन्तराविष्टं संमुखं श्लिष्टसन्धिकम् ।।
तलप्रविहितच्छिद्रं भाण्डं कृत्वा ह्यधोमुखम् ।
भाण्डवक्त्रं ततो मूर्ध्नि निरुन्ध्य च विशोष्य च ।।
स्थालीकण्ठे ततो दद्यात्पुटमग्निविधायकम् ।
एवं रूपं भवेद्यन्त्रमन्तरालिक संज्ञकम् ।
अनेन जारयेद् गन्धद्रुतिं गर्भद्रुतिं तथा ।।

कुंडक यंत्र को रसरत्नसमुच्चय में कन्दुक यंत्र कहा है।

किन्नर यंत्र--किन्नरं यन्त्रमादाय ओषध्या लेपयेत्तलम् ।
नवसारयुतं सूतं यन्त्रमध्यगतं न्यसेत् ।।
दद्याद्रसोपरि स्रावं सन्धिलेपं दृढं मृदा ।
लवणेन च संपूर्य द्वारं निरुध्य यत्नतः ।।
वह्निकोपरि संस्थाप्य दीप्ताग्निं ज्वालयेत्सुधीः ।।
याममेकं समुत्तार्य कर्त्तव्यः शीतलो रसः ।
यन्त्रादुद्धृत्य यत्नेन सूतं मूर्च्छाय मूर्च्छितम् ।।

पातालयंत्र--हस्तप्रमाणं निम्नं च गर्तं कृत्वा प्रयत्नतः ।
तस्मिन् भाण्डं च संस्थाप्य तथाऽन्यं पात्रमाहरेत् ।
तस्मिन्नौषधवर्गं च दत्त्वाऽन्यं च शरावकम् ।
मुखे संस्थाप्य छिद्राणि कृत्वा चैव शरावके ।।
शरावसहितं पात्रं गर्तस्थे भाजने न्यसेत् ।
सन्धिलेपं ततः कृत्वा गर्तमापूर्य मृत्स्नया ।।
पश्चादग्निं च प्रज्वाल्य स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ।
पश्चात्तत्पात्रमध्यस्थं पात्रं युक्त्या समाहरेत् ।।

और मुशलमूषा। यशोधर का मूषाओं का विवरण **रसरत्नसमुच्चय** के वर्णन से बहुत कुछ मिलता जुलता है। **रसेन्द्रचूडामणि** ग्रन्थ में भी इसी प्रकार का विवरण है।

सत्त्वपातन कार्य में आनेवाली कोष्ठिकाओं का भी यशोधर ने सूक्ष्म विवरण दिया है। इस संबंध में अंगार कोष्ठिका,[1] पाताल कोष्ठिका[2] और गार कोष्ठिका के लक्षण दिये हैं।

तदन्तःस्थं च तत्तैलं गृह्णीयाद् विधिपूर्वकम्।
पातालाख्यमिदं यंत्रं भाषितं शम्भुना स्वयम्॥

सारणायंत्र—यशोधर ने प्रथम अध्याय में स्वयं इसका विवरण दिया है।

भस्मयंत्र—भाण्डं वितिस्तगंभीरं मृण्मयं सुदृढं नवम्।
आदाय, भस्मनापूर्य अर्धं तत्र निधाय च॥
गोलकं तालकादीनां, शेषं पूर्याथ भस्मना।
भाण्डवक्त्रं पिधायाथ मृदा सम्यग्विमुद्रय च॥
सन्धिं कुर्यादधो वह्निं भस्मयन्त्रमुदीरितम्॥

१. अङ्गारकोष्ठिका नाम राजहस्तप्रमाणका।
द्वादशांगुलविस्तारा चतुरस्रा प्रकीर्तिता॥
वेष्टिता मृण्मयेनाथ एकभित्तौ च गर्तकम्।
वितस्तिमानं द्वारं च सार्धवैतस्तिकं दृढम्॥
अधोभागे विधातव्या देहली धमनाय वै।
प्रादेशमात्रा भित्तिः स्यादुत्तरङ्गस्य चोर्ध्वतः॥
प्रादेशमात्रं कर्त्तव्यं द्वारं तस्योपरि ध्रुवम्।
द्वारं चेष्टिकया रुद्ध्वा सन्धिरोधं च कारयेत्॥
पूरयेत्कोकिलैस्तां तु भस्त्रिकां प्रधमेत्खलु।
कोकिलाधमनद्रव्यमूर्ध्वद्वारे विनिक्षिपेत्॥
एषा चाङ्गारकोष्ठी च खराणां सत्त्वपातनी। (१०।३०-३५)
(देखो, रसरत्नसमुच्चय १०।३३-३८)

इस उद्धरण में कोयले के लिए कोकिला शब्द का प्रयोग हुआ है, रसरत्नसमुच्चय में शिखिज शब्द का व्यवहार हुआ है।

२. गर्तं खनेद्दृढं भूमौ द्वादशांगुलमात्रकम्।
तन्मध्ये वर्तुलं गर्त्तं चतुरंगुलकं दृढम्।
खर्परं स्थापयेत्तत्र मध्यगर्त्तोपरि दृढम्।

अन्त में अपने दशम अध्याय में यशोधर ने महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुट-पुट, कपोतपुट, गोवर पुट, मृद्माण्ड पुट, बालुका पुट, भूधर पुट और लावक पुट के लक्षण दिये हैं। यह वर्णन भी **रसरत्नसमुच्चय** के वर्णन के समान है।

हीन धातुओं से स्वर्ण आदि धातुओं का बनाना

इस क्रिया को धातुओं का कौतुक कहा गया है। यशोधर ने **रसप्रकाशसुधाकर** के एकादश अध्याय में कुछ विवरण अपने निजी अनुभव से दिया है, कुछ सुन-सुनाकर अथवा अन्य शास्त्रों से लेकर।[1] यशोधर ने इस संबंध में हेमकरण या हेमक्रिया की अष्टादश विधियाँ दी हैं, जिनसे सोने-ऐसी चीज़ तैयार हो सकती है। चार विधियाँ नीचे दी जाती हैं—

१. रसक (calamine), दरद (cinnabar), ताप्य (golden pyrites), गगन (mica) और कुनटी (realgar) इन्हें बराबर बराबर लेकर, लाल सेंहुड के दूध में सात दिन तक घोटे। फिर २४ घड़ी तक जलयंत्र में इसे पकाये। इस प्रकार सहस्रवेधी कल्क मिलेगा, जो पिघले ताँवे, चाँदी या सीसे को निस्सन्देह सोना बना देगा।[2]

२. एक भाग पारे को, पाँच भाग वज्रवल्ली और त्रिदण्डी के रस के साथ बेंत या रागिणी (अशोक) की मूसली के साथ खरल में मर्दन करे। ऐसा करने से जो

आपूर्य कोकिलैर्गर्तं प्रधमेदेकभस्त्रया ।
पातालकोष्ठिका सा तु मृदुसत्त्वस्य पातनी ॥ (१०–३५।३७)
वितस्तिप्रमिता निम्ना प्रादेशप्रमिता तथा ।
उपरिष्टात्पिधानं तु भूरिच्छिद्रसमन्वितम् ॥
गर्तमापूर्य चाङ्गारैः प्रधमेद् वङ्कनालतः ।
गारकोष्ठी समुद्दिष्टा सत्त्वपातनहेतवे ॥ (१०।३८–३९)

१. **अथातः संप्रवक्ष्यामि धातूनां कौतुकं परम् ।**
स्वानुभूतं मया किञ्चित् किञ्चिद्वै शास्त्रतः श्रुतम् ॥ (११।१)

२. **रसकं दरदं ताप्यं गगनं कुनटी समम् ॥**
रक्तस्नुहीपयोभिश्च मर्दयेद्दिनसप्तकम् ।
जलयन्त्रेण वै पाच्यं चतुर्विंशतियामकम् ॥
तेन वेध्यं द्रुतं ताम्रं तारं वा नागमेव वा ।
सहस्रवेधी तत्कल्को जायते नात्र संशयः ॥ (११।२–४)

पीला कल्क मिलता है उसे पिघले ताँबे में सोलहवाँ भाग मिलाये तो सुन्दर सोना बन जाता है ।[1]

३. काँजी में स्वर्णमाक्षिक का तीन दिन तक स्वेदन करे फिर चर्मरंगी के रस में सात दिन तक घोटे, और फिर पानी से तब तक घोटे जब तक सोने के समान न हो जाय ।[2]

४. रोम देश के दरद का गोमूत्र के साथ दोलायंत्र में चार घड़ी तक स्वेदन करे। ऐसा करने से यह शुद्ध हो जायगा । लाल मनःशिला को अगस्त्य के फूल के रस के साथ दोलायंत्र में आधी घड़ी तक स्वेदन करने से वह शुद्ध हो जाती है। नवसार (नौसादर) और पारे को निम्ब, मातुलुंग (बिजौरा नीबू) और घृतकुमारी के रस के साथ धूप में मर्दन करे, फिर जल यंत्र में तीन दिन तक तेज़ आँच पर पकाये, तो इस प्रकार शतवेधी पदार्थ मिलेगा, जो चाँदी को सोने में परिणत कर देगा ।[3]

१. **एकभागस्तथा सूतो वज्रवल्ल्याऽथ मर्दितः ।**
खल्वे त्रिनेम्याः स्वरसे पञ्चभागसमन्विते ॥
वेत्रयष्ट्या च रागिण्या पीतकल्कं प्रजायते ।
षोडशांशेन दातव्यं द्रुते ताम्रे सुशोधिते ॥
जायते प्रवरं हेम शुद्धं वर्णचतुर्दशम् । (११-५-७)

२. **सुवर्णमाक्षिकं स्वेद्य काञ्जिके दिवसत्रयम् ॥**
चर्मरङ्ग्या रसेनैव मर्दयेद्दिनसप्तकम् ।
जलेन धौतं तावच्च यावद्धेमनिभं भवेत् ॥(११।७-८)

३. **दरदं रोमदेशीयं गोमूत्रेणैव स्वेदयेत् ।**
दोलायन्त्रे चतुर्यामं पश्चाच्छुद्धतमो भवेत् ॥
मनःशिला पद्मनिभा रक्ता चैव सुशोभना ।
स्वेदिता मुनिपुष्पस्य रसेनैव तु दोलया ॥
याममर्धमितं शुद्धा, सर्वकार्येषु योजयेत् ।
नवसारस्तथा सूतः शोधितोऽग्निसहः खलु ॥
समभागानि सर्वाणि मर्दयेन्निम्बजैः रसैः ।
मातुलुङ्गरसेनैव कुमारीस्वरसेन च ।
सूर्यातपे विमर्द्योऽसौ पाचितो जलयन्त्रके ।
दिनानि त्रीणि तीव्राग्नौ ततस्तदवतारयेत् ।

तारक्रिया अर्थात् चाँदी बनाने की भी सत्रह विधियाँ लिखी हैं। एक विधि यहाँ दी जाती है—एक पल लोहचूर्ण में सुमल-क्षार और सुहागा मिलाकर एरण्ड तैल के साथ दो घड़ी तक घोटे, फिर कल्क का गोला बनाकर धौंकनी से धौंके। इस प्रकार लोहा गलकर पारे के समान हो जायगा। इसमें रसक की उचित मात्रा मिलाये, और वज्रमूषा में लोहे और रसक के मिश्रण को गलाये, फिर उतारकर उसे यदि ताँबे में मिलाया जाय, तो शुद्ध चाँदी बन जायगी।[1]

कृत्रिम मोती बनाना—यशोधर ने इसी अध्याय में बनावटी मोती और बनावटी मूँगा बनाने की विधि दी है। एक विधि छोटे मोती को बड़े करने की भी है।

मछली की आँख निकालकर दूध में पकाये, फिर पुतली निकालकर साफ कर ले, फिर ईंट के चूर्ण से मर्दन करे। ऐसा करने से मोती उत्पन्न हो जायँगे। यशोधर ने स्वयं इसका प्रयोग करके देखा।[2]

कृत्रिम मूँगा बनाना—शुद्ध शंख के चूर्ण को महीन पीसे और इसका आधा भाग दरद का चूर्ण पीसे, फिर पारे में मिलाकर भेड़ के ताजे दूध के साथ मर्दन करे। फिर

शतांशं वेधयेत्तारं शुद्धं हेम प्रजायते ।
जलभेदो यदा न स्यान्नात्र कार्या विचारणा ।। (११।९–१४)

१. लोहचूर्णं पलमितं सुमलक्षारमाभ्रकम् ।
टङ्कणं शाणमानं हि तैलेनैरण्डजेन वै ।।
घर्षयद् घटिकायुग्मं गोलं कृत्वा धमेत्ततः ।
भस्त्रया ध्मापयेत्सम्यग्लोहं रसनिभं भवेत् ।।
तल्लोहं त्रिगुणं चैव रसकं कारयेत्सुधीः ।
लोहं च रसकं पश्चाद् गालितं वज्रमूषया ।।
लोहशेषं समुत्तार्य ताम्रे दद्याच्च वल्लकम् ।
गद्याणके भवेत्तारं तत्तारं शुद्धतारके ।।
अर्धभागे भवेच्छुद्धं तारं दोषविवर्जितम् । (११।३७–४१)

२. नेत्राण्याहृत्य मत्स्यानां पक्त्वा दुग्धेन यामकम् ।
पश्चादाकृष्णकणकानाकृष्य किल कण्डयेत् ।
तानि शालिसमेतानि तावच्छुभ्राणि कारयेत् ।।
पश्चादिष्टकचूर्णेन हस्ते कृत्वा प्रमर्दयेत् ।
मौक्तिकानि हि जायन्ते कृतान्येवं मया खलु ।। (११।११९–१२१)

इसकी बत्ती बना ले, फिर बिनौले (कपास के बीजों) में स्वेदन करे। आग से उतारकर अपने आप शीतल होने दे। ऐसा करने पर कृत्रिम मूँगा बन जाता है।[1]

निर्देश

यशोधर—**रसप्रकाशसुधाकर**—यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित, बंबई (१९११)।

१. शुद्धशंखस्य चूर्णं हि सूक्ष्मं कृत्वा प्रयत्नतः ।
अर्धभागं च दरदं चूर्णयेन्मतिमांस्ततः ।
सद्यः सूताविकक्षीरं तेन दुग्धेन मर्दयेत् ॥
वर्तिं विधाय मतिमान् कार्पासास्थिषु स्वेदयेत् ।
स्वाङ्गशीतं समुत्तार्य प्रवालं रुचिरं भवेत् ॥ (११।१३४–१३५)

बीसवाँ अध्याय

रसरत्नसमुच्चय में रसायन का विस्तार

(तेरहवीं से पंद्रहवीं शती के बीच का काल)

रसरत्नसमुच्चय ग्रन्थ वाग्भट की रचना है। कहा जाता है कि इन्होंने आयुर्वेद संबंधी चार-पाँच ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें से **अष्टांगहृदय** और **रसरत्नसमुच्चय** ये दो ही इस समय उपलब्ध हैं। अधिकतर विद्वान् **अष्टांगहृदय** के रचयिता को **रसरत्नसमुच्चय** के रचयिता से भिन्न मानते हैं। वाग्भट को सिंहगुप्त का पुत्र माना जाता है--'सुनूना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः।' इस ग्रन्थ का निश्चित समय निर्धारित करना तो कठिन है, सन् १३०० से १५०० के बीच की यह रचना हो सकती है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ में जो मंगलाचरण दिया है, वह जगत् के प्रधान भिषक्-स्वरूप पारद की स्तुति का प्रतीक है।[1] यह ग्रन्थ दो खंडों में विभाजित है--पूर्व खण्ड और उत्तर खण्ड। सम्पूर्ण ग्रन्थ में तीस अध्याय हैं--पूर्व खंड में ११ और शेष उत्तर खंड में १९। रसायन शास्त्र के विद्यार्थियों की दृष्टि से पूर्व खंड विशेष महत्त्व का है, और चिकित्सकों की दृष्टि से उत्तर खंड।

परम्परा--ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने २७ व्यक्तियों की नामावली देकर अपने से पूर्व की रसायनपरम्परा की ओर संकेत किया है।[2] इन २७ व्यक्तियों को

१. यस्याऽऽनन्दभवेन मंगलकलासंभावितेन स्फुरद्-
धाम्ना सिद्धरसामृतेन करुणावीक्षासुधासिन्धुना।
भक्तानां प्रभवप्रसंहृतिजरारागादिरोगाः क्षणाच्-
छांति यान्ति जगत्प्रधानभिषजे तस्मै परस्मै नमः॥ (१।१)

अर्थ--शिव-पार्वती के संभोगरूपी आनन्द से उत्पन्न, मंगलमय कलाओं से युक्त, अत्यन्त तेजोवान्, सिद्ध रसामृत से परिपूर्ण, कृपादृष्टिरूप, सुधा के सागर, जिसके यथाविधि सेवन करनेवाले भक्त जरा, रागादि रोगों से क्षण में शान्ति पाते हैं, जगत् के प्रधान वैद्यस्वरूप पारद को नमस्कार है।

२. १।२-४

रससिद्धि-प्रदायक बताया गया है—'सप्तविंशतिसंख्याका रससिद्धिप्रदायकाः ।' यह नामावली निम्न प्रकार है—

१. आदिम	१०. रत्नकोष	१९. सुरानन्द
२. चन्द्रसेन	११. शंभु	२०. नागबोधि
३. लंकेश	१२. सात्त्विक	२१. यशोधन
४. विशारद	१३. नरवाहन	२२. खण्ड
५. कपाली	१४. इन्द्रद	२३. कापालिक
६. मत्त	१५. गोमुख	२४. ब्रह्मा
७. माण्डव्य	१६. कलम्बली	२५. गोविन्द
८. भास्कर	१७. व्याडि	२६. लम्पक
९. शरसेन	१८. नागार्जुन	२७. हरि

वाग्भट के समय में अनेक आचार्यों के रसग्रन्थ विद्यमान थे, जिनको देखकर और जिनमें से संकलन करके यह ग्रन्थ रचा गया ।[1] वाग्भट के पूर्ववर्ती इन तन्त्रकारों की सूची इस प्रकार है[2] —

१. रसांकुश	५. मन्थानभैरव	९. रसेन्द्रतिलक	१३. महादेव
२. भैरव	६. काकचण्डीश्वर	१०. योगी	१४. नरेन्द्र
३. नन्दी	७. वासुदेव	११. भालुकी	१५. वासुदेव
४. स्वच्छन्दभैरव	८. ऋषिश्रृंग	१२. मैथिल	१६. हरीश्वर

क्रियातन्त्रों के इन रचयिताओं की परम्परा चरक-सुश्रुत की परम्पराओं से बिलकुल भिन्न है । इस परम्परा पर बौद्धों और तान्त्रिकों दोनों का प्रभाव है ।

पारे की उत्पत्ति

वाग्भट शिव-पार्वती का उपासक है, वह पारे का शिवलिंग बनाकर पूजा

१. एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्त्राण्यालोक्य संग्रहः ।
रसानामथ सिद्धानां चिकित्सार्थोपयोगिनाम् ॥
सूनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः ॥ (१।८)

अर्थ—इनके तथा अन्य आचार्यों के तन्त्रों का अवलोकन करके सिंहगुप्त का पुत्र मैं चिकित्सा करने के लिए परमोपयोगी सिद्ध रसों के संग्रह इस रसरत्नसमुच्चय का निर्माण करता हूँ ।

२. १।५–९

करने का भी विधान देता है--पारे के बने लिंग का नाम रसलिंग है। जो मनुष्य पारे का शिवलिंग बनाकर भक्तिसहित पूजा करता है, उसे तीनों लोक में स्थित शिवलिंगों के पूजन का फल मिलता है।[१] पारे के दर्शन से वह पुण्य बताया गया है जो सौ अश्वमेधों के करने या करोड़ों गाय एवं सहस्र मन सोना दान करने से होता है।[२] मूर्च्छित पारा रोगों को हरता है, बद्ध पारा मुक्ति देता है और मृत पारा अमर बना देता है, अतः सूत (पारे) से बढ़कर और कौन करुणाकर हो सकता है।[३] मुक्ति यथार्थ ज्ञान से होती है, ज्ञान के लिए योगाभ्यास चाहिए पर योगाभ्यास स्थिर-देह (स्वस्थ देह) में ही हो सकता है। देह की यह स्थिरता बिना पारे के प्राप्त नहीं हो सकती। अन्य वनस्पतियों और धातुओं से बनी ओषधियाँ दाह्य, क्लेद्य और शोष्य होने के कारण स्वयं अस्थिर स्वभाव वाली हैं।[४]

पारे में सभी ओषधियों का समावेश माना गया है। काष्ठौषधियों का समावेश नाग (सीसे) में है, नाग का वंग में, वंग का शुल्व (ताँबे) में, शुल्व का तार (चाँदी) में, तार का कनक (सोना) में और कनक सूत (पारे) में लीन हो जाता है, अतः पारा ही सर्वोपरि है।[५]

पारे को शिव का प्रतीक और गन्धक को पार्वती या गौरी का प्रतीक मानते हैं। जीवन्मुक्ति की इच्छा रखनेवाले योगियों को चाहिए कि इन हर-गौरी के द्वारा अपने शरीर को दिव्य बना लें।[६]

१. विधाय रसलिंगं यो भक्तियुक्तः समर्चयेत् ।
जगत्त्रितयलिंगानां पूजाफलमवाप्नुयात् ।। (१–२३)

२. १।२२

३. मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति ।
अमरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः करुणाकरः सूतात् ।। (१।३३)

४. मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात्स च स्थिरे देहे ।
तत्स्थैर्ये न समर्थं रसायनं किमपि मूल लोहादि ।
स्वयमस्थिरस्वभावं दाह्यं क्लेद्यं च शोष्य च ।। (१।३८–३९)

५. काष्ठौषध्यो नागे नागो वंगेऽथ वंगमपि शुल्बे ।
शुल्बं तारे तारं कनके कनकं च लीयते सूते ।। (१।४०)

६. तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम् ।
दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात् ।। (१।५९)

पारे की उत्पत्ति की एक कथा **रसरत्नसमुच्चय** में आती है। एक बार शिव और पार्वती इतने क्षोभकारी संभोग में लीन थे कि देवता डर गये। उन्होंने अग्नि को प्रसन्न किया। यह अग्नि कबूतर बनकर कामक्रीड़ा स्थल पर गया। कबूतर को देखते ही शिव लज्जित हुए और उन्होंने सम्भोग त्यागते हुए अपना स्खलित वीर्य हाथ में लेकर अग्नि के मुख में डाल दिया। वीर्य का तेज न सह सकने के कारण अग्नि गंगा में कूद पड़ा। गंगा भी यह तेज न सह सकीं और उन्होंने भी लहरों द्वारा इसे बाहर फेंक दिया। जहाँ जहाँ पृथ्वी पर यह गिरा, वहाँ अनेक धातुएँ उत्पन्न हो गयीं और अग्नि के मुख से जहाँ वह वीर्य गिरा वहाँ पाँच कुएँ बन गये। तब से उन कुओं में रहनेवाला यह वीर्य पाँच प्रकार का हो गया।[१]

उसके लिए प्रयुक्त पाँच नाम ये हैं--रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक।[२] (१) रस नामक पारा रक्त या लाल रंग का होता है और सब दोषों से मुक्त होने के कारण इसे रसायन कहते हैं। (२) रसेन्द्र पारा श्याव (कुछ नीला-सा), रुक्ष और अत्यन्त चंचल होता है। रस और रसेन्द्र दोनों से भरे हुए कुओं को देवता और नागों ने मिट्टी-पत्थर से पाट दिया, अतः ये दोनों कठिनता से मिलते हैं। (३) सूत नामक पारा पीला सा, रुक्ष और दोषरहित है। यह तभी गुणकारी होता है, जब १८ संस्कारों द्वारा सिद्ध कर लिया गया हो। (४) अन्य कुओं से निकलनेवाले पारे को पारद कहते हैं, यह चंचल और श्वेत वर्ण का होता है। (५) मिश्रक पारा मोरपंख के चँदोवे के समान रंग का होता है। इसे भी व्यवहार में लाने से पूर्व १८ संस्कारों द्वारा संस्कृत कर लेना चाहिए।[३]

जरा, रोग और मृत्यु को नाश करने के लिए पारे का सेवन करते हैं (रस्यते), इसलिए पारे को **रस** कहते हैं। समस्त रसों और उपरसो का राजा होने से इसे **रसेन्द्र** कहते हैं। शरीर और लोह आदि धातुओं की सिद्धि करनेवाला होने के कारण (सिद्धिं सूते), इसे **सूत** कहते हैं। रोगों के कीचड़ से बने सागर के यह पार लगा देता है, इसलिए इसे **पारद** कहते हैं। क्योंकि इस पारे में समस्त धातुओं का तेज मिला हुआ (मिश्रित) है, अतः इसे **मिश्रक** कहते हैं।[४]

१. १।६०–६६

२. **रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा।**
इति पंचविधो जातः क्षेत्रभेदेन शम्भुजः ॥(१।६७)

३. १।६८–७३ ४. १।७६–७८

रसायन शास्त्र का अध्ययन

गुरु और शिष्य——रसायन शास्त्र का ज्ञान क्रम के अनुसार होना चाहिए, क्योंकि क्रम के बिना शास्त्र नहीं, और शास्त्र के बिना क्रम भी नहीं है[1]। रसशास्त्र के सिखानेवाले को स्वयं रसशास्त्र-विशारद और रसकर्म में कुशल होना चाहिए। उसे शिव और देवी दोनों का भक्त होना चाहिए और यज्ञ कार्य्य में भी निपुण होना चाहिए।[2]

आचार्य के सहायों (assistants) को भी उद्यमशील और शिष्य से अधिक गुणवान् तथा स्वामिभक्त होना चाहिए।[3]

शिष्य गुरुभक्त, सदाचारी, सत्यवादी, दृढ़व्रत, निरालस, आज्ञापालक, दम्भहीन, मात्सर्यहीन एवं सद्गुणों से युक्त होने चाहिए।[4] जो शिष्य गुरु से अथवा अन्य से चोरी से, छल-छद्म से विद्या सीखना चाहते हैं, वे नास्तिक, दुराचारी, धूर्त और लम्पट हैं और उन्हें मणि-मंत्र-ओषधि आदि में कोई सिद्धि नहीं प्राप्त होती।[5]

रसमंडल और रसवेदी——रसकार्य के लिए रसशाला आतंकरहित देश में और ऐसे नगर में होनी चाहिए जहाँ धर्म की व्यवस्था हो, जो मनोरम हो और जहाँ शिव-पार्वती के उपासक हों। उक्त नगर में चार द्वारोंवाला सुन्दर उपवन होना

१. न क्रमेण विना शास्त्रं न शास्त्रेण विना क्रमः।
शास्त्रं क्रमयुतं ज्ञात्वा यः करोति स सिद्धिभाक्॥ (६।२)

२. आचार्यो ज्ञानवान्दक्षोः रसशास्त्रविशारदः।
मंत्रसिद्धोः महावीरो निश्चलः शिववत्सलः॥
देवीभक्तः सदा धीरो देवतायागतत्परः।
सर्वाम्नायविशेषज्ञः कुशलो रसकर्मणि॥ (६।३–४)

३. सहायाः सोद्यमास्तत्र तथा शिष्यास्ततोऽधिकाः।
कुलीनाः स्वामिभक्ताश्च कर्त्तव्या रसकर्मणि॥ (६।७)

४. गुरुभक्ताः सदाचाराः सत्यवंतो दृढव्रताः।
निरालस्याः स्वधर्मज्ञाः सदाऽऽज्ञापरिपालकाः॥
दम्भमात्सर्यनिर्मुक्ताः कुलाऽऽचारेषु दीक्षिताः॥ (६।५–६)

५. नास्तिका ये दुराचाराश्चुंबका गुरुतोऽपरात्।
विद्यां ग्रहीतुमिच्छन्ति चौर्यच्छद्मखलोत्सवात्॥
न तेषां सिध्यते किंचिन्मणिमंत्रौषधादिकम्।
कुर्वन्ति यदि मोहेन नाशयंति स्वकं धनम्॥ (६।८–९)

चाहिए। रसशाला लम्बी, चौड़ी, अत्यन्त रमणीक, सम्यक् वातायनों (Ventilators या खिड़की) से युक्त और दिव्य चित्रों से अलंकृत होनी चाहिए। उसके समीप ही प्रकाशवाले स्थान में रसमंडप बनाना चाहिए। यह मंडप अति सुरक्षित, सुविस्तीर्ण, कपाट (किवाड़) एवं अर्गल (दर्वाजा बन्द करने के लिए लकड़ी का दृढ़ तख्ता, मूसल या डण्डा) से युक्त होना चाहिए। मंडल के बीच में रम्य वेदी तैयार करनी चाहिए।[1] (६।१३–१८)

रसशाला में रसलिंग स्थापन की विधि बतायी गयी है। यह लिंग सोने के पत्र (३ निष्क) और पारे (९ निष्क) को खरल में घोटकर बनाया जाता था और दोला-यंत्र में जंबीर (नीबू) के रस में पकाकर इसे दृढ़ करते थे।[2]

पूजा की वेदी के ऊपर सिन्दूर से षट्कोणोंवाला मंडप बनाया जाता था, और फिर आठ दलवाला कमल बनाते थे। वेदी के चारों द्वारों पर चतुरस्र मंडल बनाते थे। मंडल की कर्णिका के बीच में लोहे का बना खरल स्थापित करते थे। इस खरल में १००, ५० या २५ पल पारा लेकर पूजा करते थे। षड्दल कमल में निम्न ६ पदार्थों की स्थापना करते थे——वज्र (हीरा), वैक्रान्त, वज्राभ्रक, कान्त पाषाण (चुम्बक), टंकण (सुहागा) और भूनाग। इनके आगे क्रम से ८ उपरसों की स्थापना होती थी——गन्धक, तालक (हरिताल), कासीस, मनःशिला, कंकुष्ठ, अंजन, राजावर्त्त और गैरिक (गेरू) (४ दिशाओं और ४ कोणों में)। फिर अष्टदल मंडल की पँखुड़ियों के अग्रभाग में क्रमशः आठ महारस——रसक (खपरिया), विमला (रूपामाखी), ताप्य (सोनामाखी), चपला, तुत्थ (तूतिया), अंजन, हिंगुल और सस्यक——इनकी स्थापना होती थी। वेदी के पूर्व द्वार पर सोने और चाँदी से, दक्षिण द्वार पर ताम्र और सीसे से, पश्चिम द्वार पर वंग और कान्तलोहे से और उत्तर द्वार पर मुण्डलोह और तीक्ष्ण लोह से पूजा होती थी।

१. तत्र शाला प्रकर्तव्या सुविस्तीर्णा मनोरमा।
सम्यग्वातायनोपेता दिव्या चित्रैर्विचित्रिता।
तत्समीपे समे दीप्ते कर्त्तव्यं रसमण्डपम्।
अतिगुप्तं सुविस्तीर्णं कपाटार्गलशोभितम्॥ (६।१३–१४)

२. निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम्।
अम्लेन मर्दयेद् यामं तेन लिंगं तु कारयेत्॥
दोलायंत्रे सारनाले जंबीरस्थं दिनं पचेत्।
तल्लिगं पूजयेत्तत्र सुशुभैरुपचारकैः॥ (६।१७–१८)

रसमण्डप में अन्य जिन पदार्थों की स्थापना होती थी, वे निम्न हैं——विड, काँजी, यंत्र, क्षार, मृत्तिका, लवण, कोष्ठी, मूषा, वंकनाल, तुष, अंगार (कोयला), वनोपल (उपले, कंडे), भस्त्रिका (धौंकनी), दण्डिका, शिला, खरल, उलूखल, स्वर्णकार के उपकरण, समस्त तुले हुए मिट्टी, काठ, ताम्र, लोह आदि से वने पात्र, दिव्य ओषधियाँ, रंजक (रंग), स्नेह (घी और तेल)। द्वार से बाहर इनकी पूजा होती थी।[1]

रसशाला, वेदी, उपकरण आदि की तैयारी हो जाने पर रससिद्ध आचार्यों के नामों का उच्चारण होता था। इस संवंध में २७ आचार्यों के नाम हैं[2]——

१. व्यालाचार्य	१०. माण्डव्य	१९. शंभु
२. चन्द्रसेन	११. चर्पटी	२०. लंक
३. सुबुद्धि	१२. सूरसेनक	२१. लम्पक
४. नरवाहन	१३. आगम	२२. शारद
५. नागार्जुन	१४. नागबुद्धि	२३. बाणासुर
६. रत्नघोष	१५. खण्ड	२४. मुनिश्रेष्ठ
७. सुरानन्द	१६. कापालिक	२५. गोविन्द
८. यशोधन	१७. कामारि	२६. कपिल
९. इन्द्रधूम	१८. तान्त्रिक	२७. बलि

परम्परा की जो सूची प्रारम्भ में दी जा चुकी है (२७ रससिद्धों की), उसमें और इस सूची में बहुत समानता है——चन्द्रसेन, लंकेश (लंक), विशारद (शारद), माण्डव्य, शूरसेन (सूरसेनक), रत्नकोष (रत्नघोष), शंभु, नरवाहन, इन्द्रद (इन्द्रधूम), नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधी (नागबुद्धि), यशोधन, खण्ड, कापालिक, गोविन्द और लम्पक ये १७ नाम दोनों सूचियों में एक या एक-से हैं। पहली सूची के १० नाम——आदिम, कपाली, मत्त, भास्कर, सात्त्विक, गोमुख, कम्बली, व्याडि, ब्रह्मा और हरि——इस सूची में नहीं हैं। इनके अतिरिक्त व्यालाचार्य, सुबुद्धि, चर्पटी, आगम, कामारि, तान्त्रिक, बाणासुर, मुनिश्रेष्ठ, कपिल और बलि——ये १० नाम इस सूची में अधिक हैं।

रसशाला——जहाँ पर सब ओषधियाँ मिलायी जायँ, जहाँ कोई विघ्न-बाधा न हो, जहाँ निकट में कुआँ या पानी का और कोई प्रबन्ध हो ऐसे उत्तर, ईशान या पूर्व भाग में रसशाला बनानी चाहिए। रसशाला की पूर्व दिशा में रसभैरव की स्थापना करे,

१. ६।४७–४९
२. ६।५१–५३

आग्नेय दिशा में वह्निकर्म (आग्निसार्य) करे, दक्षिण दिशा (याम्य) में पाषाणकर्म, नैर्ऋत्य में शस्त्रकर्म और पश्चिम दिशा में क्षालन कर्म, वायव्य दिशा में शोषण कर्म, उत्तर दिशा में वेधक कर्म, एवं ईशान दिशा में सिद्ध वस्तुओं का स्थापन और पदार्थों का संग्रह करे।[1]

रससाधन में आवश्यकीय पदार्थ

रसरत्नसमुच्चय के सातवें अध्याय में निम्न आवश्यक उपकरणों का संग्रह रस-कर्म के लिए बताया गया है[2]—

१. सत्त्वपातन कोष्ठी (सत्त्वपातन की मूषा)—Extraction Kosthi.
२. सुराकोष्ठी—Distillation Kosthi.
३. भूमिकोष्ठी (स्थिर)—Kosthi fixed on ground.

१. रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते ।
सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते ॥
यक्षत्र्यक्षसहस्राक्षदिग्विभागे सुशोभने ।
नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम् ॥
शालायाः पूर्वदिग्भागे स्थापयेद्रसभैरवम् ।
वह्निकर्माणि चाग्नेये याम्ये पाषाणकर्म च ॥
नैर्ऋत्ये शस्त्रकर्माणि वारुणे क्षालनादिकम् ।
शोषणं वायुकोणे च वेधकर्मोत्तरे तथा ॥
स्थापनं सिद्धवस्तूनां प्रकुर्यादीशकोणके ।
२. पदार्थसंग्रहः कार्यो रससाधनहेतुकः ॥ (७।१–४)
सत्त्वपातनकोष्ठीं च सुराकोष्ठीं सुशोभनाम् ।
भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रौण्योऽप्यनेकशः ॥
भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नालिके वंशलोहयोः ।
स्वर्णायोघोषशुल्वाश्मकुण्डचश्चर्मकृता तथा ॥
करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत् ।
कण्डणीपेषणी खल्वाद्रोणीरूपाश्च वर्तुलाः ॥
आयसास्तप्तखल्वाश्च मर्दकाश्च तथाविधाः ॥
सूक्ष्मच्छिद्रसहस्राढ्या द्रव्यगालनहेतवे ।
चालनी च कटत्राणि शलाका हि च कुण्डली ॥ (७।५।–१०)

४. चलकोष्ठी (चल)—Moving Kosthi

५. जलद्रोणी (अनेक) या जल भरने के पात्र—Water-containers

६. दो मिट्टी या लोहे की भस्त्रिका (भट्टी)—Furnace or stove

७. दो नालिका (फूंकनी)—Blow pipe.

८. सोने, लोहे, काँसे, ताँबे, पत्थर और चमड़े की बनी कुण्डियाँ—bowls and dishes of gold, iron, bronze, copper, stone or leather.

९. कण्डनी—(ओखली)

१०. पेषणी—Grinding stone

११. द्रोणीरूप या वर्तुल खरल (खल्व, या खल्ल)—Mortar round or of the shape of an oblong bowl

१२. तप्त खल्व (लोहे के)—Hot iron mortars

१३. मर्दक—Iron pestles

१४. द्रव्य के गालन के (छानने के) लिए हज़ारों महीन छेदोंवाली चालनी—Sieves with thousands of pores for filtering liquid

१५. कटत्र—Sharp files for cutting

१६. शलाका—Round files or rods

१७. कुण्डली—Coils

चालनी (Sieves)—चालनी या चलनी तीन प्रकार की बतायी गयी हैं। उनका रूप इस प्रकार है—(१) वेणु या बेंत की शलाकाओं से निर्मित और डोरी से अच्छी तरह बँधी हुई—यह स्थूल द्रव्यों को छानने (गालन—Filteration) के काम आती है। (२) बाँस (वंश) या किसी अन्य पदार्थ की चूर्ण छानने की (for filtering powders) चलनी। (३) कनेर, शाल्मली (सेमल), चन्दन या हाथीदाँत की चार अंगुल ऊँची, चारो ओर बकरे के चर्म से मढ़ी हुई, एक बालिश्त लंबी एक बालिश्त चौड़ी चलनी, जिसके तल भाग को घोड़े के बालों या वस्त्र से बाँध दिया गया हो और जो कुंडली के समान गहरी हो। यह अत्यन्त सूक्ष्म चूर्ण छानने के लिए है।[१]

१. चालनी त्रिविधा प्रोक्ता तत्स्वरूपं च कथ्यते।
वैणवीभिः शलाकाभिर्निर्मिता ग्रथिता गुणैः।

कोयला एवं कंडे या उपले--(Dung-cakes for fire)--रसशाला में मूषा, मिट्टी, तुष (भुस), कार्पास (बिनौला), वनोपलक और पिष्टक (गोबर आदि के कंडे) संग्रह करने का उल्लेख है।

रसशाला में ओषधियाँ तीन प्रकार की हों--धातुज, प्राणिज (जैव) और वनस्पतिज (मूलज)।

रसशाला में शिखित्र (कोयला), गोबर, शर्करा (बालू) और सितोपला (सफेद रेत) हो।

कोयलों के विभिन्न नाम ये हैं--शिखित्र, पावकोच्छिष्ट, अंगार और कोकिल। जो कोयले बिना पानी के बुझाए जाते हैं, उन्हें कोकिल कहते हैं।

सूखे हुए कंडों या उपलों के नाम ये हैं--पिष्टक, छगण, छाण, उपल, उत्पल, गिरिण्डोपल और साठी।[1]

कूपिका और चषक--रसशाला के संग्रह में काच, लोहे, मिट्टी और कौडियों से बनी हुई कूपिकाएँ (बोतलें) और चषक (प्याले) होने चाहिए। कूपिकाओं के विभिन्न नाम ये हैं--कूपिका, कुपिका, सिद्धा, गोला और गिरिण्डिका।

कीर्तिता सा सदा स्थूलद्रव्याणां गालने हिता ॥
चूर्णचालनहेतोश्च चालन्यन्यापि वंशजा ।
कर्णिकारस्य शाल्मल्या हरिजातस्य कम्बया ॥
चतुरंगुलविस्तारयुक्तया निर्मिता शुभा ।
कुण्डल्यरत्निविस्तारा छागचर्माभिवेष्टिता ॥
वाजिबालाम्बरानद्धतला चालनिकापरा ।
तया प्रचालनं कुर्याद् धर्त्तुं सूक्ष्मतरं रजः ॥(७।१०-१३)

१. मूषामतुषकार्पासवनोपलकपिष्टकम् ।
त्रिविधं भेषजं धातुजीवमूलमयं तथा ॥
शिखित्रा गोबरं चैव शर्करा च सितोपला ।
शिखित्राः पावकोच्छिष्टा अंगाराः कोकिला मताः ॥
कोकिलाश्चेतिताङ्गारा निर्वाणाः पयसा बिना ।
पिष्टकं छगणं छाणमुपलं चोत्पलं तथा ॥
गिरिण्डोपलसाठी च संशुष्कछगणाभिधाः । (७।१४-१७)

चषक या प्यालों के विभिन्न नाम ये हैं--चषक, कटोरी, वाटिका, खारिका, कंचोली और ग्राहिका ।[1]

संग्रह योग्य अन्य पदार्थ--रसशाला के संग्रह में वेणु, (बाँस या बेंत) के बने हुए शूर्प (सूप) आदि पात्र, छोटी कौड़ी (क्षुद्र क्षिप्र), शंखिका (शंख), क्षुरप्र (तेज़ छुरी), पाक्य (पाककर्म के पात्र) और शाकच्छेदन (वनस्पतियों और ओषधियों को काटने) के उपयोग के पालिका और कर्णिका के समान अस्त्र (जैसे हँसिया, दराँती, सरौता, गड़ाँसा आदि) होने चाहिए। रसशाला में झाड़ू देने या सम्मार्जन से आरंभ करके रसपाक के अन्त तक जितने कर्म हैं, सबके उपयोग की आवश्यकीय वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए।[2]

खरल, खल, खल्ल या खल्व

अर्धचन्द्रोपम खरल--रसशाला में कूटने, घोटने आदि कामों के लिए खरल और उसके मूसल (मुशल) का विशेष उपयोग है। खरल १० अंगुल ऊँचा (उत्सेध में), १६ अंगुल लम्बा (आयामवान्), १० अंगुल चौड़ा (विस्तार में), और ७ अंगुल गहरा (निम्न) होना चाहिए। उसकी पाली (किनारा) दो अंगुल ऊँची होनी चाहिए। खरल के साथ घर्ष (मूसल) १२ अंगुल का होना चाहिए।

इस खरल में पाँच पल (२० तोले) पारा डालकर घोट लिया जाय, तो खरल शुद्ध हो जाता है।[3]

१. **काचायोमृद्वराटानां कूपिका चषकानि च ।
कूपिका कुपिका सिद्धा गोला चैव गिरिण्डिका ॥
चषकं च कटोरी च वाटिका खारिका तथा ।
कंचोली ग्राहिकी चेति नामान्यनेकार्थानि हि ॥** (७।१८-२०)

२. **शूर्पादिवेणुपात्राणि क्षुद्राः क्षिप्राश्च शंखिकाः ।
क्षुरप्राश्च तथा पाक्यो यच्चान्यत्तत्र युज्यते ॥
पालिका कर्णिका चैव शाकच्छेदन शस्त्रकाः ।
शालासम्मार्जनाद्यं हि रसपाकान्तकर्म यत् ॥
तत्रोपयोगी यच्चान्यत् तत्सर्वं परविद्यया ॥** (७।२०-२२)

३. **उत्सेधे स दशांगुलः खलु कलातुल्यांगुलायामवान्
विस्तारेण दशांगुलो मुनिमितैर्निम्नस्तथैवांगुलैः ।**

वर्तुल खल्व——१२ अंगुल लंबा-चौड़ा, चिकने पत्थर का, ४ अंगुल गहरा, गोल और बीच में अत्यन्त चिकना जो खरल बनता है उसे वर्तुल खल्व कहते हैं। इसका मर्दन (मूसल) नीचे के भाग में चपटा और ऊपर के भाग में पकड़ने योग्य (सुग्राही) होना चाहिए।[1]

तप्त खल्व–Hot mortar–यह ९ अंगुल विस्तार का और ६ अंगुल गहरा लोहे का बनाया जाता है और इसका मर्दक (मूसल) ८ अंगुल लम्बा होता है। इस खल्व की जैसी आकृति हो, उसी के अनुकूल चूल्हा बनाकर उसमें कोयला (अंगार) भरना चाहिए और उसके ऊपर तप्त खल्व को रखना चाहिए। चूल्हे (चुल्ली) के पास बैठकर भस्त्रिका (धौंकनी) से आग को फूँकना चाहिए। फिर उस खल्व में ओपधियों के साथ मर्दित पारे की पिष्टि क्षार अथवा अम्लों के साथ मिलाकर अच्छी तरह घोटनी चाहिए। इस प्रकार स्वेदन करने से प्रत्येक रस की पिष्टि तत्काल द्रवरूप पतली होकर बहने लगती है।

यह खल्व यदि कान्तायस (कान्त लोह) का बनाया जाय तो और भी अधिक उपयोगी हो जाता है। इसमें सिद्ध किया हुआ रस करोड़ों गुना अधिक लाभप्रद होता है।[2]

पल्यां द्व्यंगुलविस्तरश्च मसृणोऽतीवार्द्धचन्द्रोपमो
घर्षो द्वादशकांगुलश्च तदयं खल्वो मतः सिद्धये ॥
अस्मिन् पञ्चपलः सूतो मर्दनीयो विशुद्धये ।
तत्तदौचित्ययोगेन खल्वेष्वन्येषु योजयेत् ॥ (९।८१–८२)

१. **द्वादशांगुलविस्तारः खल्वोऽति मसृणोपलः ।**
चतुरंगुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणीकृतः ॥
मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात्सुग्राहश्च शिखोपरि ।
अयं तु वर्तुलः खल्वो मर्दनेऽतिसुखप्रदः ॥ (९।८३–८४)

२. **लौहो नवाङ्गुलश्चैव खल्वो निम्नत्वे च षडङ्गुलः ।**
मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्वाभिधोऽप्ययम् ॥
कृत्वा खल्वाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम् ।
तस्यां निवेश्य तं खल्वं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् ॥
तदन्तर्मर्दिता पिष्टिः क्षारैरम्लैश्च संयुता ।
प्रद्रवत्यतिवेगेन स्वेदिता नात्र संशयः ॥
कृतः कान्तायसा सोऽयं भवेत्कोटिगुणो रसः ॥ (९।८५–८७)

मूषा या घरिया (Crucibles)

मूषा के अन्य नाम ये हैं—क्रौञ्चिका, कुमुदी, करहाटिका, पाचनी और वह्निमित्रा। यह ओषधियों के दोषों का मोषण करती है इसलिए इसे मूषा कहते हैं। मूषा मिट्टी और लोहे की बनायी जाती है।[1] मूषा और उसके पिधान (ढक्कन) की सन्धियों को (जोड़ों को) बन्द करने के काम का नाम बन्धन, सन्धिलेपन, अन्ध्रण, रन्ध्रण, संश्लिष्ट और सन्धिबंधन है।[2]

मूषा बनाने की मिट्टी—मूषा बनाने की मिट्टी पाण्डु (पीली), और अस्थूल (महीन), अथवा रेतीली (शर्करा) और लाल-पीले (शोण-पाण्डुर) रंग की होनी चाहिए। यह चिरकाल तक अग्नि का ताप सहन कर सकती है और अति श्रेष्ठ है। यदि ऐसी मिट्टी न मिले, तो वाल्मीकी (बँवई या दीमक की) या कुम्हारवाली (कौलाली) मिट्टी काम में लानी चाहिए।[3]

इस मिट्टी में तुष (भूसी) की राख, सन, कोयला, घोड़े की लीद (हय-लद्दि) मिलाकर लोहे के दण्ड से अच्छी तरह कूट लेना चाहिए। यह मिट्टी साधारण मूषा के लिए अच्छी है। वे पदार्थ जो मिट्टी में मिलाये जा सकते हैं ये हैं—श्वेताश्म (सेलखड़ी), दग्ध तुष (भूसे की राख), कोयला, सन, खीपरों का चूर्ण, लीद, किट्ट (लोहे का जंग) और काली मिट्टी।[4]

१. मूषा हि क्रौञ्चिका प्रोक्ता कुमुदी करहाटिका ।
पाचनी वह्निमित्रा च रसवादिभिरीर्यते ॥
मुष्णाति दोषान्मूषा या सा मूषेति निगद्यते ॥
उपादानं भवेत्तस्या मृत्तिका लोहमेव च ॥ (१०११–३)

२. मूषापिधानयोर्बन्धे बन्धनं सन्धिलेपनम् ।
अन्ध्रणं रन्ध्रणं चैव संश्लिष्टं सन्धिबन्धनम् ॥ (१०१५)

३. मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्कराशोणपाण्डुरा ।
चिराध्मानसहा सा हि मूषार्थमतिशस्यते ॥
तदभावे च वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते । (१०१६)

४. या मृत्तिकादग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा हयलद्दिना च ।
लौहेन दण्डेन च कुट्टिता या साधारणा स्यात्खलु मूषिकार्थे ॥
श्वेताश्मानस्तुषा दग्धाः शिखित्राः शणखर्परे ।
लद्दिः किट्टं कृष्णमृत्स्ना संयोज्या मूषिकामृदि ॥ (१०१७–८)

मूषाओं के भेद

रसरत्नसमुच्चय में १७ प्रकार की मूषाओं का उल्लेख है—वज्रमूषा, योगमूषा, वज्रद्रावणी मूषा, गारमूषा, वरमूषा, वर्णमूषा, रौप्यमूषा, विडमूषा, दूसरी वज्र-द्रावणी मूषा, वृन्ताक मूषा, गोस्तनी मूषा, मल्लमूषा, पक्वमूषा, गोलमूषा, महामूषा, मंडूक-मूषा और मुसलाख्या मूषा।

१. **वज्रमूषा**—मिट्टी ३ भाग, सन १ भाग, लीद १ भाग, दग्ध तुष १ भाग, सेलखड़ी १ भाग और लोहे का किट्ट ½ भाग; इन सबको अच्छी तरह कूट-पीसकर वज्रमूषा बनती है जो सत्वपातन के कार्य के लिए उपयोगी है।[1]

२. **योगमूषा**—दग्ध कोयला, दग्ध तुष, काली मिट्टी, वल्मीक मिट्टी और बिड, इनको मिलाकर कूट-पीस कर जो मूषा बनायी जाती है वह योगमूषा है। इसके बाहर-भीतर विड का लेप किया जाता है। इसमें सिद्ध किया गया पारा बड़ा गुणवान् होता है।[2]

३. **वज्रद्रावणी मूषा**—तालाब या नदी का चिकना गारा, केंचुओं का सत्व, सन, दग्ध तुष, इनका बराबर भाग लेकर तथा सबके बराबर मूषा की मिट्टी लेकर इन सबको भैंस के दूध के साथ घोटे, और फिर जिस यंत्र में मूषा रखनी हो, उसके ही माप के अनुसार मूषा बनाये। इस मूषा में वज्र अर्थात् हीरे के समान कठोर पदार्थों का भी द्रावण हो जाता है। इस मूषा को प्रायः क्रौञ्चिका भी कहते हैं।[3]

४. **गारमूषा**—लोहे का किट्ट १ भाग, कोयला १ भाग, सन १ भाग और गारा ६ भाग ले और काली मिट्टी में मिलाकर भैंस के दूध के साथ घोंटे। इससे

१. **मृदस्त्रिभागाः शणलद्दिभागौ भागश्च निर्दग्धतुषोपलादेः ।**
किट्टार्धभागं परिखण्डच वज्रमूषां विदध्यात्खलु सत्त्वपाते । (१०।९)

२. **दग्धाङ्गारतुषोपेता मृत्स्ना वल्मीकमृत्तिका ।**
तद्तद् बिडसमायुक्ता तद्तद् बिडविलेपिता ॥
तया या विहिता मूषा योगमूषेति कथ्यते ।
अनया साधितः सूतो जायते गुणवत्तरः ॥ (१०।१०-११)

३. **गारभूनागधौताभ्यां शणैर्दग्धतुषैरपि ।**
समैः समा च मूषा मृन्महिषीदुग्धमर्दिता ॥
क्रौञ्चिका यन्त्रमात्रं हि बहुधा परिकीर्त्तिता ।
तया विरचिता मूषा वज्रद्रावणि कोचिता ॥ (१०।१२-१३)

जो मूषा बनती है उसे गारमूषा कहते हैं। यह मूषा दो प्रहर तक अग्नि में फूंकने से भी नहीं पिघलती ।[1]

५. **वरमूषा**—थूहर की लकड़ी का कोयला (वज्रांगार), भूसी की राख, ये दोनों समान भाग लेकर, इनसे चौगुनी काली मिट्टी और उतना ही गारा मिलाकर जो मूषा बनायी जाती है, वह वरमूषा कहलाती है। यह एक प्रहर (याम)तक अग्नि सहन कर सकती है।[2]

६. **वर्णमूषा**—पत्थर रहित लाल मिट्टी को रक्त वर्ग की ओषधियों के रस या क्वाथ में घोंटकर, उससे जो मूषा बने, और उसके ऊपर वीरबहूटी के चूर्ण का लेप किया हो, उसे वर्णमूषा कहते हैं। यह धातु, उपधातु अथवा रसों के रंगों को गहरा कर देती है (वर्णोत्कर्षविधायिनी)।[3]

७. **रौप्य मूषा**—पाषाण-रहित श्वेत मिट्टी को श्वेत वर्ग की ओषधियों के रस में घोटकर, और ऊपर से वीरबहूटी के चूर्ण का लेप करके जो मूषा तैयार होती है, वह रौप्यमूषा है। यह श्वेत वर्ण को बढ़ाने के काम में आती है।[4]

८. **विडमूषा**—जिस भूमि में जैसा विड उत्पन्न होता हो, उस भूमि की मिट्टी के साथ अन्यान्य पदार्थ मिलाकर मूषा बनाये और उसके ऊपर उसी विड का लेप करे, तो विडमूषा बनेगी। देह को लोहे के समान दृढ़ बनानेवाले योगों के तैयार करने में विडमूषा का प्रयोग होता है।

१. दुग्धष्टषड्गुणगारा किट्टांगारशणान्विता ।
कृष्णमृद्भिः कृता मूषा गारमूषेत्युदाहृता ।।
यामयुग्मपरिध्मानान्नासौ द्रवति वह्निना । (१०।१४)

२. वज्राङ्गारतुषास्तुल्यास्तच्चतुर्गुणमृत्तिका ।।
गारा च मृत्तिकातुल्या सर्वेरेतैर्विनिर्मिता ।
वरमूषेति निर्दिष्टा याममग्निं सहेत सा ।। (१०।१५)

३. पाषाणरहिता रक्ता रक्तवर्गानुसाधिता ।
मृत्तया साधिता मूषा क्षितिखेचरलेपिता ।।
वर्णमूषेति सा प्रोक्ता वर्णोत्कर्षे नियुज्यते । (१०।१६)

४. पाषाणरहिता श्वेता श्वेतवर्गानुसाधिता ।
मृत्तया साधिता मूषा क्षितिखेचरलेपिता ।।
रौप्यमूषेति सा प्रोक्ता श्वेतवर्णाय शस्यते । (१०।१७)

९. **वज्रद्रावण क्रौञ्चिका** (दूसरी)—गारा १ भाग, भूनाग (केंचुए) का सत्व १ भाग, तुष (भूसी की राख) ८ भाग और सबके जोड़ के बराबर मूषा बनानेवाली मिट्टी लेकर भैंस के दूध में घोटकर उतनी बड़ी मूषा बनाये जितने बड़े यन्त्र में रखकर उसे तपाना हो। इस मूषा के ऊपर खटमल (मत्कुण) के रुधिर का लेप करके सुखाये, फिर सुगन्धबाला, नागरमोथा और आकाशबेल तीनों के क्वाथों के मिश्रण का लेप करके सुखाये। इस प्रकार वज्रद्रावण-क्रौञ्चिका नाम की मूषा बनती है।[1] यह मूषा द्रव से पूरित रहने पर चार प्रहर तक अग्नि का सहन कर सकती है।[2]

१०. **वृन्ताक मूषा**—वृन्ताक (बैगन) के आकार की मूषा बनाकर उसके उदर में १२ अंगुल लम्बी नली लगाये। वह धतूरे के फूल के समान ऊँची, सुदृढ़ और श्लिष्ट (जुड़ी हुई) होनी चाहिए। मूषा के चौड़े भाग की ओर ८ अंगुल लम्बा एक छेद बनाना चाहिए (इस छेद द्वारा ओषधि भरते हैं और फिर छेद बन्द कर देते हैं), इसको वृन्ताकमूषा कहते हैं। खर्पर आदि मृदु पदार्थों का सत्त्व निकालने में यह उपयोगी है।[3]

११. **गोस्तनी मूषा**—यह मूषा गाय के स्तन के आकार की होती है और इसका ढक्कन शिखायुक्त होता है (नीचे से मोटा और ऊपर से पतला)। सत्त्वों को द्रावण करने और शुद्ध करने में यह मूषा उपयोगी है।[4]

**१. तत्तद्भेदमृदोद्भूता तत्तद्विडविलेपिता ।
देहलोहार्थयोगार्थं विडमूषे त्युदाहृता ॥ (१०।१८)**

**२. गारभूनागधौताभ्यां तुषमृष्टशणेन च ।
समैः समा च मूषा मृन्महिषीदुग्धमर्दिता ॥
क्रौञ्चिका यन्त्रमात्रे हि बहुधा परिकीर्त्तिता ।
तया विरचिता मूषा लिप्ता मत्कुणशोणितैः ॥
बालाब्दध्वनिमूलैश्च वज्रद्रावणक्रौञ्चिका ।
सहतेऽग्निं चतुर्यामं द्रवेण व्याधिता सती ॥ (१०।१९–२१)**

**३. वृन्ताकाकारमूषायां नालं द्वादशकांगुलम् ।
धत्तूरपुष्प वच्चोर्ध्वं सुदृढं श्लिष्टपुष्पवत् ॥
अष्टांगुलञ्च सच्छिद्रं सा स्याद् वृन्ताकमूषिका ।
अनया खर्परादीनां मृदूनां सत्त्वमाहरेत् ॥ (१०।२३–२४)**

**४. मूषा या गोस्तनाकारा शिखायुक्तपिधानका ।
सत्त्वानां द्रावणे शुद्धौ मूषा सा गोस्तनी भवेत् ॥ (१०।२५)**

१२. **मल्लमूषा**—मिट्टी के दो प्याले (मल्ल) तैयार करे, एक में ओषधि रखकर दूसरे से ढक दे और फिर कपरौटी करके आग पर तपाये। इस प्रकार जो मूषा बने वह मल्लमूषा कहलाती है। पर्पटी आदि रसों के स्वेदन के लिए यह उपयोगी है।[1]

१३. **पक्वमूषा**—कुम्हार के भाण्ड (मटका आदि) के समान मूषा बनाकर उसे कुम्हार के आँवे में पका ले। इस प्रकार की मूषा को पक्वमूषा कहते हैं। पोटली आदि रसों के विपाचन में यह उपयोगी है।[2]

१४. **गोलमूषा**—मल्लमूषा के समान दो गोल निर्वक्र सकोरे बना ले। उनमें पुट देने योग्य ओषधियाँ भरकर दोनों को जोड़कर सम्पुट बना ले। यह सम्पुट बिलकुल गोल और मुखरहित हो। इसे गोलमूषा कहते हैं। यह मूषा तत्काल द्रव्यों का शोधन करनेवाली है।[3]

१५. **महामूषा**—तली में अर्थात् नीचे से कूर्पर या कछुए के आकार की पतली और ऊपर को उत्तरोत्तर चौड़ी होती जाय, और बीच में मोटे बैंगन के समान स्थूल हो, तो उसे महामूषा कहेंगे। यह मूषा लोहे और अभ्रक आदि के सत्त्वों का द्रावण करने और पुट देने के लिए प्रयोग की जाती है।[4]

१६. **मण्डूकमूषा**—यह मूषा मेंढक के आकार की, नीचे को लम्बी, चौड़ी और खोखली, ६ अंगुल परिमाण की होती है। जमीन को खोदकर उसमें यह मूषा गाड़ी जाती है और उसके ऊपर पुट देते हैं, अर्थात् ऊपर से आग जलाते हैं।[5]

१. **निर्दिष्टा मल्लमूषा या मल्लद्वितयसम्पुटात् ।**
पर्पट्यादिरसादीनां स्वेदनाय प्रकीर्त्तिता ॥ (१०।२६)

२. **कुलालभाण्डरूपा या दृढा च परिपाचिता ।**
पक्वमूषेति सा प्रोक्ता पोटल्यादिविपाचने (१०।२७)

३. **निर्वक्रगोलकाकारा पुटनद्रव्यगर्भिणी ।**
गोलमूषेति सा प्रोक्ता सत्त्वरं द्रव्यशोधिनी ॥ (१०।२८)

४. **तले या कूर्पराकारा क्रमादुपरि विस्तृता ।**
स्थूलवृन्ताकवत्स्थूला महामूषे त्यसौ स्मृता ॥
सा चायोऽभ्रकसत्त्वादेः पुटाय द्रावणाय च ॥ (१०।२९)

५. **मण्डूकाकारमूषा या निम्नतायामविस्तरा ।**
षडंगुलप्रमाणेन मूषा मण्डूकसंज्ञिका ॥
भूमौ निखन्य तां मूषां दद्यात्पुटमथोपरि ॥ (१०।३०)

१७. **मुसलाख्या मूषा**—आठ अंगुल ऊँची, गोल और तली में चपटी जो मूषा बनायी जाती है उसे मुसलाख्या मूषा कहते हैं। यह मूषा पारे को चक्र के समान बाँधने में उपयोगी है।[1]

मूषा–आप्यायन—किसी भी धातु को मूषा में भरकर द्रावण करने के लिए आग पर रखे। जब वह धातु पिघलकर द्रव हो जाय, तो उसको उसी समय आग पर से उतार ले। इस उतार लेने की क्रिया को मूषाप्यायन कहते हैं।[2]

कोष्ठियाँ[3]

धातुओं के सत्त्व निकालने के लिए और निकले हुए सत्त्वों को शुद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की कोष्ठियाँ तयार की जाती हैं। **रसरत्नसमुच्चय** में अंगार-कोष्ठी, पातालकोष्ठी, गारकोष्ठी और मूषाकोष्ठी, इन चार का उल्लेख हुआ है।

सत्त्वपातन अथवा लोह आदि किसी धातु को शुद्ध करने या गलाने के लिए उसको मूषा में भर देते हैं; वह मूषा जिस भट्ठी या कोष्ठी में रखकर तपायी जाती है, उसको कोष्ठी कहते हैं।

१. **अंगारकोष्ठी**—एक हाथ ऊँची और आधे हाथ लम्बी, चौड़ी तथा चौकोर कोष्ठी बनाये, और उसके चारों ओर मिट्टी की दीवारें बना दे। उनमें से एक दीवार या भित्ति में १ या १½ बालिश्त ऊँचाई छोड़कर एक सुदृढ़ और सुन्दर द्वार बना दे। यह अंगारकोष्ठी बन गयी। इस कोष्ठी की देहली के नीचे फूँकने के लिए यथोचित मार्ग बना दे। फिर उसी कोष्ठी के उत्तर की ओर १ बालिश्त ऊँची दीवार के ऊपर एक बालिश्त ऊँचा द्वार बना दे। इस द्वार को ईट लगाकर बन्द कर दे और द्वार-सन्धियों पर मिट्टी का लेप कर दे। इस कोष्ठी को कोयलों से भरकर दो धौंकनियों से फूँके। जब कोयला या सत्त्वपातन योग्य पदार्थ डालना हो तो ऊपर के द्वार से डाले।

१. **मूषा या चिपिटा मूले वर्त्तुलाऽष्टांगुलोच्छ्रया ।**
मूषा सा मुसलाख्या स्याच्चक्रिबद्धरसे हिता ॥ (१०।३१)

२. **द्रवे द्रवीभावमुखे मूषाया ध्मानयोगतः ।**
क्षणमुद्धरणं यत्तन्मूषाऽऽप्यायनमुच्यते ॥ (१०।२२)

३. **सत्त्वानां पातनार्थाय पातितानां विशुद्धये ।**
कोष्ठिका विविधाकारास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ (१०।३२)

जिसका सत्त्वपातन करना हो उसके एक बार में पाँच-पाँच गोले डाले। कठोर पदार्थों का सत्त्व निकालने में यह कोष्ठी उपयोगी है।[1]

२. **पातालकोष्ठी**---पक्की भूमि में एक बालिश्त माप का लम्बा-चौड़ा और गोल गड्ढा बनाये। उसके बीच में चार अंगुल चौड़ा, उतना ही गहरा और गोल ऐसा एक छोटा-सा गड्ढा और बनाये। उस गड्ढे में सत्त्व निकालनेवाले अथवा पकानेवाले पदार्थों को भरकर गड्ढे के ऊपर पाँच छिद्रोंवाली मिट्टी की चक्री (चकई) बनाकर ढँक दे। फिर उसमें गड्ढे से लेकर जमीन तक एक तिरछी नाल लगाये, जो बाहर की ओर कुछ ऊँची और गड्ढे के सामने झुकी हो। फिर इस कोष्ठी में कोयला भरकर एक धौंकनी से फूंके।

यह पातालकोष्ठी मृदु और साध्य पदार्थों के सत्त्वपातन के लिए उपयोगी है। संभवतः इस कोष्ठी का प्रचलन नन्दी नामक रसाचार्य ने किया था।[2]

१. **राजहस्तसमुत्सेधा तदर्धायामविस्तरा ।
चतुरस्रा च कुड्येन वेष्टिता मृन्मयेन च ।।
एकभित्तौ चरेद् द्वारं वितस्त्याभोगसंयुतम् ।
द्वारं सार्धवितस्त्या च सम्मितं सुदृढं शुभम् ।।
देहल्यधो विधातव्यं धमनाय यथोचितम् ।
प्रादेशप्रमिता भित्तिरुत्तरङ्गस्य चोर्ध्वतः ।।
द्वारं चोपरि कर्त्तव्यं प्रादेशप्रमितं खलु ।
ततश्चेष्टिकया रुद्ध्वा द्वारसन्धिं विलिप्य च ।।
शिखित्रैस्तां समापूर्य्य धमेद् भस्त्राद्वयेन च ।
शिखित्राम् धमनद्रव्यमूर्ध्वद्वारेण निक्षिपेत् ।।
सत्त्वपातनगोलांश्च पञ्च पञ्च पुनः पुनः ।
भवेदंगारकोष्ठीयं खराणां सत्त्वपातिनी ।। (१०।३३–३८)**

२. **दृढभूमौ चरेद्गर्त्तं वितस्त्या सम्मितं शुभम् ।
वर्तुलं चाथ तन्मध्ये गर्तमन्यं प्रकल्पयेत् ।।
चतुरंगुलविस्तारं निम्नत्वेन समन्वितम् ।
गर्ताद्धरणिपर्यन्तं तिर्यङ्नालसमन्वितम् ।।
किञ्चित्समुन्नतं बाह्य-गर्ताभिमुखनिम्नगम् ।
मृच्चक्रीं पञ्चरन्ध्राढ्यां गर्भंगर्तोदरे क्षिपेत् ।।
आपूर्य कोकिलैः कोष्ठीं प्रधमेदेकभस्त्रया ।**

३. गारकोष्ठी—यह बारह अंगुल गहरी और प्रादेश माप की (ग्यारह अंगुल) लम्बी, लोटे के समान आकारवाली होती है। इसका कण्ठ चार अंगुल ऊँचा बनाया जाय और उसमें एक वलय (कड़ा) लगा हो। इस कड़े के ऊपर बहुत से छेदोंवाली एक थाली ढक दे।

इस कोष्ठी में कोयला डालकर बंक-नाल से फूँके। बंकनाल मूषा बनाने की मिट्टी से बनायी जाती है। यह एक हाथ लम्बी और दृढ़ होती है। भट्ठी की ओर झुके हुए उसके मुख में पाँच अंगुल लम्बी, नीचे को झुकी एक और नाल लगा दी जाती है। इस प्रकार **वंकनाल** बनती है।[1]

गारकोष्ठी धातुओं के मैल को अलग करनेवाली और सत्त्व निकालने के लिए उपयोगी है। कठोर पदार्थों को इसमें फूँका जा सकता है।

४. मूषाकोष्ठी—सिद्ध रसों के पाक के लिए एवं मृदु द्रव्यों के शोधन के लिए इसका उपयोग होता है। यह बारह अंगुल ऊँची और चार अंगुल विस्तार की होती है। इसे तिरछा रखकर फूँकते हैं।[2]

पुट

रस, उपरस, धातु, उपधातु आदि को कितना गरम किया जाय, अर्थात् उसके पाक का परिमाण क्या हो यह जानना पुट कहलाता है। आवश्यक यह है कि औषध

पातालकोष्ठिका ह्येषामृदूनां सत्त्वपातिनी ॥
ध्मानसाध्यपदार्थानां नन्दिना परिकीर्त्तिता ॥ (१०।३९-४२)

१. द्वादशांगुलनिम्ना या प्रादेशप्रमिता तथा ।
चतुरंगुलतश्चोर्ध्वं वलयेन समन्विता ॥
भूरिच्छिद्रवतीं कोष्ठीं वलयोपरि निक्षिपेत् ।
शिखित्रांस्तत्र निक्षिप्य प्रधमेद् वंकनालतः ॥
गारकोष्ठीयमाख्याता मृष्टलोहविनाशिनी ।
मूषामृद्भिर्विधातव्यमरत्निप्रमितं दृढम् ॥
अधोमुखं च तद्वक्त्रे नालं पञ्चांगुलं खलु ।
वंकनालमिदं प्रोक्तं दृढध्मानाय कीर्त्तितम् ॥ (१०।४३-४५)

२. कोष्ठीसिद्धरसादीनां विधानाय विधीयते।
द्वादशांगुलकोत्सेधा सा बुध्ने चतुरंगुला ॥
तिर्यक् प्रधमनाऽस्या च मृदुद्रव्यविशोधनी ॥ (१०।४६)

का पाक न तो अभीष्ट मात्रा से कम हो और न अधिक। यथेष्ट पाक द्वारा ही अभीष्ट औषध तैयार हो सकती है। पुट देने से लोहे आदि धातुओं की भस्में पुनः जीवित हो जाती हैं, उनका गुण बढ़ जाता है, वे हलकी होकर पानी पर तैरने लगती हैं और इतनी महीन हो जाती हैं कि अंगुलियों की रेखाओं में भर जाती हैं। पुट देने से पत्थर जैसे पदार्थ हलके हो जाते हैं। यदि इनका सेवन किया जाय तो अधिक महीन चूर्ण बन जाने के कारण, इनका शरीर में शीघ्र व्यापन हो जाता है, और इनमें अग्नि को प्रदीप्त करने का गुण आ जाता है।[1]

रसरत्नसमुच्चय में दस प्रकार के पुटों का उल्लेख है—महापुट, गजपुट, वाराहपुट, कुक्कुटपुट, कपोतपुट, गोबरपुट, भाण्डपुट, बालुकापुट, भूधरपुट और लावकपुट।

१. **महापुट**—दो हाथ गहरा, इतना ही लम्बा और चौड़ा एक चौकोर कुण्ड खोदे, फिर इसमें एक हज़ार वनोत्पल (आरने उपले) भर दे। फिर पुट देने योग्य धातु को मूषा में भरकर उस पर कपरौटी करके सुखा ले और उस मूषा को उपलों के बीच में रख दे। अब मूषा के ऊपर पाँच सौ उपले और रखकर कुण्ड को भर दे और आग लगाये। यह महापुट कहलाता है।[2]

२. **गजपुट**—एक हाथ लम्बा-चौड़ा और इतना ही गहरा एक चौकोर कुण्ड खोदे। उसको गले तक वनोत्पलों से भर दे और उनके बीच में पुट देनेवाली धातु

१. रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम् ।
नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम् ।।
लोहादेरपुनर्भावो गुणाधिक्यं ततोऽग्रतः ।
अनप्सु मज्जनं रेखापूर्णता पुटतो भवेत् ।।
पुटाद् ग्राव्णो लघुत्वं च शीघ्र व्याप्तिश्च दीपनम् ।
जारितादपि सूतेन्द्राल्लोहानामधिको गुणः ।। (१०।४७-४९)

२. निम्नविस्तरतः कुण्डे द्विहस्ते चतुरस्रके ।।
वनोत्पलसहस्रेण पूरिते पुटनौषधम् ।
कौञ्च्यां रुद्धं प्रयत्नेन पिष्टिकोपरि निक्षिपेत् ।।
वनोत्पलसहस्रार्द्धं कौञ्चिकोपरि विन्यसेत् ।
वह्निं प्रज्वालयेत्तत्र महापुटमिदं स्मृतम् ।। (१०।५१-५२)

को मूषा में बन्द करके भर दे। अब, पहले जितने उपले रखे थे, उसके आधे मूषा के ऊपर रखकर आग जला दे। इस प्रकार आग देने का नाम गजपुट है।[1]

३. **वाराहपुट**—गजपुट के समान ही एक बालिश्त लम्बा-चौड़ा-गहरा कुण्ड बनाने के बाद उसी प्रकार कंडों से मूषा को आग देने को वाराहपुट कहते हैं।[2]

४. **कुक्कुटपुट**—गजपुट के समान ही दो बालिश्त लम्बा-चौड़ा-गहरा कुण्ड बनाकर मूषा को कंडों की आग से तपाये, तो इसे कुक्कुटपुट कहते हैं।[3]

५. **कपोतपुट**—भूमि में छोटा-सा कुण्ड बनाकर उसमें आठ वनोत्पलों (कंडों) से जो आग दी जाती है, उसे कपोतपुट कहते हैं।[4]

(इसमें मुख्यतः ओषधियों के साथ पारे को खरल करके गोला-सा बनाकर उसे ताम्र-सम्पुट में बन्द करके रखते है। इस प्रकार पारे की भस्म तैयार करते हैं।)

६. **गोर्वरपुट**—गोशाला (गोष्ठ) में गौओं के खुरों से खुदे हुए, सूखे और चूर्ण किये हुए गोमय को गोर्वर या गोबर कहते हैं। रससाधन (पारे को सिद्ध करने) में यह परमोपयोगी है। भूमि में एक हाथ लम्बा-चौड़ा-गहरा कुण्ड खोदकर उसमें गोबर या धान की भूसी भर दे, और उसके बीच में औषध से भरी मूषा रखकर उस मूषा के ऊपर भी गोबर या धान की भूसी रखे। इस प्रकार आग देने को गोर्वरपुट कहते हैं।[5]

१. **राजहस्तप्रमाणेन चतुरस्रं च निम्नकम् ।**
पूर्णं चोपलसाठीभिः कण्ठावध्यस्य विन्यसेत् ॥
विन्यसेत्कुमुदीं तत्र पुटनद्रव्यपूरिताम् ।
पूर्णच्छगणतोऽर्धानि गिरिण्डानि विनिक्षिपेत् ॥
एतद् गजपुटं प्रोक्तं महागुण विधायकम् ॥ (१०।५३–५४)

२. **इत्थं चारत्निके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते ॥ (१०।५५)**

३. **पुटं भूमितले यत्तद्वितस्तिद्वितयोच्छ्रयम् ।**
तावच्च तलविस्तीर्णं तत्स्यात्कुक्कुटकं पुटम् ॥ (१०।५६)

४. **यत्पुटं दीयते भूमावष्टसंख्यैर्वनोत्पलैः ।**
बद्ध्वा सूतार्कभस्मार्थं कपोतपुटमुच्यते ॥ (१०।५७)

५. **गोष्ठान्तर्गोक्षुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम् ।**
गोर्वरं तत्समादिष्टं वरिष्ठं रससाधने ॥
गोर्वरैर्वा तुषैर्वापि पुटं यत्र प्रदीयते ।
तद्गोर्वरपुटं प्रोक्तं रसभस्मप्रसिद्धये ॥ (१०।५८-५९)

७. **भाण्डपुट**—एक बहुत बड़े भाण्ड (मटके) में धान की भूसी (तुष) भरकर और उस भूसी के बीच में मूषा दबाकर रखे। भाण्ड का मुँह बन्द करके भाण्ड को आग पर चढ़ा दे। इसे भाण्डपुट कहते हैं।[1]

८. **बालुका पुट**—बीच तक मटके में बालू भर कर उसमें द्रव्य से युक्त मूषा रखे और फिर ऊपर तक बालू भर दे तथा कपरौटी करके सुखा ले। फिर मटके को चूल्हे पर रखकर नीचे से आग दे। इसे बालुकापुट कहते हैं।[2]

९. **भूधरपुट**—भूमि में दो अंगुल गहरा गड्ढा खोदे। उसमें औषध से भरकर मूषा (कपरौटी करके) रख दे, और ऊपर से उपले रखकर आग लगाये। इसे भूधर-पुट कहते हैं।[3]

१०. **लावकपुट**—इस पुट में चौरस भूमि के ऊपर षोडशिका मात्र (१–५ तोला) मूत्र से युक्त धानों की भूसी या गोबर रखकर और बीच में द्रव्यौषध से भरी मूषा रखकर आग दी जाती है। यह पुट मृदु द्रव्यों की सिद्धि के लिए उपयोगी है।[4]

पारे के अष्टादश संस्कार

रसरत्नसमुच्चय के रचयिता की दृष्टि से पारे में तीन स्वाभाविक दोष पाये जाते हैं—विष, अग्नि और मल। जब तक इन दोषों को दूर नहीं किया जायगा, पारा खाने योग्य नहीं बनगा। शुद्ध किया हुआ पारा मृदु अग्नि को सहन करता है। मूर्च्छित पारा सम्पूर्ण रोगों को नाश करता है। जो पारा तीव्र अग्नि में मार डाला जाता है, वह निष्कम्प होता है (अग्नि में रखने पर उड़ता नहीं) और आयु एवं आरोग्य देनेवाला होता है।[5]

१. **स्थूलभाण्डे तुषापूर्णे मध्ये मूषासमन्विते।**
वह्निना विहिते पाके तद्भाण्डपुटमुच्यते॥ (१०।६०)

२. **अधस्तादुपरिष्टाच्च क्रौञ्चिकाच्छाद्यते खलु।**
बालुकाभिः प्रतप्ताभिर्यत्र तद्बालुकापुटम्॥ (१०।६१)

३. **वह्निमित्रा क्षितौ सम्यङ्‌ निखन्याद् द्व्यंगुलादधः।**
उपरिष्टात्पुटं यत्र पुटं तद् भूधराह्वयम्॥ (१०।६२)

४. **ऊर्ध्वं षोडशिकामूत्रैस्तुषैर्वा गोर्वरैः पुटम्।**
यत्र तल्लावकाख्यं स्यात्सुमृदुद्रव्यसाधने॥ (१०।६३)

५. **शुद्धः स मृद्वग्निसहो मूर्च्छितो व्याधिनाशनः॥**
निष्कम्पवेगस्तीव्राग्नावायुरारोग्यदो मृतः।
विषं वह्निर्मलश्चेति दोषा नैसर्गिकास्त्रयः॥ (११।१८-२०)

इन स्वाभाविक दोषों के अतिरिक्त पारे में यौगिक दोष भी पाये जाते हैं, अर्थात् व्यापारी लोग पारे में वंग और नाग (सीसा) भी बहुधा मिला दिया करते हैं। पारे में सात कंचुकी दोष (दोषों के सात पर्त्त) भी बताये जाते हैं। ये दोष भूमि, पर्वत और पानी से उत्पन्न होते हैं। कुछ लोग पारे में बारह दोष भी बताते हैं— तीन दोष तो विष, अग्नि और मल है, सात कंचुकी दोष हैं, और नाग और वंग दो ये दोष, इस प्रकार सब मिलाकर बारह दोष हुए।[1]

पारे के सप्त कंचुक (पर्त्त) ये हैं—पर्पटी, पाटिनी, भेदी, द्रावी, मलकरी, अन्धकारी और ध्वांक्षी। शुद्ध तरल पारे की सतह या पृष्ठ पर विभिन्न प्रकार की पतली सी तहें जम जाती हैं, जिन्हें यहाँ कंचुक कहा गया है।[2]

इन सब दोषों के निवारणार्थ पारे के १८ संस्कार किये जाते हैं[3] (जैसे गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक मनुष्य के षोडश संस्कार होते हैं)—

स्वेदन	नियामन	जारण
मर्दन	सन्दीपन	ग्रास
मूर्च्छन	गगनभक्षणमान	सारण
उत्थापन	संचारण	संक्रामण
पातन	गर्भद्रुति	वेध
रोधन	बाह्यद्रुति	शरीरयोग

१. **पारे का स्वेदन**—सोंठ-मिरच-पीपल (त्र्यूषण), नमक, राई, चित्रक, आर्द्रक (अदरख) और मूली, इनके साथ घोटकर पारे का गोला बना लिया जाता है और फिर सफेद कपड़े की पोटली में बाँधकर काँजी से आधे भरे हुए दोलायन्त्र में लटका देते हैं। इस प्रकार तीन दिन तक स्वेदन करने से पारा शुद्ध हो जाता है।[4]

१. यौगिकौ नागवंगौ द्वौ तौ जाड्याध्मानकुष्ठदौ ।
औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्तिताः सप्तकंचुकाः ।।
भूमिजा गिरिजा वार्जा ते च द्वे नागवंगजौ ।
द्वादशैते रसे दोषाः प्रोक्ता रसविशारदैः ।। (११।२१–२३)

२. पर्पटी पाटिनी भेदी द्रावी मलकरी तथा ।
अन्धकारी तथा ध्वांक्षी विज्ञेयाः सप्त कंचुकाः ।। (११।२४)

३. रसरत्नसमु० ११।१४–१६

४. त्र्यूषणं लवणासूर्यौ चित्रकार्द्रकमूलकम् ।
क्षिप्त्वा सूतो मुहुः स्वेद्यः काञ्जिकेन दिनत्रयम् ।। (११–२९)

२. **मर्दन संस्कार**--गृहधूम (धुएँ से जमी कज्जली), ईंट का चूर्ण, दही, गुड़, सैन्धा नमक, इनम से प्रत्येक को पारे का १६वाँ भाग जितना लेकर तीन दिन तक पारे के साथ रगड़ा जाता है। फिर इस पारे में सोलहवाँ भाग अभ्रक, सोलहवाँ भाग सोना और चाँदी तथा सोलहवाँ भाग पुराना पारा मिलाकर एक दिन तक खरल में मर्दन करते हैं। इस प्रकार पारे को निर्मल करने का नाम मर्दन संस्कार है।[1]

३. **मूर्च्छन संस्कार**--गृहकन्या (घीकुँवार) द्वारा पारे का मल नष्ट होता है। त्रिफला के साथ इसकी अग्नि नष्ट होती है और चित्रक की जड़ के साथ इसका विष दूर होता है। इन ओषधियों के क्वाथ या रस के साथ सात बार पारे को मूर्च्छित करना चाहिए।[2]

४. **उत्थापन संस्कार**---मूर्च्छित हुआ पारा जब कल्क के समान हो जाय, तो उसको एक हाँडी की तली में लेपकर डमरू-यंत्र के द्वारा ऊपर को उड़ाये, इसके अनन्तर काञ्जी में धोकर निकाल ले। ऐसा करने को उत्थापन कहते हैं। इससे पारे का पूतिदोष नष्ट हो जाता है (ऐसा पारा सेवन करने पर कुष्ठरोग उत्पन्न न करेगा)।[3]

५. **पातन संस्कार**--पातन संस्कार तीन प्रकार के होते है—ऊर्ध्वपातन

१. गृहधूमेष्टिकाचूर्णं तथा दधि गुडान्वितम् ।
लवणासुरिसंयुक्तं क्षिप्त्वा सूतं विमर्दयेत् ।।
षोडशांशन्तु तद्द्रव्यं सूतमानान्नियोजयेत् ।
सूतं क्षिप्त्वा समं तेन दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ।।
जीर्णाभ्रकं तथा बीजं जीर्णसूतं तथैव च ।
नैर्मल्यार्थं हि सूतस्य खल्ले धृत्वा विमर्दयेत् ।।
गृह्णाति निर्मलो रोगान् ग्रासे ग्रासे विमर्दितः ।
मर्दनाख्यं हि यत्कर्म तत् सूतं गुणकृद् भवेत् ।। (११।३०–३३)

२. गृहकन्या मलं हन्यात् त्रिफला वह्निनाशिनी ।
चित्रमूलं विषं हन्ति तस्मादेभिः प्रयत्नतः ।।
मिश्रितं सूतकं द्रव्यः सप्तवाराणि मूर्च्छयेत् ।
इत्थं सम्मूर्च्छितः सूतो दोषशून्यः प्रजायते ।। (११।३४–३५)

३. अस्माद्विरेकात्संशुद्धो रसः पात्यस्ततः परम् ।
उद्धतः काञ्जिकक्वाथात्पूतिदोषनिवृत्तये ।। (११।३६)

(sublimation), अधःपातन (downward sublimation) और तिर्यक्-पातन (oblique sublimation)।

ऊर्ध्वपातन--पारे से चौथाई भाग ताँबे का चूर्ण ले और दोनों को नीबू के रस में घोटकर लुगदी बना ले; उस लुगदी को डमरूयंत्र के नीचे के हिस्से में लेपकर और ऊपर के हिस्से में पानी भरकर १२ घंटे तक मध्यम आँच दे। इस प्रकार पातन करने से पारा वंग और नाग इन दोनों दोषों से मुक्त होकर शुद्ध हो जाता है। डमरूयंत्र के ऊर्ध्व भाग में लगे हुए पारे को छुड़ाकर पूर्वोक्त विधि से ताँबे के साथ नीबू के रस में घोटे और पिष्टी बना ले। फिर उक्त यंत्र में लेप कर तीन बार ऊर्ध्वपातन करे और सात बार अधःपातन।[1]

अधःपातन--त्रिफला, शिग्रु (सहजन), चित्रक, लवण और राई इन सबको पारे का सोलहवाँ भाग जितना लेकर, इनमें पारे को मिलाकर काँजी के साथ ऐसा घोटे कि पारा घोटते-घोटते बिल्कुल अदृश्य हो जाय। इस प्रकार जो पिष्टी बने उसका विद्याधर यन्त्र, अधःपातनयंत्र अथवा सोमानल यन्त्र के ऊर्ध्व भाग में लेप करे और नीचे के भाग में पानी भर दे। यन्त्र के ऊपर वनोत्पल जलाये। इस पातन में पारा ऊपर से उड़कर नीचे आ जाता है।[2]

तिर्यक्पातन--तिर्यक्पातन दीपक यंत्र में किया जाता है। पारे से चौथाई भाग अभ्रक का महीन चूर्ण लेकर उसमें पारा मिलाकर कांजी के साथ खरल में घोटते हैं। जब पारा अदृष्ट हो जाय तो तिर्यक्पातनयन्त्र द्वारा मन्द, मध्य और फिर तीव्र अग्नि देकर इसे उड़ाते हैं। फिर दोलायंत्र में रखकर स्वेदन करते हैं और फिर तिर्यक्पातन।[3]

१. **ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेदूर्ध्वभाजने।**
वंगनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः॥ (११।३७)

२. **शुल्वेन पातयेत्पिष्टीं त्रिधोर्ध्वं सप्तधा त्वधः।**
त्रिफलाशिग्रुशिखिभिर्लवणासुरिसंयुतैः॥
नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेच्चोर्ध्वभाजने।
ततो दीप्तैरधःपातमुत्पलैस्तत्र कारयेत्॥ (११।३८-३९)

३. **अथवा दीपकयंत्रे निपातितः सर्वदोषनिर्मुक्तः।**
तिर्यक्पातनविधिना निपातितः सूतराजस्तु॥
श्लक्ष्णीकृतमभ्रदलं रसेन्द्रयुक्तं तथाऽऽरनालेन।
खल्वे दत्वा मृदितं यावत्तन्नष्टपिष्टतामेति॥

६. **निरोध संस्कार**—सृष्टचम्बुज (स्त्री-रज या मूत्र या गोमूत्र) से पारे का निरोध किया जाता है। इससे पारे में मुख बन जाता है। स्वेदनादि से पारा उत्तम-वीर्य को प्राप्त होता है।[1]

७. **नियामन संस्कार**—निरोध या रोधन संस्कार के अनन्तर नियामन संस्कार करके पारे का चपलत्व दोष दूर किया जाता है। बाँझ ककोड़ा (कर्कोटी), नागफन, वृश्चिक (बिछुआ घास), कमल और भांगर (मार्कव), इन सबको पारे के बराबर लेकर कल्क करे। उस कल्क में पारे को रखकर गोला-सा बनाकर कांजी भरे पात्र में लटकाकर तीन दिन तक स्वेदित करे। इसके अनन्तर मरिच, केंचुआ (भूखग), लवण, राई, शिग्रु और टंकण (सुहागा) इन सबका कल्क बनाकर कांजी में मिलाकर एक मटके में आधा भर दे, और ऊपर कही गयी कर्कोटी आदि पाँच ओषधियों के कल्क में पारा रखकर गोला बनाकर मटके में अधर में लटका दे, और फिर तीन दिन तक स्वेदन करे। यह पारे का नियामन संस्कार है। इससे पारा ग्रासार्थी (बुभुक्षित) बन जाता है।[2]

८. **दीपन संस्कार**—तीनों प्रकार के क्षार (यवक्षार, सर्जिकाक्षार और सुहागा), सैंधा नमक, केंचुआ, चित्रक, शिग्रु, राई, वच, अम्लवेत, नमक, काली मिर्च, इन सब ओषधियों को पारे के बराबर लेकर सबको पारे के साथ नीबू के रस में और कांजी में घोटे, फिर नेपाली ताँबे के पत्रों पर उस कल्क का लेप कर सुखा ले और कपड़े में बाँधकर जम्बीरासव या कांजी से आधे भरे हुए मटके में अधर में लटकाकर तीन दिन तक स्वेदन करे। इस कार्य को पारे का दीपन संस्कार कहते हैं।[3]

कुर्यात् तिर्यक्पातनपातितसूतं क्रमेण दृढवह्निम् ।
संस्वेद्यः पात्योऽसौ न पतति यावद् दृढश्चाग्नौ ॥ (११।४३–४६)

१. सृष्टचम्बुजैर्निरोधेन ततो मुखकरो रसः ।
स्वेदनादिवशात्सूतो वीर्यं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ (११।४८)

२. नियम्योऽसौ ततः सम्यक् चपलत्वनिवृत्तये ।
कर्कोटीफणिनेत्राभ्यां वृश्चिकाम्बुजमार्कवैः ॥
समं कृत्वाऽऽरनालेन स्वेदयेच्च दिनत्रयम् ॥
मरिचैर्भूखगयुक्तैर्लवणासुरिशिग्रुटंकणोपेतैः ।
काञ्जिकयुक्तैस्त्रिदिनं ग्रासार्थो जायते स्वेदात् ॥ (११।४९–५०)

३. त्रिक्षारसिन्धुखगभूशिखिशिग्रुराजीतीक्ष्णाम्लवेतसमुखैर्लवणोषणाम्लैः ।
नेपालताम्रदलशोषितमारनाले साम्लासवाम्लपुटितं रसदीपनं तत् ॥ (११।५१)

पारे के १८ संस्कारों में से इन आठ संस्कारों का ही विस्तार से उल्लेख किया गया है, क्योंकि इन आठ के द्वारा ही संस्कृत पारा ओषधियों में दिया जाता है। अन्य दस संस्कारों द्वारा प्राप्त पारा ओषधियों में वर्जित है।[1]

रसरत्नसमुच्चय के परिभाषाप्रकरण नामक ८वें अध्याय में पारद के इन अन्य संस्कारों का भी संक्षेप में उल्लेख है।

ग्रास, जारण और चारण—इतना परिमाणवाला पारा इतने परिमाणवाली दूसरी धातु का ग्रास कर सकता है, इस प्रकार जो माप का निश्चय किया जाता है, उसे **ग्रासमान** कहते हैं।[2] पारे के गर्भ में (बीच में) मिलाये जानेवाले पदार्थ को ग्रास कहते हैं। यह ग्रास जब बिना अग्नि के संयोग के पारे में मिलाया जाता है, तब इसे चारण या गर्भचारण कहते हैं। जब ग्रास-पदार्थ को पिघलाकर द्रवीभूत पारे में मिलाते हैं, तब इसे **द्रावण** या गर्भद्रावण कहते हैं। जब तपते हुए पारे में ग्रास-पदार्थ को डालकर जलाया जाता है तो उसको **जारण** या गर्भजारण कहते हैं।

जारण या जारणा के ग्रास, पिण्ड और परिणाम ये तीन नाम और हैं। सम्मुखा जारणा और निर्मुखा जारणा; इसके ये दो भेद और किये गये हैं।

१. **इत्यष्टौ सूतसंस्काराः समा द्रव्ये रसायने।**
कार्यास्ते प्रथमं शेषा नोक्ता द्रव्योपयोगिनः॥ (११।५९)

२. **इयन्मानस्य सूतस्य भोज्यद्रव्यात्मिका मितिः।**
इयतीत्युच्यते याऽसौ ग्रासमानं समीरितम्॥
ग्रासस्य चारणं गर्भे द्रावणं जारणं तथा।
इति त्रिरूपा निर्दिष्टा जारणा वरवार्त्तिकैः॥
ग्रासः पिण्डः परिणामस्तिस्रश्चाख्याः पराः पुनः।
समुखा निर्मुखा चेति जारणा द्विविधा पुनः॥
निर्मुखा जारणा प्रोक्ता बीजाऽऽदानेन भागतः।
शुद्धं स्वर्णं च रूप्यं च बीजमित्यभिधीयते॥
चतुःषष्टचंशतो बीजप्रक्षेपो मुखमुच्यते।
एवं कृते रसो ग्रासलोलुपो मुखवान् भवेत्॥
कठिनान्यपि लोहानि क्षमो भवति भक्षितुम्।
इयं हि सम्मुखा प्रोक्ता जारणा मृगचारिणा॥
दिव्यौषधिसमायोगात्स्यितः प्रकटकोष्ठिषु।
भुंजीताखिललोहाद्यं योऽसौ राक्षसवक्त्रवान्॥ (८।७१-७९)

शुद्ध सोने और शुद्ध चाँदी (रौप्य) को बीज कहते हैं। कभी-कभी पारा केवल चौथाई भाग बीज का ही ग्रास कर सकता है, ऐसी अवस्था में इस कर्म को **निर्मुखा-जारणा** कहेंगे। परन्तु पारे में ६४ भाग बीज मिला दें तो इसका नाम **सम्मुखा जारणा** हो जायगा। ऐसा करने पर पारे को मुखवाला बताया जाता है और वह धातुओं का ग्रास करने योग्य हो जाता है। वह कठिन धातुओं का भी भक्षण कर सकता है। (मृगचारी नामक रसायनाचार्य ने इस जारणा का नाम सम्मुख जारणा रखा है)।

दिव्य ओषधियों के साथ खुली हुई मूषा में आग पर रखा हुआ पारा यदि सब प्रकार की लोहा आदि धातुओं का भक्षण कर जाय, तो उसे **राक्षस-मुखवान्** (राक्षस-वक्त्री) कहा गया है।

द्रुति—पारे के उदर में (बीच में) ग्रास क्षेपण (ग्रास डालने) का नाम **चारणा** है। इस प्रकार ग्रस्त पदार्थ द्रवीभूत होकर जब पारे में मिल जाता है, तो उसे **गर्भ-द्रुति** कहते हैं।

जब कठोर पदार्थों अथवा धातुओं को बाहर गलाकर पारे के बीच में मिलाया जाता है, तो इसे **बाह्यद्रुति** कहते हैं। द्रुति (melting) के पाँच लक्षण हैं—निर्लेपत्व (न लिपटना), द्रुतत्व (बहना), तेजस्त्व (चमकना), लघुता (हलकापन, या पतलापन) और असंयोग (पारे के साथ संयुक्त न होना)।

चाहे ओषधिसंस्कार द्वारा और चाहे अग्नि के प्रयोग से धातुएँ जब द्रवाकार हो जाती हैं और उसी रूप में बनी रहती हैं तो इसे **द्रुति** कहते हैं।[1]

जारणा, विड और रञ्जन—विड यन्त्र आदि के योग से पारे के द्रुत होने पर ग्रास का जो स्थायी परिणाम होता है, उसे **जारणा** कहते हैं। इसके अनन्त भेद हैं। यह विड क्या है, इसकी व्याख्या इस प्रकार है—क्षार, अम्ल, गन्धक, गोमूत्र और

१. रसस्य जठरे ग्रासक्षेपणं चारणा मता।
ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता॥
बहिरेवं द्रुतिं कृत्वा घनसत्त्वादिकं खलु।
जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्यद्रुतिरुच्यते॥
निर्लेपत्वं द्रुतत्वं च तेजस्त्वं लघुता तथा।
असंयोगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम्॥
औषधाध्मानयोगेन लोहधात्वाधिकं तथा।
सन्तिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुतिः परिकीर्तिता॥ (८।८०-८४)

पचलवण इनके सहयोग से पारे के ग्रास को जीर्ण करने के लिए प्रस्तुत किये गये प्रयोग को **विड** कहते हैं।

विशेष संस्कारों द्वारा उत्तम प्रकार से सिद्ध बीज (स्वर्ण, चाँदी आदि) धातुओं के द्वारा पारे का जारण करने पर पारे में पीला, लाल आदि रंग उत्पन्न होता है, उसे **रञ्जन** कहते हैं।[1]

सारणा—तेल से भरे यन्त्र में पारा डालकर उसमें पारे का पचन होने और धातुओं का वेध होने के लिए जो स्वर्णादि को डाला जाता हैं, उसे **सारणा** कहते हैं।[2]

वेध––व्यवायी (अफीम, भाँग आदि) ओषधियों के साथ पारे को मिलाकर जो किसी धातु में डाला जाता है, उसे **वेध** कहते हैं। वेध के पाँच भेद हैं—लेपवेध, क्षेपवेध, कुन्तवेध, धूमवेध और शब्दवेध।

(क) जब किसी धातु के ऊपर पारे का लेप करके सोना या चाँदी चढ़ायी जाती है, तो उसे लेपवेध कहते हैं। इस लेपवेध में वाराहपुट देते हैं।

(ख) किसी धातु को गलाकर उसमें पारे को डालना क्षेपवेध कहलाता है।

(ग) सँडसी से पारे के पात्र को पकड़कर और पारे में गलायी हुई धातु मिलाकर जो स्वर्णादि धातु बनायी जाती है, उसे कुन्तवेध कहते हैं।

(घ) अग्नि में पारे को रखने पर जब उसमें धुआँ निकलने लगे तब भट्ठी पर गलायी हुई धातु को उसमें डालकर जो स्वर्ण आदि बनाया जाता है, उसे धूमवेध कहते हैं।

(ङ) किसी थोड़ी-सी धातु को अग्नि पर गलाकर और मुख में पारा रखकर फूँकने की नली अथवा मुख से फूंके। इस प्रकार फूँकने से जो स्वर्ण, रौप्य आदि धातु बनायी जाती है, उसे शब्दवेध कहते हैं।[3]

१. द्रुतग्रासपरीणामो विडयन्त्रादियोगतः।
जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिशः॥
क्षारैरम्लैश्च गन्धाद्यैर्मूत्रैश्च पटुभिस्तथा।
रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्विडं परिकीर्त्तितम्॥ (८।८५–८६)

२. सूते सतैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपणं हि यत्।
वेधाधिक्यकरं लोहे सारणा सा प्रकीर्त्तिता॥ (८।८८)

३. व्यवायिभेषजोपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रसः खलु।
वेध इत्युच्यते तज्ज्ञैः स चानेकविधः स्मृतः॥

उद्घाटन—पारे को सिद्ध करके उसके द्वारा सिद्ध पदार्थों की मलिनता को दूर कर उनमें जो स्वच्छ वर्ण उत्पन्न किया जाता है उसे **उद्घाटन** कहते हैं।[1]

संन्यास—पारे को ओषधियों के कल्क में मिलाकर गोला-सा करके एक मटके में रखे, फिर कपरौटी करके उसे मन्द-मन्द अग्नि से युक्त चूल्हे पर चढ़ाये। ऐसा करने को **संन्यास** कहते हैं।[2]

यह परिभाषाप्रकरण सोमदेव नामक आचार्य ने संभवतः बड़े यत्न से तैयार किया था, जिसका समावेश **रसरत्नसमुच्चय** में किया गया है।

रसबन्धन

जिन क्रियाओं के करने से पारे की चंचलता और दुर्ग्राह्यता दूर होती है, उन्हें **रसबन्ध** कहते हैं।[3] रस-बंध की २५ विधियाँ **रसरत्नसमुच्चय** में बतायी गयी हैं (११।६०–६४)।

लेपः क्षेपश्च कुन्तश्च धूमाख्यः शब्दसंज्ञकः।
लेपनं कुरुते लोहं स्वर्णं वा रजतं तथा॥
लेपवेधः स विज्ञेयः पुटमत्र च सौरकम्।
प्रक्षेपणं द्रुते लोहे वेधः स्यात्क्षेपसंज्ञितः॥
संदंशधृतसूतेन द्रुतद्रव्याहृतिश्च या।
सुवर्णत्वादिकरणं कुन्तवेधः स उच्यते॥
वह्नौ धूमायमानेऽन्तःप्रक्षिप्तरसधूमतः।
स्वर्णाद्यापादनं लोहे धूमवेधः स उच्यते॥
मुखस्थितरसेनाल्पलोहस्य धमनात् खलु।
स्वर्णरूप्यत्वजननं शब्दवेधः स कीर्त्तितः॥ (८।८९–९५)

१. सिद्धद्रव्यस्य सूतेन कालुष्यादिनिवारणम्।
प्रकाशनं च वर्णस्य तदुद्घाटनमीरितम्॥ (८।९६)

२. रसस्यौषधयुक्तस्य भाण्डरुद्धस्य यत्नतः।
मन्दाग्नियुतचुल्ल्यन्तःक्षेपः संन्यास उच्यते॥ (८।९८)

३. येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्ग्रहत्वं च नश्यति॥
रसराजस्य संप्रोक्तो बन्धनार्थो हि वार्तिकैः। (११।६०)

हठ	क्षार	सजीव	द्रुतिबन्ध	मूर्तिबन्ध
आरोट	खोट	निर्जीव	बालक	जलबन्ध
आभास	पोट	निर्बीज	कुमार	अग्निबन्ध
क्रियाहीन	कल्कबन्ध	सबीज	तरुण	सुसंस्कृतबंध
पिष्टिका	कज्जलि	शृंखलाबन्ध	वृद्ध	महाबन्ध

१. **हठ रस**—जिस पारे की सम्यक् शुद्धि नहीं होती, उसे हठ रस कहते हैं। इसके सेवन से मृत्यु और उद्धत व्याधियाँ होती हैं।[1]

२. **आरोट**—सम्यक् रूप से शुद्ध किये हुए पारे को आरोट कहते हैं। यह पारा क्षेत्रीकरण में (गर्भधारण कराने में) श्रेष्ठ और व्याधियों को धीरे-धीरे नष्ट करता है।[2]

३. **आभास**—पुट देने पर अथवा धातुओं और वनस्पतियों की भावना देने पर जो पारा अपने संयोगी पदार्थों को छोड़कर स्वाभाविक रूप में आ जाता है, उसे आभास कहते हैं। इसमें विशेष गुण होते हैं।[3]

४. **क्रियाहीन**—बिना शुद्ध किया हुआ, पर लोह आदि धातुओं से सिद्ध जो पारा होता है, वह क्रियाहीन कहलाता है। उचित पथ्य न मिलने पर यह विकार उत्पन्न करता है।[4]

५. **पिष्टिकाबन्ध**—शुद्ध पारे को तीक्ष्ण धूप में अच्छी तरह घोटने पर मक्खन या नौनी (नवनीत) की सी पिष्टि बनती है, उसे पिष्टिकाबन्ध कहते हैं। यह अग्निदीपक और पाचक है।[5]

१. **हठो रसः स विज्ञेयः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः।**
स सेवितो नृणां कुर्यान्मृत्युं वा व्याधिमुद्धतम्॥ (११।६५)

२. **सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते।**
स क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः शनैर्व्याधिविनाशनः॥ (११।६६)

३. **पुटितो यो रसो याति योगं मुक्त्वा स्वभावताम्।**
भावितो धातुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृतेः॥ (११।६७)

४. **असंशोधितलोहाद्यैः साधितो यो रसोत्तमः।**
क्रियाहीनः स विज्ञेयो विक्रियां यात्यपथ्यतः॥ (११।६८)

५. **तीव्रातपे गाढतरावमर्दात्पिष्टी भवेत्सा नवनीतरूपा।**
ख्यातः स सूतः किलपिष्टिबद्धः संदीपनः पाचनकृद् विशेषात्॥ (११।६९)

६. **क्षारबन्ध**—शंख, शुक्ति, कौड़ी आदि के साथ जो पारा शोधा जाता है उसे क्षारबन्ध कहते हैं। यह अग्नि को अत्यन्त दीप्त करता, शरीर को पुष्ट करता और शूल को नाश करता है।[1]

७. **खोटबन्ध**—जो पारा बाँधने पर गोला-सा बन जाय और बार-बार फूंकने पर क्षीण हो जाय उसे खोटबन्ध कहते हैं। यह सर्वरोगहारी है।[2]

८. **पोटबन्ध**—(पर्पटीबन्ध)—लोहे की कड़ाही में घी चुपड़कर उसमें पारे और गन्धक की कज्जली को डालकर पिघलाये, जब वह पिघलकर रस के समान पतली हो जाय, तब गाय के गोबर के ऊपर केले का पत्ता रखकर कज्जली ढाल दे। फिर उसके ऊपर दूसरा केले का पत्ता और पत्ते के ऊपर गोबर रखकर दबा दे। जब वह चपटी होकर जम जाय, तो उसे पोटबन्ध या पर्पटीबन्ध कहते हैं। यह बच्चों, युवा और वृद्ध सबके लिए रोगहर है।[3]

९. **कल्कबन्ध**—स्वेदन आदि क्रियाओं से जो पारा कीचड़ के समान गाढ़ा हो जाता है, उसे कल्कबन्ध कहते हैं। यह विधिपूर्वक सेवन करने पर यथोक्त फलों को देनेवाला है।[4]

१०. **कज्जलीबन्ध**—शुद्ध पारा और गन्धक दोनों को बराबर मात्रा में साथ-साथ घोटने पर काजल के समान पिष्टी बन जाय, तो इसे कज्जलीबन्ध कहते हैं। विधिपूर्वक इसका सेवन किया जाता है।[5]

११. **सजीव**—भस्म करने के बाद भी जो पारा अग्नि के संयोग से उड़ जाता

१. **शंखशुक्तिवराटाद्यैर्योऽसौ संसाधितो रसः।
क्षारबन्धः परं दीप्तिपुष्टिकृच्छूलनाशनः॥ (११।७०)**

२. **बन्धो यः खोटतां याति ध्मातो ध्मातः क्षयं व्रजेत्।
खोटबन्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वगदापहः॥ (११।७१)**

३. **द्रुतकज्जलिका मोचापत्रके चिपिटीकृता।
स पोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत्॥ (११।७२)**

४. **स्वेदाद्यैः साधितः सूतः पंकत्वं समुपागतः।
कल्कबद्धः स विज्ञेयो योगोक्तफलदायकः॥ (११।७३)**

५. **कज्जलीरसगन्धोत्था सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा।
तत्तद्योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते॥ (११।७४)**

है, उसे सजीव रस कहते हैं। न यह भस्म के समान गुणकारी है और न यहरोग का नाश करता है।[1]

१२. **निर्जीव**—अभ्रक या गन्धक के द्वारा जारण करके भस्म किया हुआ पारा निर्जीव कहलाता है। यह सब धातुओं से श्रेष्ठ है और सब रोगों को नष्ट करता है।[2]

१३. **निर्बीज**—चौथाई भाग सोने के साथ जारण किये हुए पारे को गन्धक के साथ खरल करे। फिर बराबर भाग गन्धक मिलाकर पुट दे। इस प्रकार गन्धक के साथ तीन पुट देने पर निर्बीज पारा मिलता है जो सब रोगों को दूर करनेवाला है।[3]

१४. **सबीज**—अभ्रक का सत्त्व, सोने की भस्म, चाँदी की भस्म, ताँबे की भस्म और कान्तलोह की भस्म इन सबको पारे के बराबर लेकर एक साथ खरल करके पारे का जारण करे। फिर छः गुने गन्धक के साथ मिलाकर पारे की भस्म करे तो सबीज पारा मिलता है, जिसका प्रभाव विपुल है।[4]

१५. **शृंखलाबद्ध**—वज्र (हीरा) आदि के द्वारा भस्म किया हुआ पारा और धातु या वनस्पतियों के साथ भस्म किया हुआ पारा; दोनों को समान भाग लेकर एक साथ खरल कर ले। इसे 'शृंखलाबद्ध पारा' कहते हैं। इसके सेवन से देह लोहे के समान पुष्ट होती है। इसके गुण परम विचित्र हैं, और शरीर में इसका वेग से व्याप्त होना बस शंकर ही जानते हैं।[5]

१६. **द्रुतिबन्ध**—पूर्वोक्त विधि के अनुसार पारे की बाह्यद्रुति करके फिर किसी ओषधि के सहयोग से पारे को आबद्ध करे अथवा पारे की भस्म करे। इस प्रकार के पारे को द्रुतिबन्ध कहते हैं। यह दुस्साध्य रोगों को दूर करता है।[6]

१७. **बाल**—जो पारा समान भाग अभ्रक की भस्म के साथ जीर्ण किया जाता

१. **भस्मीकृतो गच्छति वह्नियोगाद्, रसः सजीवः स खलु प्रदिष्टः।**
संसेवितोऽसौ न करोति भस्म-कार्यं जवाद्रोगविनाशनं च॥ (११।७५)

२. **जीर्णाभ्रको वा परिजीर्णगन्धो, भस्मीकृतश्चाखिललौहमौलिः।**
निर्जीवनामा हि स भस्मसूतो, निःशेषरोगान्विनिहन्ति सद्यः॥ (११।७६)

३. **रसस्तु पादांशसुवर्णजीर्णः पिष्टीकृतो गन्धकयोगतश्च।**
तुल्यांशगन्धैः पुटितः क्रमेण निर्बीजनामा सकलामयघ्नः॥ (११।७७)

४. **पिष्टीकृतैरभ्रकसत्त्वहेम-तारार्ककान्तैः परिजारितो यः।**
हतस्ततः षड्गुणगन्धकेन सबीजबद्धो विपुलप्रभावः॥ (११।७८)

५. **युक्तोऽपि बाह्यद्रुतिभिश्च सूतो, बद्धं गतो वा भसितस्वरूपः।**
स राजिकापादमितो निहन्ति, दुस्साध्यरोगान्द्रुतिबद्धनामा॥ (११।८०)

है, वह बाल पारद है। विधिपूर्वक सेवन करने पर यह अनेक अरिष्टकारक रोगों को दूर करता है।[1]

१८. **कुमार**—वह पारा जो दुगुनी अभ्रक भस्म के साथ जारण करने पर मिलता है, कुमार कहलाता है। इस पारे का १ चावल परिमाण २१ दिन तक नित्य सेवन करने से पापजन्य रोग नष्ट होते हैं।[2]

१९. **तरुण**—वह पारा जो चौगुनी अभ्रक भस्म के साथ जारण करने पर मिलता है, तरुण कहलाता है। यह वीर्य-बल प्रदाता और सात दिन में रोग दूर करनेवाला है।[3]

२०. **वृद्ध**—६ गुनी अभ्रक के साथ जारण किया हुआ पारा अग्नि में नहीं उड़ता, और अग्नि के समान प्रकाशमान है। इसे वृद्ध पारा कहते हैं। इसका उपयोग शरीर में और धातुकर्म में होता है।[4]

२१. **मूर्तिबन्ध**—जो पारा बिना दिव्योषधियों के द्वारा जारण किया जाता है, अत्यन्त तीक्ष्ण अग्नि को सहन करनेवाला होता है। इसे मूर्तिबन्ध कहते हैं। यह पारा अनेक बार अग्नि में जीर्ण करने पर भी क्षीण नहीं होता, और समस्त योगों मे फलप्रद है।[5]

२२. **जलबद्ध**—शिलोदक, विषोदक, अमृतोदक आदि रसों के द्वारा बद्ध किये पारे को जलबद्ध कहते हैं। यह जरा, रोग और मृत्यु का नाश करता है, और विधिपूर्वक सेवन करने पर फलदायक है।[6]

१. समाभ्रजीर्णः शिवजस्तु बालः, संसेवितो योगयुतो जवेन।
रसायनो भाविगदापहश्च, सोपद्रवारिष्टगदान्निहन्ति ॥ (११।८१)

२. हरोद्भवो यो द्विगुणाभ्रजीर्णः, स स्यात्कुमारो मिततण्डुलोऽसौ।
त्रिःसप्तरात्रैः खलु पापरोग-संघातघाटी च रसायनं च ॥ (११।८२)

३. चतुर्गुणव्योमकृताशनोऽसौ, रसायनाग्र्यस्तरुणाभिधानः।
स सप्तरात्रात्सकलामयघ्नो, रसायनो वीर्यबलप्रदाता ॥ (११।८३)

४. यस्याभ्रकः षड्गुणितो हि जीर्णः, प्राप्ताग्निसख्यः स हि वृद्धनामा।
देहे च लोहे च नियोजनीयः, शिवादृते कोऽस्य गुणान्प्रवक्ति ॥ (११।८४)

५. यो दिव्यमूलिकाभिश्च कृतोऽत्यग्निसहो रसः।
विनाभ्रजारणात्स स्यान् मूर्तिबन्धो महारसः ॥ (११।८५)

६. शिलातोयमुखैस्तोयैर्बद्धोऽसौ जलबन्धवान्।
स जरारोगमृत्युघ्नः कल्पोक्तफलदायकः ॥ (११।८७)

२३. **अग्निबद्ध**—अकेले पारे को फूँकने से अथवा किसी पदार्थ को मिलाकर फूँकने से यदि गुटिका (गोला) की-सी आकृति बन जाय और वह न उड़े, न क्षीण हो, तो उसे अग्निबद्ध कहते हैं। इसके सेवन से आकाश में उड़ने की शक्ति मिलती है।[1]

२४. **सुसंस्कृत** (सूत-मूर्च्छा)—विष्णुक्रान्ता, सोमलता, जलकुम्भी, धतूरे की जड़, इन्द्रायन, नागिनीकन्द, बड़ी कटेरी, कुरुंटक, वृश्चिका घास, हाथी शुण्डी, हंसपदी और राई, इन सब ओषधियों को समान भाग लेकर अप्रसूत गाय के मूत्र में पीस कर मूषा बना ले और फिर मूषा के भीतर शुद्ध पारा भरकर सन्धियों को बन्द करके कपरौटी कर सुखा ले। फिर उसे बालुकायन्त्र में पकाये। इसके बाद पारे के बराबर सातों धातुओं की भस्म मिलाकर और उपर्युक्त ओषधियों के रस में घोटकर उसको फिर पूर्वोक्त विधि से बालुकायंत्र में पकाये। इस प्रकार करने से सुसंस्कृत अथवा सूतमूर्च्छा नामक पारा मिलता है।[2]

२५. **महाबन्ध रस**—जो पारा सोने अथवा चाँदी के साथ मिलाकर फूँकने से एक रूप हो जाता है और अग्नि में डालने पर उड़ता नहीं, जो निबिड (compact), भारी, गुटिकाकार और अति उज्ज्वल हो, और पीसने पर चूर-चूर हो जाय, और घोटने पर मैल न निकले, जो निर्गन्ध हो, और तपाने पर शीघ्र पिघले, उसे महाबन्ध रस कहते हैं।[3]

१. **केवलो योगयुक्तो वा ध्मातः स्याद् गुटिकाकृतिः।**
अक्षीणश्चाग्निबद्धोऽसौ खेचरत्वादिकृत् स हि॥ (११।८८)

२. **विष्णुक्रान्ता-शशिलता-कुम्भीकनकमूलकैः।**
विशाला-नागिनीकन्दव्याघ्रपादीकुरुंटकैः॥
वृश्चिकालीभशुण्डीभ्यां हंसपाद्या सहासुरैः।
अप्रसूतगवां मूत्रैः पिष्टं वा कुलके पचेत्॥
पक्वमेवं मृतैर्लोहैर्मर्दितं विपचेद्रसम्।
यन्त्रेषु मूर्च्छा सूतानामेष कल्पः समासतः॥ (११।८९-९१)

३. **हेम्ना वा रजतेन वा सहचरो ध्मातो व्रजत्येकता-**
मक्षीणो निविडो गुरुश्च गुटिकाकारोऽतिदीर्घोज्ज्वलः।
चूर्णत्वं पटुवत्प्रयाति निहतो घृष्टो न मुञ्चेन्मलम्,
निर्गन्धो द्रवति क्षणात्स हि महाबन्धाभिधानो रसः (११।९२)

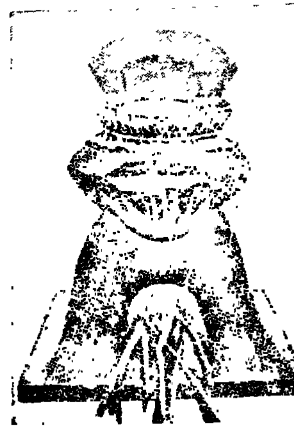
रसकर्म के लिए विविध यन्त्र

रसाचार्य सोमदेव ने अनेक रसतन्त्रों के आधार पर रसयंत्रों के निर्माण की विधि विस्तार से दी, जिसका उल्लेख वाग्भट ने अपने **रसरत्नसमुच्चय** में किया है।[1] इन यंत्रों द्वारा पारे का स्वेदन आदि किया जाता है। जिन यंत्रों का वर्णन इस ग्रन्थ में है, वे ये हैं—दोलायंत्र, स्वेदनीयंत्र, पातनयंत्र, अधःपातनयंत्र, कच्छपयंत्र, दीपिकायंत्र, डेकीयन्त्र, बालुकायंत्र, लवणयन्त्र, नालिकायन्त्र, तिर्यक्पातनयंत्र, विद्याधरयंत्र और धूपयंत्र।

१. **दोलायंत्र**—मिट्टी का एक भाण्ड या घड़ा लेकर उसके कण्ठ के दोनों ओर एक-एक छेद कर ले। इन छेदों में होकर लकड़ी का एक दृढ़ डण्डा अटका दे। फिर इस डंडे के बीच में पारे की पोटली बाँधकर नीचे को अधर में लटका दे। इस घड़े को द्रव द्रव्य (क्षार, अम्ल, कांजी आदि) से आधा भरे और घड़े के मुख पर ढक्कन ढँककर कपरौटी कर दे। घड़े के नीचे मन्द-मन्द आँच जलाकर स्वेद दे। इस उपकरण का नाम दोलायंत्र है।[2]



चित्र १—दोलायंत्र।



चित्र २—स्वेदनीयंत्र।

१. अथ यन्त्राणि वक्ष्यन्ते रसतन्त्राण्यशेषतः।
समालोच्य समासेन सोमदेवेन साम्प्रतम्॥ (९।१)

२. द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पूरितार्धोदकस्य च।
मुखस्योभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम्।
बध्वा तु स्वेदयेदेतद्दोलायन्त्रमिति स्मृतम्॥ (९।३-४)

२. **स्वेदनीयंत्र**—जल अथवा किसी अन्य द्रव से भरी हुई हाँडी के मुख पर वस्त्र बाँधकर उसके ऊपर स्वेद्य द्रव्य को रखे। फिर ऊपर से ढक्कन ढँककर कपरौटी कर दे। इस हाँडी को अब चूल्हे पर चढ़ाकर पकावे। स्वेदकर्म में उपयोग होनेवाले इस उपकरण को स्वेदनी यंत्र कहते हैं।[1]

३. **पातनयंत्र**—सोलह अंगुल विस्तृत जिसका पृष्ठ भाग हो ऐसा एक मिट्टी का घड़ा लेकर उसकी तली में आठ अंगुल चौड़ा, दस अंगुल लम्बा, और चार अंगुल ऊँचा एक जल भरने का आधार बनावे। फिर उस घड़े के मुँह को नीचे रखे हुए एक-दूसरे घड़े के मुँह से फँसा दें। फिर उन दोनों घड़ों की सन्धियों को भैंस के दूध में घोटे हुए चूना, लोहमंडूर, और कांजी के द्वारा लेस कर सुखा ले। ऊपर बताये हुए जलाधार में पानी भर दे। इसके बाद उसको चूल्हे पर चढ़ाकर अग्नि दे। इस प्रकार के उपकरण को पातनयंत्र कहते हैं।[2]



चित्र ३—पातनयंत्र।



चित्र ४—अधःपातनयंत्र।

४. **अधःपातनयंत्र**—यह यंत्र दो घड़ों से बनता है। एक घड़े के भीतर पारे

१. साम्बुस्थालीमुखे बद्ध वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयंत्रमुच्यते ॥ (९।५)

२. अष्टांगुलपरीणाहमानाहेन दशांगुलम्।
चतुरंगुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥

को ओषधियों के रस में घोटकर लेप कर दे, और दूसरा घड़ा पानी से आधा भर दे। फिर पारद के लेपवाले घड़े के मुँह को नीचे रखे हुए जलवाले घड़े के मुँह में फँसा दे। दोनों घड़ों की सन्धियों को बन्द करके सुखा ले।

इसके पश्चात् ऊपर के घड़े की तली में पूर्वोक्त पातनयंत्र के समान पाली बनाकर (जैसा उसमें जलाधार बनाया था), उसमें वनोपलों (कण्डों) की आग जलावे। ऐसा करने से पारे का अधःपातन होगा।[1]

टिप्पणी—आग की गरमी पाकर ऊपर के घड़े का पारा उड़ेगा और वह नीचे के घड़े में आ जायेगा।

पातनयंत्र में पारा नीचे के घड़े से उड़ा और ऊपरवाले घड़े पर जमा (ऊपरवाला घड़ा ठंडे पानी से शीतल रखा गया था)।



चित्र ५—कच्छपयंत्र।

५. **कच्छपयंत्र**—एक बहुत बड़ा बर्त्तन (टब या नाँद) लेकर उसमें पानी भर दे। उसके बीच में खूब विस्तृत मिट्टी का एक खपरा या कूँडा (घट) रखकर उसके ऊपर पारे की मूषा रखे। उस मूषा को हलकी लोहे की कटोरी से ढँककर ६ बार कपरौटी करे और सुखावे। फिर पूर्वोक्त खपरे (या कूँडे) में मूषा के चारों ओर खदिर या बेर के कोयलों को रखकर अग्नि दे। इस प्रकार स्वेदन और मर्दन करने से कच्छप यन्त्र में रखा हुआ पारा जीर्ण हो जाता है।[2]

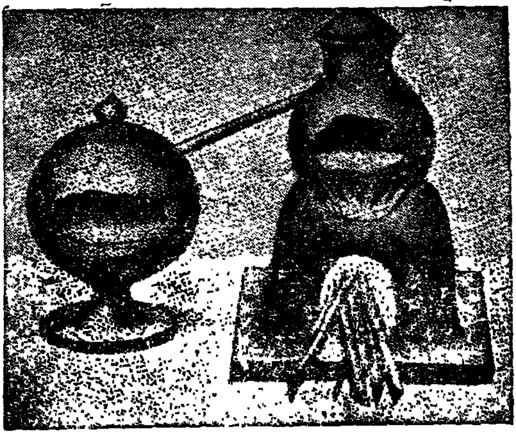
अधोभाण्डे मुखं तस्य भाण्डस्योपरि वर्त्तिनः।
षोडशांगुलविस्तीर्णपृष्ठस्यास्ये प्रवेशयेत्॥
पार्श्वयोर्महिषीक्षीरचूर्णमण्डूरफाणितैः।
लिप्त्वा विशोषयेत्सन्धि जलधारे जलं क्षिपेत्।
चुल्ल्यामारोपयेदेतत्पातनायन्त्रमुच्यते॥ (९।६-८)

१. **अथोर्ध्वभाजने लिप्तस्थापितस्य जले सुधीः।**
दीप्तैर्वनोपलैः कुर्यादधःपातं प्रयत्नतः॥ (९।९)

२. **जलपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम्।**
तदुपरि विडमध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ठयाम्॥
लघुलोहकटोरिकया कृतषण्मृत्सन्धिलेपयाऽऽच्छाद्य।

६. **दीपिकायन्त्र**—कच्छपयन्त्र के सम्बन्ध में जो विधि कही गयी है, उसके अनुसार पानी से भरे पात्र में मिट्टी का खपरा या घड़ा रखे। खपरे या उस घड़े में छोटे-छोटे छेद कर दे और मूषा में पारा भरकर उसमें रख दे। फिर कपरौटी कर और खपरे में कोयला भरकर आग दे। इस प्रकार अग्नि की उष्णता से मूषा में से उड़ा हुआ पारा खपरे या घड़े के छिद्रों में से निकलकर पानी में गिर पड़ता है। इस उपकरण को दीपिकायंत्र कहते हैं।[1]

७. **डेकीयंत्र** (ढेकीयंत्र)—एक बड़ा-सा घड़ा लेकर उसके गले के नीचे एक छेद करे और उसमें बाँस की एक लम्बी नली लगा दे। फिर काँसे के दो कटोरे लेकर



चित्र ६—डेकीयंत्र।

उनका सम्पुट बनाये। सम्पुट के ऊपरवाले कटोरे में एक छेद कर दे। इस छेद में घड़े में लगी हुई बाँस की नली का दूसरा सिरा लगा दे। सम्पुट के नीचेवाले कटोरे में पानी भरे। उचित द्रव्यों से युक्त पारे को घड़े में तपावे। यह पारा उड़कर घड़े

पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारैः खदिरकोलभवैः ॥
स्वेदनतो मर्दनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जरति।
अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि ॥ (९।१०–१२)

१. कच्छपयन्त्रान्तर्गतमृन्मयपीठस्थदीपिकासंस्थः।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायन्त्रम् ॥ (९।१३)

में से नीचेवाले कटोरे में आ जायगा। तब तक आग से तपाये, जब तक बर्तन गरम न हो उठे। इस उपकरण का नाम डेकी (ढेकी) यंत्र है।[१]

८. **जारणायन्त्र--रसरत्नसमुच्चय** में दो प्रकार के जारणायंत्रों का उल्लेख है–

(क) बारह अंगुल लम्बी दो लोहे की मूषाएँ ली जाती हैं। एक मूषा में कुछ छिद्र कर लिये जाते हैं और इसमें गन्धक भर दिया जाता है। दूसरी मूषा में पारा भरते हैं। गन्धक से भरी मूषा को पारे से भरी मूषा के भीतर रख देते हैं (पारद-वाली मूषा गन्धकवाली मूषा से थोड़ी-सी बड़ी होती है)। इसके बाद इन दोनों मूषाओं को जल से भरे हुए एक भाण्ड में रखते हैं और भाण्ड को चूल्हे पर चढ़ाकर आग जला देते हैं। इस उपकरण का नाम जारणायंत्र है।[२]

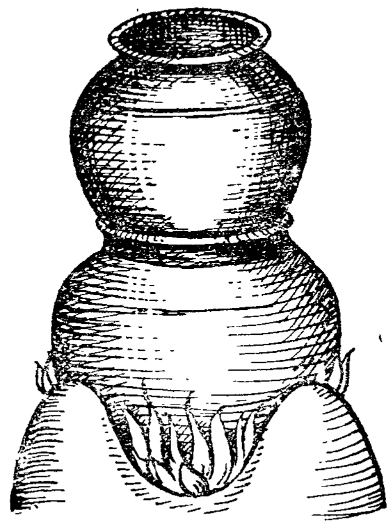
(ख) एक स्थाली के भीतर पारद और गन्धक दोनों भरकर वस्त्र से छाने हुए लहसुन के स्वरस से उन दोनों को खूब भिगोते हैं, फिर एक सकोरे से रस तथा गन्धक को बन्द करके एक दूसरी स्थाली से ढक देते हैं। दोनों स्थालियों के बीच की सन्धियों को वस्त्र और कपड़-मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर देते हैं, और फिर नीचे से तेज़ आँच देते हैं। यंत्र के ऊपर की स्थाली के ऊपर भी वनोपलों की आँच से कपोतपुट दी जाती है। इस प्रकार तीन दिन तक आँच देते हैं। तीन दिन के बाद चूल्हे पर रखे गरम जल में रखकर इस यंत्र को खोलना चाहिए। यंत्र को शीतल करके न खोले। इस प्रकार पारद के साथ गन्धक का जारण करना चाहिए। यह दूसरे प्रकार का जारणायंत्र है।[३]

१. भाण्डकण्ठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्।
कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा सम्पुटं जलगर्भितम्॥
नलिकास्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत्।
युक्तद्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः॥
अग्निना तापितो नालात्तोये तस्मिन् पतत्यधः।
यावदुष्णं भवेत्सर्वं भाजनं तावदेव हि।
जायते रससन्धानं डेकीयन्त्रमितीरितम्॥ (९।१४–१६)

२. लोहमूषाद्वयं कृत्वा द्वादशांगुलमानतः। ईषच्छिद्रान्वितामेकां तत्र गन्धकसंयुताम्॥
मूषायां रसयुक्तायामन्यस्यां तां प्रवेशयेत्॥
तोयं स्यात्सूतकस्याध ऊर्ध्वाधो वह्निदीपनम्॥ (९।१७–१८)

३. रसोनकरसं भद्रे यत्नतो वस्त्रगालितम्।

९. **विद्याधरयंत्र**—मिट्टी की दो स्थालियों को परस्पर कपड़मिट्टी द्वारा बन्द करने की क्रिया को विद्याधरयंत्र कहते हैं। चार मुखवाला एक चूल्हा बनाकर उस पर औषधादिक से भरा हुआ मिट्टी का एक भाण्ड रखते हैं। फिर इस भाण्ड पर दूसरा भाण्ड रखकर नीचे के भाण्ड के मुख को ऊपर रखे भाण्ड के तल के साथ कपड़मिट्टी द्वारा बन्द कर देते और फिर अग्नि जलाते हैं। रस-शास्त्रज्ञों ने इसका नाम विद्याधरयंत्र रखा है।[1]



चित्र ७—विद्याधरयंत्र।

१०. **सोमानलयंत्र**—एक स्थाली के भीतर पानी भरकर उसमें पारद से भरी मूषा रखते हैं। स्थाली के मुंह को शराव (सकोरा) से बन्द करके कपड़मिट्टी कर देते हैं। इसके अनन्तर, उस शराव पर उपलों की आँच देते हैं। (सोम का

दापयेत्प्रचुरं यत्नादाप्लाव्य रसगन्धकौ ॥
स्थालीकायां पिधायोर्ध्वं स्थालीमन्यां दृढां कुरु।
सन्धिं विलेपयेद्यत्नान्मृदा वस्त्रेण चैव हि॥
स्थाल्यन्तरे कपोताख्यं पुटं कर्षाग्निना सदा।
यन्त्रस्याधः करीषाग्निं दद्यात्तीव्राग्निमेव वा॥
एवं तु त्रिदिनं कुर्यात्ततो यंत्रं विमोचयेत्।
तप्तोदके तप्तचुल्ल्यां न कुर्याच्छीतलां क्रियाम्॥
न तत्र क्षीयते सूतो न च गच्छति कुत्रचित्।
अनेन च क्रमेणैव कुर्याद् गन्धकजारणम्॥ (९।१९–२३)

१. यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं स्थालिद्वितयसम्पुटात्।
चुल्लीं चतुर्मुखीं कृत्वा यन्त्रभाण्डं निवेशयेत्॥
तत्रौषधं विनिक्षिप्य निरुन्ध्याद् भाण्डकाननम्।
यंत्रं विद्याधरं नाम तन्त्रज्ञैः परिकीर्त्तितम्॥ (९।२४–२५)

अर्थ जल है, नीचे जल भरा रहता है, बीच में मूषा के भीतर रस का संग्रह रहता है, ऊपर अग्नि जलाते हैं। इसलिए इसका नाम सोमानलयंत्र पड़ा है।)[1] पारे के साथ मूषा में अभ्रकादि रखकर इससे जारण करते हैं।

११. **गर्भयन्त्र**—नष्टपिष्ट किये हुए पारे की भस्म बनाने के लिए इस यंत्र का प्रयोग होता है। चार अंगुल लम्बी और तीन अंगुल चौड़ी मिट्टी की गोल मुँहवाली दृढ़ मूषा बनाते हैं। फिर २० भाग नमक और १ भाग गुग्गुल (दोनों को नमक से आधे भाग मिट्टी तथा पानी के साथ घोटकर) के मिश्रण के साथ उस मूषा में लेप कर देते हैं। फिर इस मूषा के भीतर पारा डालकर मूषा का मुँह बन्द कर देते हैं। सूखने के अनन्तर मूषा को पृथ्वी में गाड़कर उसके ऊपर जंगली कण्डों की आँच देकर एक या तीन दिन तक स्वेदन करते हैं। (तीन दिन स्वेदन करना हो तो मृदु आँच देते हैं, और एक ही दिन में स्वेदन पूरा करना हो तो तेज़ आँच देते हैं।) इस उपकरण का नाम गर्भयन्त्र है।[2]

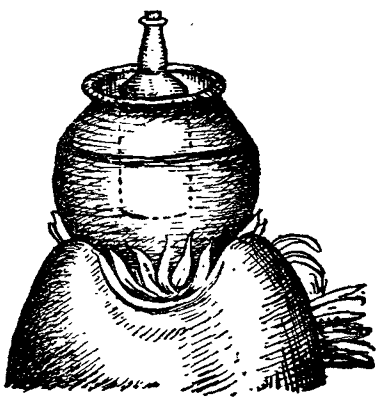
१२. **हंसपाकयंत्र**—मिट्टी के एक खर्पर (कूण्डे) को बालू से भरकर ऊपर से दूसरा खर्पर रखकर ढँक देते हैं। इसमें पाँचों क्षार, सभी प्रकार के मूत्र और लवणों एवं विड के साथ पारे का पाक करते हैं। इस उपकरण का नाम रसज्ञों ने हंसपाकयन्त्र रखा है।[3]

१. ऊर्ध्वं वह्निरधश्चापो मध्ये तु रससंग्रहः।
सोमानलमिदं प्रोक्तं जारयेद् गगनादिकम्॥ (९।२६)

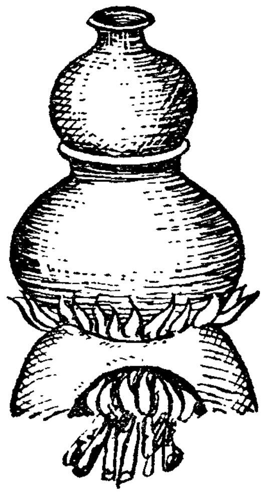
२. गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिकाभस्मकारकम्।
चतुरंगुलदीर्घाञ्च त्र्यंगुलोन्मितविस्तराम्॥
मृन्मयीं सुदृढां मूषां वर्तुलं कारयेन्मुखम्।
लोणस्य विंशतिर्भागा भाग एकस्तु गुग्गुलोः॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु वारं वारं पुनः पुनः।
मूषालेपं दृढं कृत्वा लवणार्द्धमृदम्बुभिः॥
कर्षत्तुषाग्निना भूमौ स्वेदयेन्मृदु मानवित्॥
अहोरात्रं त्रिरात्रं वा रसेन्द्रो भस्मतां व्रजेत्॥ (९।२७–३०)

३. खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरि न्यसेत्।
अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत्॥
पञ्चक्षारस्तथा मूत्रैर्लवणं च विडं ततः।
हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्वार्त्तिकोत्तमैः॥ (९।३१–३२)

१३. **बालुकायंत्र और लवणयंत्र**—(क) काँच की कलशी के चारों ओर मिट्टी से लिप्त वस्त्र को लपेटते हैं और सुखा लेते हैं, फिर लपेटते हैं, और फिर सुखाते हैं। इस प्रकार सात बार करते हैं। इस विधि से कलशी पर कपड़मिट्टी की एक अंगुल मोटी तह चढ़ जाती है। कलशी का मुख पतला होना चाहिए। कलशी के तीन



चित्र ८—बालुकायंत्र।



चित्र ९—लवणयंत्र।

भाग को रस (पारद कज्जली) से भरते हैं। फिर एक नाँद के तीन भाग को बालू से भरते हैं। कलशी को इस नाँद में रखते हैं। नाँद को शराव या दूसरे बड़े कुण्डे से ढँक देते हैं, और बीच की सन्धियों को कपड़-मिट्टी से बन्द कर देते हैं। इस उपकरण को चूल्हे पर चढ़ाकर पाक-कर्म करते हैं। शराव पर रखने पर जब तृण जलने लगें, तब पाक-कर्म पूर्ण समझना चाहिए।

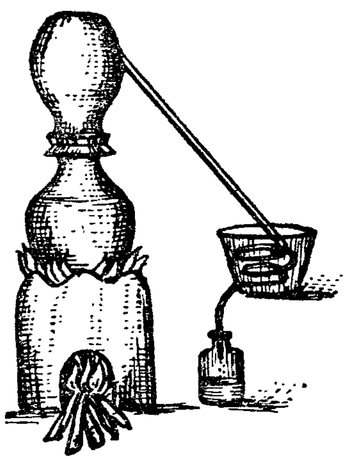
इसी उपकरण में बालू के स्थान में नमक भरें, तो इसे लवणयन्त्र कहेंगे।[१]

(ख) दूसरा बालुकायंत्र इस प्रकार का है—किसी एक भाण्ड में ५ आढक

१. **सरसां गूढवक्त्रां मृद्वस्त्रांगुलघनावृताम्।**
शोषितां काचकलशीं त्रिषु भागेषु पूरयेत्॥
भाण्डे वितस्तिगम्भीरे वालुका सुप्रतिष्ठिता।
तद्भाण्डं पूरयेत् त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत्॥
भाण्डवक्त्रं मणिकया सन्धि लिम्पेन्मृदा पचेत्।

बालू भरकर उसके भीतर ही शराव में सम्पुटित किये हुए पारद को रखकर पकाते हैं। इस यंत्र में भी बालू के स्थान में लवण लें, तो यह दूसरे प्रकार का लवणयंत्र बन जायगा।[1]

(ग) तीसरे प्रकार का लवण यंत्र—ताँबे के किसी एक पात्र के भीतर औषधों के साथ पारद को घोटकर लेप करते हैं। फिर इसे सुखा लेते हैं। अब इसे मिट्टी के भीतर औंधा करके रख देते हैं। फिर उस ताम्र पात्र के मुख को उस भाण्ड या कूण्डे की तली के साथ मिट्टी और लवण की पिष्टी बनाकर उससे उन दोनों की सन्धियों को बन्द करते हैं। फिर उस भाण्ड और ताम्रपात्र को बालू अथवा क्षार या लवण से भरकर पकाते हैं। इसे लवणयंत्र कहते हैं।[2]



चित्र १०—नालिकायंत्र।

१४. **नालिकायन्त्र**—लोहे की नली में यथोचित औषध के साथ पारे को भरते हैं। नली का मुँह बन्द करके लवणयंत्र के बीच में इसे गाड़ देते हैं। फिर लवणयंत्र के मुख को शराव (सकोरा) द्वारा कपड़मिट्टी से बन्द करके पकाते हैं। इस उपकरण का नाम नालिकायंत्र है।[3]

चुल्ल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्त्तिनः ॥
एतद्धि वालुकायंत्रं तद्यन्त्रं लवणाश्रयम् ॥ (९।३३–३५)

१. **पञ्चाढवालुकापूर्णभाण्डे निक्षिप्य यत्नतः ।**
पच्यते रसगोलाद्यं वालुकायन्त्रमीरितम् ॥
एवं लवणनिक्षेपात्प्रोक्तं लवणयन्त्रकम् । (९।३६–३७)

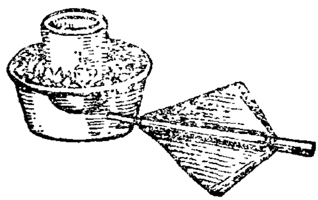
२. **अन्तःकृतरसालेपताम्रपात्रमुखस्य च ।**
लिप्त्वा मृल्लवणेनैव सन्धिं भाण्डतलस्य च ॥
तद्भाण्डं पटुनाऽऽपूर्य क्षारैर्वा पूर्ववत् पचेत् ।
एवं लवणयन्त्रं स्याद्रसकर्मणि शस्यते ॥ (९।३८–३९)

३. **लोहनालगतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते ।**
निरुद्धं विपचेत् प्राग्वन्नालिकायन्त्रमीरितम् ॥ (९।४०)

१५. **भूधरयंत्र**—पृथ्वी में एक हाथ गहरा गड्ढा खोदते हैं, और गड्ढे को बालू से आधा भर देते हैं। फिर इस बालू पर औषध से युक्त पारे से भरी मूषा रख देते हैं। मूषा का मुँह बन्द कर देते हैं, मूषा को ऊपर रेत से ढँकते हैं, और फिर इसके ऊपर जंगली उपलों को जला देते हैं। यह उपकरण भूधरयंत्र कहलाता है।[1]

१६. **पुटयंत्र**—एक शराव (सकोरे) के भीतर औषध-मिश्रित पारा भरते हैं। इस शराव के ऊपर भी दूसरा शराव औंधा करके रखते हैं, और दोनों के बीच की सन्धियों को कपड़-मिट्टी से बन्द करते और सुखा लेते हैं। इस सम्पुट को उपलों की आँच अथवा चूल्हे पर रखकर दो प्रहर अथवा जैसा भी उचित हो, उतने समय तक पकाते हैं। इस उपकरण का नाम पुटयंत्र है।[2]

१७. **कोष्ठीयंत्र**—सोलह अंगुल चौड़ी और एक हाथ लम्बी तथा समान आकार की एक मूषा बनवाते हैं। इसे कोष्ठीयंत्र कहते हैं यह यंत्र धातुओं और रत्नों के सत्त्वादि निकालने में उपयोगी है।[3]



चित्र ११—कोष्ठीयंत्र।

१८. **वलभीयन्त्र**—कान्तलोह का बना पात्र (जैसे कड़ाह) ले जिसमें दो कड़े लगे हों। फिर इस पात्र से कुछ छोटा वैसा ही दूसरा पात्र ले; उसमें भी दो कड़े लगे हों। छोटे पात्र को बड़े पात्र के भीतर रखते हैं और दोनों के कड़ों को जंजीर से बाँध देते हैं। बड़े पात्र में काञ्जी और छोटे पात्र में मूर्च्छित पारा डालकर ऊपर से ढँक देते हैं। इस यंत्र को चूल्हे पर चढ़ाकर दो प्रहर तक स्वेदन करते हैं। ऐसा करने पर संमूर्च्छित पारा फिर अपने रूप को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार स्वेदित पारे में ६ प्रकार के गुण उत्पन्न हो जाते

१. **बालुकागूढसर्वांगां गर्ते मूषां रसान्विताम्।**
दीप्तोपलैः संवृणुयाद्यन्त्रं तद्भूधराह्वयम्॥ (९।४१)

२. **शरावसम्पुटान्तस्थं करीषेष्वग्निमानवित्।**
पचेच्चुल्ल्यां द्वियामं वा रसं तत्पुटयन्त्रकम्॥ (९।४२)

३. **षोडशांगुलविस्तीर्णं हस्तमात्रायतं समम्।**
धातुसत्त्वनिपातार्थं कोष्ठीयन्त्रमिति स्मृतम्॥ (९।४३)

हैं। साधारण लोह की अपेक्षा कान्तलोह के बने पात्रों में स्वेदन करने से रस अधिक गुणकारी हो जाता है।[1]

१९. **तिर्यक्पातनयंत्र**—मिट्टी के एक घड़े में रस रखते हैं। घड़े की गर्दन के कुछ नीचे के भाग में एक छेद बनाते हैं। इस छेद में एक लम्बी और टेढ़ी नली लगा देते हैं। इस नली के दूसरे भाग को एक दूसरे घड़े के मध्य भाग में छिद्र बनाकर प्रवेश करा देते हैं। अब दोनों घड़ों के मुँह को और नली जहाँ पर प्रविष्ठ हुई हैं वहाँ की सन्धियों को कपड़-मिट्टी द्वारा बन्द कर देते हैं। जिस घड़े में पारा रखा होता है, उसके नीचे आग जला देते हैं। दूसरे घड़े के ऊपर ठंडा पानी डालते रहते हैं। अथवा इस घड़े में मुखबन्धन के पहले ही थोड़ा-सा ठंडा पानी भर देते हैं। गरम होने पर पहले घट से पारे की भापें उड़ेंगी, और दूसरे घट में भरे पानी के भीतर पारा ठंडा होकर गिर जावेगा। वार्त्तिककारों ने इस यन्त्र का नाम तिर्यक्पातनयंत्र रखा है।[2]



चित्र १२—तिर्यक्पातनयंत्र।

१. यत्र लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम्।
तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम्॥
पूर्वपात्रोपरि न्यस्य स्वल्पपात्रे परिक्षिपेत्।
रसं सम्मूर्च्छितं स्थूलपात्रमापूर्य काञ्जिकैः॥
द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे।
एतद् स्याद् वलभीयंत्रं रसे षाड्गुण्यकारकम्॥
सूक्ष्मकान्तमये पात्रे रसः स्याद् गुणवत्तरः॥ (९।४४–४६)

२. क्षिपेद्रसं घटे दीर्घनताधोनालसंयुते।
तन्नालं निक्षिपेदन्यघटकुक्ष्यन्तरे खलु॥
तत्र रुध्वा मृदा सम्यग्वदने घटयोरथ।
अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्र पावकम्॥
इतरस्मिन्घटे तोयं प्रक्षिपेत्स्वादु शीतलम्।
तिर्यक्पातनमेतद्धि वार्तिकैरभिधीयते॥ (९।४७–४९)

२०. **पालिकायंत्र**—लोहे का एक गोल चषक (प्याला) बनाते हैं। इस चषक के किनारे के पास ही आगे की ओर झुका हुआ और ऊपर की ओर उठा हुआ एक दण्ड लगा दिया जाता है। इस उपकरण को पालिका यंत्र कहते हैं और गन्धक-जारण में यह गुणकारी है।[1]

२१. **घटयन्त्र**—ऐसा घट ले, जिसमें ४ प्रस्थ पानी आ सके, और जिसका मुंह चार अंगुल चौड़ा हो। इसे घटयंत्र कहते हैं, और इसी का नाम **आप्यायनक** भी है। (इस यंत्र द्वारा रसादिकों का प्लावन या तर्पण किया जाता है।)[2]



चित्र १३—इष्टिकायंत्र।

२२. **इष्टिकायन्त्र**—भूमि में एक गोल गड्ढा खोदते हैं, और इसमें लोहे अथवा मिट्टी का मज़बूत मल्ल या शराव (सकोरा) रख देते हैं। फिर इस शराव के ऊपर बीच में छिद्र की हुई एक इष्टिका (ईंट) रखते हैं। इष्टिका के छिद्र के चारों ओर एक अंगुल ऊँचाईवाली पाली (थाला या आलवाल) बना देते हैं। ईंट के छिद्र में पारा भरते हैं और छिद्र के मुंह पर कपड़ा बाँध देते हैं। कपड़े पर गन्धक बिछा देते हैं, और दूसरे शराव से उसका मुंह बन्द कर देते हैं। ईंट के छेद के चारों ओर बनी हुई पाली तथा उस पर ढके हुए मल्ल (शराव या सकोरा), इन दोनों के बीच के अवकाश को ठीक से कपड़-मिट्टी द्वारा बन्द कर देते हैं। फिर जंगली कण्डों की आँच से कपोत पुट देते हैं। आँच अधिक नहीं देनी चाहिए। इस उपकरण का नाम इष्टिकायंत्र है और इसका उपयोग धातुओं को गन्धक के साथ जारण करने में है।[3]

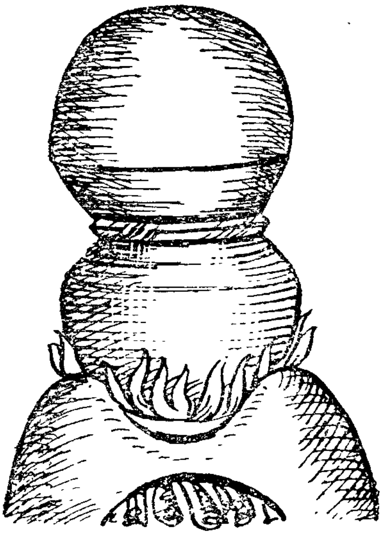
२३. **हिंगुलाकृष्टि के लिए विद्याधरयंत्र**—एक हाँडी या स्थाली ऐसी लेते हैं

१. चषकं वर्त्तुलं लौहं विनताग्रोर्ध्वदण्डकम्।
एतद्धि पालिकायंत्रं बलिजारणहेतवे।। (९।५०)

२. चतुष्प्रस्थजलाधारश्चतुरंगुलिकाऽऽननः।
घटयन्त्रमिदं प्रोक्तं तदाप्यायनकं स्मृतम्।। (९।५१)

३. विधाय वर्त्तुलं गर्तं मल्लमत्र निधाय च।
विनिधायेष्टकां तत्र मध्यगर्तवतीं शुभाम्।।
गर्तस्य परितः कुर्यात् पालिकामंगुलोच्छ्रयाम्।
गर्ते सूतं विनिक्षिप्य गर्तास्ये वसनं क्षिपेत्।।
निक्षिपेद् गन्धकं तत्र मल्लेनाऽऽस्यं निरुद्ध्य च।

जो भीतर से चौड़ी हो और जिसके भीतरी भाग में नींबू के रस में घोटे हुए हिंगुल का लेप किया हुआ हो। इस हाँडी के ऊपर दूसरी एक हाँडी रखते हैं। नीचे की हाँडी के मुंह और ऊपर की हाँडी के पृष्ठ भाग की सन्धियों को कपड़-मिट्टी द्वारा अच्छी तरह बन्द कर देते है। फिर ऊपर की हाँडी में ठंडा पानी भर देते हैं। चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे की हाँडी में आँच देते हैं। इसका नाम विद्याधरयंत्र है और हिंगुल में से पारा प्राप्त करने में इसका उपयोग होता है।[1]



चित्र १४---डमरुयंत्र।

२४. **डमरुयन्त्र**—मिट्टी की एक हाँडी के मुंह पर दूसरी हाँडी का मुंह उलटकर रखते हैं, और बीच की सन्धियों को कपड़मिट्टी से बन्द कर देते हैं। इस उपकरण की आकृति डमरू के समान होती है, इसीलिए इसे डमरुयंत्र कहते हैं। पारद की भस्म बनाने में यह उपकरण उपयोगी है।[2]

२५. **नाभियंत्र**—एक मल्ल (शराव या सकोरा) के भीतर गड्ढा बनाते हैं। इस गड्ढे में पारा और गन्धक भर देते हैं। इन गड्ढे के चारों ओर एक अंगुल ऊँची पालिका (मेंड़ या आलवाल) बना देते हैं। इस पालिका को गाय के स्तन की आकृति-

मल्लपालिकयोर्मध्ये मृदा सम्यङ्‌ निरुध्य च ॥
वनोपलैः पुटं देयं कपोताख्यं न चाधिकम्।
इष्टिकायन्त्रमेतत्स्याद् गन्धकं तेन जारयेत्॥ (९।५२–५५)

१. स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्‌ निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः॥
एतद् विद्याधरं यंत्रं हिङ्गुलाकृष्टिहेतवे॥ (९।५६)

२. यन्त्रस्थाल्युपरि स्थालीं न्युब्जां दत्त्वा निरुन्धयेत्।
यन्त्रं डमरुकाख्यं तद्रसभस्मकृते हितम्॥ (९।५७)

वाली मूषा से ढँक देते हैं, और बीच की सन्धियों को **तोय-मृत्तिका** से बन्द कर देते हैं। इसे नाभि-यंत्र कहते हैं।[1]

तोयमृत्तिका का लक्षण **रसरत्नसमुच्चय** में इस प्रकार दिया है—पुराने लोह-किट्ट के चूर्ण (मण्डूर रज) को चूना और गुड़ के साथ मिलाकर इन तीनों को बबूल के क्वाथ के साथ घोटकर लेई ऐसा बना लेते हैं। इसीका नाम तोयमृत्तिका है। इस मिट्टी से बन्द की गयी सन्धियाँ पानी के प्रभाव से नहीं खुलती हैं।[2]

वह्निमृत्स्ना उस मिट्टी का नाम है, जिससे लेप की गयी सन्धियाँ आँच देने पर भी न खुलें। खड़िया, नमक और मण्डूर चूर्ण या किट्ट को भैंस के दूध के साथ घोटकर यह बनायी जाती है। इस मिट्टी से कपरौटी करके रोका हुआ पारद अत्यन्त तेज़ आँच लगने पर भी उड़कर नहीं जाने पाता (जैसे विदग्ध नायिका के प्रेम से आबद्ध पुरुष)।[3]

इस नाभियंत्र का उपयोग नन्दी, नागार्जुन, ब्रह्मज्योति, मुनीश्वर और सोमदेव ये ही रसज्ञ जानते थे, अन्य कोई नहीं। इस यंत्र को चूल्हे पर चढ़ाकर पालिका और मूषा के चारों तरफ के बचे हुए शराव के अवकाश में जल भरकर नीचे आग जला देते हैं। नन्दी ने ही इस यंत्र का नाम नाभियंत्र रखा था। इस यंत्र के द्वारा शुद्ध गन्धक के साथ पारे का निर्धूम जारण हो जाता है।[4]

१. मल्लमध्ये चरेद् गर्तं तत्र सूतं सगन्धकम्।
गर्तस्य परितः कुड्यं प्रकुर्यादङ्गुलोच्छ्रितम्॥
ततश्चाऽऽच्छादयेत्सम्यग्गोस्तनाकारमूषया।
सम्यक् तोयमृदा रुद्ध्वा सम्यगत्रोच्यमानया॥ (९।५८–५९)

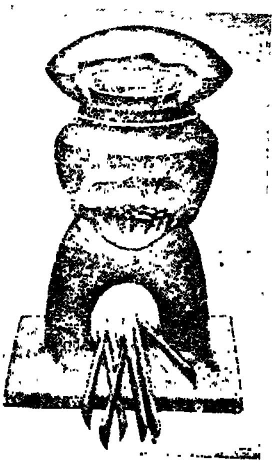
२. लेहवत् कृतबब्बूलक्वाथेन परिमर्दितम्।
जीर्णकिट्टरजः सूक्ष्मं गुडचूर्णसमन्वितम्॥
इयं हि जलमृत्प्रोक्ता दुर्भेद्या सलिलैः खलु॥ (९।६०)

३. खटिकापटुकिट्टैश्च महिषीदुग्धमर्दितैः।
वह्निमृत्स्ना भवेद्घोरवह्नितापसहा खलु॥
एतया मृत्स्नया रुद्धो न गन्तुं क्षमते रसः।
विदग्धवनिताप्रौढप्रेम्णा रुद्धः पुमानिव॥ (९।६१–६२)

४. नन्दी नागार्जुनश्चैव ब्रह्मज्योतिर्मुनीश्वरः।
वेत्ति श्रीसोमदेवश्च नापरः पृथिवीतले॥
ततो जलं विनिक्षिप्य वह्निं प्रज्वालयेदधः।

२६. **ग्रस्तयन्त्र**—नीचे से ऊपर तक एक समान लम्बी, चौड़ी, गोल एक ऐसी मूषा लेवे जोतल के भाग में चपटी हो। इसमें पारा भरे। फिर ऐसी ही एक अन्य मूषा के साथ इसका सन्धि वन्धन कर दे। इस उपकरण का नाम ग्रस्तयंत्र है। इससे पारे का पाक या भस्म तैयार करते हैं।[१]

२७. **स्थालीयन्त्र**—मिट्टी की स्थाली (हाँडी) में ताँबा या अन्य धातु भरते हैं। आवश्यकतानुसार अम्ल रस या क्वाथ भी इसमें मिलाते हैं। हाँडी का मुंह मल्ल (सकोरे) से ढँकते हैं, और सन्धियों को कपड़मिट्टी से बन्द करके हाँडी के नीचे से आँच देते हैं। इसे स्थाली यंत्र कहा जाता है।[२]



चित्र १५—धूपयंत्र।

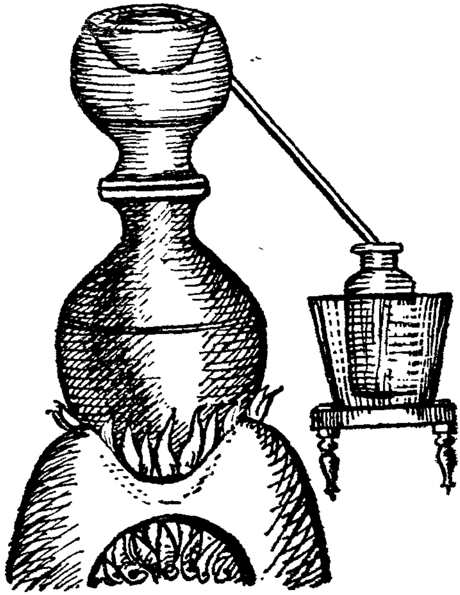
२८. **धूपयन्त्र**—आठ अंगुल चौड़ा और आठ अंगुल ऊँचा लोहे का एक पात्र लेते हैं। उसके कण्ठ के नीचे दो अंगुल चौड़े स्थान में एक आधार बनवा लिया जाता है, और इस आधार पर पतली और तिरछी लोहे की छड़ें (शलाका) टेढ़ी रख दी जाती हैं। इन शलाकाओं के ऊपर छोटे-छोटे कण्टक वेध्य सोने के पत्र रखे जाते हैं। लोहपात्र में पहले से ही गन्धक, हरताल आदि की कज्जली डाल देते हैं। इस लोहपात्र को एक दूसरे पात्र से ढँक देते हैं, और सन्धियों को कपड़मिट्टी से बन्द कर देते हैं। पात्र को चूल्हे पर चढ़ाते और नीचे से आग देते हैं। कज्जली के धूम से प्रभावित होकर सोने के पत्र काले पड़ जाते हैं। ऐसे मृत स्वर्णपत्रों को पारद शीघ्रता से भक्षण कर सकता है। भक्षण किये हुए पत्र पारद में शीघ्र ही द्रुत हो जाते हैं।

नाभियन्त्रमिदं प्रोक्तं नन्दिना सर्ववेदिना ॥
अनेन जीर्यते सूतो निर्धूमः शुद्धगन्धकः ॥ (९।६३–६४)

१. मूषां मूषोदराविष्टामाद्यन्तःसमवर्त्तुलाम्।
चिपिटां च तले प्रोक्तं ग्रस्तयन्त्रं मनीषिभिः ॥
सूतेन्द्ररन्धनार्थं हि रसविद्भिरुदीरितम् ॥ (९।६५)

२. स्थाल्यां ताम्रादि निक्षिप्य मल्लेनाऽऽस्यं निरुद्ध्य च।
पच्यते स्थालिकाधस्तात्स्थालीयन्त्रमिदं स्मृतम् ॥ (९।६६)

गन्धक, हरताल और मनःशिला की कज्जली से अथवा मृत नाग से स्वर्णपत्रों को पहले धूपित कर लेना चाहिए।



चित्र १६—वारुणीयंत्र।

चाँदी के पत्रों को धूपित करने के लिए उन्हें मृत वंग से धपित करना चाहिए। अन्य रसों से भी चाँदी के पत्रों को धूपित कर सकते ह। जारण करने योग्य द्रव्यों की सिद्धि में सदा इस धूपयंत्र का प्रयोग किया जाता है।[1]

२९. कन्दुकयंत्र अथवा स्वेदनीयंत्र—दो प्रकार के कन्दुक यंत्रों का **रसरत्न-समच्चय** में उल्लेख है—

(क) मिट्टी के एक बड़े भाण्ड में जल



चित्र १७—वकयंत्र।

१. **विधायाष्टाङ्गुलं पात्रं लौहमष्टाङ्गुलोच्छ्रयम्।**

अथवा ओषधि का स्वरस अथवा क्वाथ भरा जाता है। भाण्ड के मुख पर मज़बूत कपड़ा बाँधते हैं। इस कपड़े पर स्वेदन करने की वस्तु रख देते हैं। अब भाण्ड का मुँह सकोरे से ढँक देते हैं और सन्धियों को कपड़मिट्टी से बन्द कर देते हैं। फिर चूल्हे पर चढ़ाकर नीचे से आग देते हैं। इसे कन्दुकयंत्र कहते हैं, कुछ रसाचार्य इसे स्वेदनीयंत्र भी कहते हैं।[1]

(ख) भाण्ड के भीतर पानी आदि भर दिया जाता है। मुख पर कपड़ा नहीं बाँधते, बल्कि इस पर तृण (घास-फूस) रख देते हैं। इन तृणों पर स्वेदनवाली वस्तु रखते हैं। भाण्ड का मुँह अब शराव या सकोरे से बन्द कर देते हैं। सन्धियों को कपड़-मिट्टी से बन्द कर दिया जाता है। नीचे से आग जला देते हैं। यह दूसरे प्रकार का कन्दुकयंत्र है।[2]

कण्ठाधो द्व्यङ्गुले देशे गलाधारे हि तत्र च ॥
तिर्यग्लोहशलाकाश्च तन्वीस्तिर्यग्विनिक्षिपेत् ।
तनूनि स्वर्णपत्राणि तासामुपरि विन्यसेत् ॥
पत्राधो निक्षिपेद् धूमं वक्ष्यमाणमिहैव हि ।
तत्पात्रं न्युब्जपात्रेणाच्छादयेदपरेण हि ॥
मृदा विलिप्य सन्धिञ्च वह्निं प्रज्वालयेदधः ।
तेन पत्राणि कृत्स्नानि हतान्युक्तविधानतः ॥
रसश्चरति वेगेन द्रुतं गर्भे द्रवन्ति च ।
गन्धालकशिलानां हि कज्जल्या वा मृताहिना ॥
धूपनं स्वर्णपत्राणां प्रथमं परिकीर्त्तितम् ।
तारार्थं तारपत्राणि मृतवङ्गेन धूपयेत् ।
धूपयेच्च यथायोग्यैरन्यैरुपरसैरपि ।
धूपयन्त्रमिदं प्रोक्तं जारणाद्रवसाधने ॥ (९।६७–७३)

१. स्थूलस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वासो बध्वा मुखे दृढम् ।
तत्र स्वेद्यं विनिक्षिप्य तन्मुखं प्रपिधाय च ॥
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत्कन्दुकाभिधम् ।
स्वेदनीयन्त्रमित्यन्ये प्राहुश्चेदं मनीषिणः ॥ (९।७४–७५)

२. यद्वा स्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा तृणं क्षिप्त्वा मुखोपरि ।
स्वेद्यद्रव्यं परिक्षिप्य पिधानं प्रविधाय च ।
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यन्त्रं तत्कन्दुकं स्मृतम् ॥ (९।७६)

३०. **खल्ल या खल्वयंत्र**—खल्ल, खल्व या खरल नीले अथवा श्याम रंग के चिकने, मज़बूत और भारी पत्थर के बनाये जाने चाहिए। खरल १६ अंगुल ऊँचा, ९ अंगुल चौड़ा और २४ अंगुल लम्बा होना चाहिए। इसकी घर्षणी (pestle) या मुसली १२ अंगुल लम्बी होनी चाहिए। कुछ खरल १० अंगुल ऊँचे और २० अंगुल लम्बे भी हो सकते हैं। ये खरल रसकर्म में उपयोगी हैं।[1]

रसादि पदार्थों को सुखपूर्वक घोटने के निमित्त तीन प्रकार के खरल बताये गये हैं। ये छूने में चिकने और इस प्रकार के होने चाहिए कि घोटते समय इनमें रखे पदार्थ नीचे न गिरें। इनकी घर्षणियाँ भी चिकनी और उपयुक्त होनी चाहिए।[2]

(क) **अर्धचन्द्राकृति खल्ल**—यह १० अंगुल ऊँचा, १६ अंगुल लम्बा, १० अंगुल चौड़ा और नीचे की ओर ७ अंगुल माप का होता है। इसके किनारे या पाली २ अंगुल मोटी होती हैं। देखने में यह अर्धचन्द्र के समान होता है। इसकी घर्षणी १२ अंगुल की होती हैं।[3]

(ख) **वर्तुल खल्ल**—यह १२ अंगुल लम्बा, १२ अंगुल चौड़ा और ४ अंगुल गहरा होता है। यह अति चिकने पत्थर का बनाया जाता है। कम-से-कम बीच के भाग में तो इसे अत्यन्त चिकना होना ही चाहिए। इसकी घर्षणी या मर्दक नीचे से चिपटा और ऊपर अच्छी प्रकार पकड़ने योग्य होना चाहिए। यह खल्ल मर्दन कार्य्य में अति सुखप्रद है।[4]

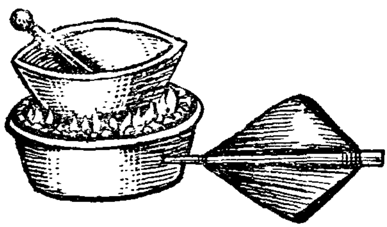
१. खल्लयोग्या शिला नीला श्यामा स्निग्धा दृढा गुरुः।
षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा ॥
चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा घर्षणी द्वादशाङ्गुला।
विंशत्यङ्गुलदीर्घा वा स्यादुत्सेधे दशाङ्गुला।
खल्लप्रमाणं तज्ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसकर्मणि ॥ (९।७७–७८)

२. खल्लयंत्रं त्रिधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने।
निरुद्गारौ सुमसृणौ कार्यौ पुत्रिकया युतौ ॥ (९।७९–८०)

३. उत्सेधे स दशाङ्गुलः खलु कलातुल्याङ्गुलायामवान्,
विस्तारेण दशाङ्गुलो मुनिमितैर्निम्नस्तथैवाङ्गुलैः।
पाल्यां द्व्यङ्गुलविस्तरश्च मसृणोऽतीवार्धचन्द्रोपमो
घर्षो द्वादशकाङ्गुलश्च तदयं खल्लो मतः सिद्धये ॥ (९।८१)

४. द्वादशाङ्गुलविस्तारः खल्लोऽतिमसृणोपलः।
चतुरङ्गुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणीकृतः ॥

(ग) **तप्त खल्ल**—यह लोहे का बनाया जाता है। यह ९ अंगुल लम्बा-चौड़ा, और ६ अंगुल गहरा होता है, और इसका मर्दक (घर्षणी) ८ अंगुल का होता है।[१]



चित्र १८—तप्तखल्वयंत्र।

जिस प्रकार का लोहे का खरल बना हो, वैसे ही आकार का चूल्हा (या भट्ठी) बनवाकर उसमें कोयले भर देने चाहिए। उस चूल्हे पर खरल को रखकर आग को एक पार्श्व से धौंकनी द्वारा धौंकना चाहिए। खरल में रखकर पारद की पिष्टि को क्षार, अम्ल आदि द्वारा घोटना चाहिए। इस प्रकार स्वेदन करने से पिष्टि अतिशीघ्र द्रवीभूत हो जायगी। यदि यह तप्त खल्ल साधारण लोहे का न बनवाकर कान्त लोह का बनवाया जाय, तो इसमें सिद्ध किया हुआ पारा करोड़ गुना लाभप्रद होता है।[२]

महारस

रसरत्नसमुच्चय में रस या महारस ८ बताये गये हैं—

अभ्रक, वैक्रान्त, माक्षिक, विमला, अद्रिज या शिलाजीत, सस्यक (नीला थोथा) चपल, और रसक।[३]

मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात्सुग्राहश्च शिखोपरि।
अयं तु वर्तुलः खल्लो मर्दनेऽतिसुखप्रदः॥ (९।८३–८४)

१. लौहो नवाङ्गुलः खल्लो निम्नत्वे च षडङ्गुलः।
मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्लाभिधोऽप्ययम्॥ (९।८५)

२. कृत्वा खल्लाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम्।
तस्यां निवेश्य तं खल्लं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत्॥
तदन्तर्मर्दिता पिष्टिः क्षारैरम्लैश्च संयुता।
प्रद्रवत्यतिवेगेन स्वेदिता नात्र संशयः।
कृतः कान्तायसा सोऽयं भवेत्कोटिगुणो रसः॥ (९।८६–८७)

३. अभ्रवैक्रान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम्।
चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ संग्रहेद्रसान्॥ (२।१)

माक्षिक का साधारण नाम सोनामाखी और विमला का रूपामाखी है। १२० तोले नाग को गजपुट में फूँकने से जब वह १ तोला शेष रह जाय, तो उसे **चपल** कहते हैं (कोई-कोई आचार्य्य चपल को नाग और वंग का मिश्रण बताते हैं। और आज कल के कुछ विद्वान् चपल को आधुनिक रसायन को तत्त्व-विशे बिसमथ मानते हैं)। रसक का नाम खपरिया भी है।

१. **अभ्रक** (Mica)——पारा यदि शिव का वीर्य्य है, तो अभ्रक पार्वती का तेज (गौरी तेज) माना जा सकता है। आठ हाथ गहरी खान खोदकर जो अभ्रक निकाला जाता है, वह भारी और फलदायक होता है, परन्तु जिस अभ्रक के पत्र पतले होते हैं, वह सत्त्वहीन और निष्फल है।[1]

अभ्रक के चार भेद हैं——पिनाक, नाग, मण्डूक और वज्र। श्वेत, लाल, पीला और काला, ये चार भेद प्रत्येक के और हो सकते हैं।[2]

(क) पिनाक अभ्रक——यह अग्नि में तपाने पर पत्रों को अलग-अलग छोड़ देता है। यह मलबद्ध करके मनुष्य को मारता है।

(ख) नाग अभ्रक——यह अग्नि में तपाने पर साँप की तरह फुंकार छोड़ता है। यह कुष्ठरोग उत्पन्न करता है।

(ग) मण्डूक अभ्रक——यह अग्नि में तपाने पर मेंढक के समान उछल-उछलकर गिरता है। असाध्य अश्मरी रोग इससे उत्पन्न होता है।

(घ) वज्र अभ्रक——अग्नि में तपाने पर इसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यह शरीर को लोहे के समान बनाता है और सर्वरोग हर है।

१. **गौरीतेजः परममतं वातपित्तक्षयघ्नम् (२।२)**
राजहस्तादधस्ताद्यत्समानीतं घनं खनेः।
भवेत्तदुक्तफलदं निःसत्त्वं निष्फलं परम्॥ (२।३)

२. **पिनाकनागमण्डूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम्।**
श्वेतादिवर्णभेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्॥
पिनाकं पावकोत्तप्तं विमुञ्चति दलोच्चयम्।
तत्सेवितं मलं बद्ध्वा मारयत्येव मानवम्॥
नागाभ्रं नागवत्कुर्याद् ध्वनिं पावकसंस्थितम्।
तद्भुक्तं कुरुते कुष्ठं मण्डलाख्यं न संशयः॥
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मण्डूकं ध्मातं पतति चाभ्रकम्।
तत्कुर्यादश्मरीरोगमसाध्यं शस्त्रतोऽन्यथा॥

वर्णभेद से श्वेत, रक्त, पीत, और कृष्ण, ये चार अभ्रक हैं। श्वेत अभ्रक श्वेत-कर्म में अर्थात् चाँदी आदि बनाने में काम आता है, लाल अभ्रक रक्त कर्म में (रंगने में), और पीला अभ्रक पीतकर्म (सोने के बनाने) में श्रेष्ठ समझा जाता है। चौथा जो कृष्ण अभ्रक है, वह रसकर्म में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है।

चमकदार (चन्द्रिकायुक्त) और किट्ट (धातु मल) के समान जो अभ्रक होता है वह पारे को नहीं ग्रसता। धातु सिद्ध करने और अन्य रसकर्मों में उस पारे का उपयोग है जिसने अभ्रक का ग्रास कर लिया हो। निश्चन्द्र अभ्रक की भस्म ही रोगों में उपयोगी बतायी गयी है।[1]

रसरत्नसमुच्चय में अभ्रक के शोधन, मारण और सत्त्वपातन की विधियाँ दी हुई हैं। अभ्रक को अग्नि में तपाकर, काँजी, गोमूत्र, त्रिफला के क्वाथ, गाय के दूध आदि में बुझाया जाय तो यह शुद्ध हो जाता है।[2] शालि धान्यों के साथ अभ्रक को काँजी में भिगोकर मर्दन करें तो **धान्याभ्रक** बनेगा।[3] धान्याभ्रक को वट की जड़ की छाल के क्वाथ के साथ खरल करके टिकियाँ बना लें और २० बार गजपुट में फूँकें, तो अभ्रक की भस्म बनेगी।[4] धान्याभ्रक में चौथाई भाग सुहागा मिलाकर उसको मुसली के रस में

वज्राभ्रं वह्निसंतप्तं निर्मुक्ताऽशेषवैकृतम्।
देहलोहकरं तच्च सर्वरोगहरं परम्॥ (२।४–८)

१. श्वेतं रक्तं च पीतं च कृष्णमेवं चतुर्विधम्।
श्वेतं श्वेतक्रियासूक्तं रक्ताभं रक्तकर्मणि॥
पीताभमभ्रकं यत्तु श्रेष्ठं तत्पीतकर्मणि।
चतुर्विधं परं व्योम यद्यप्युक्तं रसायने॥
तथाऽपि कृष्णवर्णाभ्रं कोटिकोटिगुणाधिकम्।
स्निग्धं पृथुदलं वर्ण संयुक्तं भारतोऽधिकम्॥
सुखान्निर्मोच्य पत्रं च तदभ्रं शस्तमीरितम्॥ (२।९–११)

२. प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं कांजिकेऽभ्रकम्।
निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वाऽपि गोजले॥ (२।१६)

३. चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि कांजिके।
निर्यातं मर्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते॥ (२।२१)

४. वटमूलत्वचः क्वाथैस्ताम्बूलीपत्रसारतः।
वासामत्स्याक्षिकाभ्यां वा मीनाक्ष्या सकठिल्लया॥ (२।२४)

खरल कर कोष्ठी में (मूषा में) बन्द करके आग में फूँकें, तो इसमें से लोहे के समान घन सत्त्व प्राप्त होगा।[1] अभ्रक **सत्त्व** को अग्नि पर गलाकर उसमें शहद, तेल, घी और वसा (चर्बी) डालकर पकायें, तो ऐसा दस बार करने पर अभ्रक मृदु पड़ जाता है। अभ्रक और उसकी भस्मों के इसी प्रकार के अनेक योग दिये हुए हैं।

२. **वैक्रान्त** (Tourmaline **से मिलता जुलता**)—अष्टास्र (आठ कोनेवाला), अष्टफलक एवं षट्कोणोंवाला चिकना, भारी, शुद्ध, और अमिश्रित वर्णवाला वैक्रान्त श्रेष्ठ माना गया है। रंगों की दृष्टि से इसके ८ भेद हैं—श्वेत, रक्त (लाल), पीत, नील, पारावत या कबूतर की-सी छबिवाला, श्यामल, कृष्णवर्ण, और कर्बुर (चितकबरा)।[2] ऐसी कथा है कि सहदेव के पुत्र दैत्य महिषासुर को दुर्गा भगवती ने अपने त्रिशूल से जब मारा तो उसका रुधिर जहाँ-जहाँ पर गिरा, वहीं पर हीरे के समान आकारवाला वैक्रान्त उत्पन्न हो गया। विन्ध्याचल के दक्षिण और उत्तर भाग में इसकी खानें हैं। कठोर होने के कारण यह लोहे आदि धातुओं को काटने में समर्थ है।[3]

वैक्रान्त को काँजी आदि अम्लवर्ग, मूत्रवर्ग, कुलत्थ का काढ़ा, केले का स्वरस अथवा कोदों के काढ़े में क्षार और नमक मिलाकर शुद्ध किया जा सकता है।[4] यदि

१. पादांशटंकणोपेतं मुसलीरसमर्दितम्।
रुन्ध्यात्कोष्ठ्यां दृढं ध्मातं सत्त्वरूपं भवेद् घनम्॥ (२।२६)

२. अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः।
शुद्धमिश्रितवर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते॥
श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छबिः।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः॥ (२।५२–५३)

३. दैत्येंद्रो माहिषः सिद्धःसहदेवसमुद्भवः।
दुर्गा भगवती देवी तं शूलेन व्यमर्दयत्॥
तस्य रक्तं तु पतितं यत्र यत्र स्थितं भुवि।
तत्र तत्र तु वैक्रान्तं वज्राकारं महारसम्॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे ह्युत्तरे वाऽस्ति सर्वतः।
विकृन्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः॥ (२।५६–५८)

४. वैक्रान्तकाः स्युस्त्रिदिनं विशुद्धाः संस्वेदिताः क्षारपटूनि दत्त्वा।
अम्लेषु मूत्रेषु कुलत्थरम्भानीरेऽथवा कोद्रववारिपक्वाः।
कुलत्थक्वाथसंस्विन्नो वैक्रान्तः परिशुद्ध्यति॥ (२।६३–६४)

इसकी भस्म बनानी हो, तो गन्धक को नीबू के रस में खरल करके उसकी लुगदी बनाकर उसमें वैक्रान्त को रखकर ८ बार गजपुट द्वारा अग्नि देनी चाहिए।[1]

वैक्रान्त का यदि सत्त्व निकालना हो तो मोखा, मोरटलता और ढाक के क्षारों को गोमूत्र में पीसकर वैक्रान्त की भावना देनी चाहिए। फिर वज्रकन्द, हल्दी का कल्क, त्रिफला का चूर्ण, सुहागा, लाख का चूर्ण और नौसादर इनमें वैक्रान्त की भस्म मिलाकर मेषशृंगी के रस में खरल करके गोला-सा बना ले, फिर इसे अन्धमूषा में रखकर कोयले की तीक्ष्ण आग दे। ऐसा करने से वैक्रान्त का सत्त्वपातन होगा।[2]

३. **स्वर्णमाक्षिक** (सोनामाखी)—यह देखने में सोने के समान पीला होता है। कथा है कि सुमेरु पर्वत से उत्पन्न सुवर्ण रस को विष्णु ने तापी नदी और उसके तीरवर्त्ती स्थानों में एवं किरात, चीन और यवन देशों में उत्पन्न किया। माक्षिक दो प्रकार का होता है—सोने का-सा पीला (सोनामाखी), और चाँदी-सा सफ़ेद (रौप्यमाक्षिक या रूपामाखी)। जो स्वर्णमाक्षी कन्नौज में उत्पन्न होती है, वह सोने के समान कान्तिवाली होती है, और जो तापी नदी के किनारे पर पायी जाती है, वह पंचरंगी और स्वर्णवत् होती है। रूपामाखी में पत्थर का अंश अधिक होता है और वह कम गुणोंवाली मानी गयी है।[3]

१. म्रियतेऽष्टपुटैर्गन्धनिम्बुकद्रव संयुतः।
वैक्रान्तेषु च तप्तेषु हयमूत्रं विनिक्षिपेत्॥
पौनःपुन्येन वा कुर्याद् द्रवं दत्त्वा पुटं त्वनु।
भस्मीभूतं च वैक्रान्तं वज्रस्थाने नियोजयेत्॥ (२।६४–६५)

२. मोचमोरटपालाशक्षारगोमूत्रभावितम्।
वज्रकन्दनिशाकल्कफलचूर्णसमन्वितम्।
तत्कल्कं टंकणं लाक्षाचूर्णं वैक्रान्तसंभवम्॥
नवसारसमायुक्तं मेषशृंगीद्रवान्वितम्।
पिण्डितं मूकमूषस्थं ध्मापितं च हठाग्निना॥ (२।६६–६८)

३. सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना कांचनो रसः।
ताप्यां किरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः॥
ताप्यः सूर्य्यांशुसंतप्तो माधवे मासि दृश्यते।
मधुरः कांचनाभासः साम्लो रजतसन्निभः॥....
माक्षिको द्विविधो हेममाक्षिकस्तारमाक्षिकः।

सोनामाखी और रूपामाखी दोनों का ही शोधन एरंड तेल में भूनकर अथवा बिजौरे नीबू के रस में या कदली कन्द के रस में दो घड़ी पकाकर किया जा सकता है। माक्षिकों को अग्नि में तपाकर जब लाल हो जाय तब त्रिफला के क्वाथ में छोड़ दिया जाय तो भी शोधन हो जाता है।[1]

यदि स्वर्णमाक्षिक की भस्म बनाना हो तो इसके चूर्ण में समान भाग गन्धक मिलाकर मातुलुंग (बिजौरा नीबू) के रस में खरल करके गोला बनाये और फिर मूषा में रखकर पाँच बार वाराहपुट देनी चाहिए।[2]

स्वर्णमाक्षिक के चूर्ण में ३०वाँ भाग नाग (सीसा) मिलाकर क्षारवर्ग और अम्लवर्ग के साथ खरल करे, और फिर उसका गोला बनाकर सत्त्वपातन की मूषा में रखकर कोयले की आँच में फूँके। ऐसा करने पर स्वर्णमाक्षिक का सत्त्व प्राप्त होगा।[3]

अण्डी का तेल, गुंजा (घुँघुची) का चूर्ण, शहद, और सुहागा सबको एक साथ खरल करके सोनामाखी के सत्त्व को अग्नि पर गलाकर उसमें डालने से सोनामाखी का द्रवण होता है।[4]

४. **विमला**—कुछ आचार्य विमला को रूपामाखी (रौप्यमाक्षिक) का ही एक रूप बताते हैं। **रसरत्नसमुच्चय** में विमला के तीन रूप बताये गये हैं—हेमविमला (या स्वर्णविमला), तारविमला (रौप्यविमला) और कांस्यविमला। विमला वर्तुल

तत्राऽऽद्यं माक्षिकं कान्यकुब्जोत्थं स्वर्णसन्निभम् ॥
तापतीतीरसंभूतं पंचवर्णसुवर्णवत् ।
पाषाणबहुलः प्रोक्तस्ताराख्योऽल्पगुणात्मकः ॥ (२।७३–७६)

१. **एरंडतैलमातुलुंगांबुसिद्धं शुद्ध्यति माक्षिकम् ।**
सिद्धं वा कदलीकन्दतोयेन घटिकाद्वयम् ॥
तप्तं क्षिप्तं वराक्वाथे शुद्धिमायाति माक्षिकम् ॥ (२।७८)

२. **मातुलुंगांबुगन्धाभ्यां पिष्टं मूषोदरे स्थितम् ।**
पंचक्रोडपुटे दग्धं म्रियते माक्षिकं खलु ॥ (२।७९)

३. **त्रिंशांशनागसंयुक्तं क्षारैरम्लैश्च मर्दितम् ।**
ध्मातं प्रकटमूषायां सत्त्वं मुञ्चति माक्षिकम् ॥ (२।८१)

४. **एरण्डोत्थेन तैलेन गुञ्जा क्षौद्रं च टंकणम् ।**
मर्दितं तस्य वापेन सत्त्वं माक्षिकजं द्रवेत् ॥ (२।८८)

(गोलाकार), कोणों से युक्त, स्निग्ध (चिकनी) और फलकों से युक्त होती है। स्वर्णविमला स्वर्ण-कर्म में, तारविमला रजत-कर्म में और कांस्यविमला औषध-कर्म में श्रेष्ठ मानी गयी हैं।[1]

अड़ूसे के रस में, जम्बीरी नीबू के रस में अथवा मेषशृंगी के रस में दो घड़ी तक पकाने पर विमला शुद्ध हो जाती है।[2]

विमला के चूर्ण में समान भाग गन्धक मिलाकर बड़हल के फल के रस में या नीबू के रस में खरल करके गोला बनाकर गजपुट में रखकर १० बार यदि आँच दें तो इसकी भस्म तैयार होती है।

विमला की भस्म, भस्म के बराबर सुहागा और मेषशृंगी की भस्म लेकर मेष-शृंगी के रस में एक साथ खरल करे, फिर इस प्रकार प्राप्त द्रव्य का सत्त्वपातनकी मूषा के भीतर लेप कर दे और जब लेप सूख जाय तब मूषाको बन्द करके ६ प्रस्थ कोयले में रखकर धौंकनी से फूंके, तो विमला का चन्द्रमा के समान उज्ज्वल सत्त्व मिलेगा।[3]

विमला, पारा और गन्धक के योग से विमला का रसायन बनाने की विधि भी ग्रन्थकार ने दी है।

१. विमलस्त्रिविधः प्रोक्तो हेमाद्यस्तारपूर्वकः।
तृतीयः कांस्यविमलस्तत्तत्कान्त्या च लक्ष्यते॥
वर्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः।
मरुत्पित्तहरो वृष्यो विमलोऽतिरसायनः॥
पूर्वो हेमक्रियासूक्तो द्वितीयो रूप्यकृन्मतः।
तृतीयो भेषजे तेषु पूर्वपूर्वो गुणोत्तरः॥ (२।८९–९१)

२. आटरूषजले स्विन्नो विमलो विमलो भवेत्।
जम्बीरस्वरसे स्विन्नो मेषशृंगीरसेऽथवा॥
आयाति शुद्धिं विमलो धातवश्च यथाऽपरे॥ (२।९२)

३. गन्धाश्मलकुचाम्लैश्च म्रियते दशभिः पुटैः।
सटंकलकुचद्रावैर्मेषशृंग्याश्च भस्मना॥
पिष्टो मूषोदरे लिप्तः संशोष्य च निरुध्य च॥
षट्प्रस्थकोकिलैर्ध्मातो विमलः सीससंन्निभः।
सत्त्वं मुञ्चति तद्युक्तो रसः स्यात्स रसायनः॥ (२।९३–९५)

५. **शिलाजीत या शिलाजतु**—शिलाजीत दो प्रकार का होता है—(१) गोमूत्र के समान गन्धवाला और (२) कपूर के समान गन्धवाला। इनमें से गोमूत्र की-सी गन्धवाला ही श्रेष्ठ है। इसके भी दो भेद हैं—ससत्त्व और निःसत्त्व। ग्रीष्मऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप से जब हिमालय अत्यन्त संतप्त हो जाता है, तब उसमें से पिघलकर शिलाजीत रसरूप में बाहर निकलता है। कहा जाता है कि हिमालय के शिखर पर सोने, चाँदी और ताँबे की खानें हैं। सोने की खान से पिघलकर बहा शिलाजीत जपाकुसुम के समान लाल और भारी होता है। चाँदी की खान से पिघलकर बहा शिलाजीत रंग में कुछ पीला और भारी होता है। ताँबे की खान से पिघलकर बहा शिलाजीत नीले रंग का, घन (गाढ़ा) और भारी होता है।[1]

क्षार, अम्ल (कांजी) और गोमूत्र इन तीनों के साथ धोने से शिलाजीत शुद्ध होता है। शुद्ध करने की एक विधि यह भी है कि दूध, त्रिफला का काढ़ा, अर्क-द्रव (भांगरे का रस), इनमें से किसी एक द्रव को लोहे के पात्र में भरकर और उसमें शिलाजीत डालकर तेज़ धूप में रख दे। ऐसा करने पर शिलाजीत का श्रेष्ठ भाग ऊपर इकट्ठा हो जाता है और मल भाग नीचे आ जाता है। स्वेदन यंत्र में क्षार, अम्ल अथवा गुग्गुल के रस द्वारा एक घड़ी तक स्वेदन करने पर भी इसका शोधन होता है।[2]

१. **शिलाधातुर्द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः।**
कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राद्यो द्विविधः पुनः॥
ससत्त्वश्चैव निःसत्त्वस्तयोः पूर्वो गुणाधिकः।
ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः॥
स्वर्णरूप्यार्क गर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत्।
स्वर्णगर्भगिरेर्जातो जपापुष्पनिभो गुरुः॥
स स्वल्पतिक्तः सुस्वादुः परमं तद्रसायनम्।
रूप्यगर्भगिरेर्जातं मधुरं पाण्डुरं गुरु॥
शिलाजं पित्तरोगघ्नं विशेषात्पाण्डुरोगहृत्।
ताम्रगर्भगिरेर्जातं नीलवर्णं घनं गुरु॥ (२।१०२–१०६)

२. **क्षाराम्लगोजलैर्धौतं शुद्ध्यत्येव शिलाजतु।**
शिलाधातुं च दुग्धेन त्रिफलामार्कवद्रवैः।
लोहपात्रे विनिक्षिप्य शोधयेदतियत्नतः॥
क्षाराम्लगुग्गुलोपेतैः स्वेदनीयंत्रमध्यगैः।
स्वेदिता घटिकामानाच्छिलाधातुर्विशुद्ध्यति॥ (२।११०–११२)

मनःशिला, गन्धक और हरताल के साथ शिलाजीत को मातुलुंग (नीबू) के रस में घोटकर गोला बनाकर आठ कण्डों की पुट देने से शिलाजीत की उत्तम भस्म बनती है।[1]

शिलाजीत को द्रावणवर्ग और अम्लवर्ग की ओषधियों के साथ उत्तम प्रकार से खरल करके मूषा में रखकर कोयलों की तेज़ आँच देने पर शिलाजीत में से लोहे के समान सत्त्व निकलता है।[2]

६. **सस्यक (नीला थोथा)**—कथा यह है कि गरुड़ ने अमृतपान के अनन्तर हलाहल विष भी पी डाला। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे मरकत (नीलगिरि) पर्वत पर वमन करना पड़ा। यह नीला-नीला वमन ही जमकर सस्यक या नील तुत्थ बन गया।[3]

नीला थोथा (तुत्थक) रक्तवर्ग की ओषधियों की भावना देकर शुद्ध किया जा सकता है। घी आदि स्नेह पदार्थों के साथ सात बार पका लेने पर भी इसके दोष दूर हो जाते हैं।[4]

गन्धाश्म (आमलासार गंधक) और टंकण (सुहागा) के साथ मिलाकर बड़हल के फल के रस में खरल करके मूषा में कुक्कुट पुट देकर तीन दिन में इसकी भस्म तैयार की जाती है।[5]

सस्यक का चूर्ण और चौथाई भाग सुहागा दोनों को एकत्र खरल करके एक दिन

१. शिलया गन्धतालाभ्यां मातुलुंगरसेन च।
पुटितो हि शिलाधातुर्म्रियतेऽष्टगिरिण्डकैः॥ (२।११३)

२. पिष्टं द्रावणवर्गेण साम्लेन गिरिसंभवम्।
क्षिप्त्वा मूषोदरे रुद्ध्वा गाढैर्ध्मातं हि कोकिलैः॥
सत्त्वं मुञ्चेच्छिलाधातुस्तत्क्षणाल्लोहसन्निभम्॥ (२।११६)

३. पीत्वा हालाहलं वान्तं पीतामृतगरुत्मता।
विषेणामृतयुक्तेन गिरौ मरकताह्वये।
तद्वान्तं हि घनीभूतं संजातं सस्यकं खलु। (२।११९)

४. सस्यकं शुद्धिमाप्नोति रक्तवर्गेण भावितम्।
स्नेहवर्गेण संसिक्तं सप्तवारमदूषितम्। (२।१२३–१२४)

५. लकुचद्रावगन्धाश्मटंकणेन समन्वितम्।
निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौक्कुटैः पुटैः॥ (२।१२५)

रात करंजक तेल में भिगो दे। फिर उसका गोला बनाकर अंधमूषा में रखकर कोयले की आग दे, तो वीरबहूटी के समान लाल रंग का सत्त्व निकलेगा।[1]

७. **चपला** (संभवतः बिसमथ)––यह चार प्रकार की होती है––गौर, श्वेत, अरुण और कृष्ण। स्वर्ण के समान गौर और चाँदी के समान श्वेत चपला पारे के बाँधने में विशेष हितकर है। अरुण और कृष्ण चपला आग में डालने पर लाख के समान पिघल जाती है। ये दोनों निष्फल और निरुपयोगी हैं। आग पर यह वंग (टिन) के समान शीघ्र पिघल जाती है, इसलिए इसका नाम चपला रक्खा गया है। चपला लेखन में सिद्ध है और शरीर-कर्म लोह-कर्म, दोनों में यह उपकारी है। यह पारे की सहायक एवं तिक्त, उष्ण और मधुर है। देखने में फिटकरी (स्फटिक) के समान स्वच्छ है, इसके रवे छः कोणों के, चिकने एवं भारी होते हैं।[2]

चपला के चूर्ण को नीबू, वन्ध्याकर्कोटकी और अदरख के रस की भावना देकर शुद्ध किया जा सकता है।

इसका सत्त्व निकालना हो तो इसे काँजी, वत्सनाभ और उपविषों के काढ़े में खरल करके गोला बनाकर अंधमूषा में तपाना चाहिए।

चपला धातु को उपर्युक्त ओषधियों में घोटकर, गोला बनाकर शराव संपुट में रखकर ऊपर से कपरौटी करके गजपुट में फूँकने पर उत्तम भस्म बनेगी।[3]

१. सस्यकस्य तु चूर्णं तु पादसौभाग्यसंयुतम्।
करंजतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत्॥
अंधमूषास्यमध्यस्थं ध्मापयेत् कोकिलत्रयम्।
इन्द्रगोपाकृतिश्चैव सत्त्वं भवति शोभनम्॥ (२।१२६-१२७)

२. गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु चतुर्विधः।
हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद् रसबंधनः॥
शेषौ तु मध्यौ लाक्षावच्छीघ्रद्रावौ तु निष्फलौ।
वंगवद् द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्तितः॥
चपलो लेखनः सिद्धो देहलोहकरो मतः।
रसराजसहायः स्यात् तिक्तोष्णमधुरो मतः॥
चपलः स्फटिकच्छायः षडस्रः स्निग्धको गुरुः। (२।१३५–१३८)

३. जम्बीरकर्कोटकशृंगवेरैर्विभावनाभिश्चपलस्य शुद्धिः।
शैलं तु चूर्णयित्वा तु धान्याम्लोपविषैर्विषैः।
पिण्डं बद्ध्वा तु विधिवत्पातयेच्चपलं तथा॥ (२।१४०–१४१)

८ **रसक**—(Calamine)—रसक (खपरिया) दो प्रकार का पाया जाता है—दर्दुर और कारवेल्लक दर्दुर। रसक सदल (पत्रों से युक्त) और कारवेल्लक निर्दल होता है। सत्त्वपातन के लिए दर्दुर अच्छा माना गया है और औषध-कर्म में कारवेल्लक श्रेष्ठ है।[१] नागार्जुन के कथनानुसार पारा और रसक दोनों ही श्रेष्ठ और सिद्ध रस हैं, शरीरकर्म में और लोहकर्म में दोनों का प्रयोग हो सकता है। रसाचार्य की चातुरी इस बात में है कि वह पारे और रसक दोनों को अग्नि-सह (अर्थात् आग में न उड़नेवाला) बना ले।[२]

रसक का शोधन करना हो, तो इसे कड़वी तुम्बी के रस में पकाये, जब वह अच्छी तरह पच जाय और रस पककर सूख जाय, तो समझना चाहिए कि शोधन हो गया। इसका रंग पीला होता है।[३]

खपरिया अग्नि में तपाकर नरमूत्र, अश्वमूत्र, मट्ठा या काँजी में बुझाया जाय तब यह शुद्ध हो जाता है।[४]

रसक का सत्त्वपातन प्राप्त करने की एक विधि इस प्रकार है—हलदी, त्रिफला, राल, सैंधा नमक, धूम, सुहागा और अरुष्क (भिलावा), प्रत्येक को खपरिया की मात्रा का एक चौथाई लेकर काँजी या नीबू के रस में खरल करे। फिर वृन्ताकमूषा में इस मिश्रण का लेप करे और सुखा डाले। फिर उस मूषा के मुख के ऊपर मिट्टी का खपरा ढककर कोयले की आग में फूंके। जब मूषा में खपरिया (रसक) गलकर पतला हो जाय और मूषा में से नीली, काली एवं श्वेतरंग की लपटें निकलने लगें, तब

१. रसको द्विविधः प्रोक्तो दर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः॥
सत्त्वपाते शुभः पूर्वो द्वितीयश्चौषधादिषु॥ (२।१४०–१४२)

२. नागार्जुनेन संदिष्टौ रसश्च रसकावुभौ।
श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलोहकरौ परम्॥
रसश्च रसकश्चोभौ येनाग्निसहनौ कृतौ।
देहलोहमयी सिद्धिर्दासी तस्य न संशयः॥ (२।१४४–१४५)

३. कटुकालाबुनिर्यासे आलोड्य रसकं पचेत्।
शुद्धं दोषविनिर्मुक्तं पीतवर्णं च जायते॥ (२।१४६)

४. नृमूत्रे वाऽश्वमूत्रे वा तक्रे वा कांजिकेऽथवा।
प्रताप्य मज्जितं सम्यक् खर्परं परिशुद्धयति॥ (२।१४८)

सँडसी से मूषा को पकड़कर अग्नि से बाहर निकाल ले और उसे उलटकर सत्त्व अलग कर ले। यह ध्यान रहे कि नाल न टूट जाय। ऐसा करने पर जो सत्त्व निकलता है वह वंग के समान होता है। एक बार में सब सत्त्व नहीं निकल पाता, इसलिए तीन-चार बार प्रक्रिया दोहरानी चाहिए।[1]

उपरस

रसरत्नसमुच्चय के तीसरे अध्याय में ८ उपरसों और ८ साधारण रसों का उल्लेख है। आठ उपरस निम्न हैं—

गंधक, गैरिक (गेरू), कासीस, कांक्षी (फिटकरी), हरताल, मनःशिला, अञ्जन और कंकुष्ठ।

१. **गन्धक**—कथा है कि एक बार क्षीरसागर के तट पर क्रीड़ा करते-करते पार्वतीजी को रजःस्राव हो गया और उससे उनके कपड़े लाल हो गये। पार्वती ने कपड़े वहीं छोड़ दिये और वे लहरों के साथ समुद्र में बह गये। पार्वतीजी का यह रज ही क्षीरसागर के मन्थन के समय अमृत के साथ गन्धक के रूप में प्राप्त हुआ। इसकी गन्ध से सभी दैत्य-दानव प्रसन्न हो उठे, इसी लिए इसका नाम गन्धक पड़ा। देवताओं ने कहा कि यह गन्धक पारद के वेधन और जारण में बड़ा उपयोगी होगा।[2]

१. हरिद्रात्रिफलारालासिंधुधूमैः सटंकणैः।
सारुष्करैश्च पादांशैः साम्लैः संमर्द्य खर्परम्॥
लिप्तं वृंताकमूषायां शोषयित्वा निरुध्य च।
मूषां मूषोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत्ततः॥
खर्परे प्रद्रुते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि।
तदा संदंशतो मूषां धृत्वा कृत्वा त्वधोमुखीम्।
शनैरास्फालयेद् भूमौ यथा नालं न भज्यते॥
वंगाभं पतितं सत्त्वं समादाय नियोजयेत्।
एवं त्रिचतुरैर्वारैः सर्वं सत्त्वं विनिस्सरेत्॥ (२।१५०–१५३)

२. श्वेतद्वीपे पुरा देवि सर्वरत्नविभूषिते।
सर्वकाममये रम्ये तीरे क्षीरपयोनिधेः॥.......
एवं संक्रीडमानायाः प्राभवत्प्रसृतं रजः।

गन्धक तीन प्रकार का बताया गया है—(१) तोते की चोंच-सा लाल (उत्तम), (२) पीला (मध्यम), और (३) सफ़ेद (अधम)। कुछ लोग गन्धक चार प्रकार का मानते हैं—श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण।

(क) श्वेत गन्धक खड़िया के समान होता है। इसे खटिका कहते हैं। यह लेप करने और धातुओं के मारने में उपयोगी है। (ख) पीले रंग का गन्धक आमलसार कहलाता है। इसका एक भेद शुकपिच्छ भी है। यह रस और रसायन के काम में श्रेष्ठ है। (ग) तोते की चोंच के समान लाल गन्धक शुकतुंड कहलाता है, यह धातु-कर्म में श्रेष्ठ माना गया है। (घ) कृष्ण वर्ण का गन्धक जरा-मृत्यु को नाश करने वाला और दुर्लभ है।[1]

गन्धक शोधन की एक विधि इस प्रकार है—गन्धक को एक घड़ी पर्यन्त दूध में पकाकर पानी से धो डाले, पश्चात् गाय का घी कड़ाही में चढ़ाकर उसमें गन्धक

तद्रजोऽतीव सुश्रोणि सुगन्धि सुमनोहरम् ॥
रजसश्चातिबाहुल्याद्वासस्ते रक्ततां ययौ ।
तत्र त्यक्त्वा तु तद्वस्त्रं सुस्नाता क्षीरसागरे ॥
वृता देवांगनाभिस्त्वं कैलासं पुनरागता ।
ऊर्मिभिस्तद्रजोवस्त्रं नीतं मध्ये पयोनिधेः ॥
एवं ते शोणितं भद्रे प्रविष्टं क्षीरसागरे ।
क्षीराब्धिमथने चैतदमृतेन सहोत्थितम् ॥
निजगन्धेन तान्सर्वान्हर्षयन्सर्वदानवान् ।
ततो देवगणैरुक्तं गंधकाख्यो भवत्वयम् ॥
रसस्य बंधनार्थाय जारणाय भवत्वलम् । (३।३–११)
ये गुणाः पारदे प्रोक्तास्ते चैवात्र भवंत्विति ॥

१. स चापि त्रिविधो देवि शुकचंचुनिभो वरः ।
मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छुक्लवर्णोऽधमः प्रिये ॥
चतुर्धा गन्धको ज्ञेयो वर्णैः श्वेतादिभिः खलु ।
श्वेतोऽत्र खटिका प्रोक्तो लेपने लोहमारणे ॥
तथा चामलसारः स्याद्यो भवेत्पीतवर्णवान् ।
शुकपिच्छः स एव स्याच्छ्रेष्ठो रसरसायने ॥
रक्तश्च शुकतुंडाख्यो धातुवादविधौ वरः ।
दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः ॥ (३।१३–१६)

डालकर अग्नि पर पकाये। जब गन्धक गल जाय तब उसे वस्त्र से छान ले। इस प्रकार शुद्ध किये हुए गन्धक में से पत्थर का अंश और दूसरे अंश निकल जाते हैं। गन्धक का विष भी अपने आप घी में बिन्दुरूप से इकट्ठा हो जाता है।[1] **रसरत्नसमुच्चय** में गन्धक के अनेक रोगहर योग दिये हुए हैं। गन्धक से तैयार कुछ तेलों का भी वर्णन है।

२. **गैरिक** (Red ochre)—गेरू या गैरिक दो प्रकार का बताया गया है—पाषाणगैरिक और स्वर्णगैरिक। पाषाणगैरिक कठोर और ताँबे के रंग का होता है और स्वर्णगैरिक लाल, स्निग्ध और कोमल होता है।[2] दोनों प्रकार के गैरिक गाय के दूध में भावना देने से शुद्ध हो जाते है। नन्दी नामक रसाचार्य का मत है कि गैरिक स्वयं सत्त्वरूप है, अतः इसका सत्त्व नहीं निकाला जा सकता। परन्तु कुछ आचार्य काँजी और क्षार में पकाकर इसका सत्त्व निकालने का निर्देश करते हैं। यह सत्त्व पारे के साथ मिल सकता है और गेरू की अपेक्षा अधिक गुणवाला है।[3]

३. **कासीस** (Iron sulphate या green vitriol)—कासीस दो प्रकार का बताया गया है—(१) बालुकासीस और (२) पुष्पकासीस। बालुकासीस बालू के समान धूल-सा, काँजी, अगर और धुएँ के समान रंगवाला, उष्णवीर्य और विषनाशक है। यह श्वेत कुष्ठ को दूर करता और बालों को रंगता है। पुष्पकासीस

१. पयःस्विन्नो घटीमात्रं वारिधौतो हि गन्धकः।
गवाज्यविद्रुतो वस्त्राद् गालितः शुद्धिमृच्छति॥
एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणानंबरे त्यजेत्।
घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिण्डत्वमेव च॥ (३।२१–२२)

२. पाषाणगैरिकं चैकं द्वितीयं स्वर्णगैरिकम्।
पाषाणगैरिकं प्रोक्तं कठिनं ताम्रवर्णकम्॥
अत्यन्तशोणितं स्निग्धं मसृणं स्वर्णगैरिकम्।
स्वादु स्निग्धं हिमं नेत्र्यं कषायं रक्तपित्तनुत्॥ (३।४६–४७)

३. गैरिकं तु गवां दुग्धैर्भावितं शुद्धिमृच्छति।
गैरिकं सत्त्वरूपं हि नन्दिना परिकीर्तितम्॥
कैरप्युक्तं पतेत्सत्त्वं क्षाराम्लस्विन्नगैरिकात्।
उपतिष्ठति सूतेन्द्रमेकत्वं गुणवत्तरम्॥ (३।४९–५१)

गुणों में बालुकासीस से श्रेष्ठ है और यह भी बालों को काला करता है।[1] कासीस भाँगरे के रस में भिगोकर सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है। फिटकरी के समान ही कासीस का भी सत्त्व निकालते हैं।[2]

४. तुवरी या फिटकिरी (Alum)—यह सौराष्ट्र देश में उत्पन्न होनेवाला एक पदार्थ है। यह वस्त्रों को रंगने और मंजीठ के रंग को पक्का करने (mordant) के काम में आता है।[3] मजीठ का रंग और फिटकिरी का उपयोग यह महत्त्व की बात है।

साधारण फिटकरी हलके पीले रंग की, भारी और स्निग्ध होती है। यह विष-व्रण और कुष्ठ को नाश करनेवाली है।

तुवरी या फिटकरी का एक भेद फुल्लिका भी है। यह फुल्लिका तौल में हलकी, शुभ्र वर्णवाली, स्निग्ध और स्वाद में खट्टी होती है। इससे लेप करने पर ताँबे की भस्म शीघ्र बन जाती है।[4]

तुवरी तीन दिन तक काँजी में भिगोने से शुद्ध हो जाती है। क्षार और अम्ल के साथ खरल करके यदि इसका सत्त्वपातन करें तो इसका सत्त्व मिलेगा।[5]

१. कासीसं बालुकाद्येकं पुष्पपूर्वमथापरम्।
क्षाराम्लागरुधूमाभं सोष्णवीर्यं विषापहम्॥
बालुकापूर्वकासीसं श्वित्रघ्नं केशरञ्जनम्।
पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं...कचरञ्जनञ्च॥ (३।५२–५४)

२. सकृद् भृङ्गाम्बुना क्लिन्नं कासीसं निर्मलं भवेत्।
तुवरीसत्त्ववत्सत्त्वमेतस्यापि समाहरेत्॥ (३।५५–५६)

३. सौराष्ट्राश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता।
वस्त्रेषु लिप्यते यासौ मंजिष्ठारागबंधिनी॥ (३।६२)

४. स्फटकी फुल्लिका चेति द्वितीया परिकीर्तिता।
ईषत्पीता गुरुः स्निग्धा पीतिका विषनाशिनी।
व्रणकुष्ठहरा सर्वकुष्ठघ्नी च विशेषतः॥
निर्भारा शुभ्रवर्णा च स्निग्धा साम्लाऽपरा मता।
सा फुल्लातुवरी प्रोक्ता लेपात्ताम्रं चरेदयः॥ (३।६३–६५)

५. तुवरी कांजिके क्षिप्ता त्रिदिनाच्छुद्धिमृच्छति।
क्षाराम्लैर्मर्दिता ध्माता सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम्॥ (३।६७–६८)

गाय के पित्त की १०० भावना देकर कोयले की आग में फूँककर सत्त्व निकालने की विधि गोपनीय (अतिगुह्य) बतायी गयी है।[1]

५. हरताल—Orpiment—यह दो प्रकार की होती है—स्वर्णपत्री (तपकी) और पिण्ड (गुवरिया)। स्वर्णपत्री हरताल सोने के समान पीली-सी, भारी, स्निग्ध (चिकनी) और पतले पत्रोंवाली एवं चमकदार होती है। पिंड-हरताल पत्र-रहित पिंड के समान अथवा अल्प पत्रोंवाली और भारी होती है।[2]

यदि स्वर्ण हरताल का शोधन करना हो तो इसे कूटकर कूष्मांड (कुम्हड़े) के रस में अथवा तिलों के क्षारयुक्त जल में या चूने के पानी में दोलायंत्र के द्वारा पकाना चाहिए।[3] यदि हरताल की भस्म बनानी हो तो ढाक की जड़ का शहद के समान घनीभूत कषाय बनाये और उसमें हरताल की तीन बार भावना दे। फिर भैंस के मूत्र में घोटकर गोला बनाये। उसे फिर सम्पुट में रखकर कपरौटी करके दस उपलों की पुट दे। इस प्रकार १२ बार पुट देने से भस्म बन जायगी।[4]

हरताल का सत्त्व निकालने की विस्तृत विधि का भी उल्लेख किया गया है। हरताल और सुहागा दोनों के बराबर भाग लेकर कुलथी के क्वाथ, भैंस के घी और शहद के साथ घोटकर गोला बनाये और एक हाँडी में रख दे। उसके मुँह पर छेददार ढक्कन ढँक दे। ढक्कन और हाँडी की सन्धियों को बन्द करके चूल्हे पर चढ़ाकर मन्द, मध्य और तीव्र अग्नि दे। जब उसमें से सफ़ेद धुआँ निकलने लगे (पहले नील और पीला धुँआ निकलता है और अन्त में सफ़ेद), तब ढक्कन के छेद को गोबर से अच्छे प्रकार बन्द कर दे।

१. गोपित्तेन शतं वारान् सौराष्ट्रीं भावयेत्ततः।
धमित्वा पातयेत्सत्त्वं क्रामणं चातिगुह्यकम्॥ (३।६९)

२. हरतालं द्विधा प्रोक्तं पत्राढ्यं पिण्डसंज्ञकम्।
स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं तनुपत्रं च भासुरम्॥
तत्पत्रतालकं प्रोक्तं बहुपत्रं रसायनम्।
निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पसत्त्वं तथा गुरु॥ (३।७०–७२)

३. स्विन्नं कूष्मांडतोये वा तिलक्षारजलेऽपि वा।
तोये वा चूर्णसंयुक्ते दोलायंत्रेण शुद्ध्यति॥ (३।७४)

४. मधुतुल्ये घनीभूते कषाये ब्रह्ममूलजे।
त्रिवारं तालकं भाव्यं पिष्ट्वा मूत्रेऽथ माहिषे॥
उपलैर्दशभिर्देयं पुटं रुद्ध्वाथ पेषयेत्।
एवं द्वादशधा पाच्यं शुद्धं योगेषु योजयेत्॥ (३।७९)

हाँडी के स्वांगशीतल हो जाने पर उसको नीचे उतारकर ढक्कन का जोड़ तोड़ दे और हाँडी में जमे हुए सत्त्व को निकाल ले।

सभी पाषाणों (मनःशिला, सोमल आदि) के सत्त्व निकालने की इसी प्रकार अनेक विधियाँ हैं, जिनका विस्तारभय के कारण ग्रन्थकार ने केवल संकेत मात्र किया है।[1]

६. **मनःशिला**—Realgar—**रसरत्नसमुच्चय** में तीन प्रकार की मनःशिलाओं का उल्लेख है—(१) श्यामाङ्गी, (२) कणवीरका और (३) खण्डाख्या। इनमें से श्यामांगी मनःशिला काली, लाल और थोड़ी-सी पीली, मिश्रित रंग की और वजन में भारी होती है। कणवीरका मनःशिला ताँबे के समान चमकदार और निर्गौर (पीलापन-रहित) होती है। खण्डाख्या मनःशिला शीघ्र चूर्ण बन जानेवाली, अत्यन्त लाल और तौल में भारी होती है। सत्त्व की दृष्टि से श्यामांगी अधम और खण्डाख्या अति श्रेष्ठ है।[2]

अगस्त के पत्तों के रस में सात दिन तक भावना देने से अथवा अदरख के रस में सात दिन घोटने से मनःशिला शुद्ध होती है।[3]

१. कुलित्थक्वाथसौभाग्यमहिष्याज्यमधुप्लुतम्।
स्थाल्यां क्षिप्त्वा विदध्याच्च मल्लेन च्छिद्रयोगिना॥
सम्यङ् निरुध्य शिखिनं ज्वालयेत्क्रमवर्धितम्।
एकप्रहरमात्रं हि रंध्रमाच्छाद्य गोमयैः॥
यामान्ते छिद्रमुद्घाटच दृष्टे धूमे च पाण्डुरे।
शीतां स्थालीं समुत्तार्य सत्त्वमुत्कृष्य चाहरेत्॥
सर्वपाषाणसत्त्वानां प्रकाराः सन्ति कोटिशः।
ग्रन्थविस्तरभीत्याऽत्र लिखिता न मया खलु॥ (३।८०–८३)

२. मनःशिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरका।
खण्डाख्या चेति तद्रूपं विविच्य परिकथ्यते॥
श्यामा रक्ता सगौरा च भाराढचा श्यामिका मता।
तेजस्विनी च निर्गौरा ताम्राभा कणवीरका॥
चूर्णीभूताऽतिरक्तांगी सभारा खण्डपूर्विका।
उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा भूरिसत्त्वा प्रकीर्तिता॥ (३।९१–९३)

३. अगस्त्यपत्रतोयेन भाविताः सप्तवारकम्।
शृंगवेररसैर्वाऽपि विशुद्ध्यति मनःशिला॥ (३।९६)

इसका सत्त्वपातन करना हो तो इसमें आठवाँ भाग मण्डूर (जंग), गुड, गुग्गुल और घृत मिलाकर गोला बना लेना चाहिए, और सत्त्वपातन मूषा में रखकर इसे फूँकना चाहिए।[1]

७. **अञ्जन**—अंजन पाँच प्रकार का बताया गया है—(क) सौवीराञ्जन (सादा सुरमा), (ख) रसाञ्जन (रसौत), (ग) स्रोतोऽञ्जन (काला सुरमा), (घ) पुष्पांजन (श्वेत सुरमा) और (ङ) नीलांजन (नीला सुरमा)।

सौवीरांजन अधिक धूम्रवर्ण का होता है। यह व्रणों का शोधन करता है। रसांजन कुछ पीला होता है। स्रोतोञ्जन (स्रोतः+अंजन) अथवा स्रोतांजन शीतल, स्निग्ध, कषाय (कसैला), लेखन में हितकारी आदि गुणोंवाला होता है। पुष्पांजन सफेद रंग का, स्निग्ध, शीतल और नेत्रों के सब रोगों को दूर करनेवाला होता है। नीलांजन भारी, स्निग्ध, नेत्रों के लिए हितकारी, स्वर्ण के मारने में गुणकारी और रस-कर्म में उपयोगी होता है।[2]

भृंगराज के रस में घोटने से सभी अंजनों का शोधन हो जाता है। मनःशिला के समान अंजन का भी सत्त्व निकाला जा सकता है।[3]

१. **अष्टमांशेन किट्टेन गुडगुग्गुलुसर्पिषा।**
कोष्ठ्यां रुद्ध्वा दृढं ध्माता सत्त्वं मुञ्चेन्मनःशिला॥ (३।९८)

२. **सौवीरमंजनं प्रोक्तं रसांजनमतः परम्।**
स्रोतोऽञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च॥
नीलांजनं च तेषां हि स्वरूपमिह वर्ण्यते।
सौवीरमञ्जनं धूम्रं रक्तपित्तहरं हिमम्॥
विषहिध्माक्षिरोगघ्नं व्रणशोधनरोपणम्।
रसांजनं च पीताभं विषवक्त्रगदापहम्॥
श्वासहिध्मापहं वर्ण्यं वातपित्तास्रनाशनम्।
स्रोतोऽञ्जनं हिमं स्निग्धं कषायं स्वादु लेखनम्॥
नेत्र्यं हिध्माविषच्छर्दिकफपित्तास्ररोगनुत्॥
पुष्पांजनं सितं स्निग्धं हिमं सर्वाक्षिरोगनुत्।
अतिदुर्धरहिध्माघ्नं विषज्वरगदापहम्॥
नीलांजनं गुरु स्निग्धं नेत्र्यं दोषत्रयापहम्।
रसायनं सुवर्णघ्नं लोहमार्दवकारकम्॥ (३।१०१–१०६)

३. **अञ्जनानि विशुध्यन्ति भृङ्गराजनिजद्रवैः।**
मनोह्वासत्त्ववत्सत्त्वमञ्जनानां समाहरेत्॥ (३।१०७–१०८)

स्रोतोऽञ्जन के कुछ विशेष लक्षण भी लिखे हैं—यह आकार में वल्मीक (बाँबी) के अग्रभाग के समान होता है, तोड़ने पर भीतर से नील कमल के समान दीखता है, घिसने पर गेरू के समान लाली देता है। यह गोबर के रस, गोमूत्र, घी, मधु और चर्बी के साथ घोटा जाय तो पारे को बाँधनेवाला होता है।[1]

८. **कंकुष्ठ**—हिमालय पर्वत के पादशिखरों पर यह उत्पन्न होता है। यह दो प्रकार का है—नालिकाख्य और रेणुक। नालिकाख्य कंकुष्ठ पीले रंग का, वज़न में भारी, चिकना एवं श्रेष्ठ होता है। रेणुक कंकुष्ठ श्याम-मिश्रित, पीले रंग का, वज़न में हलका और सत्त्वरहित होने के कारण हीन माना जाता है।

कंकुष्ठ क्या है, यह कहना कठिन है। कुछ रसाचार्यों का कहना है कि हाथी के सद्योजात बच्चे का यह मल है। इसका रंग भी काला-पीला होता है। कुछ आचार्य घोड़े के तत्काल उपत्न्न बच्चे की नाल को कंकुष्ठ कहते हैं। इसका रंग सफ़ेद-पीला मिश्रित होता है।[2]

कंकुष्ठ सोंठ के काढ़े में तीन बार भावना देने से शुद्ध होता है। यह स्वयं सत्त्वरूप है, इसलिए इसका सत्त्व नहीं निकाला जाता।[3]

१. वल्मीकशिखराकारं भंगे नीलोत्पलद्युति।
घृष्टं तु गैरिकच्छायं स्रोतोजं लक्षयेद् ध्रुवम्॥
गोशकृद्रसमूत्रेषु घृतक्षौद्रवसासु च।
भावितं बहुशस्तं च शीघ्रं बध्नाति सूतकम्॥ (३।१०९–११०)

२. हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते।
तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम्॥
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम्।
श्यामपीतं लघुत्यक्तसत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम्॥
केचिद् वदन्ति कंकुष्ठ सद्योजातस्य दन्तिनः।
वर्चश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते॥
कतिचित्तेजिवाहानां नालं कंकुष्ठसंज्ञकम्।
वदंति श्वेतपीताभं तदतीव विरेचनम्॥ (३।११३–११६)

३. कंकुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठ्यंबुभावितम्।
सत्त्वाकर्षोऽस्य न प्रोक्तो यस्मात्सत्त्वमयं हि तत्॥ (३।१२१–१२२)

साधारण रसें

महारसों और उपरसों के अतिरिक्त **रसरत्नसमुच्चय** ने आठ साधारण रसों का उल्लेख किया है---कंपिल्ल, गौरीपाषाण, नवसागर, कपर्द, वह्निजार, गिरिसिन्दूर, हिंगुल और मृद्दारश्रृंग। इन साधारण रसों की उपयोगिता नागार्जुन आदि रसाचार्यों ने भी स्वीकार की है।[1]

१. **कपिल्ल या कबीला**—यह ईंट के चूर्ण के समान और चमकदार होता है तथा सौराष्ट्र देश में पाया जाता है। यह प्रबल रेचक है।[2]

२. **गौरीपाषाण, सोमल या संखिया** (Oxide of arsenic)—यह तीन प्रकार का होता है—(क) पीला, हलदी के समान रंग का, (ख) स्फटिक के समान चमकदार एवं कठिन और (ग) शंख के समान सफेद तथा चमकदार। इसका शोधन करना हो तो एक बड़ा करेला ले, करेले के भीतर का गूदा निकाल ले और उसमें गौरीपाषाण के छोटे-छोटे टुकड़े रखकर सूत से बाँध दे। फिर दोलायंत्र द्वारा एक प्रहर तक इसका स्वेदन करे (पकाये)। हरताल के समान इसका शुभ्रवर्ण का सत्त्व भी प्राप्त किया जा सकता है। तीनों प्रकार के संखियाओं में पीला सबसे श्रेष्ठ है।[3]

३. **नवसागर या नवसार (नौसादर)**—Sal ammoniac—करील और पीलू वृक्ष की लकड़ियों को अग्नि में जलाकर और उस राख को पानी में अच्छी तरह मिला कर रख दिया जाय, जब राख नीचे बैठ जाय तो ऊपर का पानी छानकर या निथार-कर निकाल ले और इस पानी को पकाये। पानी जल जाने पर जो क्षार बच रहता है उसे नवसार कहते हैं। इसी का नाम **चुल्लिका** लवण भी है। ईंटों के पकाने में भट्ठों के नीचे से जो हलके पीले रंग का चूर्ण मिलता है वह भी नवसार या चुल्लिका लवण

१. **कम्पिल्लश्चपलो गौरीपाषाणो नवसारकः।**
कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिंदूरहिंगुलौ॥
मृद्दारश्रृंगमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः।
रससिद्धिकराः प्रोक्ता नागार्जुनपुरःसरैः॥ (३।१२६–१२७)

२. **इष्टिकाचूर्णसंकाशश्चान्द्रकाढ्योऽतिरेचनः।**
सौराष्ट्रदेशे चोत्पन्नः स हि कंम्पिल्लकः स्मृतः॥ (३।१२८)

३. **गौरीपाषाणकः पीतो विकटो हतचूर्णकः।**
स्फटिकाभश्च शंखाभो हरिद्राभस्त्रयः स्मृताः॥

है (कुछ रसायनाचार्य विड को भी चुल्लिका लवण कहते हैं) । चुल्लिका लवण पारे के जारण और धातुओं के द्रावण (गलाने) में उपयोगी है ।[1]

४. **वराटिका (कपर्द) या कौड़ी**—यह कुछ पीले रंग की और पीठ पर गाँठदार होती है एवं आकृति में दीर्घवृत्त के समान । इसका नाम **चराचर** भी है । डेढ़ निष्क (६ माशे) की कौड़ी उत्तम, एक निष्क की मध्यम और पौन निष्क की अधम मानी गयी है । यह पारे के जारण में उपयोगी है, विडद्रव्यों में भी इसकी महत्ता है । जो कौड़ी पीली और ग्रन्थिल नहीं है, उसे **वराट** कहते हैं । सभी प्रकार की कौड़ियों को एक प्रहर तक काँजी में पकाया जाय, तो वे शुद्ध हो जाती हैं ।[2]

५. **वह्निजार, अग्निजार, समुद्रफेन या समुद्रफल (अम्बर)**—समुद्र में अग्निनक्र नामक एक जलचर होता है, उसका जरायु लहरों से बहकर किनारे पर आ जाता है और सूख जाता है । इसी का नाम अग्निजार है । यह पारद के जारण में उपयोगी है ।

पूर्वः पूर्वो गुणैः श्रेष्ठः कारवल्लीफले क्षिपेत् ।
स्वेदयेद् दंडिकामध्ये शुद्धो भवति मूषकः ॥
तालवद् ग्राहयेत्सत्त्वं शुद्धं शुभ्रं प्रयोजयेत् ।
रसबंधकरः स्निग्धो दोषघ्नो रसवीर्यकृत् ॥ (३।१३०–१३३)

१. करीरपीलुकाष्ठेषु पच्यमानेषु चोद्भवः ।
क्षारोऽसौ नवसारः स्याच्चुल्लिकालवणाभिधः ॥
इष्टिकादहने जातं पाण्डुरं लवणं लघु ।
तदुक्तं नवसाराख्यं चुल्लिकालवणं च तत् ॥
रसेन्द्रजारणं लोहद्रावणं जठराग्निकृत् ।
गुल्मप्लीहास्यशोषघ्नं भुक्तमांसादिजारणम् ।
विडाख्यं च त्रिदोषघ्नं चुल्लिकालवणं मतम् ॥ (३।१३४–१३६)

२. पीताभा ग्रन्थिका पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका ।
रसवैद्यैर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका ॥
सार्धनिष्कभरा श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा ।
पादोननिष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता ॥
रसेन्द्रजारणे प्रोक्ताः विडद्रव्येषु शस्यते ।
तदन्ये तु वराटाः स्युर्गुरवः श्लेष्मपित्तलाः ॥
वराटाः काञ्जिके स्विन्ना यामाच्छुद्धिमवाप्नुयुः ॥ (३।१३७–१४१)

यह समुद्र के क्षार से स्वयं शुद्ध हो जाता है, इसलिए इसके शोधन का और विधान आवश्यक नहीं समझा गया।[1]

६. **सिन्दूर, गिरिसिन्दूर**—Vermilion—यह हिमालय, विन्ध्य आदि पर्वतों के छोटे-छोटे पत्थरों में लाल शुष्क चूर्ण के समान मिलता है। इसी लिए इसे गिरि-सिन्दूर कहा जाता है। यह भी पारे के बन्धन में उपयोगी है।[2]

७. **हिंगुल, सिंगरफ या दरद**—Cinnabar—यह दो प्रकार का होता है—(१) शुकतुण्ड (तोते की चोंच-सा लाल) और (२) हंसपाद (जिसमें प्रवाल या मूँगे का-सा लाल रंग और सफ़ेद रेखाएँ होती हैं)। शुकतुण्ड को चर्मार भी कहते हैं। यह हीन गुणों का है और हंसपाद श्रेष्ठ माना गया है। हिंगुल में से निकला हुआ पारा उस पारे के समान गुणकारी है जो गन्धक द्वारा जीर्ण कर दिया गया हो।

हिंगुल को अदरख या बड़हल के रस की सात भावना देकर शुद्ध किया जा सकता है। यदि इसे आग में तपाकर भेड़ के दूध या अम्लवर्ग के पदार्थों के रस की भावना दी जाय तो सुवर्ण के समान रंग का अथवा उत्तम केसर के रंग का हो जाता है।

हिंगुल को तिर्यक्पातन यंत्र में डालकर उड़ायें तो इससे पारा प्राप्त होता है जिसे जलाशय में इकट्ठा कर सकते हैं।[3]

१. समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्बहिरुज्झितः।
संशुष्को भानुतापेन सोऽग्निजार इति स्मृतः॥.......
वर्धनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा।
यदब्धिक्षारसंशुद्धस्तस्माच्छुद्धिर्न हीष्यते॥ (३।१४२–१४४)

२. महागिरिषु चाल्पीयः पाषाणांतःस्थितो रसः।
शुष्कशोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया॥
त्रिदोषशमनं भेदि रसबंधनमग्रिमम्॥ (३।१४५–१४६)

३. हिंगुलः शुकतुण्डाख्यो हंसपादस्तथापरः।
प्रथमोऽल्पगुणस्तत्र चर्मारः स निगद्यते॥
श्वेतरेखः प्रवालाभो हंसपादः स ईरितः।
हिंगुलः सर्वदोषघ्नो दीपनोऽतिरसायनः॥
सर्वरोगहरो वृष्यो जारणायातिशस्यते।
एतस्मादाहृतः सूतो जीर्णगन्धसमो गुणैः॥
सप्तकृत्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्लकुचस्यांबुनाऽपि वा।

८. **मृद्दारशृंग या मुरदासंग**—यह गुजरात प्रदेश में आबू पर्वत के समीप पाया जाता है। यह सदल (पत्र अलग-अलग) और पीले रंग का होता है। इसमें से सीसे के समान सत्त्व प्राप्त होता है। यह पारे को बाँधता है। इसका लेप करने से बाल काले होते हैं।[१]

राजावर्त—उक्त आठ साधारण रसों के अतिरिक्त **रसरत्नसमुच्चय**, बम्बई संस्करण, के इसी तीसरे अध्याय के अन्त में **राजावर्त** या लाजवर्द (lapis lazuli) का भी उल्लेख किया गया है। यह हलकी लाली लिये हुए चटक नीलिमा मिश्रित प्रभा का होता है। भारी और चिकना राजावर्त्त श्रेष्ठ माना गया है और अन्य गुणोंवाला मध्यम है।

नीबू के रस, गोमूत्र और यवक्षार के मिश्रणों में दो-तीन बार स्वेदन करके राजावर्त्त शुद्ध किया जा सकता है।

इसकी भस्म बनानी हो तो राजावर्त और गन्धक को नीबू के रस में पीसकर सम्पुट में रखकर गजपुट में फूंकना चाहिए। इस प्रकार सात पुट देने पर इसकी भस्म बन जायगी।

इसका सत्त्व इस प्रकार निकाला जा सकता है—राजावर्त और मनःशिला को बराबर मात्रा में घी में घोट ले, फिर भैंस के दूध में पकाये। जब गाढ़ा हो जाय तो उसमें सुहागा (सौभाग्य) और पंचगव्य (दूध, दही, घी, गोमय, गोमूत्र) मिलाकर गोला बना ले। इस गोले को मूषा के भीतर खदिर के कोयले द्वारा फूंके।

राजावर्त के समान गेरू का भी सत्त्व प्राप्त हो सकता है। राजावर्त का सत्त्व पीला और गेरू का लाल होता है।[२]

शोषितो भावयित्वा च निर्दोषो जायते खलु ॥
किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः क्षीरेण मेष्या बहुशोऽम्लवर्गैः।
एवं सुवर्णं बहुघर्मतापितं करोति साक्षाद् वरकुंकुमप्रभम् ॥
दरदः पातनायंत्रे पातितश्च जलाशये।
तत्सत्त्वं सूतसंकाशं जायते नात्र संशयः॥ (३।१४७–१५४)

१. सदलं पीतवर्णं च भवेद् गुर्जरमण्डले।
अर्बुदस्य गिरेः पार्श्वे जातं मृद्दारशृंगकम् ॥
सीससत्त्वं गुरु श्लेष्मशमनं पंगदापहम्।
रसबंधनमुत्कृष्टं केशरञ्जनमुत्तमम् ॥ (३।१५५–१५६)

२. राजावर्तोऽल्परक्तोरुनीलिमामिश्रितप्रभः।
गुरुश्च मसृणः श्रेष्ठस्तदन्यो मध्यमः स्मृतः ॥····

मणि एवं रत्न

रसरत्नसमुच्चय के रचयिता की धारणा के अनुसार पारे का बन्धन मणियों द्वारा भी किया जा सकता है। ये रत्न या मणि इस प्रकार हैं—(१) वैक्रान्त, (२) सूर्य-कान्त, (३) हीरक, (४) मुक्ता, (५) मणि, (६) चन्द्रकान्त, (७) राजावर्त्त और (८) गरुडोद्‌गार (पन्ना)। इनके अतिरिक्त (क) पुष्पराग (पुखराज), (ख) महानील, (ग) पद्मराग (माणिक्य), (घ) प्रवाल (मूँगा), (ङ) वैडूर्य या वैदूर्य (लहसुनिया) और (च) नीलम भी मणि माने गये हैं। इनमें से पद्मराग, इन्द्रनील (महानील), मरकत (पन्ना), पुष्पराग और वज्र (हीरा) ये पाँच रत्न सर्वोत्तम हैं।

१. माणिक्य (लाल), २. मुक्ता (मोती), ३. विद्रुम (मूँगा), ४. तार्क्ष्य (पन्ना), ५. पुष्प (पुखराज), ६. भिदुर (हीरा), ७. नील, ८. गोमेद, ९. वैडूर्य, ये क्रमशः १. सूर्य, २. चन्द्र, ३. मंगल, ४. बुध, ५. गुरु, ६, शुक्र, ७. शनि ८. राहु और ९. केतु, इन नव-ग्रहों के नव-रत्न हैं।[1]

निंबूद्रवैः सगोमूत्रैः सक्षारैः स्वेदिताः खलु।
द्वित्रिवारेण शुद्ध्यन्ति राजावर्तादिधातवः॥
शिरीषपुष्पार्द्ररसै राजावर्तं विशोधयेत्॥
लुंगांबुगंधकोपेतो राजावर्तः सुचूर्णितः।
पुटनात्सप्तवारेण राजावर्तो मृतो भवेत्॥
राजावर्तस्य चूर्णं तु कुनटीघृतमिश्रितम्।
विपचेदायसे पात्रे महिषीक्षीरसंयुतम्॥
सौभाग्यपंचगव्येन पिण्डीबद्धं तु कारयेत्।
ध्मापितं खदिरांगारैः सत्त्वं मुञ्चति शोभनम्॥
अनेन क्रमयोगेन गैरिकं विमलं भवेत्।
क्रमात्पीतं च रक्तं च सत्त्वं पतति शोभनम्॥

(३।१४९–१५६, बम्बईसंस्करण)

१. मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धनकारकाः।
वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः॥

माणिक्य (मानिक, लाल या चुन्नी)—Ruby—यह दो प्रकार का होता है—(१) पद्मराग या लाल रंग का, (२) नीलगंधि (थोड़ी-सी नीली आभा लिये हुए)। यदि ये स्निग्ध, स्वच्छ, भारी या वज़नदार, गोल या आयत (लम्बे) और समगुणों के हों तो श्रेष्ठ हैं। जो छिद्रयुक्त, कर्कश, मलिन, रूक्ष (रूखे), आर-पार साफ न दीखनेवाले, चिपटे, हलके और टेढ़े होते हैं वे इन आठ दोषों से युक्त एवं अधम माने गये हैं।[1]

२. **मौक्तिक (मोती)**—Pearl—चित्ताकर्षक, श्वेत, हलका, चिकना, किरणों के समान, निर्मल, बड़ा, तोय-प्रभ (आबदार) और गोल, इन नौ गुणोंवाला मोती शुभ और श्रेष्ठ माना गया है। जो मोती रूक्ष, निर्जल (बिना आब का), श्याव (जिसमें काली झाँई दीखे), ताम्राभ (ताँबे के से रंग का), लवण के समान धुँधला, आधा शुभ्र, विकट (टेढ़ मेढ़) और गाँठदार, इन दोषों से युक्त हो वह अधम है।[2]

३. **प्रवाल, विद्रुम या मूँगा**—Coral—वह मूँगा श्रेष्ठ है जो पके बिम्बफल के समान लाल हो, गोल हो, अवक्र (टेढ़ा-मेढ़ा न हो), स्निग्ध (चिकना), अव्रणक (बिना

चन्द्रकांतस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः।
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी॥
पुष्परागो गोमेदश्च पद्मरागः प्रवालकम्।
वैडूर्यं च तथा नील एतेऽपि मणयो मताः॥
यत्नतः संगृहीतव्या रसबन्धस्य कारणात्॥
पद्मरागेन्द्रनीलाख्यौ तथा मरकतोत्तमः।
पुष्परागः सवज्राख्यः पंचरत्नवराः स्मृताः॥
माणिक्यमुक्ताफल विद्रुमाणि तार्क्ष्यं च पुष्पं भिदुरं च नीलम्।
गोमेदकं चाथ विडूरकं च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम्॥ (४।१-६)

१. **माणिक्यं पद्मरागाख्यं द्वितीयं नीलगंधि च।**
कुशेशयदलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं गुरु स्फुटम्॥
वृत्तायतं समं गात्रं माणिक्यं श्रेष्ठमुच्यते॥....
रन्ध्रकार्कश्यमालिन्यरौक्ष्यावैशद्यसंयुतम्।
चिपिटं लघुवक्रं च माणिक्यं दुष्टमष्टधा॥ (४।९-१२)

२. **ह्लादि श्वेतं लघु स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत्।**
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम्॥

क्षत का) और स्थूल हो। अधम मूँगा वह है जो पाण्डुर (पीला), धूसर, पतला, सव्रण (क्षतयुक्त), कोटरान्वित (रेखावाला), हलका और सफ़ेद रंग का हो।[1]

४. **तार्क्ष्य या पन्ना**—Emerald अच्छा पन्ना वह है जो हरे रंग का, भारी, स्निग्ध, उज्ज्वल किरणोंवाला, चिकना, तेजयुक्त और सुडौल अंगवाला, इन सात गुणों से युक्त हो। इसके विपरीत निकृष्ट वह है जो कपिल (भूरे), नील, पांडु, कृष्ण आदि रंगों का, कर्कश, हलका, चिपटा, टेढ़ा-मेढ़ा और रूक्ष हो।[2]

५. **पुष्पराज या पुखराज**—Topaz—अच्छे पुखराज में ये आठ गुण होते हैं—भारी, स्निग्ध, स्वच्छ, स्थूल (मोटा), सम, मृदु, कर्णिकार के फूल के समान आभायुक्त औरमसृण (कर्कशता-रहित)। इसके विपरीत निष्प्रभ, कर्कश, रूक्ष, पीत-श्याम मिश्रित रंग का, नतोन्नत (कहीं ऊँचा-कहीं नीचा), कपिश, कपिल और पाण्डु रंग का पुखराज त्यागने योग्य है।[3]

६. **हीरा या वज्र**—Diamond—यह तीन प्रकार का होता है—नर हीरा, नारी हीरा और नपुंसक हीरा, जिसमें नर सर्वश्रेष्ठ और नपुंसक परम अधम है। नर जाति के हीरे में आठ अस्र (कोने) या आठ फलक और छः कोण होते हैं, यह अति तेजस्वी होता है, इंद्रधनुष अथवा कमल के समान और वारि-तर (जल में तैरने-

रूक्षांगं निर्जलं श्यावं ताम्राभं लवणोपमम्।
अर्धशुभ्रं च विकटं ग्रन्थिलं मौक्तिकं त्यजेत्॥ (४।१४, १६)

१. पक्वबिम्बफलच्छायं वृत्तायतवक्रकम्।
स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम्।
पाण्डुर धूसरं रूक्षं सव्रणं कोटरान्वितम्।
निर्भारं शुभ्रवर्णं च प्रवालं नेष्यतेऽष्टधा॥ (४।१८–१९)

२. हरिद्वर्णं गुरु स्निग्धं स्फुरद्रश्मिचयं शुभम्।
मसृणं भासुरं तार्क्ष्यं गात्रं सप्तगुणं मतम्॥
कपिलं कर्कशं नीलं पाण्डु कृष्णं मलान्वितम्।
चिपिटं विकटं रूक्षं लघु तार्क्ष्यं न शस्यते॥ (४।२१–२२)

३. पुष्परागो गुरुः स्निग्धः स्वच्छः स्थूलः समो मृदुः।
कर्णिकारप्रसूनाभो मसृणश्च शुभोऽष्टधा।
निष्प्रभं कर्कशं रूक्षं पीतश्यामं नतोन्नतम्।
कपिशं कपिलं पाण्डु पुष्परागं परित्यजेत्॥ (४।२४–२५)

वाला) होता है। चिपटा, वर्तुल (गोल) या लम्बा हीरा स्त्री जाति का होता है, एवं गोल, कुंठित कोणवाला और भारी हीरा नपुंसक कहलाता है।[१] हीरे की भस्म पारे के बाँधने या मारने और पारे के साथ मिश्रित होकर पारे के गुणों को प्रदीप्त करने में उपयोगी है।[२] सभी रत्नों में पाँच सामान्य दोष बताये जाते हैं—ग्रास, त्रास, बिन्दु, रेखा और जलगर्भता।[३]

यदि कुलित्थ के क्वाथ में या कोद्रव (कोदों) के क्वाथ में एक प्रहर तक दोलायंत्र में हीरे का स्वेदन किया जाय, तो यह शुद्ध हो जायगा।[४]

हीरे की भस्म बनाने की कई विधियाँ कही गयी हैं :—(१) हीरे के चूर्ण को खटमल के रुधिर में चार बार भावना देकर, फिर उसे छछूंदर के मांस में रखकर और चारो तरफ से उसे लपेटकर ऊपर से कपरौटी करके ३० बार वाराहपुट दे, फिर हीरे के चूर्ण को एक मूषा में रखकर कोयले की आग में तपाकर कुलित्थ के क्वाथ में बुझाये। इस प्रक्रिया को सौ बार दोहराने से हीरे की भस्म तैयार होती है।[५]

(२) मनःशिला को कुलित्थ के क्वाथ और बड़हल के फलों के रस में खूब खरल

१. वज्रं च त्रिविधं प्रोक्तं नरो नारी नपुंसकम्।
पूर्वं पूर्वमिह श्रेष्ठं रसवीर्यविपाकतः॥
अष्टास्रं वाऽष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम्।
अंबुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते॥
तदेव चिपिटाकारं स्त्रीवज्रं वर्तुलायतम्।
वर्तलं कुण्ठकोणाग्रं किंचिद्‌गुरु नपुंसकम्॥ (४।२७–२९)

२. सूतेन्द्रबंधवध सद्‌गुणकृत् प्रदीपनं मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम्॥ (४।३३)

३. ग्रासस्त्रासश्च बिंदुश्च रेखा च जलगर्भता।
सर्वरत्नेष्वमी पंच दोषाः साधारणा मताः॥ (४।३४)

४. कुलत्थक्वाथके स्विन्नं कोद्रवक्वथितेन वा।
एकयामावधि स्विन्नं वज्रं शुध्यति निश्चितम्॥ (४।३५)

५. वज्रं मत्कुणरक्तेन चतुर्वारं विभावितम्।
सुगंधिमूषिकामांसैर्वर्तितैः परिवेष्ट्य च॥
पुटेत्पुटैर्वराहाख्यैस्त्रिशद्वारं ततः परम्।
ध्मात्वा ध्मात्वा शतं वारान्कुलत्थक्वाथके क्षिपेत्॥
अन्यैरुक्तः शतं वारान्कर्तव्योऽयं विधिः क्रमात्॥ (४।३६–३७)

करके उसका एक मूषा के भीतर लेप कर, उसमें हीरे को रखकर ऊपर से कपड़-मिट्टी करके सुखा ले, फिर वनोपलों (कंडों) से गजपुट में तपाये, इस प्रकार आठ पुट दे। फिर हीरे को कोयलों की आग में तपाकर शुद्ध पारे में बुझाये। ऐसा सौ बार करने पर पानी पर तैरनेवाली भस्म तैयार होती है।[१]

(३) **सत्यवादी सोमसेनानी की विधि**—सोमसेनानी ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव से हीरे के मारण की निम्न विधि बतायी है—खटमल के रुधिर का हीरे के ऊपर लेप करके सुखा दे, दुबारा लेप कर फिर सुखाये, इस प्रकार सात बार करे। तदनन्तर हीरे को कोयले की आँच पर खूब तपाकर कासमर्द (कसौंदी) के रस से भरे लोहे के पात्र में बुझाये। यह क्रिया भी सात बार करे। ऐसा करने पर हीरे की भस्म तैयार होगी।[२]

(४) **रसाचार्य ब्रह्मज्योति की विधि**—क्षीरकाकोली के कन्द के साथ हीरे को दिनभर खूब घोटकर तेज़ धूप में सुखाये, तब जैसे ज्ञान की ज्योति में कर्म भस्म होते हैं, उसी प्रकार वज्र की भस्म बन जाती है।[३]

हीरे की भस्म (३० भाग), स्वर्णभस्म (१६ भाग), चाँदी की भस्म (८ भाग), सितामृत (११ भाग), अभ्रक (चौथाई भाग), ताप्यक या स्वर्णमाक्षिक भस्म

१. **कुलत्थक्वाथसंयुक्तलकुचद्रवपिष्टया।**
शिलया लिप्तमूषायां वज्रं क्षिप्त्वा निरुध्य च॥
अष्टवारं पुटेत्सम्यग्विशुष्कैश्च वनोत्पलैः।
शतवारं ततो ध्मात्वा निक्षिप्तं शुद्धपारदे॥
निश्चितं म्रियते वज्रं भस्मवारितरं भवेत्॥ (४।३८–३९)

२. **सत्यवाक् सोमसेनानीरेतद् वज्रस्य मारणम्।**
दृष्टप्रत्ययसंयुक्तमुक्तवान् रसकौतुकी॥
विलिप्तं मत्कुणस्यास्रैः सप्तवारं विशोषितम्।
कासमर्दरसापूर्णे लोहपात्रे निवेशितम्॥
सप्तवारं परिध्मातं वज्रभस्म भवेत्खलु॥ (४।४०–४२)

३. **ब्रह्मज्योतिर्मुनीन्द्रेण क्रमोऽयं परिकीर्तितः।**
नीलज्योतिर्लताकंदे घृष्टं घर्मे विशोषितम्॥
वज्रं भस्मत्वमायाति कर्मवज्ज्ञानवह्निना॥ (४।४२–४३)

(८ भाग) और वैक्रान्त भस्म (६ भाग)—इन सबको साथ-साथ खरल करके एक वज्ररसायन बनता है।[1]

७. **नीलमणि या नीलम**—Sapphire—यह दो प्रकार का होता है; जलनील और इन्द्रनील, जिनमें इन्द्रनील श्रेष्ठ है। जलनील में सफेदी-मिश्रित नीली आभा होती है और यह हलका होता है। इन्द्रनील कालिमा-मिश्रित नीली आभावाला अर्थात् गहरा नीला होता है और यह कुछ भारी होता है। सर्वोत्कृष्ट नीलम में ये सात गुण होने चाहिए—एकच्छाय (एक-सा रंग), गुरु (भारी), स्निग्ध (चिकना), स्वच्छ, गोल (पिंडित विग्रह), कोमल और बीच में अति ज्योतिर्मय (मध्योल्लसज्ज्योतिः)। हीन कोटि वाले जल-नील के सात लक्षण ये हैं—कोमल (तेजहीन), विहित (विविध रंगों से मिश्रित), रूक्ष, निर्भार (हलका), रक्तगंधि (भीतर से लाली लिये), चिपटा और बहुत सूक्ष्म।[2]

८. **गोमेद या लहसुनिया**—गाय की चरबी के समान इसका रंग होता है, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है। अच्छे गोमेद के आठ लक्षण ये हैं—साफ़, गोमूत्र के समान छाया-वाला, स्वच्छ, स्निग्ध, सम, भारी, निर्दल, मसृण (कोमल) और दीप्त। इसके विपरीत विच्छायी, लघु, रूखे अंगोंवाला, चिपटा, पटलों से युक्त (पर्त्तदार), निष्प्रभ, पीले काँच की-सी आभावाला, ये गुण बुरे गोमेद के हैं।[3]

१. त्रिंशद्भागमितं हि वज्रभसितं स्वर्णं कलाभागिकम्,
तारं चाष्टगुणं सिताऽमृतवरं रुद्रांशकं चाभ्रकम्।
पादांशं खलु ताप्यकं वसुगुणं वैक्रान्तकं षड्गुणम्,
भागोऽप्युक्तरसै रसोऽयमुदितः षाड्गुण्यसंसिद्धये॥ (४।४७)

२. जलनीलेन्द्रनीलं च शक्रनीलं तयोर्वरम्।
श्वैत्यगर्भितनीलाभं लघु तज्जलनीलकम्॥
कार्ष्ण्यगर्भितनीलाभं सभारं शक्रनीलकम्॥
एकच्छायं गुरु स्निग्धं स्वच्छं पिण्डितविग्रहम्।
मृदुमध्योल्लसज्ज्योतिः सप्तधा नीलमुत्तमम्॥
कोमलं विहितं रूक्षं निर्भारं रक्तगन्धि च।
चिपिटाभं ससूक्ष्मं च जलनीलं हि सप्तधा॥ (४।४८–५१)

३. गोमेदःसमरागत्वाद् गोमेदं रत्नमुच्यते।
सुस्वच्छगोजलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं समं गुरु॥
निर्दलं मसृणं दीप्तं गोमेदं शुभमष्टधा॥

९. **वैडूर्य**––Beryl––उत्तम वैडूर्य के लक्षण इस प्रकार हैं––श्याम और शुभ्र मिश्रित रंग, सम, स्वच्छ, भारी, तेजवान् (स्फुट), भीतर से सफ़ेद रेखावाला। इसके विपरीत निकृष्ट वैडूर्य के लक्षण ये होंगे––श्याम, जल के समान छायावाला, चिपटा, हलका, कर्कश (खुरखुरा), भीतर से लाल रेखावाला।[1]

सब रत्नों की शुद्धि––माणिक्य खट्टे पदार्थों के रस से, मोती अरणी (जयंती) के क्वाथ से, प्रवाल (मूँगा) या विद्रुम क्षारवर्ग से, तार्क्ष्य (पन्ना) गाय के दूध से, पुष्पराग (पुखराज) कुलथी का काढ़ा मिली हुई काँजी से, हीरा चौलायी के रस से, नीलम नील के रस या काँटे से, गोमेद मणि गोरोचन से और वैडूर्य त्रिफला के काढ़े से शुद्ध होता है।[2]

सब रत्नों की भस्म––हीरे को छोड़कर शेष सब रत्न मनःशिला, गन्धक और हरताल के मिश्रण की बड़हल के रस में बनी पिष्टी के साथ गजपुट में आठ बार पुट देकर भस्म बनाये जा सकते हैं।[3]

रत्नों की द्रुति––रत्न के साथ प्रक्रियाएँ करने से उनसे यदि कोई द्रव पदार्थ निकल आये, तो उसे उस रत्न की द्रुति कहेंगे।

रत्नद्रुति के कई योग **रसरत्नसमुच्चय** के इस चतुर्थ अध्याय में हैं।

(१) हींग, पंचलवण (अर्थात् सेंधा नमक, काला नमक, कचिया नमक, विड या

विच्छायं लघु रूक्षांगं चिपिटं पटलान्वितम्।
निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं न शुभावहम्॥ (४।५३–५५)

१. **वैडूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्वच्छं गुरु स्फुटम्।**
अभ्रशुभ्रोत्तरीयेण गर्भितं शुभमीरितम्॥
श्यामं तोयसमच्छायं चिपिटं लघु कर्कशम्।
रक्तगर्भोत्तरीयं च वैडूर्यं नैव शस्यते॥ (४।५७–५८)

२. **शुद्ध्यत्यम्लेन माणिक्यं जयंत्या मौक्तिकं तथा।**
विद्रुमं क्षारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धकैस्तथा।
पुष्परागं च संधानैः कुलत्थक्वाथसंयुतैः॥
तण्डुलीयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च।
रोचनाभिश्च गोमेदं वैडूर्यं त्रिफलाजलैः॥ (४।६०–६१)

३. **लकुचद्रावसंपिष्टैः शिलागन्धकतालकैः।**
वज्रं विनान्यरत्नानि म्रियन्तेऽष्टपुटैः खलु॥ (४।६२)

संचर नमक, सांभर नमक), क्षार-त्रय (यवक्षार, सर्जिकाक्षार और सुहागा), मांस-द्राव, अम्लवेत, चूलिका लवण (नौसादर), कायफल, ज्वालामुखी, गोरोचन, द्रवंती, रुदंती, पयस्या (दुद्धी), चित्रक की जड़, थूहर का दूध और आक का दूध, इन सबको एक साथ खरल करके गोला बना ले। फिर इस गोले में उस रत्न को बन्द कर दे जिसकी द्रुति करनी हो। उस गोले को फिर भोजपत्र में लपेटकर और डोरे से अच्छी तरह बाँधकर, कपड़े में बाँधे। एक घड़े में अम्लवर्ग के पदार्थों के रस और काँजी का रस ले और उस घड़े में रत्नवाला वह गोला लटका दे। घड़े के नीचे तीन दिन-तीन रात आँच दे। इस प्रकार ढोला यंत्र में स्वेदन करके चौथे दिन पोटली बाहर निकाल ले और इसे पानी से धो डाले। पोटली के गोले के भीतर रत्न की द्रुति प्राप्त हो जायगी।[1]

(२) **मोती की द्रुति**—मोतियों के चूर्ण को अम्लवेत के रस में खरल करके लुगदी बना ले। फिर उस लुगदी को जम्भीरी नीबू में चाकू से छेद करके भर दे और उसे सूत आदि से बाँध कर सात दिन तक धानों के ढेर में गाड़ दे। आठवें दिन उसे बाहर निकालकर मूषा में रखकर गजपुट दे। ऐसा करने पर मोती की द्रुति मिलेगी।[2]

१. रामठं पंचलवणं क्षाराणां त्रितयं तथा।
मांसद्रवोऽम्लवेतश्च चुल्लिकालवणं तथा॥
स्थूलं कुंभीफलं पक्वं तथा ज्वालामुखी शुभा।
द्रवंती च रुदंती च पयस्या चित्रमूलकम्॥
दुग्धं स्नुह्यास्तथाऽर्कस्य सर्वं संमर्द्य यत्नतः।
गोलं विधाय तन्मध्ये प्रक्षिपेत्तदनंतरम्॥
गुणवन्नवरत्नानि जातिमंति शुभानि च।
भूर्जे तं गोलकं कृत्वा सूत्रेणावेष्टच यत्नतः॥
पुनर्वस्त्रेण संवेष्टच दोलायंत्रे निधाय च।
सर्वाम्लयुक्तसंधानपरिपूर्णघटोदरे।
अहोरात्रत्रयं यावत्स्वेदयेत्तीव्रवह्निना।
तस्मादाहृत्य संक्षाल्य रत्नजां द्रुतिमाहरेत्॥ (४।६३-६८)

२. मुक्ताचूर्णं तु सप्ताहं वेतसाम्लेन मर्दितम्।
जंबीरोदरमध्ये तु धान्यराशौ विनिक्षिपेत्॥
सप्ताहादुद्धृतं चैव पुटं दत्वा द्रुतिं हरेत्॥ (४।६९)
वज्रवल्यंतरस्थं च कृत्वा वज्रं निरोधयेत्।
अम्लभाण्डगतं स्वेद्यं सप्ताहाद् द्रवतां व्रजेत्॥ (४।७०)

(३) **हीरे की द्रुति**—अस्थिसंहारी (हड़संघारी) का कल्क बनाकर उसके बीच में हीरे का चूर्ण रखकर उसका गोला-सा बना ले। फिर उस गोले को ऊपर कही (१) संख्यावाली विधि से कपड़े में रखकर चारों तरफ डोरा बाँध दे और भोजपत्र में लपेटकर खट्टे पदार्थों के रस तथा कांजी से भरे पात्र में दोलायंत्र की विधि से सात दिन तक स्वेदन करे। इससे हीरे की द्रुति मिलेगी।

(४) **वैक्रान्त की द्रुति**—(क) सफ़ेद वैक्रान्त के चूर्ण को अम्लवेतस की भावना देकर तेज़ धूप में सुखाये। इस प्रकार सात दिन भावना देकर सात दिन तक धूप में सुखाने से वैक्रान्त द्रवरूप हो जाता है।[1]

(ख) केतकी का स्वरस, सेंधा नमक, सत्यानाशी कटेरी और वीरबहूटी—इन सबका कल्क बनाकर एक बर्तन में भरकर दोलायंत्र की विधि से सात दिन तक पकाने से वैक्रान्त की द्रुति होती है। इस प्रकार प्राप्त वैक्रान्त की द्रुति को किसी भी लोहे की भस्म में मिलाकर उसको दोलायंत्र के द्वारा स्वेद दे, तो उस धातु का भी द्रावण होगा।[2]

आजकल की परिभाषा में ये द्रुतियाँ धातुओं के लवणों के जल में बने विलयन हैं। विभिन्न भस्में कांजी और अम्ल-रसों के योग से पानी में घुलकर लवणरूप हो जाती हैं।

लोह अथवा धातुएँ

सोना, चाँदी, ताँबा आदि के लिए जैसे आजकल "धातु" शब्द प्रचलित है, उसी प्रकार पहले इनके लिए "लोह" शब्द का भी प्रयोग किया जाता था। लोह शब्द का सामान्य अर्थ धातु मात्र है, और विशिष्ट अर्थ में यह लोहा या अयस् नामक काली धातु के लिए भी प्रयुक्त होता है।

१. **श्वेतवर्णं तु वैक्रान्तमम्लवेतसभावितम् ।**
सप्ताहान्नात्र संदेहः खरघर्मे द्रवत्यलम् ॥(४।७१)

२. **केतकीस्वरसं ग्राह्यं सैन्धवं स्वर्णपुष्पिका।**
इंद्रगोपकसंयुक्तं सर्वं भाण्डे विनिक्षिपेत् ॥
सप्ताहं स्वेदयेत्तस्मिन्वैक्रान्तं द्रवतां व्रजेत्।
लोहाष्टके तथा वज्रे वापनात्स्वेदनाद् द्रुतिः॥ (४।७२–७३)

रसरत्नसमुच्चय में तीन प्रकार के लोह बताये गये, हैं[१]—(१) **शुद्ध लोह** जिसके अन्तर्गत चार धातुयें हैं—सोना (कनक), चाँदी (रजत), ताँबा (भानु) और साधारण लोहा।

(२) **पूतिलोह**—ये नाग (सीसा) और वंग (राँगा या टिन) हैं। (३) **मिश्रलोह** (alloy)—ये तीन हैं—पीतल, काँसा और वर्त्त (भरत)। लोह शब्द लुह् धातु से निकला है, जिसका अर्थ "खींचना" अर्थात् दोषों को खींच कर निकाल देना है।

१. **सुवर्ण, स्वर्ण या सोना**—यह पाँच प्रकार का है—(क) प्राकृत, (ख) सहज, (ग) अग्निसंभव, (घ) खनिज और (ङ) पारद-वेधजन्य। रजोगुण से उत्पन्न, ब्रह्मांड में व्याप्त, देवताओं को भी दुर्लभ सोना प्राकृत कहलाता है। जिस सुवर्ण के जरायु से लिपटे हुए ब्रह्मा उत्पन्न हुए और जो सुमेरु पर्वत के रूप में है, वह सहज कहलाता है। किसी समय महादेव का वीर्य अग्नि ने भक्षण कर लिया, और जब उससे सहन न हो सका, तो उसे अग्नि ने वमन द्वारा बाहर निकाल दिया, इसे ही अग्निसंभव कहते हैं। ये तीनों सुवर्ण काल्पनिक अथवा दिव्य हैं। अनेक पर्वतों की खानों में जो सोना उत्पन्न होता है वह खनिज कहलाता है, और जो पारे के वेधकर्म द्वारा उत्पन्न हुआ उसे **वेधजन्य** माना जाता है।[२]

१. शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारम्,
पूतीलोहं द्वितयमुदितं नागवंगाभिधानम्।
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्तम्,
धातुर्लोहे लुह इति मतः सोऽप्यनेकार्थवाची॥ (५।१)

२. प्राकृतं सहजं वह्निसंभूतं खनिसंभवम्।
रसेन्द्रवेधसंजातं स्वर्णं पंचविधं स्मृतम्॥
ब्रह्माण्डं संवृतं येन रजोगुणभुवा खलु।
तत्प्राकृतमिति प्रोक्तं देवानामपि दुर्लभम्।
ब्रह्मा येनाऽऽवृतो जातः सुवर्णेन जरायुणा।
तन्मेरुरूपतां यातं सुवर्णं सहजं हि तत्॥
विसृष्टमग्निना शैवं तेजः पीतं सुदुःसहम्।
अभूत्सर्वं समुद्दिष्टं सुवर्णं वह्निसंभवम्॥....
तत्र तत्र गिरीणां हि जातं खनिषु यद् भवेत्।....
रसेन्द्रवेधसम्भूतं तद्वेधजमुदाहृतम्॥ (५।२–८)

स्वर्णशोधन—स्वर्णपत्र १ तोला लेकर उसमें सेंधा नमक और गेरू का चूर्ण समान भाग मिलाकर शराव-पुट में बंद करके अंगारों पर आधे प्रहर तक धौंकनी से फूंकने पर सोने का शुद्ध रंग निखर आता है।[१]

स्वर्णभस्म—सभी धातुओं का मारण पारद की भस्म के योग से उत्तम होता है, वनौषधों के द्वारा किया गया मारण मध्यम, और गन्धक आदि के द्वारा किया गया मारण अधम माना गया है। सोने के कंटकवेधी पत्र बनाकर उनके ऊपर पारे की भस्म बिजौरे नीबू के रस में खरल करके लेप कर दे। फिर उसे शरावसम्पुट में बंद कर उसके ऊपर कपरौटी करके गजपुट की आँच दे। इस प्रकार दस पुट देने से सोने की भस्म तैयार होगी।[२]

स्वर्णभस्म बनाने का इसी प्रकार का एक योग और भी आया है। इसमें पारे की भस्म के साथ दरद (सिंगरफ) का प्रयोग भी किया गया है।

स्वर्णद्रुति—मेंढक की हड्डी का चूर्ण, टंक (सुहागा) और बीरबहूटी इन सबको एक साथ पीसकर घोड़े की लार और मेंढक की चरबी की भावना दे और सोने की मूषा में गलाकर उसमें इस मिश्रण को डाल दे एवं कुछ देर तक आग पर रखा रहने दे, तो इससे देर तक ठहरनेवाली सोने की द्रुति प्राप्त होगी।[३] इसी प्रकार का एक योग और भी आया है, जिसमें बीरबहूटी के साथ देवदाली फल का भी प्रयोग किया गया है।

२. **रूपा, रजत, तार या चाँदी**—चाँदी तीन प्रकार की है—सहज, खनिज और कृत्रिम, जिसमें से सहज सबसे श्रेष्ठ और कृत्रिम सबसे अधम है। कैलास पर्वत में उत्पन्न होनेवाली चाँदी काली है। हिमालय आदि पर्वतों के शिखरों के ऊपर, खानों में जो चाँदी मिलती है, वह है। ऐसा वंग जो रामचन्द्र की पादुका के स्पर्श से चाँदी बन

१. **कर्षप्रमाणं तु सुवर्णपत्रं शरावरुद्धं षड्धातुयुक्तम्।**
अंगारसंस्थं प्रहरार्धमानं ध्मातेन तत्स्यान्ननु पूर्णवर्णम्॥ (५।१२)

२. **लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रसभस्मना।**
मूलीभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गंधकादिभिः॥
अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम्॥
कृत्वा कंटकवेध्यानि स्वर्णपत्राणि लेपयेत्।
लुंगांबुभस्मसूतेन म्रियते दशभिः पुटैः॥ (५।१३–१४)

३. **मंडूकास्थिवसाटंकहयलालेन्द्रगोपकैः।**
प्रतिवापेन कनकं सुचिरं तिष्ठति द्रुतम्॥ (५।१७)

गया, वह काली कहलाती है। इसका नाम **पादरूप्य** भी है।[१] (संभवतः यह वह नकली चाँदी है जो वंग से रासायनिक विधियों द्वारा तैयार की जाती है—वंग की यह कोई मिश्रधातु है, जो चाँदी के समान चमकती होगी।)

चाँदी का शोधन—(क) चाँदी के पतले पत्रों को आग में तपाकर तैल, मट्ठा, गोमूत्र, काँजी, और कुलथी के काढ़े में सात-सात बार क्रमशः बुझाने से चाँदी स्वच्छ हो जाती है।[२]

(ख) चाँदी को गलाकर उसमें समान भाग सीसा और सुहागा डालकर उसको पीसले, और फिर तपाकर ज्योतिष्मती (मालकांगनी) के तेल में तीन बार बुझावे। ऐसा करने से शुद्ध चाँदी मिलेगी (आजकल की रासायनिक विधियों में से कुछ में सीसे का उपयोग शोधन कार्य में किया जा रहा है)।[३]

(ग) खर्पर विधि (Cupellation)—मिट्टी के खर्पर (खपड़े) में चूना और राख इनकी पाली बनाकर उसमें चाँदी और उसके बराबर ही सीसा डालकर धौंकनी से फूंके। जब तक सीसे का क्षय न हो जाय, बराबर फूंकता जाय। इस प्रकार शुद्ध चाँदी मिलेगी।[४]

१. सहजं खनिसञ्जातं च कृत्रिमं त्रिविधं मतम्।
रजतं पूर्वपूर्वं हि स्वगुणैरुत्तरोत्तरम्॥
कैलासाद्यद्रिसंभूतं सहजं रजतं भवेत्।
तत्स्पृष्टं हि सकृद् व्याधिनाशनं देहिनां भवेत्॥
हिमालयाद्रिकूटेषु यद्रूप्यं जायते हि तत्।
खनिजं कथ्यते तज्ज्ञैः परमं हि रसायनम्॥
श्रीरामपादुकान्यस्तं वंगं यद् रूप्यतां गतम्।
तत्पादरूप्यमित्युक्तं कृत्रिमं सर्वरोगनुत्॥ (५।२१-२४)

२. तैले तक्रे गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलत्थजे।
क्रमान्निषेचयेत्तप्तं द्रावे द्रावे तु सप्तधा॥
स्वर्णादिलोहपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते॥ (५।२९)

३. नागेन टंकणेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति।
तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे॥ (५।३१)

४. खर्परे भस्मचूर्णाभ्यां परितः पालिकां चरेत्।
तत्र रूप्यं विनिक्षिप्य समसीससमन्वितम्।

चाँदी की भस्म—(क) पारे की भस्म लकुच (बड़हल) के रस में खरल करके उसका चाँदी के पत्रों के ऊपर लेप कर दे। इसके बाद उन पत्रों को एक मूषा में ऊपर-नीचे गंधक का चूर्ण बिछाकर रखे और मूषा की सन्धियों को अच्छी तरह कपरौटी करके बन्द कर दे। अब मूषा को बालुकायंत्र में आठ प्रहर तक तीव्र आँच दे। स्वांग-शीतल हो जाने पर चाँदी के पत्रों को पीसकर महीन चूर्ण कर ले और उसमें समान भाग शुद्ध हरताल डालकर नीबू के रस में खरल करके संपुट में रखकर गजपुट में फूंके। इस प्रकार बारह पुट देने से चाँदी की भस्म तैयार हो जाती है।[१]

(ख) माक्षिकचूर्ण के साथ भी चाँदी की भस्म तैयार की गयी है। चाँदी के चूर्ण को स्वर्णमाक्षिक चूर्ण के साथ नीबू के रस में घोटकर गजपुट में तीस बार पुट देने से भस्म तैयार हो जाती है।[२]

(ग) स्वर्णमाक्षिक (सोनामाखी) के चूर्ण को थूहर के दूध में खरल करके उसका चाँदी के पत्रों के ऊपर लेप कर दे। पश्चात् उनको सम्पुट में बंद करके गजपुट में फूंके। इस प्रकार भी चाँदी की भस्म बनेगी।[३]

(घ) शुद्ध चाँदी के पत्र चार भाग लेकर उन पर एक भाग हरताल (orpiment) नीबू के रस में घोटकर लेप कर दे। तब उन्हें गर्भयंत्र में रखकर ३० कंडों की आँच दे। इस प्रकार चौदह पुट देने पर चाँदी की भस्म बन जायगी।[४]

जातसीसक्षयं यावद् धमेत्तावत्पुनः पुनः।
इत्थं संशोधितं रूप्यं योजनीयं रसादिषु॥ (५।३२-३३)

१. लकुचद्रवसूताभ्यां तारपत्रं प्रलेपयेत्।
ऊर्ध्वाधो गंधकं दत्त्वा मूषामध्ये निरुध्य च॥
स्वेदयेद् बालुकायंत्रे दिनमेकं दृढाग्निना॥
स्वांगशीतां च तां पिष्टिं साम्लतालेन मर्दिताम्।
पुटेद् द्वादश वाराणि भस्मीभवति रूप्यकम्॥ (५।३४-३५)

२. माक्षीकचूर्णलुंगाम्लमर्दितं पुटितं शनैः।
त्रिंशद्वारेण तत्तारं भस्मसाज्जायतेतराम्॥ (५।३६)

३. भाव्यं ताप्यं स्नुहीक्षीरैस्तारपत्राणि लेपयेत्।
मारयेत्पुटयोगेन निरुत्थं जायते ध्रुवम्॥ (५।३७)

४. तारपत्रं चतुर्भागं भागैकं शुद्धतालकम्।
मद्यं जंबीरजद्रावैस्तारपत्राणि लेपयेत्॥

इन विधियों से बनायी गयी सभी भस्में चाँदी के सलफाइड यौगिक हैं।

चाँदी की द्रुति—देवदाली के फूलों के चूर्ण को नरमूत्र में सात बार भावना देकर फिर सोना या चाँदी अग्नि पर गलाकर उसमें डाले। इस प्रकार दोनों धातुओं की द्रुति हो जायगी।[1]

३. **ताम्र या ताँबा**—यह दो प्रकार का है—(१) म्लेच्छ और (२) नेपालक। इन दोनों में से नेपालक श्रेष्ठ है। यह नेपाल में होता है। नेपाल के अतिरिक्त अन्य सभी देशों की खानों में उत्पन्न ताँबे म्लेच्छ कहे जाते हैं।[2] म्लेच्छ ताँबा वह है जिसमें सफ़ेद, काली और लाल झलक हो, जो कठिन हो और जो अच्छी तरह से धोये जाने पर भी फिर काला पड़ जाय। नेपाली ताँबा चिकना, नरम, लाल, घन की चोट से न टूटनेवाला, वज़न में भारी और जिसका रंग काला न पड़े इस प्रकार का होता है।[3]

ताँबे का शोधन—(क) ताम्र का चूर्ण, यवक्षार और गेरू इन तीनों को नीबू के रस में घोटकर अग्नि पर गलाये और भैंस के मट्ठे तथा गोबर के रस में सात सात बार बुझाये। इस प्रकार ताँबे का शोधन हो जायगा।[4]

(ख) ताँबे के पतले पत्र करके उनको नीबू के रस में खरल कर उनके ऊपर सैंधा

शोषयेदंधयंत्रे च त्रिंशदुपलकैः पचेत्।
चतुर्दशपुटैरेवं निरुत्थं जायते ध्रुवम्॥ (५।३८-३९)

१. सप्तधा नरमूत्रेण भावयेद्देवदालिकाम्।
तच्चूर्णवापमात्रेण द्रुतिः स्यात्स्वर्णतारयोः॥ (५।४०)

२. म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालकं वरम्।
नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते॥ (५।४२)

३. सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम्।
क्षालितं च पुनः कृष्णमेतन्म्लेच्छकताम्रकम्॥
सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनाघातक्षमं गुरु।
निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते॥ (५।४३-४४)

४. ताम्रं क्षाराम्लसंयुक्तं द्रावितं दत्तगैरिकम्।
निक्षिप्तं महिषीतक्रे छगणे सप्तवारकम्।
पंचदोषविनिर्मुक्तं भस्मयोग्यं हि जायते॥ (५।४९)

नमक लेप कर दे। फिर उनको आग में तपाकर लाल कर ले और अन्त में काँजी में बुझा दे। ऐसा आठ बार करने से ताँबे का शोधन हो जायगा।[1]

(ग) ताँबे के पत्रों को आग में तपा तपाकर निर्गुण्डी के रस में आठ बार बुझाये। ऐसा करने से भी ताँबे का शोधन होगा।[2]

ताम्रभस्म—(क) शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक दोनों को समान भाग लेकर नीबू के रस में घोटे। फिर इसका ताँबे के पत्रों पर लेप करे, फिर इन्हें शरावसम्पुट में रखकर गजपुट की आँच में तीन बार पुट दे। ऐसा करने पर भस्म तैयार हो जायगी।[3]

(ख) ताँबे के पतले पत्र गोमूत्र में पाँच प्रहर तक पकाये। फिर अम्लपर्णी के रस में दुगुना गन्धक डालकर खरल करे और उसका गोला बनाकर एक मिट्टी के बर्तन में उक्त गोले में ताँबे के पत्र रखकर और बर्तन के मुख पर सकोरा ढककर कपड़मिट्टी आदि से अच्छी तरह बन्द कर दे और चूल्हे पर चढ़ाकर एक प्रहर तक तेज़ आँच दे। इस प्रकार करने से भी ताँबे की अच्छी भस्म बनेगी।[4]

भस्म बनाने के कई योग हैं। ये सब भस्में ताँबे का सलफाइड हैं।

(ग) **सोमनाथी ताम्रभस्म**—यह पारा, गन्धक, हरताल, मनःशिला और ताँबे के पत्रों से तैयार की जाती है। पारा, गन्धक, हरताल और मनःशिला को पीसकर कज्जली बना लेते हैं, और शरावसम्पुट में इस कज्जली के बीच में ताँबे के पत्र रख देते हैं। गर्भयंत्र में एक प्रहर तक गरम करके भस्म तैयार कर लेते हैं।[5]

१. **ताम्रनिर्मलपत्राणि लिप्त्वा निम्बंबुसिंधुना।**
ध्मात्वा सौवीरकक्षेपाद्विशुध्यत्यष्टवारतः॥ (५।५०)

२. **निम्बम्बुपटुलिप्तानि तापितान्यष्टवारकम्।**
विशुध्यंत्यर्कपत्राणि निर्गुण्डया रसमज्जनात्॥ (५।५१)

३. **जंबीररससंपिष्टरसगंधकलेपितम्।**
शुल्बपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति पंचताम्॥ (५।५३)

४. **ताम्रपत्राणि सूक्ष्माणि गोमूत्रे पंचयामकम्।**
क्षिप्त्वा रसेन भाण्डे तद् द्विगुणं देहि गंधकम्॥
अम्लपर्णीं प्रपिष्याथ ह्यभितो देहि ताम्रकम्।
सम्यङ्ग निरुध्य भांडे तमग्निं ज्वालय यामकम्।
भस्मीभवति ताम्रं तद्यथेष्टं विनियोजयेत्॥ (५।५६–५७)

५. **शुल्बतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च।**
तदर्धांशेन तालेन शिलया च तदर्धया॥

४. **अयस्, लोह या लोहा**—साधारणतः लोहा तीन प्रकार का बताया गया है—(क) मुण्ड लोह, (ख) तीक्ष्ण लोह और (ग) कान्त लोह।[1]

मुण्डलोह (wrought iron) के भी तीन भेद हैं—(क) मृदु मुण्ड लोह, (ख) कुंठ मुण्ड लोह और (ग) कडार मुंडलोह। जो लोह आग पर तपाने पर शीघ्र गल जाता है, जो घन की चोट से फटता नहीं (अविस्फोट) और जो चिकना होता है उसे **मृदु लोह** (soft iron) कहते हैं। जो लोह बड़ी कठिनता से चोट मारे जाने पर बढ़ता है उसे **कुण्ठ लोह** (hard iron) कहते हैं। जो चोट लगने पर फट जाय, टूटकर बिखर जाय, तोड़ने पर भीतर से काले रंग का हो, उसे **कडारक, कण्डारक** अथवा **कण्डकारक लोह** (brittle iron) कहते हैं।[2]

तीक्ष्ण लोह (cast iron and steel) छः प्रकार का माना गया है—(१) खरतीक्ष्ण लोह, (२) सारतीक्ष्ण लोह, (३) हृन्नाल तीक्ष्ण लोह, (४) तारावट्ट तीक्ष्ण लोह, (५) वाजिर तीक्ष्ण लोह और (६) काल लोह।[3]

इनमें से **खर लोह** कठोर और पोगर रहित होता है, अर्थात् उसमें रेखा या कठोर तन्तु स्पष्ट नहीं दिखाई देते। तोड़ने पर यह भीतर से पारे के समान चमकदार होता है। नमाने पर टूट जाता है (भंगुर)।[4]

विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम्।
यन्त्राध्यायविनिर्दिष्टगर्भयन्त्रोदरांतरे।
कज्जलीं ताम्रपत्राणि पर्यायेण विनिक्षिपेत्॥
प्रपचेद्यामपर्यंतं स्वांगशीतं विचूर्णयेत्॥....
दुष्टां च ग्रहणीं हरेद् ध्रुवमिदं श्रीसोमनाथाभिधम्। (५।५८–६१)

१. मुण्डं तीक्ष्णं च कांतं च त्रिप्रकारमयः स्मृतम्। (५।६७)

२. मृदु कुण्ठं कडारं च त्रिविधं मुण्डमुच्यते।
द्रुतद्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम्॥
हतं यत्प्रसरेद् दुःखात्तत्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम्।
यद्धतं भज्यते भंगे कृष्णं स्यात्तत्कडारकम्॥ (५।६८-७१)

३. खरं सारं च हृन्नालं तारावट्टं च वाजिरम्।
काललोहाभिधानं च षड्विधं तीक्ष्णमुच्यते॥ (५।७४)

४. परुषं पोगरोन्मुक्तं भंगे पारदवच्छवि।
नमने भंगुरं यत्तत्खरलोहमुदाहृतम्॥ (५।७५)

सार लोह वह है जिसकी धार मोटी और मोड़ने पर नहीं टूटती, यह पीली भूमि की खान में उत्पन्न होता है। इसके भीतर कुटिल रेखाएँ दिखाई देती हैं (पोगर)।[1]

हृन्नाल लोह वह है जिसका काला-पीला मिश्रित रंग हो, जिसमें चञ्चुबीज की सी कुटिल रेखाएँ पड़ती हों और जो तोड़ने में अत्यन्त परुष या कठोर हो। यहाँ कहे हुए **पोगर** के अंग, छाया और वंग तीन पर्याय हैं। यह पोगर चमकदार (चिकुर) और भंगुर होता है।[2] जिस लोहे का पोगर वज्र के समान कठोर, चमकदार, सूक्ष्म रेखाओं से युक्त, घन और भारी हो और जिसका रंग श्यामल हो उसे **वाजिर** कहते हैं।[3] जो लोहा नीली काली प्रभावाला, भारी, चिकना और कान्तियुक्त हो और लोहे के आघात से भी जिसकी धार न टूटे उसे **कालायस** कहते हैं।[4]

कान्त लोह (magnetic iron) पाँच प्रकार का होता है—(क) भ्रामक, (ख) चुम्बक, (ग) कर्षक, (घ) द्रावक और (ङ) रोमकान्त। इनमें से प्रत्येक के ६–६ भेद और हैं—एकमुख, द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख और सर्वतोमुख। और भी आगे, प्रत्येक के रंग के अनुसार पीत, कृष्ण और रक्त ये तीन-तीन भेद और हैं। इनमें पीला कान्तलोह स्पर्शमात्र से अन्य धातुओं को सोना बना देता है। कृष्ण कान्त-लोह रस-कर्म में उपयोगी है, और लाल कान्तलोह पारा बाँधने में श्रेष्ठ माना गया है।

भ्रामक कान्तलोह हीन, चुम्बक कान्तलोह मध्यम और कर्षक उत्तम, एवं द्रावक कान्तलोह उत्तमोत्तम कहा गया है। भ्रामक कान्तलोह दूसरे लोहे को चलाता है, चुम्बक कान्तलोह दूसरे लोहे से चिपक जाता है, कर्षक कान्तलोह दूसरे लोहे को अपनी ओर खींचता है। द्रावक कान्तलोह के सम्पर्क से अन्य धातुएँ पिघल जाती हैं। जिस कान्तलोह के तोड़ने पर भीतर केश के समान तन्तु दिखाई दें, उसे रोमकान्त कहते हैं।

१. **वेगभंगुरधारं यत्सारलोहं तदीरितम्।
पोगराभासकं पाण्डुभूमिजं सारमुच्यते॥ (५।७६)**

२. **कृष्णपांडुवपुश्चंचुबीजतुल्योरुपोगरम्।
छेदने चातिपरुषं हृन्नालमिति कथ्यते॥
अंगच्छाया च वंगं च पोगरस्याभिधात्रयम्॥
चिकुरं भंगुरं लोहात्पोगरं तत्परं मतम्॥ (५।७७–७८)**

३. **पोगरैर्वज्रसंकाशैः सूक्ष्मरेखैश्च सान्द्रकैः।
निचितं श्यामलांगं च वाजीरं तत्प्रकीर्त्यते॥ (५।७९)**

४. **नीलकृष्णप्रभं सान्द्रं मसृणं गुरु भासुरम्।
लोहाघातेऽप्यभंगात्मधारं कालायसं मतम्॥ (५।८०)**

मुखों की दृष्टि से एकमुखी अधम और क्रमशः बढ़ते बढ़ते सर्वतोमुखी लोहा अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है। चिकित्सा में भ्रामक और चुम्बक, एवं रस और रसायन में कर्षक और द्रावक उपयोगी हैं। पारे को मारने में कान्तलोह उसी प्रकार से लाभप्रद है जैसे मतवाले हाथी को वश में करने के लिए अंकुश।[1]

लोहे का शोधन—इसके शोधन की चार विधियाँ आयी हैं। पहली विधि खरगोश के रुधिर से लोहे पर लेप करके तपाने की है। दूसरी और तीसरी विधि में तपाये हुए लोहे को त्रिफला के रस में और नमक के विलयन में बुझाना कहा गया है। चौथी विधि में तप्त लोहे को इमली के पत्तों के रस या गोमूत्र से सिद्ध त्रिफला के क्वाथ में सात बार बुझाना चाहिये।[2]

१. भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पंचमम्॥
एकद्वित्रिचतुष्पंचसर्वतोमुखमेव तत्।
पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात्पृथक् पृथक्।
क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥
स्पर्शवेधि भवेत्पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रसायने।
रक्तवर्णं तथा चापि रसबंधे प्रशस्यते॥
भ्रामकं तु कनिष्ठं स्याच्चुम्बकं मध्यमं तथा।
उत्तमं कर्षकं चैव द्रावकं चोत्तमोत्तमम्॥
भ्रामयेल्लोहजातं यत्तत्कांतं भ्रामकं मतम्।
चुंबयेच्चुंबकं कान्तं कर्षयेत्कर्षकं तथा।
साक्षाद् यद् द्रावयेल्लोहं तत्कांतं द्रावकं भवेत्।
तद् रोमकान्तं स्फुटिताद्यतो रोमोद्गमो भवेत्॥
कनिष्ठं स्यादेकमुखं मध्यं द्वित्रिमुखं भवेत्।
चतुष्पंचमुखं श्रेष्ठमुत्तमं सर्वतोमुखम्॥
भ्रामकं चुम्बकं चैव व्याधिनाशे प्रशस्यते।
रसे रसायने चैव कर्षकं द्रावकं हितम्॥
मदोन्मत्तगजः सूतः कान्तमंकुशमुच्यते॥ (५।८३-९३)

२. चिंचापत्रजलक्वाथादयो दोषमुदस्यति।
यद्वा फलत्रयोपेतं गोमूत्रे क्वथितं क्षणम्॥ (५।१०५-१०६)

लोहे की भस्म—सभी प्रकार के लोहों को भस्म करने की लगभग १४ विधियाँ **रसरत्नसमुच्चय** में दी गयी हैं। पहली विधि में लोह के रेतित (filings) को घी के साथ तपाना बताया गया है। इस प्रकार लोहे की वारितर (पानी पर तैरनेवाली) भस्म मिलेगी। अन्य विधियों में लोह के तप्त पत्रों को आवँले के रस या त्रिफला के रस में बुझाकर तैयार करना बताया है। कुछ विधियों में पारे और गन्धक की कज्जली अथवा सिंगरफ (हिंगुल) के साथ लोहे को फूँककर काँजी अथवा नीबू के रस में बुझाना बताया गया है। ये भस्में अधिकतर लाल रंग की या कुछ काली-सी बनती हैं। बहुधा ये लोहे के विभिन्न ऑक्साइड हैं।[1]

लोहे का द्रावण—चार-पाँच विधियाँ इस अभिप्राय की दी गयी हैं। एक विधि यह है—कड़वी तोरई की भस्म को गोमूत्र में २१ बार भावना देकर सुखा ले। फिर लोहे की मूषा में लोहे को गलाकर उसमें उक्त चूर्ण डालता जाय, तो लोहे का द्रावण होता है। अन्य एक विधि इस प्रकार है—गन्धक और कान्तलोह को समान भाग लेकर चूर्ण करके तपते हुए लोहे के ऊपर डालें तो लोह-द्रुति होगी।[2]

१. (क) रेतितं घृतसंयुक्तं क्षिप्त्वाऽयःखर्परे पचेत्।
चालयेल्लोहदण्डेन यावत् क्षिप्तं तृणं दहेत्॥
पिष्ट्वा पिष्ट्वा पचेदेवं पंचवारमतः परम्।
धात्रीफलरसैर्यद्वा त्रिफलाक्वथितोदकैः।
पुटेल्लौहं चतुर्वारं भवेद् वारितरं खलु॥ (५।१०६–१०८)

(ख) तीक्ष्णलौहस्य पत्राणि निर्दलानि दृढेऽनले।
ध्मात्वा क्षिपेज्जले सद्यः पाषाणोलूखलोदरे॥
कण्डयेद् दृढनिर्घातैः स्थूलया लोहपारया।
तन्मध्यात्स्थूलखण्डानि रुद्ध्वा मल्लद्वयांतरे॥
ध्मात्वा क्षिप्त्वा जले सम्यक् पूर्ववत् कण्डयेत् खलु।
तच्चूर्णं सूतगन्धाभ्यां पुटेद् विंशतिवारकम्॥
पुटे पुटे विधातव्यं पेषणं दृढवत्तरम्।
एवं भस्मीकृतं लौहं तत्तद्रोगेषु योजयेत्॥ (५।११०–११३)

२. (क) त्रिःसप्तकृत्वो गोमूत्रे जालिनीभस्मभावितम्।
शोषयेत्तस्य वातेन तीक्ष्णं मूषागतं द्रवेत्॥ (५।१४२)

(ख) गन्धकं कान्तपाषाणं चूर्णयित्वा समं समम्।
द्रुते लोहे प्रतीवापो देयो लोहाष्टकं द्रवेत्॥ (५।१४५)

लोहकिट्ट या मण्डूर (Iron rust)—लोहे से उत्पन्न किट्ट को बहेड़े के कोयलों की तेज़ आँच में तपाकर बहेड़े के ही बने पात्र में रखे हुए गोमूत्र में यदि बुझाया जाय, तो लोहकिट्ट शुद्ध हो जाता है। इस को मंडूर भी कहते हैं।[1]

५. **वंग या राँगा** (Tin)—वंग दो प्रकार की होती है—(१) खुरक और (२) मिश्रक। इन दोनों में खुरक अधिक श्रेष्ठ मानी गयी है। खुरक वंग (white tin) श्वेत, मृदु, स्निग्ध, जल्दी गलनेवाली (द्रुतद्राव), निःशब्द और भारी वज़न की है। मिश्रक में काला और श्वेत दोनों रंग मिले होते हैं (grey tin)।[2]

वंग भस्म—इसकी भस्म बनाने की चार विधियाँ दी गयी हैं। पहली विधि इस प्रकार है—शुद्ध वंग के पतले पत्र करके उनके ऊपर आक के दूध में घोटी हुई हरताल का लेप करे। फिर उनके नीचे-ऊपर पीपल और इमली की छाल का क्षार बिछाकर दो सकोरों में बन्द करके लघुपुट दे। इस प्रकार तीन-चार पुट देने से वंग की भस्म बन जाती है। एक अन्य विधि इस प्रकार है—ढाक के गोंद के साथ हरताल को खरल करके उसका वंगपत्रों पर लेप करके हलकी अग्नि के द्वारा पुट दे। इस प्रकार तीन पुट देने से वंग-भस्म बन जायगी।[3]

६. **नाग या सीसा** (Lead)—सीसा द्रुतद्रावी (शीघ्र गलनेवाला) और भारी

---

१. अक्षांगारैर्धमेत्किट्टं लोहजं तद् गवां जलैः।
सेचयेदक्षपात्रांतः सप्तवारं पुनः पुनः॥
मंडूरोऽयं समाख्यातश्चूर्णं श्लक्ष्णं प्रयोजयेत्॥ (५।१५०)

२. खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वंगमुच्यते।
खुरं तत्र गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न हितं मतम्॥
धवलं मृदुलस्निग्धं द्रुतद्रावं सगौरवम्।
निःशब्दं खुरवंगं स्यान्मिश्रकश्यामशुभ्रकम्॥ (५।१५३–१५४)

३. (क) सतालेनार्कदुग्धेन लिप्त्वा वंगदलानि च।
बोधिचिंचात्वचः क्षारैर्दद्याल्लघुपुटानि च॥
मर्दयित्वा चरेद् भस्म तद्रसादिषु शस्यते। (५।१५९)

(ख) पलाशद्रवयुक्तेन वंगपत्रं प्रलेपयेत्।
तालेन पुटितं पश्चान्म्रियते नात्र संशयः॥ (५।१६१)

है। तोड़ने या छेदने पर काला, चमकदार होता है, इसमें एक दुर्गंध होती है और बाहर से यह काला प्रतीत होता है। जिस सीसे में ये गुण न हों वह अच्छा नहीं है।[1]

सीसे का शोधन—गले हुए सीसे में सिन्दुवार (सिम्हालू या निर्गुण्डी), रेणुका और हलदी का चूर्ण डाले और तब तक तपाये जब तक ये चूर्ण जल न जायँ। फिर उसे निर्गुण्डी के पत्तों के रस में तीन बार बुझाये। ऐसा करने से सीसा शुद्ध होता है।[2]

सीसे की भस्म—इसे तैयार करने की तीन विधियाँ दी गयी हैं। पहली विधि में भ्राष्ट्रयंत्र (भाड़) का प्रयोग किया गया है।[3] तिरछे आकारवाला चूल्हा बनाकर उस पर एक घड़ा तिरछा करके रखे। घड़े के मुँह को छोड़कर उसके शेष सर्वांग को चारो ओर मिट्टी से लेप कर ढक दे। इस भ्राष्ट्रयंत्र में २० पल शुद्ध सीसा डालकर उसके नीचे तीक्ष्ण अग्नि जलाये। सीसा गल जाने पर उसमें एक तोला शुद्ध पारा डालकर लोहे की कलछी से खूब घोटे। फिर उसमें अर्जुन की छाल, बहेड़ा, अमलतास,

१. द्रुतद्रावं महाभारं छेदे कृष्णसमुज्ज्वलम्।
पूतिगंधं बहिः कृष्णं शुद्धं सीसमतोऽन्यथा॥ (५।१७०)

२. सिन्दुवारजटाकौन्तीहरिद्राचूर्णकं क्षिपेत्।
द्रुते नागेऽथ निर्गुण्ड्यास्त्रिवारं निक्षिपेद्रसे।
नागः शुद्धो भवेदेवं मूर्च्छास्फोटादि नाचरेत्॥ (५।१७२)

३. तिर्यगाकारचुल्ल्यां तु तिर्यग्वक्त्रं घटं न्यसेत्।
तं च वक्त्रं विना सर्वं गोपयेद्यत्नतो मृदा॥
भ्राष्ट्रयंत्राभिधे तस्मिन् पात्रे सीसं विनिक्षिपेत्।
पलविंशतिकं शुद्धमधस्तीव्रानलं क्षिपेत्।
द्रुते नागे क्षिपेत्सूतं शुद्धं कर्षमितं शुभम्॥
घर्षयित्वा क्षिपेत्क्षारमेकैकं हि पलं पलम्।
अर्जुनस्याक्षवृक्षस्य महाराजगिरेरपि।
दाडिमस्य मयूरस्य क्षिप्त्वा क्षारं पृथक् पृथक्॥
एवं विंशतिरात्राणि पचेत्तीव्रेण वह्निना।
विघट्टयन् दृढं दोर्भ्यां लोहदर्व्या प्रयत्नतः॥
रक्तं तज्जायते भस्म कपोतच्छायमेव वा।
नागं दोषविनिर्मुक्तं जायतेऽतिरसायनम्॥ (५।१७३–१७८)

अनार और चिरचिटा इन प्रत्येक का क्षार चार-चार तोले डालकर २१ दिन तक पकाये और लोहे की कलछी द्वारा दोनों हाथों से अच्छी तरह घोटता जाय। इस प्रकार घोटने से सीसे की लाल रंग की, अथवा कबूतर के रंग की उत्तम भस्म मिलती है।

७. **पित्तल या पीतल** (Brass)—पीतल दो प्रकार की कही गयी है—रीतिका और काकतुंडी। वह पीतल जो आग पर तपाकर काँजी में बुझाने से ताँबे के समान लाल पड़ जाय, उसे रीतिका कहते हैं। ऐसा करने पर जिसका रंग काला पड़ जाय वह काकतुंडी है।[1]

पीतल की भस्म—शुद्ध पीतल के पतले पत्रों पर गन्धक और मनःशिला का नीबू के रस में बनाया गया लेप लगाकर शरावपुट में बन्द करके गजपुट में फूँकने पर पीतल की भस्म बनती है।[2]

पीतल की द्रुति—सुनहरे रंग की रीतिका-पीतल का चूर्ण तरुण एवं पुष्ट बकरे को खाद्य पदार्थों के साथ खिलाये। फिर इस बकरे के मल को द्रावणवर्ग की ओषधियों के साथ घोटे और उससे खर्पर के भीतर लेप कर दे। इस खर्पर को आँच पर तपाने से पीतल की उत्तम द्रुति मिलती है।[3]

८. **कांस्य या काँसा** (Bronze or Bell metal)—आठ भाग ताँबा और दो भाग खुरक वंग, दोनों को मिलाकर गलाने से काँसा बनता है। सौराष्ट्र देश का काँसा अच्छा माना जाता था। अच्छा काँसा वह है जो तीक्ष्ण शब्दवाला हो, मृदु, स्निग्ध, श्यामलता मिला जिसका श्वेत रंग हो, जो निर्मल हो और आग में तपाने पर लाल पड़

१. रीतिका काकतुंडी च द्विविधं पित्तलं भवेत्।
संताप्य कांजिके क्षिप्ता ताम्राभा रीतिका मता॥
एवं या जायते कृष्णा काकतुंडीति सा मता॥ (५।१९०–१९२)

२. निंबूरसशिलागंधवेष्टिता पुटिताऽष्टधा।
रीतिरायाति भस्मत्वं ततो योज्या यथायथम्॥
ताम्रवन्मारणं तस्याः कृत्वा सर्वत्र योजयेत्॥ (५।१९८–१९९)

३. सुवर्णरीतिकाचूर्णं भक्षितं वेष्टितं पुनः।
छागेन कृष्णवर्णेन मत्तेन तरुणेन च॥
तल्लिप्तं खर्परे दग्धं द्रुतिं मुञ्चति शोभनाम्। (५।२०२–२०३)

जाय। वह कांसा अच्छा नहीं जो पीला हो, तपाने पर ताँबे का-सा हो जाय, जो खरखरा, रुक्ष, चोट न सह सकनेवाला हो और जिसके घिसने से ज्योति निकले।[1]

काँसे का शोधन—काँसे के पत्रों को अग्नि में अच्छी तरह तपाकर यदि गोमूत्र में बुझाया जाय तो यह शुद्ध हो जाता है।[2]

काँसे की भस्म—(क) काँसे को गन्धक और हरताल की सहायता से मारा जा सकता है। गन्धक और हरताल दोनों को नीबू के रस में खरल कर लेना चाहिए, फिर इससे काँसे के पत्रों पर लेप करना चाहिए। शरावसम्पुट में बन्द करके इन्हें गजपुट में फूँकना चाहिए। पाँच पुट देने पर भस्म तैयार हो जायगी।[3]

(ख) तीनों क्षार और पाँचों लवणों को नीबू के रस की सात बार भावना दे। फिर इस कल्क का काँसे या पीतल के पत्रों पर लेप करे। फिर इन्हें शरावसम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूंके। कई बार ऐसा करने पर शुद्ध भस्म तैयार हो जाती है।[4]

९. **वर्तलोह या भरत**—काँसा, ताँबा, पीतल, लोह और सीसा इन पाँचों को एक साथ गलाने पर जो मिश्र धातु तैयार होती है, उसे **वर्तलोह** अथवा **पंचलोह** कहते हैं। इसके बने बर्तन खट्टे पदार्थों को छोड़कर शेष सभी भोजनों के लिए हितकर हैं, चाहे वे भोज्यपदार्थ अन्न हों, चाहे व्यंजन या सूप।[5]

१. अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागखुरकेण च।
विद्रुतेन भवेत् कांस्यं तत्सौराष्ट्रभवं शुभम्॥
तीक्ष्णशब्दं मृदुस्निग्धमीषच्छ्यामलशुभ्रकम्।
निर्मलं दाहरक्तं च षोढा कांस्यं प्रशस्यते॥
तत्पीतं दहने ताम्रं खरं रूक्षं घनासहम्।
मर्दनादागतज्योतिः सप्तधा कांस्यमुत्सृजेत्॥ (५।२०४–२०६)

२. तप्तं कांस्यं गवां मूत्रे वापितं परिशुध्यति। (५।२०९)

३. म्रियते गन्धतालाभ्यां निरुत्थं पंचभिः पुटैः। (५।२१०)

४. त्रिक्षारं पञ्चलवणं सप्तधाऽम्लेन भावयेत्।
कांस्याऽऽरकूटपत्राणि तेन कल्केन लेपयेत्।
रुद्ध्वा गजपुटे पक्वं शुद्धभस्मत्वमाप्नुयात्॥ (५।२११)

५. कांस्यार्करीतिलोहाऽहिजातं तद्वर्तलोहकम्।
तदेव पंचलोहाख्यं लोहविद्भिरुदाहृतम्॥
तद्भाण्डे साधितं सर्वमन्नव्यंजनसूपकम्।
अम्लेन वर्जितं चापि दीपनं पाचनं हितम्॥ (५।२१२, २१४)

वर्तलोह का शोधन—वर्तलोह को आग में गलाकर घोड़े के मूत्र में छोड़ दे तो वह शुद्ध हो जाता है।[1]

वर्तलोह की भस्म—वर्तलोह के पत्रों पर गन्धक और हरताल के साथ नीबू के रस में बने कल्क का लेप करके शरावसम्पुट में रखकर उन्हें गजपुट में फूंके, तो अच्छी भस्म तैयार हो जायगी।[2]

१०. **भूनागसत्त्व**—रसरत्नसमुच्चय के पाँचवें अध्याय की समाप्ति भूनागसत्त्व, (केंचुओं के सत्त्व) और अनेक तेलों के पातन की विधियों से होती है। भूनागसत्त्व का उपयोग हीरा आदि के द्रावण में होता है।[3] सोना, चाँदी, ताँबा, कान्तलोह आदि धातुएँ जहाँ-जहाँ की खानों में पायी जाती हों, वहाँ-वहाँ की मिट्टियों में होनेवाले केंचुओं का सत्त्व विशेष मूषाओं में सावधानी से बनाना चाहिए। इन सत्त्वों से फिर उन्हीं धातुओं की द्रुतियाँ बनायी जा सकती हैं, अर्थात् चाँदी की खान वाली मिट्टी में पाये जानेवाले केंचुओं का सत्त्व चाँदी की द्रुति में सहायक होगा, इत्यादि।[4]

११. **तैलपातन विधि**—विभिन्न ओषधियों और वनस्पतियों में से तेल निकालने की तीन-चार विधियाँ इस ग्रन्थ में दी गयी हैं। हम उदाहरण के लिए केवल दो विधियाँ देंगे—

(क) उत्तरवारुणी या इन्द्रायन के पत्ते और पेटारी के पत्ते, इन दोनों को काँजी में पीसे, फिर उसमें अंकोल के बीज पीसकर मिलाये, इनको कपड़े की ढीली पोटली में बाँधकर तेज़ धूप में लटका दे। नीचे जो तेल गिरे उसे किसी चषक या पात्र में ग्रहण कर ले। यह तेल घी के समान गाढ़ा होता है।[5]

१. द्रुतमश्वजले क्षिप्तं वर्तलोहं विशुध्यति। (५।२१५)

२. म्रियते गन्धतालाभ्यां पुटितं वर्तलोहकम्।
तेषु तेष्विह योगेषु योजनीयं यथाविधि ॥ (५।२१६)

३. वज्राणां द्रावणार्थाय सत्त्वं भूनागजं ब्रुवे।
तदेव परमं तेजः सूतराजेन्द्रवज्रयोः ॥ (५।२१९)

४. खरसत्त्वमिदं प्रोक्तं रसायनमनुत्तमम्।
द्वित्रिमूषासु चैकस्यां सत्त्वं भवति निश्चितम् ॥
भूनागानुपादाय चतुष्प्रस्थसमन्वितान्।
सुवर्णरूप्यताम्रायस्कांतसंभूतिभूमिजान् ॥ (५।२२४, २२५)

५. संपेष्योत्तरवारुण्याः पेटकार्या दलान्यथ।
कांजिकेन ततस्तेन कल्केन परिमर्दयेत् ॥

(ख) अंकोल के बीजों को काँजी में पीसकर रातभर रखा रहने दे। दूसरे दिन उनकी पिण्डी या गोला बना ले। एक हाँडी को लेकर उसको पानी से आधा भरकर उसके मुँह के ऊपर कण्ठ तक एक कपड़ा बाँध दे। इस कपड़े के ऊपर उस पिण्डी या गोले को रखे। गोले के ऊपर एक सकोरा ढँक दे। इस कंदुकयंत्र को चूल्हे पर चढ़ा दे और दो घड़ी तक गरम करे। फिर उस पिण्डी को दृढ वस्त्र में बाँधकर काष्ठ-यंत्र (wooden press) द्वारा दबाये और नीचे तेल ग्रहण करने के लिए एक पात्र रख दे। इस प्रकार के कन्दुक यंत्र द्वारा सभी तेल निकाले जा सकते हैं।[१]

निर्देश

वाग्भट—रसरत्नसमुच्चय–(१) अम्बिकादत्त शास्त्री की "सुरत्नोज्ज्वला" टीका-सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, १९५१ ई०। (इसी संस्करण से हमने उद्धरण दिये हैं।)

(२) शंकरलाल हरिशंकर कृत भाषाटीका सहित, वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई (सं० २००९ वि०)

रजश्चांकोल्लबीजानां तद्बध्वा विरलांबरे।
तद्विलंब्याऽऽतपे तीव्रे तस्याधश्चषकं न्यसेत्।
तस्मिन्निपतितं तैलमादेयं श्वित्रनाशनम्॥ (५।२३३–२३४)

१. अंकोल्लबीजसंभूतं चूर्णं संमर्द्य कांजिकैः।
एकरात्रोषितं तत्तु पिण्डीकृत्य ततः परम्॥
स्वेदयेत्कंदुके यंत्रे घटिकाद्वितयं ततः।
तां च पिण्डीं दृढे वस्त्रे बद्ध्वा निष्पीड्य काष्ठतः॥
अधः पात्रस्थितं तैलं समाहृत्य नियोजयेत्।
एवं कंदुकयंत्रेण सर्वतैलान्युपाहरेत्॥ (५।२३५–२३७)

इक्कीसवाँ अध्याय

ढुण्ढुकनाथ और रसेन्द्रचिन्तामणि

(चौदहवीं शती)

रसेन्द्रचिन्तामणि नाम के दो रसग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। एक के तो रचयिता सिद्ध नित्यनाथ हैं जो **रसरत्नाकर** के भी रचयिता कहे जाते हैं। दूसरे ग्रन्थ के रचयिता ढुण्ढुकनाथ हैं, जिनके **रसेन्द्रचिन्तामणि** के आधार पर यहाँ कुछ लिखा जायगा। इन्होंने इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में अपने को कालनाथ का शिष्य बताया है। ये शिव और पार्वती अथवा अम्बिका और महेश्वर के उपासक थे।[1] यह ग्रन्थ **रसार्णव** ग्रन्थ की परम्परा में है। **रसार्णव** के अनेक उद्धरण इस ग्रन्थ में हैं। **रसेन्द्रसारसंग्रह** और इस ग्रन्थ में भी समानता है। लेखक स्वयं यह कहता है कि यह ग्रन्थ है तो छोटा, पर सम्पूर्ण रस-ज्ञान को देनेवाला है।[2] ग्रन्थकार की यह घोषणा है कि मैंने पुरानी सुनी-सुनाई बातों को यों ही इस ग्रन्थ में नहीं दे दिया। अनुभवी वैद्यों से जो मैंने सुना, उसकी सत्यता का परीक्षण किया और प्रयोग-कर्म करके निःशंक होकर विषयों का प्रतिपादन किया है।[3] लेखक का कहना है कि यथार्थ गुरु तो वही है, जो रसकर्म संबंधी बातों को न केवल पढ़ाये, अपितु उन सब बातों को करके प्रदर्शित करने की क्षमता रखता हो। और सच्चा शिष्य भी वही है जो पढ़ने के अनन्तर पढ़ी चीज़ों को करके दिखा देने में

१. इदानीं कालनाथशिष्यः श्रीढुण्ढुकनाथाह्वयो रसेन्द्रचिन्तामणिग्रन्थमारभमाणस्तन्मूलदेवते श्रीमदम्बिकामहेश्वरौ सकलजगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयनिदानंविशेषसिद्धान्तगर्भवाचा वरीवस्यति। (१।१)

२. लघीयःपरिमाणतया निखिलरसज्ञानदायित्वात् चिन्तामणिरिव चिन्तामणिः। (१।३)

३. अश्रौषं बहुविदुषां मुखादपश्यं शास्त्रेषु स्थितमकृतं न तल्लिखामि।
यत्कर्म व्यरचयमग्रतो गुरूणां प्रौढानां तदिह वदामि वीतशंकः॥ (१।४)

समर्थ हो, अन्यथा गुरु और शिष्य दोनों अभिनेता ही कहे जायँगे।[1] लेखक को यह भी आशंका थी कि कहीं कोई व्यक्ति इस ग्रन्थ में दिये गये योगों को स्वतंत्र अपने नाम से प्रचलित न कर दे। ऐसे अपहरण करनेवाले व्यक्तियों को वंशसहित विध्वंस का शाप भी लेखक ने दिया है।[2]

रसेन्द्रचिन्तामणि ग्रन्थ में छोटे-छोटे आठ अध्याय और अन्त में एक बड़ा नवम अध्याय है। पहले अध्याय में पारद की प्रशंसा और पारद के साथ-साथ अन्य धातुओं की भस्मों के सेवन की प्रशंसा दी है। सोने की भस्म सेवन करनेवाले को रुद्रत्व, चाँदी की भस्म विष्णुत्व, भास्करलोह की भस्म ब्रह्मत्व, तीक्ष्ण लोह की भस्म कुबेरत्व, तालक की भस्म सूर्यत्व, राजर लोह की भस्म चंद्रत्व, रोहिणलोह की भस्म अजरत्व और साधारण लोह की भस्म शत्रुत्व (या शक्रत्व ?) देती है।[3]

रसेन्द्रचिन्तामणि ग्रन्थ में पूर्व के जिन आचार्यों का किसी भी प्रसंग में उल्लेख आता है, उनकी सूची नीचे दी जाती है। मेसी ही एक सूची **रसेन्द्रसारसंग्रह** से अगेल अध्याय में दी जायगी। सूची में सम्मिलित कुछ नाम काल्पनिक हो सकते हैं, और कुछ नाम एक ही व्यक्ति के पर्यायवाची हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

अश्विनौ—"अश्विभ्यां निर्मिता ह्येषा सुबृहद्गुडपिप्पली।" (९।३०९) (गुड-पिप्पली का यह प्रकरण तद्रूप **रसेन्द्रसारसंग्रह**, प्लीहा० २।४०।६४-६९ में मिलता है।)

आनन्द—यह कोई शिव का शिष्य है—"प्रणम्य शंकरं रुद्रं दण्डपाणिं महेश्वरम्। जीवितारोग्यमन्विच्छन्नानन्दः पृच्छते गुरुम्" (८।२)। आनन्द पूछता है कि क्या

१. अध्यापयन्ति यदि दर्शयतुं क्षमन्ते सूतेन्द्रकर्म गुरवो गुरवस्त एव।
शिष्यास्त एव रचयन्ति गुरोः पुरो ये शेषाः पुनस्तदुभयाभिनयं भजन्ते॥ (१।५)

२. ग्रन्थादस्मादाहरन्ति प्रयोगान् स्वीयं वास्मिन् नाम ये निःक्षिपन्ति।
गोत्राण्येषामस्मदीयः श्रमोष्मा भस्मीकुर्वन्नायुगं बोभवीतु॥ (१।७)

३. हेमजीर्णो भस्मसूतो रुद्रत्वं भक्षितो ददेत्।
विष्णुत्वं तारजीर्णस्तु ब्रह्मत्वं भास्करेण तु॥
तीक्ष्णजीर्णो धनाध्यक्षं सूर्यत्वं चापि तालके।
राजरे तु शशाङ्कत्वमजरत्वं च रोहणे।
सामान्येन तु तीक्ष्णेन शत्रुत्वमाप्नुयान्नरः॥ (१।१५)

कोई ऐसी चिकित्सा भी है, जिसमें शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म न करने पड़ें।

कांकायन—"एषा कांकायनेनोक्ता गुटिका गुल्मनाशिनी।" (९।३२५)।

गहनानन्दनाथ (गहननाथ)—"तारकेश्वरनामायं गहनानन्दभाषितः।" (९।१८३) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** मूत्राघात० २।३४।१); "श्रीमद्गहननाथेन लोकनिस्तारकारिणा।" (मेहमुद्गर रस) (९।१९४) (देखो, **रन्सेद्रसारसंग्रह,** प्रमेह० २।३६।१७;) "श्रीमद्गहननाथेन निर्मितो बहुयत्नतः।" (माणिक्यरस) (९।२७५) (देखो **रसेन्द्रसारसंग्रह,** कुष्ठ० २।४६।४६); "प्राणवल्लभनामायं गहनानन्दभाषितः।" (९।३१०); "श्रीमद्गहननाथेन निर्मितं विश्वसंपदे।" (अग्निकुमार लोह) (९।३१३) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्लीहा० २।४०।२१); "प्लीहार्णव इति ख्यातो गहनानन्दभाषितः।" (९।३१८) (देखो, **रसेन्द्रसार संग्रह,** प्लीहा०। २।४०।४१); "श्रीमद्गहननाथेन भाषितः प्लीहशार्दुलः।" (९।३१९) देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्लीहा० २।४०।४७)

गोविन्दपाद—"भगवद्गोविन्दपादास्तु कलांशमेव ग्रासं लिखन्ति।" (३।३८)

चन्द्रमा—"शम्भुं समभ्यर्च्य कृतप्रसादेनाप्ता गुटी चद्रमसा प्रसादात्।" (९।६९) (संभव है कि चन्द्रप्रभा गुटिका का नाम सार्थक करने के लिए ऐसा कहा गया हो कि शिवजी से चन्द्रमा को यह गुटिका मिली)।

चरक—"वरुणाद्यमिदं लौहं चरकेण विनिर्मितम्।" (९।१८१) (तद्रूप उल्लेख **रसेन्द्रसारसंग्रह,** मूत्रकृच्छ०।६, में भी है।); "कस्तूरीमोदकश्चायं चरकेण च भाषितः।" (९।२००) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्रमेह० २।३६।४५)

धन्वन्तरि—"धन्वन्तरिकृतः सद्योरसः परमदुर्लभः।" (९।३०८) (वारिशोषण रस) (देखो **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्लीहा० २।४०।१०४); "रोगानीकविनाशाय धन्वन्तरिकृतं पुरा। मृत्युञ्जयमिदं लौहम्।" (९।३१७) (देखो, रसेन्द्रसारसंग्रह, प्लीहा० २।४०।३७)

नागार्जुन—"लौहस्य पाकमधुना नागार्जुनशिष्टमभिदघ्मः" (८।३६); "नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम्।" (८।३०)

नारद—"प्रोक्तः प्रयोगराजोऽयं नारदेन महात्मना। रसो लक्ष्मीविलासस्तु।" (८।४५) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** पित्त० २।२५।२८–२९); इसी प्रकार (९।१६७) (**रसेन्द्रसारसंग्रह,** ५।३४)।

नित्यनाथ—"निर्मितो नित्यनाथेन सोमनाथरसोऽप्ययम्।" (९।२०८) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** सोम,० २।३७।८)

पिनाकी—"वज्रक्षारमिदं सिद्धं स्वयं प्रोक्तं पिनाकिना।" (९।३१४) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्लीहा० २।४०।८३)

ब्रह्मा—"सूतिकाघ्नो रसो नाम ब्रह्मणा परिकीर्त्तितः।" (९।३५५) (**रसेन्द्रसार-संग्रह,** सूतिका० ३।३।१३)

मन्थानभैरव—"रसः क्रव्यादनामायं प्रोक्तो मन्थानभैरवैः। सिंहलक्षोणिपालस्य बहुमांसप्रियस्य च।" (९।७१) (सिंहल द्वीप के राजा के प्रति, जिसे मांस सेवन अति प्रिय था, क्रव्यादरस का निर्देश मन्थानभैरव ने किया); "क्रव्यादनामा भवति प्रसिद्धो रसस्तु मन्थानकभैरवोक्तः।" (९।७२)।

महादेव—"योगेश्वरो रसो नाम महादेवेन भाषितः।" (९।२०३) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्रमेह० २।३६।५७)

महेश—"महामृत्युञ्जयो नाम महेशेन प्रकाशितः।" (९।३०७) (देखो, **रसेन्द्रसारसंग्रह,** प्लीहा० २।४०।६३)

योगिनी—"प्रसिद्धयोगिनीनारीप्रोक्तं चूर्णरसायनम्।" (९।५०) (स्वल्प-नायिकाचूर्ण)

लोकनाथ—"इयं श्रीलोकनाथेन सन्निपात-निवृत्तये।" (९।१८) (लोक-नाथरस)

वैद्यनाथ—"अभ्यासेन निहन्ति मृत्युपलितं कामेश्वरो वत्सरात्, सर्वेषां हित-कारिणा निगदितः श्रीवैद्यनाथेन सः।" (८।४७) (कामेश्वरमोदक); "गुटी सिद्धि-फला चेयं वैद्यनाथेन भाषिता।" (९।३३७) (वैद्यनाथ वटी)

शंकर—"असाध्यस्यापि कर्त्तव्या चिकित्सा शंकरोदिता।" (९।६७)

शिव—"कफजं पंक्तिशूलं च हन्यात् श्रीशिवशासनात्।" (९।१४२) (शिव-सुन्दर रस)

सिद्धलक्ष्मीश्वर—"सिद्धलक्ष्मीश्वरप्रोक्तप्रक्रियाकुशलो भिषक्।" (६।४)

लोकनाथ रस और वैद्यनाथ वटी ये दो अपने आविष्कारकों के नाम पर प्रसिद्ध हैं। यह कहना कठिन है कि शिवसुन्दर रस का प्रचारक शिव काल्पनिक व्यक्ति है, अथवा इसी नाम का कोई रसाचार्य। ऊपर दी हुई सूची से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि **रसेन्द्रसारसंग्रह,** और **रसेन्द्रचिन्तामणि** ग्रन्थों के अनेक अवतरणों में कितना साम्य है। **रसेन्द्रचिन्तामणि** गद्यपद्य मिश्रित ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ चौदहवीं शती के लगभग की रचना है।

यंत्र-विवरण

इस ग्रन्थ में यंत्रों का जो विवरण है, वह **रसार्णव** की परम्परा का है। अनेक स्थलों पर ग्रन्थकार ने **रसार्णव** ग्रन्थ का नाम भी लिया है।[1]

बालुकायंत्र—पारे के जारण के लिए छः गुना गंधक लेना आवश्यक है। इस प्रकार के जारण को बलिजारण या षड्गुण बलिजारण कहते हैं। इस प्रकार के बलि-जारण के लिए दो प्रकार के बालुकायंत्रों का प्रयोग उपयोगी माना गया है।

(क) कीचड़ से लिप्त कपड़े के टुकड़े (मृदम्बर) से काँच की एक कुप्पी पर सात परत लगाये। जब वह कुप्पी (काच-घटी) सूख जाय तो उसमें पारे और गन्धक की निर्दिष्ट मात्रा खरल में मर्दन करके भरे। फिर काच-कूपी के आकार के अनुकूल ही एक हाँडी लेकर उसकी तली के ठीक बीच में एक छेद करे, यह छेद तर्जनी अंगुली के बराबर गोल हो। फिर हाँडी के भीतर काच-कूपी रखकर दो अंगुल या तीन अंगुल नमक से निरंतराल करे (बीच के खाली स्थान को भर दे)। फिर पूरी हाँडी में बालू भरकर उसके मुख पर एक सकोरा (शराव) ढक दे। इस हाँडी को चूल्हे पर चढ़ाकर ३–४ या ५ दिन तक क्रम से आँच दे (मृदु, मध्यम और अन्त में तीक्ष्ण आँच)। यह पाचन कर्म करने का पहली तरह का बालुकायंत्र है।[2]

(ख) **भूधरयंत्र**—दूसरे बालुकायंत्र का नाम भूधरयंत्र है। पहले बालुका-यंत्र के समान ही कपड़मिट्टी से काँच की कूपी (काच-घटी) पर सात परत करे, और

१. **रसार्णववचनाद् व्यावहारिकतोलकचतुष्टयपरिमाणेनापि परिशुद्धो रसो मूर्च्छयितव्यः। (२।२) (अर्थात् रसार्णव ग्रन्थ के मतानुसार चार तोले पारा लेकर मूर्च्छित करना चाहिए।)**

२. **मूर्च्छनाप्रकारस्तु बहुविधः। तत्र षड्गुणगन्धकजारणप्रक्रिया साधीयसीति निगद्यते। रसगुणबलिजारणं विनायं न खलु रुजाहरणक्षमो रसेन्द्रः॥ (२।३–४) तन्निमित्तकं सिकतायन्त्रद्वयं कथ्यते। निरवधि निपीडितमृदम्बरादिपरिलिप्तामतिकठिनकाचघटीमग्रे वक्ष्यमाणप्रकारां रसगर्भिणीमधस्तर्ज्जन्यंगुलप्रमाणितच्छिद्रायामनुरूपस्थालिकायामारोप्य परितस्तां द्वित्र्यंगुलमितेन लवणेन निरंतरालीकरणपुरःसरं सिकताभिरापूर्य्य वर्द्धमानकमापूरणीयम्। क्रमतश्च त्रिचतुराणि पंचकानि वा वासराणि ज्वालनज्वालया पाचनीयमित्येकं यंत्रम्॥ (२।५)**

पहले के अनुसार ही पारा और गन्धक उस काचघटी में भरकर उसका मुख खपड़े की चकती (खर्परचक्रिका) से या काच की डाट से बन्द करे। काचघटी न अति चिपटे मुख की हो, न ऊँचे मुख की, यह दवात (मसीपात्र) के मुँह के समान हो। फिर हाथ भर का एक गड्ढा खोदकर उसमें काचकूपी को रख दे। उसके ऊपर करीष (जंगली कंडा आदि) डालकर पुट दे।[1]

सहस्रवेधी पारा तैयार करने के लिए काचकपी, मिट्टी की कूपी, सोने की कूपी अथवा लोह सार की कूपी का प्रयोग बताया गया है। इस कूपी पर बहुत-सी खड़िया, लवण और लोहचूर्ण मिले गारे (कीचड़) से लेप करना चाहिए। इस प्रकार की कूपी का प्रयोग यदि भूधरयंत्र में किया जाय तो सोने का भी जारण हो जाता है। पाचन की यह 'अन्तर्धूम विधि' कही जाती है। पारे की मात्रा का सौ गुना गन्धक इस विधि से पाचित करा दिया जाय, तो ऐसा पारा चाँदी, ताँबा, राँगा, सीसा आदि के प्रति सहस्र-वेधी हो जाता है।[2]

पारद और गन्धक के बन्धन की एक बहिर्धूम विधि भी है। इस विधि में तेल-भरे पात्र को बालुकायंत्र में रखते हैं। जितना पारा हो उसकी सम मात्रा गन्धक लेकर उसे तेल में डालते है और गरम करते हैं। गन्धक जब जल जाय और तेल ही बचा रहे, तब उसमें पारा डालते हैं। पारे में जब आधी ही छाया दिखाई पड़े, तो उसमें और पारा छोड़ते हैं, इस प्रकार पारे का छः गुना गन्धक जब क्षय हो जाय, तो यह अत्यन्त उपयोगी मूर्च्छित पारा तैयार हो जायगा।[3]

१. हस्तैकमात्रप्रमाणभूधरान्तर्निखातां प्राग्वत् काचघटीं नातिचिपिटमुखीं नात्युच्च-मुखीं मसीभाजनप्रायां खर्परचक्रिकया वा निरुद्धवदनविवरां मृन्मयीं वा विधाय करीषैरुपरि पुटो देयः। इत्यन्ययन्त्रम् ॥ (२।६)

२. काचमृत्तिकयोः कूपी हेमायःसारयोः क्वचित् । कीलालायः कृतोलेपः खटिका-लवणाधिकः। अनेन यन्त्रद्वितयेन भूरिहेमाभ्रसत्त्वाद्यदि जारयन्ति।....
अन्तर्धूमविपाचितशतगुणगन्धेन बन्धितः सूतः।
स भवेत् सहस्रवेधी तारे ताम्रे सुवर्णे भुजगे च ॥ (२।१२)

३. सूतप्रमाणं सिकताख्ययंत्रे दत्त्वा बलिं मृद्घटितैलभाण्डे ।
तैलावशेषेऽत्र रसं निदध्यान्मग्नार्द्धकायं प्रविलोक्य भूयः ॥
आषड्गुणं गन्धकमल्पमल्पं क्षिपेदसौ जीर्णबलिर्बली स्यात् । (२।१३)

दोलायंत्र और ऊर्ध्वपातन यंत्र—**रसेन्द्रचिन्तामणि** में पारे की साधनक्रियाएँ १९ बतायी गयी हैं (३।२)—

स्वेदन	बोधन	चारण	सारण
मर्दन	नियमन	गर्भद्रुति	क्रामण
मूर्च्छन	दीपन	बाह्यद्रुति	वेधन
उत्थापन	अनुवासन	योगजारण	भक्षण
पातन	अभ्रादि-ग्रासप्रमाण	रंजन	

इनमें से स्वेदन का कार्य दोलायंत्र में किया जाता है।[1] पारे को चार परतवाले कपड़े में बाँधकर एक दिन त्रिकटु के कल्क के साथ, एक दिन त्रिफलाकल्क के साथ, एक दिन हरिद्राकल्क के साथ, इसी प्रकार क्रम से एक-एक दिन चित्रक और घीगुवार के कल्क के साथ उसका दोलायंत्र में पाक करना स्वेदन कहलाता है।

मर्दन का कार्य पत्थर या लोहे के खरल में होता है, पारे को ईंट के चूर्ण, मेषलोम-भस्म, हल्दी और जम्बीरी रस के साथ तीन दिन तक मर्दन करते हैं।[2]

पारे के सम्बन्ध में ऊर्ध्वपातन क्रिया इस प्रकार होती है—तीन भाग पारा और एक भाग ताम्रचूर्ण इकट्ठा करके बिजौरा नीबू के रस में तब तक मर्दन करे जब तक कि पिण्डी न बन जाय, इस पिंड किये हुए द्रव्य को एक हाँडी में रखे, और फिर वैसी ही एक हाँडी उलटी करके उसके ऊपर रखे। दोनों हाँडियों के सन्धि-स्थानों पर भली भाँति लेप कर आग पर चढ़ाये। ऊपरवाली हाँडी के ऊपरवाले भाग पर आलवाल (थाँवला) बनाकर उसमें पानी भर दे। पारा नीचे की हाँडी से उड़कर ऊपरवाली हाँडी में लग जायगा। यंत्र कितना बड़ा हो यह गुरु से सीखे, अर्थात् पारे के परिमाण के अनुकूल ही यंत्र का परिमाण होना चाहिए।[3]

१. **रसं चतुर्गुणं वस्त्रे बद्ध्वा दोलाकृतं पचेत्। दिनं व्योषवरावह्निकन्याकल्केषु कांजिके। दोषशेषापनुत्त्यर्थमिदं स्वेदनमुच्यते॥** (३–४)

२. **खल्वे पाषाणजे लोहे सुदृढे सारसम्भवे।**
तादृशस्वच्छमसृणचतुरंगुलमर्द्दके।....
मर्द्दयेन्मूर्च्छयेत् सूतं पुनरुत्थाप्य सप्तशः।
रक्तेष्टकानिशाधूमसारोर्णाभस्मतुम्बिकैः॥ (३।३)

३. **भागास्त्रयो रसस्यार्कचूर्णमंशं सनिम्बुजम्।**
मर्द्दयेद् द्रवयोगेन यावदायाति पिण्डताम्॥
तं पिण्डं तलभाण्डस्थमूर्द्ध्वभाण्डे जलं क्षिपन्।

अधःपातन यंत्र—अधःपातन की विधि और उसके यन्त्र का विवरण इस प्रकार है—मक्खन, अदरख और पारा तीनों को जम्बीरी के रस में एक साथ दिन भर घोटे, फिर वानरी (कौंच की डाढ़ी), सहजन की जड़, चीता की जड़, सैंधा नमक, राई और सरसों इन सबको बराबर बराबर लेकर मर्दन करे। ये दोनों घोटे और मर्दन किये हुए द्रव्य ऊपर की हाँडी की भीतरी तली में लगा दे। नीचे की हाँडी में पानी भरे और ऊपर की हाँडी को इस पर उलटकर रख दे। सन्धियों पर भली भाँति लेप कर दे। जलपूर्ण हाँडी ज़मीन पर रखे और ऊपर की हाँडी पर आरने उपले रखकर आग से पुट दे। ऐसा करने पर ऊपर के पात्र से पारा नीचे की हाँडी के जल में गिर जायगा।[1]

तिर्यक्पातन यंत्र—एक घट में पारा और दूसरे घट में पानी भरकर दोनों को तिरछे भाव से स्थापित करे। दोनों के सन्धिस्थान को अच्छी तरह बाँध या जोड़ दे। पारेवाले घट के नीचे आग जलाये। फिर जब तक सब पारा उड़कर पानीवाले घड़े में न आ जाय, तब तक गरम करे। अब पानी के भीतर से पारा निकाल ले। यह नागार्जुन का बताया हुआ तिर्यक्पातन यंत्र है।[2]

कृत्वालवालं केनापि ततः सूतं समुद्धरेत् ॥
ऊर्ध्वपातनमित्युक्तं भिषग्भिः सूतशोधने।
ससूतभाण्डवदनमन्यद् गिलति भाण्डकम् ॥
तथा सन्धिर्द्वयोः कार्यः पातनत्रययन्त्रके।
यन्त्रप्रमाणं वदनाद् गुरोर्ज्ञेयं विचक्षणैः॥
रसस्य मानं नियमात् कथितुं नैव शक्यते ॥ (३।५)
(देखो, रसेन्द्रसारसंग्रह १।३८–३९)

१. नवनीतार्द्रके सूतं घृष्ट्वा जम्भाम्भसा दिनम् ।
वानरीशिग्रुशिखिभिर्लवणासुरसंयुतैः ॥
नष्टपिष्टं रसं ज्ञात्वा लेपयेदूर्ध्वभाण्डके ।
ऊर्ध्वभाण्डोदरं लिप्त्वा त्वधोगं जलसम्भृतम् ॥
सन्धिलेपं द्वयोः कृत्वा तं यंत्रं भुवि पूरयेत् ।
उपरिष्टात् पुटे दत्ते जले पतति पारदः ।
अधःपातनमित्युक्तं सिद्धाद्यैः सूतकर्मणि ॥ (३।६)
(देखो, रसेन्द्रसारसंग्रह भी ११।४०–४२)

२. घटे रसं विनिक्षिप्य सजलं घटमन्यकम् ।
तिर्यङ्मुखं द्वयोः कृत्वा तन्मुखं रोधयेत् सुधीः ॥

पारे का षण्ढ दोष और बोधन—व्यापारी लोग पारे में बेईमानी से लाभ उठाने के लिए राँगा और सीसा मिला देते हैं। पारे के इस दोष का नाम षण्ढ दोष है। यह षण्ढ दोष पीछे बताये तीनों पातनों द्वारा दूर किया जा सकता है। इस दोष को दूर करने का नाम ही बोधन है। नारियल की खोपड़ी अथवा काँच की कूपी में षण्ढ-दोपवाला पारा पातन विधियों से शोधने के बाद डाल दे और उसमें केवल उतना पानी डाले जितने में पारा डूब भर जाय। अब कूपी या खोपड़ी को एक हाथ (३० अंगुल) गहरे गड्ढे में गाड़कर तीन दिन तक पड़ा रहने दे। ऐसा करने से पारे का षण्ढभाव नष्ट हो जाता है।[१]

तप्तखल्व—भेड़ की मींगनी और तुष को जमीन में गड्ढा खोदकर रख कर जलाये और उस पर खरल रखे, इसी को तप्त खरल कहते हैं।[२]

हंसपाक यन्त्र—खपरे को रेत से भरकर उसके बराबर ऊपर एक खपरा रख दे और धीरे-धीरे मन्दी आँच पर पकाये। इसे हंसपाक यंत्र कहते हैं।[३]

रसाधो ज्वालयेदग्नि यावत् सूतो जलं विशेत्।
तिर्यक्पातनमित्युक्तं सिद्धैर्नागार्जुनादिभिः ॥ (३।७)
(देखो, रसेन्द्रसारसंग्रह, १।४३–४५)

१. मिश्रितौ चेद्रसे नागवंगौ विक्रयहेतुना।
ताभ्यां स्यात् कृत्रिमो दोषस्तन्मुक्तिः पातनत्रयात् ॥
एवं कदर्थितः सूतः षण्ढत्वमधिगच्छति।
तन्मुक्तयेऽस्य क्रियते बोधनं कथ्यते हि तत् ॥
विश्वामित्रकपाले वा काचकूप्यामथापि वा।
सृष्टाम्बुजं विनिःक्षिप्य तत्र तन्मज्जनावधि ॥
पूरयेत् त्रिदिनं भूम्यां राजहस्तप्रमाणतः।
अनेन सूतराजोऽयं षण्ढभावं विमुञ्चति ॥ (३।८)
(देखो, रसेन्द्रसारसंग्रह, १।४५–४७)

२. अजाशकृत्तुषाग्नि च खनयित्वा भुवि क्षिपेत्।
तस्योपरि स्थितं खल्वं तप्तखल्वमिति स्मृतम् ॥ (३।२०)

३. खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरि क्षिपेत्।
तुल्यं च खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥
हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्वार्त्तिकोत्तमैः ॥ (३।४१)

शाम्भवी मुद्रा—पारा मारने के लिए इसका उल्लेख हुआ है। निचले भाग में ताप, ऊपर के भाग में पानी और बीच के भाग में पारा तथा गन्धक रखे। यह मुद्रा दृढ़ होनी चाहिए। यदि यंत्र लोहे का बना हो तो और भी अच्छा है।[1]

रसकर्पूर

रसेन्द्रचिन्तामणि में रसकर्पूर (Clomel) बनाने के संबंध में कई स्थलों पर संकेत है। एक दृढ़ हाँडी ले और उसे एक चौथाई नमक से भरे। फिर उसके ऊपर ईंट का चूरा, उस पर पारे से चौथाई सेंधा नमक और उसके ऊपर उतनी ही फिटकरी डाले। इसके बाद फिटकरी, कपूर, सेंधा और शुद्ध पारा बराबर लेकर घी-गुवार के रस में पीसकर पर्पटी करे। उस पर्पटी को भाण्ड में स्थित फिटकरी के ऊपर रखकर उसके ऊपर फिटकरी और पिसा हुआ सेंधा डालकर उसके ऊपर कई एक खपरे लगाये। उसके ऊपर पहले के ही समान एक दृढ़ हाँडी ढँककर रोध कर दे और तीन दिन तक आग में पकायें। (कुछ लोग भिलावाँ डालना भी बताते हैं।)[2]

अध्याय ९ में एक स्थल पर **वाडवरस** का विवरण है। वाडवरस में यदि विष न मिलाया जाय, तो यही रसकर्पूर है। वाडवरस का उल्लेख इस प्रकार है—एक हाँडी में नमक भरे। उसके भीतर नमक की घरिया रखे। नमक की घरिया में हींग की दृढ़ घरिया रखकर उसमें पारा रखे। फिर पारे से चौथाई विष घिसकर

१. सर्वप्रयोगयोग्यतया रसेन्द्रमारणाय शाम्भवीं मुद्रामभिदध्मः ।
अधस्ताप उपर्यापो मध्ये पारदगन्धकौ ॥
यदि स्यात् सुदृढा मुद्रा मंदभाग्योऽपि सिध्यति ।
यदि कार्यमयोयन्त्रं तदा तत्सार इष्यते ॥ (८।३)

२. स्थाल्यां दृढघटितायामर्धं परिपूर्य तुर्यलवणांशैः ॥
रक्तेष्टकारजोभिस्तदुपरि सूतस्य तुर्यांशम् ।
सितसैन्धवं निधाय स्फटिकारीं तत्समं च तस्योर्ध्वे ।
स्फटिकारिधवलसैंधवशुद्धरसैः कन्यकाम्बुपरिघृष्टैः ॥
कृत्वा पर्पटमुचितं तदुपर्याधाय तद्वदेव पुनः ।
स्फटिकारिसैन्धवरसो दद्यादितः स्खलतो रसस्य ॥
लाभाय तदुपरि खर्परखण्डकान् कृत्वा परया ।
दृढस्थाल्याच्छाद्य मुद्रयित्वा दिवसत्रितयं विपचेद्विधिना ।
अत्रानुक्तमपि भल्लातकं ददति वृद्धाः पारदतुल्यम् ॥ (२।१५)

इक्कीस गुने पानी में सानकर पारे के साथ मिलाये और चार प्रहर तक तेज़ आँच (हठाग्नि) दे। बस, वाडवरस बन जायगा।[१]

लौह भस्म और लौह रस

विभिन्न लोह—रसशास्त्र में पारदरसायन के बाद लोहरसायन का सबसे अधिक महत्त्व है। मनुष्यों के लिए इसके बराबर हित करनेवाली और कोई रसायन नहीं है।[२] साधारण लोहे से क्रौञ्चलोह दुगुना हितकर है और कालिंग लोह आठ गुना हितकारी है। कालिंग लोह से भद्र लोह दस गुना, भद्र लोह से वज्रलोह हजार गुना, वज्रलोह से पंडिलोह सात गुना, पण्डि से निरवि लोह दस गुना और इससे कान्तलोह हजार गुना हितकारी है। जिस लोहे में जितना-जितना गुण है, उस लोहे के किट्ट में भी उतना ही उतना गुण है।[३] सौ वर्ष रखा हुआ किट्ट (मण्डूर) सर्वश्रेष्ठ है, अस्सी वर्षवाला मध्यम और साठ वर्ष का अधम है। इससे कम वर्ष का किट्ट (iron rust) विष के समान है।[४]

लोहे का गिरिज दोष निवारण—१२८ पल जल में १६ पल त्रिफला डालकर अग्नि पर चढ़ाये। जब ३२ पल शेष रहे तो उस क्वाथ को उतारकर उसमें पाँच

१. पटुना पूरयेत्स्थालीं तन्मध्ये पटुमूषिकाम्।
तन्मध्ये रामठीमूषां तन्मध्ये सूतकं क्षिपेत्॥
विषं निघृष्य सूतांशं वारिणालोड्य सप्तभिः।
कृते त्रिभिः संगुणिते तेन चैवं ददेच्छनैः॥
वह्निं प्रज्वालयेच्चोग्रं हठं यामचतुष्टयम्।
तद्भस्म तिलमात्रं तु दद्यात्सर्वेषु पाप्मसु॥ (९।३८)
विषं विनायं रसकर्पूरो नाम सर्वरोगोपकारकः। (९।३९)

२. अयःसमानं नहि किञ्चिदस्ति रसायनं श्रेष्ठतमं नराणाम्। (६।११)

३. सामान्याद् द्विगुणं क्रौञ्चं कालिंगोऽष्टगुणः स्मृतः।
कलेर्दशगुणं भद्रं भद्राद् वज्रं सहस्रधा॥
वज्रात् सप्तगुणः पंडिर्निरविर्दशभिर्गुणैः।
तस्मात् सहस्रगुणितमिदं कान्तं महागुणम्॥
यल्लोहे यद्गुणं प्रोक्तं तत्किट्टे चापि तद्गुणम्॥ (६।१२)

४. शतोर्ध्वमुत्तमं किट्टं मध्यं चाशीतिवार्षिकम्।
अधमं षष्टिवर्षीयं ततो हीनं विषोपमम्॥ (६।१३)

पल लोहे के भस्म हुए पत्र सात बार डुबाये। ऐसा करने से लोहे का गिरिज दोष दूर हो जाता है।[1]

लोहमारण—लोहे के पत्र को लाल तपाकर बार-बार त्रिफला के क्वाथ में डुबाये, फिर उसको पीसकर त्रिफला के क्वाथ में, गोमूत्र में या मत्स्याक्षी के रस में घोटने और फिर पुट देने पर लोहे का मारण हो जाता है।

लोहमारण की अन्य एक विधि इस प्रकार है—छोटी कटोरी में अनार के पत्तों का रस रखकर उसमें लोहचूर्ण डाले। तदनन्तर उस चूर्ण को कपड़े से ढँककर धूप में सुखाये। इसके बाद त्रिफला आदि के साथ पीसकर पुट दे। ऐसा करने से लोहा मर जाता है।[2]

मंडूरशोधन—मंडूर या किट्ट (iron rust) के शोधन की विधि इस प्रकार है—बहेड़े की लकड़ी लेकर उसमें पुराना किट्ट खूब तपाये, जब तक कि लाल न पड़ जाय। फिर इसे गोमूत्र में बुझाये। ऐसा सात बार कर इसका चूर्ण करके दूना त्रिफला का काढ़ा एक हाँडी में भरे, उसमें पीसा हुआ किट्ट डालकर उसका मुँह अच्छी तरह बन्द कर दे और कपरौटी कर आरने उपले के गजपुट में फूंके। फिर जब अपने आप ठंडा हो जाय तो हाँडी से निकाल ले। यह शुद्ध मण्डूर है।[3]

१. त्रिफलाष्टगुणे तोये त्रिफलाषोडशं पलम् ।
तत्क्वाथे पादशेषे तु लोहस्य पलपंचकम् ॥
कृत्वा पत्राणि तप्तानि सप्तवारान्निषेचयेत् ।
एवं प्रलीयते दोषो गिरिजो लोहसंभवः ॥ (६।२१)

२. (क) लोहे पत्रमतीव तप्तमसकृत् क्वाथे क्षिपेत् त्रैफले,
चूर्णीभूतमतो भवेत् त्रिफलजे क्वाथेऽथवा गोजले ।
मत्स्याक्षीत्रिफलारसेन पुटयेद् यावन्निरुत्थं भवेत्,
पश्चाद् भावितमद्भुतं सुपुटितं सिद्धं भवेदायसम् ॥ (६।३४)

(ख) परिप्लुतं दाडिमपत्रवारा लौहं रजः स्वल्पकटोरिकायाम् ।
त्रिरात्रं वस्त्रावृतमर्कभासा योज्यं पुटे सत्रिफलादिकानाम् ॥ (६।३५)

३. अक्षांगारैर्धमेत् किट्टं लोहजं तद्गवां जलैः ।
सेचयेत् तप्ततप्तं च सप्तवारं पुनः पुनः ॥
चूर्णयित्वा ततः क्वाथैर्द्विगुणैस्त्रिफलोद्भवैः ।
आलोडच भर्जयेद् वह्नौ मंडूरं जायते वरम् ॥ (७।७१)

शंकरमत लोह--पाण्डि और वज्रादि लोहों में से किसी एक प्रकार का लोहा लेकर इसे मनःशिला और स्वर्णमाक्षिक (दोनों चतुर्थांश) से साफ करे। फिर शालिच शाक मूल के कल्क से और उसके रस से उस लोहे पर लेप करे। फिर शाल के कोयलों में जलाये, और जब वे भली भाँति गल जायँ तो त्रिफला के रस में बुझाये। अन्यथा फिर यही विधि दोहराये। इस प्रकार जब लोहा शुद्ध हो जाय तो लोहे के बर्तन में रखकर पीसे। फिर पत्थर के पात्र में रखकर लोहे की मूसली से महीन-महीन चूर्ण कर ले। इसके बाद लोहे की कड़ाही या चिपटे छिद्रवाले मिट्टी के पात्र में रखकर त्रिफला, अदरख, भाँगरा, केशराज, कन्द, मानकन्द, भिलावा, चीता, जमीकन्द, हस्तिकर्ण पलाश और कुलिश इन सबके रस के साथ गाढ़ा-गाढ़ा घोटकर गोबर के उपलों की आग में त्रिफलादि द्रव्य से अलग-अलग पुट दे। फिर ६४ पल जल में १७ पल त्रिफला डाले और गरम करे। जब आठ भाग शेष रह जाय तो उतारकर उस जल में ऊपर बताया हुआ १६ पल लोहा डालकर लोहे की कड़ाही में पाक करे। पाक के समय उसमें ८ पल घी डालकर लोहे के करछुल से विधिपूर्वक चलाये। जब घी स्वच्छ होकर ऊपर आ जाय तो पाक को उतार ले।[1]

१. **पांडिवज्रादिलोहानामादायान्यतमं शुभम् ।**
पत्तूरमूलकल्केन स्वरसेन दहेत्ततः ॥
वह्नौ निक्षिप्य विधिवत् शालांगारेण निर्धमेत् ।
ज्वाला च तस्य योक्तव्या त्रिफलाया रसेन च ।
ततो विज्ञाय गलितं शंकुनोर्ध्वं समुत्क्षिपेत् ।
त्रिफलाया रसे पूते तदाकृष्य तु निर्वपेत् ।
न सम्यग्गलितं यत्तु तेनैव विधिना पुनः ॥
ध्मातं निर्वापयेत्तस्मिन् लोहं तत् त्रिफलारसे ।
ततः संशोध्य विधिवत् चूर्णयेल्लोहभाजने ॥
लोहेन च तथा पिष्याद् दृषदि श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
कृत्वा लोहमये पात्रे मार्दे वा लिप्तरन्ध्रके ।
रसैः पंकसमं कृत्वा पचेत्तद्गोमयाग्निना ॥
पुटानि क्रमशो दद्यात् पृथगेषां विधानतः ।
त्रिफलार्द्रकभृंगानां केशराजस्य बुद्धिमान् ॥
कन्दमाणकभल्लातवह्नीनां शूरणस्य च ।

लोहजारण की नागार्जुनविधि—नागार्जुन ने अपने ग्रन्थों में लोह जारण की जो विधि लिखी वह सम्भवतः क्लिष्ट और अस्पष्ट थी। उस विधि का संशोधित रूप **रसेन्द्रचिन्तामणि** में दिया गया है। नागार्जुन के मतानुसार ५ से १३ पल तक लोहा जारण करने की व्यवस्था है। वह कहते हैं कि जितना लोहा हो, त्रिफला उससे तिगुना और ६ पल अधिक ले। मारण, पुटन और स्थालीपाक में लोहे का सोलहवाँ भाग त्रिफला ग्रहण करे। लोह पाक के लिए दो भाग त्रिफला ले। सब जगह लोह पुट में त्रिफला एक भाग और क्वाथ के लिए जल ३ सकोरे (३ शराव) ले। ७ पल से १५ पल तक लोहे में प्रत्येक पल के पीछे ३ सकोरे से ११ सकोरे तक पानी ले। इसे इस प्रकार सावधानी से गरम करे कि पानी अष्टमांश रह जाय। ऐसा करने से लोहे का मारण, पुटन और स्थालीपाक हो जाता है।[1]

हस्तिकर्णपलाशस्य कुलिशस्य तथैव च ॥
पुटे पुटे चूर्णयित्वा लोहात् षोडशिकं पलम् ।
तन्मानं त्रिफलायाश्च पलेनाधिकमाहरेत् ॥
अष्टभागावशिष्टे तु रसे तस्याः पचेद् बुधः ।
अष्टौ पलानि दत्त्वा तु सर्पिषो लोहभाजने ॥
तावेव लोहदर्व्या तु चालयेद् विधिपूर्वकम् ॥
ततः पाकविधानज्ञः स्वच्छे चोर्ध्वे च सर्पिषि ॥
मृदुमध्यादिभेदेन गृह्णीयात् पाकमाज्यतः । (८।२३)

१. **नागार्जुनो मुनीन्द्रः शशास यल्लोहशास्त्रमतिगहनम् ।**
तस्यानुस्मृतये वयमेतद् विशदाक्षरैर्ब्रूमः ॥....
लोहात् त्रिगुणा त्रिफला ग्राह्या षड्भिः पलैरधिका ।
मारणपुटनस्थालीपाकास्त्रिफलैकभागसंपाद्याः ॥
त्रिफलाभागद्वितयं गृह्णीयं लौहपाकार्थम् ।
सर्वत्रायःपुटनात् यथैकांशे शरावसंख्यातम् ॥
प्रतिपलमेतद् द्विगुणं पाथः क्वाथार्थमादेयम् ।
सप्तपलादौ भागे पंचदशान्तेऽम्भसां शरावैः ॥
त्रयोदशान्तैरधिकं तद्वारि कर्तव्यम् ।
तत्राष्टमो विभागः शेषः क्वाथस्य यत्नतः स्थाप्यः ।
तेन हि मारणपुटनस्थालीपाका भविष्यन्ति ॥ (८।३०)

लोह पाक के लिए लोहे का दुगुना त्रिफला ले। लोहे के प्रति पल के लिए १ शराव पानी (½ प्रस्थ पानी, आधा सेर) ले। इसके साथ दो शराव पानी (१ सेर) और डालकर इतना गरम करे कि चौथाई शेष रह जाय। पाककर्म के लिए लोहे की मात्रा ५ पल से १३ पल तक जाननी चाहिए। अर्थात् ५ पल लोहा हो तो दूना अर्थात् १० पल त्रिफला ले और पानी प्रति पल में आध सेर के हिसाब से ५ सेर और अधिक एक सेर अर्थात् ६ सेर ले। गरम करते-करते शेष डेढ़ सेर अर्थात् चौथाई रखे। दूध २½ शराव अधिक ले। फिर त्रिफला, त्रिकटु, चित्रक, नागरमोथा, वायविडंग, जायफल, जावित्री, इलायची, कंकोल, लौंग, सफेद जीरा, काला जीरा, इन सबका चूर्ण मिलाकर लोहे के बराबर मिलाये। प्रकृति के अनुसार घी दुगुना, तिगुना या चौगुना ले। इन सबमें त्रिकटु, त्रिफला और विडंग तो अवश्य ले, शेष सब प्रकृति के अनुसार ले।[1]

१. पाकार्थे तु त्रिफलाभागद्वितीयशरावसंख्यातम् ।
प्रतिपलमम्बुसमं स्यादधिकं द्वाभ्यां शरावाभ्याम् ।
तत्र चतुर्थो भागः शेषो निपुणैः प्रयत्नतो ग्राह्यः ।
अयसः पाकार्थत्वात् स हि सर्वस्मात् प्रधानतमः ।।
पाकार्थमश्मसारे पंचपलादौ त्रयोदशपलान्ते ।
दुग्धशरावद्वितयं पादैरेकाधिकैरधिकम् ।।
पंचपलादिर्मात्रा तदभावे तदनुसारतो ग्राह्यम् ।
चतुरादिकमेकान्तं शक्तावधिकं त्रयोदशकात् ।।
त्रिफला-त्रिकटु-चित्रक-कान्त-क्रामक-विडंगानाम् ।
जातीफलजातीकोषैलाकक्कोललवंगानाम् ।।
सितकृष्णजीरयोरपि चूर्णान्ययसा समानानि स्युः ।
त्रिफलात्रिकटुविडंगा नियता अन्ये यथा प्रकृतिः ।।
कालायसदोषकृते जातीफलादेर्लवंगकान्तस्य ।
क्षेपः प्राप्त्यनुरूपः सर्वस्योनस्य चैकाद्यः ।।
कान्तक्रामकमेकं निःशेषं दोषमपहरत्ययसः ।
द्विगुणत्रिगुणचतुर्गुणमाज्यं ग्राह्यं यथा प्रकृतिः ।।
यदि भेषजभूयस्त्वं स्तोकत्वं वा तथापि चूर्णानाम् ।
अयसा साम्यं संख्या भूयोऽल्पत्वेन भूयोऽल्पे ।। (८।३१)

कान्तलोह का मारण—इस काम के लिए गिलोय, त्रिफला, गिरिकर्णिका, अस्थिसंहारी, हस्तिकर्ण पलाश, शतमूली, शतावरी, केशराज, शालिंच, मूली, सैमल, छत्री और भाँगरा—इन सबके कल्क का लोहे पर लेप कर अग्नि पर दग्ध करे। जब तक लोहा मर न जाय तब तक बारंबार इस प्रकार से दग्ध करके त्रिफला के क्वाथ में डाले। कान्तलोह जब अच्छी तरह मर जाय तो लोहपात्र में चूर्ण करके रख ले।

इस विवरण में कई बातें महत्त्व की कही गयी हैं। द्रव्यान्तर संयोग से ओषधियों के गुणों में अन्तर पड़ जाता है, अतः उन्हें मल-धूली से बचाना चाहिए। संदंश (सँडासी) द्वारा एक सिरे से पकड़कर पात्र को आग पर रखना चाहिए और जैसे-जैसे द्रव्य गलता जाय, वैसे-वैसे ऊपर की ओर खिसकाना चाहिए। त्रिफलाजल में सावधानी से बुझाना चाहिए। जो लोहा जारण होने से बच जाय उसे फिर से उसी प्रकार पकाना चाहिए। घन लोहपात्र में कालायस के मूसल से चूर्ण करके बहुत से पानी से धोना चाहिए। तब कोयलों को निकालकर आग पर या धूप में सुखाना चाहिए।[1]

१. कान्तादिलोहमारणविधानं सर्वस्य उच्यते तावत्।……
आदौ तदश्मसारं निर्मलमेकान्ततः कुर्यात्॥
तदनु कुठारच्छिन्नत्रिफलागिरिकर्णिकास्थिसंहारैः।
करिकर्णच्छदमूलशतावरीकेशराजरसैः॥
शालिंचमूलकाशीमूलप्रावृज्जभृंगराजैः।
लिप्त्वा दग्धव्यं तद् दृष्टित्रिफलोहकारेण॥
चिरजलभावितनिर्मलशालाङ्गारेण परित आच्छाद्य।
कुशलाध्मापित भस्त्रानवरत मुक्तेन पवनेन॥
वह्नेर्बाह्यज्वाला बोद्धव्या जातु नवकुञ्चिकया।
मृच्छबलसलिलभाजा किञ्च स्वच्छाम्बुसंप्लुतया॥
द्रव्यान्तरसंयोगात् स्वां शक्तिं भेषजानि मुंचन्ति।
मलधूलीमत्सर्वं सर्वत्र विवर्जयेत् तस्मात्॥
संदंशेन गृहीत्वान्तःप्रज्वलिताग्निमध्यमुपनीय।
गलति यथायथमग्रे तथैवमूर्ध्वं वर्द्धयेन्निपुणः॥
तलनिहितोऽर्ध्वमुखांकुशलग्नं त्रिफलाजले विनिःक्षिप्य।

नागार्जुन की पुटनविधि—एक ऐसा गड्ढा बनाये जिसका मुँह एक हाथ चौड़ा, एक हाथ लम्बा और गहराई एक हाथ हो। गड्ढा ठीक कड़ाही के समान हो। इस गड्ढे के आधे भाग को गोबर, तुष और काठ से भर दे। फिर लोहचूर्ण को त्रिफला के रस के साथ पीसकर और उस पीसे हुए द्रव्य से हाँडी को भरकर हाँडी पर भली-भाँति लेप कर दे। फिर हाँड़ी को गड्ढे के भीतर रखकर उसके ऊपर भी गोबर, तुष और काठ रखे और दिन रात आग जलाये। फिर भाँगरा, बावची, शतमूली, जमीकन्द, मानकन्द, भिलावा, हस्तिकर्ण पलाश के पत्ते और जड़, सोंठ इन सबके रस में अलग-अलग अथवा एक साथ चूर्ण को घोटकर पहले के समान गड्ढे में पुट दे। इसके बाद कपड़े से छानकर देखे कि वह चूर्ण केतकी के चूर्ण के समान हो गया है या नहीं। इस प्रक्रिया को लोहे का पुटन कहते हैं।[1] यदि सब कर्म एक दिन

निर्वापयेदशेषं शेषं त्रिफलाम्बु रक्षेच्च ॥
यल्लोहं न त्रतं तत् पुनरपि पक्तव्यमुक्तमार्गेण।
न त्रतं तथापि यत् तत् पक्तव्यमलौहमेव हि तत् ॥
तदनु घनलोहपात्रे कालायसमुद्गरेण संचूर्ण्य।
दत्त्वा बहुशः सलिलं प्रक्षाल्याङ्गारमुद्धृत्य।
तदयः केवलमग्नौ शुष्कीकृत्यातपेऽथवा पश्चात्।
लोहशिलायां पिष्यादसितेऽश्मनि वा तदप्राप्तौ ॥ (८।३२)

१. हस्तप्रमाणवदनं श्वभ्रं हस्तैकखातसममध्यम्।
कृत्वा कटाहसदृशं तत्र करीषं तुषं च काष्ठं च ॥
अन्तर्घनतरमर्द्धं शुषिरं परिपूर्य दहनमायोज्यम्।
पश्चादयसश्चूर्णं श्लक्ष्णं पंकोपमं कुर्यात् ॥
त्रिफलाम्बुभृंगकेशरशतावरीकंदमानसहजरसैः।
भल्लातककरिकर्णच्छदमूलपुनर्णवास्वरसैः ॥
क्षिप्त्वाऽथ लोहपात्रे मार्द्दे लोहमार्दपात्राभ्याम्।
तुल्याभ्यां पृष्ठेनाच्छाद्यन्ते रन्ध्रमालिप्य ॥
तत्पुटपात्रं तत्र श्वभ्रज्वलने निधाय भूयोऽपि।
काष्ठकरीषतुषैस्तत् संच्छाद्याहर्निशं दहेत् प्राज्ञः ॥
एवं नवभिरमीभिर्भेषजराजैः पचेत्तु पुटपाकम्।
प्रत्येकमेवमेभिर्मिलितैर्वा त्रिचतुरान् वारान् ॥

में समाप्त न हो, तो दूसरे दिन क्वाथ को फिर थोड़ा-सा गरम करके क्रिया आरम्भ करे। बासी हो जाने की शंका न करे। जितनी ही बार अधिक पुट दिये जायँगे, लाभ ही होगा।[1]

नागार्जुन की पाक-विधि—लोहे, आरकूट (पीतल) अथवा ताँबे के बने कड़ाह (कटाह) में लोहे के चूर्ण को डालकर काष्ठ के ईंधन की आग से धीरे-धीरे पाक करे। पाक के समय त्रिफलाक्वाथ, घी और दूध डाले। पाक करते समय लोहे की दर्वी (करछुल) से चलाता जाय। रोग की प्रकृति के अनुसार मृदु, मध्य अथवा तीव्र पाक करना चाहिए। जब देखे कि लोहे की दर्वी में औषध चिपककर सरलता से गिर जाती है, तब जाने कि मृदु पाक तैयार हो गया। जब देखे कि दर्वी से औषध अति कठिनाई से गिरती है, तो मध्य पाक हुआ और जब देखे कि दर्वी से औषध एक साथ छूट जाती है तो खरपाक या तीव्रपाक हुआ।[2] कुछ आचार्य खरपाक तब मानते

प्रतिपुटमेतत् पिष्यात् स्थालीपाकं विधाय विधिनैव ।
तादृशि दृषदि न पिष्याद् विगलद्रजसा तु युज्यते पात्रे ॥
तदयश्चूर्णं पिष्टं घृष्टं घनसूक्ष्मवाससि श्लक्ष्णम् ।
यद् रजसा सदृशं स्यात् केतक्यास्तर्हि तद् भद्रम् ॥ (८।३४)

१. सूक्ष्म कर्म यत्र यस्यैकदिवसासाध्यत्वे क्वाथस्य किंचिदुष्णीकरणान्न पर्युषितशुष्काशेषशंका च किंच पुटबाहुल्यं गुणाधिक्याय। (८।३५)

२. अभ्यस्तकर्मविधिभिर्बालकुशाग्रीयबुद्धिभिर्लक्ष्यम् ।
लौहस्य पाकमधुना नागार्जुनशिष्टमभिदध्मः ॥
लोहारकूटताम्रकटाहे दृढमृन्मये प्रणम्य शिवम् ।
तदयः पचेदचपलः काष्ठेन्धनवह्निना मृदुना ॥
निक्षिप्य त्रिफलजलमृदितं यत्तद् घृतं च दुग्धं च ।
संचाल्य लोहमय्या दर्व्या लग्नं समुत्पाट्य ॥
मृदुमध्यमखरभावैः पाकस्त्रिविधोऽत्र वक्ष्यते पुंसाम् ।
पित्तसमीरणश्लेष्मप्रकृतीनां मध्यमस्य समः ॥
अभ्यक्तदर्विलोहं सुखदुःखस्खलनयोगि मृदुमध्यम् ।
उज्झितदर्विखरं परिभाषन्ते केचिदाचार्याः ॥
अन्ये विहीनदर्वीप्रलेपमीषत् खराकृति ब्रुवते । (८।३६)

हैं, जब पाक दर्वी से गिरे ही नहीं। मृदु और मध्य पाक में लोहा अर्ध चूर्णावस्था में और खरपाक में रेत के कणों के समान होता है।[1]

विधियों को विस्तार और स्पष्टता से देना **रसेन्द्रचिन्तामणि** के रचयिता की विशेषता है। **रसेन्द्रसारसंग्रह** में भी भानुपाक, स्थालीपाक और पुटपाक विधियाँ लोहमारण के संबंध में दी हैं, पर वह विवरण इतना स्पष्ट नहीं है। (**रसेन्द्रसार-संग्रह** १।२९९-३१८)

विविध लोहरस—इस ग्रन्थ में लोहसंबंधी बहुत से योग हैं—

गन्धलोह—इसमें गन्धक और लोहे की भस्म का प्रयोग है (८।५३)।

अग्निमुख लोह—इसमें कान्तलोह का ओषधियों के साथ पाक है (९।६२)।

भल्लातक लोह—इसमें तीक्ष्ण लोह, भल्लातक और ओषधियों का पाक किया जाता है (९।६६)।

लोहसुन्दर रस—इसमें पारदभस्म, मृत लोह और गन्धक एवं ओषधियों का पाक बालुकाग्नि पर होता है (९।९५)।

धात्रीलोह—इसमें लोह-रज और आँवला, त्रिकटु, हलदी, घी, मधु का मिश्रण है (९।९६)।

द्विहरिद्राद्यलोह—यह लोहचूर्ण, हलदी, दारु हलदी, त्रिफला, त्रिकटु आदि का मिश्रण है (९।९८)।

खंडकाद्य लोह—लोहचूर्ण, माक्षिक, विष-औषध और वनस्पतियों का पाक है (९।१०१)।

पिप्पल्यादि लोह—लोहचूर्ण और पिप्पली आदि का मिश्रण है (९।११५)।

त्रिकत्रयाद्य लोह—तीनों त्रिक (त्रिफला, त्रिकटु और त्रिसुगन्ध) का लोह के साथ मिश्रण है (९।११९)।

गुडूचीलोह—गिलोय का सत और त्रिक-त्रय के साथ लोह का मिश्रण है (९।१३१)

वृद्धदाराद्य लोह—वृद्धदार (विधारा) और अन्य ओषधियों के साथ लोह का मिश्रण है (९।१३४)।

इसी प्रकार ९वें अध्याय में पथ्यालोह (१३७), कृष्णाभ्रलोह (१३८), चतुःसमलोह (१४५), त्रिकाद्यलोह (१४६), लोहाभयचूर्ण (१४७), शर्करालोह, (१४८), त्रिफलालोह (१४९), आमलाद्यलोह (१६०), वरुणाद्यलोह (१८१),

१. मृदुमध्यमर्द्धचूर्णं सिकतापुञ्जोपमं तु खरम्। (८।३७)

विडंगाद्यलोह (१९१), गगनादिलोह (२०६), कटुकाद्यलोह (२३६), त्र्यूषणाद्य-लोह (२३७), सुवर्चलाद्यलोह (२३८), व्योषाद्यलोह (२४१), त्रिकट्वाद्य लोह (२४२), त्र्यूषणाद्यलोह (२४३), बडवाग्निलोह (२४५), भगन्दरहर लोह (२४६), अमृतांकुरलोह (२९२), लोहमृत्युंजयरस (३०६), यकृदरिलोह (३११) और सप्तामृत लोह (३४५) को समझना चाहिए। इनमें से कुछ योग **रसेन्द्रसारसंग्रह** के योगों से मिलते-जुलते हैं।

पारदरंजन और स्वर्णोत्पत्ति

पारदरंजन—(क) दरद (सिंगरफ), माक्षिक (सोनामाखी), गन्धक, राजावर्त्त, मूँगा, मनःशिला, तूतिया और कंकुष्ठ इन सबका बराबर चूर्ण ले। फिर पीले और लाल वर्ग के फूल बराबर तौलकर इकट्ठा करे और कंगुनी के तेल के साथ ५ दिन धूप में बारबार भावना दे। फिर जारित पारे को कल्क के साथ सकोरे (शराव) के सम्पुट में बालू की हाँडी में भरकर तीन दिन पाक करे। पाक के समय यह कल्क बार-बार डाले। ऐसा करने से पारा रंजित हो जाता है और उसमें निस्सन्देह शतवेधी शक्ति उत्पन्न हो जाती है।[1]

(ख) लोहा, गन्धक, सुहागा, काला अभ्रक, सीसा, राँगा, पारा—इन सबको बराबर-बराबर काँच की कूपी में भरकर मंदी आँच देने से पारा रंजित होता है—इसमें कोई आश्चर्य नहीं।[2]

(ग) केवल निर्मल ताँबे को दरद (सिंगरफ) के साथ घोट या मिलाकर पारे को त्रिगुण जारित करे, तो वह पारा लाख के रस के समान हो जाता है।[3]

१. दरदं माक्षिकं गंधं राजावर्तं प्रवालकम्। शिला तुत्थं च कंकुष्ठं समचूर्णं प्रकल्पयेत्॥
वर्गाभ्यां पीतरक्ताभ्यां कंगुनी तैलकैः सह। भावयेद्दिवसान् पञ्च सूर्यतापे पुनःपुनः॥
जारितं सूतखोटं च कल्केनानेन संयुतम्। वालुकाहण्डि मध्यस्थंशरावपुटमध्यगम्॥
त्रिदिनं पाचयेच्चुल्यां कल्कं देयं पुनः पुनः। रंजितो जायते सूतः शतवेधी न संशयः॥
(३।६५)

२. लोहं गन्धं टंकणं ध्मातमेतत् तुल्यं चूर्णं भानुभेकाहिरङ्गैः।
सूतं गन्धं सर्वसाम्येन कुप्यामीषत् साध्यं चित्तनो विस्मयध्वम्॥ (३।६६)

३. केवलं निर्मलं ताम्रं वापितं दरदेन तु।
कुरुते त्रिगुणं जीर्णं लाक्षारसनिभं रसम्॥ (३।४५)

(घ) कमला नीबू के भीतर गन्धक द्वारा सीसे को जारित करे, तो उस सीसे की भस्म से त्रिगुणत जारित करने पर पारा लाख के रस के समान हो जाता है।[1]

(ङ) ताँबे के साथ बराबर दरद जारित करके उसके साथ बराबर पारे को त्रिगुण जारित करके पुट दे, तो पारा आसानी से रंजित हो जाता है।[2]

तार बीज--(क) कुटिल (कान्तलोह), विमला (चाँदी) और तीक्ष्ण लोह इनको बराबर लेकर चूर्ण करे। पाँच बार पुट दे। फिर चाँदी के बाहरी भाग में उतने समय तक दस गुनी गरमी दे जब तक सुन्दर **रौप्य बीज** उत्पन्न न हो जाय।

हरताल-सत्त्व और राँगा बराबर लेकर आग पर रखकर फूँके। इसके बाद उस चूर्ण को रौप्यबीज के साथ १६ बार पुट दे। ऐसा करने से जो प्रतिबीज उत्पन्न होता है, वह पारा बाँधने में श्रेष्ठ है। इस प्रकार चारण और सारण करने से बीज सहस्रांशवेधी हो जाता है।[3]

(ख) एक भाग चाँदी, बारह भाग राँगा और अभ्रकसत्त्व मिलाकर जारित करने से जो बीज उत्पन्न होता है, वह बराबर की तौल के पारे के साथ मिल जाय, तो वह पारा शतवेधी हो जाता है।[4]

१. गन्धकेन हतं नागं जारयेत् कमलोदरे।
एतस्य त्रिगुणे जीर्णे लाक्षाभो जायते रसः॥
एतत्तु नागसन्धानं न रसायनकर्मणि॥ (३।४६)

२. किंवा यथोक्तसिद्धबीजोपरि त्रिगुणताम्रोत्तरेणान्यद् बीजम्।
समजीर्णं स्वतंत्रेणैव रंजयति। (३।४७)

३. कुटिलं विमला तीक्ष्णं समचूर्णं प्रकल्पयेत्।
पुटितं पंचवारं तु तारे बाह्यं शनैर्धमन्।
यावद् दशगुणं तत्तु तावद्बीजं भवेच्छुभम्॥
सत्त्वं तालोद्भवं वंगं समं कृत्वा तु धामयेत्।
तच्चूर्णं वाहयेत्तारे गुणान्येव हि षोडश॥
प्रतिबीजमिदं श्रेष्ठं सूतकस्य निबन्धनम्।

४. चारणात् सारणाच्चैव सहस्रांशेन विद्ध्यति॥ (३।४८-४९)
वंगाभ्रं वाहयेत्तारे गुणानि द्वादशानि च।
एतद्बीजं समे चूर्णे शतवेधी भवेद्रसः॥ (३।५०)

(ग) एक भाग सोना, बारह भाग सीसा और बारह भाग अभ्रक इकट्ठा करके जारित करने से जो प्रतिबीज उत्पन्न होता है वह पारा बाँधने में श्रेष्ठ है।[1]

(घ) माक्षिक द्वारा मारे हुए पारे से ताँबा और सीसा अच्छी तरह रंजित होता है। यह बीज बत्तीस भाग सीसे में मिलाये जाने से जो प्रतिबीज उत्पन्न होता है, वह श्रेष्ठ नागबीज कहलाता है। इसका केवल एक रत्ती बीज सहस्रांशवेधी होता है।[2]

(ङ) रंजनार्थ और सारणार्थ एक तैल का विवरण दिया गया है, यह वही है जो **रसार्णव** (८।८०–८५) में कहा गया है। (३।५३)

सुवर्णोत्पत्ति—पारा, दरद (सिंगरफ), ताप्य (स्वर्णमाक्षिक), गन्धक और मनःशिला इन सबको क्रमानुसार एक-एक भाग बढ़ाकर ले। फिर इनके साथ एक भाग चाँदी और तीन भाग ताँबा मिलाकर जारित करे। ऐसा करने से श्रेष्ठ सोना तैयार हो जाता है।[3]

निर्देश

ढुण्ढुकनाथ—**रसेन्द्रचिन्तामणि**—बलदेवप्रसाद मिश्र कृत हिन्दीअनुवाद सहित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई (सं० १९८१ वि०)।

१. नागाभ्रं वाहयेद्धेम्नि द्वादशानि गुणानि च।
प्रतिबीजमिदं श्रेष्ठं पारदस्य निबन्धनम् ॥ (३।५१)

२. माक्षिकेण हतं ताम्रं नागं च रंजयेन्मुहुः।
न नागं वाहयेद्बीजे द्विषोडशगुणानि च ॥
बीजं त्विदं वरं श्रेष्ठं नागबीजं प्रकीर्तितम्।
तच्च रत्तिकमात्रेण सहस्रांशेन विध्यति ॥ (३।५२)

३. रस-दरद-ताप्य-गन्धक-मनःशिलाभिः क्रमेण वृद्धाभिः।
पुटमृतशुल्वं तारे त्रिव्यूढं हेमकृष्टिरियम् ॥ (३।६७)

बाईसवाँ अध्याय

गोपालकृष्ण भट्ट और रसेन्द्रसारसंग्रह

(चौदहवीं शती)

रसेन्द्रसारसंग्रह ग्रन्थ लगभग उसी समय का है जब कि **शार्ङ्गधर संहिता** और **रसेन्द्रचिन्तामणि** की रचना हुई, अर्थात् यह भी चौदहवीं शती की रचना है। इसका रचयिता गोपालकृष्ण भट्ट था और उसके इस ग्रन्थ और ढुंढुकनाथ के **रसेन्द्र-चिन्तामणि** में बहुत कुछ साम्य है। दोनों रचयिताओं ने लगभग एक ही समय में अपने अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया और लगभग एक ही तंत्र-सामग्री के आधार पर ग्रन्थ में विषयों का समावेश किया।[1] इस ग्रंथ में निम्न आचार्यों के नामों का यत्र-तत्र उल्लेख है, जिससे इस ग्रन्थ की परम्परा का कुछ परिचय मिल सकता है। इनमें से संभवतः कुछ नाम, जैसे विष्णु, ब्रह्मा, शिव, महेश, महेश्वर, हर, ईशान, नारद, पिनाकी और भैरव कल्पित भी हो सकते हैं, पर अनेक तंत्राचार्यों के भी ये नाम थे, अतः हो सकता है कि इन नामों के व्यक्ति ऐतिहासिक भी हों। दोनों अश्विनीकुमारों का भी उल्लेख है, जो वैदिक परम्परा का नाम है।

अश्विनौ—"अश्विभ्यां निर्मिता ह्येषा सुबृहद्गुडपिप्पली।" (प्लीह्रा० २। ४०। ६९)

ईशानदेव—"आमवातारिवटिका पुरेशानेन चोदिता।" (आम० २। २८। ६)

काशिराज—"रसः पित्तान्तको ह्येष काशिराजेन भाषितः।" (पित्त० २।२५।९)

गहननाथ—(गहनानन्द नाथ)—"गहनानन्दनाथेन भाषितेयं रसायने।" (ग्रहणी गजे-न्द्रवटिका) (ग्रहणी २। ५। ३३) "गहनानन्दनाथेन भाषितो विश्वसम्पदे।" (क्रिमि-कालानल रस)(क्रिमि० २।८।४); "रसामृतरसो नाम गहनानन्दभाषितः।" (रक्त-पित्त० २।१०।१४); "गहनानन्दनाथोक्तो रसोऽयं काञ्चनाभ्रकः।" (यक्ष्मा०-२।११।६४); "श्रीमद्गहननाथेन काससंहार-भैरवः।" (कास० २।१२।१४);

१. **नत्वा गुरुपदद्वन्द्वं दृष्ट्वा तन्त्राण्यनेकशः।**
श्रीलगोपालकृष्णेन क्रियते रससंग्रहः॥ (रसेन्द्रसारसंग्रह १।२)

"रसः कुब्जविनोदोऽयं गहनानन्दभाषितः।" (वातव्याधि २।२३।५५); "गहनानन्दनाथोक्तरसोऽयं गुल्मशार्दुलः।" (गुल्म० २।३१।३७); "तारकेश्वरनामायं गहनानन्दभाषितः।" (मूत्राघात० २।३४।१); "हरिशंकरनामायं गहनानन्दभाषितः।" (प्रमेह० २।३६।१०); "निर्मिता चेयंमेहमुदगरसंज्ञिनी। श्रीमद्गहननाथेन लोकनिस्तारकारिणी।" (प्रमेह० २।३६।१७); "गहनानन्दनाथेन रसो यत्नेन निर्मितः। सोमेश्वरो महातेजाः सोमरोगं निहन्त्यलम्॥" (सोम० २।३७।२१); "श्रीमद्गहननाथेन निर्मितं विश्वसम्पदे।" (अग्निकुमार लौह) (प्लीहा० २।४०।२१); "प्लीहार्णव इति ख्यातो गहनानन्दभाषितः।" (प्लीहा० २।४०।४१); "प्लीह शार्दूलनामायं गहनानन्दभाषितः।" (प्लीहा० २।४०।४७); "श्रीमद्गहननाथेन निर्मितो विश्वसम्पदे। नित्यानन्दरसश्चायं यत्नतः श्लीपदे गदे॥" (श्लीपद० २।४३।६); 'श्रीमद्गहननाथेन निर्मितो बहुयत्नतः।" (माणिक्य रस) (कुष्ठ० २।४६।४६)

चक्रपाणि—"रसपर्पटिका ख्याता निबद्धा चक्रपाणिना।" (ग्रहणी २।५।६०)

चतुर्मुख—"जगताञ्च हितार्थाय चतुर्मुखमुखोदितः। रसश्चतुर्मुखो नाम चतुर्मुख इवापरः॥" (वातव्याधि० २।२३।४४)

चन्द्रनाथ—"सर्वज्वरहरं लौहं चन्द्रनाथेन भाषितम्।" (ज्वर० २।२।२३६); "इदं चन्द्रामृतं लौहं चन्द्रनाथेन निर्मितम्।" (कास० २।१२।७९); "शिरोवज्ररसो नाम चन्द्रनाथेन भाषितः।" (शिरोरोग० २।५६।१०)

चरक—"वरुणाद्यमिदं लौहं चरकेण विनिर्मितम्।" (मूत्रकृच्छ्र० २।३३।६); "कस्तूरीमोदकश्चायं चरकेण च भाषितः।" (प्रमेह० २।३६।४५)

त्रिपुरान्तक—"लोकोपकृत्यै करुणामयेन रसोऽयमुक्तस्त्रिपुरान्तकेन।" (अर्श० २।६।३२)

धन्वन्तरि—"अस्मात्परतरो नास्ति धन्वन्तरिमतोरसः।" (पाशुपत रस) (अजीर्ण० २।७।४३); "रोगानीकविनाशाय धन्वन्तरिकृतं पुरा। मृत्युञ्जयमिदं लौहं सिद्धिदं शुभदं नृणाम्॥" (प्लीहा० २।४०।३७); "धन्वन्तरिकृतः सद्यो रसः परमदुर्लभः।" (वारिशोषण रस) (प्लीहा० २।४०।१०४)

नन्दिनाथ—"महामृगाङ्कः खलु एष सिद्धः श्रीनन्दिनाथप्रकटीकृतोऽयम्।" (यक्ष्मा० २।११।८५); "कथितो नन्दिनाथेन वातविध्वंसनो रसः।" (वातव्याधि० २।२३।६५)

नागार्जुन—"तिर्यक्पातनमित्युक्तं सिद्धैर्नागार्जुनादिभिः।" (१।४४); "रसो विश्वेश्वरो नाम प्रोक्तो नागार्जुनेन च।" (ज्वर० २।२०।७२); "दधि चावश्यकं भक्ष्यं प्राह नागार्जुनो मुनिः।" (ज्वरातिसार० २।३।२५) (ग्रहणी० २।५।१२४)।

नारद—"प्रोक्तः प्रयोगराजोऽयं नारदेन महात्मना। महालक्ष्मीविलासोऽयं वासुदेवो जगत्पतिः।" (कफ०२।२४।२८–२९); इसी प्रकार लक्ष्मीविलास (५।३४)

नित्यनाथ—"निर्मितो नित्यनाथेन सोमनाथरसस्त्वयम्।" (सोम०२।३७।८)

पिनाकी—"वज्रक्षारमिदं सिद्धं स्वयं प्रोक्तं पिनाकिना।" (प्लीहा०२।४०।८३)

ब्रह्मा—"ब्रह्मणा निर्मितः पूर्वं रसः सर्वाङ्गसुन्दरः।" (विरेक०२।१।२४); "रसोऽयं श्वित्रनाशाय ब्रह्मणा निर्मितः पुरा। विजयानन्दनामाऽयं प्रसिद्धः क्षितिमण्डले॥" (कुष्ठ०२।४६।११९); "सूतिकाघ्नोरसो नाम ब्रह्मणा परिकीर्त्तितः।" (सूतिका० ३।३।१३); "नीलकण्ठो रसो नाम ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।" (५।९३)

भैरव—"चिन्तामणिरसोऽयं किल स्वयं भैरवेण निर्दिष्टः।" (ज्वर०२।२।७९); "भैरवेन समाख्यातो रसोऽयं भैरवाख्यकः।" (उपदंश०२।४५।२१)

महादेव—"योगेश्वरो रसो नाम महादेवेन भाषितः।" (प्रमेह०२।३६।५७)

महेश—"राजवल्लभनामाऽयं महेशेन प्रकाशितः।" (ग्रहणी०२।५।१४०); "चतुर्भुजरसो नाम महेशेन प्रकाशितः।" (उन्माद०२।२१।२६); "महामृत्युञ्जयो नाम महेशेन प्रकाशितः।" (प्लीहा०२।४०।६३); "रसःश्रीमन्मथो नाम महेशेन प्रकाशितः।" (५।९)

महेश्वर—"मतान्तरे सर्वसुभद्रनामा महेश्वरेणैव विभाषितोऽयम्।" (ग्रहणी०२।५।१५५)

मुनि—"महाज्वरांकुशो नाम रसोऽयं मुनिभाषितः।" (ज्वर०२।२।३२९)

मृत्युञ्जय—"श्रेष्ठः पुष्टिकरो वसन्ततिलको मृत्युञ्जयेनोदितः।" (५।८१)

रुद्र—"संसारलोकरक्षार्थं पुरा रुद्रेण भाषितः।" (ग्रहणी०२।५।४७)

वासुदेव—"वासुदेवेन कथिता वटिका रसचन्द्रिका।" (शिरोरोग०२।५६।५)

विष्णु—"बृहच्छृङ्गाराभ्रनाम विष्णुना परिकीर्त्तितम्।" (कास०२।१२।९७); (५।११०); "आमवातेश्वरो नाम विष्णुना परिकीर्त्तितः।" (आमवात०२।२८।१३)

वैद्यनाथ—"श्रीमता वैद्यनाथेन लोकानुग्रहकारिणा। स्वप्नान्ते ब्राह्मणस्येयं भाषिता लिखितेन तु (वैद्यनाथवटी)।" (ग्रहणी०२।५।५३)॥ (इस योग को वैद्यनाथ ने स्वप्न में देखा था और प्रातःकाल ही एक ब्राह्मण को लिखा दिया।)

शम्भु—"अर्द्धनारीश्वरो नाम रसः शम्भुप्रकीर्त्तितः।" (ज्वर०२।२।२१९); "कोऽस्ति लोकेश्वरादन्यो नृणां शम्भुमुखोद्गतात्।" (यक्ष्मा०२।११।४६)

शिव—"सर्वलोकहितार्थाय शिवेन कथितः पुरा। सर्वतोभद्रनामायं रसः साक्षान्महेश्वरः॥" (ज्वर०२।२।३४१); "चूडामणिरसो ह्येष शिवेन परिकीर्त्तितः।"

(ज्वर० २।२। ३५८); "चूड़ामणिरसो ह्येष शिवेन परिभाषितः।" (ज्वर० २।२। ३६७); "शिवेन प्रोक्तो जगतां हिताय महारसोऽयं ग्रहणीकपाटः।" (ग्रहणी० २।५। ९६); "शिशूनां रोगनाशाय शिवेन परिकीर्त्तितः।" (बालरस ४।१।५); "सर्वलोकहितार्थाय शिवेन परिकीर्त्तितः।" (मकरध्वज, ५।७९)
सुरमणि—"ख्यातो योगः सुरमणिकृतः सर्वतोभद्रनामा।" (प्लीहा० २।४०। १०६)
हर—"शूलराजमिदं लौहं हरेण परिर्निमितम्।" (शूल० २।२९। २८)

ऊपर जो सूची दी गयी है, उससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि रसतन्त्र के इन आचार्यों ने किन-किन रसों का आविष्कार या प्रचलन किया। हो सकता है कि शिव, शम्भु और हर एवं महेश्वर के नाम से जिन रसों का उल्लेख है, वे सब एक ही व्यक्ति का आविष्कार रहे हों, क्योंकि व्यक्तिवाचक नामों के पर्यायों का प्रयोग कर देना संस्कृत साहित्य में अग्राह्य नहीं माना गया है। गहननाथ या गहनानन्दनाथ नाम के साथ तो अनेक रसों का निर्देश है, जैसे ग्रहणीगजेन्द्रवटिका, कृमिकालानल रस, रसामृत, काञ्चनाभ्रक, काससंहारभैरव, कुब्जविनोद, गुल्मशार्दूल, तारकेश्वर रस, हरिशंकर रस, मेहमुद्गर रस, सोमेश्वर रस, अग्निकौमार लोह रस, प्लीहार्णव, प्लीह शार्दूल, नित्यानन्द रस और माणिक्य रस। काशिनाथ ने पित्तान्तक रस का आविष्कार किया, चक्रपाणि ने रसपर्पटिका बनायी। चन्द्रनाथ ने सर्वज्वर लौह रस, चन्द्रामृत और शिरोवज्र रस बनाये। चरक के नाम पर कस्तूरीमोदक और वरुणाद्य-लौह प्रसिद्ध हैं। ये चरक प्रसिद्ध चरकसंहितावाले ही प्रतीत होते हैं। वरुणाद्य लौह में वानस्पतिक ओषधियों के अतिरिक्त लोहभस्म और अभ्रकभस्म का व्यवहार किया गया है। धन्वन्तरि का नाम पाशुपत रस, मृत्युञ्जय लौह और वारिशोषण रस—इनके साथ सम्बद्ध है। नागार्जुन को न केवल तिर्यक्पातन विधि का आविष्कारक बताया है, उसे विश्वेश्वर रस का आविष्कारक भी बताया है। अमुक-अमुक रसों के साथ दही का भी सेवन हो सकता है, यह नागार्जुन का मत है, ऐसा भी दो स्थलों पर बताया है। मुनि के नाम के साथ जिस महाज्वरांकुश रस का निर्देश है, संभव है कि वह भी नागार्जुन का ही आविष्कार हो, क्योंकि नागार्जुन को भारतीय आयुर्वेद साहित्य में मुनि नाम से स्वीकार कर लिया गया था।

पारद रसायन

रसेन्द्रसारसंग्रह में पाँच अध्याय हैं, जिसके पहले अध्याय में रसशोधन विधि दी हुई है। रसेन्द्र, रस, पारद, सूत, सूतराज, सूतक, शिवतेज ये सात नाम पारे के

ही हैं।[1] पारे के दोष ये हैं—सीसा, राँगा, मैल, वह्निदोष, चांचल्य, विष, गिरि (पत्थर) और असह्याग्नि दोष।[2] परम शुद्ध पारा तो वह है जो मृत्यु को भी मार सके।[3] पारददोष दूर करने के प्रसंग में ग्रन्थकार ने **तप्त खल्ल** का भी उल्लेख किया है। तप्त खल्ल का विधान इस प्रकार है[4]—जमीन में खरल से कुछ बड़ा गड्ढा खोदकर उसमें बकरी की लेंड़ी, धान की भूसी और आग डाल दे। आग जब सुलग जाय, तो इसके ऊपर रखकर खरल को गरम करे। यह गरम खरल ही तप्त-खल्ल है।

ग्रन्थकार ने पारे के शोधन के कई योग दिये हैं, जिनमें वनस्पतियों के रसों में पारे के घोटे जाने और बाद को उसका ऊर्ध्वपातन करने का निर्देश है। दो महत्त्व-पूर्ण योग इस प्रकार हैं—

(१) कुमारी (घीगुवार) के रस और हलदी के चूर्ण में दिनभर पारे को घोटे। तत्पश्चात् ऊर्ध्वपातन यंत्र से उड़ाकर पारा शोधे। (२) जितना पारा हो, उसका बारहवाँ भाग गन्धक डालकर जम्बीरी नीबू के रस में घोंटे और एक पहर आँच देकर ऊर्ध्वपातन कर ले। फिर पारे को निकालकर उसमें बारहवाँ भाग गन्धक डाले और जम्बीरी नीबू के रस में घोटकर ऊर्ध्वपातन कर ले। इस रीति से सात बार द्वादशांश गन्धक डाल-डालकर घोटे और प्रहर-प्रहर की आँच दे-देकर ऊर्ध्वपातन करे तो पारा शुद्ध हो जाता है।[5]

१. रसेन्द्रः पारदः सूतः सूतराजश्च सूतकः।
शिवतेजो रसः सप्त नामान्येवं रसस्य तु॥ (१।७)

२. नागो वंगो मलो वह्निश्चाञ्चल्यञ्च विषं गिरिः।
असह्याग्निर्महादोषा निसर्गाः पारदे स्थिताः॥ (१।१०)

३. दोषहीनो यदा सूतस्तदा मृत्युज्वरापहः (१।१३)

४. अजाशकृत् तुषाग्निञ्च भूगर्ते त्रितयं क्षिपेत्।
तस्योपरि स्थितं खल्लं तप्तखल्लमिति स्मृतम्॥ (१।२१)

५. (क) कुमार्याश्च निशाचूर्णैर्दिनं सूतं विमर्दयेत्।
पातयेत् पातनायंत्रे सम्यक् शुद्धो भवेद्रसः॥

(ख) रसस्य द्वादशांशेन गन्धं दत्त्वा विमर्दयेत्।
जम्बीरोत्थैर्द्रवैर्यामं पाच्यं पातनयन्त्रके॥
पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं सप्तवारं विशुद्धये॥ (१।२९-३०)

ऊर्ध्वपातन और पारदशोधन—पारा तीन भाग और शोधित ताम्रचूर्ण एक भाग, दोनों को एक साथ पीसकर जम्बीरी नीबू के रस में घोटे। जब इसका गोला बन जाय तब एक हाँडी में रखे और ऊपर से एक औंधी हाँडी रखकर दोनों के मुख कपड़-मिट्टी करके बन्द कर दे। फिर उसे भट्ठी पर रख दे। ऊपरवाली हाँडी की पेंदी में गीली मिट्टी का थाला बनाकर उसमें पानी भर दे। इसके बाद आँच लगाये तो पारा उड़कर ऊपरवाली हाँडी में चिपक जायगा। यह ऊर्ध्वपातन विधि हुई।[1]

अधःपातन विधि—नवनीत (आमलासार) नामक गन्धक को जंबीरी नीबू के रस में दिन भर घोटे। फिर गंधक में सम भाग केंवाच, सहजन, चिचिड़ा, सैंधा नमक और पारा इन सबको मिलाकर घोटे। जब सब एक-दिल हो जायँ और इनकी पिष्टी-सी बन जाय, तो इस का ऊपरी पात्र के भीतर लेप कर दे, और नीचे के पात्र में पानी भर दे। फिर दोनों पात्रों का मुख एक में मिलाकर कपड़मिट्टी से संधियाँ बन्द कर दे। भूमि में गड्ढा खोदकर इन्हें रख दे और ऊपर से आग लगा दे। इस प्रकार पुट देने से ऊपर का पारा निकलकर जल में आ गिरेगा।[2]

तिर्यक् पातन—एक घड़े में पारा ले और दूसरे घड़े में पानी भर दे। इन दोनों घड़ों का मुँह तिरछा करके बाँध दे और पारेवाले घड़े के नीचे आँच दे। ऐसा करने

१. **भागास्त्रयो रसस्यार्कभागमेकं विमर्दयेत् ।**
जम्बीरद्रवयोगेन यावदायाति पिण्डताम् ॥
तत्पिण्डं तलभाण्डस्थमूर्ध्वभाण्डे जलं क्षिपेत् ।
कृत्वाऽऽलवालकं वापि ततः सूतं समुद्धरेत् ॥
ऊर्ध्वपातनमित्युक्तं भिषग्भिः सूतशोधने ॥ (१।३८–३९)

२. **नवनीताह्वयं गन्धं घृष्ट्वा जम्भाम्भसा दिनम् ।**
वानरीशिग्रुशिखिभिः सैन्धवासुरिसंयुतैः ॥
नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेदूर्ध्वभाण्डके ।
ऊर्ध्वभाण्डोदरं लिप्त्वाऽधोभाण्डं जलसंयुतम् ॥
सन्धिलेपं द्वयोः कृत्वा तद्यन्त्रं भुवि पूरयेत् ॥
उपरिष्टात्पुटे दत्ते जले पतति पारदः ।
अधःपातनमित्युक्तं सिद्धाद्यैः सूतकर्मणि ॥ (१।४०–४२)

पर जब पारा उड़कर पानीवाले घड़े में चला जाय, तब उसे निकाले। नागार्जुन आदि ने इसे तिर्यक्पातन यंत्र कहा है।[1]

लौह्-मारण

लौहमारण की भानुपाक, स्थालीपाक और पुटपाक विधियाँ—लौह (लोहा अथवा अन्य धातु) की निरुत्थ भस्म तैयार करने की तीन सामान्य विधियाँ भानुपाक, स्थालीपाक और पुटपाक नाम से दी गयी हैं।[2]

१. घटे रसं विनिक्षिप्य सजलं घटमन्यकम् ।
तिर्यङ्मुखं द्वयोः कृत्वा तन्मुखं रोधयेत्सुधीः ।।
रसाधो ज्वालयेदग्नि यावत्सूतो जलं विशेत् ।
तिर्यक्पातनमित्युक्तं सिद्धैर्नागार्जुनादिभिः ।। (१।४३–४४)

२. भानुपाकात्तथा स्थालीपाकाच्च पुटपाकतः ।
निरुत्थो जायते लौहो यथोक्तफलदो भवेत् ।।

(क) लौहे दृषदि लौहञ्च मुद्गरेण हतं मुहुः ।
कृत्वाम्बुगलितं शुद्धं जलेन त्रैफलेन वा ।।
क्षालयेद् बहुशः पश्चात्कृत्वा द्रव्यान्तरं पृथक् ।
शोषितं भानुभिर्भानोर्भानुपाके प्रयोजयेत् ।। (१।३००–३०१)

(ख) इत्थमादित्यपाकान्ते स्थाल्यां पाकमुपाचरेत् ।
स्थालीपाके फलं ग्राह्यमयसस्त्रिगुणीकृतम् ।।
तस्य षोडशिकं तोयमष्टभागावशेषितम् ।
मृदुमध्यकठोराणामन्येषामयसा समम् ।।
क्वथनीयं समादाय चतुरष्टौ च षोडश ।
गुणानां स्थाप्यते तोयं शेषयेदयसा समम् ।।
स्वरसस्यापि लौहेन स्थालीपाके समानता ।
स्थाल्यां क्वाथादिकं दत्त्वा यथाविधि विनिर्मितम् ।।
पाकेन क्षीयते यस्मात्स्थालीपाक इति स्मृतः ।। (१।३०५–३०८)

(ग) स्थालीपाके सुसम्पक्वं प्रक्षाल्य स्वच्छवारिणा ।
शुष्कं सञ्चूर्ण्य यत्नेन पुटपाके प्रयोजयेत् ।।
पुटाद् दोषविनाशः स्यात्पुटादेव गुणोदयः ।
म्रियते च पुटाल्लौहस्तस्मात् पुटं समाचरेत् ।। (१।३११–३१२)

भानुपाक—संशोधित लौहचूर्ण को लेकर लोहे के खरल में लोहे के ही मूसल से अच्छी तरह कूटकर साफ पानी अथवा त्रिफला के क्वाथ से कई बार धोये। इसमें कुछ कूड़ा-कचरा पड़ा हो तो उसे अलग कर दे। फिर इसे सूर्य की किरणों से (धूप में रखकर) सुखा ले। धूप में इस प्रकार सुखाकर पाक करने का नाम ही भानु-पाक है। जितनी भस्म तैयार हो जाय, उसे अलग कर ले और शेष को फिर त्रिफला के क्वाथ में डालकर धूप में सुखाये। ऐसा अनेक बार करने पर लोहे की निरुत्थ भस्म तैयार हो जायगी।

स्थालीपाक—भानुपाक कर लेने के बाद उसी भस्म का स्थालीपाक करे। इस पाक में लोह का तिगुना त्रिफला और सोलहगुना पानी डालकर पकाये, सूखते-सूखते जब पानी आधा रह जाय, तब उतार ले। फिर मृदु, मध्य और कठोर ओषधियों को लोहे के बराबर लेकर, मृदु ओषधि में ओषधि से चार गुना, मध्यम में आठ गुना और कठोर ओषधि में सोलह गुना पानी डालकर पकाये। पानी जलकर जब लोह के बराबर रह जाय, तब उतार ले। लोह का समान भाग स्वरस एवं क्वाथ भी इस काम के लिए लिया जाता है। यह पाक लोहे की हाँडी में होता है, इसलिए इसे स्थालीपाक कहते हैं।

पुटपाक—स्थालीपाक हो जाने के बाद उसे स्वच्छ पानी से अच्छी तरह धो डाले, फिर सुखा ले। फिर उसे अच्छी तरह कूट-पीसकर पुट दे। पुट देने से ही लोहे के दोष नष्ट और गुण उदय होते हैं। लोहा पुट देने से ही पूर्ण रूप से मरता है, इसलिए पुटपाक करना चाहिए।

लोहे में पुट तब तक देते रहना चाहिए, जब तक उसका चूर्ण स्थिर जल में डाल देने पर हलका हो जाने के कारण हंस की तरह न तैरने लगे।

पारा और उसकी भस्में

हिंगुल या सिंगरफ से पारा प्राप्त करना—ग्रन्थकार ने सिंगरफ से पारा निकाल लेने की कई विधियाँ दी हैं। (क) हिंगुल को जम्बीरी नीबू के रस में दिनभर घोटे, फिर ऊर्ध्वपातन यंत्र में उड़ाकर शुद्ध पारा प्राप्त कर ले। ऐसा करने पर पारे से नाग (सीसा) और वंग (राँगा) ये दोनों दूर हो जाते हैं। (ख) दरद (हिंगुल) को चावल के समान महीन पीसकर मिट्टी के बर्तन में रखे और तीन दिन तक जम्बीरी नीबू के रस में अथवा चांगेरी के रस में अच्छी तरह घोटे। फिर पतीली या बटलोई के समान चौड़े पात्र में जंभीरी नीबू का रस एवं चांगेरी रस डालकर घुटे हुए सिंगरफ को उसी में डाल दे और पात्र के मुख पर एक शराव (सकोरा या परई) रख दे।

शराव के पेंदे में खड़िया मिट्टी का लेप कर दे। संधियों को कपड़-मिट्टी से बन्द कर दे। शराव के भीतर पानी भर दे और नीचे से आँच दे। तीस बार शराव का गरम पानी बदल दे। ऐसा करने से शुद्ध पारा खड़िया मिट्टी में उड़कर आ जायगा। उस खड़िया को छान और काँजी में धोकर शुद्ध पारा पृथक् कर ले।[1]

रससिन्दूर—पारे से लाल रंग का सिन्दूर तैयार करने की विधि इस प्रकार है—पारा एक भाग, गन्धक पारे का तिगुना, शुद्ध सीसा एक भाग; इनको साथ-साथ घोट ले। जब वह काजल-सा काला पड़ जाय, तो उसे काँच के घट (glass flask) में रखे। इस घट के मुख पर कपड़-मिट्टी करके, ऊपर से खड़िया मिट्टी पीसकर लेप कर दे। घट को बालुकायंत्र पर रखकर क्रमपूर्वक मंद, मध्यम और फिर तीक्ष्ण आँच दे, इस प्रकार तीन दिन पकाये। शीतल हो जाने पर शीशी में से भस्म निकाल ले। यह भस्म बन्धूकपुष्प (दोपहरिया के फूल) के समान अरुण रंग की होती है।[2]

(घ) तावदेव पुटेल्लोहं यावच्चूर्णीकृतं जले।
निस्तरङ्गं लघुत्वेन समुत्तरति हंसवत्॥ (१।३१६)

१. (क) अथवा हिंगुलात् सूतं ग्राहयेत्तन्निगद्यते।
जम्बीरनिम्बुनीरेण मर्दितो हिंगुलो दिनम्॥
ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण ग्राह्यः स्यान्निर्मलो रसः।
कञ्चुकैर्नागवङ्गाद्यैर्निर्मुक्तो रसकर्मणि। (१।४८-४९)

(ख) दरदं तण्डुलस्थूलं कृत्वा मृत्पात्रके त्रिदिनम्।
भाव्यं जम्बीररसैश्चाङ्गेर्या वा रसैर्बहुधा॥
ततश्च जम्बीरवारिणा चाङ्गेर्याश्च रसेन परिप्लुतम्।
कृत्वा स्थालीमध्ये निधाय तदुपरि कठिनीघृष्टम्।
उत्तानं चारुशरावं तत्र त्रिंशद्वारं जलं देयम्।
उष्णं हेयं तथैव तदूर्ध्वपातनेन निर्म्मलः शिवजः॥ (१।५१-५३)

२. भागो रसस्य त्रय एव भागा गन्धस्य माषः पवनाशनस्य।
सम्मर्द्य गाढं सकलं सुभाण्डे तां कज्जलीं काचघटे निदध्यात्॥
संरुध्य मृत्कर्पटकैर्घटीं तां मुखे सुचूर्णां खटिकाञ्च दत्त्वा।
क्रमाग्निना त्रीणि दिनानि पक्त्वा तां बालुकायन्त्रगतां ततः स्यात्॥
बन्धूकपुष्पारुणमीशजस्य भस्म प्रयोज्यं सकलामयेषु।
निजानुपानैर्मरणं जराञ्च हन्त्यस्य वल्लः क्रमसेवनेन॥ (१।६२-६४)

कुप्पी (घट) के मुख पर खड़िया लेप करके जो यंत्र बनाया जाता है उसे **कवचीयंत्र** भी कहते हैं।[1]

रसकर्पूर——Calomel——कपूर के समान शुद्ध श्वेत पारद के यौगिक का नाम रसकर्पूर रखा गया है। **रसेन्द्रसारसंग्रह** में इसके बनाने की विस्तृत विधि दी है। (क) सुहागा (टंकण), शहद, लाख, ऊन, गुंजा और शुद्ध पारा इनको समान भाग लेकर भँगरैया के रस में खूब घोटे और फिर सम्पुट में रखकर पूरे दिन आँच दे। ऐसा करने पर कपूर के समान रंग का रसकर्पूर मिलेगा।[2] (ख) पहले शुद्ध पारे को शुद्ध कसीस में मिलाकर पीसे। फिर उसमें सेंहुड़ का दूध मिलाकर बार-बार घोटे। इस पारे को एक लोहे के कटोरे के सम्पुट में रखे तथा कपड़-मिट्टी द्वारा सन्धि कर दे। इस सम्पुट के चारों तरफ नमक भर दे। तत्पश्चात् हाँडी को चूल्हे पर रखकर सम्पुट को उसमें रखे, और नीचे से दिनभर कड़ी आँच दे। स्वांग-

१. पलमात्रं रसं शुद्धं तावन्मात्रन्तु गन्धकम्।
विधिवत् कज्जलीं कृत्वा न्यग्रोधांकुरवारिभिः ॥
भावनात्रितयं दत्त्वा स्थालीमध्ये निधापयेत्।
विरच्य कवचीयंत्रं बालुकाभिः प्रपूरयेत् ॥
दद्यात्तदनु मन्दाग्निं भिषग्यामचतुष्टयम्।
जायते रससिन्दूरं तरुणादित्यसन्निभम् ॥ (१।६५–६७)

अर्थ——एक पल शुद्ध पारा और एक पल गन्धक मिलाकर कज्जली कर ले, फिर इसमें बरगद की जटा के अंकुरों के स्वरस में तीन बार भावना दे। इसके बाद काच की कूपी में रखे और एक बड़े पात्र में रखकर कूपी के चारों तरफ बालू भर दे। कूपी के मुख पर कपड़मिट्टी करके खड़िया का लेप कर दे। यह कवचीयंत्र है। चार प्रहर तक नीचे से मन्द मन्द आँच दे, तो प्रातःकाल के सूर्य-जैसा लाल रस सिन्दूर मिलेगा।

२. (क) टङ्कणं मधु लाक्षा च ऊर्णा गुञ्जायुतो रसः।
मर्दितो भृङ्गजद्रावैर्दिनैकं चालयेत् पुनः ॥
ध्मातो भस्मत्वमाप्नोति शुद्धकर्पूरसन्निभम् ॥ (१।७३)

(ख) पिष्टं पांशुपटु प्रगाढममलं वज्रयम्बुना नैकशः,
सूतं धातुगतं खटीकवलितं तं सम्पुटे रोधयेत्।
अन्तःस्थं लवणस्य तस्य च तले प्रज्वाल्य वह्निं दृढं,
घस्रं ग्राह्यमथेन्दुकुन्दधवलं भस्मोपरिस्थं शनैः ॥ (१।७४)

शीतल हो जाने के बाद उसमें से सम्पुट खोलने पर चन्द्रमा तथा कुन्द पुष्प के समान श्वेत भस्म निकलेगी। यह रसकर्पूर है।

सर्वांगसुन्दर रस—(पारे की पीली भस्म)—शुद्ध पारा और शुद्ध गन्धक इन दोनों को बराबर ले और इनकी कज्जली करके पहले हाथीशुंडी के रस में सात दिन तक और इसके बाद भूम्यामलकी के रस में सात दिन तक घोटे। तब इसे मूषा में रखे और बालुकायंत्र में रखकर चार पहर तक मन्द-मन्द आँच देता हुआ पकाये। स्वांगशीतल होने पर खोलने पर इसमें से पीले रंग की भस्म निकलेगी।[1]

कृष्णभस्म—धान्याभ्रक और शुद्ध पारा समभाग लेकर घोटे और मारणकर्म में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं के साथ इसे मारे। पुनः घोटे हुए कल्क को एक कपड़े पर पोत दे और उस कपड़े की बत्ती बना ले। बत्ती पर बार-बार रेंड़ी के तेल का लेप करे। उस बत्ती को घी-भरे सकोरे में रखकर जलाये। जलती हुई बत्ती में से जो बूँदें टपकें, उन्हें एकत्रित कर ले। यह कृष्णभस्म है। फिर नियामकवर्ग में निर्दिष्ट ओषधियों में इसे घोटकर कन्दुकयंत्र से पातन करे। इस प्रकार पारा मरकर काली भस्म बन जायगा।[2]

इस प्रकार पारे की श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण चारो प्रकार की भस्में बनाने का उल्लेख है।[3]

पारद, गन्धक और स्वर्ण की भस्में

चन्द्रोदय रस—सोने के बहुत ही महीन और मृदु पत्र एक पल, शुद्ध पारा आठ पल और गंधक सोलह पल लेकर कज्जली करे। फिर इसे पहले लाल कपास के पुष्परस

१. **मर्दयेद् रसगन्धौ च हस्तिशुण्डीद्रवैर्दृढम्। भूधात्रिकारसैर्वापि पर्यन्तं दिनसप्ततः॥
विघृष्य बालुकायन्त्रे मूषायां सन्निवेशयेत्। दिनमेकं दहेदग्नौ मन्दं मन्दं निशावधि॥
एवं निष्पाद्यते पीतः शीतः सूतस्तु गृह्यते। (१।७६–७८)**

२. **धान्याभ्रकं रसं तुल्यं मारयेन्मारकद्रवैः। दिनैकं तेन कल्केन वस्त्रं लिप्त्वा तु वर्तिकाम्॥
विलिप्य तैलैर्वर्ति तामेरण्डोत्थैः पुनः पुनः।
तदाज्यभांडे प्रज्वाल्य गृह्णीयात् पतितं च यत्॥
कृष्णभस्म भवेत्तच्च पुनर्मर्द्यं नियामकैः।
दिनैकं पातयेद् यन्त्रे कंदुकाख्ये न संशयः।
मृतः सूतो भवेत्तच्च तत्तद्रोगेषु योजयेत्॥ (१।८२–८४)**

३. **श्वेतं पीतं च रक्तं च कृष्णञ्चेति चतुर्विधम्।
लक्षणं भस्मसूतानां श्रेष्ठं स्यादुत्तरोत्तरम्॥ (१।८५)**

में और उसके बाद घीकुँवार के रस में घोटकर कपड़-मिट्टी की हुई मोटे दलवाली एक काँच की बोतल (काँच-कुम्भ) में भर दे। ऊपर से फिर कपड़-मिट्टी करके बोतल को बालुकायंत्र में रखकर चूल्हे पर चढ़ा दे। फिर क्रम से मृदु, मध्य और तीक्ष्ण आँच देते हुए तीन दिन तक पकाये। स्वांगशीतल होने पर बोतल में चिपकी हुई लाल रंग की भस्म निकाल ले। यदि एक पल यह भस्म हो, तो चार पल कपूर का चूर्ण, जायफल, मिर्च तथा लौंग (एक-एक पल प्रत्येक) और कस्तूरी चार माशे लेकर सबको एक साथ खरल करे। यह चन्द्रोदय रस है। कुछ आचार्यों ने इसी का नाम मकरध्वज भी रखा है।[1]

मकरध्वज रस—चन्द्रोदय को ही कुछ आचार्य मकरध्वज कहते हैं। पर **रसेन्द्रसारसंग्रह** में इसके बनाने का एक योग इस प्रकार आया है। स्वर्णभस्म दो भाग, वंगभस्म, मोती भस्म, कान्तलौह भस्म, जायफल, जावित्री, चाँदीभस्म, कांस्य-भस्म, रससिन्दूर, मूँगाभस्म, कस्तूरी, कपूर और अभ्रकभस्म, इनमें से प्रत्येक द्रव्य एक-एक भाग तथा स्वर्ण-सिन्दूर चार भाग लेकर इन सभी पदार्थों को एक साथ घोट ले। सभी रोगों में लाभ करनेवाला परम श्रेष्ठ यह रस है।[2] मकरध्वज का आविष्कारक शिव बताया गया है (हो सकता है कि महत्त्वपूर्ण होने के कारण पार्वती-पति शिवजी को ही इसका प्रवर्त्तक बताया गया हो।)

वसन्ततिलक रस—जैसे शिवजी के नाम के साथ मकरध्वज रस सम्बद्ध है, उसी प्रकार मृत्युञ्जय महर्षि के साथ वसन्ततिलक रस। स्वर्णभस्म एक तोला, अभ्रक-

१. पलं मृदु स्वर्णदलं रसेन्द्रात्पलाष्टकं षोडश गन्धकस्य।
शोणैः सुकार्पासभवप्रसूनैः सर्वं विमर्द्याथ कुमारिकाद्भिः॥
तत्काचकुम्भे निहितं सुगाढं मृत्कर्पटैस्तद्दिवसत्रयञ्च।
पचेत् क्रमाग्नौ सिकताख्ययन्त्रे ततो रसः पल्लवरागरम्यः॥
संगृह्य चैतस्य पलं पलानि चत्वारि कर्पूररजस्तथैव।
जातीफलं सोषणमिन्द्रपुष्पं कस्तूरिकाया इह शाण एकः।
चन्द्रोदयोऽयं कथितोऽस्य वल्लो भुक्तोऽहिवल्लीदलमध्यवर्ती॥
मदोद्धतानां प्रमदाशतानां गर्वाधिकत्वं श्लथयत्यवश्यम्॥ (५।६७–७०)
इन्द्रपुष्पं लवङ्गं स्यात्कार्पासकुसुमद्रवैः।
तन्त्रान्तरे प्रसिद्धोऽयं मकरध्वजनामतः॥ (५।७६)

२. स्वर्णभागौ च वंगञ्च मौक्तिकं कान्तलौहकम्।
जातीकोषफले रूप्यं कांस्यकं रससिन्दुरम्।

भस्म दो तोला, लौहभस्म तीन तोला, पारदभस्म (रससिन्दूर) चार तोला, वंगभस्म दो तोला, मोतीभस्म दो तोला, प्रवालभस्म दो तोला, इन सबको खरल में एक साथ पीस ले। फिर इसमें गोखरू, बासा (अडूसा) और ईख का रस डाल-डालकर जंगली गोबर के कण्डे की आँच देता हुआ सात बार पकाये। फिर एक-एक तोला कपूर और कस्तूरी मिलाकर घोट ले। यह वसन्ततिलक रस हुआ।[1]

इसी प्रकार बृहत्पूर्णचन्द्र रस में पारा, गन्धक, लौहभस्म, अभ्रकभस्म, चाँदी-भस्म, वंगभस्म, स्वर्णभस्म, ताम्र और कांस्यभस्म होती है (५।५२–५६)। वसन्त-कुसुमाकर रस में स्वर्णभस्म, चाँदीभस्म, वंगभस्म, सीसाभस्म और कान्तलौहभस्म हैं (५।८२–८५)। महानीलकण्ठ रस में नागभस्म, स्वर्णभस्म, रससिन्दूर, अभ्रकभस्म और लौहभस्म हैं (५।९४–९७) और बृहत् शृंगाराभ्र में पारा, गन्धक, टंकण, स्वर्ण-भस्म अभ्रकभस्म आदि हैं। इन सभी भस्मों में धातुभस्मों के साथ-साथ सोंठ, मिर्च, पिप्पली, त्रिफला, इलायची, जायफल, लौंग आदि का भी मिश्रण बताया गया है।

निर्देश

गोपालकृष्ण भट्ट—**रसेन्द्रसारसंग्रह**—(१) नीलकंठ मिश्र कृत **रसायनी** भाषाटीका सहित, पंडित पुस्तकालय, काशी (सं० २०१० वि०)।

(२) प्रयागदत्त शास्त्री कृत **रसचन्द्रिका** टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी (सं० २००९ वि०)।

[इस ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में चिकित्सा संबंधी ५६ खण्ड हैं। उद्धरण देते समय हमने इन खण्डों की संख्या भी श्लोकसंख्या के साथ-साथ दी है।]

प्रवालं कस्तूरी चन्द्रमभ्रकञ्चैकभागिकम्।
स्वर्णसिन्दूरतो भागाश्चत्वारः कल्पयेद् बुधः॥
नातः परतरः श्रेष्ठः सर्वरोगनिषूदनः।
सर्वलोकहितार्थाय शिवेन परिकीर्तितः॥ (५।७७–७९)

१. **हेम्नो भस्मकतोलकं घनयुगं लौहात् त्रयः पारदात्,**
चत्वारो नियतन्तु वंगयुगलं चैकीकृतं मर्दयेत्।
मुक्ताविद्रुमयो रसेन समता गोक्षूरवासेक्षुणा,
सर्वं वन्यकरीषकेण सुदृढं तत्तत्पचेत्सप्तधा॥
कस्तूरीघनसारमर्दितरसः पश्चात्सुसिद्धो भवेत्।....
श्रेष्ठः पुष्टिकरो वसन्ततिलको मृत्युञ्जयेनोदितः॥ (५।८०–८१)

तेईसवाँ अध्याय

प्राणनाथ और रसप्रदीप

(सोलहवीं शती)

यह ग्रन्थ सोलहवीं शती की रचना मानी जा सकती है। कम से कम पन्द्रहवीं शती से पूर्व की तो है ही नहीं। १५३५ ई० के लगभग गोआ के पुर्तगालवासियों को फिरंग रोग की चिकित्सा में रसकर्पूर और चोबचीनी का परिचय प्राप्त हुआ। फिरंग रोग और उसके उपचार का उल्लेख सोलहवीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में नहीं पाया जाता है। रसप्रदीप में इस रोग का उल्लेख है।[1]

रसप्रदीप के रचयिता प्राणनाथ ने अपने संबंध में ग्रन्थ में कोई उल्लेख नहीं किया। प्रारम्भ में मंगलाचरण में मुकुन्द और गोविन्द के चरणों में निष्ठा प्रकट की है।[2] संपूर्ण ग्रन्थ में दो अध्याय और १५०+४६९ श्लोक हैं। हिन्दी टीका सहित इसका एक संस्करण सन् १९३८ में इटावा से प्रकाशित हुआ। टीका पं० शिवसहाय चतुर्वेदी की है। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने प्रयाग और काशी की दो हस्तलिखित प्रतियों का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में पुराने आचार्यों

१. कासे श्वासे फिरंगाख्ये रोगे च परमो हितः। (१।९४)
खादन् हरति फिरंगं व्याधिं सोपद्रवं घोरम्। (१।११७);
विहितं व्रणाभागैर्भवति सदंगैरस्ति समस्तफिरंगरुजम्। (२।२।२९३);
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा। (२।२।२९७);
गोदुग्धस्यानुपानेन फिरंगामयनाशिनी। (२।२।३००)
चोबचीनीभवं चूर्णं शणमानं समाक्षिकम्।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥ (२।२।३०६)

२ (क) श्रीमन्मुकुन्दचरणौ नत्वा तोषाय सद्भिषजाम्। (१।२)
(ख) इन्दिरानयनानन्दं गोविन्दं द्युतिमन्दिरम्। (२।१)

का अधिक उल्लेख नहीं है—रसायनवटी के संबंध में धन्वन्तरि का नाम अवश्य एक स्थल पर आया है।[1]

ग्रन्थकार ने प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में अपनी व्याख्या का क्षेत्र इस प्रकार इंगित किया है—स्वर्णादि धातु, उपधातु, रस, उपरस, जितने भी पृथ्वीतल पर हैं, एवं रत्न, उपरत्न, विष, उपविष; इनका शोधन और मारण संक्षेप से कहूँगा।[2] अन्य रसाचार्यों के समान प्राणनाथ ने भी सात धातुएँ मानी हैं—स्वर्ण, रौप्य, ताम्र, रङ्ग (राँगा), जसद (जस्ता), सीस और लोह।[3] इनमें से यदि सोना आदि धातुओं का शोधन करना हो, तो इन्हें तीन-तीन बार क्रम से तिल के तैल, तक्र (मट्ठा), गोमूत्र, काञ्जी और कुलथी के काढ़े में बुझाना चाहिए।[4]

धातुओं का मारण करना हो तो पारे का दुगुना गन्धक ले और नीबू के अम्ल-रस में घोटकर कज्जली बनाये। इसके बाद शोधी हुई धातु उस कज्जली में मिलाये और नीबू के रस के साथ घोटे। यह जब सूख जाय तो दो सकोरों के बीच में रखे। कज्जली की टिकरी के ऊपर-नीचे नमक रखे। शरावसम्पुट में गजपुट की आँच दे। इस प्रकार आठ याम में सब धातुओं की भस्में तैयार हो जायँगी।[5]

मंडूर बनाने की विधि इस प्रकार है—बहेड़े के अंगारों पर लोहे के किट्ट को सात बार तपाये और सात बार बहेड़े की कठौती में भरे गये गोमूत्र में बुझाये। इसे फिर

१. श्रीधन्वन्तरिणेयमाशु रचिता दत्ता दिवा तत्क्षणात्। (२।२।२९०)

२. स्वर्णादिधातवो ये स्युस्तथा तदुपधातवः।
रसाश्चोपरसाश्चैव यावन्तो जगतीतले॥
रत्नानि चोपरत्नानि विषाणि चोपविषाणि च।
शोधनं मारणं तेषां वक्ष्याम्यादौ समासतः॥ (१।४-५)

३. स्वर्णं रौप्यं च ताम्रं च रङ्गं जसदमेव च।
सीसं लोहं च सप्तैते धातवः कथिता बुधैः। (१।६)

४. तैले तक्रे गवां मूत्रे काञ्जिके च कुलत्थके।
त्रिधा त्रिधा विशुद्धः स्यात् स्वर्णादीनां समासतः॥ (१।७)

५. सूतस्य द्विगुणं गन्धमम्लेन कृतकज्जलम्।
द्वयोः समीकृतं धात्वोश्चूर्णमम्लेन मर्दयेत्॥
शरावसम्पुटान्तस्थमध ऊर्ध्वं च सैन्धवम्।
अष्टयामैर्भवेद् भस्म सर्वयोगेषु योजयेत्॥ (१।८–९)

पीस ले और त्रिफला के काढ़े में पकाये और चलाता जाय। तब तक आग देता जाय, जब तक लाल रंग का मंडूर तैयार न हो जाय।[1]

स्वर्णमाक्षिक, तारमाक्षिक (रौप्यमाक्षिक), तुत्थ, कांस्य, रीति (पीतल), सिन्दूर (सीसे का) और शिलाजतु ये सात उपधातुएँ हैं। इस विषय में यह वर्गीकरण अन्य आचार्यों के वर्गीकरण से भिन्न है।[2] प्राणनाथ के मतानुसार तुत्थ, सिन्दूर और शिलाजतु का केवल शोधन हो सकता है, मारण नहीं। दोनों प्रकार के ताप्यों (माक्षिकों) का एवं कांस्य और पित्तल का शोधन और मारण दोनों हो सकते हैं। काँसा और पीतल का शोधन और मारण धातुओं के शोधन और मारण के समान ही है।[3] माक्षिकों का शोधन इस प्रकार है—काँजी, नीबू का रस, गोमूत्र और जयन्ती का स्वरस एक हाँडी में भरे और फिर उसमें माक्षिक को एक मोटे कपड़े में बाँधकर ठीक प्रकार से लटका दे। इस प्रकार के दोलायंत्र में तीन दिन तक पाचन करे।[4]

१. अक्षांगारैर्धमेत् किट्टं लोहजं तद् गवां जलैः।
सेचयेदक्षपात्रान्तः सप्तवारान् पुनः पुनः॥
चूर्णयित्वा ततः क्वाथैर्द्विगुणैस्त्रिफलां भवैः।
आलोड्य भर्जयेद् वह्नौ मंडूरं जायते वरम्॥ (१।१०-११)

२. सुवर्णमाक्षिकं तद्वत्तारमाक्षिकमेव च।
तुत्थं कांस्यं च रीतिश्च सिन्दूरं च शिलाजतु।
एते सप्त समाख्याता विद्वद्भिरुपधातवः॥ (१।१२)

३. तुत्थसिन्दूरयोरत्र शिलाजतोश्च सूरिभिः॥
केवलं शोधनं प्रोक्तं मारणं न क्वचिन्मतम्।
ताप्ययोरुभयोश्चैव कांस्यपित्तलयोस्तथा।
शोधनं मारणं चापि विधेयं सूक्ष्मबुद्धिभिः॥ (१।१३।१४)

४. कांस्यपित्तलयोः शुद्धिः पूर्ववद् मारणं तथा।
ताप्ययोस्तु पृथक् शुद्धिर्मारणं तु पृथक् पृथक्॥
काञ्जिके निम्बुगोमूत्रे जयन्त्याः स्वरसे भिषक्।
सुवर्णमाक्षिकं चैव तारमाक्षिकमेव च॥
बद्ध्वा गाढाम्बरे सम्यक् दोलायन्त्रे पचेत् त्र्यहम्।
शुद्ध्यते नात्र संदेहः सर्वयोगेषु योजयेत्॥ (१।१५-१७)

स्वर्णभस्म—हम यहाँ विस्तारभय से माक्षिकों की भस्म तैयार करने की विधि नहीं दे रहे हैं और न तुत्थ अथवा सिन्दूर एवं शिलाजतु के शोधन की विधियों को। केवल सुवर्ण मारण देना ही यहाँ आवश्यक समझते हैं। सोने को गलाकर उसमें सोलहवाँ भाग सीसा मिलाये। फिर उसे पानी में बुझाकर चूर्ण करके नीबू के रस में घोटे और गोली-सी बना ले। गोली के बराबर ही गन्धक लेकर ऊपर-नीचे शराव-सम्पुट में रखकर २० उपलों की आँच दे। ऐसे सात बार आँच देने पर सोने की भस्म तैयार हो जायगी।[१]

वंगमारण—(क) वंग या राँगे को मिट्टी के पात्र में (खपड़े में) गलाये, और उसमें सुवर्चक (शोरा) मिलाये, उसे लोहे की कलछी (दर्वी) से तब तक रगड़े जब तक आग न निकलने लगे (आग निकलने पर रगड़ना बन्द कर दे और जलने दे)। जब आग निकलना बन्द हो जाय, तो फिर शोरा डाले और ऐसा कई बार करे। फिर अपने आप ठंडा होने दे। अब खुरचकर निकाल ले और पीस डाले। उसे फिर पानी में पड़ा रहने दे (हाथ से मलकर पानी में छोड़ दे)। इस प्रकार कई बार धोये। निर्मल वंगभस्म प्राप्त हो जायगी। (ख) वंगभस्म में हरताल मिलाकर और नीबू के रस में घोटकर गजपुट में पकाकर वंग की एक दूसरी भस्म तैयार करने की विधि भी कही गयी है।[२]

यशदमारण—लोहे के बने पात्र में जस्ता गलाये और जब खूब लाल हो जाय तो इसमें नीम का पत्ता छोड़ दे और लोहे के दंड से घोटे। लोहदण्ड से घिसने या घोटने पर निश्चय ही आग उठेगी, और जस्ता धीरे-धीरे भस्म होता जायगा।

१. काञ्चने गलिते नागं षोडशांशेन निक्षिपेत्।
चूर्णयित्वा तथाम्लेन घृष्ट्वा कृत्वा च गोलकम्।
गोलकेन समं गन्धं दत्वा चैवाधरोत्तरम्।
शरावसंपुटे दत्वा पचेद् विंशद् वनोत्पलैः।
एवं सप्तपुटे हेमनिरुत्थं भस्म जायते॥ (१।२७-२८)

२. (क) मृत्पात्रे द्राविते वंगे क्षिपेत्तत्र सुवर्चकाम्।
घर्षयेल्लोहदर्व्या तु यावत्तस्मात्तनूनपात्॥
निःसार्य प्रदहेत्सर्वं स्वांगशीतलमुद्धरेत्।
सुवर्चकापनोदार्थं सलिलैः स्नापयेन्मुहुः।
ततो सुनिर्मलं ग्राह्यं वंगभस्म भिषग्वरैः॥ (१।३३–३४)

जितना-जितना भस्म होता जाय और खील-सी बनती जाय, उसे पृथक् करता जाय, और शेष को बार-बार फिर रगड़ता जाय। इस प्रकार जस्ते की भस्म तैयार हो जायगी।[१]

माक्षिक भस्म—शुद्ध स्वर्णमाक्षिक में चौथाई भाग गन्धक मिलाकर अंडी के तेल में एक प्रहर घोटे, फिर टिकरी बनाकर शरावसम्पुट में रखकर गजपुट की आँच दे, तो सिन्दूर के रंग की भस्म मिलती है।[२]

पारे के विविध संस्कार और चन्द्रोदय रस—पारे में मलदोष, अग्निदोष, विष-दोष और कंचुकीदोष होते हैं, जो क्रमशः राजवृक्ष (अमलतास), चीता, अंकोल और कुमारी (घीकुंवार) के रस के साथ घोटकर दूर किये जा सकते है।[३]

इन चारों वस्तुओं के रसों में घुटे हुए पारे को डमरूयंत्र में डालकर दो प्रहर अग्नि देकर उड़ा ले। इस प्रकार पारा मर्दनसंस्कार से तो शुद्ध हो गया। अब इसे सात दिन तक विषों के काढ़े के साथ और सात दिन तक उपविषों के साथ घोटे। ऐसा करने से पारा भूखा हो जाता है और उसमें मुख उत्पन्न हो जाता है।[४]

(ख) अथ भस्मसमं तालं क्षिप्त्वाम्लेन मर्दयेत् ।
ततो गजपुटे पक्त्वा पुनरम्लेन मर्दयेत् ॥
तालेन दशमांशेन याममेकं ततः पुटेत् ।
एवं दशपुटैः पक्वं वंगं भवति मारितम् ॥ (१।३५–३६)

१. जसदं लोहजे पात्रे द्रावयित्वा पुनर्धमेत् ।
अत्यन्ततप्ते निम्बस्य पत्रमेकं विनिक्षिपेत् ॥
घर्षयेदपि लोहस्य दण्डेन भिषगुत्तमः।
घर्षणाल्लोहदण्डेन वह्निरुत्तिष्ठति ध्रुवम्॥
यथा यथा भवेद् घृष्टिर्भस्मीभावस्तथा भवेत् ।
भस्मीभूतं पृथक् कृत्वा घर्षयेत् तत् पुनः पुनः ॥ (१।३७–३९)

२. शुद्धमाक्षिकपादांशं गन्धं दत्त्वा विमर्दयेत् ।
रुबुतैलेन चक्राभं पुटेद् गजपुटेन तु ॥
शरावसम्पुटे दत्त्वा भस्म सिन्दूरसन्निभम् ॥ (१।५१)

३. राजवृक्षो मलं हन्ति पावको हन्ति पावकम् ।
अंकोलश्च विषं हन्ति कुमारी सप्तकञ्चुकान् ॥ (१।७५)

४. विषोपविषकैर्मर्द्य प्रत्येकं दिनसप्तकम् ।
तेनास्य जायते वह्निः पक्षच्छेदो मुखं तथा ॥ (१।७६)

फिर इस पारे को कंकुद, लोणिका (लोनिया), द्रौणिजल और पिप्पलिका के रसों के साथ सात दिन तक घोटे। फिर धूप में सुखाकर पारे को दोहरे मोटे कपड़े में बाँधे, और एक हाँडी में चारों रसों को भरकर दोलायंत्र की विधि से उन रसों में पारे को लटकाकर और दीपक की आँच से गरम करके पाचन करे। (यह स्वेदन हुआ)। उसके बाद शेष बचे हुए उस अर्क में उसी पारे को पोटली से खोलकर खरल करे, जब तक कि सब रस सूख न जाय। अब (डमरूयंत्र में) इसका पातन करे। यह पारे का मर्दनाख्य संस्कार हुआ। इस मर्दन से पारे में बहुत गुण उत्पन्न हो जाते हैं।[1]

फिर सेंधा नमक, सोंठ, काली मिर्च, मूली के बीज, अदरख, राई, थोड़ा-थोड़ा ले और कांजी के पानी में पीसकर चार परतवाले कपड़े में लेप कर उसी कपड़े में पारे को बाँधकर एक हाँड़ी में काँजी भरकर उस हाँडी में पारे को दोलायंत्र पर लटका दे और मन्दी-मन्दी आँच से तीन दिन तक स्वेदन करे। स्वेदन से पारे में दीपन संस्कार उत्पन्न होता है, और उससे पारा क्षुधित होता है।[2]

इसके बाद इस पारे का अनुवासन किया जाता है। एक हाँडी में नीबू का रस भरकर उसी में दीपित पारे को डालकर एक दिन तक धूप में रखा रहने देते हैं, फिर उसे निकाल लेते हैं और तौलते हैं, उस तौल के बराबर ही गन्धक लेकर घोटकर कज्जली करते हैं। फिर इस कज्जली को गूम और गंगतिरिया (द्रोणाम्बुकण) के

१. कंकुदो लोणिका द्रौणिजलं पिप्पलिका तथा।
एषां रसै रसं पश्चान्मर्दयेद् दिनसप्तकम्॥
घर्मे संशोष्य गृह्णीयात् पारदं खल्वमध्यतः।
उक्तौषधिरसैर्घस्त्रं दोलायंत्रेण पाचयेत्॥
अवशिष्टरसैः पश्चात् मर्दयेत्पातयेदपि।
मर्दनाख्यं हि यत्कर्म तत्सूते गुणकृद् भवेत्॥(१।७७–७९)

२. पुनर्विमर्दयेत् तस्मात् चतुर्दशदिनान्यमुम्।
इत्थं पातनया नपुंसकममुं यत्नेन रुद्ध्वाम्बरे,
सिन्धुत्र्यूषणमूलकार्द्रहुतभुग्राज्यादिकल्कान्विते।
भाण्डे काञ्जिकपूरिते दृढतरे नव्ये शुभे वासरे,
दोलायंत्रविधानवत् त्रिदिवसं मन्दाग्निना स्वेदयेत्।
स्वेदेन दीपितः सोऽग्नौ सार्थीभवति सूतकः॥ (१।८०–८१)

रस के साथ दो दिन घोटे। फिर इसे सुखाकर आठ दिन तक बालुकायंत्र में पकाये। फिर इसे आठ प्रहर तक आँच दे—चार प्रहर तक धीमी मन्दी आँच से और चार प्रहर तक तीव्र आँच से। इसके बाद (स्वांगशीतल हो जाने पर) पारे की चाँदी निकाल ले और उसके साथ गन्धक की जो राख चिपटी हो उसे दूर कर दे। फिर इस पारे को गूमी और गंगतिरिया दोनों के रसों के साथ एक दिन तक घोटे। फिर (बालुका-यंत्र में) चार प्रहर तक मन्दाग्नि दे, जिससे बचा हुआ गन्धक जीर्ण हो जाय।[1]

गन्धक जीर्ण हो जाने की इस प्रकार परीक्षा करे—पहले प्रहर में तो परीक्षा न करे, दूसरे और तीसरे प्रहरों में इस प्रकार परीक्षा करे। एक मज़बूत दीर्घ तृण (splinter) या लम्बी सींक शीशी की पेंदी तक डाले। यदि सींक जली हुई निकले तो शीशी को शीघ्र उतार ले और यदि पिघले गन्धक युक्त सींक निकले तो समझे कि गन्धक जीर्ण नहीं हुआ (ऐसा होने पर और आँच दे।)[2]

१. दीपितमेवं सूतं जम्भीराम्लेन धारयेत् घर्म्मे।
दिनमनुवासनमेवं नव संस्कारमिच्छति ॥
ततस्तस्माद् विनिष्कास्य पारदं तोलयेद् भिषक्।
तत्तुल्यं गन्धकं दत्त्वा कुर्यात् कज्जलिकां द्वयोः ॥
द्रोणाम्बुकणयोर्नीरे मर्द्दयेच्च दिनद्वयम्।
संशोष्य बालुकायन्त्रे यामानष्टौ ततः पचेत् ॥
मन्दमग्निं बुधः कुर्याद् अर्धयामचतुष्टयम्।
ततो यामद्वयं यावत् तीव्रमग्निं प्रयोजयेत् ॥
ततः कुर्यात् समुद्धृत्य पारदस्यास्य च क्रियाम्।
तत्पृष्ठलग्नं गन्धञ्च दूरीकृत्य विचक्षणः ॥
पुनस्तयो रसैरेनं मर्दयेदेकवासरम्।
चतुर्यामं पचेदग्नौ येन जीर्य्यति गन्धकः ॥ (१।८१-८६)

२. याममेकं परित्यज्य यामेषु त्रिषु बुद्धिमान्।
प्रतियामार्द्धकं कूप्यां क्षिप्त्वा दीर्घतृणं दृढात् ॥
गन्धस्य तेन कर्तव्यो जीर्णाजीर्णत्वनिश्चयः।
जीर्णे गन्धे विदग्धं स्यादजीर्णे गंधकान्वितम् ॥ (१।८७-८८)
जीर्णे गन्धे रसं ज्ञात्वा तोलयेत्कुशलो भिषक्।
ततो गन्धं चतुर्थांशं दत्त्वा सूतं विमर्दयेत् ॥

गन्धक जीर्ण हो जाने पर (शीशी को आँच से उतारकर और शीशी फोड़कर) पारे की चाँदी को निकाल ले और इसे तौले। तौल का चौथाई भाग गन्धक मिलाकर (गूमी–गंगतिरिया के रस के साथ) घोटे। पहले कही हुई विधि के अनुसार ही चार प्रहर तक (मन्दाग्नि द्वारा बालुका यंत्र में) पारे को पकाये। फिर इसे स्वांगशीतल होने दे। जब ठंडा हो जाय तो उतारकर (और इसमें पीसकर) एक कर्ष (धेले भर) विष का चूर्ण मिलाये और उसी प्रकार गन्धक मिलाकर गूमी और गंगतिरिया के रस के साथ घोटकर बालुकायंत्र द्वारा फिर पकाये। फिर पारे की चाँदी को निकालकर तौले। अगर यह तौल उतनी ही निकले जितनी पहले थी तो समझे कि चन्द्रोदय सिद्ध हो गया। अगर तौल अधिक निकले तो फिर गूमी और गंगतिरिया के रस में घोटकर चार प्रहर तक मन्दाग्नि दे।

स्वर्ण के योग से श्रेष्ठ चन्द्रोदय बनाना——ऊपर जिस चन्द्रोदय रस का उल्लेख किया गया है, वह साधारण चन्द्रोदय है। श्रेष्ठ चन्द्रोदय सोने के योग से तैयार होता है। २ पल सोना और ८ पल शुद्ध किया हुआ पारा घोटकर एक दिल कर ले और फिर इसमें १६ पल गन्धक मिलाकर कज्जली बनाये। इसके बाद लाल कपास के फूलों के रस के साथ एक दिन और फिर घीकुँवार के रस के साथ एक दिन घोटकर काँच की शीशी (काच कूपी) में भरे। फिर इस पर कपड़मिट्टी आदि करके यथाविधि बालुकायंत्र में तीन दिन तक आँच दे। इस प्रकार श्रेष्ठ चन्द्रोदय तैयार होता है।[1]

पूर्वोक्तविधिना मन्दं चतुर्यामं रसं पचेत् ।
स्वाङ्गशीतलमुत्तार्य विषं कर्षमितं क्षिपेत् ॥
दृढं विमर्दयेत् सूतं तयोरेव रसैर्दिनम् ।
मन्दाग्निना पचेत् पश्चात् चतुर्याममतन्द्रितः ॥
निर्मुक्तगन्धकस्तर्हि जायतेऽसौ रसेश्वरः ।
अन्तेषु तुलितः सूतः तुल्यमानो यदा भवेत् ।
तदा सिद्धः परिज्ञेयो रसश्चन्द्रोदयो बुधैः ॥ (१।८९–९२)

१. **पलद्वयं सुवर्णस्य सूतस्याष्टौ च मर्दयेत् ।**
एकीभूते च गन्धस्य पलं षोडशकं क्षिपेत् ॥
शोणकर्पासकुसुमैः कन्याद्भिर्मर्दयेत् पृथक् ।
काचकूप्याञ्च संरुध्य बालुकायंत्रगं त्र्यहम् ॥
पचेत् सिद्धो रसस्तस्य श्रेष्ठश्चन्द्रोदयाभिधः ॥ (१।९५–९७)

रसकर्पूर—पारे को जीर्ण या मूर्च्छित करने की अधिकांश विधियों में गन्धक का उपयोग होता था। पर बिना गन्धक के भी पारा मूर्च्छित हो सकता है, यह संभावना रसकर्पूर की संरचना से स्पष्ट हो गयी। रसप्रदीप में इसके बनाने की विधि इस प्रकार दी है—गेरू, खड़िया, ईट का चूरा, फिटकरी, सेंधा नमक, बाँमी की मिट्टी, खारी नमक, भाण्डरञ्जक मृत्तिका (काबिस) इन सबको पीसकर और कपड़े में छानकर सिगरफ से निकले शुद्ध पारे में मिलाकर दो प्रहर तक घोटे। उस चूर्ण सहित पारे को हाँडी के भीतर भरे। इसके ऊपर दूसरी मिट्टी की हाँडी उलटकर रखे (डमरूयंत्र)। दोनों के मुख को कुटी-पिसी मिट्टी से मूँदे। फिर सुखाये, फिर मिट्टी लगाये, फिर सुखाये। इस प्रकार बार-बार सुखाये और बन्द करे। फिर जब मुँह सम्यक् रूप से बन्द हो जाय, तो हाँडी को चूल्हे पर रखे और चार दिन तक निरन्तर आँच दे। इसके बाद अंगारों पर एक दिन-रात इस डमरूयंत्र को सावधानी से रखा रहने दे। फिर डमरूयंत्र को आग पर से उतारकर टेढ़ा रखा रहने दे और ठंडा होने पर तिरछा बेड़ा ही खोले। ऊपर की हाँड़ी में जो पारा कपूर के समान लगा हो, उसे अलग करके सुरक्षित रखे। यही रसकर्पूर है। अन्य रोगों के अतिरिक्त फिरंग रोग में भी यह उपयोगी है।[1]

१. (क) शुद्धसूतसमं कुर्यात् प्रत्येकं गैरिकं सुधीः ।
इष्टिकाः खटिकां तद्वत् स्फटिकां सिन्धुजन्म च ॥
बल्मीकं क्षारलवणं भाण्डरञ्जकमृत्तिकाम् ।
सर्वाण्येतानि संचूर्ण्य वाससा चापि शोधयेत् ॥
एभिश्चूर्णैर्युतं सूतं यावद्यामं विमर्दयेत् ।
तच्चूर्णसहितं सूतं स्थालीमध्ये परिक्षिपेत् ॥
सर्वत्र कुट्टितमृदाः मुद्रयेदुभयोर्मुखम् ।
संशोष्य मुद्रयेद् भूयो भूयः संशोष्य मुद्रयेत् ।
सम्यग् विशोष्य मुद्रां तां स्थालीं चुल्ल्यां निधारयेत् ।
अग्नि निरन्तरं दद्यात् यावद्दिनचतुष्टयम् ।
अंगारोपरि तद् यन्त्रं रक्षेद्यत्नादहर्निशम् ।
शनैरुत्पाटयेद्यन्त्रं स्थाल्या ऊर्ध्वगतं रसम् ।
कर्पूरवत् सुविमलं गृह्णीयात् पणवत्तरम् ।
तत् देवकुसुमचन्दनकस्तूरीकुंकुमैर्हितम् ॥
खातं हरति फिरंगं व्याधिं सोपद्रवं घोरम् ।

ईंट के भीतर खुदी हुई मूषा—एक पक्की ईंट लेकर उसमें चार अंगुल चौड़ा गहरा और छेद बनाये। छेद के भीतर काँच की पालिश (काच-लेप), करवा ले और उसके भीतर पारे की पिष्टि भरे। उसके ऊपर पारे के बराबर ही नीबू के रस से घुटी हुई गन्धक की पिष्टि रखे। फिर एक ईंट के टुकड़े से छेद को बन्द करके और सुखाकर पुट दे (जंगली कंडों की आग दे)। गन्धक जारण और मूर्च्छन में इसका नाम गौरपत्र है।[1]

गन्धक जारण में भूधरयंत्र—शुद्ध पारा और गन्धकचूर्ण बराबर मात्रा में ले और बन्द घरिया (निरुद्ध मूषा) में इसे रखे। फिर भूमि में गड्ढा खोदकर उसमें मूषा रखे। गड्ढे को बालू से भरकर भूमि के समतल कर दे। ऊपर से तीन दिन तक आग जलाये और फिर मूषा को बाहर निकाले। इसी प्रकार से बार-बार गन्धक जारण करे।[2]

शंखद्राव रस—यह रस नमक और शोरे के तेज़ाब का मिश्रण (acqua regia) मालूम होता है। **रसप्रदीप** ग्रन्थ में शंखद्राव का उपयोग अग्निमांद्य और अजीर्ण रोगों की चिकित्सा के लिए किया गया है। शंखद्राव रस इस प्रकार बनाया जाता है—फिटकरी, नौसादर, सफेद कलमी शोरा (सुवर्चिका), ये सब दस-दस पल ले और एक पिचु (अधेला भर) गन्धक ले। इन्हें पीसकर मिट्टी की हाँडी में भरे और हाँडी के मुख पर मिट्टी का दूसरा पात्र रखकर मिट्टी से लेप कर दे। हाँडी के ऊपर

विन्दति वह्नेर्दीप्तिं पुष्टिं वीर्यं बलं विपुलम् ॥ (१।१११–११७)

(ख) गैरिकं रसकर्पूरमुपला च पृथक् पृथक्।...
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा ॥ (२।२।२९५–२९८)

१. इष्टिकायां सुपक्वायां मूषां तां चतुरंगुलम् ।
कृत्वा काचेन संलिप्तां तस्यान्तः पिष्टिकां क्षिपेत् ॥
निम्बूरसेन गन्धोऽस्य देयो मूर्ध्नि द्विकार्षिकः ।
मुखं संरुद्ध्य शुष्कोऽथ दद्यात्तावत्पुटं ततः ।
गौरपत्रमिदं ख्यातं मूर्च्छने गन्धजारणे ॥ (१।१२७–१२८)

२. आरोटरसगन्धकचूर्णं तुल्यं निरुद्धमूषायाम् ।
भूमौगतायां क्षिप्त्वा निम्नायामप्यष्टांगुलाधस्तात् ॥
आपूर्य बालुकाभिः गर्त्तं भूमेः समीकृत्य ।
प्रज्वाल्योपरि वह्निं त्रिदिनं मूषां समुद्धृत्य ।
जीर्णे गन्धे पुनरन्यः क्षेप्योऽनया रीत्या ॥ (१।१३०–१३१)

कपरौटी करके धूप में सुखा ले। फिर ज़मीन खोदकर चूल्हा दो रुखा बनाये और उस चूल्हे पर घड़े को तिरछा रखे। फिर तिर्यक्पातन विधि से रस को चुआये।[1] इस रस का इस प्रकार सेवन करे कि दाँतों में न लगने पाये। स्पष्ट है कि यह काफ़ी तीव्र अम्ल है।

अफीम का उपयोग——अफीम का प्रवेश इस देश में कब हुआ, यह कहना कठिन है। संभवतः तेरहवीं से पंद्रहवीं शती के बीच में कहीं बाहर से अफीम यहाँ आयी होगी। यूरोपीय देशों के व्यक्ति ही इसे यहाँ लाये हैं, उन्होंने चीन और भारत में इसका प्रचार किया। अफीम के लिए इस देश का कोई विशेष नाम नहीं था। अफीम, अफ़यून या ओपियम शब्दों के ध्वनिसाम्य पर एक शब्द "अहिफेन" का इस द्रव्य के लिए साहित्य में प्रयोग आरम्भ हुआ। **रसप्रदीप** में इसे "अहेःगरलम्" (साँप का विष), या "अहिफेनम्" कहा गया है। अफीम की सहायता से ब्रह्मास्त्र रस (जिसमें पारे की भस्म, गन्धक, अफ़ीम, विष, मिर्च, और वाराह, मोर एवं भैंसे के पित्त का उपयोग किया गया है और जो उदररोग और सब शूलों में लाभकर है), गंगाधर रस (जिसमें मुस्त-मोथा, मोचरस, लोध्र, धान्यक, बिल्व और कुटज के साथ अफ़ीम, पारा और गन्धक हैं तथा जो अतिसार और संग्रहणी रोग के लिए है) और समीरगजकेशरी रस (जिसमें कुचला और मिर्च के साथ अफीम है और जो वातव्याधि, विसूचिका, अपस्मार आदि रोगों में लाभकर है) में अफीम का व्यवहार किया गया है।[2]

निर्देश

प्राणनाथ——**रसप्रदीप**, शिवसहाय चतुर्वेदी कृत भाषाटीका सहित, आयुर्वेदिक फार्मेसी, इटावा (१९३८)।

१. **स्फटिका नवसारश्च सुश्वेता च सुवर्चिका ।**
पृथक्दशपलोन्मानं गन्धकः पिचुसंमितः ॥
चूर्णयित्वा क्षिपेद्भाण्डे मृण्मये मृद्विलेपिते ।
तन्मुखं मुद्रयेत्सम्यक् मृद्भाण्डे चापरेण च ॥
सरंध्रोदरचुल्लयां तु तिर्यक् भाण्डौ च धारयेत् ।
अधः प्रज्वालयेद् वह्निं सम्यग्यावद्रसः स्रवेत् ॥
शाणैकं सेवयेद् यत्नाद् दंतस्पर्शविवर्जितः । (२।२।२९–३२)

२. **(क) भस्मसूतं त्रिगंधं च तत्समं गरलं त्वहेः । (२।१।३७)**
(ख) अहिफेनं रसं गन्धं सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् । (२।१।८२)
(ग) नवाहिफेनं कुचिलं नवानि मरिचानि च । (२।२।१२१)

चौबीसवाँ अध्याय

सुवर्णतन्त्र और धातुरत्नमाला

(सोलहवीं शती के बाद)

आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ में **स्वर्णतन्त्र** या **सुवर्णतन्त्र** का उल्लेख किया है, और परिशिष्ट के रूप में इस ग्रन्थ से कुछ उद्धरण दिये हैं। इस ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया गया है, एक वाराणसी की और दूसरी रमना-काली मठ, ढाका की।

इस ग्रन्थ में राम और शिव का संवाद है। राम कहते हैं कि हे महादेव! ऐसी रसायनविद्या संबंधी सिद्धि का मुझे उपदेश कीजिए, जिसके साधनमात्र से मनुष्य स्वराट् के तुल्य हो जाता है। आपने मुझे रत्नतन्त्र, पारद, अष्टधातु, धातुयोग आदि का तो उपदेश किया, पर अभी तक स्वर्णतन्त्र का मेरे प्रति आपने प्रकाशन नहीं किया। इसका उपदेश मुझे आप अब करें।[1]

इन वाक्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि **सुवर्णतन्त्र** के रचयिता ने इस ग्रन्थ की रचना से पूर्व **रत्नतंत्र, पारद, धातुयोग** आदि विषयक ग्रन्थों की भी रचना की थी।

राम के पूछने पर शिव ने कहा कि अब मैं तुम्हें स्वर्णतन्त्र संबंधी गूढ़ रहस्य का उपदेश करता हूँ। पहले तो तुम स्वर्णतन्त्र के आद्यकल्प को सुनो। तैलकन्द नाम का

१. श्रीराम उवाच—

देवदेव महादेव ऋद्धिबुद्धिफलप्रद। पूर्वं संसूचिता ऋद्धीः रसायनपरापराः ॥१॥
यस्याः साधनमात्रेण स्वराट्तुल्यो नरो भवेत्।
तां सिद्धिं वद मे देव यदि त्वं भक्तवत्सलः ॥२॥
पूर्वं तु कथितं देव रत्नतंत्रं त्वया मम। गुटिकाः कथिताः पूर्वं सहस्रद्वितयं शिव ॥३॥
पारदाः कथिताः पूर्वं षट्शतं मृतिरूपकाः। धातूनामष्टकल्पास्तु पूर्वमेव प्रकाशिताः॥४॥
धातुयोगाख्यकल्पस्तु पूर्वमेव प्रकाशितः।
रत्नानां करणे तंत्रं पूर्वमेव प्रकाशितम् ॥५॥
किन्तु स्वर्णाख्यतन्त्रं तु न मह्यं कथितं प्रभो।

एक बड़ा प्रसिद्ध कन्द है। यह भी कमलकन्द के समान है और इसके पत्ते भी कमल के पत्ते जैसे हैं। इस कन्द में से सदा तेल चूता रहता है। दस हाथ की दूरी तक पानी में यह तेल फैला रहता है। इस तेल के नीचे एक महाविषधर साँप रहता है जो कन्द की छाया को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाता।

इस कन्द की परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है कि इसमें यदि कोई सूई प्रविष्ट करायी जाय, तो सूई उसमें तत्क्षण घुल जाती है।

इस कन्द को ले आओ और तीन बार शुद्ध पारे के साथ इसे खरल में पीसो, फिर इसमें ऊपर बताया गया तेल मिला दो। फिर मूषा में रखकर बाँस के कोयलों की आग में तपाओ। ऐसा करने से पारा मर जाता है और उसमें लक्षवेधी गुण आ जाते हैं (अर्थात् किसी साधारण धातु के एक लाख भाग में यदि इस मरे हुए पारे का एक भाग मिला दिया जाय, तो वह सबका सब सोना बन जायगा)। इसके भक्षण से नींद और भूख दोनों पर विजय प्राप्त हो जायगी।[1]

कश्यपेन महेशानाभ्यर्दितोऽस्मि महेश्वर ॥६॥
भूमिदानं मया दत्तम् ऋषये कश्यपाय वै ।
कश्यपेन मयि प्रोक्तं भूमिभागं त्यज प्रभो ॥७॥
स्थानार्थं तु महेशान रक्ताब्धिः प्रार्थितो मया ।
बाणमात्रं स्थलं तेन दत्तं मम महेश्वर ॥८॥
स्थानं प्राप्तं महेशान भक्षणं मम नास्ति वै ।
भक्षणं देहि मे देव यदि पुत्रोऽस्मि शङ्कर ॥९॥

१. ईश्वर उवाच--
श‍ृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यातिरहस्यकम् ।
स्वर्णतन्त्राभिधं तन्त्रं कल्परूपेण कथ्यते ॥१०॥
तत्राद्यं स्वर्णतन्त्रस्य कल्पं श‍ृणु सुपुत्रक ।
तैलकन्दाभिधः कन्दः सिद्धकन्दः प्रकीर्तितः ॥११॥
कन्दः कमलवत्तस्य पत्राणि कञ्जवच्छिशोः ।
तथैव तु महत्पत्रं तैलं स्रवति सर्वदा ॥१२॥
जलमध्ये सदा पुत्र त्वार्द्र एव प्रतिष्ठते ।
विषकन्देति विख्यातो विषाच्च कायनाशनम् ॥१३॥
तैलस्रावी महाकन्दः परितस्तैलवज्जलम् ।
दशहस्तमिते देशे सरते तैलवज्जलम् ॥१४॥

शुद्ध हरताल (orpiment) लेकर उस कन्दतैल के साथ बीस दिन तक खरल में पीसे, तो वह हरताल मर जायगी और निश्चयपूर्वक निर्धूम हो जायगी (गरम करने पर उड़ेगी नहीं)। इसे फिर आग में डाल दे। आठों धातुओं में किसी को भी गला लिया जाय और उस गलित धातु में यह मारी हुई हरताल मिलायी जाय, तो वह सर्ववेधी का कार्य करेगी, अर्थात् उस धातु को मूल्यवान् धातुओं में परिणत कर देगी। उक्त तेल को गले हुए ताँबे में मिलायें, तो वह तत्क्षण दिव्य सोना बन जायगा, और यदि राँगे या काँसे में मिलायें तो वह चाँदी बन जायगा। ताँबे, लोहे, पीतल और चाँदी में मिलायें, तो तत्क्षण ये पदार्थ सोना बन जायँगे।[1]

शंखद्राव—शंखद्राव को साधारणतया शोरे के तेजाब और नमक के तेजाब का

महाविषधरः पुत्र तदधो वसति ध्रुवम् ।
कन्दाधः कन्दच्छायायां नान्यत्र गच्छति प्रिय ! ॥१५॥
तत्परीक्षाविधानार्थं कन्दे सूचीं प्रवेशयेत् ।
सूचीद्रावः क्षणात् पुत्र तत्कन्दन्तु समाहरेत् ॥१६॥
तत्कन्दं तु समादाय शुद्धसूतं खलेत् त्रिधा ।
मूषायां निक्षिपेत् तन्तु तत्तैलं तत्र निक्षिपेत् ॥१७॥
दीप्ताग्नि तु महाराम वंशांगारेण धापयेत् ।
तत् क्षणान्मृतिमायाति लक्षवेधी भवेत् सुत ॥१८॥
ततश्च भक्षयेद् राम क्षुन्निद्राहारको ध्रुवम् ॥

१. तालं शुद्धं समानीय तत्तैलेन खलेत् सुत ॥१९॥
सप्तधा प्रत्यहं राम त्वेवं विंशद्दिनं ध्रुवम् ।
हरितालो मृतिमेति निर्धूमो जायते ध्रुवम् ॥२०॥
अग्नौ पुत्र ततो दद्यान्निर्धूमो जायते सुत ।
तत्तालं चाष्ठधातौ तु दद्याद् द्रावे कृते सति ॥२१॥
सर्ववेधी भवेदेव शतविद्धो भवेत् सुत ॥
तत्तैलं तु समादाय ताम्रद्रावे विनिक्षिपेत् ॥२२॥
तत्क्षणात्ताम्रवेधः स्याद् दिव्यं भवति काञ्चनम् ।
वङ्गे कांस्ये यदा दद्यात् तदा रौप्यं भवेद् सुत ॥२३॥
ताम्रे लौहे तथा रीत्यां तारे खर्परसूतके ।
तत्क्षणाद् वेधमायाति दिव्यं भवति काञ्चनम् ॥२४॥

मिश्रण (acqua regia) या अम्लराज माना जा सकता है। सुवर्णतन्त्र में पाँच प्रकार के द्रावरस बताये गये हैं—लौहद्राव, ताम्रद्राव, शंखद्राव, हृन्ताल और दन्तद्राव। लौहद्राव में यदि लोहे की सूई छोड़ दी जाय तो वह तत्क्षण गल जायगी। इसी प्रकार ताम्रद्राव में ताँबे की सुई एक घड़ी में गल जायगी। शंखद्राव में शंख की शलाका चार घड़ी में गल जायगी। हृन्ताल यदि दाँत के नीचे आ जाय तो दाँत खट्टे पड़ जायँगे, और यदि दाँतों के नीचे दन्तद्राव आ जाय, तो दाँत गल जायँगे।[1]

वज्रमूषा में यदि पारा और लौह-सूचीद्राव रस लिया जाय और आग में सावधानी से तपाया जाय, तो ऐसा करने से पारा मर जायगा। इस मरे हुए पारे को आठ धातुओं में से किसी भी धातु में मिलायें, तो वह धातु सोना बन जायगी (काञ्चनता को प्राप्त हो जायगी)। इस मरे हुए पारे को खाया जाय, तो अमरत्व प्राप्त हो जायगा। जिस व्यक्ति ने इस पारे को खाया है, उसके मल-मूत्र से भी ताँबा सोने में परिणत हो सकता है।[2]

१. शंखद्रावस्य भेदान् हि तत्कल्पान् शृणु साम्प्रतम् ।
लौहद्रावस्तथा ताम्रद्रावश्चैव द्वितीयकः ॥
शंखद्रावस्तृतीयः स्याद् हृन्तालश्च (?) चतुर्थकः ।
दन्तद्रावः पञ्चमः स्याद् अम्लवेधी तु मध्यमः ॥
पञ्चानां तु परीक्षा वै कथ्यते शृणु साम्प्रतम् ।
लौहसूचीं समादाय लौहद्रावे विनिक्षिपेत् ॥
तत्क्षणाद् द्रवतां याति सा सूची नात्र संशयः ।
ताम्रद्रावे तथा सूचीं सन्धिभेदीं विनिक्षिपेत् ॥
सूचीद्रावो याममात्राद् भवत्येव न संशयः ।
शंखद्रावे शंखसूची चतुर्यामेन संद्रवेत् ॥
हृन्तालोऽधो यदा गच्छेद् दन्ताश्चाम्ला भवन्ति हि ।
दन्तद्रावोऽप्यधो गच्छेद् दन्तद्रावो भविष्यति ॥ (१–६)

२. एवं परीक्षां कृत्वादौ प्रयोगानारभेद् ध्रुवम् ।
वज्रमूषां ततः कृत्वा शुद्धसूतं विनिक्षिपेत् ॥
लौहसूचीद्रावरसं तत्र यत्नेन निक्षिपेत्।
तत्राग्निं दापयेद् यत्नात् पुनस्तत्र रसं क्षिपेत्॥
स सूतो मृततामेति नात्र कार्या विचारणा ।
अष्टधातुषु तं सूतं दत्त्वा काञ्चनतां व्रजेत् ॥
तं सूतं भक्षयेद् यो हि सोऽमरत्वमवाप्नुयात् ।

देवदत्त और धातुरत्नमाला

देवदत्त-कृत **धातुरत्नमाला** चौदहवीं शती के लगभग की एक छोटी-सी रचना है। यह ग्रन्थ किसी वैद्यक शास्त्र अथवा अश्विनीकुमारसंहिता का एक अंश है, ऐसी संभावना प्रतीत होती है। ग्रन्थ के अन्त में जो "इति-वाक्य" है उससे इसकी पुष्टि होती है।[1] देवदत्त गुजराती वैद्य थे।

धातुरत्नमाला ग्रन्थ के आरंभ के आठ श्लोक ऑफरेक्ट (Aufrecht) ने अपने केटेलॉग (Catalogue) में दिये हैं, उन्हें ही कुछ पाठान्तर से आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इन श्लोकों में से पहले दो श्लोक तो मंगलाचरण के हैं। फिर दो श्लोकों में धातुओं और उपधातुओं की गणना की गयी है। धातु ये हैं— रौप्य (चाँदी), हेम (सोना), ताम्र (ताँबा), नाग (सीसा), वंग (राँगा), आयस (लोहा) और खर्पर (जस्ता)। उपधातु हैं—अभ्रक, मौक्त (मोती), प्रवाल (मूँगा), तालक (हरिताल), शिला (मनःशिला) और सुवर्णमाक्षिक; इनके अतिरिक्त सूत (पारा) और हीरा। इन धातु-उपधातुओं के लक्षण, मारण, गुण आदि का विवरण बतलाना इस ग्रन्थ का उद्देश्य प्रतीत होता है।[2] इस सूची में उल्लेखनीय बात यह

तस्य मूत्रपुरीषेषु शुल्वं भवति काञ्चनम् ॥
ताम्रद्रावप्रयोगं वै शृणु यत्नेन साम्प्रतम् ।
तद्रसं तु समादाय शुद्धताम्रे विनिक्षिपेत् ॥
तत्ताम्रं स्वर्णतां याति भैरवस्य प्रसादतः ॥

१. इति श्रीवैद्यकशास्त्रे अश्विनीकुमारसंहितायां धातुरत्नमालायां समाप्तोऽयं ग्रन्थः।
आफ्रेक्ट के केटेलाग सं. ७६० में पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—
ग्रन्थो वैद्य(क)नामायं रससिद्धान्तसागरात् ।
धातूनां रत्नमाला च कृता वैद्यसुहेतवे ॥
मरणेभ्यो भयत्रस्ता रोगग्रस्ताश्च ये नराः ।
रत्नमाला हि धातूनां कृता तेषां हिताय वै ॥
जात्या गुर्जरखण्डश्च देवदत्तो हि धर्मवित्। हरेर्नामाभिधानस्य सुतस्तस्य भिषग्वरः।
संहितारसनिर्माणे यस्य बुद्धिर्गरीयसी। तेन शास्त्रविधिज्ञेन कृता रत्नस्य मालिका॥
इति देवदत्तकृतवैद्यकशास्त्रे धातुरत्नमाला ॥

२. प्रारम्भ—
प्रणम्य विततीं शक्तिं त्रिसृष्ट्युत्पत्तिकारिणीम् ।

है कि खर्पर शब्द का प्रयोग जस्ता (यशद) के लिए हुआ है, यद्यपि अन्य ग्रन्थों में खर्पर (calamine) एक खनिज है।

चाँदी के शोधन में सीसे का प्रयोग इस देश की पुरानी प्रथा रही है। चाँदी के मारण के संबंध में चार श्लोकों के भाव ये हैं—शुद्ध चाँदी ले और सीसे की सहायता से इसे और शुद्ध कर ले। फिर शुद्ध चाँदी के पत्र बनाये। इन पत्रों को निंब, इमली और द्राक्षा के रस के साथ अलग अलग शोधे। फिर पानी से और बाद को दूध से धोये। तब गन्धक और पारा दोनों मिलाकर उनसे और कुछ राँगा मिलाकर उससे रगड़े। फिर द्राक्षा के रस से चाँदी के पत्रों का शोधन करे। फिर चक्रयंत्र में छोड़े और कपड़मिट्टी से लेप कर गड्ढे में गजपुट से तपाये। इस प्रकार करने से चाँदी का मारण होता है।[1]

निर्देश

पी० राय—**हिस्ट्री आव् केमिस्ट्री इन एन्शेण्ट एण्ड मेडीवल इंडिया** (प्रफुल्लचन्द्र राय की **हिन्दू केमिस्ट्री** का संशोधित संस्करण), इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)।

धातूनां रत्नमालायामभिधानं करोम्यहम् ॥१॥
ब्रह्मविष्णु हराद्यान् ये मर्त्या ध्यायन्ति नित्यशः ।
ज्ञानदानप्रदानाय सा मे विश्वेश्वरी मता ॥२॥
अथ धातूनां रत्नमालां वक्ष्यामि—
रौप्यं हेम तथा ताम्रं नागं वंगं तथायसम् ।
खर्पराभ्रकमौक्तं च प्रवालं तालकं शिला ॥३॥

१. अथ रौप्यमारणम्—
रौप्यं शुद्धं समादाय नागेन गुरु शोधयेत् ।
शुद्धे तारे पुनः पश्चात् सूक्ष्मपत्राणि कारयेत् ॥५॥
निर्बाचिंचिणिद्राक्षाभिः शोधयेच्च पृथक् पृथक् ।
क्षालयेदुदकैः सार्द्धं तथा दुग्धेन शोधयेत् ॥६॥
गन्धपारदयोरैक्यं किंचिद् वंगं च घर्षयेत् ।
द्राक्षाया द्रवसंयुक्तं तारपत्राणि शोधयेत् ॥७॥
चक्रयन्त्रे विनिक्षिप्य लेपयेद् वस्त्रमृत्तिकाम् ।
क्षिपेद् गजपुटे गर्ते ज्वालयेद् बहु छाणकान् ॥८॥

पच्चीसवाँ अध्याय

रससंकेतकलिका और कायस्थ चामुण्ड

(अनिश्चित काल—सोलहवीं या सत्रहवीं शती)

चामुण्ड अपने समय के प्रसिद्ध वैद्य और निगम कायस्थ थे।[1] ये किस समय पैदा हुए और कहाँ इनका निवासस्थान था, यह कहना कठिन है। इनकी रचना **रससंकेतकलिका** की दो प्रतियाँ मिलती हैं—(१) मण्डी (हिमांचल) के निवासी पं० विद्यासागर शर्मा के पास और (२) पूना के डेक्कन कालेज के पुस्तकालय में। इन प्रतियों की सहायता से सन् १९१२ में वैद्य यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य ने आयुर्वेद-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया। सम्पूर्ण पुस्तक में पाँच उल्लास हैं, जिनमें क्रमशः ४९, ६५, १६, १२९ और ४० श्लोक हैं।

इसके पहले उल्लास में पारद की उत्पत्ति कही गयी है, जिसमें इसे शम्भु का अंश बतलाया है। पारे के कई भेद हैं—श्वेत, अरुण, पीत, कृष्ण, विप्र आदि।[2] इसके पाँच नैसर्गिक और सात कंचुक दोष हैं। पाँच नैसर्गिक दोष मलादि हैं, और भूमिज आदि सात कंचुकदोष हैं।[3] इसके १८ संस्कार होते हैं। पारे के शोधन के लिए इसे चार परतवाले कपड़े में छानना, फिर तप्त खल्व में मर्दन करना, तब व्योष, अम्ल और लवणों के साथ मर्दन करना बताया है। हिंगुल के तीन बार ऊर्ध्वपातन से शुद्ध पारा प्राप्त होता है।[4]

१. (क) **शिवं नत्वा रसेशं चामुण्डः कायस्थवंशभूः।**
करोति रससंकेतकलिकामिष्टसिद्धिदाम् ॥१॥
(ख) **इति नैगमज्ञातीयकायस्थचामुण्डकृतायां रससंकेतकलिकायां पंचमोल्लासः (ग्रन्थ का 'इति-वाक्य')**

२. **श्वेतारुणहरिद्राभकृष्णा विप्रादिपारदाः। (१।४)**

३. **तेषु नैसर्गिका दोषाः पञ्च सप्ताथ कञ्चुकाः।**
मलाद्याः पञ्च दोषाः स्युर्भूजाद्याः सप्त कञ्चुकाः॥ (१।५-६)

४. (क) **वस्त्रे चतुर्गुणे पूतः सूतः स्थाप्यः शुभेऽहनि।**
लोहार्काश्मादिखल्वे तु तप्तेष्वेव तु मर्दयेत्॥ (१।९)

गन्धक की सहायता से पारे के जारण की विधियाँ दी हुई हैं। गन्धक और पारे को खरल में कूटकर भी जारण किया जा सकता है, अथवा लोहसंपुट में रखकर भूधर-यन्त्र द्वारा गन्धक-जारण किया जा सकता है।[1] पारे की भस्म दो प्रकार की बतलायी है—ऊर्ध्वग और तलभस्म।[2] इस प्रकार का भेद अन्य ग्रन्थ में कदाचित् ही मिलेगा।

ऊर्ध्व भस्म की विधि सोलह अंगुल के घेरे के दो कटोरों बीच में की जाती है। दोनों कटोरों के बीच की सन्धियों को कपड़-मिट्टी से कपरौटी करके बन्द किया जाता है। कटोरों में लवण और पारा रखते हैं। तीन द्वारों के चूल्हे पर चार याम तक तीव्र अग्नि देते हैं, फिर कटोरों को अपने आप ठंडा होने देते हैं और खोलकर लवण को अलग कर देते हैं। उड़कर जो पारा कटोरे के ऊपर लग जाता है, उसे फिर सम्पुट में रखकर तेज़ आँच पर पहले की ही तरह गरम करते हैं, और फिर पानी में छोड़ते हैं। इस प्रक्रिया को कई बार दोहराते हैं। अन्त में ऊपर के कटोरे में जो पदार्थ लगा हुआ मिल जाता है, वह पारे की ऊर्ध्व भस्म है (यह पारे का क्लोराइड है जो नमक और पारे के योग से तैयार होता)।[3]

(ख) त्रिधोर्ध्वपातनात् पात्यः पादांशार्कयुतः शुचिः ।
हिंगुलादुद्धृतः सूतो भवेद्वा दोषवर्जितः ॥ (१।११)

१. सूतं गन्धं रसैकांशं स्तोकं स्तोकं तु खल्वगम् ।
कुट्टनात् कुट्टनात् पिण्डं भवेद् वा ताम्रपात्रगम् ॥
तत्तुल्यं गन्धकं दत्त्वा रुद्ध्वा तं लोहसंपुटे ।
पुटेद् भूधरयन्त्रे च यावज्जीर्यति गन्धकम् ॥
एवं पुनः पुनर्देयं षड्गुणं गन्धचूर्णकम् ।
षड्गुणे गन्धके जीर्णे रसो निखिलरोगहा ॥ (१।१३–१५)

२. सूतभस्म द्विधाज्ञेयमूर्ध्वगं तलभस्म च (१।१८)

३. ऊर्ध्वभस्मकरं यन्त्रं स्थालिकासंपुटं शृणु ।
कार्यं स्थालीद्वयं मध्ये सर्वतः षोडशांगुलम् ।
लवणेनैषदार्द्रेणाऽऽ पूर्य स्थालीमधोगताम् ॥
सन्धिं वस्त्रमृदा लिम्पेत् सम्पुटीकृत्य चान्यया ।
त्रिद्वारचुल्लके स्थाप्य चतुर्यामं दृढाग्निना ॥
पचेत्तत्स्वाङ्गशीतं चेदुद्धृत्य लवणं त्यजेत् ।
लावणी मूर्ध्वगां कृत्वा क्षेप्योऽन्यस्यां रसेश्वरः ॥

तलभस्म बनाने के लिए गन्धक, धूमसार और पारा बराबर-बराबर मात्रा में लेते हैं, इन तीनों को खरल में पीसकर काँच की कूपी में भरते हैं। कूपी को बन्द करके बालुका-यंत्र पर १२ याम तक गरम करते हैं। फिर इसे अपने आप ठंडा होने देते हैं। कूपी को फोड़कर ऊपर का गन्धक तो हटा देते हैं और नीचे तल में से पारे की भस्म प्राप्त कर लेते हैं।[१]

पारे की विविध रंग की भस्में—ओषधियों के संयोग से पारे के रंगों का विपर्यय हो जाता है और लाल, पीली, काली, नीली, पाण्डु एवं अरुण रंग की भस्में तैयार होती हैं।[२]

रक्त भस्म—यह चपला और निर्गुण्डीरस की क्रिया से बनायी जा सकती है, और अनार के फूल के समान रंग की होती है।

पीत भस्म—भूधात्री (भू-आमलक) और हस्तिशुण्डी के साथ पारे और गन्धक को पीसकर काच-कूपी में चार याम तक पकाने पर बनती है।

कृष्ण भस्म—पारे और गन्धक को कुमारी (घीकुँआर) के रस के साथ मर्दन करने पर बनती है।

पूर्ववत् सम्पुटीकृत्य पश्चात्तु चुल्लके न्यसेत् ।
दृढं कृत्वाऽऽलवालं तु जलं तत्र विनिक्षिपेत् ।
उष्णं पुनः पुनस्त्यक्त्वा क्षिपेच्छीतं मुहुर्मुहुः ।
त्रिद्वारे काष्ठमेकैकं दीर्घं हस्तमितं क्षिपेत् ।।
हस्तवर्त्पिण्डमानं तु ह्यादौ प्रज्वालयेत्सुधीः ।
द्वे द्वे काष्ठे च तस्योर्ध्वं तदूर्ध्वं त्रितयं क्षिपेत् ।।
यावद्यामद्वयं पश्चादङ्गारांश्च जलं त्यजेत् ।
ऊर्ध्वस्थाल्यां तु यल्लग्नं तदूर्ध्वं भस्म सिद्धिदम् ।। (१।१८–२५)

१. गन्धकं धूमसारं च शुद्धसूतं समं त्रयम् ।
यामैकं चूर्णयेत् खल्वे काचकूप्यां विनिक्षिपेत् ।।
रुद्ध्वा द्वादशयामं तद् वालुका यन्त्रगं पचेत् ।
स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं च तदूर्ध्वं गन्धकं त्यजेत् ।।
तले भस्मनिभं योगवाहि स्यात् सर्वरोगहृत् (१।२६–२८)

२. औषधान्तरसंयोगाद् वक्ष्ये वर्णविपर्ययम् ।
रक्तं पीतं तथा कृष्णं नीलं च पाण्डुरारुणम् ।। (१।२८–२९)

नील भस्म—यह रसक और वाराहीकन्द के सम्पर्क से बनती है।

पाटल भस्म—यह कूपी में लवण से मिली हुई बच रहती है। इसका रंग पाण्डु और अरुण मिश्रित होता है।[1]

सोना और चाँदी का मारण—कांचनार (कचनार) के रस में सात बार भावित करने से सोना शोधित होता है। ऐसे गलित स्वर्ण में सोलहवाँ भाग सीसा मिलाकर अम्ल के साथ मर्दन करे, फिर उसकी गोली बना ले, तब इसके ऊपर और नीचे उतनी ही बड़ी गन्धक की गोली रखे और शरावसम्पुट में रखकर ३०० आरने उपलों की आग में सात बार तपाये, तो सोने की भस्म तैयार होती है।[2]

चाँदी श्वेत अगस्त के रस में स्वर्ण के समान ही शुद्ध हो जाती है। इसका मारण करना हो तो गन्धक, अम्ल, सीसा और रांगा का प्रयोग करे।[3]

इसी प्रकार गन्धक आदि के योग से **रससंकेतकलिका** में ताम्र, वङ्ग, नाग और लोह के शोधन-मारण की विधियाँ दी हैं। मृत लोह को फिर से अमृत बनाने का भी उल्लेख है।[4]

१. निर्गुण्डीरससंयुक्तं चपलेन समन्वितम्।
रक्तवर्णं भवेद् भस्म दाडिमीकुसुमोपमम्॥
भूधात्रीहस्तिशुण्डीभ्यां रसं गन्धं च मर्दयेत्।
काचकूप्यां चतुर्यामं पक्वः पीतो भवेद् रसः॥
सूतं गन्धकसंयुक्तं कुमारीरसमर्दितम्।
कृष्णवर्णं भवेद् भस्म देवानामपि दुर्लभम्॥
वाराहीकन्दसंयुक्तं रसकेन समन्वितम्॥······
लवणान्त र्विलिप्तायां कूप्यां स्यात्पाण्डुरारुणम्॥ (१।२९–३३)

२. सुवर्णं सप्तशो ढाल्यं काञ्चनाररसे शुचिः।
सुवर्णे गलिते नागं प्रक्षिपेत् षोडशांशकम्॥
अम्लेन मर्दयित्वा तु कृत्वा तस्य च गोलकम्।
गन्धकं गोलकसमं विनिक्षिप्याधरोत्तरम्॥
शरावसंपुटे कृत्वा सन्निरुध्य प्रतापयेत्।
त्रिंशद्वनोत्पलैरग्नौ सप्तैवं भस्मतां व्रजेत्॥ (२।६–८)

३. श्वेतागस्तिरसे रूप्यं स्वर्णवच्छुचि मारणम्।
गन्धकाम्लकसंयोगान्नागं हित्वा क्षिपेत् त्रपु॥ (२।११)

४. वराक्वाथेऽष्टशेषे तु तत्तुल्यं घृतपायसम्।
सिता लोहमिता ताम्रे पक्त्वा चामृतवद् भवेत्॥ (२।४७)

स्वर्ण आदि सभी लोहों (धातुओं) के किट्टों का भी उल्लेख है। खर्पर मारण, कांस्य, पीतल, अभ्रक आदि मारण और शोधन, एवं इसी प्रकार की अन्य क्रियाएँ लिखी हैं। इन क्रियाओं में खल्व में मर्दन करना, अनेक वनस्पतियों के रस में मर्दन करना, फिर गोलक या पिण्ड बना लेना, शरावपुट में रखना, सन्धियों पर कपड़-मिट्टी कर देना, काँच की कूपी में बन्द करके गरम करना, गजपुट में आग देना आदि का उपयोग अनेक स्थलों पर किया गया है ।

अहिफेन या अफीम—इस ग्रन्थ में अहिफेन या अफीम का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि यह रचना काफ़ी बाद की है। देवता और असुरों द्वारा सागर का मन्थन करने पर अमृत निकला, जिसका पान देवताओं ने किया। धन्वन्तरि के हाथ से अमृत पृथिवी पर गिर पड़ा। इसे सर्प चाटने लगे, तो उनकी जीभ बीच से चिरकर दो हो गयीं, और उनकी जिह्वा से जो रस बहा, उससे जो ओषधि उत्पन्न हुई वह अफीम कहलायी। यह चार प्रकार के फूलों की होती है—सफेद, लाल, पीले और काले।[1]

अनेक रस—पुस्तक के चतुर्थ उल्लास में अनेक रसों का विवरण दिया गया है—विषम ज्वर-नाशक शीतभञ्जी रस, सन्निपात ज्वर के लिए चैतन्यभैरव और लघुसूचिकाभरण रस, संग्रहणी के लिए अर्कलोकेश्वर रस, राजयक्ष्मा के लिए राजमृगांक रस, उदररोग के लिए उदरध्वान्तभास्कर, श्वित्र के लिए श्वेतकुष्ठारि रस, कुष्ठ के लिए रक्तारि रस, वातरोग के लिए स्वच्छन्दभैरव रस, उन्माद और अपस्मार के लिए उन्मादगज-केसरी रस, मन्दाग्नि के लिए बडवानल रस, अग्निकुमार रस, गुल्मादि के लिए शंखद्राव रस, धातुक्षय के लिए हरगौरीरस और हरगौरीकामदेव मृत्युञ्जय रस, प्रमेह के लिए कामद रस, सन्तान उत्पत्ति के लिए पुत्र-प्रद रस, नेत्ररोग के लिए दिव्यदृष्टिकर रस, सन्निपातादि के लिए संज्ञाप्रबोधन रस आदि अनेक रसों का उल्लेख है।

इन रसों में पारद, रसक, ताल, गन्धक, टंकण, मनःशिला, हिंगुल, शंख, वराटी

१. पुरा देवैश्च दैत्यैश्च मथितो रत्नसागरः।
तस्मादमृतमुत्पन्नं देवैः पीतं न दानवैः ।।
तदा धन्वन्तरिकरादमृतं पतितं भुवि ।
तस्मिन् सर्पैर्लेह्यमाने दर्भैर्जिह्वा द्विधा कृता ।।
जिह्वासृग् विषसंभूता सिद्धमूली महौषधिः ।
सा चतुर्धा सिता रक्ता पीता कृष्णा प्रसूनकैः ।। (३।१३–१५)

(कौड़ी), कपर्द, शिलाजतु, लोहरज, शुल्व, नेपालक, चाँदी, सोना, ताप्य, लवण, फिट्करी, कज्जली, नाग, अञ्जन, तुत्थ आदि के उपयोगों का वर्णन है।

"फिट्करीम्" (alum), "सोरम्" (शोरा, nitre) और "सादर" (नौसादर) शब्दों का प्रयोग (४।८३) उल्लेखनीय है। स्पष्टतया ये मुसलमानी समय के शब्द हैं। इस ग्रन्थ की रचना **रसप्रदीप** के बाद की स्पष्ट है।

शंखद्राव रस—गुल्मादि की चिकित्सा के लिए शंखद्राव रस उपयोगी बताया गया है। **रसप्रदीप** ग्रन्थ में शंखद्राव रस बनाने का जो विवरण दिया है, उससे कुछ ही भिन्न विवरण **रससंकेतकलिका** में है। फिटकरी, नौसादर और शोरा तीनों को एक साथ पीसे और मिट्टी की कूपी में, जिसमें एक हाथ लम्बी नली लगी हो, भरे। इसके साथ ऐसी काच-कूपी का संयोग कर दे जिसके पेट में छेद हो। कपड़े और मिट्टी से सात बार कूपी को लपेट दे। खर्पर पर बालू रखकर तिर्यक्पातन करे। नीचे से आग तब तक देता जाय, जब तक रस का स्रवण होता रहे। इस प्रकार जो शंखद्राव रसायन मिले उसे काँच की कूपी में संग्रह करे।[1]

वटिका और गुटिका—**रससंकेतकलिका** के पंचम उल्लास में गुटिकाओं का वर्णन है। ये गुटिकाएँ अधिकतर वानस्पतिक औषधों से तैयार की जाती थीं। सर्वरोगों के लिए जया गुटिका, कास के लिए विजया गुटिका, अर्श के लिए शंकर वटिका, कास के लिए कास-कर्त्तरी वटिका, शूल के लिए सूर्यप्रभाव वटिका, प्रमेह के लिए चन्द्रकला गुटिका, क्लैब्य के लिए भोगपुरन्दरी गुटिका, विषरोग के लिए महामृत्युञ्जया गुटिका, उन्माद के लिए कितववटिका, सन्निपात के लिए मृतसंजीवनी गुटिका और इसी प्रकार

१. फिट्करीं सादरं सोरं त्रयमेकत्र चूर्णयेत्।
तत्क्षिपेन्मृण्मये कूपे नालहस्तमिते दृढे ॥
सरन्ध्रोदरकाचोत्थे कूपे तत्संनियोजयेत् ।
सप्तधा वेष्टयेत्पश्चात् कूपकौ वस्त्रमृत्स्नया ॥
खर्परे बालुकापूर्णे तिर्यगौषधकूपकम्।
अर्धं यन्त्रे निधायाथ श्रीगुरोः संप्रदायतः ॥
अधोमुखं द्वितीयं तु स्थाप्यं चुल्लौ पराङ्मुखे ।
अधः प्रज्वालयेदग्नि हठाद्यावद्रसः स्रवेत् ॥
धारयेत्काचजे पात्रे शंखद्रावं रसायनम् ।
शाणैकं सेवयेत्पश्चाद्दन्तस्पर्शविवर्जितम् ॥ (४।८३–८७)

कुछ अन्य वटिकाओं का उल्लेख है। नागार्जुन के नाम पर एक "नागार्जुनी गुटिका" और नेत्ररोग के लिए "नागार्जुनी वर्त्तिका" इसी उल्लास में दी गयी हैं। "नागार्जुनी गुटिका" में वंग, कासीस, काली गुञ्जा और अदरख का रस होता है। यह कफ और वात दोष को नाश करनेवाली औषध है।[१] नागार्जुनी वर्त्तिका के लिए वरा, वर, व्योष, तुत्थ, यष्टी, वेल्लां, अर्क का रस, रोध्र, रसाञ्जन, इन सबको वर्षा के जल के साथ पीसा जाता है। पाटलिपत्तन (पटना) में नागार्जुन ने इस वर्त्तिका के बनाने का विधान सर्वप्रथम किया था।[२] इसी पंचम उल्लास में वातरोग के लिए महद् वातारि तैल और कर्णरोग के लिए कर्णामृत तैल का वर्णन है, और अन्त में "राजवल्लभ धूप" का विवरण है, जिसके लिए कस्तूरी, इन्दु, बाह्लीक, नख, जटामाँसी, सर्जक, मुस्ता, अगुरु, दारुसिता इन सबको तेल में कूटा-पीसा जाता और फिर बत्ती बना ली जाती है। यह बत्ती जलाने पर अच्छी सुगन्ध फैला देती है।[३]

निर्देश

कायस्थ चामुंड---रससंकेतकलिका---यादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित, बंबई (१९१२)।

१. वङ्गं कासीसकं कृष्णा गुञ्जातुल्याऽऽर्द्रकाम्बुना ।
कफवातामयं हन्ति गुटी नागार्जुनाभिधा ॥ (५।१५)

२. वरा व्योषं वरं तुत्थं यष्टीवेल्लार्कवारिजम् ।
रोध्रं रसाञ्जनं चूर्णं वर्तिः कार्या नभोम्बुना ॥
सद्योऽक्षिकोपं स्तन्येन तिमिरं रोध्रतोयतः ।
किंशुकस्य रसाद् हन्ति पिल्लं पुष्पं च रक्तताम् ॥
पटलं वत्समूत्रेण स्तम्भे पाटलिपत्तने ।
नागार्जुनेन लिखिता सर्वनेत्रामयापहा ॥ (५।२५–२७)

३. कस्तूरीन्दुश्च बाह्लीकं नखं मांसी च सर्जकम् ।
मुस्ताऽगुरु सिता सर्वं क्रमवृद्धं समं पुरम् ॥
स्तोकं स्तोकं क्षिपेत्तैलं दिनैकमथ कुट्टयेत् ।
वर्तिं कुर्यात् प्रदीप्ता सा दिव्यं धूमं विमुञ्चति ॥
सर्वदेवप्रियः सर्वमन्त्रसिद्धिप्रदायकः ।
स्नाने वस्त्रे रतागारे धूपोऽयं राजवल्लभः ॥ (५।३८–४०)

छब्बीसवाँ अध्याय

धातुक्रिया या धातुमञ्जरी

(सत्रहवीं शती)

रुद्रयामल तन्त्र के अन्तर्गत **धातुक्रिया** या **धातुमञ्जरी** नामक सोलहवीं शती के बाद का भैरवानन्दयोगी रचित एक उपयोगी ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है। इसका विषय इसके नाम से ही स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में शिव-पार्वती के संवादरूप में धातु संबंधी विस्तृत विवरण है।[1] इस ग्रन्थ में फिरंगरोग, रूम देश एवं फिरंग देश का उल्लेख है, जिससे यह तो स्पष्ट ही है कि यह ग्रन्थ सोलहवीं शती से पूर्व का नहीं है।[2]

पार्वतीजी के पूछने पर शिवजी ने कहा कि धातु चार प्रकार की होती हैं—सत्त्व, रजस्, तमस् और निरामय। राजस धातुओं से राजसी, तामस से तामसी और सात्त्विक से सात्त्विकी सिद्धि होती है, और निरामय धातु से सर्वसिद्धि।[3] पृथ्वी के गर्भ में अनेक धातुएँ विद्यमान हैं। इनमें प्रधान धातु ये हैं—रंग (सोना), लोह, ताम्र, रजत ये तो उत्तम वर्ग की हैं। सत्त्वजा धातु (वंग और ताम्र की मिश्र धातु) मध्यम वर्ग की हैं, त्रपु और सीस नीच धातुएँ हैं। धातुओं के संयोग से नीच और नीचतर धातुएँ

१. पुस्तक के अन्त में—"इति श्रीरुद्रयामले उमामहेश्वर संवादे सुवर्णकल्पे सुवर्ण-प्रशंसा नामाध्यायः" अथवा "इति श्री रुद्रयामल उमामहेश्वरसंवादे धातु-मञ्जर्यां सुवर्णप्रशंसा समाप्ता।"

२. नेपाले कामरूपे च वङ्गाले मदनेश्वरे।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च॥
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके।
एतान्युदितस्थानानि सर्वपर्वतके सदा॥ (१४४–१४५)

३. धातुस्तुर्यविधः प्रोक्तः तुर्यस्तुर्ये स्वपक्षतः (?)।
सत्त्वं रजस्तमश्चैव चतुर्थस्तु निरामयः॥
राजसे राजसी सिद्धिस्तामसे तामसी सदा।
सत्त्वसाधनसात्त्विक्ये आनीते सर्वसाधनम्॥ (२–३)

भी बनती हैं उनमें और भी उत्तम, मध्यम और अधम हैं। ताम्र और यशद के योग से नारी धातु बनती है वह भी कार्य-कारण धर्म से मध्यमा या उत्तमा है। त्रपु और ताम्र के योग से मध्यम वर्ग की धातु बनती हैं।

धातुनाम---'धातुक्रिया' के कई श्लोकों में धातु और उपधातुओं के पर्यायवाची नाम और उनके उपयोग दिये गये हैं।

सुवर्ण---स्वर्ण, सुवर्ण, सूर्य, हाटक, वह्निरोचन, सुरंग, देवधातु, हैम, हिमवतोद्भव आदि। (३९-४२)

रजत---रजत, रूप्य, चन्द्र, चन्द्रदीपक, तारक आदि। (४३-४६)

ताम्र---ताम्र, त्र्यम्बकाधिष्ठ, शुल्व, नागमर्द्दन, हेमगर्भ, आरक्त आदि। (४७-४९)

जस्ता---जासत्व, जरातीत, राजत, यशद, रूप्यभ्राता, त्रोटक, चर्मक, खर्पर, रसक आदि। (५०-५२)

वंग---त्रपु, तापहर, वंग, रजतारि, नीरद, श्रीद, रतिद, मेहघ्न आदि। (५३-५४)

सीसा---सीसक, धातुभंग, मृतक, रोचक, रक्त, रक्तवीर्य, नाग, नागालय, खण्ड, खण्डकर आदि। (५५-५८)

लोहा---लोह, आयस, शूर, स्वर्णमारक, ताटक, कालेय, वह्निद, वह्निबीज। (५९-६२)

मिश्रधातु---शुल्ब (ताँबा) और खर्पर (जस्ता) के योग से पीतल बनती हैं।[1] वंग और ताम्र के संयोग से कांस्य बनता है।[2]

खर्पर (जस्ता) और पारद के थोड़े से मेल से रसक बनता है।[3] (साधारणतया रसक और खर्पर शब्दों का प्रयोग विशेष खनिज (calamine) के लिए होता है, पर इस ग्रन्थ में ये शब्द जस्ता और जस्ता-पारद मिश्रण के लिए प्रयुक्त हुए हैं।)

कोमल अग्नि पर सीसा (नाग) को गरम करने से सिन्दूर (minium or red lead) बनता है।[4]

१. शुल्वखर्परसंयोगे जायते पित्तलं शुभम्। (६३) (पृ० ६)

२. वंगताम्रसुयोगेन जायते तेन कांस्यकम्। (६५) (पृ० ६)

३. खर्परैः सह पारदं दिव्यं किञ्चित् प्रमेलयेत्।
जायते रसको नाम नाना रोगहरो भवेत्॥ (६८) (पृ० ६)

४. नागस्तु जायते हीनो मृतधातुस्तु जायते।
स एव कोमलाग्निस्थः सिन्दूरं जायते ध्रुवम्॥ (६९) (पृ० ६)

ताँबे और दाहजल (सलफ्यूरिक अम्ल, या गन्धक के तेजाब) के योग से तुत्थक या तूतिया बनता है।[1]

मंत्र और यंत्र (उपकरण) की सहायता से इस प्रकार बहुत से पदार्थ बनते हैं।[2] तुत्थ आदि पदार्थ संयोग और वियोग दोनों में ही गुणकारी हैं। वियोग और फिर नियोग (decomposition and recombination) से अनेक पदार्थोंवाली रसायनी विद्या की सिद्धि होती है।[3]

हरिताल के पर्य्यायवाची विसंगा, रंग दीप्तिकरी, ताल, हरिता, हंसी, श्वेतपीत-विधायनी आदि हैं) यह पारे का क्षय करनेवाली और इसके पक्षों को काटनेवाली है।[4]

वस्तुतः हरताल आरसेनिक सलफाइड होता है, और जब इसके साथ पारा घोटा जाता है तो पारे का भी सलफाइड बन जाता है और इस प्रकार पारे में से उड़नेवाले गुण नष्ट हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से हरताल को पारे की "पक्षच्छेदकरी" (परों को काटनेवाली, जिससे पारा उड़ न सके) बताया गया है।

मनःशिला के पर्याय मनःशिला, शिला, शृंगी, कुनटी, दरदभगिनी, सिन्दूरसखी, पुष्पा, पुष्पवती आदि हैं। (८२–८३)

अभ्रक के पर्याय—अभ्रक, गगन, व्योम, ग्राहक, घोर, घोरखण्डत्व-नाशन, अमृत आदि हैं। (८४–८६)

मल्ल के पर्याय—सोमल, मल्लराज, विष, वातविनाशन आदि हैं। इसका प्रयोग धातुओं के स्वेदन, भेदन, बन्धन, मारण आदि में होता है।[5]

१. ताम्रदाहजलैर्योगे जायते तुत्थकं शुभम्। (७१) (पृ० ६)
२. अनेकाः साधयेद् विद्या मन्त्रयन्त्रकरीः क्रियाः। (७०) (पृ० ६)
३. संयोगे साधनं दिव्यं वियोगे साधनं शुभम्।
वियोगं पुनर्नैयोगं रसताम्रे शुभो विधिः॥
अनेकसाधनी विद्या साधयेद् द्रव्यं कांक्षितम्।
लभते रसायनीं विद्यां स्वस्थोऽपि विकृतोद्यमी॥ (७३–७४) (पृ० ७)
४. हरितालं विसङ्गा च रंगदीप्तिकरी सदा। तालं च हरिता हंसी श्वेतपीतविधायिनी॥
नर्त्तकस्य प्रिया देशी निशा चैव निशाचरी।
पारदस्य क्षयकरी पक्षच्छेदकरी स्मृता॥ (७८–७९) (पृ० ७)
५. सोमलं मल्लराजं च विषं वातविनाशनम्।
शतवीर्यबलग्रन्थि नीलोज्ज्वलकारकम्॥

इसी प्रकार हीन धातुओं के नाम भी आये हैं, जिनके विज्ञान मात्र से पारदी क्रिया उत्पन्न होती है।[1] मोतियों के पर्याय (९१–९३), विद्रुम या प्रवाल के पर्याय (९४–९५); कूर्मपृष्ठ के पर्याय (९६–९७) (जिनमें से एक नाम कलिंगजात भी है), शंख के पर्याय (९८–१००), शुक्तिका या सीपी के पर्याय (१०१–१०४) (जो तीन प्रकार की होती हैं; उत्तम, मध्यम और नीच। इनमें से नदी में से उत्पन्न सीपी नीच है, सागरोद्भवा उत्तम और मध्यम हैं), गजदन्त के पर्याय (१०५-१०६), शिखिपिच्छ के पर्याय (१०७-१०८) आदि का उल्लेख किया गया है।

धातुओं के स्थान—स्वर्ण धातु पहले कल्प में केवल मेरु पर्वत पर पायी जाती थी और मर्त्यलोक में दुर्लभ थी।[2] फिर यह हेमाद्रि पर्वत पर हुई। वहाँ पर शीत अधिक

स्वेदनं भेदनं चैव कामवीर्यविवर्द्धनम् ।
बन्धनं सर्वधातूनां मारणं पारदे रसे ॥
गगनग्राहके दिव्ये रसयुग्मे प्रमेलनम् ।
एतानि मल्लनामानि कार्यकाले प्रयोजयेत् ॥ (८७–८९) (पृ० ८)

१. हीनधातोश्च नामानि संक्षेपात् तानि च शृणु ।
येन विज्ञातमात्रेण जायते पारदी क्रिया ॥ (९०) (पृ० ८)

२. हेमं च प्रथमे कल्पे मेरुमध्ये सदैव हि ।
दुर्लभं मर्त्यलोकेषु कष्टेनैव तु लभ्यते ॥
पुनर्हेमाद्रिणा तेन जायते सर्वदा शुभे ।
महाशीतकृते तेन दुर्लभं स्यात् सदैव हि ॥
पश्चाज्जम्बूनदोद्भूतं जम्बूद्वीपेषु जायते ।
तच्च कष्टतरं मन्ये दुर्लभं तत् सदैव हि ॥
पृथिव्यां धातुमध्येषु सर्वेषामधिकं सदा ।
लोहाधिकतरं तत्र ज्ञातव्यं सर्वदा शुभे ॥
कष्टे निःसारणं तेषां मौल्यादधिकं जायते ।
तस्यात्तेनैव यत्नेन साधनं क्रियते नरैः ॥
असाध्यसाधनं तस्य जातं सर्वयुगे शुभे ।
तस्मात्तु बहुमूल्येन सर्वधातुपरिस्थितिः ॥
पुनः स्थानं कृतं तेन लङ्कायां च सदैव हि ।
उङ्कितं तेन यत्नेन मर्त्तादभीतं मया शुभे ॥ (११५–१२१) (पृ० १०)

था, इसलिए दुर्लभ रही। इसके बाद जम्बूद्वीप में जम्बूनदी के किनारे आयी। फिर यह अनेक धातुओं के बीच में पृथिवी पर मिलने लगी। इसका प्राप्त करना अधिक कठिन ही रहा है, मनुष्य ने बड़ी साधना और प्रयत्न से इसे प्राप्त किया है, इसी लिए यह बहुमूल्य है। वहाँ से यह लंका में पहुँची, वहाँ यह "मानुषी भीति" बन गयी। सुवर्ण दुर्लभ रहा, पर इसकी कामना छोटे बड़े सबको थी। इसको प्राप्त करने के लिए ही गन्धकी और पारदी क्रियाएँ मनुष्य ने अपनी बुद्धि और चतुरता से आविष्कृत कीं। इस प्रकार पारद, गन्धक आदि के ज्ञान से सुवर्णसाधनी विद्या आरंभ हुई।[1]

इस प्रसंग में स्वर्ण प्राप्ति के स्थान नदियों या समुद्र के तट पर हवा से उठी हुई रेणु (वातोत्थजा रेणु) और सिन्धु देश, कामरूप आदि बताये गये हैं।[2]

१. महादेव उवाच--

बुद्धिचतुरता वृद्धिर्जायते च कलौ युगे।
मानुषे च भवतीह मम क्षोभानुवर्तिनी॥
तस्मात्तैर्बहुले द्रव्ये साध्यते गन्धकी क्रिया।
अथवा पारदी चैव मम क्षोभानुवर्तिनी॥

पार्वत्युवाच--

श्रुता सा गन्धकी विद्या सर्वसौभाग्यदायिनी।
सङ्गभक्षकृता सा च न सिद्ध्यति गरीयसी॥
भवता पूर्वमुक्तं हि संगभक्षणयोगतः।
न सिद्ध्यति च ते विद्या सदा गन्धकपारदी॥
तस्मात्तु कथ्यतां देव मनोम्लानिविवर्जितम्।
सुवर्णसाधिनीं विद्यां तस्माद् वदतु मे विभो॥ (१२७-१३१) (पृ० ११)

२. स्वर्णोत्पत्तिस्थलं नित्यं सर्वत्रापि विधीयते।
उत्पादनगतिस्तस्य स्थाने स्थाने पृथक् पृथक्।
श्रूयतां वरदे देवि! स्थाने चैव यथोदितम्।
तस्य वातोत्थजा रेणुर्धमने स्वर्णतां व्रजेत्॥
पावकाद्रेर्भुवा बाहुः सप्तरत्नाकरे तथा।
समुद्रस्य तटे दिव्ये स्थानं स्यात् स्वर्णकस्य च।

ताँबे के प्राप्तिस्थान नेपाल,कामरूप, बंगाल, मदनेश्वर, गंगाद्वार, मलाद्रि, म्लेच्छदेश, पावकाद्रि, जीर्णदुर्ग, रूम देश, एवं फिरंग देश हैं।[1]

जस्ता (यशद) की प्राप्ति के स्थान कुम्भाद्रि (काम्बोज में), रूम देश और बलक्ष हैं। इन दोनों स्थानों को रजःस्थान कहते हैं।[2]

जस्ता बंगाल में और सीसा नेपाल में पाया जाता है।

लोहा पाये जाने के स्थान लोहाद्रि, गयाद्रि, गौतमाद्रि, विन्ध्य, नलाद्रि और समुद्र-तट के प्रदेश आदि हैं।[3]

स्वल्पं च सिन्धुदेशेन कामरूपे तथैव च ।
अन्यैस्तु विविधैः स्थानैः सांप्रतोत्पत्तिर्जायते ॥
तत्र तत्रोत्पत्तिस्तेषां यत्र यत्र हिमद्रवः ।
प्रसरन्ति भुवि संघाः संशयो नास्ति मे सदा ॥ (१३८–१४२) (पृ० १२)

१. ताम्रोत्पत्तिश्च महता सुखेनैव प्रजायते ।
तेषां स्थानानि वक्ष्येऽहं याथातथ्येन च शृणु ॥
नेपाले कामरूपे च वङ्गले मदनेश्वरे ।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ॥
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे रूमदेशे फिरङ्गके ।
एतान्युदितस्थानानि सर्वपर्वतके सदा ॥ (१४३–१४५) (पृ० १२)

२. जासत्त्वं यत्तु दिव्यं हि स्थानानि तस्य च शृणु ।
कुम्भाद्रावथ काम्बोजे रूमदेशे बलक्षति ॥
एतान्युभयोः स्थानानि रजःस्थानं च उच्यते ।
जासत्वं बंगले नागं नेपाले च सदैव हि ॥(१४६–१४७) (पृ० १२)

३. लोहाद्रौ लोहकृत् कर्म गयाद्रौ गोतमाद्रिके ।
विन्ध्यमध्ये हि सर्वत्र नलाद्रौ निष्कलेऽपि वा ॥
त्र्यम्बके विमले चैव लौहाकशालिवाहने ।
समुद्रस्य तटे रम्ये आद्ये अन्ते च मध्यगे ॥
लौहस्यैतानि स्थानानि हाटकैश्च सदैव हि ।
किञ्चिद् गोप्यानि दिव्यानि संस्कारैः रहितानि च॥(१४९–१५१) (पृ०१२)

इन सब स्थानों पर सभीधातु असंस्कृत अवस्था में पायी जाती हैं। पारद, गन्धक और ओषधियों के योग से इन्हें निर्मल किया जा सकता है। शोधन की इस क्रिया का नाम हाटकीक्रिया है।[1]

कुछ रासायनिक योग

धातुक्रिया अथवा **धातुमञ्जरी** ग्रन्थ से अब हम कुछ स्फुट योग देंगे। इस ग्रन्थ के कुछ अवतरण आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट रूप में दिये हैं। श्लोकों की संख्या उनकी दी हुई संख्या के आधार पर ही दी जा रही है। हरिशरणानन्द स्वामी वाले संस्करण में यह संख्या कुछ भिन्न है। उक्त ग्रंथ की पृष्ठ संख्या भी साथ-साथ दे दी गयी है।

(क) स्थूल या मोटे काच के पात्र में बकरी की लेंडी या गाय के गोबर के उपलों की आग में गरम करने पर धातु-उपधातु आदि का जारण-मारण (roasting) किया जा सकता है।[2]

(ख) एक भाग सोना और चार भाग जस्ता साथ-साथ गलाये और सम्पुट पुट में कुण्डखर्पर या अन्धमूषा में गरम करे, फिर स्वांगशीतल हो जाने दे और लेप करके

१. युक्ते तु संस्कृते तेषु स्वर्णसिद्धिः प्रजायते ।
अयुक्ते नैव लभ्या तु युक्ते प्राप्तिः सदैव हि ॥
पारदे गन्धके धात्वोः योग औषधकृत् सदा ।
मानसे निर्मले चैव लभ्यते हाटकी क्रिया ॥
अन्यथा नैव लभ्या तु विना मन्त्रेण सिद्ध्यति ।
तस्मादेवं प्रयत्नेन निर्मलं मानसं शुभम् ॥
अशुभं समलं चैव मानसं सर्वदा भवेत् ।
तस्मात्तु चतुराहारे सर्वदा शुभमानसः ॥
जायते च क्रिया सिद्धा हाटकी भवति सर्वदा ।
मन्त्रसिद्धिः प्रजायेत सर्वकर्माणि साधयेत् ॥
अनेनैव प्रकारेण उत्तमा हाटकी क्रिया ।
सर्वकार्यकरी नृणां चतुर्वर्गफलप्रदा ॥ (१५२–१५७) (पृ० १२–१३)

२. प्रोक्तसम्पुटके चैव स्थूलकाचीयकेन च। उष्णांगारकृतेऽग्नौ मुर्मुरं छागरेकजम् ॥
खर्पराख्ये पुटे चैव आरण्योत्पलकेन च।
सार्द्धं विनास्ति(?) गति च ज्वलिते अर्द्धमर्द्धगे॥ (९–१०) (पृ० ४९)

क्षारों के साथ गलाये। फिर इसे घोटे और बार-बार ऐसा करे तो इससे लाल-पीले (शोणिम-पीत) रंग का सोना बन जायगा।[1]

(ग) पारे में समान मात्रा गन्धक को मिलाकर गलाये और उसमें फिर तीन-चौथाई भाग हरताल मिला कर गलाये। फिर घीकुंवार के रस में तीन प्रहर तक घोटे और फिर ताँबे या लोहे के खरल में घोटे और छाया में सुखावे (छाया शुष्क)। फिर काचकूपी में बालुकायंत्र पर तपाये, फिर स्वांगशीतल करे और इसी प्रकार फिर इसको दोहराये, तो अन्त में सर्वसामर्थ्यदायक रसराज (factitious cinnabar) तैयार होता है।[2]

(घ) हीन सोना तैयार करना—अधःपातन, ऊर्ध्वपातन आदि विधियों से शुद्ध किया हुआ पारा ले, इसे अच्छी तरह घोले और इसकी पिष्टि बना ले। फिर तेल के साथ घोटकर डमरू-यंत्र में आँच दे। दो प्रहर तक उत्थान करके फिर उतारकर रख ले और अपने आप ठंडा होने दे। फिर समान मात्रा में सीसा मिलाकर और घोटकर

१. एवानुक्रमतो योगे पुटमेकं च जायते। चतुरंशेन जासत्वं सुवर्णाद् दापयेत् सुधीः॥
प्रतिसंपुटपुटे चैव उड्डयेत् कुण्डखर्परे। स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य लेपमुत्तारयेत्ततः॥
पुनर्लेपः प्रदातव्यः पुनः क्षारान् प्रदापयेत्। पुनरेव घोटनं देयं सादरं पुनरेव हि॥
अनेनैव प्रकारेण तुर्यांशसंपुटेन हि। सुवर्णसंयुतं तच्च गालयेत् क्षारसंयुतम्॥
ज्वलिते तोलयत्येव तिलार्द्धं सम्पुटं प्रति।
नम्रीभूतं च रक्षेयं संस्कारैः शोध्य साम्प्रतम्॥
एतत् क्रमक्रमेणैव सुवर्णमनुसंक्षय।
तद्गुणे शोणिमापीते महत्ततः प्रजायते॥ (११-१६) (पृ० ४९)

२. गालयेद् यत्नपूर्वेण छायेद्रससमांशके। समांशे गन्धकं देयं शुद्धं पीतकरागकम्॥
त्र्यतुर्यांशकं तालं दापयेद्रसमोदितम्। तदर्द्धं सादरं देयं मर्द्दयेत् कन्यकारसे॥
याममित्रतयमामर्द्य छायाशुष्कमण्डजे रसे।
अतिशुल्वेतरे खल्ले अथवा लोहसंभवे॥
मर्द्दयेद् यत्नपूर्वेण छायाशोषितं कारयेत्।
काचकूप्यें प्रदातव्यः वह्निर्बालुकयन्त्रगः॥
नखसंख्यामिते यामे पाचयेद् शोभने रसं।
स्वाङ्गशीते तु संजाते पुनः खल्ले निधापयेत्॥
रसेनानेन आमर्द्य छायाशोषितं कारयेत्।

तेज आँच पर तपाये। इस प्रकार हीन एवं उत्तमोत्तम सोना बनता है। पारे और सीसे के योग से निश्चय ही द्रव्यवृद्धिकारी पदार्थ बन जाते हैं। क्रय-विक्रययोग्य धन-संपदा इस प्रकार पैदा की जा सकती है।[1]

(ङ) इसी प्रकार त्रपु (वंग या राँगे) से चाँदी तैयार की जा सकती है। इसका नाम राजती सिद्धि है, इससे धनसिद्धि होती है।

विन्ध्याचल में उत्पन्न सुन्दर राँगा ले और सावधानी से इसे गलाये, फिर कूष्माण्ड (कुम्हड़े) के रस में भिगोये। जब शुद्ध हो जाय तो उसके पत्र बना ले। फिर उज्ज्वल एवं आग से शोधित सीपी को दूध की भावना दे। फिर राँगा और सीपी का अच्छी तरह मर्दन करके शुक्ति सम्पुट में गरम करे। कई बार इस प्रकार करने से अति

उक्तयामे रसे दत्ते पुनः शोषं प्रदापयेत्॥
उक्ताग्नौ दापयत्येव पुनः संस्कारमाचरेत्।
संस्कारे त्रिविधे जाते अग्निपूर्वे क्रमोदिते॥
जायते रसराजोऽसौ सर्वसामर्थ्यदायकः॥ (२३–३०) (पृ० ५०)

१. आनयेद् पारदं दिव्यमधऊर्ध्वविपातितम्।
क्षालयेद् यत्नपूर्वेण खल्ले पिष्टं तु कारयेत्॥
तैलेनानेन-आमर्द्य भावनाक्षणमात्रतः।
निम्ने डमरुके यन्त्रे अग्निं दद्याद् विचक्षणः॥
उत्थयेद् यामयुग्मेन स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्।
पुनः समाननागेन पूर्ववत् क्षालयेत् सुधीः॥
पुनरेव हठादग्नौ उक्तयामेन सिद्ध्यति।
रसे द्विवारके चैव हीनहेमोत्तमोत्तमः॥
तौलिके रक्तिकायुग्मं दापिते वर्णपञ्चकम्।
अनेनैव प्रकारेण जायन्ते षोडशः कलाः॥
द्रव्यवृद्धिकरं तच्च जायते नात्र संशयः।
पुनरेव क्रिया रम्या पारदे नागचारिणी॥
द्विगुणे पारिते तत्र जायते चन्द्रिका शुभा।
आभासेन शिखिग्रीवा जायते नात्र संशयः।
पुञ्जिते हीनहेमेन जायते क्रयविक्रयः।
अनेनैव प्रकारेण जायन्ते धनसम्पदः॥ (४५–५२) (पृ० ५८)

उज्ज्वल राँगा प्राप्त होगा जिसे हवा में सुखा ले (वातशुष्क)। इस प्रकार धनसंपदा बढ़ाने में वंग से सहायता ली जा सकती है।[1]

(च) शुद्ध राँगे को टंकण (सुहागा) के साथ गलाये और पिण्याक रस के साथ

१. अथातः संप्रवक्ष्यामि त्रपूणां विधिमुत्तमम्।
येन विज्ञानमात्रेण जायते रजतं महत्॥
अनेका राजती सिद्धिः जायते परमोत्तमा।
जायते धनसिद्धिश्च जायते नात्र संशयः॥ (५५-५६) (पृ० ५९)
आनयेच्छोभनं वंगं विन्ध्याचलसमुद्भवम्।
गालयेद् यत्नपूर्वेण ढालेत् कूष्माण्डजे रसे॥
त्रिःसप्तककृते तत्र जायते निर्मलं शुभम्।
तदुत्थान् कारयेत् पत्रान् शुचिविद्वान् यथोदितान्॥
रक्षयेद् यत्नपूर्वेण आनयेद् र्वाकिकं पयः।
भावयेद् शुक्तिकाचूर्णं उज्ज्वलं वह्निशोधितम्॥
मर्द्दयेद् यत्नपूर्वेण यावल्लेपः सुलक्ष्यते।
यवार्द्धं लेपयत्येव पत्रान् तु यत्नपूर्वकम्॥
छायाशुष्के च संजाते दापयेच्छुक्तिसंपुटे।
चूडाधो लेपयत्येव सन्धौ यत्नेन मुद्रयेत्॥
मेलितो माषगोधूमो पिष्टलेपं प्रदापयेत्।
छायाशुष्के च संजाते मृन्मयं लेपं दापयेत्॥
सुशुष्के च गजे पाच्यं स्वांगशीतं समुद्धरेत्।
जायते उज्ज्वलं वंगं वातशुष्कं तु कारयेत्॥
यः कश्चिद् मूर्च्छितश्चैव जीवयेज्जीवनक्रियाम्।
स हि वंगाश्रयेणैव उज्ज्वलः कठिनो भवेत्॥
अतिशुद्धतरं तच्च जायते नात्र संशयः।
सर्वकर्मकरं श्रेष्ठं नानाभागेन पुञ्जितम्॥
भोगभागसमायुक्तं वंगं च गुणसंयुतम्।
लक्षणार्थे धनार्थे च संयोगे साधयेत् सदा॥
जायते सुभगं तच्च संसारे शोभनं भवेत्।
अनेनैव प्रकारेण जायन्ते धनसम्पदः॥ (५८-६८) (पृ० ५९)

टारे। इस प्रकार करने से चाँदी के समान सुन्दर धातु मिलेगी। नकली चाँदी बनाने की इस प्रकार की और भी विधियाँ हैं।[1]

(छ) शुद्ध राँगा ले और इसमें आधा भाग पारा मिलाये, तब खरल में डालकर सोलह प्रहर तक घी-कन्या के रस के साथ मर्दन करे और फिर हंसपदी के रस में घोटे, फिर अण्डरस (कूष्माण्ड के रस) के साथ मर्दन करे और छाया में सुखाकर बालू के ऊपर पकाये, फिर क्रमपूर्वक अग्नि पर (मन्द, मध्यम और तीव्र आँच पर) आठ-आठ प्रहर तक तीन बार पकाये। इस प्रकार करने से दिव्य रस प्राप्त होता है, जो खाने में अमृत के समान है।[2]

(ज) शुद्ध राँगा सावधानी से गलाये और उसमें सौवाँ भाग पारा मिलाये। ऐसा करने से ३२ कला की स्फुट शुद्ध चाँदी बनती है, जिसे बेचकर धन-संपदा कमायी जा सकती है।[3]

१. आनयेत् शुद्धं तं वङ्गं गालयेत् टङ्कणैः सह।
पिण्याकसुरसे दिव्ये टालयेद् यत्नपूर्वकम्॥
सप्तदालकृते शुद्धे कठिनं रजतोपमम्।
जायते नैव सन्देहः पुञ्जिते रजते शुभे॥
रजतं जायते शुद्धं संभारं कारयेत् सुधीः।
अन्येष्वेव विधिर्दिव्यो दिव्यरजतसंभवः॥ (७३–७५) (पृ० ६०)

२. आनयेत् शोधितं वंगं तदर्द्धे पारदे छलेत्।
निधाय शोभने खल्ले तुर्यांशे दापयेत्ततः॥
मर्द्दयेत् कन्यकावीर्ये यामं षोडश यत्नतः।
हंसपद्या रसे दिव्ये तत्समं मर्द्दयेत् सुधीः॥
समानाण्डरसेनैव मर्द्दयेद् यत्नपूर्वकम्।
छायाशुष्के च संजाते शोषान्ते बालुके पचेत्॥
अनेनैव प्रकारेण क्रमादग्नि प्रदापयेत्।
प्रहराष्टकेऽष्टकेनैव त्रिवारं हठं दापयेत्॥
जायते च रसं दिव्यं भक्षणे च सुधासमम्॥ (७६–८०) (पृ० ६०-६१)

३. सुकृत् सुधाकरं वंगं गालयेद् यत्नपूर्वकम्।
तज्जलं शोषयत्येव शतांशे रसदापिते॥

(झ) शुद्ध तूतिया ले जो पीले गन्धक से उत्पन्न हुआ हो और आक के दूध के साथ खरल में भावना दे कर यत्नपूर्वक एक प्रहर तक अच्छी तरह घोटे। इसमें सीसा के समान धातु मिलाने से सोना आसानी से मिल जाता है।[1]

(ञ) सीसा और ताँबे के मिलने से बने द्रव्य के मध्य में मेलापन क्रिया करे, उसमें से कुम्पिका उत्पन्न होती है। उसके बीच में तीन बार यत्नपूर्वक सीसा गलाये। ऐसा करने से कुम्पिका के बीच में निर्मल स्वर्ण प्राप्त होता है।[2]

निर्देश

पी० राय—**हिस्ट्री आव् केमिस्ट्री इन एन्शेण्ट एण्ड मेडीवल इंडिया,** (प्रफुल्लचन्द्र राय की हिन्दू केमिस्ट्री का संशोधित संस्करण), इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)

भैरवानन्द—**रुद्रयामल तन्त्रान्तर्गत सप्तधातु निरूपणम्,** संशोधक और प्रकाशक हरिशरणानन्द स्वामी, पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर (महाराष्ट्र के संखेड़ा ग्राम के विनायक राव सदाशिवजी दस्तूर की हस्तलिखित प्रति १९५५ वि० अथवा १८३१ शाका के आधार पर।)—हमने पृष्ठ संख्या इसी मुद्रित संस्करण की दी है।

रजतं जायते शुद्धं कलाद्वात्रिंशतः स्फुटम्।
अन्यं वै मेलयत्वेव विक्रये शुभदं महत्॥
अनेनैव प्रकारेण जायन्ते धनसम्पदः॥
साधयेत् सिद्धिदा विद्या देहसामर्थ्यदायिनी॥ (८४–८६) (पृ० ६१)

१. आनयेत्तुत्थकं दिव्यं पीतगन्धकसम्भवम्।
दापयेच्छोभने खल्ले अर्कक्षीरेण भावयेत्॥
मर्द्दयेद् यत्नपूर्वेण याममात्रमखण्डितम्।
तेनैव धातुयोगेन सुवर्णं सुलभतां व्रजेत्॥ (६७–६८) (पृ० ११९)

२. नागस्य सम्भवं ताम्रं मध्ये मेलापनं कृतम्।
विभागे तु कृते तत्र जायते कुम्पिका शुभा॥
तन्मध्ये गालयेन्नागं त्रिवारं यत्नपूर्वकम्।
जायते निर्मलं स्वर्णमुदितं चैव कुम्पिके॥ (९७–९८) (पृ० १२१)

पञ्चम खण्ड

रसायन के मूलभूत दार्शनिक विचार

प्राक्कथन

कुछ परिवर्तन तो निसर्ग में होता है, और कुछ मनुष्य स्वयं अपनी कृतियों द्वारा करता है। परिवर्तन ही जीवन का चिह्न है। परिवर्तन का नाम ही विकृति है, और जिसमें विकृति होना संभव है, वही प्रकृति है। प्रकृति में उपादानत्व है। इस उपादानत्व के रहस्यों को समझने की चेष्टा आदिम काल से आज तक मनुष्य करता आ रहा है। इस रहस्य के अभिज्ञान से मानव को नित्य नयी सम्पन्नताएँ और शक्तियाँ प्राप्त होती रही हैं, अतः इस प्रकार का ऊहापोह केवल दार्शनिक प्रवृत्तियों की ही तुष्टि नहीं करता रहा, मनुष्य ने उससे व्यावहारिक लाभ भी उठाया है।

पंचेन्द्रियों और उनकी पंच अनुभूतियों की समकक्षता में मनुष्य ने पंच-तत्त्वों की कल्पना की। यह कल्पना वैदिक युग की न होने पर भी आगे के भारतीय साहित्य में रूढ़ हो गयी। दार्शनिक युग में इस कल्पना के आश्रय पर भौतिक और रासायनिक परिवर्तनों को समझने की चेष्टा की गयी। इस युग में ही कणाद ने परमाणुवाद को जन्म दिया, जो रसायन–क्षेत्र में समस्त संसार को भारत की एक महत्त्वपूर्ण देन है। पंच तत्त्वों के समान ही कुछ ऐसे ही तत्त्व यूनानी दार्शनिकों ने भी माने।

प्रकृति के परिवर्तनों का रहस्य आज तक दुरूह बना हुआ है, और आप आगे के पृष्ठों में यह देखेंगे कि भारतीय दार्शनिक इस प्रकार की समीक्षाओं में किस प्रकार आगे बढ़े। आर्य दार्शनिकों का उद्देश्य न केवल परोक्ष अध्यात्म की जिज्ञासा ही रहा, उन्होंने अपने ढंग पर, दृश्यमान जगत् की भी व्याख्या की। आर्य विचारधारा के साथ-साथ बौद्ध और जैन विचारधारायें भी इसी देश में विकसित हुईं, जिनके प्रकाण्ड आचार्यों ने इन दुरूह विषयों पर नये ढंग से प्रकाश डालने की चेष्टा की।

चिन्तना में लगा हुआ आज का मानव इस दिशा में बहुत आगे बढ़ गया है, पर अपार्थिव चेतन आत्मा अचेतन प्रकृति के साथ कैसे प्रतिक्रिया करती है, और जड़ शरीर चेतन आत्मा के सम्पर्क से चेतन-जैसे आचारण किस प्रकार करता है, यह विषय आज भी उतना ही रहस्यमय है, जितना पहले कभी रहा होगा।

सत्ताईसवाँ अध्याय

सृष्टि के मूलभूत पदार्थ,—वेद और उपनिषद्काल

(ईसा से तीन सहस्र वर्ष पूर्व)

आदि द्रव्य—इस दृश्यमान सृष्टि को समझने की चेष्टा मनुष्य ने आरम्भ से ही की। **ऋग्वेद** के दशम मण्डल में एक सूक्त है, जिसे विश्वकर्मन्-सूक्त कहते हैं (१०।८१)। उस सूक्त में इस सृष्टि के रचयिता को ही होता, ऋषि और पिता कहा गया है। उसने किस पदार्थ से इस दृश्यमान जगत् को बना दिया, यह प्रश्न तब भी पहेली था और आज तक हम इसका उत्तर न दे पाये। 'इस सृष्टि का अधिष्ठान क्या है, इसका आरम्भ कैसे हुआ, किस पदार्थ से यह परिवर्त्तनशील जगत् बना। वह कौन-सा वन था, उस वन का कौन-सा वह वृक्ष था, जिसके द्रव्य से आकाश से लेकर पृथिवी तक के लोक-लोकान्तर बने! हे विचारशील मनीषियो, अपने मन में यह तो विचारो, कि इन लोकों को धारण करते समय, वह स्रष्टा स्वयं कहाँ अधिष्ठित रहता है।'[1] **ऋग्वेद** के इन मंत्रों की आवृत्ति **यजुर्वेद** और **तैत्तिरीय संहिता** में भी पायी जाती है।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (१०।१२९) में गहन-गभीर अम्भस् (अथाह जल) की ओर संकेत है, जो सृष्टि के आरम्भ में था। 'जब समस्त जगत् तमोमय था, उस समय सर्वत्र अप्रकेत–सलिल (पानी ही पानी, अनवरत और अविच्छिन्न पानी) था।

१. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥ १॥
किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित् कथासीत्।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥ २॥
किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद् यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥ ४॥
(ऋग्वेद १०।८१)
(यजु० १७।१७, १८, २०; तैत्तिरीय संहिता ४।६।२।१, ४, ५)

समस्त संसार "तुच्छ्य" से ढका हुआ था। यह "तुच्छ्य" शून्य तो नहीं, पर शून्य के ही समान कुछ-कुछ था। इस परम आकाश में सृष्टि का जो अध्यक्ष था, वह भी रचना के रहस्य से अवगत था या नहीं, इसमें भी हम मर्त्यों को सन्देह हो सकता है।[1]

ऋग्वेद के अघमर्षण सूक्त (१०।१९०) में तप से ऋत और सत्य की उत्पत्ति बतलायी, फिर अन्धकार या रात्रि की, और उसके बाद जल से युक्त समुद्र की।[2] अर्थात् यह अर्णव समुद्र भी लगभग वही हुआ जो नासदीय सूक्त में तमस् के बाद अप्रकेत सलिल था।

सृष्टि के मूल उपादान द्रव्य का वैदिक नाम क्या था यह कहना कठिन है। अजा, प्रकृति, द्रव्य, तत्त्व आदि शब्द वैदिक संहिताओं में उपादान द्रव्य के अर्थ में प्रयुक्त ही नहीं हुए। 'माया' शब्द यद्यपि वैदिक है, पर उसका अभिप्राय भी वैदिक साहित्य में वह नहीं जो वेदान्तियों के साहित्य में आगे चलकर हुआ।[3] स्वधा शब्द का प्रयोग ऋक् और अथर्व में हुआ है, जो सम्भवतः इस सृष्टि के उपादान कारण का वाचक हो।[4]

१. नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥
तम आसीत् तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥ ३ ॥
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥ ७ ॥
(ऋग्वेद १०।१२९।१-७; तैत्ति० ब्रा० २।८।९।१-६); शतपथ ब्रा० १०।५।३।२ भी देखो।)

२. ऋतं च सत्यञ्चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
(ऋग्वेद १०।१९०।१; तै० आ० १०।१।१३)

३. मायिना ममिनाः प्रोत मायाः (ऋग्० १।३२।४)
(मायिनां मायोपेतानामसुराणां सम्बन्धिनीः मायाः—सायण)। अशिवस्य मायाः (ऋग्० १।११७।३)
(अशिवस्य दुःखकारिणः असुरस्य सम्बन्धिनीः मायाः)

४. ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते॥
(ऋग्० १०।१५।१४)

'असम्भूति' और 'विनाश' ये दो शब्द भी प्रकृति या आदि-द्रव्य के लिए यजुर्वेद में आये हैं।[१]

पंच तत्त्व और वेद—वैदिक ऋचाओं में पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश को उस अर्थ में तत्त्व नहीं माना गया, जैसा कि आगेके साहित्य में है। तीन महाव्याहृतियों (भूः, भुवः और स्वः) के सादृश्य में क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य—त्रिक् को स्थान मिला। 'पंच भूत' या 'पंच महाभूत' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग ऋचाओं में नहीं मिलता। द्यौ और पृथिवी (द्यावापृथिवी) का उल्लेख अनेक ऋचाओं में है। किसी-किसी मंत्र में द्यौ, पृथिवी आपः और अग्नि इन चार का उल्लेख एक साथ अवश्य आया है (बहुधा आपः के साथ ओषधि का संबंध है), पर ये चारों तत्त्व नहीं प्रत्युत साधारण आकाश, भूमि, अग्नि और जल हैं।[२] एक मंत्र में अग्नि, आपः, वीरुध (लता वृक्ष), ओषधि, कृष्टपच्य (खेती द्वारा पकाये फल), अकृष्टपच्य, ग्राम्य और आरण्य पशु, वित्त और वित्ति के साथ भूत और भूति शब्दों का भी प्रयोग है, पर यहाँ भी पंच-भूतों से अभिप्राय नहीं है।[३]

उपनिषद् और पंचतत्त्व—**केन** उपनिषद् में अग्नि और वायु को भौतिक देवता माना गया है। अग्नि वह सत्ता है जो सबको जला दे और वायु वह जो सबको उड़ा सके। पृथिवी से साधारण धरती अभिप्रेत है।[४] **कठ** उपनिषद् में "अनित्य द्रव्य" शब्द

प्र यो जज्ञे विद्वानस्य बन्धुर्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति।
ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार मध्यान्नीचैरुच्चैः स्वधा अभि प्र तस्थौ॥
(अथर्व० ४।१।३)

१. **अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ((यजु० ४०।१२)**
सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयं सह॥ (यजु० ४०।१४)

२. **मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तः श्लेषोऽसि कल्पेतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः (यजु० १३।२५)**

३. **अग्निश्च मऽआपश्च मे वीरुधश्च मऽओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशवऽआरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। (यजु० १८।१४)**

४. **सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति। सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति। (केन० ३।५, ९)**

का प्रयोग नाशवान् धन सम्पत्ति के अर्थ में हुआ है।[१] उसमें अणु शब्द का वह अर्थ नहीं है जो **वैशेषिक** में (अणु का अर्थ अति सूक्ष्म है)।[२] आत्मा को पंचेन्द्रियों से संबंध रखनेवाले विषयों से हीन बताया गया है, पर इन पंच विषयों का संबंध पंच तत्त्वों से है, इसका **कठ** में निर्देश नहीं है। हाँ, आत्मा को "महतः परम्" बतलाया है।[३] महान् या महत् शब्द प्रकृति के अर्थ में है (**सांख्य में** प्रकृति से महान् की उत्पत्ति कही गयी है—"प्रकृतेर्महान्")। कठ में एक स्थल पर व्योम (आकाश), आपः (जल) और गौ (पृथिवी) का प्रयोग ऋत, सत्य आदि के साथ हुआ है।[४] पर पंच तत्त्वों का यहाँ भी उल्लेख नहीं है। एक स्थल पर अग्नि, सूर्य, इन्द्र (मेघ), वायु और मृत्यु इस प्रकार के एक पंचक का उल्लेख कठ में है।[५]

पिप्पलाद ऋषि ने **प्रश्नोपनिषद्** में सृष्टि का आरंभ रयि और प्राण से बताया है। रयि प्रकृति का विकृति रूप है और प्राण जीवन का मूल है।[६] **प्रश्नोपनिषद्** में आकाश, वायु, अग्नि, आपः, पृथिवी और इनके साथ वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र इनका उल्लेख है (रसेन्द्रिय और गन्धेन्द्रिय का उल्लेख यहाँ नहीं है)। आकाश आदि को यहाँ देव कहा गया है। यह पहला स्थल है, जब हम आकाश, वायु, अग्नि, आपः और पृथिवी इन पाँचों को एक क्रम से पाते हैं।[७] **प्रश्नोपनिषद्** में आगे चलकर इन पाँचों के साथ साथ

१. ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।
(कठ० १।२।१०)

२. अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठ० १।२।२०)

३. अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते॥ (कठ० १।३।१५)
येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। (कठ० २।१।३)

४. नृषद्वरसदृतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्। (कठ० २।२।२)

५. भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥ (कठ० २।३।३)

६. रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति। (प्रश्न० १।४)
रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्माद् मूर्त्तिरेव रयिः। (प्रश्न० १।५)

७. तस्मै स होवाच, आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। (प्रश्न० २।२)

उनमें से प्रत्येक की "मात्रा" (संभवतः सांख्य की तन्मात्रा) का भी उल्लेख है।[१] ये मात्राएँ इन तत्त्वों का कारणरूप मानी जा सकती हैं। इसी में कुछ आगे चलकर प्राण के साथ जो "भूत" शब्द आया है, वह प्रसंगानुसार पंचभूतों का वाचक हो सकता है।[२] शरीर में स्थित पुरुष को षोडश कलावाला बताया गया है। इसके विकास का क्रम इस प्रकार है—सबसे पहले प्राण उत्पन्न हुआ। प्राण से श्रद्धा की उत्पत्ति हुई। इसके बाद ख (आकाश), वायु, ज्योति (अग्नि), आपः (जल) और पृथिवी हुई। फिर इन्द्रियाँ, और मन। फिर अन्न और अन्न से वीर्य, तप, मंत्र, कर्म, लोक और नाम।[३] इस विकास में उन विचारों का अंकुर पाया जाता है, जो सांख्य में आगे चलकर परिपुष्ट हुए।

विकास की एक छोटी-सी झाँकी मुण्डकोपनिषद् में भी मिलती है। ब्रह्म ने तप किया। फिर अन्न उत्पन्न हुआ और अन्न से प्राण, मन, सत्य, लोक, कर्म और अमृत विकसित हुए।[४] अन्न शब्द से अभिप्राय नाम-रूपमय सृष्टि से है, जिसका पुरुष भोग करता है। मुण्डक में दूसरे स्थल पर कहा है कि ब्रह्म से ही प्राण उत्पन्न हुए और मन, सब इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्व को धारण करनेवाली पृथिवी। "विश्वस्य धारिणी" पृथिवी से अभिप्राय इस भूमि से है, न कि तत्त्वरूप पृथिवी से। इसी प्रकार आकाश, वायु, जल और अग्नि भी स्थूल पदार्थ ही यहाँ माने गये हैं, न कि तत्त्वरूप।[५] आगे दिया गया विराट् का रूपक भी इसी बात की ओर संकेत करता है—अग्नि इस विराट पुरुष की मूर्धा है, चन्द्र और सूर्य आँखें हैं, वायु इसका प्राण है और दोनों पैर पृथिवी हैं।[६]

मुण्डकोपनिषद् में प्रकृति से बने संसार की तुलना महावृक्ष से की गयी है, जिस

१. पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च। (प्रश्न० ४।८)
२. विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र। (प्रश्न० ४।११)
३. स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियम्।
मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मंत्राः कर्म लोकाः लोकेषु च नाम च॥ (प्रश्न० ६।४)
४. तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ (मुण्डक० १।१।८)
५. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ (मुण्डक० २।१।३)
६. अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।

पर दो पक्षी एक ही आयु के और सरल भाव से युक्त बैठे हुए हैं। एक पक्षी फलों का भोग करता है, और दूसरा साक्षीमात्र है। यह मंत्र ऋक् और अथर्व में भी है।[1]

तैत्तिरीयोपनिषद् में एक स्थल पर पृथिवी, द्यौ, आकाश और वायु को लोक बताया गया है—पृथिवी और द्यौ के बीच में आकाश सन्धि और वायु सन्धान (मिलानेवाला) है। इसी प्रकार अग्नि, आदित्य, आपः (जल) और विद्युत् को ज्योतियों से संबंध रखनेवाले बताया है। अग्नि और आदित्य (सूर्य्य) के बीच में जल सन्धि और वैद्युत सन्धान है।[2] इन उक्तियों में पृथिवी, आपः, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँचों शब्दों का प्रयोग है, पर यहाँ भी पंच तत्त्वों से अभिप्राय नहीं है। एक स्थल पर भूः व्याहृति को अग्नि, भुवः को वायु और सुवः या स्वः को आदित्य, एवं महः को चन्द्रमा बताया है। यहाँ पर भी अग्नि और वायु शब्द तत्त्वों के वाचक नहीं हैं।[3]

किन्तु इसी उपनिषद् में आगे चलकर विकास का एक उपयोगी क्रम दिया गया है—इस विश्व-आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु बना, वायु से अग्नि, अग्नि से जल की सृष्टि हुई, जल से पृथिवी बनी। पृथिवी से ओषधियाँ और ओषधियों से अन्न बना, अन्न से रेत (वीर्य) और उससे पुरुष बना। इसलिए पुरुष को अन्न-रसमय कहा गया है।[4] विकास के इन वचनों में पंचमी विभक्ति (कारक) का प्रयोग हुआ है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ, अथवा भाव यह भी हो सकता है कि आकाश के बाद वायु, और वायु के बाद अग्नि उत्पन्न हुआ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥
(मुण्डक० २।१।४)

१. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
(मुण्डक ३।१।१; ऋग्० १।१६४।२०; अथर्व० ९।९।२०)

२. **अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम् ॥ अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम् ॥**
(तैत्ति०, शि० ३।१–२)

३. **भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः।**
(तैत्ति०, शि० ५।२)

४. **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद् वायुः। वायोरग्निः।**

तैत्तिरीयोपनिषद् के समय भी आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी को पंच भूत या पंच तत्त्व नहीं माना जाता था, अन्यथा शिक्षावल्ली के सातवें अनुवाक में जो पांक्त (पाँच-पाँच के समूह) गिनाये गये हैं, उनमें इन्हें अवश्य स्थान मिलता। पांक्त निम्न हैं—

अधिभूत पांक्त	१	२	३	४	५
प्रथम पांक्त–	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	दिशा	अवान्तरदिशा
द्वितीय पांक्त	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा	नक्षत्र
तृतीय पांक्त	आपः	ओषधि	वनस्पति	आकाश	आत्मा
अध्यात्मपांक्त					
प्रथम पांक्त	प्राण	व्यान	अपान	उदान	समान
द्वितीय पांक्त	चक्षु	श्रोत्र	मनस्	वाक्	त्वक्
तृतीय पांक्त	चर्म	मांस	स्नाव	अस्थि	मज्जा

तैत्तरीयोपनिषद् कहा गया है कि पहले असत् था और उससे सत् की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म ने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने तप किया। तप से तप कर उसने इस व्यक्त जगत् की सृष्टि की।[1]

ऐतरेयोपनिषद् ने आरम्भ में ही कहा कि व्यक्त सृष्टि से पूर्व केवल आत्मा था। और कुछ भी व्यक्त न था। आत्मा ने ईक्षण किया कि लोकों को रचूँ। उसने ये लोक बनाये—अम्भस्, मरीचि, मर और आप। अम्भस् तो द्यौलोक में है, अन्तरिक्ष में मरीचि, पृथित्री पर मर और जो नीचे भूमि पर है उसका नाम आप है। अतिसूक्ष्म वाष्प का नाम अम्भस् है, और पृथिवी पर जो स्थूल जल है, वह आपः है।[2] ब्रह्म ने जल से ही पुरुष को निकाल कर मूर्छित किया। इस मूर्च्छित पिंड को ही जब उसने

अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ (तैत्ति०, ब्र० १।३)

१. **असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। (तैत्ति० ब्र० ७।१) सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। (तैत्ति० ब्र० ६।१)**

२. **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवं, द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्षं मरीचयः, पृथिवी मरो, या अधस्तात्ता आपः॥ (ऐत० १।१।१–२)**

तपाया तो उसमें से इस प्रकार इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं, जैसे मानों अण्डा फूट कर निकली हों। इन्द्रिय के साथ कौन-सी क्षमता और कौन-सा देवता हुआ, वह इस प्रकार है[1]—

गोलक (लोक)	इन्द्रिय	देवता
मुख	वाक्	अग्नि
नासिका	प्राण	वायु
अक्षि	चक्षु	आदित्य
कर्ण	श्रोत्र	दिशा
त्वचा	लोम	ओषधि-वनस्पति
हृदय	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
शिश्न	रेतस्	आप:

ऐतरेयोपनिषद् के तीसरे अध्याय के पहले खण्ड में प्रज्ञानब्रह्म का उल्लेख है। इसमें पहली बार पंच महाभूत शब्द आता है और इस शब्द के साथ-साथ पृथिवी, वायु, आकाश, अप् और ज्योतियाँ इन पाँच का उल्लेख है।[2] इन्हें देव भी माना गया है।

छान्दोग्योपनिषद् ताण्डच महाब्राह्मण का एक भाग है, जिस प्रकार **बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण** का। इसके प्रारम्भ में ही "भूतानाम्" शब्द का प्रयोग हुआ है और भूतों का रस पृथिवी, पृथिवी का रस जल (अप्) बतलाया है।[3] अगर भूतों का रस

१. स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डं मुखाद् वाग् वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येतां अक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद् दिशः। त्वङ्क निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा। नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥ (ऐत० १।१।३–४)

२. एष ब्रह्मैष इन्द्रः। एष प्रजापतिः। एते सर्वे देवा इमानि च पंच महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीति॥ (ऐत० ३।१।३)

३. एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रसः। (छान्दोग्य० १।१।२)

पृथिवी है और भूतों से पंच महाभूतों का अभिप्राय है (जिनमें आपः या जल भी एक भूत है), तो पृथिवी का रस जल कैसे माना जा सकता है। अतः यहाँ भूत का पंच महाभूतों से अभिप्राय होना संदिग्ध है।

छान्दोग्य में एक स्थल पर पंच-ब्रह्म पुरुष का वर्णन है। इस पंचक का विस्तार हम नीचे सारणी में देते हैं। यह आश्चर्य है कि इस पंचक में पंच महाभूतों को स्थान नहीं मिला, यद्यपि इसमें अग्नि, वायु और आकाश का उल्लेख आया है। स्पष्टतः आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, पर्जन्य और आकाश यह वैदिक पंचक है।[१]

सुषि (दिशा)	१	२	३	४
प्राङ (पूर्व)	प्राण	चक्षु	आदित्य	तेज-अन्नाद्य
अवाङ (दक्षिण)	व्यान	श्रोत्र	चन्द्रमा	श्री—यश
प्रत्यङ (पश्चिम)	अपान	वाक्	अग्नि	ब्रह्मवर्चस्-अन्नाद्य
उदङ (उत्तर)	समान	मन	पर्जन्य	कीर्ति-व्युष्टि
ऊर्ध्व	उदान	वायु	आकाश	ओज-महः

छान्दोग्य में व्यक्त जगत् का विकास एक स्थल पर इस प्रकार दिया है—आदित्य ही ब्रह्म है। सृष्टि से पूर्व केवल असत् था, उसी से सत् की उत्पत्ति हुई और वह सम हो गया। वह फिर अण्डे के समान हो गया। अनेक संवत्सर तक यह अण्डा सुप्त रहा। इसके बाद वह बीच से टूटकर दो टुकड़े हुआ। ये दो आण्ड कपाल चाँदी और सोना हुए, जो चाँदी का कपाल था वह पृथिवी बनी और जो सोने का कपाल था वह द्यौ बना। इनमें से जो जरायु निकली वह पर्वत बनी और जो उल्ब या गर्भ सा भाग था वह मेघ और नीहार बना। जो धमनियाँ थीं वे नदियाँ हुई और जो बीच का उदक था वह समुद्र बना।[२]

१. **तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देव सुषयः॥ इत्यादि॥ (छान्दोग्य० ३।१३।१–६)**

२. **आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत् तत्समभवत्। तदाण्डं निरवर्तत। तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत। ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्। तद्यद्रजतं सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं सा द्यौः। यज्जरायु ते पर्वताः। यदुल्बं स मेघो नीहारः। या धमनयस्ता नद्यः। यद्वास्तेयमुदकं स समुद्रः॥ (छान्दोग्य० ३।१९।१–२)**

एक स्थल पर छान्दोग्य में यह बताया है कि अन्त में जाकर सब पदार्थ वायु में ही लय होते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा ये सब बुझकर या अस्त होकर वायु में लय होते हैं। पानी जब सूखता है, तो वायु में लय होता है।[1]

सत्यकाम के प्रति ब्रह्म के चतुष्कल पाद (चार कलाओंवाले भाग) का उपदेश करते समय चार-चार के निम्न समूह बताये गये हैं[2]—

प्रकाशवान् चतुष्कल—प्राची, प्रतीची, अवाची (दक्षिणा) और उदीची

अनन्तवान् चतुष्कल—पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ और समुद्र

ज्योतिष्मान् चतुष्कल—अग्नि, सूर्य, चन्द्र और विद्युत्

आयतनवान् चतुष्कल—प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन

छान्दोग्य में एक स्थल पर यह उल्लेख है कि पृथिवी से अग्नि को, अन्तरिक्ष से वायु को और द्यौ लोक से आदित्य को प्रजापति ने अपने तप से निकाला।[3]

इसी स्थल पर आगे चलकर यज्ञ के विरिष्ट (घाव या क्षत) को जोड़ने के प्रसंग में कुछ ऐसी बातें कही गयीं, जिनका रासायनिक प्रक्रियाओं से संबंध है—जैसे लवण से सोने को कोई जोड़े, सोने से चाँदी को, चाँदी से त्रपु को, त्रपु से सीसे को, सीसे से लोहे को, लोहे से लकड़ी को और लकड़ी से चर्म को ; वैसे ही इन लोकों, देवताओं और त्रयी विद्या के सामर्थ्य से यज्ञ के विरिष्ट (क्षत) जोड़ दिये जाते हैं।[4] लवण से अभिप्राय संभवतः सुहागे से है। लोह (संभवतः सुवर्ण) के साथ कृष्णायस (कृष्ण लोह) का भी उल्लेख एक स्थल पर इस उपनिषद् में आया है।[5] लोह (सुवर्ण)

१. वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति। यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति। यदाऽऽप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति। वायुर्ह्येवैतान्सर्वान् संवृङ्क्ते। इत्यधिदैवतम्॥ (छान्दोग्य० ३।३।१–२)

२. छान्दोग्य, प्रपाठक ४। खंड ५–८

३. प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः॥ (छान्दोग्य० ४।१७।१)

४. तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन रजतम्, रजतेन त्रपु, त्रपुणा सीसम्, सीसेन लोहं, लोहेन दारु, दारु चर्मणा। एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति। (छान्दोग्य० ४।१७।८)

५. यथा सौम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्। वाचाऽऽरम्भणं विकारो

से जो आभरण बनता था, उसे लोहमणि कहा है, और कार्ष्णायस से बने नखनिकृन्तन (नाखून काटने की नहरनी) का उल्लेख किया है।

साधारण अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् में तीन रंग विद्यमान हैं। जो लाल रंग है वह तेजस् का रूप है, जो शुक्ल वर्ण है, वह अप् (जल) का, और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न या पृथिवी का। इसका अभिप्राय है कि ये तीन महाभूत इन सबों में विद्यमान होकर विभिन्न रंग दे रहे हैं। यह कल्पना छान्दोग्य की अपनी है। कदाचित् वायु और आकाश कोई रंग नहीं देते।[1]

वाणी का महत्त्व बताते हुए जो सूची दी गयी है, उसमें ६ पदार्थों को इस क्रम से गिनाया है—द्यौ, पृथिवी, वायु, आकाश, आपः और तेज।[2] ये पदार्थ स्पष्टतः पंच महाभूत नहीं हो सकते, क्योंकि द्यौ और आकाश दोनों का इसमें उल्लेख है। द्यावा-पृथिवी, वायु-आकाश और अप्-तेजस् इन तीन युग्मों का अन्यत्र भी उल्लेख है।[3]

छान्दोग्य के सप्तम प्रपाठक में नारद के प्रति सनत्कुमार ने यह उपदेश किया कि नाम से श्रेष्ठ या बड़ी वाणी है, वाणी से मन बड़ा है। मन से संकल्प बड़ा है, संकल्प से चित्त बड़ा है और चित्त से ध्यान बड़ा है। ध्यान से विज्ञान बड़ा है, विज्ञान से बल बड़ा है। बल से अन्न बड़ा है, अन्न से जल (आपः) बड़ा है, जल से बड़ा तेज है, तेज से बड़ा आकाश है। आकाश से बड़ी स्मृति है, स्मृति से आशा बड़ी है। आशा से बड़ा प्राण है। यह कहना कठिन है कि यहाँ अन्न, जल, तेज

नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्॥ यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात्। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम्॥ (छान्दोग्य० ६।१।५–६)

१. यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपम्। यच्छुक्लं तदपाम्। यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागादग्नेरग्नित्वं वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्॥ यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपां रूपमिति तद् विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः॥ (छान्दोग्य० ६।४।१, ६)

२. दिवं च पृथिवीं च वायुं चाऽऽकाशं चापश्च तेजश्च। (छान्दोग्य ७।२।१)

३. (क) समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाऽऽकाशं च समकल्पन्ताऽऽपश्च तेजश्च॥ (छान्दोग्य० ७।४।२)

(ख) दिवञ्च पृथिवीं च वायुञ्चाऽऽकाशं चापश्च तेजश्च। (छान्दोग्य० ७।७।१)

और आकाश पंच तत्त्व हैं। वायु का नाम इस सूची में न आने से एवं पृथिवी के स्थान पर अन्न शब्द का प्रयोग होने से ऐसी सम्भावना ही प्रतीत होती है कि यहाँ अभिप्राय पंच महाभूतों से नहीं है।[1]

बृहदारण्यक उपनिषद् **शतपथ** ब्राह्मण का अंग है। **शतपथ** वाले अध्याय में हम इस बात का उल्लेख कर आये हैं कि इस ग्रन्थ की रचना के समय पंच तत्त्वों या पंच महाभूतों की उस कल्पना का विकास नहीं हुआ था, जो न्याय-वैशेषिक आदि के समय हुआ। व्यक्त सृष्टि के पूर्व कुछ भी तो न था। अशनायारूप मृत्यु (भक्षण-कर्ता मृत्यु) से यह सब ढका हुआ था। अशनायामृत्यु ने मन की रचना की। इससे फिर आप: अर्थात् जल उत्पन्न हुए। अप् का ही नाम अर्क भी है। इन जलों के ऊपर जो शर या मलाई थी वही जमकर पृथिवी बनी। ब्रह्म ने जो श्रम किया उससे तप-कर तेज या अग्निपिण्ड उत्पन्न हुआ। इन वचनों में "अग्नेराप:" और "अद्भ्यः पृथिवी" (तैत्तिरीय उपनिषद्) के वचनों की कुछ झलक है।[2]

बृहदारण्यक में एक स्थल पर वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन का संबंध क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा और चन्द्रमा से बताया है, जो वैदिक कल्पना है।[3]

१. वाग्वाव नाम्नो भूयसी.... मनो वाव वाचो भूयः। संकल्पो वाव मनसो भूयान् .....। चित्तंवाव संकल्पाद् भूयः। ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः .....। विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः। बलं वाव विज्ञानाद् भूयः .....। अन्नं वाव बलाद् भूयः। आपोवावान्नाद् भूयः।.....। तेजो वावाद्भ्यो भूयः....। आकाशो वाव तेजसो भूयान् ...। स्मरो वावाकाशाद् भूयः। आशावाव स्मराद् भूयसी।...। प्राणो वाव आशाया भूयान्॥
(छान्दोग्य० ७।२–१५, तथा ७।२६।१)

२. नैवेह किंचनाग्र आसीन् मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशना ययाऽशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्। कं ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥१॥ आपो वा अर्कस्तद्यदपां शर आसीत् तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्तस्या-मश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः॥ (बृहदा० १।२।१–२)

३. स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्। सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्....। अथ प्राणमत्यवहत्। स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्....। अथ चक्षुरत्यवहत्। तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्....। अथ श्रोत्रमत्यवहत्। तद्यदा

इन उक्तियों में अग्नि और वायु महाभूतों के वाचक नहीं हैं। एक स्थल पर उल्लेख है कि मुख और हाथ दोनों से अग्नि उत्पन्न की गयी (शब्द और प्रयत्न से)। मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती ही है। मुख और हाथ के भीतर इसी लिए लोम नहीं होते।[1]

अन्यत्र एक स्थल पर आदित्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, आपः—इन सात की ब्रह्म के समान उपासना करने की ओर संकेत किया गया (गार्ग्य और अजातशत्रु संवाद में)।[2] इन वाक्यों में प्रयुक्त आकाश, वायु, अग्नि और आपः शब्द महाभूतों के वाचक हैं या नहीं, यह सन्दिग्ध ही है। जिन अर्थों में आदित्य, चन्द्र और विद्युत् हैं, उन्हीं में अन्य चार को भी समझना चाहिए।

ब्रह्म (उपादान प्रकृति) के दो रूप बताये गये हैं—मूर्त और अमूर्त। इनमें से एक मर्त्य (नाशवान्) और दूसरा अमृत (नाशरहित) है। एक स्थिर है और दूसरा परिवर्तनशील। वायु और आकाश अमूर्तरूप हैं और शेष सब मूर्तरूप हैं।[3]

बृहदारण्यक के मधु ब्राह्मण में पृथिवी, आपः, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशाएँ, चन्द्र, विद्युत्, स्तनयित्नु (गर्जनशील मेघ) और आकाश इन्हें सभी भूतों का मधु बताया गया है। यहाँ दस पदार्थों को गिनाया है, जिनमें पाँच वही हैं, जिन्हें बाद के साहित्य

मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवन्....। अथ मनोऽत्यवहत्।
तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्॥
(बृहदा० १।३।११-१५)
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत।

श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥ (यजु० ३१।१२)

१. अथेत्यभ्यमन्थत्। स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत। तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। (बृहदा० १।४।६)

२. स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुषः एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति।..... असौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति.....असौ विद्युति पुरुषः...... अयमकाशे पुरुषः....अयं वायौ पुरुषः....अयमग्नौ पुरुषः ....अयमप्सु पुरुषः...(बृहदा० २।१।२-८)

३. द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तञ्च। मर्त्यं चामृतं च। स्थितञ्च यच्च। सच्च त्यञ्च। तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्चैतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्। (बृहदा० २।३।१-२)

में तत्त्व माना गया। पर स्पष्टतः इस स्थल पर इन्हें आदित्य, दिशा, चन्द्र आदि की कोटि में ही रखा गया है।[१]

इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में पृथिवी, आपः, अग्नि, अन्तरिक्ष, वायु, द्यौ, आदित्य, दिशा, चन्द्रतारक, आकाश, तमस्, तेजस्, सर्वभूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, रेत—इन २१ को इस क्रम से गिनाया है।[२] इनमें पृथिवी, आपः, अग्नि और वायु शब्द तो पंचतत्वों के अन्तर्गत प्रयुक्त होते हैं, पर अग्नि और वायु के बीच में अन्तरिक्ष शब्द आ जाने के कारण और बाद को द्यौ, यह सन्देह पुष्ट हो जाता है कि यहाँ रचयिता का अभिप्राय पंच-तत्वों से है ही नहीं। आगे एक स्थल पर अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र इनको स्पष्टतया वसु कहा गया है।[३]

आगे चलकर छः देव इस प्रकार गिनाये गये हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्यौ।[४] एक स्थल पर सब भूतों का रस पृथिवी बताया है और पृथिवी का रस आपः, अप् का रस ओषधि, ओषधियों का रस पुष्प, पुष्पों का रस फल, फल का रस पुरुष और पुरुष का रस रेत।[५]

१. इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। इमा आपः...। अयमग्निः...। अयं वायुः...। अयमादित्यः...। इमा दिशः.......। अयं चन्द्रः....। इयं विद्युत्....। अयं स्तनयित्नुः....। अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याऽऽकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु। (बृहदा० २।५।१–१०)

२. यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्। यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। इत्यादि। (बृहदा० ३।७।३–२२)

३. कतमे वसव इति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वं हितमिति, तस्माद्वसव इति। (बृहदा० ३।९।३)

४. कतमे षडिति? अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चाऽऽदित्यश्च द्यौश्चैते षट्। एते हीदं सर्वं षडिति। (बृहदा० ३।९।७)

५. एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधयः, ओषधीनां पुष्पाणि, पुष्पाणां फलानि, फलानां पुरुषः, पुरुषस्य रेतः। (बृहदा० ६।४।१)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मशक्ति संबंधी कुछ पंचक गिनाये हैं—पंचस्रोतोम्बु (पाँच ज्ञानेन्द्रियरूप जलवाली), पंचयोन्युग्रवक्रा (पंच योनियों से उग्र और वक्र), पंचबुद्धि-मूल, पंचावर्ता (पंच-भ्रमर, अथवा इन्द्रियों के रूप, रस आदि पाँच विषय)। इसमें पंचयोनि शब्द से भाष्यकार पंच भूतों का अभिप्राय लेते हैं।[1] आगे चलकर पञ्चात्मकों के नाम एक स्थल पर स्पष्ट किये गये हैं—पृथिवी, आपः तेज, अनिल (वायु), ख (आकाश)।[2]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में सृष्टि के उपादानकारण प्रकृति के रूप की प्रथम बार झाँकी मिलती है। इस प्रकृति से नील, हरित और लाल रंग के पदार्थ, पतंग (लोक), बादल, ऋतु और समुद्र उत्पन्न हुए। यह प्रकृति "अजा" है, अर्थात् किसी ने इसको उत्पन्न नहीं किया, इस भाव से अनादि और अनन्त है। यह एक है। इसके तीन गुण हैं—लोहित, शुक्ल और कृष्ण (क्रमशः रजस्, सत्त्व और तमस्), और इसी से बहु-रूपवाली समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। यह स्वयं अजा है पर प्रजाओं को बनाती है। इस प्रकार के अतिरिक्त दो अज और हैं—एक तो वह जो इसका भोग करके इसमें फँसता है (जीव) और दूसरा अज वह जो इसमें रहता हुआ भी इससे पृथक् या अलिप्त रहता है (ब्रह्म)। इसी भाव को ऋक् के '**द्वा सुपर्णा०**' मंत्र में भी व्यक्त किया गया है, जिसे श्वेताश्वतर ने भी इसी प्रसंग में उद्धृत किया है। दो अज और एक अजा (तीनों शाश्वत, स्वयम्भू, अनादि और अनन्त) का त्रैतवाद श्वेताश्वतर में असन्दिग्ध रूप से स्पष्ट है।[3]

१. पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्च बुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ (श्वेता० १।५)

२. पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ (श्वेता० २।१२)

३. नीलः पतङ्गो हरितो लोहताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा॥
अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(श्वेता० ४।४-६)

श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही माया और प्रकृति शब्द स्पष्ट एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। "प्रकृति" शब्द भी इस उपनिषद् से ही आरम्भ हुआ, जिसको सांख्य में बहुत महत्त्व मिला। प्रकृति ही माया है और प्रकृति के सम्बन्ध से महेश्वर ब्रह्म को मायिन् कहा गया है। एक निमित्त कारण है और दूसरा उपादान। दोनों के सहयोग से यह सृष्टि बनी; मायी ही इस जगत् में सब ओर से व्याप्त है।[१]

प्रकृति और उसके त्रिगुणों की कल्पना श्वेताश्वतर में सांख्य से आयी, अथवा कपिलदर्शन की रचना के अनन्तर श्वेताश्वतर उपनिषद् की रचना हुई, यह कहना कठिन है। इस उपनिषद् में एक स्थल पर (सांख्य के आचार्य) कपिल का नाम आया है, जिससे यह माना जा सकता है कि सांख्यदर्शन के बाद **श्वेताश्वतर उपनिषद्** की रचना हुई हो।[२]

इस प्रकार यहाँ स्पष्ट प्रदर्शित किया गया है कि वैदिक काल में पृथिवी, आपः, अग्नि, द्यौ, अन्तरिक्ष, वायु आदि शब्द देवों के अर्थ में, लोकों के अर्थ में और अपने यौगिक अर्थ में ईश्वर के वाचक होकर प्रयुक्त होते थे। उपनिषद्काल में द्यावा-पृथिवी, आप-स्तेज, वायु और अन्तरिक्ष तथा इनके साथ साथ विद्युत्, मेघ, आकाश, ओषधि, पुरुष आदि पदसमूहों का प्रयोग भी आरंभ हुआ, पर यहाँ भी ये शब्द उस अभिप्राय के द्योतक नहीं हैं, जिस अर्थ में पंचतत्त्व या पंचभूत शब्दों का आगे के काल में प्रयोग आरंभ हुआ। ऐतरेय में अवश्य एक स्थल पर पंच महाभूतों का नाम है और साथ ही साथ इन्हें देव भी कहा है। उपनिषत्काल में शनैः शनैः पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश—यह उपयोगी पंचक बन गया। कहीं कहीं पर इन पाँचों का सम्बन्ध वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि इद्रियों से भी किया जाने लगा। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द गुणों का संबंध इस पंचक के साथ अभी स्पष्टतः न जुड़ पाया। यहाँ तक कि एक स्थल पर श्वेत, लाल और कृष्ण रंगों का संबंध अप्, तेज और पृथिवी से स्पष्ट बताया गया है। प्रकृति और तत्त्व

१. **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥ (श्वेता० ४।१०)**

२. **यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥
(श्वेता० ५।२)**

शब्दों का प्रयोग वैदिक नहीं है। भूत शब्द प्राणियों और लोकों के लिए प्रयोग में आता रहा है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कपिल ने **सांख्य** दर्शन में प्रकृति शब्द का पहली बार प्रयोग किया। फलतः कपिल से परिचित **श्वेताश्वतर उपनिषद्** में प्रकृति शब्द अपने वर्त्तमान अर्थ में आया। प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् भी शुक्ल, लोहित और कृष्ण के रूप में व्यक्त हुए। प्रकृति को ही माया और अजा कहा गया और इसी समय पृथ्वी, अप्, तेज, अनिल और ख (आकाश) की वह कल्पना सामने आयी जिसका प्रभाव आगे के साहित्य पर पड़ा।

निर्देश

१. **ऋग्वेद, यजुर्वेद** और **अथर्ववेद** संहिताएँ, स्वाध्यायमंडल, औंध (१९४०, १९२७, १९४३)।
२. **तैत्तिरीय संहिता**।
३. **शतपथ ब्राह्मण**, अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी।
४. उपनिषदों के विविध संकलन।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

आयुर्वेद-ग्रन्थों में पञ्चभूत आदि की कल्पना

चरक की विचार धारा

(ईसा से पाँच शती पूर्व)

पंचेन्द्रिय और उनके विषय—चरक, इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय, सूत्रस्थान में कहा गया है कि पाँच इन्द्रियाँ हैं, पाँच इन्द्रिय-द्रव्य हैं, पाँच इन्द्रिय-अधिष्ठान हैं, पाँच इन्द्रिय-अर्थ हैं और पाँच इन्द्रिय-बुद्धियाँ हैं। इन इन्द्रियों के अतिरिक्त एक मन है, जिसे "सत्त्व" और "चेत" भी कहते हैं। यही इन्द्रियों की विभिन्न चेष्टाओं का कारण है। मन के अपने विषय भी बहुत प्रकार के हैं, इन्द्रियों के अर्थ भी विभिन्न हैं और संकल्प भी विभिन्न पाये जाते हैं। इन सबसे स्पष्ट है कि एक ही पुरुष में सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के विभिन्न योग विद्यमान हैं। मन तो एक ही है। एक मन एक ही काल में अनेक इन्द्रिय-अर्थों से सम्पर्क नहीं रख सकता। इसलिए सब इन्द्रियाँ एक समय में एक साथ अपने विषयों के प्रति प्रवृत्त नहीं हो सकतीं।[1] मन के नेतृत्व से ही इन्द्रियाँ अपने विषयों (अर्थों) को ग्रहण करने में समर्थ हो सकती हैं। पाँच इन्द्रियाँ चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन हैं। इन पाँच इन्द्रियों से संबंध रखनेवाले द्रव्य ये हैं—ख (आकाश), वायु, ज्योति, अप् और भू (पृथिवी)। पाँच इन्द्रिय-अधिष्ठान हैं—दो आँख, दो कान, नासिका, जिह्वा और त्वक् तथा

१. इह खलु पञ्चेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि, पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, पञ्चेन्द्रियार्थाः पञ्चेन्द्रियबुद्धयो भवन्ति, इत्युक्तमिन्द्रियाधिकारे। अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं, 'चेतः' इत्याहुरेके, तदर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम्। स्वार्थेन्द्रियार्थसंकल्पव्यभिचरणाच्चानेकमेकस्मिन् पुरुषे सत्त्वं, रजस्तमःसत्त्वगुणयोगाच्च। न चानेकत्वं, न ह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः॥ (चरक, सूत्र० ८।३–५)

इन्द्रियों के पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।[1] इसी प्रकार पाँच इन्द्रिय-बुद्धियाँ हैं—चक्षुबुद्धि, श्रोत्रबुद्धि, घ्राणबुद्धि, रसनबुद्धि और स्पर्शनबुद्धि। इन्द्रिय, इन्द्रिय-बुद्धि, इन्द्रिय-अर्थ, मन और आत्मा इनका एक पञ्चक है जिसके सन्निकर्ष से बोध या ज्ञान प्राप्त होता है। यह बोध क्षणिक और निश्चयात्मक है।[2]

इन्द्रियों को तो हम अनुमान द्वारा ही जानते हैं। ये सभी इन्द्रियाँ पंच महाभूतों के विकार के समुदाय से बनी हुई हैं (सभी इन्द्रियों में पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के कुछ न कुछ अंश अवश्य होते हैं), पर फिर भी आँखों में प्रधानतया तेजस्, कर्णेन्द्रिय में आकाश, घ्राणेन्द्रिय में पृथिवी, रसनेन्द्रिय में जल और स्पर्शनेन्द्रिय में वायु विद्यमान है। जिस जिस इन्द्रिय में जिस जिस महाभूत की विशेषता या प्रधानता है, वह वह इन्द्रिय अपने स्वभाव और विभुत्व के कारण अपने से सम्बन्ध रखनेवाला "अर्थ" या "विषय" जहाँ पायेगी वहाँ उसका ग्रहण करेगी।[3]

रस एक है या अनेक ?—साधारणतया जिह्वा से जिस विषय की प्रतीति होती है, उसे रस कहते हैं। रस एक है या अनेक, इस संबंध में एक सुन्दर विचार-विमर्श आत्रेय, भद्रकाप्य, शाकुन्तेय, मौद्गल्य पूर्णाक्ष, कौशिक हिरण्याक्ष, कुमारशिरा (भरद्वाज), वार्योविद्, विदेहाधिपति निमि, बडिश, बाह्लीक काङ्कायन आदि विद्वानों के बीच में हुआ, जिसका उल्लेख **चरक** ने अपने सूत्रस्थान के २६वें अध्याय में किया है।[4]

१. मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति। पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति॥ पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥ (चरक, सूत्र० ८।७–११)

२. पञ्चेन्द्रियबुद्धयः—चक्षुर्बुद्ध्यादिकाः; ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च; इत्येतत् पञ्चपञ्चकम्॥ (चरक, सूत्र० ८।१२)

३. तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते। तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च॥ (चरक, सूत्र० ८।१४)

४. एक एव रस इत्युवाच भद्रकाप्यः—यं पञ्चानामिन्द्रियार्थानामन्यतमं जिह्वा-

भद्रकाप्य का मत यह था कि रस एक है, जो कि पाँचों इन्द्रियों में से केवल एक इन्द्रिय—रसन या जिह्वा—का विषय है। रस उदक या पानी से भिन्न और कुछ नहीं है।

शाकुन्तेय का मत यह है कि रस दो हैं,—छेदनीय (depletive) और उपशमनीय (impletive)। मौद्गल्य पूर्णाक्ष के मतानुसार रस तीन हैं—छेदनीय, उपशमनीय और साधारण (दोनों के बीच का) । कौशिक हिरण्याक्ष के कथनानुसार रस चार हैं—(क) स्वादुर्हित (स्वादिष्ठ भी और हितकारी भी), (ख) स्वादुरहित (स्वादिष्ठ परन्तु अहितकर), (ग) अस्वादुर्हित (अस्वादिष्ठ परन्तु हितकारी) और (घ) अस्वादुरहित (स्वाद-रहित और अहितकारक) । कुमारशिरा भरद्वाज का कहना है कि रस पाँच होते हैं—भौम, औदक, आग्नेय, वायव्य और आन्तरिक्ष (पंच भूतों में से प्रत्येक से संबंध रखनेवाला एक-एक) । राजर्षि वार्योविद के अनुसार छः रस हैं—गुरु (भारी), लघु (हलका), शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष (रूखा) । विदेह निमि के मतानुसार रस सात हैं—मधुर (sweat) अम्ल (acid), लवण (salt), कटु (pungent), तिक्त (bitter), कषाय (astringent) और क्षार (alkaline) । धामार्गव बडिश के मतानुसार रस आठ हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय, क्षार और अव्यक्त । बाह्लीक काङ्कायन का कथन था कि रस अनेक हैं । आश्रय, गुण, कर्म (action) आदि अनेक होते हैं और उनके अनुसार रस भी अपरिसंख्येय

वैषयिकं भावमाचक्षते कुशलाः, स पुनरुदकादनन्य इति । द्वौ रसाविति शाकुन्तेयो ब्राह्मणः, छेदनीय उपशमनीयश्चेति । त्रयो रसा इति पूर्णाक्षो मौद्गल्यः, छेदनीयोपशमनीयसाधारणा इति । चत्वारो रसा इति हिरण्याक्षः कौशिकः, स्वादुर्हितश्च स्वादुरहितश्चास्वादुर्हितश्चास्वादुरहितश्चेति ।

पञ्च रसा इति कुमारशिरा भरद्वाजः, भौमोदकाग्नेयवायव्यान्तरिक्षाः । षड्रसा इति वार्योविदो राजर्षिः, गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाः । सप्त रसा इति निमिर्वैदेहः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराः । अष्टौ रसा इति बडिशो धामार्गवः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायक्षाराव्यक्ताः ।

अपरिसंख्येया रसा इति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, आश्रयगुणकर्मसंस्वादविशेषाणामपरिसंख्येयत्वात् ।

षडेव रसा इत्युवाच भगवानात्रेयः पुनर्वसुः, मधुराम्ललवणकटुतिक्तकषायाः ।। (चरक, सूत्र० २६।८)

(अनगिनती) होने चाहिए। इन सबका समन्वय करते हुए भगवान् आत्रेय ने अन्त में अपना निर्णय दिया कि रस केवल छः हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय।

आत्रेय का कहना है कि उदक या जल छः रसों की योनि अथवा आधार-कारण है। छेदन और उपशमन तो कर्म हैं, इन दोनों के मिश्रण से साधारणत्व उत्पन्न होता है, अतः ये तीनों ही स्वाद नहीं हैं। किसी रस को स्वादु या अस्वादु कहना अपनी अपनी रुचि पर निर्भर है। रसों का हितकर या अहितकर होना उनका प्रभाव है, न कि ये स्वयं रस हैं। प्रकृति (nature), विकृति (modification), विचार (combination), देश और काल—इतनों के अधीन पंचभूतों के विकार स्वादों के आश्रय होते हैं, अतः कुमारशिरा भरद्वाज का पञ्चरस–सिद्धान्त भी ठीक नहीं है (द्रव्य गुणों का आश्रय है, पंचभूत द्रव्य हैं)। इन आश्रयों या द्रव्यों में ही गुरुत्व, लघुत्व, शीतोष्णता, स्निग्धता, रूक्षता आदि गुण रहते हैं। अतः ये गुण भी रस नहीं हैं (वार्योविद के विचार का निवारण)। क्षार भी कोई रस नहीं है, क्षरण करने से वस्तु क्षार कहलाती है, यह तो द्रव्य है। क्षार अनेक रसों के प्रयोग से बनाया जाता है। क्षार में अनेक रस होते हैं, जिनमें कटुक और लवण प्रधान हैं। क्षार में अनेक इन्द्रियों से ग्रहण किये जानेवाले विषय (रूप आदि) होते हैं। क्षार अनेक करणों (विधियों, भस्म-परिस्रावण आदि) से बनाये जाते हैं, अतः ये द्रव्य हैं (निमि वैदेह के मत का निवारण)। रसों का अव्यक्ती-भाव तो सचमुच रसों के स्रोत जल में ही विद्यमान है। रस के अनन्तर उत्पन्न अनुरस (after-taste) में भी और अनुरस से समन्वित द्रव्य में भी अव्यक्ती-भाव रहता है। अतः अव्यक्त कोई रस नहीं है (बडिश धामार्गव के मत का निराकरण)। अपरिसंख्येय (अनगिनती) प्रकार के द्रव्यों (आश्रयों) में रहने के कारण ही रस अपरिसंख्येय नहीं माने जा सकते। अनेक द्रव्यों में एक ही रस पाया जाता है, अतः द्रव्यों की अनेकता के कारण रसों की अनेकता मान्य नहीं है। बहुधा अनेक रस एक-दूसरे से मिले हुए भी पाये जाते हैं[१] (काङ्कायन के मत का निराकरण)।

१. **तेषां षण्णां रसानां योनिरुदकं, छेदनोपशमने द्वे कर्मणी, तयोर्मिश्रीभावात् साधारणत्वं, स्वाद्वस्वादुता भक्तिः, हिताहितौ प्रभावौ, पञ्च महाभूतविकारास्त्वाश्रयाः प्रकृतिविकृतिविचारदेशकालवशाः, तेष्वाश्रयेषु द्रव्यसंज्ञकेषु गुणा गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्याः। क्षरणात् क्षारः, नासौ रसः, द्रव्यं तदनेकरस-**

चरक के मतानुसार द्रव्यभेद या द्रव्यों का वर्गीकरण—ऐसे सब द्रव्य, जिनमें रस पाये जाते हैं, पाञ्चभौतिक हैं। ये चेतन और अचेतन दो प्रकार के भी हैं। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से इनका संबंध है। इनमें गुरुत्व आदि से लेकर द्रवत्व तक के गुण हैं। इनके गमन आदि पाँच प्रकार के कर्म हैं।[1] द्रव्यों के पाँच भेद हैं—पार्थिव, आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशात्मक।

(क) पार्थिव द्रव्य गुरु (heavy), खर (rough) कठिन (hard), मन्द (slow), स्थिर (stable), विशद (extensive) सान्द्र (dense), और स्थूल (gross) और बाहुल्य से गन्ध गुणवाले होते हैं। इनके उपचय (plumpness), संघात (compactness), गौरव (heaviness) और स्थैर्य्य को पार्थिवता द्वारा प्रोत्साहन मिलता है।

(ख) आप्य द्रव्य द्रव (fluid), स्निग्ध (unctuous), शीत (cold), मन्द, मृदु (soft), पिच्छल और बाहुल्य से रस-गुण युक्त होते हैं। इनसे उपक्लेद (moisture), स्नेह, बन्ध (union), विष्यन्द (liquefation), मार्दव (softness) और प्रह्लाद (प्रसन्नता) आदि गुणों को प्रोत्साहन मिलता है।

(ग) आग्नेय द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण (acute), सूक्ष्म (subtle), लघु (light), रूक्ष (dry) एवं विशद (extense) होतें हैं, और इनमें बाहुल्य से रूप गुण होता है। इनसे दाह (burning), पाक (digestion), प्रभा (radiance), प्रकाश (lustre) और वर्ण (colour) को प्रोत्साहन मिलता है।

(घ) वायव्य द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद और सूक्ष्म होते हैं। इनमें स्पर्श गुण बाहुल्य से पाया जाता है। रौक्ष्य, ग्लानि (depression), विचार (गति, morbidness), वैशद्य (extense or clearness) और लाघव (lightness) को इनसे प्रोत्साहन मिलता है।

समुत्पन्नमनेकरसं कटुक-लवण-भूयिष्ठमनेकेन्द्रियार्थ-समन्वितं करणाभिनिर्वृत्तम्। अव्यक्तीभावस्तु खलु रसानां प्रकृतौ भवत्यनुरसेऽनुरससमन्विते वा द्रव्ये। अपरिसंख्येयत्वं पुनस्तेषामाश्रयादीनां भावानां विशेषापरिसंख्येयत्वान्न युक्तम्। एकैकोऽपि ह्येषामाश्रयादीनां भावानां विशेषानाश्रयते विशेषापरिसंख्येयत्वात्, न च तस्मादन्यत्वमुपपद्यते। परस्परसंसृष्टभूयिष्ठत्वान्न चैषामभिनिर्वृत्तेर्गुणप्रकृतीनामपरिसंख्येयत्वं भवति॥ (चरक, सूत्र० २६।९)

१. सर्वं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमस्मिन्नर्थे, तच्चेतनावदचेतनं च, तस्य गुणाः शब्दादयो गुर्वादयश्च द्रवान्ताः कर्म पञ्चविधमुक्तं वमनादि। (चरक, सूत्र० २६।१०)

(ङ) आकाशात्मक द्रव्यों में मृदु, लघु, सूक्ष्म और श्लक्ष्ण (smooth) गुण होते हैं तथा इनमें बाहुल्य से शब्द गुण रहता है। इनसे मार्दव, सौषिर्य (सुषिरता—porousness) और लाघव को प्रोत्साहन मिलता है।[1]

षड्रसों के मिश्रण से तिरसठ रस—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय ये ६ विशुद्ध रस हैं। इनमें से किन्ही दो को साथ लेकर १५ मिश्रण तैयार किये जा सकते हैं। फिर इनमें से तीन-तीन रसों को मिलाया जाय तो २० संयोग और बनेंगे। षड्रसों में से पुनः चार-चार रसों को मिलाकर चतुष्क मिश्रण तैयार किये जायँ, तो उनके १५ संयोग बनेंगे। फिर षड्रसों में से किन्हीं पाँच-पाँच को मिला-

१. तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि, तान्युपचयसङ्घातगौरवस्थैर्यकराणि।

द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि, तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लादकराणि।

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि, तानि दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकराणि।

लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि, तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि।

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि, तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि। (चरक, सूत्र० २६।११)

वाग्भट के अष्टांगहृदय में भी लगभग इसी प्रकार के गुण बताये गये हैं—

पार्थिव—तत्र द्रव्यं गुरुस्थूलस्थिरगन्धगुणोल्बणम्।
पार्थिवं गौरवस्थैर्यसंघातोपचयावहम्॥
आप्य—द्रवशीतगुरुस्निग्धमन्दसान्द्ररसोल्बणम्।
आप्यं स्नेहनविष्यन्दक्लेदप्रह्लादबन्धकृत्॥
आग्नेय—रूक्षतीक्ष्णोष्णविशदसूक्ष्मरूपगुणोल्बणम्।
आग्नेयं दाहभावर्णप्रकाशपचनात्मकम्॥
वायव्य—वायव्यं रूक्षविशदलघुस्पर्शगुणोल्बणम्।
रौक्ष्यलाघववैशद्यविचारग्लानिकारकम्॥
आकाशात्मक—नाभसं सूक्ष्मविशदलघुशब्दगुणोल्बणम्।
सौषिर्यलाघवकरम्॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र० ९।५-१०)

कर पञ्च रस तैयार करें, तो इनके ६ विभिन्न संयोग बनेंगे, और अन्त में एक संयोग उस मिश्रण का बनेगा जिसमें छहों रस विद्यमान हैं। इस प्रकार षड्रसों की सहायता से कुल (६+१५+२०+१५+६+१=६३) तिरसठ संयोग बन सकेंगे।[1] अगर अनुरसों की गणना इनके साथ और की जाय तो अनगिनती प्रकार के संयोग बन सकेंगे। शुष्क पदार्थ को जिह्वा के प्रथम बार संपर्क में लाने पर जो रस या स्वाद व्यक्त होता है, वह वस्तुतः रस है; इसके विपरीत, बाद को जिस स्वाद की अनुभूति होती है, वह अनुरस है। अनुरस कोई सप्तम अव्यक्त रस नहीं है।[2]

पंच भूतों से रसों की उत्पत्ति—अन्तरिक्ष में उत्पन्न पानी (आपः) अपने स्वभाव से ही शीतल, लघु (हलका) और अव्यक्त रसवाला होता है। अन्तरिक्ष से जब

१. भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति, तमुपदेक्ष्यामः।

स्वादुरम्लादिभिर्योगं शेषैरम्लादयः पृथक्।
यान्ति पञ्चदशैतानि द्रव्याणि द्विरसानि तु॥
पृथगम्लादियुक्तस्य योगः शेषैः पृथग्भवेत्।
मधुरस्य तथाऽम्लस्य लवणस्य कटोस्तथा॥
त्रिरसानि यथासंख्यं द्रव्याण्युक्तानि विंशतिः।
वक्ष्यन्ते तु चतुष्केण द्रव्याणि दश पञ्च च॥
स्वाद्वम्लौ सहितौ योगं लवणाद्यैः पृथग्गतौ।
योगं शेषैः पृथग्यातश्चतुष्करससंख्यया॥
सहितौ स्वादुलवणौ तद्वत् कट्वादिभिः पृथक्।
युक्तौ शेषैः पृथग्योगं यातः स्वादूषणौ तथा॥
कट्वाद्यैरम्ललवणौ संयुक्तौ सहितौ पृथक्।
यातः शेषैः पृथग्योगं शेषैरम्लकटू तथा॥
युज्येते तु कषायेण सतिक्तौ लवणोषणौ।
षट् तु पञ्चरसान्याहुरेकैकस्यापवर्जनात्॥
षट् चैवेकरसानि स्युरेकं षड्रसमेव तु।
इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया॥

(चरक, सूत्र० २६।१४–२२)

२. व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।
विपर्ययेणानुरसो रसो नास्ति हि सप्तमः॥ (चरक, सूत्र० २६।२८)

यह नीचे गिरता है, तो पञ्च महाभूतों के सम्पर्क में आकर उनके गुणों से समन्वित हो जाता है और ऐसा बनकर जंगम स्थावर (पेड़-पौधे) दोनों को तृप्त करता है। जंगम और स्थावरों के शरीर में प्रविष्ट होकर यह छहों प्रकार के रसों को अभिव्यक्त करता है।

जब जलतत्व या सोम गुण की प्रधानता होती है, तब मधुर रस की उत्पत्ति होती है। जब पृथिवी और अग्नि तत्त्वों की प्रधानता होती है, तब अम्ल रस व्यक्त होता है। जब जल और अग्नि तत्त्वों की प्रधानता होती है, तो लवण रस व्यक्त होता है। जब वायु और अग्नि की प्रधानता होती है, तो कटुक रस व्यक्त होता है। वायु और आकाश की प्रधानता से तिक्त रस और इसी प्रकार वायु और पृथिवी तत्त्वों की प्रधानता से कषाय रस की उत्पत्ति होती है। पंचभूतों के न्यूनातिरेक से वर्ण (रूप), आकृति आदि की विभिन्नताएँ उत्पन्न होती हैं।[1]

षड्रसों के गुण-कर्म—चरक संहिता में षड्रसों के गुण-कर्मों का भी विवरण दिया हुआ है। (क) मधुर रस रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, ओज और शुक्र को बढ़ानेवाला है, तथा पित्त, विष और दाह को दूर करता है। (ख) अम्ल रस भोजन के प्रति रुचि उत्पन्न करता, अग्नि का दीपन करता, देह को पुष्ट करता, इन्द्रियों को दृढ़ करता और वायु (वात) का अनुलोमन करता है, एवं मुंह को स्राव (लार) से युक्त करता है। (ग) लवण रस पाचन, क्लेदन, दीपन, च्यावन, भेदन आदि में सहायता देता, मुख में स्राव उत्पन्न करता, कफ को निकालता, मार्गों का शोधन करता और आहार को रुचिकर बनाता है। (घ) कटुक रस मुख का शोधन करता, अग्नि को प्रदीप्त करता, भोजन का शोषण करता, नाक में स्राव उत्पन्न करता, आलस्य, शोथ, स्थूलता, स्वेद, क्लेद आदि का नाश करता, कृमियों को मारता, मांस को काटता और रुधिर-संघात

१. सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च, तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जंगमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति, तासु मूर्तिषु षड्भिर्मूर्च्छन्ति रसाः। तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान् मधुरो रसः, पृथिव्यग्निभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः, वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति।

एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेकविशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः ॥ (चरक, सूत्र० २६।३९–४०)

(blood clots) को तोड़ता एवं कफ का शमन करता है। (ङ) तिक्त रस स्वयं अरुचिकर होने पर भी अरुचि का नाश करता है एवं विषघ्न, कृमिघ्न और ज्वरघ्न है। यह क्लेद, मेद, वसा, मज्जा, लसीका, पूय, स्वेद, मूत्र, पुरीष और कफ का शोषण करता है। (च) कषाय रस संशामक, संग्राही, और सन्धानकर है, कफ, रुधिर और पित्त का शमन करता है। शरीर के क्लेद को चूस लेता है।[1]

चरक में वैशेषिक तत्त्व—जैसे **वैशेषिक सूत्र** (१।१।६) में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि **गुण** बतलाये हैं, उसी प्रकार चरक में भी परत्व, अपरत्व आदि गुणों का अपने ढंग से उल्लेख है। देश, काल, आयु, मान (परिमाण), पाक, वीर्य और रस आदि की अपेक्षा से **परत्व** और **अपरत्व** हैं। वह योजना जो इनको जोड़ती है उसे **युक्ति** कहते हैं। गणना के काम में जो आये वह **संख्या** है। विभिन्न पदार्थों के साथ मिल जाने का नाम संयोग है। यह संयोग या तो दोनों अवयवों के कर्म (action) से उत्पन्न होता है, या एक के कर्म से ही, और यह अनित्य होता है। अलग-अलग हो जाने का नाम **विभाग** है, अथवा भागों के अनुसार किसी का ग्रहण करना ही विभाग या वियोग है। असंयोग-विलक्षणता और अनेकता का नाम ही **पृथक्त्व** है। पुनर्मान (फिर से जो नापा जाय) का नाम **परिमाण** है। करण (preparation) का नाम **संस्कार** है। बार-बार किसी चीज़ का होना अभ्यास तथा किसी क्रिया का बराबर होते रहना शीलन है। इन सबका जब तक ज्ञान न हो, चिकित्सा कार्य में सफलता नहीं मिल सकती।[2]

१. चरक, सूत्र०, २६।४२–४३

२. देशकालवयोमानपाकवीर्यरसादिषु। परापरत्वे, युक्तिश्च योजना या तु युज्यते॥
संख्या स्याद् गणितं, योगः सह संयोग उच्यते।
द्रव्याणां द्वन्द्वः सर्वैककर्मजोऽनित्य एव च॥
विभागस्तु विभक्तिः स्याद् वियोगो भागशो ग्रहः।
पृथक्त्वं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता॥
परिमाणं पुनर्मानं, संस्कारः करणं मतम्।
भावाभ्यसनमभ्यासः शीलनं सततक्रिया॥
इति स्वलक्षणैरुक्ता गुणाः सर्वे परादयः।
चिकित्सा यैरविदितैर्न यथावत् प्रवर्तते॥ (चरक, सूत्र० २६।३१–३५)

पंच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, अप् और पृथिवी हैं, जिनके क्रमशः गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनमें आकाश का एक ही गुण (शब्द) है, आगे के भूतों में क्रमशः एक एक की वृद्धि होती जाती है, अर्थात् आगे आगे के तत्त्वों में पहले के तत्त्वों के भी गुण पाये जाते हैं। पृथिवी, जल, वायु और तेज में खरत्व (hardness), द्रवत्व (fluidity), चलत्व (motion) और उष्णत्व क्रमशः पाये जाते हैं (पृथिवी में खरत्व, जल में द्रवत्व, वायु में चलत्व और तेज में उष्णत्व है)। आकाश में अप्रतीघात (non-resistance) लक्षण पाया जाता है।[1] ये सब लक्षण स्पर्शेन्द्रिय से प्रतीत होनेवाले हैं।[2]

वैशेषिक के परमाणुओं का भी **चरक में** एक स्थल पर उल्लेख है। शरीर के अवयवों का विभाजन करते जायँ, तो अपरिसंख्येय परमाणु प्राप्त होंगे। ये परमाणु संख्या में अनगिनती, बहुत ही सूक्ष्म, अतीन्द्रिय (इन्द्रिय से अग्राह्य) हैं। इन परमाणुओं के संयोग-विभाग में वायु और कर्म (action) कारण है।[3]

चरक में सांख्यतत्त्व—इन्द्रिय, इन्द्रियविषय और उनसे उत्पन्न ज्ञान की मीमांसा करते समय चरक ने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनसे स्पष्ट है कि **सांख्य** के विचार **चरक** के समय भी प्रचलित थे। सत्त्व-रजस्-तमस् गुण और सांख्य के चौबीस पदार्थों का उल्लेख शारीरस्थान में है।[4] चेतन पुरुष की सत्ता में चरक को निष्ठा है। यदि

१. **महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।**
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः॥
खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥ (चरक, शारीर० १।२७–२९)

२. **लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्।**
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि स विपर्ययः॥ (चरक, शारीर० १।३०)

३. **शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च। तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च॥ (चरक, शारीर०, ७।१७)**

४. **बुद्धीन्द्रियमनोर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।**
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥

कर्त्ता और बोद्धा पुरुष न हो, तो न प्रकाश होगा, न अन्धकार; न सत्य होगा, न अनृत; न पाप होगा न पुण्य। पुरुष नहीं, तो न आश्रय शरीर होगा, न सुख या दुःख होगा, न आवागमन होगा, न शास्त्र रहेंगे, न विज्ञान होगा, न जन्म और मरण होगा, और न बन्ध-मोक्ष होंगे। वस्तुतः पुरुष ही इन सबका कारण है।[1]

सुश्रुत में चरक का अनुकरण

सुश्रुत ग्रन्थ में पंच महाभूत आदि का विवरण बहुत कुछ वैसा ही है जैसा चरक में। आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रयुक्त "द्रव्य" शब्द पूर्णतया उस अर्थ में अभिप्रेत नहीं है, जिसमें कि वैशेषिक दर्शन में, पर फिर भी कहीं-कहीं इस शब्द में वैशेषिक वाली भावना भी मिलती है।

सुश्रुत के सूत्रस्थान में "द्रव्य-रस-गुण-वीर्य-विपाकविज्ञानीय" नामक एक अध्याय (४०वाँ) है। इसके आरम्भ में इस विषय की मीमांसा की गयी है कि आयुर्वेद की दृष्टि से द्रव्य, रस, गुण, वीर्य और विपाक इन पाँचों में से किसकी प्रधानता है। कुछ आचार्यों का मत है कि इनमें से द्रव्य ही प्रधान है। इसके कई कारण हैं—(क) व्यवस्थित होने के कारण द्रव्य ही प्रधान है, द्रव्य ही व्यवस्थित रहता है, रस आदि अन्य चारों व्यवस्थित नहीं रहते। इसके लिए कच्चे फल का उदाहरण दिया है।

(बुद्धि, इन्द्रिय, मन और उनके विषयों के संयोग को धारण करनेवाले आत्मा को जानना चाहिए। यह चौबीस राशिवाला पुरुष है।)

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्ववृद्ध्या निवर्तते॥

(रजोगुण और तमोगुण से युक्त पुरुष का चौबीस राशियोंवाला संयोग अनन्तवान् है, अर्थात् उसे अनन्त वार जन्म-मरण के बन्धन में आना पड़ता है। सत्त्वगुण की वृद्धि होने पर इस संयोग का निराकरण और फिर निवृत्ति होती है।) (चरक, शारीर० १।३५–३६)

१. भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम्।
न स्युः कर्ता च बोद्धा च पुरुषो न भवेद्यदि॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक्।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात् पुरुषो न भवेद्यदि।
कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञैरुदाहृतः॥ (चरक, शारीर० १।३९–४१)

कच्चे आम-फल में पहले कषाय और अम्ल रस रहता है, पकने के बाद इसमें मीठा रस पैदा हो जाता है। इस प्रकार रस या स्वाद स्थिर या व्यवस्थित नहीं रहता। पर रस में परिवर्त्तन होने पर भी वह फल कोई दूसरा फल नहीं बन जाता, यह रहता वही फल है, क्योंकि उसका द्रव्य व्यवस्थित रहता है। (ख) द्रव्य नित्य है और गुण आदि अनित्य हैं, अतः द्रव्य ही प्रधान है। उदाहरण के लिए कल्क (स्वरस, शृत, फाण्ट) आदि में पहले के रस गन्ध आदि मिटकर कभी कभी दूसरे रस गन्ध भी आ जाते हैं। (ग) अपनी जाति में अवस्थित रहने के कारण द्रव्य ही प्रधान है, जैसे पार्थिव द्रव्य पार्थिव ही बना रहता है, वायव्य द्रव्य वायव्य ही बना रहता है, इत्यादि। पार्थिव द्रव्य बदलकर वायव्य नहीं बन जाता। (घ) पाँचों इन्द्रियों से द्रव्य का ही ग्रहण होता है (रस आदि गुणों का ग्रहण तो एक ही इन्द्रिय से होता है। (ङ) आश्रय होने से द्रव्य ही प्रधान है (द्रव्य रसादि गुणों का आश्रय है)। (च) योग का आरम्भ (उपक्रम) और सामर्थ्य (chemical and physical change and treatment) द्रव्य में ही संभव है, अतः द्रव्य ही प्रधान है। जैसे विदारीगन्धा आदि द्रव्य के सम्बन्ध में ही यह आदेश होता है कि इसे कूटो, पीसो, पकाओ आदि। इस प्रकार के आदेश रस आदि गुणों के सम्बन्ध में नहीं दिये जाते। (छ) शास्त्र में द्रव्य की ही प्रधानता है, जैसे मातुलुङ्ग, अग्निमन्थ आदि में द्रव्य का ही उपदेश शास्त्र में है, रस का नहीं। (ज) रस आदि में क्रम की अपेक्षा रहती है, द्रव्य में नहीं, जैसे तरुण द्रव्य में रस भी तरुण रहता है, संपूर्ण द्रव्य में रस भी संपूर्ण रहता है। (झ) एकदेश द्वारा रोग के साध्य होने से द्रव्य प्रधान है, अर्थात् द्रव्यों के एक भाग से रोग भी अच्छे होते हैं, जैसे महावृक्ष के दूध से। इसलिए द्रव्य प्रधान है, न कि रस। रस तो निरवयव है।

सुश्रुत ने द्रव्य का यह लक्षण किया है कि द्रव्य वह है जिसमें क्रिया एवं गुण हों और जो समवायि-कारण हो।[१]

१. केचिदाचार्या ब्रुवते–द्रव्यं प्रधानं, कस्मात् व्यवस्थितत्वात्। इह खलु द्रव्यं व्यवस्थितं न रसादयः। यथा—आमे फले ये रसादयस्ते पक्वे न सन्ति। नित्यत्वाच्च, नित्यं हि द्रव्यमनित्या गुणाः। यथा कल्कादिप्रविभागः, स एव संपन्नरसगन्धो व्यापन्नरसगन्धो वा भवति। स्वजात्यवस्थानाच्च, यथा हि पार्थिवं द्रव्यमन्यभावं न गच्छत्येवं शेषाणि। पञ्चेन्द्रियग्रहणाच्च, पञ्चभिरिन्द्रियैर्गृह्यते द्रव्यं न रसादयः। आश्रयत्वाच्च, द्रव्यमाश्रिता रसादयः। आरम्भसामर्थ्याच्च, द्रव्याश्रित आरम्भः, यथा "विदारिगन्धादिमाहृत्य संक्षुद्य विपचेत्"

सुश्रुत में विपाक—द्रव्यों के गुण और दोष क्रमशः उनके सम्यक् विपाक और मिथ्या विपाक पर ही निर्भर हैं। क्योंकि रस छः हैं, अतः पाक भी छः हैं, अर्थात् हर एक रस के लिए अलग अलग पाक है। कुछ विचारक तीन प्रकार का पाक मानते हैं—मधुर पाक, अम्ल पाक और कटुक पाक। पर कुछ का कहना है कि अम्ल कोई पाक नहीं है। आग्नेय होने के कारण पित्त ही विदग्ध होकर अम्ल बन जाता है। अम्ल यदि विपाक माना जा सकता है, तो लवण को भी विपाक मानना पड़ेगा, क्योंकि श्लेष्मा विदग्ध होकर लवण हो जाता है। कुछ लोग मधुर रस का मधुर विपाक और अम्ल रस का अम्ल विपाक और इसी प्रकार अन्य रसों के अन्य विपाक मानते हैं। इस भावना के समर्थन में वे उदाहरण देते हैं—जिस प्रकार दूध पकाने पर भी मधुर ही रहता है, शालि-यव-मूंग आदि अपने पकने के समय तक अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करते, इसी प्रकार रस भी जठराग्नि में पाक होने पर अपने मधुर आदि पूर्व-स्वभावों को नहीं छोड़ सकते। कुछ आचार्य बलवान् रसों की प्रभुता निर्बल रसों पर मानते हैं। इस प्रकार इस संबंध में अनेक मतभेद हैं।

सुश्रुत का सिद्धान्त पक्ष यह है कि पाक दो ही हैं, मधुर और कटुक। मधुर पाक का नाम ही गुरु है और कटुक पाक का नाम लघु है। गुरु और लघु की अपेक्षा से पृथिवी आदि पाँचों महाभूतों के भी दो वर्ग हो जाते हैं। पृथिवी और जल ये दोनों गुरु-वर्ग के हैं। अग्नि, वायु और आकाश ये तीन लघु वर्ग के हैं। इसी प्रकार पाक भी दो ही हैं, मधुर और कटुक।[1]

इत्येवमादिषु, न रसादिष्वारम्भः। शास्त्रप्रामाण्याच्च, शास्त्रे हि द्रव्यं प्रधानमुपदेशे योगानाम्, यथा "मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च" इत्यादौ न रसादय उपदिश्यन्ते। क्रमापेक्षितत्वाच्च रसादीनाम्, रसादयो हि द्रव्यक्रममपेक्षन्ते, यथा—तरुणे तरुणाः संपूर्णे संपूर्णा इति। एकदेशसाध्यत्वाच्च, द्रव्याणामेकदेशेनापि व्याधयः साध्यन्ते, यथा महावृक्षक्षीरेणेति। तस्माद् द्रव्यं प्रधानं, न रसादयः, कस्मात्? निरवयवत्वात्। द्रव्यलक्षणं तु "क्रियागुणवत् समवायिकारणम्" इति। (सुश्रुत, सूत्र० ४०।३)

१. नेत्याहुरन्ये, विपाकः प्रधानमिति। कस्मात्? सम्यङ मिथ्याविपक्वत्वात्; इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ मिथ्याविपक्वानि, गुणदोषं वा जनयन्ति। तत्राहुरन्ये—प्रतिरसं पाक इति। केचित् त्रिविधमिच्छन्ति—मधुरमम्लं कटुकं चेति। तत्तु न सम्यक् भूतगुणादामाच्चान्योऽम्लो विपाको नास्ति पित्तं हि विदग्ध-

पंच महाभूत—पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश इनके समुदाय से ही पाँचों महाभूतों की अभिव्यक्ति होती है। जिस समुदाय में जिस गुण का उत्कर्ष होता है, उससे ही वह द्रव्य पहचाना जाता है।[1] इन पाँचों तत्त्वों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) में क्रमशः एक-एक गुण की उत्तरोत्तर वृद्धि से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण होते हैं। अर्थात् आकाश में शब्द; वायु में शब्द और स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथिवी में पाँचों गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध होते हैं (वैशेषिक में शब्द को केवल आकाश के साथ रखा है, अन्य चार के साथ नहीं)। सब भूत सभी भूतों में परस्पर समाविष्ट रहते हैं। जल का विशेष गुण रस ही अन्य भूतों के संसर्ग से छः रसों (मधुर, अम्ल, लवण, कटुक, तिक्त और कषाय) में परिणत हो जाता है। **चरक** के समान **सुश्रुत** भी यह मानता है कि पृथिवी और जल के बाहुल्य से मधुर रस व्यक्त होता है, पृथिवी और अग्नि के बाहुल्य से अम्ल रस व्यक्त होता है। जल और अग्नि की अधिकता से लवण रस, वायु और अग्नि के बाहुल्य से कटुक रस, वायु और आकाश के आधिक्य से तिक्त रस तथा पृथिवी और वायु के आधिक्य से कषाय रस व्यक्त होता है। छः रस ही परस्पर मिलकर रसों के ६३ भेद बनाते हैं।[2]

मम्लता मुपैत्याग्नेयत्वात्; यद्येवं लवणोऽप्यन्यः पाको भविष्यति, श्लेष्मादिविदग्धो लवणतामुपैतीति। मधुरो मधुरस्याम्लोऽम्लस्यैवं सर्वेषामिति केचिदाहुः दृष्टान्तं चोपदिशन्ति,—यथा तावत् क्षीरमुखागतं पच्यमानं मधुरमेव स्यात्तथा शालियवमुद्गादयः प्रकीर्णाः स्वभावमुत्तरकालेऽपि न परित्यजन्ति तद्वदिति। केचिद् वदन्ति—अबलवन्तो बलवतां वशमायान्तीति। एवमनवस्थितिः, तस्माद् सिद्धान्त एषः। आगमे हि द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः, कटुकाख्यो लघुरिति। तत्रपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्याद् गुरुता लघुता च; पृथिव्यापश्च गुर्व्यः शेषाणि लघूनि; तस्माद् द्विविध एव पाक इति" (सुश्रुत, सूत्र०, ४०।१०)

अष्टांगसंग्रह में विपाक तीन प्रकार का माना है—त्रिधा विपाको द्रव्यस्य स्वाद्वम्लकटुकात्मकः (सूत्र० १।१७)

१. तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः, उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति। (सुश्रुत, सूत्र० ४१।२)

२. आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासङ्ख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः,

अष्टांगसंग्रह में पांचभौतिक शरीर

अष्टांगसंग्रह के अनुसार यह शरीर पंच महाभूतों का बना हुआ है। विभिन्न प्राणियों के शरीरों में जो आकृति, प्रमाण, स्नेह, दीप्ति अथवा स्वर आदि की विभिन्नता दीखती है, अथवा इन गुणों की अपेक्षा से कम या अधिक जो तारतम्य दीखता है, वह पूर्व जन्मों के संचित कर्मों एवं माता-पिता के संपर्क के कारण तो होता ही है। पर ये सब कारण पंच महाभूतों में अभिव्यक्त होकर ही समस्त वैषम्य उत्पन्न करते हैं।[1]

आकाश के भीतर सत्त्वगुण की प्रधानता है, वायु में रजोगुण का बाहुल्य है, अग्नि में सत्त्व गुण और रजोगुण दोनों का बाहुल्य है, जल में सत्त्वगुण और तमोगुण का बाहुल्य है और पृथ्वी में तमोगुण की प्रधानता है।[2]

सभी इन्द्रियाँ यों तो सभी भूतों से मिलकर बनी हैं, पर श्रोत्र में आकाश की विशेषता है, त्वक् में वायु की, नेत्र में अग्नि की, रसन में जल की और घ्राण में पृथिवी की विशेषता है।[3]

पाँचों भूतों से उत्पन्न पदार्थ **अष्टांगसंग्रह** में इस प्रकार बताये गये हैं[4] —

तस्मादाप्यो रसः, परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूत-संसर्गाद् विदग्धः षोढा विभज्यते, तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति। ते च भूयः परस्परसंसर्गात् त्रिषष्टिधा भिद्यन्ते। तत्र भूम्यम्बुगुण-बाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः, वाय्व-ग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात् तिक्तः, पृथिव्यनिलगुणबाहु-ल्यात् कषाय इति। (सुश्रुत, सूत्र० ४२।३)

१. भूतानामेव च दृष्टादृष्टविविधकर्मवशादनेकरूपात्सन्निवेशविशेषादाकृतिप्रमाण-स्नेहदीप्तिस्वरादीनां सारूप्यमसारूप्यं वा सूक्ष्मस्थूलतारतम्यभेदभिन्नमतिबहु-प्रकारं निष्पद्यते। (अष्टांग०, शारीर०, ५।५)

२. तत्र सत्त्वबहुलमाकाशम्। रजोबहुलो वायुः। उभयबहुलोऽग्निः। सत्त्वतमो-बहुलमम्बु। तमोबहुला भूः। (अष्टांग०, शारीर०, ५।६)

३. विशेषतश्च श्रोत्रादिष्विन्द्रियेष्ववस्थानं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैरेकैकप्रवृद्धैरन्वयः। (अष्टांग०, शारीर०, ५।८)

४. तत्राकाशजानि श्रोत्रं शब्दः स्रोतांसि विविक्तता च।
वायवीयानि स्पर्शनं स्पर्शः प्रश्वासोच्छ्वासादि परिस्पन्दनानि लाघवं च।

आकाशज—श्रोत्र इन्द्रिय, शब्द, स्रोत और विविक्तता (स्रोतस् असंख्य हैं, इनका अर्थ मार्ग है जिसके द्वारा अन्न रस धातुरूप बनता है)।

वायवीय—स्पर्शन अर्थात् स्पर्श इन्द्रिय (त्वक्), स्पर्श, प्रश्वास-उच्छ्वास आदि, परिस्पन्द (हिलना-डुलना) और लाघव (हलकापन)।

आग्नेय—दर्शन अर्थात् चक्षु इन्द्रिय, रूप, पित्त, ऊष्मा, पक्ति (भोजन का पचन), सन्ताप, बुद्धि, वर्ण (रंग), कान्ति, तेज और शौर्य्य।

आम्भस—रसन अर्थात् जिह्वा, रस, स्वेद, क्लेद, वसा, रक्त, शुक्र, मूत्र आदि द्रव-वर्ग, शैथिल्य और स्नेह।

पार्थिव—घ्राण अथवा नासिका, गन्ध, केश, नख, अस्थि आदि मूर्त पदार्थ, धैर्य और गौरव (भारीपन)।

अष्टांगसंग्रह के रचयिता ने **चरक** के समान परमाणु शब्द का भी प्रयोग किया है। शरीर के सब अवयव परमाणुभेद से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण असंख्येय होते हैं। इन परमाणुओं के संयोग (द्व्यणुकादि बनने) और विभाग (द्व्यणुकादि के टूटने) में कर्म से प्रेरित वायु ही कारण है।[1]

निर्देश

१. **चरकसंहिता**—(देखो अध्याय ४ के निर्देश)।
२. **सुश्रुतसंहिता**—(देखो अध्याय ५ के निर्देश)।
३. **अष्टांगसंग्रह**—(देखो अध्याय ६ के निर्देश)।

आग्नेयानि दर्शनं रूपं पित्तमूष्मा पक्तिः सन्तापो मेधा वर्णो भास्तेजः शौर्यं च। आम्भसानि रसनं रसः स्वेदक्लेदवसासृक् शुक्रमूत्रादि द्रवसमूहः शैथिल्यं स्नेहश्च। पार्थिवानि घ्राणं गन्धः केशनखास्थ्यादि मूर्तसमूहो धैर्यं गौरवं च।

(अष्टांग०, शारीर०, ५। ९–१३)

१. सर्वं एव त्ववयवाः परमाणुभेदेनातिसौक्ष्म्यादसंख्येयतां यान्ति। तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कर्मप्रेरितो वायुः कारणम्।

(अष्टांग०, शारीर०, ५।१०१–१०२)

उनतीसवाँ अध्याय

सांख्य और योग में त्रिगुणात्मक प्रकृति

(ईसा से पाँच-छः शती पूर्व)

सांख्यदर्शन की रचना कपिल ने की है। कपिल के पूर्व कणाद ने **वैशेषिक** की रचना की थी, क्योंकि **सांख्य दर्शन** में **वैशेषिक दर्शन** का उल्लेख आता है। **सांख्य** में एक सूत्र है कि हम **वैशेषिक** आदि के समान छः पदार्थों को माननेवाले नहीं हैं— छः पदार्थों से यहाँ अभिप्राय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय से है।[1] **सांख्य** अविद्या को भी वस्तु नहीं मानता और अवस्तु होने से अविद्या को बन्ध का कारण भी स्वीकार नहीं करता। **सांख्य** के समय अद्वैतवाद का भी प्रचलन था, क्योंकि अद्वैतवादियों की अविद्या का इसने खण्डन किया है।[2] बौद्धों का क्षणिकवाद (वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत) भी **सांख्य** के समय प्रचलित था।[3] इसी प्रकार विज्ञानवाद (योगाचार का) भी **सांख्य** के समय ज्ञात था और शून्यवाद (माध्यमिक बौद्धों का) भी।[4] यह योगदर्शन के बाद का है, क्योंकि इसमें कुछ सूत्र योगदर्शन के भी हैं।[5] सांख्य में पंचशिख और सनन्दन आचार्यों का उल्लेख है।[6]

१. न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। (सांख्य १।२५)

२. नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्। वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः। विजातीयद्वैतापत्तिश्च। (सांख्य १।२०–२२)

३. नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते। स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम्। (सांख्य १।३३–३४)

४. न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः। तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि। (सांख्य १।४२–४३)

५. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। (सांख्य २।३३; योग १।५); निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्। (सांख्य ३।३३, योग १।३४); स्थिरसुखमासनम्। (सांख्य ३।३४, योग २।४६)। ध्यानं निर्विषयं मनः। (सांख्य ६।२५)

६. अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः। लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः। (सांख्य ६।६८–६९)

सांख्यदर्शन के सूत्रों में प्रकृति शब्द का प्रयोग कई स्थलों पर हुआ है।[१] उसके पर्याय "प्रधान" शब्द का भी बहुत से स्थलों पर उल्लेख है,[२] यद्यपि सांख्य में ही प्रधान शब्द "मुख्य" के प्रचलित अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[३]

सांख्य का सबसे प्रसिद्ध सूत्र वह है, जिसमें प्रकृति की परिभाषा और विकास का क्रम दिया गया है। सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से पञ्च तन्मात्राएँ और दोनों प्रकार की इन्द्रियें (ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, मन को लेकर सब ग्यारह) तथा पञ्चतन्मात्राओं से स्थल भूत (पंच महाभूत) उत्पन्न हुए। ये और पुरुष मिलकर २५ का गण होता है।[४]

जगत् के स्थूल पदार्थों से पञ्च तन्मात्राओं (अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) का अनुमान होता है। बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रियों तथा पंच तन्मात्राओं से अहङ्कार का अनुमान होता है। उस अहङ्कार से अन्तःकरण (महान्) का और अन्तःकरण से प्रकृति का। यह सब संहत (संघात या प्राकृतिक रचनाएँ) किसी दूसरे के लिए है, अतः इस तर्क के आधार पर पुरुष का अनुमान होता है।[५]

उपादानत्व—प्रकृति ही इस जगत् का मूल उपादान कारण (primordial matter) है। मूल कारण का फिर और कारण नहीं ढूंढ़ा जाता, अतः प्रकृति किससे बनी, यह प्रश्न निरर्थक है।[६] परम्परा में अन्तिम कारण का फिर आगे

१. सांख्य १।१८, ६१, ६५, ६९, १३४; २।५; ३।२९, ६८,७२; ५।७२, ८४; ६।३२॥
२. सांख्य १।५७, १२५; २।१; ३।५८, ५९, ६३, ७०, ७३; ५।८, १२, ११९; ६।३५, ३८, ४०, ४३॥
३. द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु। (सांख्य २।४०); आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात्। (सांख्य २।४५); समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत्॥ (सांख्य २।४७)
४. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महतोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। (सांख्य १।६१)
५. स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य। बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य। तेनान्तःकरणस्य। ततः प्रकृतेः। संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य। (सांख्य १।६२–६६)
६. मूले मूलाभावादमूलं मूलम्। (सांख्य १।६७)

कारण नहीं ढूँढ़ा जाता।[१] प्रकृति तो मूल उपादान कारण है और उससे जो सबसे पहला कार्य (आद्य कार्य) उत्पन्न हुआ वह महत् है। महत् ही बुद्धि सत्त्व है।[२] सांख्य के मत में अवस्तु से किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती।[३] इसी को आज की भाषा में द्रव्य का नित्यत्व भी कहते हैं (law of conservation of matter)। अवस्तु से वस्तु की उत्पत्ति न होने का ही यह अर्थ है कि कोई "वस्तु" लय होकर "अवस्तु" नहीं बन सकती। परिवर्त्तन तो हो सकता है। पर न तो भाव से नितान्त अभाव हो सकता है, और न अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है। केवल "कर्म" (activity or past actions) में भी उपादानत्व की योग्यता नहीं है। मनुष्य के शुभाशुभ कर्म सृष्टि रचना के कारण नहीं हो सकते—कर्म में उपादानता कैसे आयेगी।[४] प्रकृति और पुरुष दोनों ही सूक्ष्म हैं, अतः प्रत्यक्षादि साधनों द्वारा उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती, फिर भी कार्य देखकर दोनों की ही प्रतीति होती है—उपादान कारण के रूप में प्रकृति की प्रतीति और निमित्त कारण के रूप में पुरुष की।[५] प्रकृति का वस्तुतः उपादानत्व ही सबसे बड़ा गुण है। सृष्टि रचना में (अथवा रासायनिक और भौतिक परिवर्तनों में) सबसे बड़ा नियम "उपादान नियम" है। इस नियम का अर्थ यह है, कि अमुक कारण से अमुक परिस्थितियों में एक विशेष ही कार्य उत्पन्न होगा। सत् कारण से सत् कार्य की ही उत्पत्ति होगी, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अगर यह उपादान नियम न होता, तो सदा सर्वत्र ही सब कार्य उत्पन्न होते रहते।[६] उपादान नियम के अभाव में तो रासायनिक प्रतिक्रियाओं के अध्ययन का प्रश्न ही व्यर्थ था। रसायन शास्त्र का

१. पारम्पर्येप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम्। (सांख्य १।६८)
२. महदाख्यमाद्यकार्यं तन्मनः। (सांख्य १।७१)
३. नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः। (सांख्य १।७८)
४. न कर्मण उपादानत्वायोगात्। (सांख्य १।८१)
जिस पदार्थ में कोई विकृति होकर अन्य पदार्थ बने, उसे उपादान कारण (material cause) कहते हैं। जैसे, घड़ा बनने में मिट्टी उपादान कारण है। कर्म में इस प्रकार का उपादानत्व नहीं है।
५. सौक्ष्म्यात् तदनुपलब्धिः। कार्यदर्शनात् तदुपलब्धेः। (सांख्य १।१०९–११०)
६. नासदुत्पादो नृश्रृंगवत्। उपादाननियमात्। सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्। (सांख्य १।११४–११६)

अध्ययन इस विश्वास पर निर्भर है कि निश्चित पदार्थों से निश्चित परिस्थितियों में सर्वदा निश्चित ही परिणाम प्राप्त होंगे। कारण जब पूर्णतया शक्त है, तभी अभीष्ट कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। न अभाव से भाव बन सकता है, और न भाव मिटकर अभाव हो सकता है।[1]

उपादान द्रव्य के नित्यत्व का नियम सांख्य की विशेषता है। किसी रासायनिक या भौतिक प्रक्रिया में पदार्थ का नाश तो संभव ही नहीं है, यदि नाश का अर्थ सर्वथा अभाव हो जाना हो।[2] सांख्य की परिभाषा में कारण में लय हो जाने का नाम ही "नाश" है। घड़ा नष्ट होकर मिट्टी में लय हो जाता है। मोमबत्ती जलकर अपनी कारणावस्था में आ जाती है। द्रव्य का नाश नहीं होता। कार्य को देखकर कारण का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि कारण से कार्य, और कार्य से कारण किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध रहता है, दोनों के बीच में "सहभाव" है।[3]

पंचभूत—सांख्य के आचार्य महत् आदि के क्रम से पंचभूतों की सृष्टि मानते हैं[4] (यह क्रम पहले दिया जा चुका है—महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्राएँ और पंचतन्मात्राओं से क्रमशः पंचभूत)। उपनिषदों के समान वे आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप् इत्यादि विकासक्रम का उल्लेख नहीं करते। गन्धतन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति, रूप से तेज या अग्नि की, स्पर्श से वायु की, शब्द से आकाश की और रस से जल की उत्पत्ति मानी जा सकती है। अथवा यह भी हो सकता है कि रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारों के योग से पृथिवी, रूप-रस-स्पर्श के योग से जल, रूप-स्पर्श के योग से अग्नि, स्पर्श से वायु और शब्द से आकाश की उत्पत्ति हुई। यह स्पष्ट विवरण सांख्य में नहीं है।

प्राणियों के शरीर को सांख्यज्ञ पाञ्चभौतिक[5] (पाँचों पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से मिलकर बना) मानते हैं, पर कुछ आचार्य इसे चातुर्भौतिक[6]

१. शक्तस्य शक्यकरणात्। कारणभावाच्च। (सांख्य १।११७–११८)
२. नाशः कारणलयः। (सांख्य १।१२१)
३. कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात्। (सांख्य १।१३५)
४. महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्। (सांख्य २।१०)
५. पाञ्चभौतिको देहः। (सांख्य ३।१७); इसके खंडन में, न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात्। (सांख्य ५।१०२)
६. चातुर्भौतिकमित्येके। (सांख्य ३।१८)

(आकाश छोड़कर शेष चार से बना) मानते हैं, और कुछ आचार्य एक-भौतिक अर्थात् केवल पृथिवी से बना मानते हैं।[1] कुछ भी हो, यह देह स्वयं चेतन नहीं है, क्योंकि ऐसा होता तो मरण आदि प्रपञ्चों का अभाव होता।[2] किसी भी पंचभूत में चेतनता नहीं है, अतः उनके योग से देह में चेतनता आ नहीं सकती थी। यदि यह कहा जाय कि जैसे द्राक्ष में मादकता नहीं है, पर इससे बनी मदिरा में मादकता होती है, उसी प्रकार पंचभूतों में भी स्वयं पृथक् तो किसी में चेतनता नहीं, पर उनसे बने शरीर में चेतनता आ जाती है, तो यह तर्क भी सांख्य को मान्य नहीं। उसका कहना है कि मदिरावाले उदाहरण में द्राक्ष में ही वह मादकता सुप्त रूप से थी, जो मदिरा में व्यक्त हो गयी।[3]

आजकल की भाषा में हम यह कह सकते हैं कि सांख्य मतानुसार विशुद्ध रासायनिक प्रक्रिया द्वारा "जीवन" की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक कार्यपदार्थ (या यौगिक) के गुण कारण—अवस्था के गुणों पर निर्भर हैं। अथवा रासायनिक भाषा में यौगिक के समस्त भौतिक और रासायनिक गुण उसके अणु की संरचना पर निर्भर हैं।

सत्त्व, रजस् और तमस्—सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है, पर ये तीनों गुण हैं; क्या इसकी ओर **सांख्य** ने अधिक संकेत नहीं किया? **श्वेताश्वतर उपनिषद्** के शब्दों में इन्हीं का नाम क्रमशः शुक्ल, लोहित और कृष्ण (सफेद, लाल और काला) है। मनुष्य की प्रवृत्तियों के संबंध में भी इन तीनों गुणों का नाम लिया जाता है। अनेक क्षेत्रों में इस प्रकार का त्रिगुणात्मक वर्गीकरण किया गया है। **सांख्य** ने स्वयं कर्मवैचित्र्य के आधार पर सत्त्वगुण–पूर्ण, तमोगुण-पूर्ण और रजोगुण-पूर्ण सृष्टियों का उल्लेख किया है। सत्त्वगुण से संबंध रखनेवाली सृष्टि ऊर्ध्व (दैवी सृष्टि) है, तमोगुण से संबंध रखनेवाली जडस्थानीय (तामसी सृष्टि) है, और रजोगुण से संबंध रखनेवाली मध्यकोटि की (राजसी सृष्टि) है।[4] कर्म के वैचित्र्य से प्रकृति की चेष्टा मानी गयी है।[5] पर जड़ सृष्टि

१. **ऐकभौतिकमित्यपरे। (सांख्य ३।१९)**
२. **न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः। प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च। (सांख्य ३।२०–२१)**
३. **मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्ये तदुद्भवः। (सांख्य ३।२२)**
४. **ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला। तमोविशाला मूलतः। मध्ये रजोविशाला। (सांख्य ३।४८–५०)**
५. **कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टा गर्भदासवत्। (सांख्य ३।५१)**

के विकास में त्रिगुणों से क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं है। जड़ प्रकृति से बने शरीर का चेतन आत्मा के साहचर्य से किस प्रकार व्यापार होता है, और किस प्रकार आत्मा इसमें बद्ध होता अथवा इससे मुक्त होता है, इसकी मीमांसा **सांख्य** ने कई सूत्रों में अवश्य विस्तार से की है, पर यह विषय यहाँ विचारणीय नहीं है। यह ठीक है कि प्रकृति या प्रधान से बनी सृष्टि परार्थ है, यह स्वयं भोक्त्री नहीं है, जैसे ऊँट की पीठ पर लदा हुआ केसर या कुंकुम का बोझ।[1]

त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमस् का उल्लेख करनेवाले सूत्र **सांख्य** में अधिक नहीं हैं।[2] इनमें से किसी सूत्र में सत्त्व, रजस् और तमस् की व्याख्या नहीं की गयी है।

सांख्य दर्शन और अणुवाद—**सांख्य** ऐसे अणुओं की कल्पना में विश्वास नहीं रखता, जिनका फिर विभाजन न किया जा सके। **सांख्य** केवल प्रकृति की उपादानता में विश्वास करता है। प्रकृति ही आदि-उपादान है, अन्य सब तो कार्य हैं।[3] जैसे **वैशेषिक** परमाणु या अणुओं को कारण मानता है, **सांख्य** उसी प्रकार प्रकृति (प्रधान) की ही अनुवृत्ति सब जगह मानता है। प्रकृति का ही कार्य सर्वत्र दिखाई पड़ता है और इस अर्थ में प्रकृति विभु है अर्थात् सर्वत्र व्यापक है। गतिशील अणु वैशेषिक के मतानुसार उपादान कारण हो सकते हैं, तो प्रकृति में भी यदि गति मान ली जाय, तो उसकी उपादानता में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।[4]

अणु स्वयं प्रकृति से उत्पन्न कार्य हैं, अतः ये नित्य हो ही नहीं सकते। इनका विभाजन हो सकता है और ये सदा रहनेवाले नहीं हैं। अणु की यह परिभाषा करना कि यह अभेद्य है, इसके भाग नहीं हो सकते, गलत है, क्योंकि अणु स्वयं कार्य है, कारण नहीं।[5]

१. प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुंकुमवहनवत्। (सांख्य ३।५८)
२. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः। (सांख्य १।६१); त्रिगुणचेतनत्वादि द्वयोः। (१।१२६); प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्। (१।१२७); लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम्। (१।१२८); त्रिगुणादिविपर्ययात्। (१।१४२); निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा। (१।१४७); गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः। (५।२६)
३. प्रकृतेराद्योपादानतान्येषां कार्यत्वश्रुतेः। (सांख्य ६।३२)
४. पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत्। सर्वत्र कार्यदर्शनाद्विभुत्वम्। गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत्। (सांख्य ६।३५-३७)
५. नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः। न निर्भागत्वं कार्यत्वात्। (सांख्य ५।८७-८८)

सत्त्व, रजस् और तमस् के संबंध में अन्य कल्पनाएँ—डा० ब्रजेन्द्रनाथ सील ने एक लेख लिखा, जिसे आचार्य प्रफुल्लचन्द्र ने अपने **'रसायन के इतिहास'** में उद्धृत किया है। इसका शीर्षक "प्राचीन हिन्दुओं के भौत-रासायनिक सिद्धान्त" है।[१] इस लेख में डा० सील ने **सत्त्व** का अर्थ चेतन तत्त्व (essence or intelligence stuff) किया है, **रजस्** का ऊर्जा (energy) और तमस् का जाड्य (inertia or matter) किया है। सृष्टि में ये तीन ही मुख्य आधार हैं—इसमें सन्देह नहीं। सत्त्व के कारण मन और इन्द्रियाँ बनती हैं, जो आत्मतत्त्व के साहचर्य से स्वयं चेतन के समान व्यवहार करती हैं। ऊर्जा और जाड्यावस्था का द्रव्य (matter) अचेतन या मूढ सृष्टि के अन्तर्गत होनेवाली अनेक भौतिक और रासायनिक प्रतिक्रियाओं का कारण है।[२] पर यह कहना कठिन है कि जब कपिल ने **सांख्यदर्शन** में सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था को प्रकृति कहा, तो उनका अभिप्राय सचमुच चेतन तत्त्व, ऊर्जा और जाड्ययुक्त द्रव्य (matter) से ही था।

१. "Physico-chemical theories of Ancient Hindus"—B. N. Seal

२. "But the unity of Prakiti is mere abstraction; it is in reality an undifferentiated manifold, and indeterminate infinite continuum of infinitesimal Reals. These Reals, termed *gunas*, may by another abstraction be classed under three heads: (*i*) *Sattva*, the Essence, which manfests itself in a phenomenon, and which is characterised by this tendency to manifestation; in other words, which serves as the medium for the reflection of intelligence; (*ii*) *Rajas*, Energy, that which is efficient in a phenomenon, and is characterised by a tendency to do work or overcome resistance; and (*iii*) *tamas* mass or inertia, which counteracts the tendency to do work, and of *Sattva* to conscious manifestation.

"The ultimate factors of the universe, then are (*i*) Essence or intelligence-stuff, (*ii*) Energy, and (*iii*) Matter, characterised by mass or inertia," (*History of Chemistry in Ancient and Medievel India*, 1954, pp. 244)

डा० सील ने प्रकृति से विकास की शृंखला इस प्रकार प्रदर्शित की है—

प्रकृति

अव्यक्त और अज्ञेय

Unmanifested and unknowable ground

|

महत्

अनुभूति का विश्व द्रव्य—Cosmic matter of experience

|

अहङ्कार

|

राजस अहंकार (Subject series)

|

अस्मिता

Individuated, indeterminate mind-stuff – empirical ego

|

इन्द्रिय और मनस्

Determinate mind-stuff—sensory and motor stuff

तामस अहंकार (Object series)

|

तन्मात्रा—सूक्ष्म भूत

Individuated indeterminate matter-stuff—subtle material potencies

|

परमाणु–स्थूल भूत

Determinate matter-stuff—atomic and molecular constituents of gross matter.

|

सृष्टि—जड़ पदार्थ, उद्भिद् और प्राणि जगत्

Coherent and integrated matter-stuff.

इस विकास शृंखला में राजस और तामस—दो प्रकार के अहंकारों की कल्पना डा० सील की अपनी है, और तन्मात्रा की तुलना में अस्मिता की कल्पना भी उनकी अपनी नयी है। (सांख्य के २५ गण की संख्या को यह कल्पना बढ़ानेवाली है)। सांख्य-

दर्शन में महत् का पर्याय ही अन्तःकरण है—"बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य। तेन अन्तःकरणस्य। ततः प्रकृतेः॥" (**सांख्य** १।६३–६५)। हम पहले कह चुके हैं कि महत् ही आद्य कार्य है, और इसी का नाम बुद्धि-सत्व है (महदाख्यमाद्यकार्य्यं तन्मनः—१।७१), और अहंकार से ही आगे का विकास अर्थात् पंचतन्मात्रा और दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ (ज्ञान और कर्म संबंधी, मन के साथ ग्यारह) उत्पन्न होती हैं। पर हाँ, **सांख्य** ने इस अहंकार को राजस और तामस दो वर्गों में नहीं विभाजित किया।

महत् या बुद्धि के संबंध में एक अन्य स्थल पर कहा है कि अध्यवसाय या निश्चयात्मक व्यापार का नाम बुद्धि है। "सदसद्विवेकवती बुद्धि" का भी उल्लेख साहित्य में आता है। सात्त्विक महत् से धर्मादि कार्य होते हैं और जब यह बुद्धि या महत् अन्य गुणों से (रजोगुण या तमोगुण से) उपरंजित हो जाता है, तो इसके विपरीत कार्य होते हैं। **सांख्य** के विचारानुसार इस प्रकार महत् तीन प्रकार का हुआ—सात्त्विक, राजस और तामस।[1]

इसी महत् से अहंकार उत्पन्न होता है। अभिमान ही अहंकार है। अहम्-अहम् की भावना का नाम ही अभिमान है। ग्यारह इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्राएँ इसी अहंकार का कार्य हैं। वैकृत अहंकार से ग्यारह इन्द्रियोंवाले सात्त्विक वर्ग की उत्पत्ति होती है। ग्यारह इन्द्रियाँ कर्मेन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) और आन्तर इन्द्रिय (मन) हैं।[2] क्या सभी ग्यारह इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुई हैं? अथवा माना जा सकता है कि सात्त्विक अहंकार से मन (आन्तर इन्द्रिय) की उत्पत्ति हुई, दस ज्ञानेन्द्रियों की राजस अहंकार से और पंचतन्मात्राओं की तामस अहंकार से। कुछ लोगों की कल्पना यह भी है कि ग्यारहों इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुई और तामस अहंकार से पंचतन्मात्राओं की सृष्टि हुई। राजस अहंकार का कार्य इन इन्द्रियों और पंचतन्त्रमात्राओं के बीच में सम्बन्ध स्थापित कराना है।

१. अध्यवसायो बुद्धिः। तत्कार्यं धर्मादि। महदुपरागाद्विपरीतम्। (सांख्य २। १३–१५)

२. अभिमानोऽहङ्कारः। एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।
सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्। अहङ्कारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि।
(सांख्य २।१६–२०)

अस्तु, अहंकार का कार्य होने के कारण इन्द्रियाँ अभौतिक हैं। पंचतन्मात्राएँ भी पंचभूतों से पहले उत्पन्न होती हैं और अहंकार का कार्य हैं, अतः ये भी अभौतिक हुईं।

डा० सील ने उपर्युक्त विकासक्रम में अहंकार से अस्मिता की उत्पत्ति बतायी है। अस्मिता की कल्पना योग के आचार्य पतञ्जलि की है। अस्मिता मात्र से निर्माण-चित्त उत्पन्न होते हैं। अस्मिता चित्त के कारण को लेकर निर्माण-चित्त (created minds) बनाती है।[1]

योगदर्शन के प्रसिद्ध सूत्र "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" का भाष्य करते हुए व्यास ने चित्त को प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील बताया है। उन्होंने प्रख्या, (truth), प्रवृत्ति (energy) और स्थिति (inertia) इन तीनों का संबंध त्रिगुण—सत्त्व, रजस् और तमस् से किया है। जब चित्त में केवल सत्त्व गुण होता है, तो यह प्रख्याशील (सत्यनिष्ठ) होता है, और जब इसमें रजोगुण तथा तमोगुण मिले रहते हैं, तो यह ऐश्वर्य-प्रिय और विषय-प्रिय हो जाता है और जब इसमें केवल तमोगुण होता है, तो इसमें अधर्म, अज्ञान, राग-और दारिद्रय आ जाता है।[2]

सविचार और निर्विचार समाधि के प्रसंग में योगदर्शन के एक सूत्र—"**एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याताः।**" (१।४४) की **भोजवृत्ति** में कहा है कि सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ जिसमें विषय बनती हों, उसे निर्विचार समाधि कहते हैं, और जिसमें स्थूल पंचमहाभूत विषय हों, उसे सविचार समाधि कहते हैं।

पंचतन्मात्राएँ क्या हैं, इसे अगले सूत्र के भाष्य में व्यास ने स्पष्ट किया है। अगला सूत्र यह है—"**सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम्**" (१।४५)। पृथिवी के अणु का गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है, इसी प्रकार जल की तन्मात्रा रस है, तेज की रूप, वायु की स्पर्श और आकाश की शब्द। इन सभी तन्मात्राओं की भी सूक्ष्म तन्मात्रा अहंकार है। अहंकार का भी जो सूक्ष्म भाव है उसे लिंगमात्र (dissoluble element) कहते हैं। लिंगमात्र का सूक्ष्म भाव फिर अलिंग (indis-

१. **निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। (योग ४।४)—(अस्मितामात्रं चित्तकारणमुपादाय निर्माणचित्तानि करोति ततः सचित्तानि भवन्ति-व्यासभाष्य)**

२. **चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्, प्रख्यारूपं हि चित्तं सत्त्वं, रजस्तमोभ्यां संसृष्टम् ऐश्वर्यविषयप्रियं भवति, तदेव तमसानुविद्धमधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। (व्यासभाष्य, योग १।२)**

soluble element) कहलाता है। इस अलिंग से आगे और फिर कोई सूक्ष्म भाव नहीं है। पुरुष यद्यपि अलिंग से भी सूक्ष्म है, परन्तु पुरुष लिंग का "अन्वयीकारण" (constituent cause) नहीं है।

इसी सूत्र '(१।४५) की **भोजवृत्ति** में कहा गया है कि परिणाम के अनुसार गुणों के चार भेद हैं—विशिष्ट लिंग, अविशिष्ट लिंग, लिंगमात्र और अलिंग। जितने स्थूल भूत (और संभवतः इन्द्रियाँ भी) हैं, वे विशिष्ट लिंग के अन्तर्गत हैं, जो तन्मात्राएँ और अन्तःकरण हैं, वे अविशिष्ट लिंग हैं, बुद्धि लिंगमात्र है और प्रधान अलिंग है। इस अलिंग से और सूक्ष्म कुछ नहीं है।

गुणवर्ग

विशेष (सोलह)	अविशेष (छः)	लिंगमात्र	अलिंग मात्र
(क) आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी	१. शब्दतन्मात्र—एक-लक्षण—शब्द	बुद्धि (महत्)	प्रधान
(ख) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण	२. स्पर्शतन्मात्र—द्वि-लक्षण–शब्द–स्पर्श		
(ग) वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ	३. रूपतन्मात्र—त्रि-लक्षण–शब्द-स्पर्श-रूप		
(घ) मनस्	४. रसतन्मात्र—चतु-र्लक्षण–शब्द-स्पर्श-रूप-रस		
	५. गन्धतन्मात्र—पञ्च-लक्षण–शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध		
	६. अस्मिता		

योगदर्शन के साधनपाद में एक सूत्र है—**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्** (२।१८)। अर्थात् जो कुछ भी दृश्य है वह प्रकाशशील (सत्त्व), क्रियाशील (रजस्) और स्थितिशील (तमस्) है। इस दृश्य के अन्तर्गत

समस्त भूत और इन्द्रियाँ समाविष्ट हैं और इसका उद्देश्य भोग और अपवर्ग है। व्यास ने अपने भाष्य में सत्त्व, रजस् और तमस् को क्रमशः प्रकाश (illumination), क्रिया (activity) और स्थिति (inertia) माना है।[1]

योग में परमाणु और क्षण—योगदर्शन के विभूतिपाद के एक सूत्र "**क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्**" (३।५२) का भाष्य करते हुए व्यास कहते हैं कि जिस प्रकार द्रव्य को कम करते-करते हम अन्त में परमाणु तक पहुँचते हैं, उसी प्रकार काल को कम करते करते हम क्षण तक पहुँचेंगे। दूसरे शब्दों में इसे हम यह कहेंगे कि द्रव्य की अन्तिम इकाई **परमाणु** है और काल की **क्षण**। क्षण की एक और परिभाषा व्यास ने दी है—जितने समय में चलता हुआ परमाणु अपने पूर्व देश (पहले स्थान) को छोड़कर उत्तर देश (अगले स्थान) को प्राप्त होता है, उसे क्षण कहा जा सकता है। इस बीच के अविच्छिन्न प्रवाह का नाम ही क्रम (succession) है।[2] काल कोई वस्तु नहीं है, यह बुद्धि से निर्मित होता है, लौकिक व्यक्तियों को, जिनकी बुद्धि स्थिर नहीं है, काल का अस्तित्व प्रतीत होता है।[3]

ग्रहणात्मक और ग्राह्यात्मक परिणाम—व्यास ने कैवल्यपाद के सूत्र "**परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम्**" (४।१४) के भाष्य में प्रख्या (intelligence), क्रिया (activity) और स्थितिशीलता (inertia) का उल्लेख करते हुए परमाणु का फिर उल्लेख किया है। प्रख्या, क्रिया और स्थितिशील गुणों के "ग्रहणात्मक" परिणाम द्वारा "श्रोत्र" इन्द्रिय बनती है। उन्हीं तीनों गुणों के "ग्राह्यात्मक" परिणाम द्वारा "शब्द" बनता है। यही शब्द और इसके समान ही इसी प्रकार, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध मूर्तिमान् होकर इकट्ठे हो जाते हैं, तो **पृथिवी-परमाणु** (earth-atom) बन जाते हैं, और ये ही फिर गो-वृक्ष-पर्वत आदि बनते हैं।[4]

१. प्रकाशशीलं सत्त्वम्, क्रियाशीलं रजः, स्थितिशीलं तम इति (व्यासभाष्य २।१८)

२. यथापकर्षपर्यन्तं द्रव्यं परमाणुरेवं परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणो यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्यादुत्तरदेशमुपसंपद्येत स कालः क्षणः। तत्प्रवाहाविच्छेदस्तु क्रमः। (व्यासभाष्य ३।५२)

३. स खल्वयं कालो वस्तुशून्योऽपि बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते। (व्यासभाष्य ३।५२)

४. प्रख्याक्रियास्थितिशीलानां गुणानां ग्रहणात्मकानां करणभावेनैकः परिणामः श्रोत्रमिन्द्रियं ग्राह्यात्मकानां शब्दभावेनैकः परिणामः शब्दो विषय इति, शब्दा-

सांख्य और योग का विषय-क्षेत्र—**सांख्य** ने अपनी पद्धति पर प्रकृति और उससे विकसित व्यक्त जगत् की मीमांसा की। प्रसंगवश **योग** के आचार्य ने और **योगदर्शन** के भाष्यकारों ने प्रकृति और उससे संबंध रखनेवाले त्रिगुणों की, महत्, अहंकार, इन्द्रियों और स्थूल भूतों एवं तन्मात्राओं की विवेचना की। जड़ जगत् की चेतन जगत् पर किस प्रकार प्रतिक्रिया होती है, अथवा चेतन जगत् जड़ जगत् को किस प्रकार प्रभावित कर सकता है, यह इन दोनों दर्शनों का उद्देश्य प्रतीत होता है। ये ही प्रतिक्रियाएँ आत्मा के बन्ध का कारण हैं और इनके रहस्यों को समझकर उन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

मन और चित्त की वृत्तियाँ तथा इन्द्रियाँ आत्मा के साहचर्य में चेतन-सा व्यवहार करती हैं, और ये बाह्य स्थूल जगत् से भी प्रतिक्रिया करती हैं। प्रख्या (प्रकाश), क्रिया और स्थिति (सत्त्व, रजस् और तमस्) जहाँ शरीरस्थ आत्मा को सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणवाली प्रवृत्तियों से आच्छादित कराती हैं, वहाँ ये ही स्थूल भूत और तन्मात्राओं एवं इन्द्रियों को भी जन्म देती हैं। मन या चित्त अथवा अन्तःकरण जैसी सामान्यतया अभौतिक सत्ता बाह्य भौतिक जगत् से कैसे प्रभावित होती है, इसकी विवेचना का **सांख्य** और **योग** में अति महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया है। **योगदर्शन** में यह प्रयास केवल दार्शनिक ऊहापोह का ही विषय न रहा, इससे व्यावहारिक लाभ भी उठाये जाने के प्रयोग हुए।

सांख्य और **योग** की प्रकृति और उसके त्रिगुण एवं तन्मात्राओं की विवेचना ने रासायनिक और भौतिक परिवर्त्तनों को समझाने में कोई सहायता न दी। परमाणु की कल्पना की उपेक्षा **योगदर्शन** के भाष्यकारों ने नहीं की, पर उस काल में परमाणुवाद को वह रूप न मिल सका, जो बाह्य जगत् के परिचित परिवर्त्तनों की व्याख्या करने में समर्थ हो सकता। दोनों युगों की तात्त्विक मीमांसा के उद्देश्य ही पृथक् पृथक् रहे, इसलिए त्रि-गुणों और पंच-भूतों एवं तन्मात्राओं के आधार पर रसायन और भौतिक शास्त्रों को विकसित न किया जा सका।

दीनां मूर्तिसमानजातीयानामेकः परिणामः पृथ्वीपरमाणुस्तन्मात्रावयवस्तेषां चैकः परिणामः पृथिवी गौर्वृक्षः पर्वत इत्येवमादिर्भूतान्तरेष्वपि स्नेहौष्ण्यपरिणामित्वावकाशदानान्युपादाय सामान्यमेकविकारारम्भः समाधेयः। (व्यासभाष्य ४।१४)

निर्देश

१. कपिल—**सांख्यदर्शनम्**, विज्ञानभिक्षु कृत सांख्यप्रवचन भाष्य सहित।

२. पतञ्जलि—**योगदर्शन** व्यासभाष्य सहित—(१) अंग्रेजी अनुवाद डा० गंगानाथ झा कृत, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अडियार (१९३०)।
(२) हिन्दी अनुवाद (भोजवृत्ति और व्यासभाष्य सहित) रुद्रदत्त शर्मा कृत, शर्मा मशीन प्रिंटिंग प्रेस, मुरादाबाद (१९२४)।

३. उदयवीर शास्त्री—**सांख्यदर्शन का इतिहास**।

तीसवाँ अध्याय

वैशेषिक और न्याय—परमाणुवाद

(ईसा से पांच या छः शती पूर्व)

यह कहना कठिन है कि **वैशेषिक** और **न्याय** में किस दर्शन की पहले रचना हुई। **वैशेषिक** के आचार्य कणाद का नाम परमाणुवाद के संबंध में चिर-ऐतिहासिक रहेगा। दोनों आचार्यों के विचारों में साम्य है। दोनों दर्शनों में कई सूत्र एक-से हैं। जो समानता **योग और सांख्य** में है, वही **न्याय** और **वैशेषिक** में है। शरीर से पृथक् आत्मा के अस्तित्व के संबंध में दोनों दर्शनों की एक-सी ही मान्यताएँ हैं। पंच तत्त्वों के संबंध में भी एक जैसे ही दोनों के विचार हैं। शरीर में आने-जानेवाले आत्माओं के बहुत्व में दोनों की ही आस्था है। दोनों ही परमाणुवादी हैं। **न्याय** और **वैशेषिक** दर्शनों में अपनी निजी मौलिकताएँ भी हैं, पर वे एक-दूसरे की पूरक हैं।

वैशेषिक के षट् पदार्थ—वैशेषिक दर्शन को षट्पदार्थवादी माना गया है। कणाद ने ६ निम्न पदार्थ गिनाये हैं—१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष और ६. समवाय। इन छः पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य का तत्त्व ज्ञान होने से निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।[1] इन पदार्थों की व्याख्या स्वयं वैशेषिक-दर्शनकार ने की है।

१. **द्रव्य—वैशेषिक** के मतानुसार द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। अर्थात् पंच स्थूलभूत, उनके अतिरिक्त काल और दिक् (time and space), आत्मा और मन।[2]

२. **गुण—वैशेषिक** में सत्रह गुण एक सूत्र में गिनाये गये हैं।[3] रूप, रस, गन्ध,

---

१. **धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वैशेषिक १।१।४)**

२. **पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। (वैशेषिक १।१।५)**

३. **रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोग-विभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखं इच्छा द्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। (वैशेषिक १।१।६)**

स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न। इन सत्रह गुणों से ही आचार्यों को सन्तोष नहीं हुआ। वैशेषिक दर्शन के प्रशस्तपाद भाष्य में सात अन्य गुणों का समावेश सूत्र में प्रयुक्त "च" शब्द के अन्तर्गत किया गया।[1] ये सात गुण हैं—१. गुरुत्व, २. द्रवत्व, ३. स्नेह, ४. संस्कार, ५-६. अदृष्ट (धर्म+अधर्म) और ७. शब्द।

इन गुणों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो चार तत्त्वों से संबंध रखते हैं, शब्द आकाश से संबंधित है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और प्रयत्न ये आत्मा के लिंग हैं। संख्या (number), परिमाण (measure), पृथक्त्व (Separation), संयोग (combination), विभाग (division), परत्व, अपरत्व और इनके साथ साथ गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह (चिकनापन) और संस्कार भौतिक पदार्थों के अन्य गुण हैं।

कुछ कारिकाओं में गुणों का द्रव्यों के साथ इस प्रकार का संबंध बताया गया है[2]—

वायु के नौ गुण—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, और वेग।

अग्नि के ग्यारह गुण—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, रूप, वेग और द्रवत्व।

१. चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारादृष्टशब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। (प्रशस्तपाद १।१।६)—अदृष्टपदं धर्मत्वाधर्मत्वाभ्यामेव विभिन्नरूपाभ्यां धर्माधर्मतात्पर्यकम्। (जगदीश-सूक्ति)

२. स्पर्शादयोऽष्टौ वेगाख्यः संस्कारो मरुतो गुणाः।
स्पर्शाद्यष्टौ रूपवेगौ द्रवत्वं तेजसो गुणाः ॥१॥
स्पर्शादयोऽष्टौ वेगश्च द्रवत्वं च गुरुत्वकम्।
रूपं रसस्तथा स्नेहो वारिण्येते चतुर्दश ॥२॥
स्नेहहीना गन्धयुताः क्षितावेते चतुर्दश।
बुद्ध्यादिषट्कं संख्यादिपञ्चकं भावना तथा ॥३॥
धर्माऽधर्मौ गुणा एते आत्मनः स्युश्चतुर्दश।
संख्यादिपञ्चकं कालदिशोः शब्दश्च ते च खे ॥४॥
संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा यत्नोऽपि चेश्वरे।
परापरत्वे संख्यादिपंचवेगश्च मानसे ॥५॥

४४

जल के चौदह गुण—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, वेग, द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस और स्नेह।

पृथिवी के चौदह गुण—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, वेग, द्रवत्व, गुरुत्व, रूप, रस और गन्ध।

आत्मा के चौदह गुण—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना, धर्म और अधर्म।

काल और दिशा के पाँच गुण—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

आकाश के छः गुण—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग और शब्द।

ईश्वर के आठ गुण—संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, इच्छा और यत्न।

मन के आठ गुण—परत्व, अपरत्व, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग और वेग।

३. **कर्म**—वैशेषिक के आचार्य ने पाँच कर्म माने हैं—

(क) उत्क्षेपण (ऊपर उठाना), (ख) अवक्षेपण (नीचे को दबाना या फेंकना), (ग) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (घ) प्रसारण (फैलाना) और (ङ) गमन।[1] **प्रशस्तपाद-भाष्य** में गमन क्रिया के अन्तर्गत कुछ और क्रियाएँ भी गिनायी गयी हैं, जैसे (च) भ्रमण, (छ) रेचन, (ज) स्यन्दन, (झ) ऊर्ध्वज्वलन, (ञ) तिर्यक् पतन, (ट) नमन, (ठ) उन्नमन।[2]

४. **सामान्य**—सामान्य और विशेष ये बुद्धि की अपेक्षा से माने जाते हैं[3]। **प्रशस्त-पाद-भाष्य** में सामान्य दो प्रकार का माना गया है—पर और अपर। द्रव्य, गुण, और कर्म तीनों ही सत् हैं, अतः सत्ता इन सब में परसामान्य है। सभी द्रव्यों में द्रव्यत्व समान है, किन्तु यह द्रव्यत्व गुण और कर्म में नहीं है। अतः पृथिव्यादि में द्रव्यत्व का होना अपरसामान्य है। यही द्रव्यत्व समस्त द्रव्यों में तो "सामान्य" है, पर द्रव्यों को गुणों या कर्मों से भिन्न करने में "विशेष" है। इसी प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व तीनों ही अपने अपने प्रसंगों में सामान्य भी हैं और विशेष भी।

१. उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्म्माणि। (वैशेषिक १।१।७)

२. गमनग्रहणात् भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलनतिर्यक्पतननमनोन्नमनादयो गमन-विशेषा एव, न तु जात्यन्तराणि। (प्रशस्तपाद १।१।७)

३. सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव

५. **विशेष**—सामान्य और विशेष सापेक्ष शब्द हैं। पृथिव्यादि सबमें द्रव्यत्व समान है, और अन्त में इनसे जो घट बनता है, उसमें "घटत्व" का होना विशेष है, जो पटत्व आदि से भिन्न है।[१]

६. **समवाय**—जिससे कार्य और कारण में "इह-इदम्" का व्यवहार होता है, उसे समवाय कहते हैं। अमुक कार्य का अमुक कारण है, ऐसा कहने पर दोनों के बीच के संबंध का नाम समवाय है। अपृथक् पदार्थों के बीच में जो संबंध है (अयुत-सिद्धानाम् अपृथग् भूतानाम्), इसी प्रकार आधार्य्य-आधारभूत पदार्थों के बीच में जो संबंध है, वही समवाय है।[२] "समवाय" **वैशेषिक** के आचार्य्य की एक विशेष सूझ है, जिसके आधार पर ही कार्य और कारण का संबंध समझा जा सकता है।

न्याय और वैशेषिक में पंच-भूत

वैशेषिक में जो नौ-द्रव्य गिनाये गये, उनमें से पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश इन पाँच का नाम **न्याय** के आचार्य गोतम ने भूत बतलाया है।[३] **न्याय** के शब्दों में पृथिवी आदि पाँचों भूतों के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पाँच गुण हैं, और ये (तदर्थाः) एक एक इन्द्रिय विशेष के विषय हैं।[४]

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। (वैशेषिक १।२।३–५)। सामान्यं द्विविधं परमपरञ्चेति। तच्च अनुवृत्तिप्रत्ययकारणम्। तत्र परं सत्ता महाविषयत्वात्, सा च अनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। द्रव्यत्वाद्यपरमल्प-विषयत्वात्। तच्च व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् सामान्यं सद् विशेषाख्यामपि लभते। (प्रशस्तपाद)

१. अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः। (वैशेषिक १।२।६)। नित्यद्रव्यवृत्तयो ह्यन्त्या विशेषाः। ते च खल्वत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषा एव। (प्रशस्तपाद)

२. इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः (वैशेषिक ७।२।२६)। अयुत-सिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इह–प्रत्ययहेतुः स समवायः। (प्रशस्तपाद)

३. पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। (न्याय १।१।१३)

४. गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। (न्याय १।१।१४)

भूत	गुण	इन्द्रिय
पृथिवी	गन्ध	घ्राण
अप्	रस	जिह्वा
तेज	रूप	नेत्र
वायु	स्पर्श	त्वक्
आकाश	शब्द	श्रोत्र

वैशेषिक ने पृथिवी में चार गुण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श माने हैं, पानी में रूप, रस और स्पर्श इन तीन गुणों के अतिरिक्त द्रवत्व और स्नेह रहते हैं। तेज में रूप और स्पर्श रहते हैं, एवं वायु में केवल स्पर्श है। ये चारों गुण (रूप, रस, गन्ध और स्पर्श) आकाश में नहीं हैं। घी, लाख और मोम में अग्नि के संयोग से द्रवत्व (बहने का गुण) आता है। इनमें द्रवत्व स्वाभाविक गुण नहीं है, केवल नैमित्तिक है, पर जल में द्रवत्व सामान्य गुण है। इसी प्रकार राँगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोने में अग्नि के संयोग से द्रवत्व आता है, यह द्रवत्व नैमित्तिक है, पर जल में स्वाभाविक द्रवत्व है।[1]

पृथिवी का एक गुण रूप है। रूप की उपलब्धि चक्षु या आँख से होती है। एक और सूत्र में चाक्षुष गुणों में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व और अपरत्व गुणों को भी सम्मिलित किया गया है।[2] इसी प्रकार संस्कार (वेग) के अभाव में गुरुत्व होने से वस्तु का पतन होता है, और संयोग के अभाव में भी गुरुत्व होने से पतन होता है[3], इन सूत्रों के आधार पर पृथिवी में गुरुत्व गुण की कल्पना की गयी है। प्रेरणा से छोड़े जाने पर बाण को आदि-गति प्राप्त होती है, और यह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, अतः पृथिवी में संस्कार गुण भी है।[4] इसी लिए **प्रशस्तपाद** ने

१. रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। तेजो रूपस्पर्शवत्। स्पर्शवान् वायुः। त आकाशे न विद्यन्ते। सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्। त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम्। (वैशेषिक २।१।१–७)

२. संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि। (वैशेषिक ४।१।११)

३. संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्। (वैशेषिक ५।१।१८), संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। (वैशेषिक ५।१।७)

४. नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च। (वैशेषिक ५।१।१७)

पृथिवी में इतने गुण गिनाये हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, और संस्कार।[1] श्वेत या शुक्ल आदि भेद से रूप अनेक प्रकार के होते हैं। मधुर आदि छः रस होते हैं। गन्ध दो प्रकार की होती हैं—सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध)। पृथिवी में स्पर्श गुण पाकज है, अर्थात् अग्नि आदि के संयोग से उत्पन्न हो जाता है। स्पर्श दो प्रकार का है, अनुष्ण और अशीत (ठंडा और गरम)।[2]

जल के सम्बन्ध में भी वैशेषिक में इसी प्रकार की व्याख्या है। **वैशेषिक** सूत्रों के आधार पर **प्रशस्तपाद** ने जल में निम्न गुण बताये हैं—रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व और संस्कार। जल में जो स्पर्श है, वह शीतल है।[3] संयोग के रहने पर गुरुत्व (भारी होने) के कारण यह नीचे गिरता है। इसमें द्रवत्व है, इसलिए यह नीचे के धरातल की ओर बहता है। नाडी (सूर्यकिरण या नली) और वायु के संयोग से पानी ऊपर चढ़ता है। नोदन (धक्का देना) और पीडन (दबाव डालना) से और संयुक्त-संयोग से भी पानी ऊपर चढ़ता है। अदृष्ट शक्ति से जड़ में डाला गया पानी वृक्ष के ऊपरी पत्तों तक अभिसर्पित हो जाता है (ऊपर तक पहुँच जाता है)। पानी का जमना और फिर

१. पृथिवीत्वाभिसम्बन्धात् पृथिवी; रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाण-पृथक्त्व-संयोग-विभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती। एते च गुणविनिवेशाधिकारे रूपादयो गुणविशेषाः सिद्धाः। चाक्षुषवचनात् सप्त संख्यादयः। पतनोपदेशाद् गुरुत्वम्। अद्भिः सामान्य-वचनाद् द्रवत्वम्। उत्तरकर्मवचनात् संस्कार इति। (प्रशस्तपाद)

२. व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः। (वैशेषिक २।२।२)। कारणगुणपूर्व्वकाः पृथिव्यां पाकजाः। (वैशेषिक ७।१।६)
क्षितावेव गन्धः। रूपमनेकप्रकारकं शुक्लादि। रसः षड्विधो मधुरादिः। गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च। स्पर्शोऽनुष्णाशीतत्वे सति पाकजः। (प्रशस्तपाद)

३. अप्सु शीतता (वैशेषिक २।२।५)। अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। द्रवत्वात् स्यन्दनम्। नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्। नोदनापीडनात् संयुक्त-संयोगाच्च। वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। अपां संघातो विलयनञ्च तेजःसंयोगात्। तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्। अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः। (वैशेषिक ५।२।३-९, ११)

गल जाना या पतला पड़ जाना तेज या अग्नि के संयोग के कारण है। आकाश में छितरे हुए जल के कण बिजली की कड़क और दमक के कारण होते हैं।

तेज के गुण **प्रशस्तपाद-भाष्य** में निम्न बताये गये हैं—रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, वियोग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार। इसमें जो स्पर्श है वह केवल उष्ण (गरम) है, जैसे जल में जो स्पर्श था वह शीतल था। जैसे पृथिवी में प्रेरणा आदि के द्वारा कर्म की उत्पत्ति होती है, वैसे ही तेज और वायु में भी कर्म की उत्पत्ति मानी जा सकती है। अग्नि की ज्वाला का ऊपर को जाना, वायु का तिरछा बहना और इसी प्रकार अणुओं तथा मन के आद्य-कर्म अदृष्ट के कारण होते हैं। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि तेज के कारण पृथिवी में (त्रपु, सीस, घृत, जतु आदि में) द्रवत्व आ जाता है। अग्नि चार प्रकार की है—(क) भौम (ईंधन आदि की), (ख) दिव्य (सौर, विद्युत् की), (ग) उदर्य (जठराग्नि), (घ) आकरज (सुवर्णादि की)।[1]

वायु के गुण **प्रशस्तपाद** ने इस प्रकार गिनाये हैं—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व और संस्कार। इसका स्पर्श गुण अपाकज अर्थात् स्वाभाविक है, इसलिए वायु को स्पर्शवान् कहा है। यह स्पर्श अनुष्ण और अशीत है (जल और अग्नि का क्रमशः शीत और उष्ण था)। इस प्रकार यह स्पर्श पृथिवी के स्पर्श से भिन्न है जो पाकज है, जल के स्पर्श से भिन्न है जो अनुष्ण या शीतल है और तेज के स्पर्श से भिन्न है जो अशीत या उष्ण है।[2]

वायु आँख से नहीं दिखाई पड़ता, अतः इसमें अचाक्षुष गुण हैं और यह अरूपी[3]

१. **तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः। रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत्। (प्रशस्तपाद)॥ अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। (वैशेषिक ५।२।१३)**

विषयसंज्ञकं चतुर्विधं भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च। तत्र भौमं काष्ठेन्धनप्रभवमूर्ध्वज्वलनस्वभावं पचनस्वेदनादिसमर्थम्। दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युदादि। भुक्तस्याहारस्य रसादिभावेन परिणामसमर्थमुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि। (प्रशस्तपाद)

२. **वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः। स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान्। स्पर्शोऽस्य अनुष्णाशीतत्वे सति अपाकजः। (प्रशस्तपाद)**

३. **अरूपिष्वचाक्षुषाणि। (वैशेषिक ४।१।१२)**

है। वायु के संयोग से ही तृण आदि में हिलना डुलना आदि कर्म देखे जाते हैं।[1] वायु में द्रव्यत्व भी है और महत्त्व भी, पर रूप का संस्कार या रूप-समवाय न होने के कारण आँख से इसकी उपलब्धि या प्रतीति नहीं हो सकती।[2] वायु का वायु से संमूर्च्छन (टक्कर) होता है, अतः वायु में नानात्व है अर्थात् वायु एक नहीं अनेक हैं।[3] वायु को अदृष्टलिंग भी बताया गया है, क्योंकि दृष्ट (पृथिवी, जल और अग्नि जो दिखाई पड़ते हैं) में तो स्पर्श नहीं होता। पर यह नहीं कहना चाहिए कि वायु द्रव्य नहीं है क्योंकि दीखता नहीं। स्पर्श स्वयं तो द्रव्य है नहीं, अतः वायु द्रव्य अवश्य है, चाहे दीखे या न दीखे।[4] वायु क्रियावान् और गुणवान् दोनों है, इसलिए द्रव्य तो है ही।[5] जैसे गन्धवती होने से पृथिवी गन्धज्ञान और घ्राणेन्द्रिय में उपादान कारण है, उसी प्रकार अप्, तेज और वायु क्रमशः रसवान्, रूपवान् और स्पर्शवान् होने से रसज्ञान, रूपज्ञान और स्पर्शज्ञान तथा तत्संबंधी इन्द्रियों के उपादान कारण हैं।[6]

प्रशस्तपाद भाष्य में आकाश के गुण ये बताये गये हैं—शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।[7] कोई ऐसा द्रव्य होना ही चाहिए जिसका गुण शब्द हो। शब्द और किसी द्रव्य का गुण नहीं है। न यह पृथिवी का गुण है और न जल का, न अग्नि का और न स्पर्शवान् वायु का। शब्द प्रत्यक्ष है क्योंकि कान से इसका ग्रहण होता है और दूसरे द्रव्यों से इसका समवाय संबंध है, अतः यह आत्मा और मन का भी गुण नहीं हो सकता। अतः परिशेष-युक्ति से शब्द को आकाश का ही लिंग

१. तृणे कर्म वायुसंयोगात्। (वैशेषिक ५।१।१४)
२. सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः। (वैशेषिक ४।१।७)
३. वायोर्वायुसंमूर्छनं नानात्वे लिङ्गम्। (वैशेषिक २।१।१४)
४. न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः। अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्। (वैशेषिक २।१।१०–११)
५. क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च। (वैशेषिक २।१।१२)
६. भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। तथापस्तेजो वायुश्च रस-रूपस्पर्शाऽविशेषात्। (वैशेषिक ८।२।५–६)
७. तत्र आकाशगुणाः—शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। तत्र शब्दः प्रत्यक्षत्वे सति अकारणगुणपूर्वकत्वादयावद्द्रव्यभावित्वादाश्रयादन्यत्रोपलब्धेश्च न स्पर्शवद् विशेषगुणः। (प्रशस्तपाद)

माना गया है।[1] फिर कोई ऐसा माध्यम भी होना चाहिए जिसमें निष्क्रमण (बाहर निकलना) और प्रवेशन (भीतर जाना) हो सके। निष्क्रमण और प्रवेशन भी आकाश के लिंग हैं।[2]

अणु की कल्पना

अणु शब्द का प्रयोग वैशेषिक में कई स्थलों पर हुआ है। यह अणु महत् का विरोधी है। अणु का अर्थ अति छोटा और महत् का अर्थ अति बड़ा है। उपनिषद् का वाक्य है—"अणोरणीयान् महतो महीयान्" अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। इस वाक्य में भी अणु महत् का विरोधी बताया गया है। अणु और महत् शब्द वैशेषिक में अधिकतर एक साथ ही प्रयुक्त हुए हैं।[3] सर्वव्यापक होने से आकाश और आत्मा "महान्" अर्थात् महत् परिमाणवाले बताये गये हैं, और इसके विपरीत मन को "अणु" परिमाणवाला बतलाया है।[4] अणु से और छोटा कुछ भी नहीं हो सकता, तथा महत् से बड़ा भी कोई नहीं हो सकता (७।१।१४)। इसी

१. कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्चशब्दः स्पर्शवतामगुणः परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः। परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य। (वैशेषिक २।१।२४–२७)

२. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्। (वैशेषिक २।१।२०)

३. अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते। (वैशेषिक ७।१।८)
अणुमहदिति तस्मिन् विशेषभावाद्विशेषाभावाच्च। (वैशेषिक ७।१।११)
अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाऽभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः। (वैशेषिक ७।१।१४)
अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः। (वैशेषिक ७।१।१६)
एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः। (वैशेषिक ७।२।३)
संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः। (वैशेषिक ७।२।११)
कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति। (वैशेषिक ७।२।१२)
परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः। (वैशेषिक ७।२।२३)

४. विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। तदभावादणु मनः (वैशेषिक ७।१।२२–२३)

प्रकार ह्रस्व का ह्रस्वत्व और दीर्घ का दीर्घत्व भी नहीं होता।[1] अणु क्योंकि बहुत ही सूक्ष्म है अतः इसकी अनुपलब्धि नित्य है, अर्थात् प्रत्यक्षादि साधनों से इसकी प्रतीति नहीं हो सकती, इसके विपरीत महत् की उपलब्धि नित्य है (७।१।८)। कारण बहुत्व त्र्यणुक में महत्त्व या दीर्घत्व उत्पन्न करता है। अणु की अवस्था इससे विपरीत है।[2] विशेष भाव से अथवा विशेष-अभाव से अर्थात् सापेक्षता से एक ही पदार्थ सामान्य प्रयोगों में कभी अणु (छोटा) और कभी महत् (बड़ा) कहा जा सकता है (७।१।११), जैसे आम आँवले से बड़ा पर खरबूजे से छोटा है। सापेक्षता से एक ही चीज़ एक समय में भी बड़ी और छोटी दोनों कही जा सकती है (एककालत्वात् ७।१।१२)।

वैशेषिक दर्शन के लगभग सभी स्थलों में यह सन्देह विद्यमान रहता है कि अणु शब्द का प्रयोग "अति सूक्ष्म" के अर्थ में हुआ है, अथवा परमाणुओं (atoms) के अर्थ में। **प्रशस्तपादभाष्य** में पृथिवी, अप्, तेज और वायु इन चारों को दो प्रकार का बतलाया है—एक तो परमाणु अवस्थावाले, जो नित्य हैं और दूसरे कार्य्य-लक्षणवाले, जो अनित्य हैं।[3]

पृथिवी नित्य और अनित्य भेद से दो प्रकार की है। परमाणुरूप पृथिवी नित्य है और कार्य अर्थात् परमाणुभिन्न द्व्यणुकादि रूपवाली समस्त पृथिवी अनित्य है। दो **परमाणुओं** के मिलने से एक **द्व्यणुक** बनता है और तीन द्व्यणुक मिलकर एक **त्रसरेणु** बनता है। त्रसरेणु का नाम ही **त्रुटि** है। इसी प्रकार महापृथिवी से महत्तर पृथिवी और महत्तम पृथिवी बनती हैं। **प्रशस्तपादभाष्य** में इसका विस्तृत विवरण

१. एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते। (वैशेषिक ७।१।१७)

२. कारणबहुत्वाच्च। अतो विपरीतमणु। (वैशेषिक ७।१।९–१०)

३. (क) क्षितावेव गन्धः।...सा च द्विविधा नित्या चानित्या च। परमाणुलक्षणा नित्या, कार्यलक्षणा त्वनित्या। सा च स्थैर्याद्यवयवसन्निवेशविशिष्टा-परजातिबहुत्वोपेता शयनासनाद्यनेकोपकारकरी च।

(ख) अप्त्वाभिसम्बन्धादापः।...तास्तु पूर्ववद् द्विविधा नित्यानित्यभावात्। कार्यं पुनस्त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्।

(ग) तेजस्त्वाभिसम्बन्धात् तेजः।...तदपि द्विविधं अणुकार्यभावात्। कार्यं शरीरादित्रयं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्।

(घ) वायुत्वाभिसम्बन्धाद् वायुः।...स चायं द्विविधः। अणुकार्यभावात् तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः, शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति। (प्रशस्तपाद)

"सृष्टि-संहारनिरूपण" में दिया गया है।[1] जब तक पृथिवी परमाणु रूप में होती है अथवा द्व्यणुक रूप में, तब तक यह प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे ही यह त्रसरेणु बनती है, इसमें प्रत्यक्षभाव उत्पन्न हो जाता है। यह त्रसरेणु चाक्षुष द्रव्य इसी अर्थ में कहा जाता है। इस अनित्य या कार्य पृथिवी में स्थैर्यादि अर्थात् स्थिरता, विष्टम्भकत्व, धारकत्व और आकर्षकत्व प्रभृति धर्म एवं अवयव-सन्निवेश अर्थात् संस्थानगत वैलक्षण्य-

१. **इहेदानीं चतुर्णां महाभूतानां सृष्टिसंहारविधिरुच्यते।**

भावार्थ—चारों महाभूतों की सृष्टि-संहारविधि (बनने और प्रलय होने की विधि) यहाँ दी जाती है। सौ ब्राह्म वर्षों की सृष्टि के बाद प्राणियों के विश्राम के लिए प्रलय होती है। प्रलय के अवसर पर पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चार महाभूतों में उत्तरोत्तर क्रम से एक एक का विनाश होता है, अर्थात् पहले पृथिवी का, फिर जल का, फिर तेज का और अन्त में वायु का। इस प्रलय के समय चारो भूत अपनी अपनी परमाणु-अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस समय पृथिवी आदि के परमाणुसमूह पृथक् पृथक् रूप में अवस्थित रहते हैं, धर्म, अधर्म एवं संस्कार से युक्त आत्मा और आकाश, काल आदि नित्यवर्ग तथा पाकजरूपादि कतिपय अनित्य वर्ग ब्रह्मा के सौ वर्ष तक उदासीन भाव से बने रहते हैं। इसके बाद प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार उनके कर्मों के भोग के लिए फिर सृष्टि रचना होती है। रचना में सबसे पहली क्रिया वायु-परमाणुओं में की जाती है। वायु परमाणुओं के परस्पर संयोग से द्व्यणुक बनते हैं (द्व्यणुक से त्रसरेणु) और इसी क्रम से अन्त में महावायु बनता है जो आकाश में कम्पित भाव से रहने लगता है। इस वायु के मध्य में ही जल के परमाणु परस्पर संयुक्त होकर महान् सलिलनिधि (जलनिधि) बन जाते हैं और वायु के सम्पर्क से इसमें अबाध तरंगें उठने लगती हैं। इस जलनिधि के बीच में ही पृथिवी के परमाणु द्व्यणुक आदि बनकर क्रमानुसार महापृथिवी बनाते हैं। इसके बाद उसी महाजलनिधि में से तेजस् के परमाणु द्व्यणुकादि बनकर क्रमशः महान् तेजोराशि में परिणत हो जाते हैं। यह तेजोराशि समस्त स्थलों पर देदीप्यमान हो जाती है। इस तेज के और पृथिवी के परमाणुओं से मिलकर एक महान् अण्ड (हिरण्यमय अण्ड) उत्पन्न होता है। इस अण्डे में से ही चतुर्मुखी ब्रह्मा सब लोकों की उत्पत्ति करता है और समस्त प्रजाओं की इससे उत्पत्ति होती है।

युक्त पृथिवीत्व के अवान्तर धर्म एवं विभिन्न जातियों के प्रादुर्भाव के क्षमता भाव पाये जाते हैं। इस जाति द्वारा ही तरह तरह के भेद उत्पन्न होते हैं। कार्यरूप पृथिवी से ही अन्त में घट, पट, शय्या, आसन, पीठ, मठ, मण्डप आदि अनेकानेक पदार्थ बन जाते हैं।

यही अवस्था जल की भी है। जल दो प्रकार का होता है, परमाणुरूप और कार्यरूप। परमाणुरूप जल नित्य है। कार्यरूप जल तीन प्रकार का है—शरीर संज्ञक, इन्द्रियसंज्ञक और विषयसंज्ञक (देखो **वैशेषिक** भी—तत्पुनः पृथिव्यादिकार्य्य-द्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। ४।२।१)। केवल जलीय शरीर अयोनिज है (पार्थिव शरीरों के समान योनिज नहीं) और जलीय शरीर केवल वरुण लोक में पाया जाता है (वरुणलोक में शरीरस्थ आत्माओं की देहें केवल पानी की होती हैं)। इस जलशरीर से भोग नहीं हो सकता, अतः पार्थिव अवयवों का संग मिलने पर ही इससे भोग का कार्य लिया जा सकता है। जलीय इन्द्रिय (इन्द्रियसंज्ञक जल) का नाम रसन है। रसन इन्द्रिय द्वारा रस की उपलब्धि होती है। विषयसंज्ञक जल से अभिप्राय उस जल से है जो नदियों, समुद्रों या हिमरूप में पर्वतों पर मिलता है।[1]

तेज भी इसी प्रकार दो तरह का है। नित्य तेजस् जो अणुरूप है, और कार्य-रूप अग्नि जो अनित्य है। कार्य-अग्नि भी कार्य-जल के समान तीन कोटि की है—शरीरसंज्ञक, इन्द्रियसंज्ञक और विषयसंज्ञक। अग्नि के नित्य परमाणु संयुक्त होकर द्व्यणुक बनाते हैं और तीन द्व्यणुकों से अग्नि का एक त्रसरेणु बनता है। यह कार्य-अग्नि है। शरीरसंज्ञक अग्नि केवल आदित्यलोक में पायी जाती है। यह अयो-निज है और जब तक पृथिवी के अवयवों से इसका संबंध नहीं होता, यह उपभोग करने-वाले शरीर को जन्म नहीं दे सकती। इन्द्रियसंज्ञक अग्नि रूप का बोध करानेवाली है। अन्य अवयवों के साथ संयुक्त होकर यह तेज या अग्नि चक्षु-इन्द्रिय की रचना करती है। विषयसंज्ञक अग्नि चार प्रकार की है—भौम, दिव्य, उदर्य और आक-रज। भौम अग्नि वह है जो काष्ठ-इन्धन से उत्पन्न होती है, जिसकी ज्वाला ऊपर उठती है, भोजन आदि के पकाने में अन्य पाक कर्म करने में जिससे रूप आदि का परिवर्त्तन होता है और स्वेदन कर्म करने में जिसका उपयोग होता है। दिव्य अग्नि

१. अत्र शरीरमयोनिजमेव वरुणलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भादुपभोगसमर्थम्। इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रसोपलम्भकम्। अन्यावयवानभिभूतैर्जलावयवैरारब्धं रसनम्। विषयस्तु सरित्समुद्रहिमकरकादिरिति। (प्रशस्तपाद)

वह है जो सूर्य विद्युत् आदि की हैं। उदर्य्य अग्नि वह है जिससे खाया गया भोजन अनेक रसों के सम्पर्क से शरीर में पचने में समर्थ होता है। आकरज अग्नि वह है जो सोने को सुनहरा रंग और इसी प्रकार अन्य धातुओं को अन्य रंग देती है।[1]

इसी प्रकार वायु भी दो प्रकार की है—अणुरूप वायु जो नित्य है, और कार्य-रूप वायु जो अनित्य है। वायु के परमाणु ही द्व्यणुक और त्रसरेणु में संघट्टित होकर कार्य-वायु बनते हैं। कार्य वायु चार प्रकार का है—शरीरसंज्ञक, इन्द्रियसंज्ञक, विषयसंज्ञक और प्राणसंज्ञक। शरीरसंज्ञक वायु अयोनिज है और मरुतों के लोक (वायुलोक) में ही पाया जाता है (मरुतलोक के शरीरधारियों के शरीर केवल वायु के होते हैं)। यह शरीर पार्थिव अवयवों के सम्पर्क से भोग के योग्य बनते हैं। इन्द्रियसंज्ञक वायु स्पर्शेन्द्रिय त्वचा में स्पर्श की अनुभूति-योग्य क्षमता उत्पन्न करती है। यह त्वक् इन्द्रिय समस्त शरीर में व्याप्त है। विषयसंज्ञक वायु वह है जो हमारे शरीर का स्पर्श कर अपना अस्तित्व प्रकट करती है, स्पर्श और शब्द से इसका बोध होता है और कम्प इसका लिंग है (हवा जब चलती है, तो पेड़ों की पत्तियाँ हिलती हैं और उनसे मर्मर आदि शब्द निकलते हैं)। तिरछा चलना (तिर्यग् गमन) हवा का स्वभाव है। मेघ, पत्र, धूल आदि को प्रेरणा देना, उन्हें उड़ाना, इसके सामर्थ्य में है। शरीर के भीतर प्राण, अपान आदि संबंधी जो वायु है, वह प्राण-संज्ञक कहलाती है। प्राण वायु है तो एक ही, पर क्रियाभेद से प्राण, अपान, व्यान आदि इसके अनेक नाम हो जाते हैं।

अणु अथवा परमाणु और उनके गुण

कणाद के वैशेषिक सूत्रों में महत् और अणु इन शब्दों का प्रयोग तो हुआ है, पर अणु के पर्याय अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले परमाणु शब्द का प्रयोग सूत्रों में नहीं है।

१. तदपि द्विविधं अणुकार्यभावात्। कार्यंशरीरादित्रयं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। शरीरमयोनिजमेव आदित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्। इद्रियं सर्वप्राणिनां रूपव्यञ्जकमन्यावयवानभिभूतैस्तेजोऽवयवैरारब्धं चक्षुः। विषयसंज्ञकं चतुर्विधं भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च। तत्र भौमं काष्ठेन्धन-प्रभवमूर्ध्वज्वलनस्वभावं पचनस्वेदनादिसमर्थं दिव्यमबिन्धनं सौरविद्यु-दादि। भुक्तस्याहारस्य रसादिभावेन परिणामसमर्थमुदर्यम्। आकरजं सुवर्णादि। (प्रशस्तपाद)

दो अणुओं से मिलकर द्व्यणुक का बनना और तीन द्व्यणुकों से मिलकर त्रसरेणु का बनना भी भाष्यकारों ने संकेत से कहा है, पर मूलसूत्रों में द्व्यणुक और त्रसरेणु शब्द भी नहीं आते।[१]

परमाणु अप्रत्यक्ष हैं—**वैशेषिक दर्शन** के चतुर्थ अध्याय के, प्रथम आह्निक में अणुओं के सम्बन्ध में कुछ विवेचना है, यद्यपि इस आह्निक के किसी मूल-सूत्र में अणु या परमाणु शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। यह स्मरण रखना चाहिए कि परमाणु आँखों से दिखाई नहीं दे सकते, पर आँखों से प्रत्यक्ष न होना इनके अनस्तित्व का प्रमाण नहीं है। आँखों से परमाणु इसलिए नहीं दीखते कि इनका परिमाण (magnitude) नहीं है। अँधेरे कमरे में सूर्य की किरण जब प्रविष्ट होती है, तब उसके मार्ग में जो धूल के सूक्ष्म कण दिखाई देते हैं, उन्हें ही त्रसरेणु या गोतम के **न्यायसूत्र** के शब्दों में "त्रुटि" कहा जाता है। परमाणु या अणु इस त्रुटि या त्रसरेणु से भी सूक्ष्म हैं।[२]

परमाणु अखंड और निरवयव हैं—त्रसरेणु क्योंकि आँख से दिखाई पड़ता है, इसलिए इसमें "परिमाण" है। परिमाण है अतः इसके खंड हो सकते हैं। त्रसरेणु के खण्डों का नाम द्व्यणुक हुआ। ये द्व्यणुक स्वयं जिससे बने हैं, उसका नाम परमाणु या अणु है। जो भी कोई द्रव्य कार्य-अवस्था में होगा वह सावयव होगा, और जो भी कोई वस्तु सावयव होगी वह कार्यावस्था में होगी। खण्ड करते करते जिस स्थल पर कार्यावस्था समाप्त हो जायगी, वहाँ पर सावयवता भी समाप्त हो जायगी। इसी तर्क पर कारणावस्थावाले परमाणु निरवयव हो सकेंगे।[३] द्व्यणुक और त्रसरेणु कार्यावस्था में हैं, अतः ये सावयव हैं।

१. **स चायं द्विविधः अणुकार्यभावात्। तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः, शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति। तत्रायोनिजमेव शरीरं मरुतां लोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्। इन्द्रियं सर्वप्राणिनां स्पर्शोपलम्भकं पृथिव्याद्यनभिभूतैर्वाय्ववयवैरारब्धं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम्। विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गस्तिर्यग्गमनस्वभावको मेघादिप्रेरणधारणादिसमर्थः। ....प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदात् प्राणापानादिसंज्ञां लभत इति। (प्रशस्तपाद)**

२. **परं वा त्रुटेः। (न्याय० ४।२।१७)**

३. **अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसङ्ख्येयत्वात् त्रुटिनिवृत्तिरिति। (न्याय-वात्स्यायन ४।२।१७)**

परमाणु में चारों भूतों के अपने अपने गुण हैं—**वैशेषिक** का सूत्र है कि कारण में जो गुण होते हैं, वे कार्य में भी पाये जाते हैं।[1] इसका अभिप्राय यह है कि यदि कार्यरूप पृथिवी में गन्ध है, तो उसका यह गुण पृथिवी के परमाणु में भी है। इसी प्रकार जल के परमाणु में रस, अग्नि के परमाणु में रूप और वायु के परमाणु में स्पर्श गुण हैं। अगर ये गुण परमाणु में न होते, तो कार्यावस्था के द्रव्य में भी न पाये जाते।

इससे भी यह अभिप्राय निकलता है कि पृथिवी के परमाणु जल के परमाणु से भिन्न हैं और इसी प्रकार अग्नि तथा वायु के परमाणु अन्य भूतों के परमाणुओं से भिन्न हैं।

द्रव्यों का परम उपादान कारण परमाणु हैं—**न्यायवार्तिक** में ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और पृथिवी आदि के परम सूक्ष्म परमाणुओं को इसका उपादान कारण माना गया है।[2]

परमाणु योगियों को प्रत्यक्ष है—परमाणु इतना सूक्ष्म है कि इसे हम अपनी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। **वैशेषिक** का एक सूत्र है—**"तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे"** (८।१।२)। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा और मन का ज्ञान अप्रत्यक्ष साधनों द्वारा होता है। सूत्र में जो "च" शब्द है, उसका अभिप्राय **उपस्कार-**

तस्य कार्यं लिंगम् (वैशेषिक ४।१।२) सूत्र के उपस्कारभाष्य में—तस्मान्निरवयवं द्रव्यमवधिः स एव परमाणुः। न च त्रसरेणुरेवावधिः, तस्य चाक्षुषद्रव्यत्वेन महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाच्च, महत्त्वस्य चाक्षुषप्रत्यक्षत्वे कारणत्वमनेकद्रव्यवत्त्वमादायैव, अन्यथा महत्त्वमेव न स्यात् कस्य कारणत्वं भवेत्, न च त्रसरेणोरवयवा एव परमाणवः, महद्द्रव्यारम्भकत्वेन तेषामपि सावयवत्वानुमानात्तन्तुवत्, कपालवच्च। तस्माद् यत् कार्यद्रव्यं तत् सावयवं, यच्च सावयवं तत् कार्यद्रव्यम्, तथा च यतोऽवयवात् कार्यत्वं निवर्तते तत्र सावयवत्वमपीति निरवयवपरमाणुसिद्धिः।

१. **कारणभावात् कार्यभावः। (वैशेषिक ४।३)**

उपस्कारभाष्य—इदानीं परमाणौ रूपादिसिद्धये प्रमाणमाह—कारणेति, रूपादीनां कारणे सद्भावात् कार्ये सद्भावः। कारणगुणपूर्वका हि कार्यगुणा भवन्ति घटपटादौ तथा दर्शनादित्यर्थः।

२. **ईश्वरश्चेज्जगतो निमित्तं जगतः साक्षादुपादानकारणं किम्? उक्तं पृथिव्यादिपरमसूक्ष्मं परमाणुसंज्ञितं द्रव्य(व्यक्त)मिति। (न्यायवार्तिक, ४।१।२१, पृ० ४५७)**

भाष्यकार ने आकाश, काल, दिशा, वायु और परमाणु बतलाया है।[1] अतः पूरे सूत्र का अर्थ यह हुआ कि आत्मा, मन, आकाश, काल, दिशा, वायु और परमाणु इनका प्रत्यक्ष आँख से नहीं हो सकता।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—विद्या और अविद्या। **उपस्कारभाष्य** में विद्या चार प्रकार की मानी गयी है–प्रत्यक्षलक्षणा, लैङ्गिकलक्षणा, स्मृतिलक्षणा और आर्षलक्षणा। अविद्या भी चार प्रकार की है—संशयलक्षणा, विपर्ययलक्षणा, स्वप्नलक्षणा और अनध्यवसायलक्षणा। प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा इन्द्रियज ज्ञान दो प्रकार का होता है, सर्वज्ञीय और असर्वज्ञीय। सर्वज्ञीय ज्ञान योगियों का होता है। योगी बिना मन और इन्द्रियों के अपनी आत्मचेतनता के कारण ही परात्मा, स्वात्मा, मन, परमाणु आदि सबका प्रत्यक्ष कर लेते हैं, इस प्रत्यक्ष में उन्हें इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रहती।[2]

परिमाण और परमाणु

प्रशस्तपाद-भाष्य में परिमाण को मान-व्यवहार (measures) का कारण माना गया है। यह चार प्रकार का है—अणु (small), महत् (large), दीर्घ (long) और ह्रस्व (short)। महत् भी दो प्रकार का माना जाता है; नित्य और अनित्य। आकाश, काल, दिक् और आत्मा में जो परम महत्त्व है वह सदा रहनेवाला अर्थात् नित्य है। त्र्यणुकादि में जो महत्त्व है, वह नाशवान् अर्थात् अनित्य है। अणुत्व भी दो प्रकार का होता है; नित्य और अनित्य। परमाणु और मन में जो अणुत्व है वह नित्य है। इनके परिमाण को **पारिमांडल्य** कहते हैं। केवल द्व्यणुक ऐसा है जिसमें अणुत्व है, पर यह अनित्य अणुत्व है (द्व्यणुक में महत्त्व नहीं है, 'महत्त्व' त्रसरेणु से

१. **चकारादाकाशकालदिशां वायोः परमाणूनां च द्रव्याणामुपग्रहः। (उपस्कार ८।१।२)**

२. **इन्द्रियजमपि द्विविधं सर्वज्ञीयमसर्वज्ञीयं च। सर्वज्ञीयं योगजधर्मलक्षणया प्रत्यासत्त्या तत्तत्पदार्थसार्थज्ञानम्। तथाहि परमाणवः प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वादभिधेयत्वात् सत्त्वात्। सामग्रीविरहात्कथमेवं महत्त्वस्यापि प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वात्, न च परमाणवो महान्तः, रूपवत्त्वस्यापि चाक्षुष-प्रत्यक्षकारणत्वात्, न च दिगादयो रूपवन्त इति चेन्न। योगजधर्मसहकारिणा मनसैव तत्संभवात्, तदुपग्रहाच्चक्षुरादिना वा, अचिन्त्यप्रभावो हि योगजो धर्मो न सहकार्यन्तरमपेक्षते। (उपस्कार, वैशेषिक ८।१।२)**

आरंभ होता है, अणुओं और द्वचणुकों दोनों में 'अणुत्व' है। द्व्यणुक का अणुत्व अनित्य इसलिए है, कि द्वचणुक टूटकर अणु बन सकता है।) सापेक्षता से यह छोटा-बड़ा भाव कमल, आँवला, बिल्व, आदि में भी हो सकता है। बहुत-से आचार्य महत् और अणु का पर्याय ही दीर्घ और ह्रस्व मानते हैं। लकड़ी या समिधा, ईख, बाँस आदि में जो सीधापन या लम्बाई है, उसका नाम दीर्घत्व है, इस दीर्घत्व को विभक्त करने पर जो सापेक्ष छोटा परिमाण मिले वह ह्रस्वत्व है (अनेक ह्रस्वों को मिलाने पर दीर्घ बनता है, और अनेक अणुओं को मिलाने पर महत)।[1] ईख, बाँस आदि भी एक दूसरे की अपेक्षा से छोटे-बड़े हैं।

"मण्डल" शब्द का अभिप्राय वृत्त (circle) से है। अणु को 'परिमण्डल' से युक्त कहा गया है, अर्थात् यह सब ओर से गोल है, इसमें कहीं कोई कोना नहीं है। न इसमें दीर्घत्व अर्थात् लम्बाई है, क्योंकि यदि इसमें लम्बाई होती तो इसके टुकड़े या खंड हो सकते थे। पर अणु तो अखण्ड है। परिमण्डल का अर्थ कुछ आचार्यों ने 'प्रकृष्ट अणुत्व' किया है। परमाणु में परम ह्रस्वत्व है।

महत्त्व और दीर्घत्व गुणों से विहीन अखण्ड तथा नित्य परमाणुओं की सत्ता के विरुद्ध अनेक आचार्यों ने आक्षेप किये हैं। न्यायदर्शन के आचार्य गोतम ने इनमें से कई आक्षेपों का समाधान किया है। ये आक्षेप बहुधा बौद्ध आचार्यों की ओर से होते थे।

(१) शून्यवादी बौद्ध केवल शून्य की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में कोई ऐसा पदार्थ नहीं हो सकता जो अवयव-रहित हो और नित्य हो। उनका तर्क कुछ इस प्रकार का है—आकाश को सर्वव्यापी माना गया है, अतः परमाणु के भीतर भी आकाश व्याप्त है। "आकाश परमाणु के बाहर भी है और भीतर भी"; इस "बाहर" और "भीतर" का अर्थ ही यह हुआ कि परमाणु "सावयव" है, तभी तो

१. परिमाणं मानव्यवहारकारणम्। तच्चतुर्विधम्। अणु महद्दीर्घं ह्रस्वं चेति। तत्र महद् द्विविधं नित्यमनित्यं च, नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम्। अनित्यं त्र्यणुकादावेव। तथा चाण्वपि द्विविधं नित्यमनित्यं च। नित्यं परमाणुमनस्सु, तत्पारिमाण्डल्यम्। अनित्यं द्वचणुकमेव। कुवलयामलकबिल्वादिषु महत्स्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुत्वव्यवहारः। दीर्घत्वह्रस्वत्वे चोत्पाद्य महदणुत्वैकार्थसमवेते। समिदिक्षुवंशादिष्वञ्जसा दीर्घेष्वपि तत्प्रकर्षभावाभावमपेक्ष्य भाक्तो ह्रस्वत्वव्यवहारः। (प्रशस्तपाद, गुणपदार्थ०)

इसके बाहर-भीतर का प्रश्न उठा, और यदि यह माना जाय कि परमाणु के भीतर आकाश नहीं है, तो फिर आकाश की सर्वव्यापकता की बात निरर्थक हो गयी। बौद्धों का यह तर्क गोतम के पूर्वपक्ष के दो सूत्रों में दिया गया है।[1]

न्यायसूत्र में इसके उत्तरपक्ष में यह कहा गया है कि अन्दर और बाहर ये शब्द कार्य-द्रव्यों के सम्बन्ध में ही प्रयुक्त हो सकते हैं, न कि कारण-द्रव्य के सम्बन्ध में। अणु तो परिमाण से हीन हैं, ये नित्य और कारण अवस्था में हैं, इसके संबंध में अन्दर और बाहर शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता। अतः अणु के रहने पर भी आकाश की सर्व-व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आता। अन्दर और बाहर की परिभाषा न्यायभाष्य-कार ने की है। अन्य अवयवों से आवृत्त अवयवों का नाम "अन्तः" (भीतर) है। आवृत्त अवयवों का व्यवधान करनेवाले स्वयं अव्यवहित अवयवद्रव्य का नाम 'बहिः' (बाहर) है। इस प्रकार इन दोनों शब्दों का प्रयोग अवयवी द्रव्यों के सम्बन्ध में ही हो सकता है, न कि निरवयव द्रव्य के संबंध में। अणु तो निरवयव है।[2] वह अकार्य है, अकार्य होने से परमाणु में बाहर और अन्दर की भावना ही नहीं हो सकती। परमाणु वही है, जिससे छोटा और कुछ न हो।

(२) अखंड, निरवयव, नित्य परमाणु के विरुद्ध एक आक्षेप इस प्रकार का है— क्योंकि परमाणुओं में आपस में संयोग होता है, अतः ये सावयव ही हो सकते हैं। तन्तु या सूत्र क्योंकि सावयव है, इसी लिए दो या अधिक तन्तु परस्पर जोड़े जा सकते हैं। कल्पना कीजिए कि दो परमाणुओं के बीच एक तीसरा परमाणु आये और दोनों परमाणुओं से जुड़ जाय, तो इसका अभिप्राय यही होगा कि इस परमाणु के दो पार्श्व हुए; एक दायाँ पार्श्व, जिससे एक परमाणु जुड़ा और दूसरा बायाँ पार्श्व, जिससे दूसरा परमाणु जुड़ा। यदि किसी परमाणु में दायाँ और बायाँ दो पार्श्व हुए, तो वह सावयव हो गया। जो परमाणु सब ओर से संयोग कर सकता है, वह सर्वतः सावयव है। सावयव होने पर वह न अखण्ड रह सकता है, न नित्य। यह तर्क **न्यायदर्शन**

१. आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः। आकाशासर्वगतत्वं वा। (न्याय०४।२।१६–१७)

२. अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः। (न्याय०४।२।१८) (अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते, बहिरिति च व्यवधायकमव्यवहितं कारणमेवोच्यते। तदेतत्कार्यद्रव्यस्य सम्भवति, नाणोः, अकार्यत्वात्, अकार्ये हि परमाणावन्तर्बहिरित्यस्याभावः। यत्र चास्य भावः, अणुकार्यं तत्; न परमाणुः, यतो हि नाल्पतरमस्ति स परमाणुरिति।–न्याय० वात्स्यायन भाष्य)

के **"संयोगोपपत्तेश्च"** सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में रखा गया है। **वात्स्यायनभाष्य** में इसे स्पष्ट किया गया है।[1]

इस आक्षेप का निराकरण "अनवस्था दोष" की युक्ति के आधार पर किया गया है। मूर्त पदार्थों का खण्ड करते जायँ, तो निस्सन्देह अल्पतर सावयव खण्ड मिलते जायँगे। पर खण्ड करते जाने का प्रक्रम कहीं पर समाप्त करना होगा। जिस सीमा के बाद और अल्पतर खण्ड न हो सके उसे ही हम परमाणु कहेंगे। अगर खण्ड करते जाने के प्रक्रम का अन्त न हो, तो सरसों के समान छोटे से पदार्थ में भी अनन्त अवयव होंगे और हिमालय के समान बड़े पदार्थ में भी अनन्त अवयव होंगे। दोनों में ही अनन्त अवयव हुए, तो दोनों के परिमाणों में कोई भेद न हो सकेगा। हम कैसे कह सकेंगे कि सरसों छोटी और हिमालय बड़ा है। दोनों में छोटाई-बड़ाई का अन्तर इसी लिए है कि दोनों में अणुओं की संख्या कम और अधिक है। इसलिए खण्ड करने का प्रक्रम परमाणु की स्थिति पर समाप्त कर देना पड़ेगा। इस रीति से परमाणु अखण्ड और निरवयव ही रहेंगे। इस प्रकार अनवस्था की आपत्ति नहीं मानी जा सकती।[2]

पूर्वोक्त आक्षेप के निराकरण में दूसरा तर्क इस प्रकार दिया गया है। परमाणु निरवयव तो हैं, पर मूर्त हैं, मूर्त होने के कारण ही (न कि सावयव होने के कारण) बीच में रखा हुआ परमाणु अपने चारों ओर के अन्य परमाणुओं से संयोग कर सकता है।

क्रिया और उसके हेतु

वैशेषिकदर्शन के पाँचवें अध्याय में कर्म (motion and action) की अच्छी मीमांसा की गयी है। आत्मा से मन को प्रेरणा मिलती है और इस प्रेरणा के प्रयत्न-

१. मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्यामणुभ्यां संयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते, व्यवधानेनानुमीयते; पूर्वभागेण पूर्वेणाणुना संयुज्यते, परभागेणापरेणाणुना संयुज्यते इति। यौ तौ पूर्वापरौ भागौ, तावस्यावयवौ। एवं सर्वतः संयुज्यमानस्य सर्वतोभागा अवयवा इति। (न्याय० वात्स्यायन भाष्य ४।२।२४)

२. अनवस्थाकारित्वादनवस्थाऽनुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः। (न्याय ४।२।२५) इसके भाष्य पर विश्वनाथ की वृत्ति है—

सर्वेषामनवस्थितावयवत्वे मेरुसर्षपयोस्तुल्यपरिमाणत्वाऽऽपत्तिः। इत्थञ्च तत्संयोगावच्छेदका दिग्विभागाः न वा शून्यतायुक्ताः निष्प्रमाणत्वात्, प्रमाणसत्त्वे शून्यत्वविरोधात्, निष्प्रमाणकशून्यताऽभ्युपगमे किमपराद्धं पूर्णतया ?

स्वरूप हाथों में कर्म करने की शक्ति आती है। कर्म का अभिप्राय उठाना, उछालना आदि सब कुछ है। हाथ में जब कर्म हुआ, तो उसके संयोग से हाथ में लिये गये मुसल (मूसल) में कर्म हुआ। मुसल में जो कर्म हुआ, उससे अभिघात या चोट पाकर अन्नादि कुटता है। मुसल नीचे गिरकर ऊपर को कुछ अपने आप भी उछल जाता है, ऊपर उठाने में केवल हाथ का संयोग ही कारण नहीं है। हाथ ने मुसल को नीचे गिराया, उसकी प्रतिक्रिया (reaction) विपरीत दिशा में हुई। मुसल ऊपर उठा, तो उसने हाथ को भी अपने आप ऊपर उठा दिया।[1] हाथ में ऊपर उठा हुआ मुसल हाथ अलग कर लेने पर बिना हाथ के प्रयत्न के भी नीचे गिर पड़ता है। हाथ के संयोग के अभाव में यह प्रयत्न गुरुत्व (gravity) के कारण होता है। बिना हाथ के संयोग के मुसल न तो ऊपर उठ सकता है, और न तिर्यक् या तिरछी दिशा में, यह केवल नीचे की ओर गिर सकता है, अर्थात् गुरुत्व के कारण केवल नीचे की ओर ही इसका पात हो सकता है। गुरुत्व द्वारा क्रियायें अन्य दिशा में नहीं होतीं। अन्य दिशाओं में नोदन या प्रेरणा मुसल को प्रयत्न-विशेष से ही प्राप्त होती है, अर्थात् ऊपर, दायें, बायें मुसल को हटाना हो, तो हाथ से विशेष प्रयत्न करना होगा।[2]

नोदन या विशेष प्रेरणा से ही उदसन (उछाल) कर्म उत्पन्न किया जा सकता है। हस्त-कर्म से समस्त दारक कर्मों (बच्चों के खेल, गेंद आदि का फेंकना) की व्याख्या की जा सकती है। इसी प्रकार जलाने या दग्ध किये हुए समस्त विस्फोटनों की व्याख्या कर सकते हैं। जब पत्थर फोड़ते हैं, तो नोदन प्रक्रिया से ही इसके टुकड़े विभिन्न दिशाओं में छिटकते हैं।[3]

वायु के संयोग से तृण (घास-फूस) में कर्म (गति) उत्पन्न होता है। अचेतन या मूर्छा में पड़े हुए व्यक्ति जो हाथ पैर चलाने लगते हैं, वह भी वायु-संयोग के

१. आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म। तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म। अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः। तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि। अभिघातान्मुसलसंयोगाद् हस्ते कर्म। आत्मकर्महस्तसंयोगाच्च। (वैशेषिक ५।१।१–६)

२. संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग् गमनम्। प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः। (वैशेषिक ५।१।७–९)

३. नोदनविशेषादुदसनविशेषः। हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम्। तथा दग्धस्य विस्फोटने। (वैशेषिक ५।१।१०–१२)

कारण है, क्योंकि इन क्रियाओं में सोये हुए व्यक्ति का अपना तो कोई प्रयत्न हो ही नहीं सकता।[1]

मणियों में गति और इसी प्रकार चुम्बक की ओर सूई की गति (सूच्यभिसर्पण, deflection of the needle) "अदृष्ट" कारण से होती है।[2] धनुष से जो बाण छोड़ा जाता है, उसमें छोड़ने के समय से लेकर गिरने के समय तक जितनी गतियाँ होती हैं, वे संयोग-विशेषों (अर्थात् अनेक विशिष्ट कारणों) के कारण होती हैं। नोदन से (धनुर्धारी की प्रेरणा से) प्रारम्भिक गति होती है और फिर उत्तरोत्तर अर्थात् एक के बाद एक कर्म संस्कारवश होने लगते हैं, अन्त में संस्कार का अभाव होने पर गुरुत्व से वह बाण गिर पड़ता है।[3]

वैशेषिक के इसी अध्याय के द्वितीय आह्निक में पृथिवी, जल आदि में जो कर्म (गति—motion) होते हैं, उनका विवरण आया है। स्थूल पृथिवी में नोदन-अभिघात (deliberate stroke) और संयुक्त-संयोग से अर्थात् संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग होने से कम्प आदि कर्म उत्पन्न होते हैं। (सूर्यादि का आकर्षण और संघर्ष, एवं पृथिवी के गर्भ में द्रव पदार्थों के साथ संपर्क; ये सब भूकम्प के कारण हैं। अदृष्ट शक्ति भी पृथिवी के कर्म में साधक होती है।[4]

संयोग न रहने पर (on release from support) जल अपने गुरुत्व के कारण नीचे गिरता है। जल में जो द्रवत्व (liquidity) है उसके कारण यह बहता है। नीचे तल की ओर बहने को स्यन्दन कहते हैं। नीचे की ओर यह गति तो होती है, पर विशेष अवस्थाओं में जल ऊपर की ओर भी चढ़ सकता है, जैसे नली में वायु के संयोग से (वायु के दाब से), नोदन (प्रेरणा) और आपीडन (pressure) से तथा संयुक्त-संयोग से पानी ऊपर की ओर चढ़ाया (आरोहण)

१. यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्। तृणे कर्म वायुसंयोगात्। (वैशेषिक ५।१।१३–१४)
२. मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम्। (वैशेषिक ५।१।१५)
३. इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः। नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्करादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च। संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम्। (वैशेषिक ५।१।१६–१८)
४. नोदनाभिघातात्संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म। तद्विशेषेणादृष्टकारितम्। (वैशेषिक ५।२।१–२)

जा सकता है।[1] वृक्ष की जड़ में दिया गया पानी "अदृष्ट" कारण से ऊपर पत्रों और शाखाओं में पहुँचता है[2] (ये अदृष्ट कारण अभिसरण-दाब—osmotic pressure, केश-प्रक्रिया—capillary action आदि हैं)।

पानी का जमना (संघात—Congealing) और इसका पतला होना (विलयन), यह सब तेज के संयोग (ऊष्मा के कम-अधिक होने) से होता है (पानी ठंडा होकर बर्फ बनता और बर्फ गरम होकर पानी बनती है)।[3] पानी में अग्नि या तेज का संयोग है, इसका प्रमाण मेघों के भीतर से बिजली की चमक और कड़क का होना (विस्फूर्जथु) है। वैदिक ऋचाओं में उल्लेख है कि जलों के गर्भ में अग्नि छिपी हुई है। इस छिपी हुई अग्नि के संयोग और विभाग से ही बिजली की कड़क-दमक उत्पन्न होती है।[4]

अग्नि की ज्वाला ऊपर क्यों उठती है, वायु में तिर्यक् (दायें-बायें-तिरछे) चलने की गति क्यों है, अणु या परमाणुओं को और मन को आद्य-कर्म (प्रारम्भिक मूल गति) कहाँ से मिला इन सबका एक ही उत्तर है—"अदृष्ट"-कारण।[5]

अन्धकार क्या है ? वैशेषिक का कहना है कि अन्धकार न द्रव्य है, न गुण और न कर्म। इसमें तीनों में से किसी के भी होने का प्रमाण नहीं है, अतः प्रकाश के अभाव का नाम ही अन्धकार है, कभी कभी तेज अन्य द्रव्यों से ढक जाता है, तब भी अन्धकार की अनुभूति होती है।[6]

प्रशस्तपादभाष्य में क्रिया के हेतु—प्रशस्तपादभाष्य में क्रिया के हेतु गुरुत्व, द्रवत्व,

१. अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्। द्रवत्वात् स्यन्दनम्। नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्। नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च। (वैशेषिक ५।२।३–६)

२. वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्। (वैशेषिक ५।२।७)

३. अपां संघातो विलयनं च तेजःसंयोगात्। (वैशेषिक ५।२।८)

४. तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम्। वैदिकञ्च। अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः। (वैशेषिक ५।२।९–११)

५. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। (वैशेषिक ५।२।१३)

६. द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः। तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च। (वैशेषिक ५।२।१९–२०)

वेग, प्रयत्न, धर्माधर्म और संयोग-विशेष बताये गये हैं।[१] उदयनाचार्य की **किरणावली** में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—गुरुत्व से पतन (गिरना) कर्म सम्पादित होता है। द्रवत्व से स्यन्दन क्रिया (द्रव का बहना) सम्भव होती है। वेग से भ्रमण क्रिया उत्पन्न होती है (वेग का अर्थ स्थितिस्थापक भी है, अर्थात् अपनी पूर्व स्थिति में लौटना)। प्रयत्न से चेष्टा क्रिया और धर्माधर्म से भूकम्प आदि का होना संभव होता है। संयोग-विशेष से, नोदनाभिघात आदि से मिलते-जुलते कर्म (चोट लगाकर तोड़ना, फोड़ना आदि) संभव होते हैं।[२]

परमाणुओं में क्रिया—इस परिवर्तनशील संसार में जितने भी परिवर्तन होते हैं वे कर्म या क्रिया (motion) के कारण होते हैं। न्याय और वैशेषिक सम्प्रदाय क्रिया या कर्म को द्रव्य का अन्तः-स्वभाव नहीं मानते। कर्म या क्रिया के प्रति प्रेरणा बाहर से मिलनी आवश्यक है। विस्तृत ब्रह्मांड में यह प्रेरणा दैवी है अर्थात् ब्रह्म के ईक्षण से मिलती है, और साधारण परिवर्तन मनुष्य या इतर प्राणियों से प्रेरणा पाकर सम्पन्न होते हैं। महाप्रलय अथवा क्षुद्र प्रलयों में बड़े-बड़े पिंड कर्म या क्रिया द्वारा विभक्त होकर परमाणु में परिवर्तित हो जाते हैं। प्रलय में समस्त सृष्टि परमाणुओं के रूप में कारणावस्था में रहती है। इस समय परमाणु परस्पर इतने दूर-दूर रहते हैं कि उनमें संयोग संभव नहीं हो पाता।[३] कुछ विचारकों की धारणा है कि प्रलयावस्था में भी परमाणुओं में किञ्चिन्मात्र क्रिया अवश्य रहती है, पर वह इतनी कम होती है कि उससे संयोग संभव नहीं।[४] **संक्षोभ** से परमाणुओं

१. गुरुत्वद्रवत्ववेगप्रयत्नधर्माधर्मसंयोगविशेषाः क्रियाहेतवः। (प्रशस्तपाद, गुणपदार्थ०)

२. गुरुत्वात् पतनम्। द्रवत्वात् स्यन्दनम्। वेगाद् भ्रमणम्। प्रयत्नाच्चेष्टा। धर्माधर्माभ्यां भूकम्पादि। संयोगविशेषान्नोदनाभिघातलक्षणादिष्वादिकर्म। अत्रापि वेगेत्युपलक्षणम्। स्थितिस्थापकोपि ग्राह्यः। (उदयन, किरणावली, गुणपदार्थ० पृ० १०७)

३. किरणावली, पृ० ९२

४. प्रागभावश्च तिष्ठति परमाणुषु वेगकर्मणी च तिष्ठतः। कर्म विना कालावच्छेदानुपपत्तौ तावन्तमेव कालमिति प्रलयपरिमाणासिद्धेः, वेगं विना कर्मानुपपत्तेः।... एवं च परमाणुक्रियासत्त्वेऽपि संयोगविभागावपि नोत्पद्येते, तथा च प्रविभक्ताः संयोगरहिता इत्येवार्थ इति तत्त्वम्। (प्रशस्तपाद भाष्य की सेतु टीका, द्रव्यग्रन्थे सृष्टि संहार निरूपणम्, पृ० २८६)

में गति होती है, इससे **संस्कार** (impression) उत्पन्न होता है, यह संस्कार **वेग** भी कहलाता है। प्रलयावस्था में भी यह गति परमाणुओं के स्पन्दनों के रूप में थोड़ी बहुत विद्यमान रहती है।[1] इस प्रकार की गति या क्रिया का उद्देश्य या प्रयोजन "कालावच्छेद" मात्र (to mark the time limit) है।[2] इस कालावधि के पूर्ण होने पर फिर सृष्टि आरंभ होती है।

प्रलय के समय परमाणुओं में जितनी क्रिया या गति रहती है, केवल उससे सृष्टि नहीं हो सकती। यह शक्ति जीवात्माओं से भी नहीं प्राप्त हो सकती। महान् चेतन परमेष्ठी सत्ता से ही इसकी उपलब्धि संभव है। जीवों के जो "अदृष्ट" प्रलय-समय में विद्यमान रहते हैं, उनसे उनका शरीर बनना आवश्यक हो जाता है (कर्म और भोग दोनों के लिए)। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए परम चेतन सत्ता से प्रेरणा पाकर परमाणु फिर गतिशील या क्रियाशील हो जाते हैं।[3] साथ ही साथ मनस् भी सचेष्ट हो जाता है। परमात्मा का ईक्षण और जीवात्माओं के अदृष्ट परमाणुओं और मनस् को इस प्रकार की प्रबल प्रेरणा देते हैं, जो सृष्टि आरम्भ करने के लिए परमावश्यक है।[4] परमाणुओं में जो कुछ भी कर्म या गति है वह चेतन सत्ता की दी हुई है। इस गति या कर्म को प्राप्त करके परमाणु परस्पर संयुक्त होने लगते हैं, और सृष्टि-रचना का कार्य आरम्भ हो जाता है—परमाणुओं से द्वचणुक और त्रसरेणु और फिर बड़े-बड़े पिण्ड बनने लगते हैं।

रासायनिक परिवर्तन केवल पृथिवी के परमाणुओं में होते हैं

वैशेषिक दर्शन के सातवें अध्याय, प्रथम आह्निक में एक विशेष बात कही गयी है। परमाणु नित्य हैं अतः उनमें रहनेवाले गुण भी नित्य हैं। यह बात अप्, वायु,

१. "महाभूतानां पृथिव्यप्तेजोवाय्ववयविनां संप्लवो विनाशः। तदर्थं यः संक्षोभोऽभिघातस्तेन तदारम्भकेषु परमाणुषु कर्मोत्पत्तिद्वारेण वेगाख्यः संस्कार उत्पद्यते, तेन चावयविनाशोत्तरकालमपि मन्दतरतमादिभावेन कर्मसंतानोऽनुवर्त्तते।" (कुसुमाञ्जलिबोधनी टीका, पृ० ९१)

२. "कालावच्छेदैकप्रयोजनस्य"—कुसुमाञ्जलि पृ० ३३३

"अन्यथा कालावच्छेदानुपपत्तौ पुनः सर्गानुपपत्तेः"—किरणावली, पृ० ९३

३. न्यायमञ्जरी, पृ० १९२–१९३

४. अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्। (वैशेषिक ५।२।१३)

और तेज इन तीन तत्त्वों के परमाणुओं के लिए हैं। रस, स्पर्श और रूप क्रमशः इन तीनों के गुण हैं। अप् का रस, वायु का स्पर्श और तेज का रूप नित्य (eternal) है, अतः अविनाशी है। पृथिवी के ही परमाणु ऐसे हैं जो वायु, अग्नि और जल के परमाणुओं से प्रभावित होकर विभिन्न गुण प्राप्त कर सकते हैं। पृथिवी के परमाणुओं में ही रासायनिक परिवर्तन हो सकते हैं, अन्य तत्त्वों के परमाणुओं के गुण नित्य, अतः अपरिवर्तनशील हैं।

गुण द्रव्यों के आश्रय पर रहते हैं। पूर्वपक्ष है कि द्रव्य अनित्य है, अतः पृथिवी आदि चारों द्रव्यों के आश्रित रहनेवाले रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण भी अनित्य होने चाहिए।[1] उत्तरपक्ष में इसी हेतु को मानते हुए यह कहा गया है कि यदि यह माना जाय कि अनित्य द्रव्य के आश्रय में रहनेवाले गुण अनित्य हैं, तो इसी युक्ति से नित्य द्रव्य के आश्रय में रहनेवाले गुण भी नित्य होंगे।[2] द्रव्य के नित्य होने से जल, तेज और वायु में रहनेवाले गुण भी नित्य हैं[3] (इस सूत्र में पृथिवी को नहीं गिनाया, क्योंकि पृथिवी में ही पाकज गुणों की संभावना अर्थात् रासायनिक परिवर्तन संभव है)। जल के परमाणुओं में रूप-रस-स्पर्श नित्य हैं, तैजस परमाणुओं में रूप और स्पर्श नित्य हैं, एवं वायु-परमाणुओं में स्पर्श गुण नित्य है।[4] पृथिवी में ही अन्य तत्त्वों के परमाणुओं के साथ पाक होने से विभिन्न पाकज गुण उत्पन्न होते हैं। जिस-जिस गुण के परमाणुओं के साथ पृथिवी का पाक होता है, उसमें उसी प्रकार के गुण आ जाते हैं।[5]

विजातीय परमाणुओं से द्व्यणुक नहीं बनते

किरणावली में यह बात स्पष्ट की गयी है कि पृथिवी का एक परमाणु पृथिवी के ही दूसरे परमाणु से संयुक्त होकर पृथिवी का द्व्यणुक बनायेगा। इसी प्रकार जल के दो परमाणु मिलकर जल का द्व्यणुक बनायेंगे। यही बात अग्नि और वायु के

१. पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च। (वैशेषिक ७।१।२)
२. एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम्। (वैशेषिक ७।१।३)—रूपादीनामेव चतुर्णां नित्येष्वाश्रयेषु वर्तमानानां नित्यत्वमुक्तम्। (उपस्कार०)
३. अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात्। (वैशेषिक ७।१।४)
४. आप्यपरमाणौ रूपरसस्पर्शा नित्याः, तैजसपरमाणौ रूपस्पर्शौ, वायुपरमाणौ स्पर्शो नित्यः। (उपस्कार भाष्य ७।१।४)
५. कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः। (वैशेषिक ७।१।६)

द्व्यणुकों के लिए भी है। पर ऐसा कभी नहीं हो सकता कि ऐसा कोई द्व्यणुक बने जिसमें एक परमाणु पृथिवी का हो और दूसरा जल या अग्नि आदि का। दो सजातीय परमाणु ही मिलकर द्व्यणुक बनायेंगे, विजातीय परमाणुओं से द्व्यणुक नहीं बनेगा। जिस भूत या तत्त्व से द्व्यणुक बना है, उसका ही गुण उसमें रह सकता है। एक द्व्यणुक में पृथिवी का गुण गन्ध भी हो और जल का गुण रस भी, यह दोनों संभव नहीं।[1]

रासायनिक प्रक्रिया या पाक

आजकल की भाषा में जिसे हम रासायनिक प्रक्रिया (chemical action) कहते हैं, उसे वैशेषिक की शब्दावली में पाक कहा जाता है। पाक केवल पृथिवी के परमाणुओं में होता है। यह पाक क्या है? एक मोटा उदाहरण लिया जा सकता है। कुम्हार मिट्टी का घड़ा बनाता है और फिर उसे आग पर पकाता है। मटियारे रंग का कच्ची मिट्टी वाला घड़ा पककर दृढ़ और लाल रंग का हो जाता है। घड़े की मिट्टी में इस प्रकार के पाक से रासायनिक परिवर्तन हुआ, यह स्पष्ट है। इस परिवर्तन की व्याख्या **वैशेषिक** के अनुयायी इस प्रकार करेंगे—इस प्रक्रम में पार्थिव परमाणुओं का तैजस (अग्नि) परमाणुओं के साथ संयोग हुआ, इस संयोग के कारण पृथिवी के परमाणुओं का पहले वाला रंग नष्ट हो गया और उसके स्थान में दूसरा रंग उत्पन्न हो गया। तेजस् के साथ संयोग भी कई प्रकार के होते हैं। जिस संयोग से रंग में परिवर्तन होता है, वह उस संयोग से भिन्न है जो गन्ध उत्पन्न करता है, और गन्ध उत्पन्न करनेवाला संयोग भी रंग और रस उत्पन्न करनेवाले संयोग से भिन्न है। इसी प्रकार स्पर्श उत्पन्न करनेवाला संयोग इन सबसे भिन्न है।

पार्थिव पदार्थों में जो विभिन्नताएँ पायी जाती हैं, उनके कारण ही उनसे तेजस् के संयोग विभिन्न प्रकार के हो जाते हैं। आम को जब पाल में रखकर पकाते हैं, तो इसी तेजस् के एक प्रकार के संयोग के कारण आम का हरा रंग नष्ट हो जाता है और उसके स्थान में पीला रंग आ जाता है। हो सकता है कि रंग तो हरे से पीला पड़ गया, पर स्वाद अब भी खट्टा हो। इसके विपरीत इसी पाककर्म में कभी-कभी आम का रंग तो

१. द्व्यणुकादिप्रक्रमेण तावदयमारम्भ इति वक्ष्यते। तत्र यदि विजातीयपरमाणुभ्यामेकमारभ्येत, अगन्धरसमित्याद्यापद्येत। (किरणावली, पृ० ५९), तस्मात् सजातीयानामेवारम्भकत्वं न विजातीयानामिति स्थितम्। (किरणावली पृ०६०)

हरा बना रहता है, पर स्वाद खट्टे से बदलकर मीठा हो जाता है। अतः तेजस् के संयोग विभिन्न प्रकार के माने गये हैं, कुछ केवल रंग बदलते हैं, कुछ रस बदलते हैं, कुछ से गन्ध में परिवर्तन होता है। पके आम में गन्ध भी परिवर्तित मिलती है। कच्चा आम कड़ा होता है और पकने पर नरम पड़ जाता है। इस प्रकार पाक से स्पर्श गुण में भी अन्तर आ जाता है। यद्यपि पृथिवी के सब परमाणु एक से हैं, पर तेजस् के साथ विभिन्न प्रकार के संयोग होने के कारण विभिन्न गुणों के पदार्थ बन जाते हैं। गाय घास खाती है। यह हरी घास परिवर्त्तित होकर सफेद स्वादिष्ठ दूध बन जाती है। यह परिवर्तन विभिन्न प्रकार के तैजस (अग्नि) संयोगों के कारण होता है। गाय घास खा लेती है, तो पहले यह घास अपने परमाणुओं में छिन्न-भिन्न हो जाती है। फिर ये परमाणु एक दूसरे प्रकार के तैजस-संयोग से प्रभावित होते हैं, इस प्रभाव में पार्थिव परमाणुओं के पहलेवाले रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुणों का नाश हो जाता है, और नये प्रकार के रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इन परमाणुओं से जब द्वचणुक बनते हैं, तो वे दूसरे गुणोंवाले होते हैं और उनसे ही कालान्तर में दूध बन जाता है, जिसके गुण घास से सर्वथा भिन्न हैं। इसी दूध से जब दही बनता है, तो यह दूसरे ही प्रकार के तैजस-संयोग का परिणाम है। घी या मक्खन भी उसी से बनेगा, पर इस प्रक्रिया में तैजस-संयोग पहले के संयोगों से भिन्न प्रकार का होगा।[1]

वल्लभाचार्य की **न्यायलीलावती** पर भगीरथ ठक्कुर ने जो विवृति लिखी है, अथवा शंकर मिश्र ने जो **न्यायलीलावती-कण्ठाभरण** लिखा है, उसमें रासायनिक परिवर्तनों के रूप में गुणों में जो परिवर्तन होते हैं, उनका कारण "प्रागभाव-भेद" (pre-nonexistence differences) बतलाया है।[2]

रासायनिक प्रक्रियाओं की शृंखलाएँ—जब कच्ची मिट्टी से बना घड़ा, सकोरा आदि कोई पार्थिव पदार्थ तेजस् के सम्पर्क में आता है तो घड़े के पाक में नोदन और अभिघात के द्वारा कर्म (motion) उत्पन्न होता है। उपस्कारभाष्य में नोदन की परिभाषा यह है कि यह वह संयोग-विशेष है जो संयुक्त पदार्थों के

१. पाकजानां निमित्तकारणानि भिन्नानि दृश्यन्ते, तेन निमित्तभेदहेतुकः पाकजेष्वपि विशेषोऽस्ति यतः कार्यविशेष इति भावः। निमित्तभेदकार्यविशेषं च निदर्शयति। (कुसुमाञ्जलिबोधिनी, पृ० ३२)

२. प्रागभावभेदाद्वा पाकजरूपरसगन्धस्पर्शानामिवेति भावः। (न्यायलीलावती-कण्ठाभरण, पृ० ३५६)

विभागों को अलग-अलग भी नहीं करता और न किसी प्रकार की ध्वनि (शब्द) ही उत्पन्न करता है, किंतु फिर भी कर्म उत्पन्न कर देता है।[1] इसके विपरीत अभिघात उस संयोग-विशेष का नाम है जिसमें ध्वनि या शब्द की उत्पत्ति होती है और जिससे उत्पन्न कर्म संयोगी के परस्पर जुड़े हुए खंडों को अलग-अलग कर देता है। अर्थात् अभिघात से ध्वनि उत्पन्न होती है और पदार्थ के टुकड़े भी हो जाते हैं।[2]

इस प्रकार कच्ची मिट्टी के बने घट आदि में जब कर्म उत्पन्न हो गया तो इसमें विभाग (disjunction) उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण उन संयोगों (conjunction) का विनाश हो जाता है, जिनके कारण पिण्ड के विभिन्न खंड परस्पर सम्बद्ध थे। संयोगों का विनाश होने पर कार्य-द्रव्य का भी विनाश हो जाता है (कार्य-द्रव्य से यहाँ अभिप्राय द्व्यणुकों से है)। इस विनाश से उत्पन्न स्वतंत्र परमाणु अब दूसरे प्रकार के तेजस् या अग्नि-कणों के सम्पर्क में आते हैं और श्यामता आदि जो गुण इनमें पहले थे, वे अब नष्ट हो जाते हैं। अब इनका सम्पर्क अन्य प्रकार के तेजस् (औष्ण्यापेक्ष) से होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप अब नये गुण उस पार्थिव पदार्थ में उत्पन्न हो जाते हैं।[3]

इस विवरण से स्पष्ट है कि पूर्व के गुणों को नष्ट करनेवाला तेजःसंपर्क एक प्रकार का होता है और नये गुणों को उत्पन्न करनेवाला तेजःसंपर्क इससे भिन्न दूसरे प्रकार का होता है। तर्क यह है कि एक प्रकार के गुणों का विनाश करनेवाले संपर्क से ही उसी क्षण में विभिन्न प्रकार के गुणों की उत्पत्ति कैसे संभव मानी जा सकती है!

प्रशस्तपाद के इन विचारों की विस्तृत मीमांसा **किरणावली** और **कन्दली**

१. नोदनं संयोगविशेषः येन संयोगेन जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परं विभागहेतुर्न भवति यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं न भवति वा। (उपस्कार, वैशेषिक ५।२।१)

२. यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं भवति यज्जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परविभागहेतुश्च भवति स संयोगविशेषोऽभिघातः। (उपस्कार, वैशेषिक ५।२।१)

३. पार्थिवपरमाणुरूपादीनां पाकजोत्पत्तिविधानम्। घटादेरामद्रव्यस्याग्निना सम्बद्धस्याग्न्यभिघातान्नोदनाद्वा तदारम्भकेष्वणुषु कर्माण्युत्पद्यन्ते। तेभ्यो विभागा विभागेभ्यः संयोगविनाशाः, संयोगविनाशेभ्यश्च कार्यद्रव्यं विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे स्वतन्त्रेषु परमाणुष्वग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षाच्छ्यामादीनां विनाशः पुनरन्यस्मादग्निसंयोगादौष्ण्यापेक्षात् पाकजा जायन्ते। (प्रशस्तपाद भाष्य, गुणप्रकरण)

टीकाकारों ने की है। इन लोगों का विचार है कि जिस समय पृथिवी के द्वयणुक तेजःसम्पर्क से टूटकर परमाणु बन जाते हैं, उसी समय में तेजस् के भी दो भाग अलग-अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार पृथिवी के परमाणुओं के बीच में रहनेवाले संयोग का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार तेजस् के संयोग का भी विनाश हो जाता है। फिर नये तेजःसम्पर्क का आरंभ होता है, उससे नया संयोग बनता है और फिर पृथिवी के नये द्वयणुक बनते हैं, जिनमें पहले के द्वयणुकों से भिन्न गुण होते हैं। इन द्वयणुकों से त्रसरेणु आदि बनकर अब जो नया घड़ा तैयार होता है, उसमें कच्चे घड़े से भिन्न गुण होते हैं। नया रंग भी इसमें आ जाता है और कठोरता या दृढ़ता भी आ जाती है।

वैशेषिक के अनुयायियों का मत यह है कि रासायनिक परिवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि परिवर्तित होनेवाला पदार्थ परमाणु-अवस्था में पहुँच जाय और तब फिर नये तेजःसम्पर्कों से इसमें नये गुण आयें, तब ये परमाणु नये द्वयणुक और फिर नये त्रसरेणु बनायें। **वैशेषिक** के इस मत का नाम **पीलुपाकवाद** (पीलु=परमाणु) है।

इस विचार के विरुद्ध अनेक आक्षेप किये गये हैं। जब घड़ा अग्नि में पकाया जाता है तो इसका मूर्त्तिमान् आकार पकने पर भी पहले-जैसा ही रहता है। अगर घड़ा खण्डित होकर परमाणुरूप बनता, तो घड़े के सब अवयव बिखर जाने चाहिए थे। पर ऐसा तो होता नहीं है। हम प्रत्येक क्षण यह देख सकते हैं कि यह वही घड़ा है, जिसे पाक के लिए हमने अभी आग पर रखा था। इस आक्षेप का निराकरण इस मान्यता पर किया गया है कि "सम्पूर्ण" घड़ा कभी अग्नि के सम्पर्क में नहीं आ पाता, इसलिए घड़े की मूर्त्तिमान् रचना वैसे की वैसी ही बनी रहती है।[1] अगर यह

१. **न च कार्यद्रव्य एव रूपाद्युत्पत्तिर्विनाशो वा सम्भवति, सर्वावयवेष्वन्तर्बहिश्च वर्तमानस्याग्निना व्याप्त्यभावाद् अणुप्रवेशादपि च व्याप्तिर्न सम्भवति कार्यद्रव्यविनाशादिति (प्रशस्तपाद, गुणप्रकरण। इस पर कन्दली व्याख्या पृ० १०९ देखिए) —**

"अथ कथं कार्यद्रव्ये एव रूपादीनामग्निसंयोगादुत्पादविनाशौ न कल्प्येते। प्रतीयन्ते हि पाकार्थमुपक्षिप्ता घटादयः सर्वावस्थासु प्रत्यक्षाः, छिद्रविनिवेशितदृशा प्रत्यभिज्ञायन्ते च पाकजोत्तरकालमपि त एवामी घटादय इति तत्राह। न चेति। उपपत्तिमाह। सर्वावयवेष्विति। अन्तर्बहिश्च सर्वेष्ववयवेषु वर्तमानस्य समवेतस्यावयविनो बाह्ये वर्तमानेन वह्निना व्याप्तेर्व्यापकस्य

कहा जाय कि घड़ा तो छिद्रमय होता है, अतः तेजस् के अवयव इसमें सर्वत्र घुस सकते हैं और सर्वत्र अपना प्रभाव दिखा सकते हैं। इसके उत्तर में **वैशेषिक** का मत यह है कि तेजस् या अग्नि के अवयव घड़े में घुस ही नहीं सकते और न अन्दर जाकर प्रभाव डाल ही सकते। अगर वे भीतर घुस जायँगे, तो घड़ा फूट जायगा। द्वयणुक के भीतर कोई स्थान तो होता नहीं, जिसमें तेजस् घुस जाय। द्वयणुक के भीतर स्थान होता, तो संयोग इसमें रह ही कैसे सकता था, और बिना संयोग के द्वयणुक का अस्तित्व असम्भव हो जाता। संयोगजन्य पदार्थों में छेद तो हो ही नहीं सकते, इसलिए तेजस् का प्रवेश पूर्ण घट में नहीं हो सकता, अर्थात् एक साथ सम्पूर्ण घट में रासायनिक प्रक्रिया नहीं चल सकती।

न्यायदर्शन का मत **वैशेषिक** के पीलुपाकवाद से भिन्न है। नैयायिक यह मानते हैं कि घटादि पदार्थ छिद्रमय होते हैं और तेजस् के कण उनमें प्रविष्ट हो जाते हैं, तथा पदार्थों के बाहर और भीतर एक साथ पाक-प्रक्रिया आरंभ करते हैं, जिससे घट मूर्त्तिमान् बना रहता है और पक जाता है। इस मत को "पिठरपाकवाद" कहते हैं। इसमें पदार्थों के द्रव्य का परमाणु की स्थिति तक पाककर्म के लिए खण्डित होना आवश्यक नहीं है।

पाक के सम्बन्ध में उदयन का मत—उदयन ने **प्रशस्तपाद भाष्य** की टीका **किरणावली** में यह विचार प्रस्तुत किया है कि तेजस् में इतना लाघव है (यह इतना हलका है) और इसका वेग इतना तीव्र है कि घट आदि के साथ इसका अतिशय स्पर्श होता है। इससे जो कर्म उत्पन्न होता है, वह कार्यद्रव्य के पूर्व-व्यूह

संयोगस्याभावात् कार्यरूपादीनामुत्पत्तिविनाशयोरक्लृप्तेरन्तर्वर्त्तिनामपाकप्रसङ्गादिति भावः। सच्छिद्राण्येवावयविद्रव्याणि तत्र यदि नाम महतस्तेजोवयविनो नान्तः प्रवेशोस्ति तत्परमाणूनां ततो व्याप्तिर्भविष्यति तत्राह। अणुप्रवेशादपीति। न तावत् परमाणवः सान्तराः निर्भागत्वात्, द्वयणुकस्य सान्तरत्वे चानुत्पत्तिरेव तस्य परमाण्वोरसंयोगात्, संयुक्तौ चेदिमौ निरन्तरावेव सभागयोर्हि वस्तुनोः केनचिदंशेन संयोगात् केनचिदसंयोगात् सान्तरः संयोगः, निर्भागयोस्तु नायं विधिरवकल्पते। स्थूलद्रव्येषु प्रतीयमानेष्वन्तरं न प्रतिभात्येव त्र्यणुकेष्वेवान्तरं तच्चानुपलब्धियोग्यत्वान्न प्रतीयते इति गुर्वीयं कल्पना। तस्मान्निरन्तरा एव घटादयः तेषामन्तस्तावदग्निपरमाणूनां प्रवेशो नास्ति यावत् पार्थिवावयवानां व्यतिभेदो न स्यात्।"

(previous structure) को छिन्न-भिन्न कर देता है और अवयवों को नया व्यूह प्राप्त कराता है। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि यह व्यह को पूर्णतः नष्ट नहीं करता। ऐसी अवस्था में यह अन्तराल में प्रविष्ट नहीं हो पाता और तब यह दूध या पानी में उफान लाता है। विरोधी का इस तर्क पर यह आक्षेप है कि दूध और पानी में व्यूह का संयोग तो मृदु (soft) है, अतः उसका भंग होना संभव है, पर घड़े में संयोग अति दृढ़ है। इसके उत्तर में कहते हैं कि पत्थरों, मणियों और वज्रों में तो संयोग और भी दृढ़ हैं, तो भी अग्नि के संयोग से इनका विस्फोट (फूटना) देखा जाता है।[१]

रासायनिक परिवर्तन में कितने क्षण लगते हैं ?

यह प्रश्न स्वभावतः उठ सकता है कि एक द्व्यणुक के नाश-आरंभ से लेकर दूसरे द्व्यणुक के बनने तक (अर्थात् पूरी रासायनिक प्रक्रिया में) कितने क्षण लगते हैं ? विभिन्न विचारकों ने इसके उत्तर में ९, १० या ११ क्षण बताये हैं।

नवक्षणाप्रक्रिया—किरणावली और **कणादरहस्य** दोनों ने नव क्षणों में पूर्ण होनेवाली प्रक्रिया इस प्रकार बतायी है—(१) तेजस् के प्रवेश होने पर नोदनादि द्वारा द्व्यणुक का नाश, (२) अग्निसंयोग से नष्ट द्व्यणुक में से श्याम रंग आदि गुणों की निवृत्ति, (३) श्याम आदि की निवृत्ति के बाद अन्य अग्निसंयोग से लाल रंग आदि की उत्पत्ति, (४) लाल आदि गुणों की उत्पत्ति के बाद अन्य प्रकार के संयोग से पूर्व-क्रिया (initial motion) की निवृत्ति, (५) अदृष्ट के साथ आत्मा और अणु के संयोग से परमाणु में द्व्यणुक बनानेवाली क्रिया की उत्पत्ति, (६) इस क्रिया द्वारा पहलेवाले देश (आकाश) और परमाणु में विभाग, (७) विभाग के बाद पूर्व देश के संयोग का नाश, (८) उस संयोग के नाश होने पर द्व्यणुक की उत्पत्ति और (९) इस द्व्यणुक में रूप आदि नये गुणों की अभिव्यक्ति।[२]

१. **ईदृशो हि तेजसो लाघवातिशयेन वेगातिशयः स्पर्शातिशयश्च यत् तज्जन्यं कर्म कार्यद्रव्यं पूर्वव्यूहात् प्रच्यावयति, तदवयवांश्च व्यूहान्तरं प्रापयति। अन्यथा सान्तरत्वेऽन्तराले न प्रविशति पावके क्वथ्यमानाः क्षीरनीरादयो नोर्ध्वं ध्मापयेरन्। मृदुसंयोगात् तथेति चेत्, न तन्दुलादीनामपि तथा दर्शनात्। अतिदृढानामप्युपलमणिवज्रादीनामग्निदग्धानां स्फुटनात्। (किरणावली, पृ० १८७)**

२. **अथ द्व्यणुकनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरन्यद्द्व्यणुकमुत्पद्य रूपादिमद्भवतीति शिष्यजिज्ञासायां शिष्यबुद्धिवैशद्याय प्रक्रिया। तद्यथा—नोदनादि-**

पंचक्षणा प्रक्रिया—(१) पहले तो एक परमाणु में कर्म (गति) उत्पन्न होता है, इसके अनन्तर उससे विभाग (disjunction) उत्पन्न होता है, इसके बाद दूसरे परमाणु में कर्म उत्पन्न होता है और उससे आरम्भक संयोग (productive conjunction) के नाश होने के कारण द्व्यणुक का नाश हो जाता है, फिर दूसरे परमाणु के कर्म का विभाग हो जाता है। इतनी देर में एक क्षण लगता है। (२) इसके बाद केवल परमाणु में (वह परमाणु जो अकेला रह गया है) श्याम रंग आदि गुणों का विध्वंस हो जाता है और विभाग के कारण पूर्व-संयोग का नाश हो जाता है। इतनी प्रक्रिया में दूसरा क्षण व्यतीत होता है। (३) इसके बाद लाल रंग आदि गुणों की उत्पत्ति होती है और द्रव्य के बनानेवाले संयोग (द्रव्यारम्भक संयोग) की उत्पत्ति होती है। इतनी प्रक्रिया में तीसरा क्षण लगता है। (४) इसके बाद चौथे क्षण में द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। (५) अन्त में पाँचवें क्षण में द्व्यणुक में रंग (रूप) आदि की उत्पत्ति हो जाती है।[1]

कणादरहस्य में इसी प्रकार षट्क्षणा, सप्तक्षणा, अष्टक्षणा, नवक्षणा, द्विक्षणा, त्रिक्षणा, चतुःक्षणा आदि प्रक्रियाएँ पीलुपाकवाद की मीमांसा के प्रसंग में मिलती हैं।[2]

क्रमेण द्व्यणुकनाशः, नष्टे द्व्यणुके परमाणावग्निसंयोगात् श्यामादीनां निवृत्तिः, निवृत्तेषु श्यामादिषु पुनरन्यस्मादग्निसंयोगाद् रक्तादीनामुत्पत्तिः, उत्पन्नेषु रक्तादिषु उत्तरसंयोगात् पूर्वक्रियानिवृत्तिः, ततोऽदृष्टवदात्माणुसंयोगात् परमाणौ द्व्यणुकारम्भणाय क्रिया, क्रियया पूर्वदेशाद् विभागः, विभागेन च पूर्वदेशसंयोगनाशः, तन्नाशे परमाण्वन्तरेण संयोगोत्पत्तिः, संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भः, आरब्धे द्व्यणुके कारणरूपादिभ्यः कार्यगुणानां रूपादीनामुत्पत्तिरिति यथाक्रमं नव क्षणाः ॥

(किरणावली, पृ० १८९, प्रशस्तपाद, गुणप्रकरण)

१. एकत्र परमाणौ कर्म, ततो विभागः, ततश्चारम्भकसंयोगनाशक्षण एवापरत्र परमाणौ कर्म, ततश्चारम्भकसंयोगनाशाद् द्व्यणुकनाशः परमाण्वन्तरकर्मणा च विभाग इत्येकः क्षणः। ततः केवले परमाणौ श्यामादिध्वंसः, विभागाच्च पूर्वसंयोगनाश इत्येकः क्षणः। ततो रक्ताद्युत्पत्तिः द्रव्यारम्भकः संयोग इत्येकः क्षणः। अथ द्व्यणुकोत्पत्तिरथ तत्र रूपाद्युत्पत्तिरिति पञ्चक्षणाः।
(कणादरहस्य, पृ० ६५)

२. कणादरहस्य, पृ० ६५-६६

न्याय-वैशेषिक साहित्य का रचनाकाल

वैशेषिक दर्शन की रचना ईसा से ६ शती पूर्व की और गौतम के **न्यायदर्शन** की ईसा से ५ शती पूर्व की मानी जा सकती है। प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य ६०० ई० के पूर्व ही लिखा होगा, ऐसा अनुमान है। वैशेषिक की **उपस्कार वृत्ति** १५वीं ई० शती के मध्य की प्रतीत होती है। उदयन ने अपनी **किरणावली** ९८४ ई० के निकट रची। **कणादरहस्य** की रचना १५वीं शती के मध्य की होगी, ऐसा अनुमान है। **कन्दली** की रचना ९७७ ई० की मानी जाती है। **सेतु** की रचना १६वीं शती के अन्त की मान सकते हैं। **न्यायमंजरी** पुराना ग्रन्थ है, ९वीं शती के अन्त का। **न्यायवार्त्तिक** ६०० ई० की, **व्योमवती** ८–१० शती ईसवी की, **बोधनी** ११वीं या १२वीं शती की और **न्यायलीलावती** १२वीं शती के अन्त की रचना है। **वात्स्यायन** का **न्यायभाष्य** ईसा से २ शती पूर्व की रचना है।

निर्देश

१. कणाद—**वैशेषिक दर्शन**—१. प्रशस्तपाद भाष्य, किरणावली टीका सहित।
२. प्रशस्तपाद भाष्य, श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली व्याख्या सहित, मेडिकल हॉल प्रेस, काशी (सं० १९५१ वि०)।
३. प्रशस्तपाद भाष्य, सूक्ति, सेतु और व्योमवती व्याख्याओं सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, बनारस (१९३०)।
४. प्रशस्तपाद भाष्य, जगदीश-सूक्ति सहित, कालीपद तर्काचार्य कृत बंगला व्याख्या सहित, संस्कृत साहित्य परिषद्, कलकत्ता (सं० १३३२ वंगाब्द)।

२. गोतम—**न्यायदर्शन**—वात्स्यायन भाष्य, गंगानाथ झा और कामाख्यानाथ द्वारा संपादित।

३. उदयनाचार्य—**न्याय कुसुमाञ्जलि प्रकरणम्**—रुचिदत्त तथा वर्धमान लिखित टीका सहित, चन्द्रकान्त तर्कालंकार द्वारा परिशोधित, कलकत्ता (१८९०)

४. वरदराज मिश्र—**कुसुमाञ्जलि बोधिनी**—गंगानाथ झा और गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित, गवर्नमेंट प्रेस, प्रयाग (१९२२)।

५. शंकर मिश्र—**कणादरहस्य**—(प्रशस्तपाद भाष्य पर व्याख्या)—चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी (१९१७)।

६. वल्लभाचार्य—**न्यायलीलावती**—मंगेश रामकृष्ण तैलंग द्वारा संपादित, निर्णयसागर प्रेस, बंबई (१९१५)।

७. भारद्वाज उद्योतकर—**न्यायवार्त्तिक**—विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी द्वारा संकलित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी (१९१६)।

८. वल्लभाचार्य—**न्यायलीलावती**—भगीरथ ठक्कुर कृत विवृति, वर्धमानोपाध्याय कृत न्यायलीलावतीप्रकाश और शंकर मिश्र विरचित कण्ठाभरण टीकाओं सहित, चौखम्भा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी (सं० १९९१ वि०)।

९. उमेश मिश्र—**कन्सेप्शन आव् मैटर**—प्रयाग (स्वयं प्रकाशित) (१९३६)।

तीसवाँ अध्याय (क)

जैन दर्शन में पुद्गल द्रव्य की विवेचना

पुद्गल, गुण और पर्याय—जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रिलक्षण है, अर्थात् भाषा के सामान्य शब्दों में प्रत्येक पदार्थ बनता, बिगड़ता और कुछ समय के लिए स्थिर रहता है। कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसमें परिवर्तन या परिणमन न होता हो। प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण और पर्यायों का आधार है।[1] गुण द्रव्य में रहते हैं, पर स्वयं निर्गुण होते हैं।[2] ये गुण द्रव्य के स्वभाव होते हैं। इन्हीं गुणों के परिणमन से द्रव्य का परिणमन लक्षित होता है।

पुद्गल द्रव्य की कल्पना जैन दर्शन की अपनी उद्भावना है। जिसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हो, वही पुद्गल है।[3] यह तो पुद्गल द्रव्य का सामान्य लक्षण हुआ। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्था में **पूरण** अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओं से मिलना और **गलन** अर्थात् कुछ परमाणुओं का बिछुड़ना, इस तरह उपचय और अपचय को प्राप्त होता है, वह पुद्गल कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस पुद्गल का ही विस्तार है। मूल दृष्टि से पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो स्कन्ध बनता है वह संयुक्त द्रव्य (अनेक-द्रव्य) है।

हम कह चुके हैं कि गुण और पर्याय इन दो का आधार द्रव्य है। पुद्गल का प्रत्येक परमाणु रूप, रस, गंध और स्पर्श इन विशेष गुणों का युगपत् अविरोधी आधार है। परिवर्तन-धर्मी पुद्गल-परमाणु अपने उत्पाद और व्यय को भी इन्हीं गुणों के द्वारा व्यक्त करता है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणों का परिवर्तन ही द्रव्य का परिवर्तन है। इन गुणों की वर्तमान-कालीन जो अवस्था होती है, वह **पर्याय** कहलाती है। गुण किसी न किसी पर्याय को प्रति क्षण धारण करता है। गुण और पर्याय का द्रव्य ही ठोस और मौलिक आधार है। प्रत्येक

१. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। (तत्त्वार्थसूत्र ५।३८)
२. द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः। (तत्त्वार्थसूत्र ५।४०)
३. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः। (तत्त्वार्थसूत्र ५।२३)

द्रव्य गुणों के किसी न किसी पर्याय को धारण करता है और किसी न किसी पूर्व पर्याय को छोड़ता है।

गुण और धर्म में भेद—केवल गुण और पर्यायों से ही काम नहीं चल सकता। वस्तु में गुण परिगणित हैं अर्थात् इनकी संख्या निश्चित है, किन्तु पर की अपेक्षा व्यवहार में आनेवाले धर्म अनन्त होते हैं। गुण स्वभावभूत हैं और इनकी प्रतीति निरपेक्ष होती है, किन्तु इसके विपरीत धर्मों की प्रतीति पर-सापेक्ष होती है और व्यवहार के लिए इसकी अभिव्यक्ति वस्तु की योग्यता के अनुसार होती रहती है।

पुद्गल के असाधारण गुण रूप, रस, गन्ध और स्पर्श हैं, यह हम अभी ऊपर कह चुके हैं। जैन मतानुसार हमें चार सत्ताओं की विवेचना करनी है (जीव आदि को छोड़कर)—धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, आकाश और काल। धर्मद्रव्य का असाधारण गुण गतिहेतुत्व है, अधर्मद्रव्य का असाधारण गुण स्थितिहेतुत्व है। आकाश का असाधारण गुण अवगाहन-निमित्तत्व है और काल का असाधारण गुण वर्तनाहेतुत्व है।

पुद्गल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक पर-निरपेक्ष गुण हैं, परन्तु छोटापन, बड़ापन, एक-दो-तीन आदि संख्याएँ ये ऐसे धर्म हैं जो पर-सापेक्ष हैं और जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहार के लिए होती है। एक ही पदार्थ दूसरे पदार्थों की अपेक्षा दूर, दूरतर और दूरतम, एवं इसी प्रकार से समीप, समीपतर और समीपतम कहा जा सकता है। वह दूसरे पदार्थों की अपेक्षा से ही छोटा और बड़ा है। जैन दर्शन में छोटा-बड़ा, निकट-दूर आदि अनुभव पर-सापेक्ष होने के कारण पदार्थ के गुण नहीं कहलाते, इन्हें अलग ही एक श्रेणी में रखा गया है, जिसे धर्म कहते हैं।

गुण का लक्षण आचार्य ने इस प्रकार किया है—गुण द्रव्य का विधान अर्थात् निज प्रकार है, और पर्याय द्रव्य का विकार या अवस्था-विशेष है।[1] इस प्रकार द्रव्य परिणमन की दृष्टि से गुण-पर्यायात्मक होकर भी व्यवहार में अनन्त पर-द्रव्यों की अपेक्षा अनन्तधर्म रूप से प्रतीति का विषय बनता है।

सामान्य और विशेष की कल्पना—**वैशेषिक** के समान जैन दर्शन भी सामान्य और विशेष में आस्था रखता है। जैन दर्शन बाह्य-अर्थ की पृथक् सत्ता मानता है। सामान्यतः प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशाली है। दूसरे शब्दों में पदार्थ में द्रव्य, पर्याय, सामान्य और विशेष ये चार पाये जाते हैं।[2]

१. गुण इति दव्वविहाणं दव्ववियारो य पज्जवो भणियो।
२. द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनम् (न्यायविनिश्चय, १।३)

सामान्य और विशेष को इस प्रकार समझा जा सकता है—प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के अस्तित्व हैं; स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्य में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, जिनसे वह संसार के अन्य समस्त द्रव्यों से भिन्न है। यह विशेषता ही उस द्रव्य का **स्वरूपास्तित्व** है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक द्रव्य को अन्य सजातीय अथवा विजातीय द्रव्य से असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसी के कारण प्रत्येक द्रव्य के पर्याय अपने से भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्य के पर्यायों से असंकीर्ण बने रहते हैं और अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखते हैं। यह स्वरूपास्तित्व एक ओर तो इतर द्रव्यों वे विवक्षित द्रव्य की व्यावृत्ति कराता है, दूसरी ओर यही कालक्रम से होनेवाले पर्यायों में अनुगत भी रहता है। अर्थात् परिणमन के कारण बने हुए अगले पदार्थों में पहले पदार्थों के स्वरूपास्तित्व मिटते नहीं। इस स्वरूपास्तित्व से अपने पर्यायों में अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होते हैं और इतर द्रव्यों से व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्व को ऊर्ध्वता-सामान्य कहते हैं। यही द्रव्य कहलाता है, क्योंकि यही अपने क्रमिक पर्यायों में द्रवित होता है, अर्थात् संतति–परंपरा से प्राप्त होता है।

जैन और बौद्धों की सन्तान-कल्पना में कुछ मौलिक अन्तर है। जैन तो एक स्वरूपास्तित्व अर्थात् ध्रौव्य या द्रव्य को मानते हैं, पर बौद्ध सन्तान स्वीकार करते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण अपने अर्थ-पर्याय रूप से परिणमन करता है। उसमें कोई भी एसा स्थायी अंश नहीं बचता जो द्वितीय क्षण में पर्यायों के रूप में न बदलता हो। जैन दर्शन न तो वस्तु को नित्य ही मानता है और न सर्वथा परिवर्त्तनशील ही। परिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील इन दोनों के बीच की वस्तु को **द्रव्य** माना गया है। यह न तो बिलकुल अपरिवर्तनशील है, और न इतना विलक्षण परिवर्तन करने-वाला, जिससे एक द्रव्य अपने द्रव्यत्व की सीमा का उल्लंघन कर दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यरूप में परिणत हो जाय।

इसलिए ध्रौव्य की परिभाषा भी इस प्रकार की जा सकती है—"किसी एक द्रव्य के प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तर रूप से परिणमन न होना।" बौद्धों द्वारा माने गये सन्तान का भी यही कार्य है। वह नियत पूर्वक्षण का नियत उत्तरक्षण के साथ भी समनन्तर प्रत्यय के रूप में कार्यकारण भाव बनाता है, अन्य सजातीय या विजातीय क्षणान्तर से नहीं। तात्त्विक दृष्टि से द्रव्य या सन्तान के कार्य में या उसके उपयोग में कोई अन्तर नहीं

है। अन्तर कुछ शाब्दिक है, क्योंकि बौद्ध उस सन्तान को पंक्ति या सेनाव्यवहार की तरह मृषा मानते हैं।[1] जैन द्रव्य को मृषा या मिथ्या नहीं मानते।

अब हम **सादृश्यास्तित्व** के विषय में कुछ कहेंगे। दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक्सामान्य अथवा सादृश्य-सामान्य भी कहते हैं। हम अनेक मनुष्यों को देखकर अर्थात् उनके बहुत से अवयवों की समानता देखकर सादृश्य की कल्पना करते हैं। उसी सादृश्य के संस्कार के कारण हम अपरिचित व्यक्ति को भी देखते ही कह देते हैं कि यह मनुष्य है। अतः दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत-प्रतीति का कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना चाहिए।

सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व दोनों हैं। दूसरे शब्दों में सभी पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक हैं।

पुद्गल और परमाणु—समस्त दृश्यमान जगत् पुद्गल का ही विस्तार है। हम कह चुके हैं कि मूल दृष्टि से पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओं से मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्त द्रव्य है। प्रत्येक परमाणु के पर्याय मिलकर ही उस संयुक्त द्रव्य के स्कन्ध-पर्याय बन जाते हैं। ये पुद्गल परमाणु जब तक अपनी बंध-शक्ति से शिथिल या निविड रूप में एक-दूसरे से जुटे रहते हैं, तब तक उन्हें **स्कन्ध** कहा जाता है। इन स्कन्धों की रचना और उनका विनाश परमाणुओं की बंध-शक्ति और भेद-शक्ति पर निर्भर रहता है।

प्रत्येक परमाणु में स्वभाव से एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं।[2] जैन दर्शन की यह कल्पना अपनी निजी है। पाँच रूप माने गये हैं—लाल, पीला, नीला, सफेद और काला। प्रत्येक परमाणु में इन पाँचों में से कोई एक ही रूप होगा, दो या तीन नहीं। यह ठीक है कि यह रूप बदल भी सकता है, पर रूप रहेगा एक परमाणु में एक ही। इसी प्रकार पाँच रस माने गये हैं—तीता, कड़आ, कसैला, खट्टा और मीठा। प्रत्येक परमाणु में इन रसों में से कोई एक ही रस रह सकता है, एक से अधिक नहीं। गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। परमाणु में इनमें से एक ही गन्ध-गुण रह सकता है, दोनों नहीं।

स्पर्श गुण के दो युगल माने गये हैं—(१) शीत और उष्ण तथा (२) स्निग्ध और रूक्ष। प्रत्येक परमाणु में इन युगलों में से कोई एक-एक स्पर्श गुण रह

१. सन्तानः समुदायश्च पंक्तिसेनादिवन्मृषा। (बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ३३४)
२. एयरसवण्णगंधं दोफासं सद्दकारणमसद्दं। (पंचास्तिकाय, गा० ८१)

सकता है, अर्थात् एक परमाणु में शीत-स्निग्ध अथवा शीत-रूक्ष, अथवा उष्ण-स्निग्ध अथवा उष्ण-रूक्ष ये दो-दो स्पर्श गुण हो सकते हैं। एक ही युगल के दोनों गुण एक परमाणु में न होंगे।

व्यवहार में अनेक अन्य स्पर्श गुणों की भी प्रतीति होती है, जैसे मृदु, कर्कश, गुरु, लघु। पर ये स्पर्श स्कन्ध-अवस्था के हैं, न कि परमाणु-अवस्था के। पुद्गल की परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय मानी गयी है और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय।

स्कन्धों के भेद—अपने परिणमनों की अपेक्षा से स्कन्ध ६ प्रकार के माने गये हैं[१]—

(१) अति स्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं न मिल सकें, वे इस वर्ग के हैं, जैसे लकड़ी, पत्थर आदि।

(२) स्थूल (बादर)—इस वर्ग में वे स्कन्ध हैं, जो छिन्न-भिन्न होने पर स्वयं आपस में मिल जायँ, जैसे दूध, तेल, पानी आदि।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—इस वर्ग में वे स्कन्ध हैं, जो दीखते तो स्थूल हैं, पर जिन्हें छेदा, भेदा या ग्रहण किया नहीं जा सकता, जैसे छाया, चाँदनी, अँधेरा आदि।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—इस वर्ग में वे स्कन्ध हैं जो सूक्ष्म होकर भी स्थूल रूप में दीखें। पाँचों इन्द्रियों के विषय रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, ये सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध हैं।

(५) सूक्ष्म—ये सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किये जा सकते, जैसे कर्म आदि।

(६) अति सूक्ष्म—कर्म वर्ग से छोटे द्व्यणुक-स्कन्ध अति सूक्ष्म स्कन्ध माने जाते हैं।

परमाणु तो परमातिसूक्ष्म है, उसका विभाजन नहीं हो सकता। वह शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है अर्थात् त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

पुद्गल के चार विभाग—पुद्गल द्रव्य के चार विभाग हैं—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु।[२] स्कन्ध की रचना के लिए अनन्तानन्त परमाणु चाहिए।

१. अइथूलथूलथूलं थूलं सुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं अइसुहुमं इति धरादियं हाइ छब्भेयं॥ (नियमसार, गा० २१–२४)

२. खंधा य खंधदेसा खंदपदेसा य होंति परमाणू।
इति ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणयव्वा। (पंचारितकाय, गा० ७४–७५)

स्कन्धदेश के लिए स्कन्ध से आधे परमाणु चाहिए। स्कन्धदेश के भी आधे परमाणु से स्कन्धप्रदेश बनेगा। परमाणु स्वयं तो अविभागी है ही।

परमाणुओं में बन्ध--हम कह चुके हैं कि परमाणुओं में स्वाभाविक स्निग्धता अथवा रूक्षता होती है। इस स्पर्श-युगल के कारण ही परमाणुओं में परस्पर बन्ध सम्भव होता है। इस बन्ध के कारण ही स्कन्ध की रचना होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणों की न्यूनाधिक मात्रा (शक्त्यंश) के कारण असंख्य भेद उत्पन्न होना संभव है। एक शक्त्यंश (जघन्य गुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं का परस्पर बन्ध (रासायनिक संयोग) संभव नहीं है। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष एवं स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं में बन्ध तभी होगा जब इनमें परस्पर गुणों के दो शक्त्यंश अधिक हों,[1] अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु का बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणु से होगा। इस बन्धकाल में जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणु का परिणमन अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से कर लेता है, इस प्रकार का नियम है।

द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि--बन्ध का कारण स्निग्धता एवं रूक्षता है, यह तो हम बता चुके। इस बन्ध द्वारा दो परमाणुओं से द्व्यणुक, तीन परमाणुओं से त्र्यणुक और चार-पाँच आदि परमाणुओं से चतुरणुक, पंचाणुक आदि स्कन्ध बनते हैं। बड़े स्कन्धों के टूटने से भी छोटे कई स्कन्ध बन सकते हैं। इन स्कन्धों का बनना संघात के कारण भी है और भेद के कारण भी। छोटे स्कन्धों को मिलाकर बड़ा स्कन्ध बनाना संघात कहलाता है। बड़े स्कन्ध को तोड़कर छोटे स्कन्ध बना देना भेद है। स्कन्ध अवस्था में परमाणुओं का परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोड़े से ही स्थान में असंख्य परमाणु समा जाते हैं।

बन्ध यदि निविड (घना) (compact) है, तो बहुत ठोस वस्तु मिलती है और यदि बन्ध शिथिल है तो हलकी वस्तु मिलेगी। जैनाचार्यों की कल्पना है कि एक सेर लोहे और एक सेर रूई में परमाणुओं की संख्या तो लगभग बराबर ही है, पर लोहे में बन्ध निविड है, अतः लोहा इतना ठोस है। रुई में बन्ध शिथिल है, अतः यह हलकी और थुलथुली है।

१. स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्व्यधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।

(तत्त्वार्थसूत्र, ५।३३–३७)

शब्द भी पुद्गल का पर्याय है—जैन दर्शन में शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप (प्रकाश) और उद्योत इनको पुद्गल द्रव्य का पर्याय माना है।[1] वैशेषिक के समान जैन दर्शन शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता। इसे पौद्गलिक ही माना जाता है, तभी तो शब्द पुद्गल के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, पुद्गल से ही रुकता है, पुद्गल को रोकता भी है। पुद्गल—कान आदि के पर्दों को फाड़ देने में भी समर्थ है और पौद्गलिक वातावरण में यह अनुकम्पन उत्पन्न करता है। स्कन्धों के परस्पर संयोग, विभाग और घर्षण से शब्द उत्पन्न होता है। शब्द केवल शक्ति नहीं है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य स्कन्ध है, जो वायु स्कन्ध के द्वारा देशान्तर को जाता हुआ आसपास के वातावरण को अनुझंकृत कर देता है।

तीव्र गतिशील पुद्गलस्कन्धों द्वारा ही शब्द, आकृति, प्रकाश, गरमी, छाया, अन्धकार आदि का परिवहन हो रहा है। पुद्गल का नियंत्रण पौद्गलिक साधनों से ही हो सकता है। रसायन और भौतिक शास्त्र का उद्देश्य पुद्गल का नियंत्रण ही है।

निर्देश

महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य—**जैन दर्शन**, गणेशप्रसाद वर्णी जैनग्रन्थमाला, काशी (१९५५)।

१. शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।
(तत्त्वार्थसूत्र ५।२४)

षष्ठ खण्ड

रसायन की व्यावहारिक परम्परा

प्राक्कथन

रसायन शास्त्र का संबंध जीवन के समस्त अंगों से है। संस्कृति के विकास का रसायन ज्ञान के विकास से घनिष्ठ संबंध है। भोजन, वस्त्र और रहने के भवन—इनकी व्यवस्था में रसायन ने प्रत्येक युग में सहयोग दिया। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति भी इसने की और उसकी कलात्मक एवं विलासमय आकांक्षाओं में भी इसने सहायता दी। युद्ध एवं शान्ति दोनों के साधनों को इसने प्रोत्साहन दिया। भारतीय इतिहास के प्राचीनतम भग्नावशेष रसायन के युग-युग के इतिहास की आज भी साक्षी बने हुए हैं। सिन्धु-घाटी की सभ्यता ही नहीं, उससे पूर्व के अर्थात् प्राग्-ऐतिहासिक काल के भी कुछ न कुछ चिह्न हमारे पास विद्यमान हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं के परिश्रम के फलस्वरूप हम इतिहास के उन पृष्ठों को भी समझने में कुछ सफल हो सके हैं, जिनका उल्लेख साहित्य में हमें नहीं मिलता। प्राचीनतम आभरण, उपकरण एवं दैनिक व्यवहार की पुरातन वस्तुएँ हमारे प्रदर्शनालयों में सुरक्षित हैं, वे यह बताती हैं कि गृह निर्माण में हमने किस सामग्री का उपयोग किया, आभरणों, उपकरणों और मुद्राओं में हमने कौन-सी धातुएँ अपनायीं, एवं विलास की सामग्री तैयार करने में हमने किन रंगों का प्रयोग किया। हम आगे के पृष्ठों में इस प्रकार की कुछ सामग्री पाठकों को भेंट करेंगे। यही नहीं, हम पुराने साहित्य से यह भी दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि भारतीयों ने अपने अभ्युदय के लिए क्या-क्या चेष्टाएँ कीं और उन्होंने अपनी दैनिक आवश्यकताओं की सामग्री के सञ्चय में किस प्रकार रसायन विज्ञान से सहायता ली।

इकतीसवाँ अध्याय

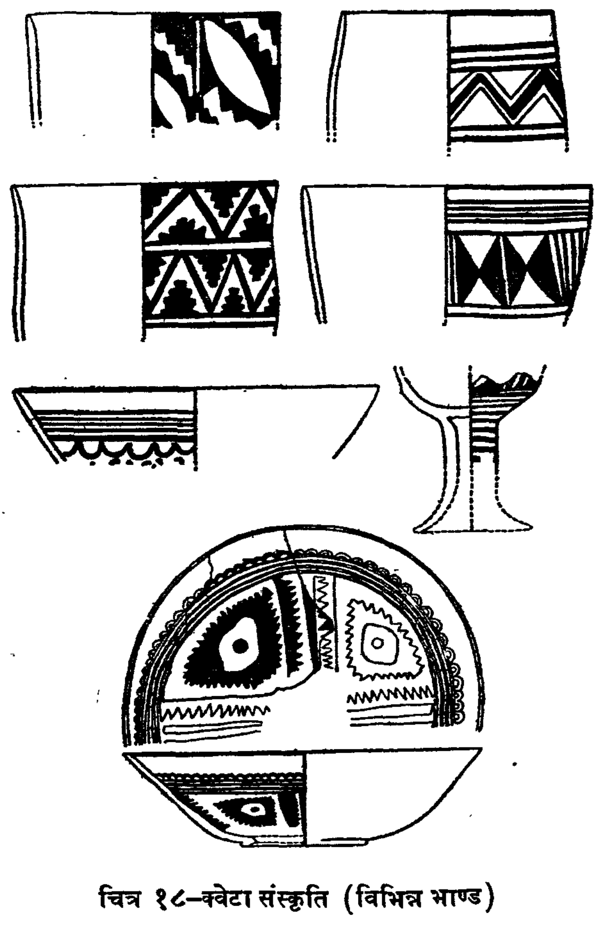
सभ्यता का प्राग्-ऐतिहासिक युग

पिछले पश्चिम भारत का वह भाग, जिसमें बलूचिस्तान, सिन्ध और मकरान हैं, आज एक मरुभूमि है और इस भाग में अनेक दुरूह स्थान हैं। पर इस स्थल के आसपास ही इस देश के अति प्राचीन मानव की सभ्यता के स्पष्ट चिह्न मिले हैं। कृषि में रुचि रखनेवाले मानव ने यहीं पर अपनी नवीन संस्कृति का विकास किया। पुरातत्त्ववेत्ता इस काल को ईसा से ३००० वर्ष पूर्व का मानते हैं। भारत के पड़ोसी देशों में मानव-संस्कृति के चिह्न ईसा से दस सहस्र वर्ष पूर्व तक के भी प्राप्त हुए हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि धातुओं का परिज्ञान मनुष्य को भारत के बाहर किसी पश्चिमी प्रदेश में हुआ। ये सब धारणाएँ विवाद का विषय हैं। यह स्पष्ट है कि सिन्ध के जिस भाग में आज मरुभूमि है, वहाँ अति प्राचीन समय में काफी अधिक पानी बरसता था और वहाँ हरे भरे जंगल थे। इन जंगलों की लकड़ियों की आग से हरप्पा के निवासियों ने अपनी ईंटें पकायी थीं।

उस प्राचीन काल की संस्कृति को पुरातत्त्ववेत्ताओं ने दो वर्गों में विभाजित किया है—पाण्डु-भाण्ड संस्कृति और रक्त-भाण्ड संस्कृति। पाण्डु-भाण्ड संस्कृति के बर्तनों का रंग कुछ पीला-सा और रक्त-भाण्ड संस्कृति के बर्तनों का रंग लाल होता था। पांडु-भाण्ड संस्कृति के अन्तर्गत क्वेटा संस्कृति, अमरी-नल संस्कृति और कुल्ली संस्कृति हैं। रक्त-भाण्ड संस्कृति के अन्तर्गत झोब संस्कृति है (उत्तर बलूचिस्तान की झोब घाटी के नाम पर)।

क्वेटा संस्कृति—क्वेटा संस्कृति के बहुत ही कम चिह्न इस समय उपलब्ध हैं—केवल कुछ भाण्ड (मिट्टी के पात्र) और एलेबेस्टर के बने प्याले हैं। उस समय का क्वेटा छोटा-सा गाँव रहा होगा, जिसमें मकान कच्ची मिट्टी के अथवा कच्ची ईंटों के रहे होंगे। जो भाण्ड क्वेटा में मिले, वे विशेष प्रकार के थे, उन्हें पाण्डु-भाण्ड वर्ग में रखा गया। श्यामल भूरे रंग का काम भी इन भांडों पर किया हुआ मिलता है।

ये भाण्ड केवल एक रंग के हैं। इन पर बेल बूटे रेखागणित की सामान्य आकृतियों की याद दिलाते हैं। पशु पक्षियों का चित्रण इन पर अभी आरंभ नहीं हुआ था।



चित्र १८—क्वेटा संस्कृति (विभिन्न भाण्ड)

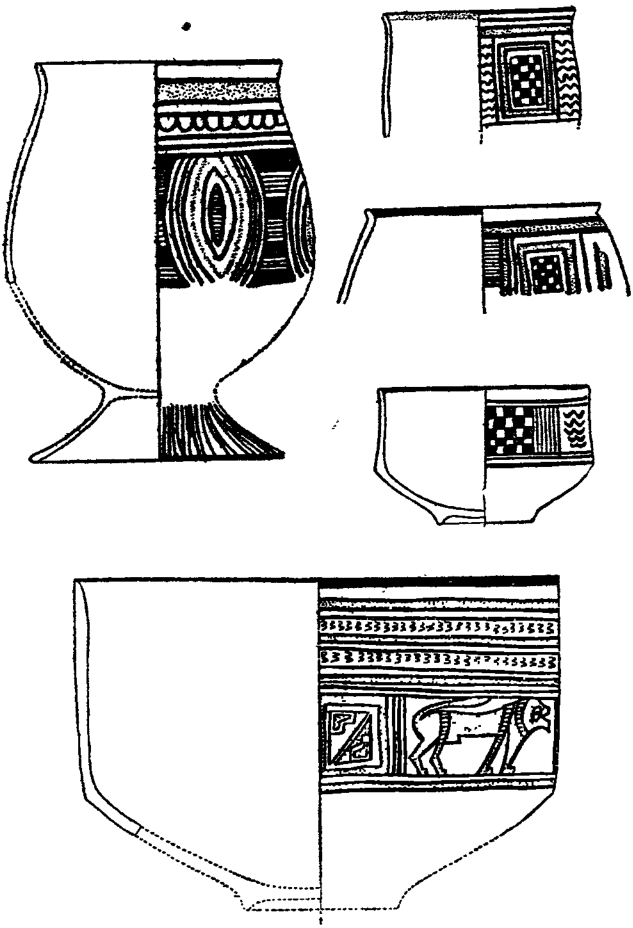
अमरी-नल संस्कृति—अमरी-नल संस्कृति दो संस्कृतियों का संमिश्रण है। सिन्ध का एक स्थल अमरी है, जिसकी संस्कृति की खोज मजूमदार ने पहले-पहल की और जहाँ के भाण्ड अपनी एक विशेषता रखते थे। हारग्रीव्स ने बलूचिस्तान की नल-स्थली की श्मशान भूमि पर और स्टाइन ने दक्षिण बलूचिस्तान की नुन्दर भूमि पर

कार्य किया। इन स्थलों पर जो टूटे-फूटे बर्तन निकले उनमें साम्य था। इन सब स्थलों की उस प्राचीन संस्कृति का नाम पुरातत्त्ववेत्ताओं ने अमरी-नल संस्कृति रख दिया है। अमरी युग की दीवारों की नींवें पत्थरों की बनायी जाती थीं, और कभी-कभी दीवारों का काफी भाग भी पत्थर का बनता था, पर अधिकतर दीवारें मिट्टी की कच्ची ईंटों की ही बनती थीं। नुन्दर, करगुश्की और रोडकन (बलूचिस्तान) में पत्थरों के बीच की जुड़ाई मिट्टी के गारे से की जाती थी। खिड़कियों के ऊपर की ऊँचाई तक तो पत्थर की चुनाई होती ही थी, उसके और ऊपर कलापूर्ण ढंग से पत्थर सजाये जाते थे। नुन्दर में कुछ दीवारें कच्ची मिट्टी की ईंटों की भी पायी गयी हैं। ये ईंटें २१ × १० × ४ इंचों की होती थीं। नल की श्मशान भूमि में दो बच्चों की जो कब्रें मिली हैं, उनकी ईंटें भी इसी नाप की हैं। दीवारों के पत्थरों के भीतर की ओर के पार्श्व पर सफेद पलस्तर भी देखा गया है। नुन्दर में जितने भी मकान मिले हैं, वे साधारण जनता के रहे होंगे। इनके कमरे १५ × १५ और १५ × १० फुट से लेकर ८ × ५ फुट तक के हैं। गलियों की चौड़ाई ६ से ८ फुट तक और कुछ सँकरी गलियों की ३ फुट की ही मिली।

नल की श्मशान भूमि में ३०–४० के लगभग कब्रें मिलीं और कब्रों के निकट २७० के लगभग भाण्ड या मिट्टी के बर्तन मिले। श्मशान भूमि में पूरे-पूरे शव तो मिले ही, कुछ में शरीर के कुछ भागों की ही हड्डियाँ मिलीं। एक-एक कब्र में दो-तीन शव तक मिले हैं (एक पुरुष के साथ दो-दो बच्चे तक पाये गये हैं)। इन कब्रों की मिट्टी की ईंटें २१ × ९ × ३$\frac{1}{2}$ इंचों की थीं। अधिकांश दफन ५ × ८ फुट माप के पत्थर के बने कक्षों में किये गये। एक कब्र में ताँबे की कुल्हाड़ी भी मिली। मनुष्य के शवों के समीप पशुओं की हड्डियाँ (बैल, भेड़, बकरे की) भी मिली हैं। शवों के शरीर पर के कपड़े तो गल गये पर गुलिकाओं की मालाएँ कुछ प्राप्त हुई हैं। नल के श्मशान में ताँबे के दो औज़ार भी मिले।

नल और अमरी के भाण्ड चिकने पाण्डु या लाल रंग के अवलेप से युक्त पाये गये। नल के कुछ भाण्ड धूसर या काले वर्ण के भी थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन भांडों को कुम्हार के चाक पर तैयार किया गया था। नल में पाये गये भाण्डों की आकृतियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये झिला और होर-कलात (बलूचिस्तान) के भाण्डों से मिलती जुलती हैं। यहाँ प्याले, चिराग, गिलास आदि पात्र मिले हैं जो सब मिट्टी के हैं। अमरी के भाण्डों पर कुछ चित्रकारी भी है, पर इनमें पशु या पौधों के चित्र नहीं हैं। चित्रकारी समान्तर रेखाओं, त्रिभुजों, वृत्तों और इस प्रकार की अन्य आकृतियों

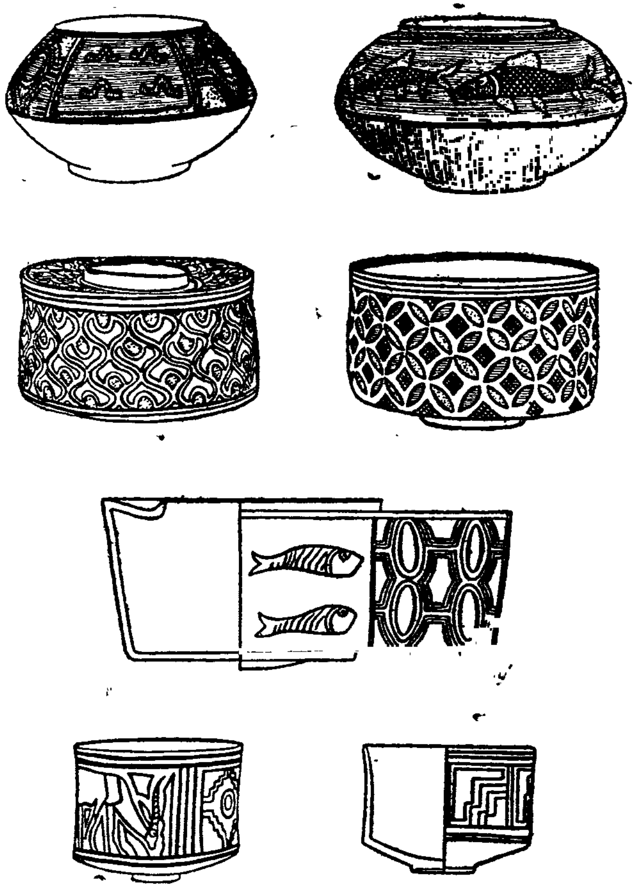
से सम्पन्न है। नुन्दर के भाण्डों पर शेर, मछली और चिड़ियों के चित्र भी लाल रंग में अंकित पाये गये हैं। एक पात्र पर पीपल के पत्ते का भी चित्र है। नल के प्रौढ़-



चित्र १९–अमरी नुन्दर संस्कृति (चषक आदि)

कालीन भाण्डों पर तरह-तरह के बेल-बूटे, हीरकाकृति, मछली, चिड़ियाँ, बिच्छू आदि भी बने पाये गये हैं।

हम यहाँ नल, अमरी या नुन्दर की कला की विवेचना नहीं करना चाहते। हमारी दृष्टि से उल्लेखनीय बात यह है कि अमरी और नल वर्ग की इस संस्कृति के समय धातुओं का प्रयोग अवश्य प्रचलित हो गया था। कहा जा चुका है कि नल की श्मशान



चित्र २०—नल संस्कृति के भाण्ड।

भूमि में ताँबे के औज़ारों के दो ढेर मिले। पहले ढेर में पाँच चीजें थीं—तीन तो चपटी कुल्हाड़ियाँ और दो लम्बी छेनियाँ। इनके समीप ही ताँबे के जो टुकड़े मिले, उनकी रासायनिक परीक्षा की गयी। फल इस प्रकार थे—

ताँबा	९३.०५	प्रतिशत
सीसा	२.१४	,,
निकेल	४.८०	,,
आर्सेनिक	सूक्ष्म	

नुन्दर में भी ताँबे का एक कड़ा मिला। गाज़ीशाह (सिन्ध) में अमरी-स्तर पर ही ताँबे की एक गुलिका मिली।

इस ताँबें में इतनी अधिक मात्रा में निकेल का होना एक आश्चर्य की बात है। यह ताँबा उन खानों से यहाँ आया होगा, जिनमें निकेल की मात्रा अधिक हो। मेसोपोटामिया में प्राप्त कुछ प्राचीन ताँबों में निकेल की मात्रा काफी पायी गयी है (३.३४ से २.२० प्रतिशत तक)। ओमन पर्वतों के ताम्र में भी, जहाँ से सुमेरु सभ्यता के प्राचीन निवासियों का ताँबा मिला, निकेल की कुछ मात्रा अवश्य रही है। मोहं-जो-दड़ो और हरप्पा के ताम्रों में तो ३.३४ प्रतिशत से लेकर ९.३८ प्रतिशत निकेल मिली है। राजस्थान और अफगानिस्तान के अयस्कों में निकेल की विद्यमानता के चिह्न मिले हैं। निकेल की व्यापकता के इतने विस्तृत प्रमाण मिले हैं कि यह कहना कि नल-ताम्र कहाँ के अयस्क से प्राप्त किया गया कठिन है। बहुत संभव है कि यह बलूची अयस्क से ही निकाला गया हो, क्योंकि बलूचिस्तान में ताँबे के कारखानों के पुराने चिह्न मिलते हैं। हरप्पा के ताम्र में आर्सेनिक भी पाया गया है, पर नल-ताम्र में आर्सेनिक का लगभग अभाव रहा है, जिससे स्पष्ट है कि दोनों स्थलों के ताम्र भिन्न-भिन्न स्थानों से आये होंगे।

अमरी में और नल की प्राचीन भूमि में जितनी मुद्राएँ मिली हैं, उन पर कोई चित्रकारी अंकित नहीं है (केवल एक को छोड़कर जो नल की श्मशान भूमि में मिली और जिस पर गृध्र और सर्प की आकृति अंकित थी)। हरप्पा संस्कृति की मुद्राओं पर आकृतियों का अङ्कन एक विशेषता है।

नल श्मशान भूमि में ढोल की आकृति की और द्वि-शंकु की आकृति की गुलिकाएँ (या गुरियाएँ) प्रचुर मात्रा में, मिली हैं। ये एगेट या कार्नेलियन की बनी हैं। सिन्ध प्रदेश के गाज़ीशाह में भी एगेट की बनी एक गुलिका मिली थी। पण्डीवाही (सिन्ध) में भी इसी पत्थर की बनी एक गुलिका मिली। लाजवर्द का प्रचलन प्राचीन काल में मूल्यवान् गुलिकाएँ तैयार करने में होता था और यह फारस या बलूचिस्तान से प्राप्त होता था। नल प्रदेश की गुलिकायें और विशेष कर छोटी चिपटी चक्रिकाएँ किसी ऐसे एक कृत्रिम अवलेप की बनायी जाती थीं, जिसमें काचीय आभा होती थी और

जिसका नाम फाएन्स विख्यात है। हरप्पा-मोहें-जो-दड़ो की संस्कृति में फाएन्स की बनी गुलिकाओं का उल्लेख आगे किया जायगा। पश्चिम भारत के प्राग्-ऐतिहासिक काल में फाएन्स का उपयोग अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

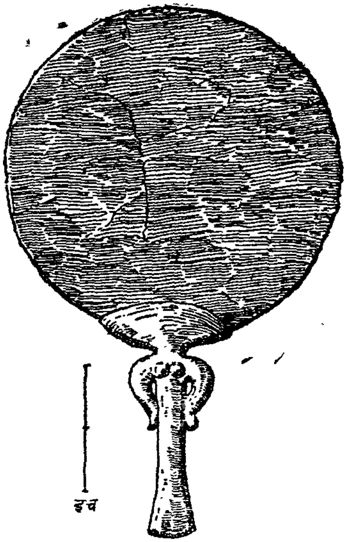
कुल्ली संस्कृति––पाण्डु-भाण्डों के आधार पर जो वर्गीकरण किया गया है, उसमें कुल्ली-संस्कृति का भी प्रमुख स्थान है। दक्षिण बलूचिस्तान में एक स्थान कोलवा है, जहाँ पुरातत्त्व विभाग ने खुदाई करके प्राचीनतम चिह्न प्राप्त किये। इस स्थान के नाम पर ही कुल्ली संस्कृति का नाम पड़ा है। बर्तनों पर जो चित्रकारी मिलती है वह इस संस्कृति की एक विशेषता है। कुल्ली संस्कृति के आभरणों में भी अन्य स्थलों की अपेक्षा कुछ विशेषताएँ हैं और अन्त्येष्टि कर्म भी यहाँ के अन्य स्थलों की अपेक्षा कुछ भिन्न रहे हैं। कुल्ली संस्कृति को इसी लिए अलग एक वर्ग में रखा जाता है। प्राग्-ऐतिहासिक काल के कुल्ली-संस्कृति के भवन पत्थरों के बने पाये गये। पत्थरों के बीच की जुड़ाई मिट्टी के गारे से की गयी। मेही स्थान पर पत्थर के अतिरिक्त मिट्टी की ईटों का भी उपयोग किया गया, यद्यपि ये ईंटें किसी एक निश्चित माप की नहीं थीं। एक दीवार की ईंटें अवश्य सब एक ही माप की थीं––१९ × १० × ३ इंच। एक स्थल पर लकड़ी का बना फर्श भी मिला, जैसा नुन्दर में था। कुल्ली में भी भीतर की ओर से पत्थर की दीवारों पर सफेद पलस्तर किया हुआ मिला है।

कुल्ली के भाण्डों का रंग पाण्डु या हलका लाल है। पाण्डु वर्ण मृदु है और लाल रंग आपेक्षतः कठोर। लाल या सफेद भूमि पर काली चित्रकारी, इन भाण्डों की विशेषता है। इस चित्रकारी में कहीं कहीं पशु-जीवन भी अंकित किया गया है। इस चित्रकारी की विशेषताओं की आलोचना करना हमारे क्षेत्र से बाहर की बात है।

कुल्ली में पकी हुई मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन मूर्तियों में नारियों और पशुओं की आकृतियाँ व्यक्त की गयी हैं। ये या तो बच्चों के खेलने के खिलौने रहे होंगे, अथवा इष्ट देवताओं की मूर्तियाँ रही होंगी, पर उस प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में मूर्तिपूजा की कल्पना करना कठिन ही प्रतीत होता है। नारियों की मूर्तियों से यह स्पष्ट है, कि गहना उस समय भी काफी पहना जाता था। सिर के आभरण भी इन आकृतियों में हैं और गले के हार भी। हाथों में चूड़ी या कड़े भी हैं। मेही और शाही तुम्प में मिट्टी की बनी गाड़ियाँ भी मिली हैं। ये सब बच्चों के आमोद-प्रमोद के खिलौने रहे होंगे।

मेही में कुछ ऐसे पात्र भी मिले हैं, जिनमें या तो सुगन्ध द्रव्य रखे जाते होंगे, या आँख में लगाने का काजल या सुरमा। मेही की श्मशान भूमि में ताँबे और काँसे के पात्र

भी काफी मिले हैं। सबसे अधिक उल्लेखनीय बात तो यह है कि यहाँ पर पाँच इंच व्यास का ताँबे का बना एक दर्पण मिला है (चित्र २१)। इस दर्पण में हाथ से पकड़ने की मुठिया भी है जो ताँबे की ही है। यह मुठिया भी नारी की आकृति में है (इसमें हाथ और कुच हैं तथा सिर के स्थान पर गोल-गोल बड़ा दर्पण है)। ऐसा कलापूर्ण मुठियादार दर्पण पश्चिमी एशिया के प्रागैतिहासिक काल में कहीं नहीं मिला। मेही-श्मशान भूमि में ताँबे की दो पिनें, ताँबे की कुछ चूड़ियों के खण्ड, ताँबे की कटोरी और इसी प्रकार के अन्य पदार्थ भी मिले हैं।



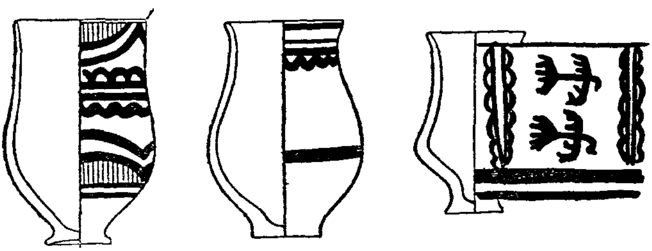
चित्र २१—मेही का एक दर्पण

झ़ोब घाटी की सभ्यता—झ़ोब नदी घाटी की भी कुल्ली संस्कृति के समान ही प्राग्-ऐतिहासिक सभ्यता है उत्तरी बलूचिस्तान में यह नदी उत्तर-पूर्व दिशा में क्वेटा पर्वतों और बोलन मार्ग के पीछे से बहती है। बोलन मार्ग के उत्तर-पूर्व के प्रदेश पिशिन-लोरा में बहुत-से ऐसे स्थल मिले हैं, जहाँ प्राग्-ऐतिहासिक काल के पुरातन चिह्न हैं। दक्षिण बलूचिस्तान की पाण्डु-भाण्ड संस्कृति के विपरीत यहाँ लाल-भाण्ड संस्कृति है, जिसका संबंध फारस की संस्कृति से है। स्वर्गीय ब्रिगेडियर राँस (Ross) ने झ़ोब घाटी में खुदाई का अच्छा कार्य किया। यहाँ राना घुण्डई—का एक ढेर जो चालीस फुट ऊँचा है। प्राचीनता का प्रदर्शक यहाँ की मिट्टी खोद खोदकर लोग पड़ोस के गाँव के खेतों में खाद की तरह डाला करते थे। इसी स्थल पर राँस ने इस ढेर में ५ पृथक् स्तरों का पता लगाया। जब इन स्तरों का और भी अधिक सूक्ष्मता से अध्ययन किया गया तो इनमें कुल नौ स्तरों का पता चला जो विभिन्न कालीन प्राचीनता के द्योतक थे। सबसे पहला स्तर उस समय का है, जब खानाबदोश जातियाँ यहाँ कभी कभी आकर अपने डेरे जमाती थीं, उनके चूल्हों की राख के चिह्न यहाँ मिले हैं। उनके बर्तन रंग और चित्रकारी से शून्य थे। फिर दूसरा स्तर उस समय का है जब कुछ

लोग यहाँ स्थायी रूप से बसने लगे, उन्होंने मकान भी बनाये और अपने भाण्डों पर उन्होंने रंग और चित्रकारी दोनों को स्थान दिया। इन्होंने लाल भूमि पर काले चित्र साँड़ और मृगों के बनाये। राना घुण्डई के तीसरे काल में सभ्यता काफी दिन स्थिर रही। इस युग को तीन उप-स्तरों में विभाजित किया गया है। काली चित्रकारी के साथ-साथ लाल रंग की चित्रकारी भी इस युग में आरंभ हुई। हम यहाँ विभिन्न स्तरों की विवेचना नहीं करेंगे। राना घुण्डई की ईंटें १३ × ९–८ × २½ इंच माप की थीं। कुछ स्थलों की ईंटों की माप नीचे तुलना के लिए दी जाती है —

नल की ईंटें	१२ × १२ × ७½	इंच
राना घुण्डई की ईंटें	१३ × ९–८ × २½	इंच
पेरिआनो घुण्डई की ईंटें	१४ × ९ × २	इंच
नल की दूसरी ईंटें	२३ × ९ × ३¾	इंच
डबर कोट की ईंटें	२४ × १६ × ४	इंच

कुल्ली संस्कृति के समान झोब संस्कृति में भी नारियों की मूर्तियों की प्रधानता रही है। ये मूर्त्तियाँ गले में माला या हार पहने हुए भी पायी गयी हैं। इनकी आँखें गोल गोल गड्ढे बनाकर प्रदर्शित की गयी हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं का अनुमान है कि ये मूर्तियाँ खिलौने नहीं हैं, ये वे मातृदेवियाँ हैं, जो मृतों का संरक्षण करती हैं। चकमक पत्थर के तीक्ष्ण टुकड़े राना घुण्डई के प्रत्येक स्तर में मिलते हैं। सूर जंगल और पेरिआनो घुण्डई में भी चकमक पत्थर बराबर पाये गये हैं। पत्ते के आकार



चित्र २२–राना घुण्डई के प्याले।

का बाण-शीर्ष भी यहाँ पाया गया है। एलेबेस्टर की बनी प्यालियाँ भी मिली हैं। विविध प्रकार के प्रस्तरों की बनी गुलिकाएँ भी मिलीं। डाबरकोट और मुगल घुण्डई में हड्डी की बनी गुलिकाएँ मिलीं। जेड और लाजवर्द की गुलिकाएँ पेरिआनो घुण्डई में पायी गयीं। हड्डी की बनी चूड़ियाँ और सुइयाँ डाबर कोट में मिलीं।

तृतीय स्तर तक तो धातु की बनी कोई वस्तु पायी ही नहीं गयी। बाद के स्तरों में ताँबा मिला। ताँबे का छल्ला या अँगूठी और एक दण्ड पेरिआनो घुण्डई में प्राप्त हुए। डाबरकोट में ताँबे के बने कटोरे का टुकड़ा मिला। यहाँ सोने की पिन भी प्राप्त हुई।

निर्देश

स्टुअर्ट पिगट—प्रि-हिस्टोरिक इंडिया, पेंग्विन सीरीज़ (१९५०)।

बत्तीसवाँ अध्याय

सिन्धु घाटी की सभ्यता

मोहें-जो-दड़ो–हरप्पा–चन्हुदड़ो

सिन्धु घाटी की सभ्यता के अति पुरातन प्रामाणिक चिह्न मोहें-जो-दड़ो और हरप्पा की खुदाई में मिले हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि यह सभ्यता स्पष्टतया ईसा से ४ सहस्र वर्ष पूर्व से लेकर १५०० वर्ष पूर्व की अवश्य रही होगी। भारतवर्ष में इससे पुरानी सभ्यता के चिह्न पुरातत्त्व विभागवालों को अन्यत्र कहीं नहीं मिले। सिन्धु घाटी की सभ्यता आदिम मानव की सभ्यता नहीं है। यह तो परिपक्व सभ्यता है, जिस समय मनुष्य को अपनी सुरक्षा और शान्ति के वैभवसम्पन्न सभी साधन प्राप्त थे।

रसायनशास्त्र का विद्यार्थी भी यह जानने का इच्छुक होगा कि सिन्धु घाटी की इस सभ्यता के युग में मनुष्य ने उन विषयों में कितना विकास किया था, जिनका क्षेत्र आजकल रसायनशास्त्र के अन्तर्गत है। यह स्पष्ट है कि रसायन का अध्ययन उस समय पृथक् किसी शास्त्र का क्षेत्र न था। मनुष्य की चिरपरिचित आवश्यकताओं ने ही उस समय उसे इस दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा दी। मनुष्य ने अपने समीप की ही नहीं, दूरस्थ प्रदेशों की सामग्री से न केवल अपनी नितान्त आवश्यकताओं की पूर्ति की, उसने कला का भी विकास किया और अपने को वैभव-सम्पन्न बनाया।

सिन्धुघाटी की सभ्यता के युग में भी वह संसार में अकेला प्राणी न था। उसके पड़ोस के देशों में भी जिनके साथ उसका आदान-प्रदान रहा, अवश्य ही मिलती-जुलती सम्पन्नता रही होगी। अपने से पश्चिम के देशों में ही नहीं, सिन्धु घाटी से पूर्व के प्रदेशों में भी उसने अपने सहयोगियों से सम्पर्क स्थापित किया होगा।

वह युग तो और भी पूर्व का था जब कि सिन्धु-गंगा के मैदान जल से आप्लावित थे, एवं आज के राजस्थान की मरुभूमि में समुद्र हिलोर ले रहा था, अथवा दक्षिण भारत का पठार अफ़्रीका महाद्वीप के साथ संयुक्त था। ऐसे न जाने कितने भूगर्भीय युग आये, जब जल-स्थल का विनिमय हुआ,—जहाँ आज समुद्र हैं वहाँ स्थल भाग हो गया और आज के स्थल भाग जल-मग्न हो गये। वह कौन-सी प्रलय थी जिसमें मही जल से विभोर हो उठी और इस प्रलयंकारी बाढ़ में समस्त मानवों के जीवन की

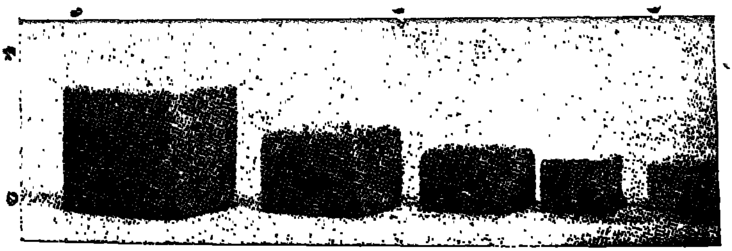
इतिश्री हो गयी, और रह गये केवल इने गिने कुछ प्राणी जिन्होंने मनु की नौका में स्थान पाया और जिनकी सन्तानें आज तक मानव नाम से विख्यात रहीं।

सिन्धु-घाटी की सभ्यता आदिम मानव से कितने आगे की है, इसकी कल्पना करना असंभव है, । यह आलोचना भी व्यर्थ है कि वैदिक कालीन मानव इस सभ्यता के तारतम्य में आगे का है, या पीछे का। मनुष्यनिर्मित संस्कृति के अवशेष यदि आज से ६ सहस्र वर्ष पहले के हमें मिले हैं, तो यह भी हमारे सन्तोष के लिए कम नहीं। विनाश-कालीन परिस्थितियों के बवंडरों की उपेक्षा करके आज तक ये पुरातन चिह्न किस प्रकार सुरक्षित रह सके, यह आश्चर्य की बात है।

माप और तौल का साधन—हरप्पा और मोहें-जो-दड़ो ये दोनों ही सिन्धु घाटी के स्थान हैं। हरप्पा पंजाब के उस प्रदेश में है जो आज पाकिस्तान का भाग है, और मोहंजोदड़ो सिन्ध में है। मोहें-जो-दड़ो सिन्ध में सिन्धु नदी के किनारे (नदी से पश्चिम की ओर ३½ मील) कराची से २०० मील के लगभग उत्तर की ओर है। इसके अक्षांश और देशान्तर २७° १९′ उत्तर और ६८° ८′ पूर्व हैं। बीकानेर के पास दृषद्वती और सरस्वती नदियों की घाटी की जो खुदाई हुई है, उससे पता चलता है कि हरप्पा की सभ्यता इन पूर्वीय स्थानों तक फैली हुई थी। एक समय था जब कि यह संस्कृति काठियाबाड़ (गुजरात) से लेकर वज़ीरिस्तान, बलूचिस्तान आदि में व्याप्त थी।

इन स्थानों पर खुदाई का कार्य आज से तीस-चालीस वर्ष पहले आरम्भ हुआ। मार्शल ने इसका विस्तृत विवरण प्रकाशित किया है और तब से आज तक अनेक पुरातत्ववेत्ताओं ने इन स्थलों की सामग्री पर विशद प्रकाश डाला है।

हरप्पा और मोहें-जो-दड़ो स्थानों पर कुछ ऐसे छोटे-छोटे आयताकार पिण्ड मिले हैं, जो स्पष्टतया तौलने के बाट थे। इनमें से कुछ चिकने पत्थर के भी थे। इनमें



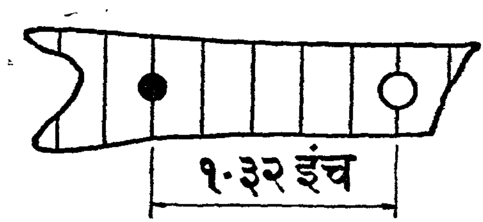
चित्र २३—मोहें-जो-दड़ो के बाट।

से कुछ बाट बेलनाकार भी थे, पर अधिकांश चौकोर घनाकृति के थे। किसी बाट पर कुछ अंकित न था। हेमी (Hemmy) ने इन बाटों पर सर्वप्रथम कार्य आरम्भ किया और उन्हें तौला। मोहें-जो-दड़ो और हरप्पा के इन बाँटों की तौलें तुलना के लिए हम नीचे दे रहे हैं—

	मोहें-जो-दड़ो		हरप्पा	
संकेतनाम	औसत तौल	अनुपात	औसत तौल	अनुपात
ण N	१३७५ ग्राम	१६००	१३७५	१६००
ढ M	—	—	५४६.७	६४०
ड L	२७२.९५	३२०	—	—
ठ K	१७४.५	२००	—	–
ट J	१३५.९७	१६०	१३५.८६	१६०
झ H	५४.२१	६४	५४.३२	६४
ज G	२७.२९	३२	२७.५५	३२
छ F	१३.७९	१६	१३.८६	१६
च E	६.८२	८	६.८४	८
घ D	३.४०	४	३.४४	४
ग C	२.२८	$\frac{1}{3}\times$८	—	—
ख B	१.७७	२	१.७०	२
क A	०.८७	१	—	—

इस सारणी से यह स्पष्ट है कि यदि ग (C) वर्ग के बाँट को छोड़ दिया जाय तो सब १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२०, ६४० और १६०० के अनुपात में थे। हमारा आजकल का सेर लगभग २ पौंड अथवा ९३३ ग्राम का है। इस प्रकार ण (N) बाट की तौल लगभग १$\frac{1}{2}$ सेर की या ३ पौंड की ठहरती है। मोहं-जोदड़ो में कुछ बाँट ०.९८, २.०७, ३.०३, ३.९२, २४.५० और ४७.३० ग्राम के भी पाये गये, जो आपस में १, २, ३, ४, २४ और ४८ के अनुपात में थे (इनके संकेत-नाम P, R, R, S, T और U (थ, द, ध, न, प और फ) हैं। बेबीलोनिया में १ से लेकर २८,८०० अनुपात तक के बाँट मिले हैं, जिनमें सबसे छोटे और हलके बाँट की तौल ०.९६ ग्राम और सबसे भारी की २९,६८० ग्राम थी। असीरिया का शेकेल (Shekel) बाँट १६.७० ग्राम का होता था। बेबीलोनिया के निफर, बाँटों में सूसा, हिला आदि प्रदेशों में पाये गये, बाँटों में और सिन्धु घाटी के बाँटों में काफी समानता थी। मार्शल ने अपने ग्रन्थ में इस समानता का अच्छा तुलनात्मक विवरण दिया है।

मोहें-जो-दड़ो का मापदंड—मोहें-जो-दड़ो में १९३१ में शंख के एक टूटे टुकड़े पर कुछ निशान लगे मिले। यह टुकड़ा ६.६२ × ०.६२ सेंटीमीटर माप का था। इसमें नौ समान्तर रेखाएँ खिची हुई थीं, जिनके बीच में ०.२६४ इंच की दूरी थी। एक रेखा पर एक वृत्त खिचा था। पाँच रेखाओं के बाद एक बड़ा बिन्दु और था। वृत्त और बिन्दु के बीच में आजकल की माप के हिसाब से १.३२ इंच का अन्तर था। यह अनुमान लगाया जाता है कि सिन्धु घाटी की संस्कृति के समय का इंच इतना ही बड़ा रहा होगा।



चित्र २४—मोहें-जो-दड़ो का माप दंड (सिन्धु का इंच)

सिन्धु घाटी की धातुएँ—सुवर्ण—मोहें-जो-दड़ो में जो सोने की वस्तुएँ पायी गयीं, उनके देखने से पता चलता है कि इनका सोना दक्षिण भारत से गया होगा। मार्शल के कथनानुसार दक्षिण भारत में गत २५०० वर्षों से सोने की खानों में से सोना निकाला जाता रहा है। मैसूर की कोलार की खानें इसके लिए सदा विख्यात रही हैं। अफगानिस्तान, पश्चिमी तिब्बत और पारस के कुछ स्थान मोहें-जो-दड़ो के निकट अवश्य हैं, फिर भी अधिकांश सोना सिन्धु घाटी में दक्षिण भारत से ही गया।

चाँदी—मार्शल का अनुमान है कि प्राचीन भारतीयों को सोने से चाँदी पृथक् करना यदि आता रहा हो, तो सिन्धु घाटी में चाँदी भी दक्षिण भारत से ही गयी होगी। सीसे से चाँदी पृथक् करना तो मनुष्य को बहुत पुराने समय से ज्ञात रहा है। ऐसी अवस्था में कुछ चाँदी सिन्धु घाटी में अफगानिस्तान की फारञ्जल खान से, आर्मीनिया की गुमुक्ष खान से अथवा पारस देश की सीसावाली खानों से भी पहुँची होगी।

ताँबा—मोहें-जो-दड़ो से ताँबे की निकटस्थ खानें राजस्थान के जयपुर की, शाह मकसूद की, दक्षिण बलूचिस्तान की और पश्चिमी बलूचिस्तान के रोबाट की हैं। संभव है, मद्रास के नेलोर प्रान्त की ताँबे की खानों का ताँबा भी सिन्धु घाटी में पहुँचता रहा हो।

सीसा—ऐसा अनुमान है कि मोहें-जो-दड़ो में सीसा अजमेर से पहुँचता होगा। अजमेर में सीसे की बड़ी पुरानी खानें थीं। सन् १८३० ई० के एक लेख से प्रतीत होता है कि उस समय खानों की रूपरेखा इस प्रकार की थी, मानो कि इस स्थान पर अनेक शतियों से सीसे की खुदाई होती रही हो। अफगानिस्तान की फारञ्जल खान से भी कुछ सीसा मोहें-जो-दड़ो में पहुँचता रहा होगा। पारस से भी संभव है, कुछ सीसा यहाँ आता हो।

वंग या राँगा—यह कहना कठिन है कि, यह धातु कहाँ से मोहें-जो-दड़ो पहुँची होगी।

सिन्धु घाटी के अन्य पदार्थ—लाजवर्द या राजवर्त—ऐसा अनुमान है कि मोहें-जो-दड़ो का लाजवर्द अफगानिस्तान के बदख़्शाँ प्रान्त से आता रहा होगा।

हरिताश्म या वैदूर्य (Turquoise)—यह हरे रंग की मणि है। इसका अंग्रेजी नाम तुर्क देश के नाम पर पड़ा है। फारस से बहुत अच्छे वैदूर्य इस प्रदेश में भी आते रहे हैं। इस देश के खुरासान स्थान से ही संभवतः मोहें-जो-दड़ो के वैदूर्य आते रहे।

अमेजन मणि—यह हरे रंग का फेल्सपार है। कश्मीर के पदर (Padar) ज़िले में यह काफी मिलता है, और संभवतः मोहेंजोदड़ो में यह मणि कश्मीर से ही पहुँची हो।

स्फटिक या क्वार्ट्ज—मोहें-जो-दड़ो से प्राप्त संग्रह में स्फटिक के बने आभरण आदि भी मिले हैं। यह स्फटिक काठियावाड़ के मारी (Mari) से अथवा दक्षिण भारत के तञ्जोर ज़िले के वेल्लुम स्थान से मोहें-जो-दड़ो पहुँचा होगा। आल्प्स की श्रेणियों में भी स्फटिक पाया जाता है।

स्टीएटाइट या तल्क (talc) (ऐसिड मेगनीशियम मेटासिलिकेट या **मृदु अभ्रक**, सोप-स्टोन)—यह भारत में बहुत पाया जाता है। मोहें-जो-दड़ो में यह मृदु अभ्रक जो साबुन-सा चिकना होता है, संभवतः राजस्थान से ही आता रहा होगा।

एलेबेस्टर (चूने का जलयुक्त सलफेट)—यह एक प्रकार की सेलखड़ी है। मोहें-जो-दड़ो के आसपास भी एलेबेस्टर काफी मिलता है, अतः यह निकट से ही प्राप्त कर लिया जाता रहा हो। कच्छ, काठियाबाड़ और रेवाकाँठे से भी संभवतः यह पदार्थ सिन्धु घाटी में पहुँचता रहा हो।

हेमेटाइट—असीरिया और बेबीलोनिया को हेमेटाइट फारस की खाड़ी के द्वीपों से प्राप्त होता था। संभव है कि यहीं से सिन्धु घाटी के इन स्थानों को भी वह प्राप्त होता रहा हो।

नीलम या एमेथिस्ट—बेंगनी रंग की यह मणि लंका द्वीप से भारत में आती रही है। यूराल पर्वत की श्रेणी में भी यह पायी जाती है। हैदराबाद के निकट दक्षिणी प्रांचल में भी यह पायी जाती है। संभव है कि यहीं से यह सिन्धु घाटी में पहुँचती रही हो।

स्लेट—सीमांत प्रदेश के हज़ारा ज़िले और पंजाब के काँगड़ा और गुड़गाँव ज़िले में स्लेट काफी मिलता रहा है। देहरादून, टिहरी (गढ़वाल) और अलमोड़ा भी इसके लिए प्रसिद्ध रहे हैं। राजपूताने में स्लेट पत्थर पाया जाता है। अफगानिस्तान में भी सियाहसंग और गर्दान दीवाल के बीच हेलमण्द नदी के उत्तर में यह काफी पाया जाता है। मोहें-जो-दड़ो को स्लेट संभवत: राजस्थान से मिलता था।

एगेट, कार्नेलियन और चाल्केडोनी—ये सब पदार्थ दक्षिण भारत, राजमहल प्राञ्चल और कृष्णा, गोदावरी, भीमा नदियों के तट पर पाये जाते हैं। एगेट और सुन्दर कार्नेलियन कश्मीर से भी आते रहे हैं। मोहें-जो-दड़ो में इन सभी स्थलों से ये मूल्यवान् पदार्थ पहुँचते होंगे, पर अधिक संभावना काठियाबाड़ और राजपीपला से पहुँचने की है।

एगेट और एगेट जेस्पर—ये पदार्थ राजस्थान या राजपीपला से मोहें-जो-दड़ो पहुँचे होंगे, ऐसा अनुमान है।

शिलाजीत—सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश में अथवा सीमान्त प्रदेश में किसी समय शिलाजीत काफी पाया जाता था। संभवत: मोहें-जो-दड़ो में यह पदार्थ वहीं से पहुँचा हो। बलूचिस्तान से भी यह वहाँ पहुँच सकता है।

गेरू या लाल-ओकर—फारस की खाड़ी के द्वीपों में, जैसे होर्मुज़ में, गेरू काफी होता है, और जलमार्ग से यह बहुत पुराने समय से अनेक देशों में पहुँचता रहा है। सिन्धु घाटी में भी संभवत: यहीं से पहुँचता रहा होगा। बू-मूसा और हालूल द्वीपों की ख्याति भी इसके लिए काफी रही है।

जेड या जेडाइट (Jadeite)—मोहें-जो-दड़ो में जेड के बने मणिक काफी पाये गये हैं। यह कहना कठिन है कि जेड इस क्षेत्र में कहाँ से पहुँचा होगा। अनुमान है कि संभवत: यह पामीर, पूर्व तुर्किस्तान, तिब्बत या उत्तरी बर्मा से पहुँचता रहा हो। मोहें-जो-दड़ो में जेड का पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि मध्य एशिया से सिन्धु-घाटी का अवश्य सम्पर्क रहा होगा।

हरित-मृत्तिका—मोहें-जो-दड़ो में हरी मिट्टी या "ग्लौकोनाइट" नामक पदार्थ की बनी कुछ वस्तुएँ मिलीं हैं। यह मिट्टी सिन्ध की तृतीयक काल की शिलाओं में पायी

जाती है। इस मिट्टी के प्राञ्चल काठियावाड़ और मध्य-भारत में तथा बलूचिस्तान में भी मिलते हैं। मोहें-जो-दड़ो में संभवतः यह पदार्थ बलूचिस्तान से पहुँचा हो।

मोहें-जो-दड़ो के उद्योगधंधों से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ

हाथीदाँत—मोहें-जो-दड़ो में पायी जानेवाली अनेक मुद्राओं पर हाथी का चित्र अंकित है, पर यह आश्चर्य है कि सिन्धु घाटी में हाथीदाँत की बनी बहुत ही कम चीज़ें मिली हैं। लवणमिश्रित मिट्टी के प्रभाव से क्या हाथीदाँत के बने पदार्थ लुप्त होगये, यह कल्पना करना भी कठिन है। यह देखा गया है कि हाथी दाँत के पदार्थ ज़मीन के भीतर अन्य कठोर पदार्थों की अपेक्षा अधिक स्थायी रहते हैं। हाँ, यदि नमी का भी प्रभाव पड़ता रहे, तो हाथीदाँत भ्रष्ट होने लगता है।

जो कुछ भी हाथीदाँत के पदार्थ यहाँ मिले, उनसे हाथीदाँत संबंधी कारीगरी पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यह स्पष्ट है कि इन्हें किसी आरी से तराशा भी गया होगा। हाथीदाँत का उपयोग मालाओं, कंघों, धनुषों और छड़ियों में होता था, ऐसा प्रतीत होता है।

शंख—सिन्धु घाटी में शंख से बने पदार्थों का प्रचलन बहुत था। बेबीलोनिया में भी इसका शिल्प बहुत उन्नत था। शंख के बने आभरणों का प्रचार हमारे देश में अब भी काफी है। शंख सिन्धु घाटी के निकट ही मिल भी आसानी से जाता था। हाथीदाँत अपेक्षाकृत दुर्लभ पदार्थ है, इसीलिए शंख का व्यवहार अधिक था। बंगाल के शंख अलग जाति के हैं और सिन्धु घाटी में पाये गये शंख अन्य जाति के। मोहें-जो-दड़ो के शंख **फेसिओलेरिया ट्रैपेजियम, लिन** (Fasciolaria trapezium, Linn.) जाति के हैं। मोहें-जो-दड़ो में शंख का शिल्प बहुत उन्नत था। शंख के प्रत्येक भाग से ही कोई न कोई वस्तु तैयार कर ली जाती थी। किसी से चूड़ियाँ या कड़े बनते, तो किसी से हार की गुलिकाएँ तैयार होती थीं। शंख के बने पदार्थों को अन्य पदार्थों के साथ जड़ने या संयुक्त करने की कला भी अच्छी विकसित थी। पशुओं के चित्र अंकित करने में भी इनसे सहायता ली जाती थी। पत्ते, फूल की पँखुड़ियों, नेत्र की आकृति आदि की रचना में भी शंख से काम लिया जाता था।

फाएन्स और अवलेप—फाएन्स (faience) शब्द का प्रयोग लुक फेरे हुए चमकदार मिट्टी या पोर्सिलेन के बर्तनों के लिए होता है। रोमैग्ना (Romagna) के स्थान फाएन्ज़ा (Faenza) में यह धन्धा बहुत होता था, अतः इसके नाम पर ही इन बर्तनों का नाम फाएन्स पड़ा। इन पात्रों पर रंगीन चित्रकारी भी

अंकित रहती थी। मोहें-जो-दड़ो में लुक या काच-बन्धन कर्म (ग्लेज़) की कला ज्ञात थी, इसका प्रमाण वहाँ पर पाये गये छिन्न-भिन्न कुछ टुकड़ों से मिलता है। हरे, नीले, हरित-नील-श्वेत, काचीय अवलेपों से ये फाएन्स तैयार किये गये थे। इस लुक या काच-बन्धन युक्त द्रव्य से आभरण (जैसे बाजूबन्द) भी बनाये जाते थे।

सनाउल्लाह् (भारत के पुरातत्त्व विभाग के रसायनज्ञ) ने इन काचीय अवलेपों में से एक का रासायनिक विश्लेषण किया। डा० हमीद ने भी किसी घट (HR ३५७२) में प्रयुक्त अवलेपका विश्लेषण किया, इसी प्रकार एक और टुकड़े (VS १९५) के अवलेप की रासायनिक परीक्षा की। उनके फल नीचे सारणी में दिये जा रहे हैं (ये अवलेप १२००° अंश तक तपाये गये प्रतीत होते थे)

	सनाउल्लाह्	डा० हमीद HR ३५७२	VS १९५
सिलिका	८८.१२ प्रतिशत	८५.९० प्रतिशत	८४.६६ प्रतिशत
एल्यूमिना	३.२	—	—
फेरिक ऑक्साइड	१.८२	—	—
एल्यूमिना और फेरिक ऑक्साइड	—	६.७४	६.३१
कैलसियम ऑक्साइड	१.२६	—	—
क्षारीय ऑक्साइड	५.०४	—	—
चूना	—	१.७३	१.४०
मैंगनीशिया	—	०.३८	सूक्ष्म
क्षार	—	३.७०	५.४८
ताम्र ऑक्साइड	०.४६	०.४६	०.९७
जलाने की कमी	—	१.४९	१.१८
योग	९९.९	१००.४०	१००.००

डा० हमीद ने काचीय अवलेप से बनी एक मानव मूर्ति, और एक पात्र के आधार-भाग की परीक्षा की। इस परीक्षण के अंक मिस्र में पाये गये फाएन्स के अंकों से मिलते जुलते प्रतीत होते हैं। डा० हमीद का कहना है कि इन दोनों वस्तुओं का मुख्य भाग स्टीएटाइट रहा होगा और इस प्रस्तर को चूर्ण करके इसमें काचीय द्रव्य मिलाकर और तपाकर मूर्ति तथा पात्र ढाले गये होंगे। इस काचीय अवलेप या फाएन्स में जल का अनुपात बहुत कम होना इस बात को बताता है कि कितने ताप तक यह तपाया गया होगा।

	आधार भाग	मूर्ति
सिलिका	५७.९९ प्रतिशत	५७.२३ प्रतिशत
एल्यूमिना और फेरिक ऑक्साइड	४.८५	३.६९
चूना	४.३१	६.३९
मेगनीशिया	२७.२०	२८.९९
क्षार	३.५४	१.८८
ताम्र ऑक्साइड	१.०९	०.४६
जलाने पर कमी	२.०१	१.३६
योग	१००.९९	१००.००

मोहें-जो-दड़ो के काचीय मिट्टी से बने इन पदार्थों पर चटकदार सुन्दर नीला या हरा रंग वैसा नहीं मिलता, जैसा कि मिस्र देश में प्राप्त पदार्थों पर मिला है। संभव है कि इसका कारण सिन्ध देश की नमकीन मिट्टी हो, जिसके प्रभाव में चटकदार रंग कालान्तर में फीके पड़ गये।

काचबन्धन-युक्त वस्तुएँ—काचीय मिट्टी (glaze) के बने मनका, गुरिया या गुलिकाएँ ऐसी मिलीं, जो पहले तो भूल से काँच की बनी समझ ली गयीं, पर बाद को परीक्षण से पता चला कि ये दो रंगों की काचीय मिट्टी की बनी हुयी थीं—भूरी और श्वेत। ऊपर तो हलका पर्त भूरी काचीय मिट्टी का था, और भीतर श्वेत काचीय मिट्टी वहुत दूर तक थी। भूरा रंग लोहृ ऑक्साइड के कारण आया होगा। डा० हमीद ने इस गुलिका के आधारभूत द्रव्य और श्वेत काचीय मिट्टी दोनों की रासायनिक परीक्षा की। उन्होंने निम्न परिणाम निकाले हैं—

	आधारभूत द्रव्य	श्वेत काचीय मिट्टी
सिलिका	७१.१२	८६.२८
एल्यूमिना और	९.२७	} ७.७८
लोह ऑक्साइड	१०.९१	
चूना	१.७७	२.३५
मेगनीशिया	१.५५	०.६१
सोडा	} ३.७७	१.२१
पोटाश		शून्य
जलाने पर कमी	१.६९	२.०५
योग	१००.०८	१००.२८

मार्शल ने मोहें-जो-दड़ो और सिन्धु घाटी संबंधी अपने ग्रन्थ में फाएन्स, काचीय

अवलेप और काच की प्राचीनता का एक ऐतिहासिक विवरण दिया है। उनका कहना है कि वंश-परम्परा के युग से पूर्व ही फाएन्स बनाने की कला मिस्र देशवालों को ज्ञात थी। इस संबंध के जो प्राचीनतम पुरातत्त्वावशेष इस समय प्राप्त हैं, वे मिस्र देश के ही हैं। पेट्री (Petree) के मतानुसार यह युग ईसा से दस सहस्र से आठ सहस्र वर्ष पूर्व का रहा होगा। अन्य विद्वान् इस युग को ईसा से ३४०० वर्ष पूर्व का बताते हैं।

मेसोपोटामिया में भी अति प्राचीन काल से काचीय आभायुक्त मनकों और गुलिकाओं के बनाने की कला रही है। इस प्रदेश में यह धन्धा मार्शल के अनुसार ईसा से ४००० वर्ष पूर्व रहा होगा। तुर्किस्तान के स्थान अनाऊ (Anau) में भी पुराने समय की फाएन्स की बनी केवल एक गुलिका मिली है। हो सकता है कि यह बनी बनायी ही कहीं बाहर से आयी हो।

इन स्थानों की अपेक्षा सिन्धु घाटी में फाएन्स के बने पदार्थ कहीं अधिक प्रचुर मात्रा में मिले हैं। ये हरप्पा में भी उसी प्रचुरता से मिलते हैं, जैसे मोहें-जो-दड़ो में। हारग्रीव्ज़ को मध्य बलूचिस्तान के नल (Nal) स्थान पर भी काचीय मिट्टी के मनके मिले हैं। मोक्लोस (Mochlos) की खुदाई में प्राप्त मनके बताते हैं कि क्रीट (Crete) में भी फाएन्स की कला ईसा से २८००–२५०० वर्ष पूर्व ज्ञात थी।

फाएन्स की कला का आदिम श्रेय साधारणतया मिस्र देश को दिया जाता है। मेसोपोटामिया में भी यह कला प्रचलित थी। ऐसा लगता है कि यह कला मध्य पूर्व के देशों में ही मूल रूप से विकसित हुई होगी और यहाँ से ही इसका प्रचलन निकट के देशों में हुआ। लाजवर्द के बने पदार्थों का मूल्य अधिक होता था अतः काचीय मिट्टी से बने रंग-बिरंगे पदार्थ, जो सस्ते थे, शीघ्र लोकप्रिय हो गये।

फाएन्स का धन्धा तो पुराना था, पर काचीय मिट्टी के बर्तन बनाने का धन्धा उसकी अपेक्षा कुछ नया रहा। छोटे-छोटे मनके अथवा गुलिकाएँ बना लेना आसान था, पर काचीय मिट्टी के बड़े बर्तन तैयार करना कठिन था। मोहें-जो-दड़ो में ही प्राचीनतम घट ऐसे मिले हैं जो काचीय मिट्टी की आभा से युक्त तैयार किये गये। रोमन काल से पूर्व ये मिस्र देश में अज्ञात थे। रायस्नर (Reisner) के कथनानुसार नूबिया में बारहवें वंश के समय की एक कब्र में कुछ काचीय बर्तन अवश्य मिले हैं, पर मिस्र में उस समय तक ये नहीं पहुँचे थे। मेसोपोटामिया में ईसा से १००० वर्ष पूर्व ये बर्तन बनने आरंभ हुए, इससे पहले नहीं। क्रीट में तो ये मिले ही नहीं। इससे स्पष्ट है कि इन बर्तनों के तैयार करने की कला सर्व प्रथम सिन्धुघाटी या भारत में ही

विकसित हुई। बीच में वह अवश्य कुछ समय के लिए लुप्त हो गयी, पर दूसरी शती में कुशान काल में फिर जागृत हुई।

रॉस का कहना है कि परम्परागत किंवदन्ती यह है कि एनेमल के बर्तन (संभवतः काचीय मिट्टी के बर्तन) इस देश में चीन से फारस होते हुए आये। कुछ व्यक्ति तो काचीय मिट्टी के बर्तनों के आविष्कार का श्रेय चीन देश को ही देते हैं, जैसा कि पोर्सिलेन के आविष्कार का श्रेय चीन को प्राप्त है। पर यह निश्चय है कि चीन में काचीय मिट्टी के बर्तन हान-वंश (२०६ ई० पू०—२२० ई०) से पूर्व नहीं थे। इस काल से पूर्व तो इनका प्रचलन मेसोपोटामिया में था। अतः मार्शल के शब्दों में यह बात निर्विवाद है कि इनके बनाने का आदिम श्रेय सिन्धु घाटी या भारत के व्यक्तियों को है।

काचीय अवलेप—यह पदार्थ बाहर से देखने पर पारान्ध काँच के समान मालूम होता है। यह कहना कठिन है कि इसका प्रचलन किस प्रकार हुआ। मोहें-जो-दड़ो में जिस प्रचुरता से फाएन्स मिला उतनी ही प्रचुरता से यह भी। यह अवलेप अपनी दृढ़ता और घनता के लिए महत्त्वपूर्ण रहा। इच्छानुसार इसे आसानी से किसी भी आकृति का ढाला जा सकता है। इस पर कलापूर्ण चित्रकारी भी व्यक्त की जा सकती है। मेसोपोटामिया में भी यह मिला या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। अर्नेस्ट मेके (Earnest J. H. Mackay) ने मार्शल के ग्रन्थ में जो लिखा है, उससे पता चलता है कि मिस्र में अवश्य इस अवलेप से मिलता जुलता कोई काचीय अवलेप ज्ञात था। मेके का कथन है कि यह काचीय अवलेप (vitreous paste) अवश्य भारत-वर्ष का ही आविष्कार रहा होगा। यहीं से इसकी कला अन्य देशों में भी फैली। फाएन्स इसकी अपेक्षा कम विकसित माना जाता है, यद्यपि फाएन्स पर रंग अधिक सुन्दर और चटकदार चढ़ता है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

काँच—मोहें-जो-दड़ो और हरप्पा में सचमुच के काँच के बने कोई पदार्थ नहीं मिले। काचीय अवलेप और लुक वाले बर्तनों की कला के आविष्कार के अनन्तर काँच का आविष्कार कठिन तो नहीं होना चाहिए था, पर यह संयोग ही था कि काचीय अवलेप आदि ज्ञात होने पर भी सिन्धु घाटी की इस प्राचीन सभ्यता के काल में काँच का आविष्कार संभव नहीं हुआ। सबसे प्राचीन काँच तो हमें अब तक संभवतः मिस्र का प्राप्त है। वंश-परम्परा के पूर्व की एक कब्र में या द्वितीय सभ्यता के आरम्भ में हमें प्राचीनतम काँच के चिह्न मिले हैं। मेसोपोटामिया में काँच के पदार्थ ईसा से २००० वर्ष पूर्व के पाये गये। हर्ज़फेल्ड ने समर्रा (Samarra) के नगर के

मकानों में जो काँच की गुलिकाएँ पायीं वे भी संभवतः इतनी ही पुरानी हैं। मोज़ेक काँच के कुछ बर्तन मेसोपोटामिया में उस समय पाये गये जब कि मिस्र में उनका अच्छा प्रचलन था (ई० से १५०० वर्ष पूर्व)। पेलेस्टाइन में काँच १४००–१००० ई० पू० प्रचलित हुआ।

सुन्दर कार्नेलियन—कार्नेलियन के मनके या गुलिकाएँ अपने सुन्दर पारभासक लाल रंग के लिए महत्त्व की हैं। मोहें-जो-दड़ो में कई मनके इसके पाये गये। किसी-किसी मनका पर सफेद रेखाएँ भी अंकित मिली। यह सफेद रेखाएँ कैसे खींची गयी होंगी, इस संबंध में मेके ने एक लेख **जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसायटी** में (१९२५, पृ० ६८९) प्रकाशित किया।

मोहें-जो-दड़ो में कुछ पदार्थ नकली कार्नेलियन के बने हुए भी मिले। कुछ तो सफेद अवलेप (paste) के बने हैं और उन पर लाल पट्टिका या धारी है।

फ्लिट और एगेट—एगेट के बने अनेक पदार्थ मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त हुए हैं। सिन्धु घाटी के निवासी फ्लिट, एगेट, चकमक पत्थर आदि दृढ़ पत्थरों के व्यवहार से अच्छी तरह परिचित थे। इन पदार्थों का उपयोग युद्ध कर्म के अस्त्र-शस्त्रों में नहीं होता था। ये आयुध तो ताँबे और काँसे के ही बनाये जाते थे। फ्लिट का उपयोग घरेलू काम में होता था। प्रत्येक घर में कई फ्लिट बराबर मिलते रहे।

वस्त्र—मोहें-जो-दड़ो में कोई कपड़ा नहीं मिला। मिलने की संभावना भी नहीं थी, क्योंकि कपड़े का कई सहस्र वर्ष तक सुरक्षित रहना संभव भी न था। कपड़े का एक छोटा टुकड़ा जो मिला भी, उसके धागे जर्जरित हो चुके थे और छूने से ही टूटते थे।

गेहूँ—यह महत्त्व की बात है कि मोहें-जो-दड़ो में गेहूँ के कुछ झुलसे दाने मिले हैं। ये किसी टोकरी में रखे हुए थे, पर टोकरी सड़-गल गयी। परीक्षा करने पर पता चला है कि ये गेहूँ "**ट्रिटिकम कम्पेक्टम**" (Triticum compactum) जाति के हैं। कुछ गेहूँ अपेक्षाकृत मोटे थे और वे संभवतः '**ट्रिटिकम स्फीएरोकोकम**' (Triticum sphcerococcum) जाति के हैं। इन दोनों जातियों के गेहूँ पंजाब में अब भी बोये जाते हैं।

मोहें-जो-दड़ो में जो यव पाये गये हैं वे **होर्डियम वल्गेर** (Hordeum vulgare) जाति के हैं।

गेहूँ और यव मिस्र देश की पुरानी कब्र में भी मिले हैं।

मोहें-जो-दड़ो के गेहूँ में २० क्रोमोसोम हैं (यह मृदु गेहूँ है)। यह गेहूँ प्राकृतिक रूप में फारस में भी उगा मिलता है।

खजूर—मोहें-जो-दड़ो में झुलसे हुए कुछ खजूर के बीज (गुठली) भी मिले हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह सिन्धु घाटी के निवासियों का परिचित फल था।

ओषधियाँ—मोहें-जो-दड़ो के नम ढेरों के भीतर अधिकांश पदार्थ झुलसी अवस्था में ही मिलते हैं। कभी कभी तो झुलसकर यह पास की मिट्टी में हिलमिल जाते हैं और उनका पहचानना भी कठिन हो जाता है। इस स्थल पर कोयले के समान एक काला टुकड़ा मिला। इसे तोड़ा गया तो भीतर से यह चमकदार था। यह टुकड़ा पानी में घुलकर भूरे-काले रंग का विलयन देता था। पहले तो लोगों का यह अनुमान हुआ कि यह लिखने की कोई स्याही है।

भारत के पुरातत्त्व विभाग के रसायनज्ञ सनाउल्लाह ने इस काले पदार्थ की परीक्षा की और यह निश्चय किया कि यह पदार्थ शिलाजीत है, जिसका प्रयोग आजकल अनेक रोगों की चिकित्सा में किया जाता है। डा० हमीद ने इस काले पदार्थ (म) की परीक्षा की और निम्न फल प्राप्त किये (साथ में तुलना के लिए हूपर—Hooper द्वारा प्राप्त शिलाजीत संबंधी फल भी दिये जाते हैं)[1]।

	मोहें-जो-दड़ो का शिलाजीत (म)	हूपर द्वारा परीक्षित शिलाजीत		
		१	२	३
पानी	१५.९९	९.८५	१५.९०	११.१५
कार्बनिक अंश	५५.२४	५५.२०	४९.८६	५१.५५
राख	२८.७७	३४.९५	३४.२४	३७.३०
	१००.००	१००.००	१००.००	१००.००
राख—				
सिलिका	८.२३	१.३५	१.६२	१८.१०
एल्यूमिना	२.४३ }	२.२४	१.०८	६.००
फेरिक ऑक्साइड	१.४४ }			
चूना	७.३१	४.३६	३.९६	३.८६
मेगनीशिया	०.३२	१.५०	०.५२	०.१५
क्षार	९.०४	१३.१८	१४.३२	४.७८
कार्बनिक अम्ल आदि	नहीं निकाला	११.५१	१२.१३	३.६९

मोहें-जो-दड़ो में प्राप्त आभरण—हम इस स्थल पर इन आभरणों का उल्लेख केवल रसायन की दृष्टि से करेंगे। विभिन्न प्रकार के आभरण मोहें-जो-दड़ो में

१. हूपर—जर्न० एशि० सो० बं० ७२ (१९०३); ९८–१०३

पाये गये, जिनका विवरण अर्नस्ट मेके (Ernest Mackay) ने मार्शल के प्रसिद्ध ग्रन्थ **मोहें-जो-दड़ो एण्ड द इण्डस सिविलिज़ेशन**—अध्याय २६ में दिया है।

मनके, गुलिकाएँ एवं दाने—सिन्धु घाटी में ये दाने, गुरिया मनके या गुलिका (bead) कई आकृति की पायी गयी हैं—वर्तुल या बेलनाकार, चक्राकार, पीपों की आकृति की या ढोलाकार, चक्रिकाकार आदि। ये निम्न पदार्थों की बनी पायी गयी हैं—(१) काला मृदु प्रस्तर, (२) फाएन्स, (३) स्टीएटाइट, (४) कैलसाइट, (५) मृत्तिका, (६) शंख और (७) स्वर्ण की टोपियों से युक्त स्टीएटाइट। इनमें से अधिकांश आरंभ में हरे थे, पर लोह ऑक्साइड में परिवर्त्तन हो जाने के कारण कालान्तर में ये भूरे पड़ गये। चक्राकार गुलिकाएँ अवलेप की भी बनी हुई मिलीं, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। लम्बी लम्बी गुलिकाओं में छेद करने के लिए ताँबे की पतली शलाका और एमरी चूर्ण से सहायता ली गयी होगी। ये छेद भीतर की ओर एक-से चिकने हैं, अतः स्पष्ट है कि महीन घर्षण-चूर्ण का व्यवहार किया गया होगा।

मोहें-जो-दड़ो में ताँबे, काँसे और सोने-चाँदी के मनके भी पाये गये हैं। नीले फाएन्स की गुलिकाएँ भी यहाँ मिली हैं, जिनके काचीय पदार्थ का परीक्षण करने पर डा० हमीद को निम्न फल मिले—

सिलिका ८७.११, फेरिक ऑक्साइड और एल्यूमिना ४.८९, चूना २.४२, मेगनीशिया ०.३०, क्षार ३.७१, कॉपर ऑक्साइड ०.५२, जलाने में कमी १.०५ प्रतिशत।

मनकों और दानों का उपयोग गले के हार बनाने में भी किया जाता था। एक हार में कई लड़ियाँ रहती थीं। इनको पिरोने के लिए सोने, ताँबे या काँसे के धागे होते थे। लड़ियों के समन्वय के लिए "स्पेसर" (spacer) भी स्टीएटाइट, श्वेत अवलेप, कैलसाइट, फाएन्स, ताँब, सोने आदि के बनाये जाते थे। एक एक स्पेसर में दो से छः तक छेद पाये गये हैं।

सुइयाँ—मोहें-जो-दड़ो में हार तो पाये ही गये, कानों में पहनने के आभरण भी मिले। इनके साथ सोने की बनी हुई शलाकाएँ या सुइयाँ भी मिलीं। सबसे बड़ी सुई २.५ इंच लम्बी थी। इसकी नोक ०.५ इंच की और एक सिरे पर इसमें अंडाकार आँख थी। इन सूइयों से या तो सीने का काम लिया जाता होगा या जाल बनाने का।

चाँदी का प्रयोग—मैके का कहना है कि मोहें-जो-दड़ो में सोने की अपेक्षा चाँदी का अधिक प्रचलन था। पुराने समय में मिस्र और सुमेरु, दोनों देशों में चाँदी दुष्प्राप्य वस्तु समझी जाती थी। यह कहना कठिन है कि यह चाँदी मोहें-जो-दड़ो में

कहाँ से आयी अथवा इसके अयस्क किस भाँति के थे । प्रकृति में चाँदी तीन रूप में मिलती है—मुक्त धातु के रूप में, अयस्क के रूप में और सोने से संयुक्त। मोहें-जो-दड़ो में मुक्त चाँदी मिलने की संभावना कम ही रही होगी । आज भी मुक्त चाँदी वहाँ नहीं



चित्र २५–मोहें-जो-दड़ो के ताँबे और काँसे के बने पदार्थ

पायी जाती। संभव है कि चाँदी सलफाइड या क्लोराइड के रूप में सीसा, जस्ता और ताँबे के साथ रही हो, पर इन यौगिकों से चाँदी पृथक् करने का ज्ञान उस समय रहा होगा, यह कल्पना करना कठिन है। चाँदी कभी कभी सीसे से संयुक्त "आर्जेण्टिफेरस गैलीना" में भी थोड़ी बहुत पायी जाती है। मोहें-जो-दड़ो में सीसा पाया भी काफी जाता है। अत: अनुमान यही है कि आर्जेण्टिफेरस गैलीना से ही वहाँ के निवासी चाँदी तैयार करते होंगे। डा० हमीद ने मोहें-जो-दड़ों में पाये गये चाँदी के एक नमूने में सीसा की विद्यमानता के कुछ चिह्न भी पाये हैं। चाँदी के रासायनिक विश्लेषण पर डा० हमीद को निम्न फल मिले—चाँदी ९४.५२, सीसा ०.४२, ताँबा ३.६८ और अविलेय भाग ०.८५ प्रतिशत। डा० ल्यूकस ने मिस्र और मेसोपोटामिया की प्राचीन चाँदी के संबंध में भी यही कल्पना की है कि उस समय इन देशों में आर्जेण्टिफेरस गैलीना से ही चाँदी निकाली जाती थी, न कि अन्य अयस्कों से।

मोहें-जो-दड़ो के सोने में चाँदी कितनी मिली रहती थी, इस संबंध में कोई विवरण मैके के लेख में नहीं है। हलकी आभा का भी कुछ सोना मिला, जो इलेक्ट्रम (electrum) से मिलता जुलता है। ऐसा हो सकता है कि सोने को दृढ़ बनाने के निमित्त अथवा इसका मूल्य कम करने के लिए सोने में और कोई धातु मिला दी गयी हो। मिस्र देश में तो प्राकृतिक इलेक्ट्रम (जिसमें पीतल की सी चमक का सोना होता है) का भी उपयोग होता था। संभव है कि सिन्धु घाटी में भी इलेक्ट्रम का प्रचार रहा हो। इलेक्ट्रम में सोने के साथ चाँदी काफी मिली होती है। डा० हमीद ने चाँदी के विश्लेषण का जो फल बतलाया उसमें सोना नाम मात्र को भी न था, अत: यह अनुमान करना कि इलेक्ट्रम से सिन्धु घाटी वाले लोग चाँदी प्राप्त करते थे, कठिन है। इन सब बातों को देखते हुए यही संभावना अधिक ठीक प्रतीत होती है कि आर्जेण्टिफेरस गैलीना से ही सिन्धु घाटी वाले चाँदी प्राप्त करते रहे होंगे।

अँगूठी, कान की बाली और नथ—अँगूठियाँ चाँदी की बनी अधिक मिली हैं, कुछ तो शंख, ताँबे और काँसे की भी थीं। कानों की बाली बहुत कम मिलती हैं। संभव है, इसलिए कि अन्त्येष्टि कर्म करते समय वे शरीर से उतारी नहीं जाती थीं। जो कुछ थोड़े नमूने बालियों के मिले हैं, वे सादे हैं, ताँबे के तारों को लपेट कर और ग्रन्थि देकर ही ये बालियाँ तैयार की गयीं। नाक और कान की कीलें सोने की भी मिली हैं।

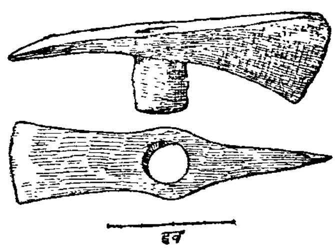
बाजूबन्द और कंकण—मोहें-जो-दड़ो में सोने के बने कंकण भी पाये गये हैं तथा ताँबे और काँसे के भी। फाएन्स के बने कंकण तैयार करने में कला अधिक प्रदर्शित की गयी। पकी हुई मिट्टी के भी कंकण मिले हैं। ये बाहर से गहरे भूरे या काले

हैं और भीतर से हलके धूसर। ये अधिक टूटी हुई अवस्था में ही मिले हैं। सना-उल्लाह ने इन कंकणों की मिट्टी की परीक्षा कर निम्न फल बतलाया है—

सिलिका	५४.२८	मेगनीशिया	४.३९
एल्यूमिना	१९.६३	क्षार	३.४३
फेरिक ऑक्साइड	शून्य	पानी	शून्य
फेरस ऑक्साइड	८.७०	कार्बोनिक अम्ल	शून्य
मैंगनीज़ ऑक्साइड	०.१३	फासफोरिक अम्ल	शून्य
चूना	९.६३	योग	१००.१९

कंघे और बटन—कंघे बालों को संयत रखने के लिए लगाये जाते थे। पुरुष और स्त्री दोनों ही कंघों का व्यवहार करते थे। कंघे भग्न अवस्था में ही अधिकतर मिले हैं।

ताँबे के बने ०.७ इंच व्यास के कुछ पिंड मिले हैं, जो संभवतः सिन्धु घाटी के प्राचीन निवासियों के बटन रहे हों। फाएन्स के बने बटन नीले या हरे रंग के भी मिले हैं। इनके आधार भाग में एक आँख होती थी, जिसके द्वारा ये कपड़े के साथ टाँके जाते थे।



चित्र २६—मोहें-जो-दड़ो की ताँबे की कुल्हाड़ी।

मोहें-जो-दड़ो के ताम्र और कांस्य—मोहम्मद सना उल्लाह ने मोहें-जो-दड़ो के ताम्र और काँस्यों की रासायनिक परीक्षा की है। उन्होंने जो फल प्राप्त किया वह निम्न सारणी में अंकित है।

		ताम्र	वंग	एंटिमनी	आर्सेनिक	लौह	निकेल	सीसा	गन्धक	ऑक्सीजन
१.	ताम्र पिण्ड	९६.६७	०.००	०.८८	०.१५	०.०३	१.३७	०.०२	०.९८	—
२.	ताम्र पिण्ड	९७.०७	०.००	सूक्ष्म	०.९८	०.४९	०.३१	सूक्ष्म	१.१५	—
३.	ताम्र पिण्ड	९२.४९	०.३७	सूक्ष्म	१.३०	१.५१	१.०६	सूक्ष्म	२.२६	१.०१
४.	ताम्र बसूली	९२.४१	०.००	०.१०	३.४२	०.५९	०.१५	३.२८	०.०५	—
५.	काँसे की छड़	९१.९०	४.५१	१.१५	१.९६	०.१५	—	०.१७	०.१६	—
६.	काँसे का बटन	८८.५०	८.२२	२.६०	सूक्ष्म	०.२९	सूक्ष्म	०.००	०.८४	—
७.	काँसे की बसूली	८६.२२	१२.३८	०.३५	—	०.३५	०.००	०.७०	—	—
८.	काँसे की सिल्ली	८२.७१	१३.२१	०.३३	१.१७	०.४२	०.५६	०.११	०.००	१.४९
९.	काँसे का पिंड	८३ ९२	१२.१३	सूक्ष्म	०.००	०.००	०.१७	०.१७	०.००	३.६१

मोहें-जो-दड़ो में चार प्रकार के ताँबे पाये गये हैं—कच्चा ताँबा, सुसंस्कृत ताँबा, ताम्र-आर्सेनिक मिश्र धातु और ताम्र वंग मिश्र धातु अथवा कांस्य।

मोहें-जो-दड़ो की मृत्तिकाएँ—मोहम्मद सनाउल्लाह और डा० हमीद ने पकी हुई मृत्तिका के कुछ पिंडों के जो मोहें-जो-दड़ो में पाये गये रासायनिक विश्लेषणांक दिये हैं। वे नीचे की सारणी में ये दिये जा रहे हैं।

	सिलिका	एल्यूमिना	फेरिक ऑक्साइड	फेरस ऑक्साइड	मैंगनीज़ऑक्साइड	चूना	मैगनीशिया	क्षार	ताम्र ऑक्साइड	जल
काली चूड़ी	५४.२८	१९.६३	—	८.७०	०.१३	९.६३	४.३९	३.४३	—	—
हरा भाण्ड	५२.३९	१७.०३	५.३०	२.२९	—	१५.७८	४.४५	१.७१	—	१.०५
फाएन्स (नीलहरित)	८९.७६	३.८६	०.९३	—	—	०.८८	सूक्ष्म	४.०७	०.५०	—
फाएन्स चूड़ी	८८.१२	३.०२	१.८२	—	—	१.२६	—	०.४५ Na_2O K_2O	०.४६	—
फाएन्स नलिकाकार-गुलिका (चोकलेट)	९१.०७	२.४४	१.१५	—	सूक्ष्म	१.२८	सूक्ष्म	०.६५ २.०८	१.९८	—
स्टीएटाइट चक्रिका	५७.९९	४.८५	—	—	—	४.३१	२७.२०	३.५४	१.०९	२.०१
फाएन्स मूर्ति	५७.२३	३.६९	—	—	—	६.३९	२८.९९	१.८८	०.४६	१.३६
स्टीएटाइट गुलिका	६५.६५	—	—	—	—	—	३३.८०	—	—	१.०९

चूना और प्लास्टर—सनाउल्लाह और डा० हमीद ने अनेक स्थलों के चूने और प्लास्टरों की रासायनिक परीक्षा की। उनका फल नीचे अंकित है—

	जिप्सम	चूने का कार्बोनेट	बालू	क्षारीय लवण	जल
दीवार का	७४.१२	२.५०	२०.४१	१.१८	१.७९
दीवार का	६३.२५	०.६६	३१.६१	३.४७	१.०१
तालाब का	४३.७५	१३.७८	३८.०४	२.४७	१.९६
नाली का	५६.७३	२४.८७	१६.६४	—	१.७६
कुंड का	शून्य	६९.५८	२१.७१	५.४४	३.२७
नाली और सेसपिटका	शून्य	३९.९६ मैग.का.८.८२	४६.७४ —	०.७४ —	३.७४ —

हरप्पा

मोहें-जो-दड़ो के समान ही हरप्पा के भग्नावशेषों की प्राचीनता है। यह पंजाब के माँटगोमरी जिले में है, जो अब पाकिस्तान का अंश है। धाया के महान् कटक के उत्तरी तट पर दो सुखरावाओं के संगम पर हरप्पा बसा हुआ है (सुखरावा का अभिप्राय रावी नदी की शुष्क तलहटियों से है)। इसके उत्तरी अक्षांश ३०°३८' और पूर्वी देशान्तर ७२°५२' हैं। उत्तर-पश्चिमी रेलवे के हरप्पा रोड नामक स्टेशन से यह ४ मील की दूरी पर है। माँटगोमरी नगर से वह १५ मील दूर है। हरप्पा के प्राचीन ढेरों का उल्लेख कनिंघम ने १८७२–७३ के अपने विवरण में किया। सन् १९२० से इस सम्पत्ति का अधिकार पुरातत्त्व विभाग को मिल गया। धाया भूमि में शोरा बहुत है, केवल दो चार जंगली घासों के सिवा यहाँ कोई हरी वनस्पति नहीं हो पाती (यहाँ केवल फरश, करील, वन, जन्द और जंगली बेर मिलेंगे)। यहाँ प्रति वर्ष औसत १०–१५ इंच तक केवल वर्षा होती है। हरप्पा के विभिन्न ढेर उस सभ्यता के द्योतक सिद्ध हुए हैं जो ईसा से ३००० से लेकर ४००० वर्ष तक के पूर्व की अवश्य पुरानी है। हरप्पा के भग्नावशेषों का बहुत विस्तृत विवरण भारतीय शासन की ओर से सन् १९४० में माधवस्वरूप वत्स के संपादन में **एक्सकेवेशन्स एट् हरप्पा** (हरप्पा की खुदाई) के नाम से प्रकाशित हुए।

हरप्पा में सम्पन्न व्यक्तियों के मकान पक्की ईंटों के थे, पर गरीब साधारण जनता अपने मकान मिट्टी-गारे के अथवा कच्ची ईंटों के बनाती थी। जुड़ाई के काम के लिए अधिकतर मिट्टी के गारे का ही उपयोग होता था, पर कहीं कहीं जिप्सम का प्रयोग भी "प्वाइंटिंग" के लिए किया गया है। फर्श भी या तो कच्चे बनते थे अथवा पड़ी या खड़ी चिनी हुई ईंटों के। स्नानागारों के फर्श ईंटों को अच्छी तरह चिकनाकर कलापूर्ण ढंग से बनाये जाते थे। पक्की ईंटों की बनी खुली या बन्द नालियाँ भी हरप्पा में उसी प्रकार पायी गयी हैं, जैसी मोहें-जो-दड़ो में। नालियों के किनारे पर कूड़ा फेंकने के पक्के स्थान भी बने हुए मिलते हैं। मोहें-जो-दड़ो की अपेक्षा हरप्पा में कुएँ कम मिले हैं (केवल छः और वे एक दूसरे से काफी दूरी पर हैं)। इनके व्यास १ फुट १० इंच से लेकर ७ फुट तक के हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हरप्पानिवासी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति रावी नदी के जल से कर लेते थे, केवल खाना बनाने या पीने का पानी इन कुओं से लेते होंगे। इन कुओं पर जनता के हितार्थ पयःशाला (प्याऊ) का भी प्रबन्ध था, जहाँ लोगों को मुफ्त में पीने का पानी मिलता था। हरप्पा की खुदाई में एक बड़े भवन का पता लगा जहाँ अन्न का भण्डार सुरक्षित रखा जाता था। इसकी खोदाई

रायबहादुर दयाराम साहनी ने १९२१ में आरंभ की । हरप्पा की ईंटें ११ इंच लंबी, ५$\frac{१}{२}$ इंच चौड़ी और २$\frac{३}{४}$ से ३ इंच तक मोटी होती थीं ।

हरप्पा में सोने के आभरण, सोना और चाँदी से मिश्रित बनी तश्तरी, सोने के दानों से बने कड़े, कार्नेलियन के बने हार, पक्के स्टीएटाइट के हार, फाएन्स के दाने, मोहरें, मुद्राएँ और इसी प्रकार के विविध पदार्थ मिले हैं। यह तो स्पष्ट है कि चाँदी और सोने का काम हरप्पा में कुशलता से होता था। लाल सिकता-प्रस्तर की बनी नग्न नर-मूर्त्ति भी यहाँ मिली । इससे स्पष्ट है कि पत्थर का काम भी यहाँ बहुत उन्नत था। जो कला बाद को यूनान में विस्तार से प्रचलित हुई वह हरप्पा में ईसा से ३००० वर्ष पूर्व ही विद्यमान थी। हाथीदाँत और शंख के बने पदार्थ भी हरप्पा की खुदाई में मिले हैं। शंख की बनी एक चम्मच भी मिली (१$\frac{७}{८}$ × १$\frac{५}{८}$ इंच आकार की)।

हरप्पा में तरह तरह के मिट्टी के भाण्ड भी मिले हैं,—घड़े, कटोरे, हाँडी, प्याले, प्याली, लोटा आदि।

एक स्थल पर भूमि के भीतर धँसे हुए झुलसे तिल और झुलसे हुए कुछ गेहूँ भी मिले हैं। ये गेहूँ सम्भवतः "ट्रिटिकम कम्पैक्टम" (Triticum compactum) जाति के हैं । जौ भी हरप्पा में पाये गये हैं। हरप्पा में हरताल (पीले आर्सेनिक) का एक टुकड़ा भी मिला है, जिसका उपयोग औषध के रूप में या विष के रूप में किया जाता रहा होगा । इसका उपयोग ताँबे में कठोरता लाने के काम में भी होता होगा । ताँबे का एक घट हरप्पा में काफी अच्छी सुरक्षित अवस्था में पाया गया है ।

काँसे और ताँबे के बने अस्त्र और औज़ार भी हरप्पा में काफी मिले हैं। कुल्हाड़ी या परशु इनमें मुख्य हैं । गदाएँ, बर्छियाँ, हँसिया, आरी, छुरा, कुट्टी के काम का औज़ार, तीर के मुख इनमें उल्लेखनीय हैं। हरप्पा की सुइयों में नोक के पास आँख होती थी और संभवतः दो धागों से टँकाई की जाती थी । ४, ३.९३ और ३.८५ इंच लंबी पिनें या काँटे भी धातु के बने पाये गये। ये दोनों सिरों पर नुकीले थे ।

एक घट में ताँबे के कुछ टुकड़े और एक पिंड लोलिंगाइट (lollingite) का मिला, जो लोहे का आर्सेनाइड निकला । काँसे के एक टुकड़े में ८ प्रतिशत वंग (राँगा) था, शेष ताँबा । एक छुरा लगभग शुद्ध ताँबे का (९८% ताँबा) था। ताँबे की बनी एक छोटी-सी रथ की मूर्ति भी मिली (२ इंच ऊँची), जिसमें रथ चलाने-वाले की आकृति भी अंकित है । फाएन्स, हार्नब्लेण्ड (वह खनिज जिसमें मैगनीशिया और चूना के सिलिकेट हों) और कैलसिडोनी (रंग-बिरंगे क्वार्ट्ज) के बने पदार्थ भी हरप्पा में काफी मिले हैं।



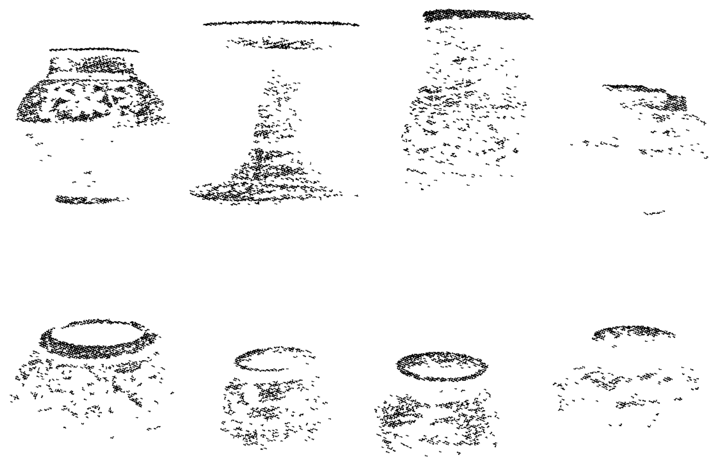
चित्र २७—हरप्पा के श्मशान पात्र (शव-समाधि), पृ० ७६३

श्मशानभूमि हरप्पा की एक विशेषता है, जो उस समय की अन्त्येष्टि-क्रियाओं पर अच्छा प्रकाश डालती है। कब्र की मिट्टी, जिसमें मनुष्य का शरीर गल गया था, रासायनिक परीक्षा करने पर इस प्रकार की पायी गयी (डा० एम० ए० हमीद)—जल १.०९, जिप्सम ०.२९, सोडियम क्लोराइड और अन्य लवण ०.२९, चूना ४.२२, मैगनीशिया ०.५७, कार्बन डाइ-ऑक्साइड २.९८, फॉस्फोरिक एनहाइड्राइड ०.९९, फेरिक ऑक्साइड और ऐल्यूमिना ७७.१४, अविलेय अंश ७७.१४, कार्बनिक पदार्थ २.७० प्रतिशत; योग ९९.८०। अन्त्येष्टि क्रिया के अनन्तर बची हुई अस्थियों को घड़े में संग्रह करके ज़मीन में गाड़ देने की (अथवा नदी में प्रवाह कर देने की) प्रथा रही होगी। अन्त्येष्टि संबंधी अनेक घट अस्थियों सहित हरप्पा की खुदाई में मिले हैं। इन घटों के ऊपर सुन्दर चित्रकारी भी पायी गयी है। कुछ घटों में पशुओं, पक्षियों और मछलियों की भी हड्डियाँ मिली हैं। घटों में इनके अतिरिक्त खिलौने, आभरण, राख, विभक्त अन्न के दाने, कोयला आदि भी मिले हैं।

मोहें-जो-दड़ो में जिस प्रकार के बरतन मिले हैं, उसी प्रकार के हरप्पा में, फिर भी हरप्पा में कुछ ऐसे विशेष पात्र भी पाये गये हैं जो मोहें-जो-दड़ो में नहीं मिले। हरप्पा के भाण्ड भी मोहें-जो-दड़ो-भाण्डों के समान हलके लाल रंग के हैं। वे जिस मिट्टी से बने हैं, उसमें चूना या बालू या दोनों ही मिले हुए हैं। १०.३ इंच से लेकर २१.५ इंच तक के व्यास की थालियाँ मिली हैं, जिनके भीतर का भाग काफी चिकना है, यद्यपि बाहर से इनमें उतनी सफाई नहीं है। पूजा के भी पात्र पाये गये हैं। तेल और मूल्यवान् पदार्थ रखने के भाण्ड संभवत: वे हैं जो छोटे और तंग मुँह के हैं। सुगन्धित तेल रखने के लिए भी इसी प्रकार के उपयुक्त मापों के भाण्ड हैं। बहुत से भाण्ड ऐसे मिले हैं जिनके तल्ले में बहुत से छेद हैं। ये पक्की मिट्टी के हैं। इनका उपयोग अँगीठी या "हीटर" के रूप में (अर्थात् गरम करने के काम में) होता रहा होगा। इनमें से एक की ऊँचाई १९ इंच की, व्यास ६.२ इंच का और दीवार की मोटाई ०.२५ इंच की थी। मिट्टी के बने कूँडे भी पाये गये हैं।

मोहें-जो-दड़ो के भाण्डों पर लेख या मोहरें नहीं हैं, पर हरप्पा के अनेक भाण्डों पर इनका प्रचलन सामान्य प्रतीत होता है। पानी रखने की सुराही या गिलास भी बहुत से मिले हैं। भाण्डों पर चित्रकारी जैसी हरप्पा वालों में है, वैसी ही मोहें-जो-दड़ो वालों में भी। कुछ चित्र पशुओं और मनुष्यों के भी हैं। गर्भवती नारी, रोटी ले जाती हुई नारी, बच्चों को दूध पिलाती हुई नारी, सिर में फूलों से अलंकृत नारी, आटा गूँधती हुई नारी आदि के सुन्दर चित्र इन भाण्डों पर मिलते हैं। पशु-पक्षियों के चित्रों में तोता,

उल्लू, कबूतर, मुरगा, मुरगी, मोर, बतख, मछली, कछुआ, मगर, साँप, बन्दर, गिलहरी, सुअर, बकरा, भेड़, खरगोश, कुत्ता, बिल्ली, बैल, हाथी, शेर आदि अनेक प्राणियों के



चित्र २८–हरप्पा के रंगीन भाण्ड।

चित्र हैं। ये चित्र फाएन्स, शंख और पक्व स्टीएटाइट से भी बनाये गये हैं। मोहरों के ऊपर भी प्राणियों के चित्र पाये जाते हैं।

पत्थर के बने भाण्ड मोहें-जो-दड़ो में भी कम हैं और हरप्पा में उससे भी कम। हरप्पा में तौलने के उपयोग के बाट तो बहुत ही पाये गये हैं। इनमें कुछ घनाकृति के हैं, कुछ ढोल की आकृति के, कुछ दण्डाकृति के, कुछ गोल और कुछ शंकु की आकृति के। यहाँ पाये जानेवाले घनाकृतिक बाटों में सबसे छोटा ०.३×०.३×०.२५ इंच माप का है। मोहें-जो-दड़ो में पाया गया सबसे छोटा बाट भी इसी माप का है। हरप्पा का सबसे बड़ा बाट ४.३×४.३×३.२ इंच माप का है, किन्तु मोहें-जो-दड़ो में सबसे बड़ा बाट ६.८×६.०×३.८ इंच का मिला है। ये बाट अधिकतर चर्ट (chert) अर्थात् फ्लिंट या केलसिडोनी के समान एक पत्थर से बनाये जाते थे। इनकी तौलें २६५२.८ ग्राम, २७०३.९ ग्राम, ४९.७५ ग्राम और २७.६५ ग्राम पायी गयीं। ढोल-

नुमा बाट १.७५ इंच से लेकर ४.१५ इंच लम्बे और मध्य भाग में ०.३५ से लेकर १ इंच तक व्यास के पाये गये हैं। ये धूसर रंग के पत्थर या स्लेट के बने हुए एवं सम-संगतिक और चिकने हैं। हार्न ब्लैण्ड का बना हुआ बाट भी मिला है। इन बाटों की तौल ६१.३ ग्राम, १३०.२ ग्राम, १२८.१५ ग्राम, ७.६५ ग्राम, ८०.६५ ग्राम, ३७.५ ग्राम, २५.५ ग्राम मिली है। कुछ दण्डाकार या बेलनाकार बाट गहरे धूसर चर्ट के बने हुए हैं। इनमें से एक की माप ०.४३ इंच ऊँचाई, ०.६ इंच व्यास दोनों सिरों पर और तौल ६.४५ ग्राम पायी गयी। केवल एक बाट शंकु की आकृति का मिला जो ऊँचाई में १.२ इंच और आधार पर १.३ इंच व्यास का था। इसकी तौल ५३.६ ग्राम थी।

हरप्पा में काँसे का बना एक छड़ भी मिला, जिसमें ९ निशान बराबर-बराबर दूरी पर बने हुए हैं। दो निशानों के बीच में ०.२६४ इंच की दूरी है। मोहम्मद सनाउल्लाह का कहना है कि यह लम्बाई नापने का दण्ड है। हरप्पा में एक और मापदण्ड मिला जो भग्नावस्था में था। यह १.५ इंच लंबा और दोनों किनारों पर टूटा हुआ था। इस पर केवल चार निशान लगे हुए मिले—०.९६०, ०.९०५, ०.९४५ और ०.९२५ सेंटीमीटर (औसत ०.९३४ सें० मी०=०.३६७६ इंच) दूरियों पर।

हरप्पा की ताम्र और मिश्र धातुएँ—हरप्पा में दैनिक व्यवहार के बहुत से धातु-पात्र मिले हैं। इनकी धातुओं की रासायनिक परीक्षा मोहम्मद सनाउल्लाह ने की। इनका परीक्षाफल नीचे सारणी में दिया जा रहा है।

	ताँबा	बंग	एंटिमनी	आर्सेनिक	सीसा	निकेल	लोहा	गंधक	
१. बरछे का शीर्ष	९७.६६	०.३३	—	०.०६	०.७०	०.१४	१.१	—	पू० उ०
२. आरी	९८.१२	०.३३	—	०.६५	०.१०	०.३९	०.४१	—	अ० धा०
३. कुंतल शीर्ष	९८.६९	०.१०	—	०.६८	सूक्ष्म	०.४०	०.१३	—	अ० धा०
४. मुड़ा हुआ पत्र	९७.६९	०.१५	सूक्ष्म	१.१९	०.८५	०.०५	०.०७	—	अ० धा०
५. सूई	९२.५५	०.२९	—	२.९६	३.७२	०.२१	०.२०	०.०७	अ० धा०
६. कटार	९०.०५	०.००	—	६.५८	२.८०	०.१८	०.३९	—	अ० धा०
७. छैनी (तक्षणी)	९४.९२	३.६०	—	०.६०	०.२०	०.२९	०.३९	—	अ० धा०
८. कटार	९१.८७	६.४२	—	०.२६	०.९८	सूक्ष्म	०.४७	—	पू० उ०
९. आरा	८८.३८	९.१६	०.४२	०.४०	०.१०	०.१७	१.३७	—	पू० उ०
१०. छैनी	८७.४२	१०.४५	—	१.१०	०.५२	०.१७	०.३४	—	अ० धा०

(संकेत—पू० उ०=पूर्णतया उपचित, अ० धा०=अपरिवर्तित धातु)

सिंधु घाटी में प्राप्त धातुओं के ४८ पिंडों की परीक्षा करने पर उनमें आर्सेनिक, निकेल और सीसे की विद्यमानता की निम्न सीमाएँ पायी गयीं —

	प्रतिशत	प्रतिशत
आर्सेनिक	१९ में ०–०.३	५ में ०.३–०.५
	१० में ०.५–१.०	७ में १–२
	७ में २–७	
निकेल	२२ में ०–०.२	१८ में ०.२–०.५
	६ में ०.५–१.०	२ में १.०–१.५
सीसा	१५ में—शून्य	१४ में ०–०.५
	१२ में ०.५–१	४ में १–३
	२ में ३–५	१ में ३२

हरप्पा का अधिकांश ताँबा राजस्थान से प्राप्त किया गया होगा, क्योंकि ताँबे की अन्य खानों की अपेक्षा यह हरप्पा से निकट भी है। निकेल और आर्सेनिक की दृष्टि से भी यहीं का ताँबा हरप्पा में पहुँचा हुआ प्रतीत होता है। राँगा या वंग हरप्पा में उत्तरी ईरान की खुरासान और कारादाग खानों से गया होगा। हज़ारीबाग में भी हो सकता है कि प्राचीन समय में काफी राँगा रहा हो और कुछ वहाँ से भी हरप्पा में पहुँचा हो।

ताँबे के बने भाण्डों और वस्तुओं में वंग, आर्सेनिक, एंटिमनी, सीसा, निकेल और लोहा पाया जाता है, यह केवल अपद्रव्य के नाते है। जान-बूझकर किसी विशेष उद्देश्य से यह नहीं मिलाया गया था। पर इन अपद्रव्यों का स्पष्ट प्रभाव धातु की रचना पर पड़ता है। १–३ प्रतिशत तक वंग मिल जाने पर ताँबे में बहुत कुछ कठोरता और दृढ़ता आ जाती है। इसलिए वंग मिले ताँबे से कटार, चाकू, बरछा आदि बनाना अच्छा रहता है। इसी प्रकार जिस काँसे में ८–११ प्रतिशत तक राँगा मिला हो, वह दृढ़ता आदि गुणों में सर्वोत्तम प्रतीत होता है। सिन्धु घाटी के निवासियों को राँगे के प्रभावों का अच्छा अनुभव रहा होगा और उन्होंने अपनी मिश्र धातुओं में राँगा सदा उचित ही परिमाण में मिलाया। काँसे की ४८ वस्तुओं में राँगे का वितरण इस प्रकार मिला—

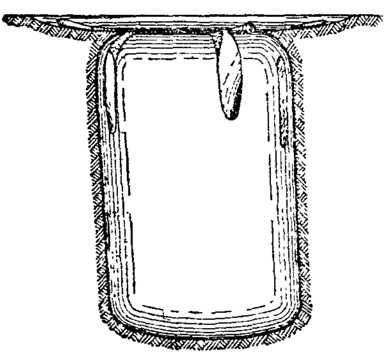
२८ में ०–१ प्रतिशत	३ में १–४ प्रतिशत
७ में ४–८ ,,	६ में ८–११ ,,
४ में ११–१४ ,,	

सिन्धु घाटी के निवासी झालना भी जानते थे या नहीं इसके स्पष्ट प्रमाण तो नहीं मिले, पर संभावना ऐसी ही दीखती है कि वे अवश्य इससे परिचित रहे होंगे।

वंग या राँगा भारतवर्ष में अधिक नहीं है, इसलिए इसके उपयोग में सदा कठिनाई रही होगी। इसका मिलना खर्चीला भी रहा, अतः जहाँ तक बन पड़ता था, हरप्पा के निवासी बिना वंग के ही काम चलाते थे।

गवर्नमेंट टेस्ट हाउस, अलीपुर में हरप्पा के दो कांस्यों की रासायनिक परीक्षा की गयी, जिसका प्रतिशत फल इस प्रकार प्राप्त हुआ--

	कांस्य १ (छेनी)	कांस्य २ (सेल्ट)
ताम्र	८७.४२	९१.१०
वंग	१०.४५	७.८५
आर्सेनिक	१.१०	०.४२
सीसा	०.५२	सूक्ष्म
निकेल	०.१७	०.२२
लोहा	०.३४	०.४१



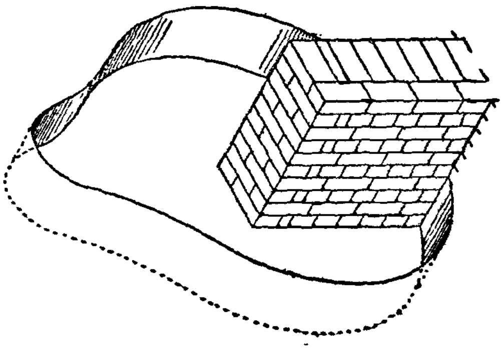
चित्र २९--हरप्पा की घटभट्ठी।

हरप्पा की भट्ठियाँ--एक स्थान पर (माउण्ड F, ट्रेन्च IV) हरप्पा में १६ भट्ठियाँ मिलीं। यद्यपि इनमें से कोई अपनी मूल अवस्था में नहीं है, फिर भी इनकी टूटी हुई अवस्था को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि ये कैसी रही होंगी। भट्ठियाँ तीन प्रकार की प्रतीत होती हैं --

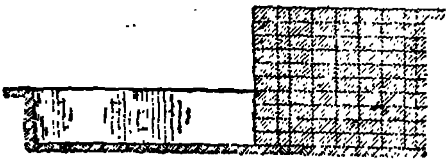
(१) गोल घड़े के भाग को लेकर बनायी गयी,

(२) जमीन में गहरे सीधे गड्ढे खोदकर (ईंटों की चुनाई से युक्त अथवा बिना ईंटों की),

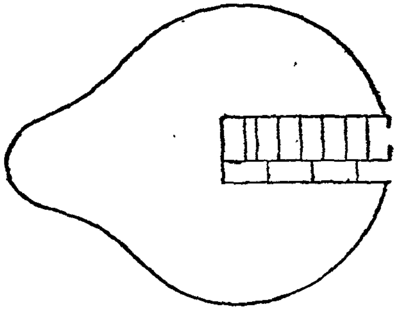
(३) नाशपाती के आकार के गड्ढे खोदकर (ईंटों से युक्त अथवा बिना ईंटों की)।



चित्र ३० क—सममापी दृश्य

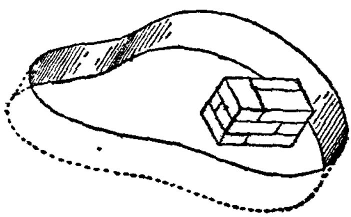


चित्र ३० ख—एक ओर की काट

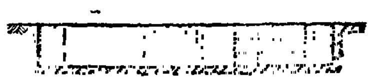


चित्र ३० ग—नकशा

चित्र ३०—एक प्रकार की भट्ठी

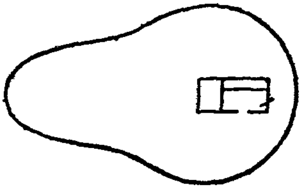


चित्र ३१ क—सममापी दृश्य

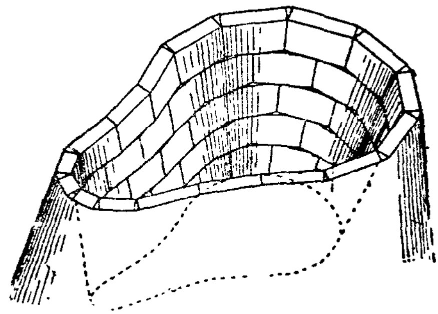


चित्र ३१ ख— एक ओर की काट

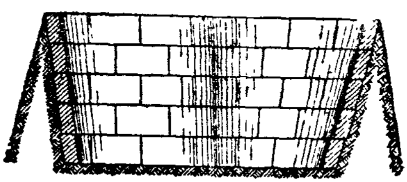
चित्र ३१—दूसरे प्रकार की भट्ठी (पृ० ७६९ पर ३१ ग)



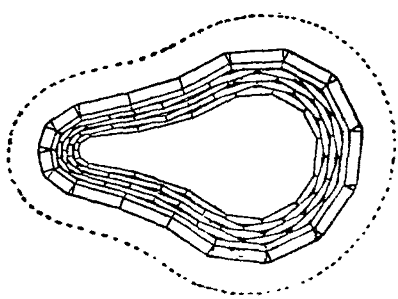
चित्र ३१ ग—नकशा



चित्र ३२ क—सममापी दृश्य



चित्र ३२ ख—एक ओर की काट



चित्र ३२ ग—नकशा

चित्र ३२—ईंटे चुनी हुई भट्ठी

चन्हुदड़ों

सिन्ध के नवाबशाह ज़िले में सकरन्द के निकट जमल किरिओ गाँव से आधा मील दक्षिण की ओर चन्हुदड़ो है। यह नाम संभवतः दो बहिनों के नाम पर पड़ा है—चन्हियुँ और बोहियुँ। सिन्ध में "दड़ो" का अर्थ "स्थान" होता है। आजकल तो सिन्ध नदी इस स्थान से १२ मील दूरी पर है,पर ईसा से३०००वर्ष पूर्व यह स्वयं या तो इस नगर के पास ही बहती होगी, या इसकी कोई शाखा अवश्य इसके पास होगी। इन नदियों की बाढ़ ने कई बार इस नगर को त्रस्त किया। सन् १९३१ में अमेरिका के पुरातत्त्व दल के सहयोग से इस स्थान पर खुदाई आरम्भ की गयी। इस स्थल पर जो विवरण प्राप्त हुए, वे अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी की ओर से **चन्हुदड़ो एक्स-**

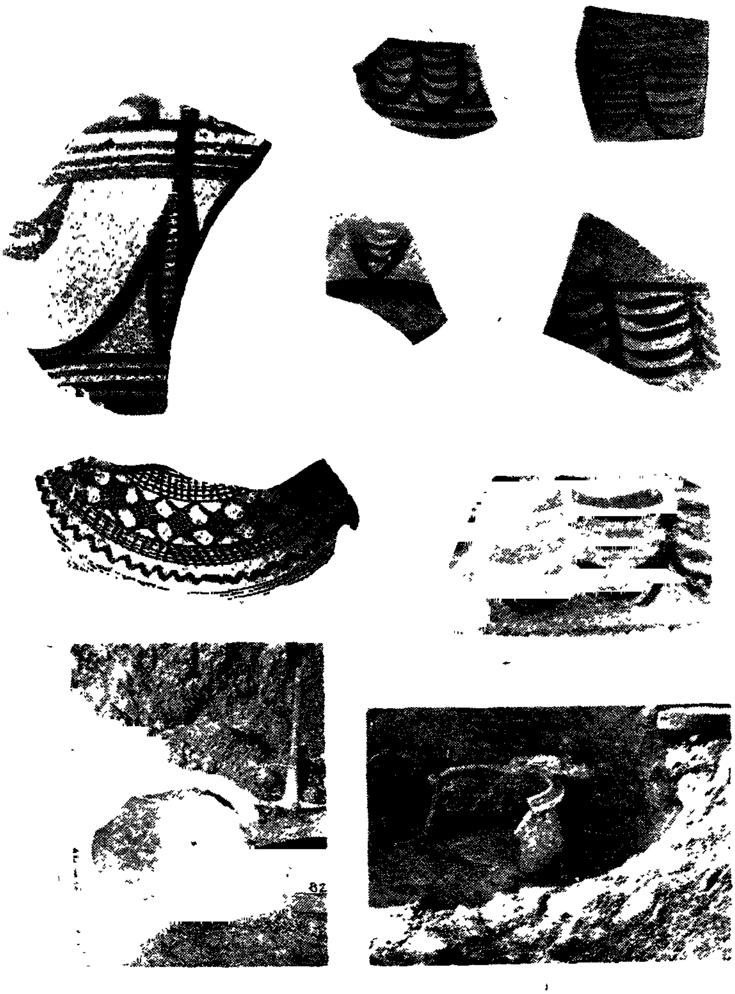
केवेशन्स (१९३५–१९३६) नाम से १९४३ ई० में अर्नेस्ट मेके के संपादन में प्रकाशित हुए। चन्हुदड़ो में हरप्पा से मिलती जुलती संस्कृति के पुरातन चिह्न पाये गये हैं।

चन्हुदड़ो के भाण्ड—ऐसा प्रतीत होता है कि चन्हुदड़ो के कुम्हारों ने बरतन बनाने के लिए उसी प्रकार की मिट्टी का उपयोग किया, जिस प्रकार की मिट्टी मोहें-जो-दड़ो में इस काम के निमित्त ली गयी थी। नदी के किनारे की मिट्टी ली गयी, जिसमें बालू, अभ्रक और चूना भी थोड़ा सा उपयुक्त मात्रा में मिला लिया गया था। अभ्रक तो सिन्ध की बालू में प्राकृतिक रूप से मिलता है, पर चूना उद्देश्य के अनुसार ऊपर से मिलाया गया प्रतीत होता है। चूने के कण इन भाण्डों पर कहीं कहीं फूल आये हैं। यहाँ के बरतन अधिकांश धूसर वर्ण के हैं। यह वर्ण या तो मिट्टी में पकाने के अनन्तर स्वयं ही व्यक्त हो गया होगा अथवा इसे लाने के लिए मिट्टी में कोई मसाला मिलाया गया होगा।

चन्हुदड़ो के भाण्डों पर रंगीन चित्रकारी है। कुछ रंग तो कुम्हार ने उसी समय भाण्ड पर लगाये होंगे, जब वे चाक पर थे, पर कुछ रंग बाद के होंगे। सभी भाण्ड उपयुक्त मात्रा में पके मिलते हैं। ऐसे नहीं हैं जो अधिक पक जाने के कारण काले पड़ गये हों। इससे स्पष्ट है कि कुम्हार अपनी कला अच्छी तरह जानते थे और भट्ठी की आँच को किस प्रकार नियमित रखें, इसका उन्हें अनुभव था। आग में पकाने के पूर्व हाँडियों में किनारे अच्छी सावधानी से बनाये और गोंठे गये थे। इस कार्य के लिए किसी औजार का उपयोग भी किया गया होगा। फूटे भाण्डों के किनारों को घिसकर फिर से चिकना लेने की भी प्रथा थी, जिससे उस भाण्ड का आगे भी उपयोग हो सके। इन भाण्डों के किनारों पर लटकाने की डोरी बाँधने के लिए कहीं-कहीं छेद भी पाये गये हैं। धार्मिक कृत्यों के निमित्त कुछ विशेष प्रकार के भाण्ड (जैसे शंक्वाकार लम्बा प्याला) भी तैयार किये जाते थे, ऐसा अनुमान है।

भाण्डों पर हिरन, बारहसिंगा, बकरा, खरगोश, साँप, मछली, चिड़ियाँ, मोर, कीट, पेड़-पौधे आदि के चित्र अंकित किये जाते थे। गुलिकाओं और ताबीजों पर स्वस्तिक चिह्न भी मिला है।

हरप्पा भाण्डों से कुछ भिन्न भाण्ड भी मिले, जिनका नाम मैके ने झूकर-भाण्ड (Jhukar wares) रखा है। झूकर भाण्डों पर अधिकतर लाल और काले दो रंगों की चित्रकारी होती है। हरप्पा के भाण्ड एक रंग के होते हैं। झूकर भाण्डों की आकृति और रूपरेखा भी हरप्पा भाण्डों से भिन्न है। झूकर भाण्ड हरप्पा



चित्र ३३–झूकर भाण्ड पर चित्रकारी, पृ० ७७१

भाण्ड की अपेक्षा अधिक रन्ध्रमय हैं और कम चिकने हैं। ये पकाये गये भी कम हैं। भाण्डों के ऊपर जो लाल पट्टी है, वह अपेक्षाकृत कम चिकनी है।

झूकर भाण्ड भी ऐसी मिट्टी के बनाये गये हैं, जो पकने पर लाल रंग दे। इसमें भी अभ्रक और चूना मिला है। झूकर के भाण्ड खाइयों या गड्ढों में पकाये गये प्रतीत होते हैं। भांण्डों के ढेर लगा दिये जाते थे, जिनके ऊपर लकड़ी, तृण, घास आदि ईंधन रखा जाता था। कुछ पके बरतनों पर इसी लिए तृण के चिह्न मिले हैं।

दो रंगों का होना झूकर भाण्डों की विशेषता है। ये रंग अधिकतर लाल और काले होते थे। लाल रंग लाने के लिए गेरू का उपयोग किया जाता रहा होगा और काले रंग के लिए मैंगनीज़ युक्त हेमेटाइट का। किन्हीं किन्हीं भाण्डों पर भूरा रंग भी मिलता है, जिसके लिए किसी अन्य प्रकार के हेमेटाइट का उपयोग किया जाता रहा होगा। दो भिन्न रंगों को मिलाकर भी भूरा रंग तैयार किया जाता रहा होगा। हरी लकड़ी की कूचियों से संभवतः ये रंग भाण्डों पर लगाये जाते थे। चाक पर जिस समय भाण्ड बढ़ता है, उस समय कुछ रंगों का प्रयोग किया जाना भी संभव प्रतीत होता है। ऐसे रंग चारो ओर एक से अंकित हो जाते हैं। चाक पर यह काम अधिक कुशलता से हो सकता है। मैके का कहना है कि सिन्ध में आज भी कुम्हारिन इस काम के लिए पत्थर या ईंट पर लगे हुए लकड़ी के टुकड़े का व्यवहार करती हैं और केवल इसकी सहायता से बरतन पर ऐसी रेखा गोलाई में खींचती हैं कि चक्कर पूर्ण होते होते उनकी रेखा जिस बिन्दु से आरंभ हुई थी वहीं पर समाप्त हो (इस प्रकार खींचा गया वृत्त निर्दोष होता है)।

झूकर भाण्ड जिस प्रकार अपनी विशेषता रखते हैं, उसी प्रकार **झङ्गर भाण्ड** भी। झङ्गर एक गाँव का नाम है जो सेहवान के निकट है और जहाँ से दो मील की दूरी पर ये भाण्ड मिले। ये भाण्ड काले या धूसर वर्ण के हैं। झङ्गर भाण्ड किसी हलके या गहरे धूसर वर्ण के अवलेपसे तैयार किये गये होंगे, जो छूने में दरदरा रहा होगा। इसमें दरदरापन लाने के लिए चूना और अभ्रक मिलाये गये होंगे। पत्थर से या हड्डी से घिसकर इन भाण्डों को चिकना किया जाता होगा।

झङ्गर भाण्डों के अतिरिक्त मंधर झील के निकट त्रिहनी और शाहहसन में भी कुछ भाण्ड मिले, जो अपनी अलग विशेषता रखते थे। बहुत दिन हुए, इन स्थलों पर मछुए रहते थे। वे अपने कुछ भाण्ड और फ्लिंट या चकमक पत्थर भी यहीं छोड़ गये। त्रिहनी के भाण्ड चाक पर बने हैं एवं हलके लाल रंग की मिट्टी के हैं, जिसमें चूना और बालू अपेक्षया कम हैं। चन्हुदड़ो के भाण्डों से यह इस बात में भिन्न हैं कि इनके

खर्परों या कपालों के पृष्ठ पर अभ्रकयुक्त बालू की मोटी तह है। यह तह लगाने का एक कारण था। बरतन के भीतरी पृष्ठ के साथ औज़ार चिपक न जाय इसलिए ऐसा करते थे। भाण्ड को बाहर से जब चोट देते थे, तो भीतर की ओर कोई औज़ार सहारे के लिए रखते थे।

ताँबे और काँसे का प्रयोग—ऐसा अनुमान है कि सिन्धु घाटी के निवासी पश्चिम से आये थे। बलूचिस्तान, फारस और अफ़गानिस्तान में ताँबा और राँगा दोनों पाये जाते थे। संभवतः सिन्धु घाटी के निवासी भारत में आने पर भी अपना ताँबा और राँगा इन्हीं पश्चिमी देशों से प्राप्त करते रहे। फारस में कदाचित् ताँबा और राँगा पास-पास मिलता था और इन दोनों धातुओं के अकस्मात् मिल जाने पर काँसे का आविष्कार मनुष्य ने अनजाने कर डाला हो। मोहें-जो-दड़ो और हरप्पा के समान ही चन्हुदड़ो में भी ताँबे और काँसे के बहुत से पात्र मिले हैं। घड़ों के ढक्कन, तुलाओं के पलड़े और दंड, धारदार कुल्हाड़ियाँ, आरी, बरछे, चाकू, तीर के शीर्ष, मछली फँसाने की कटिया, छेनी, आरा, दण्ड, गुलिका बनाने के औज़ार, फरसा आदि विविध उपयोग की सामग्री काँसे की मिली है। इसी प्रकार झूकर युग के भी कुछ धातु पात्र मिले हैं। काँसे और ताँबे के, शंख के और फाएंस के बने कंकण, ताँबे-काँसे की अँगूठियाँ, बालियाँ, बिछुए, बालों में लगाने की पिनें, हाथीदाँत के कंघे, स्टीएटाइट के बटन; चन्हुदड़ो के उल्लेखनीय पदार्थ हैं।

गुलिका या मनके—चन्हुदड़ो में मनके, गुरियाएँ या गुलिकाएँ भी काफी बनती थीं। होरेस (Horace) ने सिन्धु घाटी की गुलिकाओं के संबंध में एक लेख लिखा है,[1] जिसमें उन्होंने इन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया है —

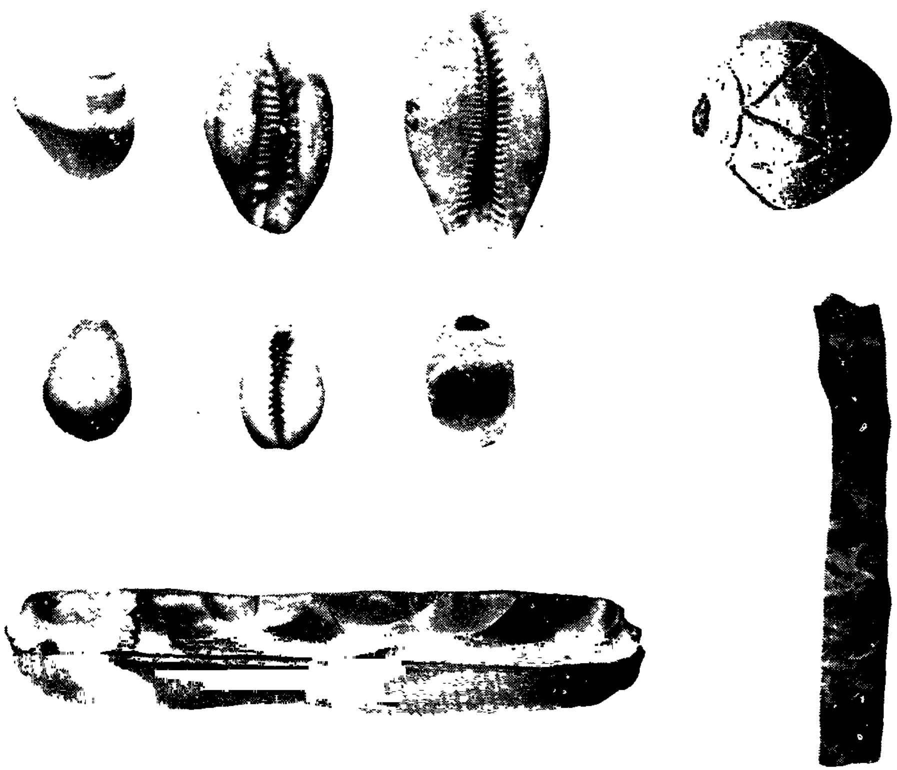
(क) लाल भूमि पर श्वेत (अधिक प्रचलित)।

(ख) श्वेत भूमि पर काला (मोहें-जो-दड़ो, तक्षशिला, बलूचिस्तान, तेल-अस्मार और उर में प्राप्त)।

(ग) लाल भूमि पर काला (तक्षशिला और हरप्पा में)।

चन्हुदड़ो में केवल प्रथम दो वर्गों की गुलिकाएँ मिली हैं। ग—वर्ग की गुलिका मोहें-जो-दड़ो में भी नहीं मिली और न चन्हुदड़ो में। क—वर्ग की गुलिकाओं के बनाने में सोडियम कार्बोनेट के समान क्षार का उपयोग रंग के रूप में किया गया, एवं तपाकर इसे स्थिर किया गया। गलाने पर यह क्षार चिकने श्वेत पृष्ठ के रूप में पत्थर से इस दृढ़ता से

१. एंटिक्वेरीज़ जर्नल, भाग १३, पृ० ३८४–३९८





चित्र ३५–चन्हुदड़ो के मनकों में छेद करने की शलाकाएं, पृ० ७७३

चिपक जाता है कि इसका अलग करना लगभग असंभव हो जाता है। फारस, चीन के सीमान्त प्रदेशों, सिन्ध और तिब्बत में यह विधि अब तक प्रचलित है। सिन्ध में वनस्पति के रस को क्षार के साथ मिलाते हैं और फिर पत्थर पर इसका लेप करके आग में तपा देते हैं। इस प्रकार चिकनी श्वेत गुलिकाएँ बन जाती हैं। ख-वर्ग की गुलिकाओं पर काला रंग किस प्रकार अंकित किया जाता था, यह कहना कुछ कठिन है। लाल कार्नेलियन पर क्षार को गलाकर श्वेत भूमि बनाते होंगे। ताँबा, कोबाल्ट और मैंगनीज़ का उपयोग करके श्वेत पर काली रेखा अंकित किया जाना संभव है। चन्हुदड़ो में ताँबे के विलयन का ही उपयोग इस काम के लिए किया गया होगा, और कभी कभी मैंगनीज़ का भी। कलापूर्ण ढंग से श्वेत भूमि पर काली धारियाँ अंकित की जाती थीं। रेखाएँ इधर उधर फैलें नहीं, इसके निमित्त कुशल कारीगरों के परम्परागत अनुभव से ही सहायता मिलती होगी।

मैके ने अपने ग्रन्थ **चन्हुदड़ो-एक्सकेवेशन्स** में गुलिका बनाने की विधि का आनुमानिक विस्तार भी दिया है। पहले तो पत्थर काटा-छाँटा जाता था, फिर किसी कठोर पत्थर पर (जिस पर चाकू की धार तेज़ करते हैं) घिसकर इसे चिकना करते थे, फिर पालिश की जाती थी। संभवतः इस काम के लिए महीन लोह-ऑक्साइड का उपयोग करते रहे होंगे। इस काम से शायद कुछ पूर्व ही गुलिकाओं में कुशलतापूर्वक छेद बनाये जाते होंगे। छेद करने की वेधनी (ड्रिल) के नीचे के तीक्ष्ण सिरे के पास एक गड्ढा सा होता था, जिसमें घर्षण-चूर्ण (लोह ऑक्साइड) और पानी भर दिया जाता था। पत्थर की सुन्दर वेधनियाँ चन्हुदड़ो में प्राप्त हुई हैं। ये वेधनियाँ काले या भूरे रंग की हैं, इनकी कठोरता ७ (मोह माप पर) है और संभवतः ये चर्ट की बनी हुई हैं, जिसमें मेग्नेटाइट का कुछ अंश मिला होता है।

तौलने के बाट—इनके संबंध में विस्तृत विवेचना मैके ने अपनी पुस्तक **चन्हुदड़ो एक्सकेवेशन्स** में की है (पृ० २३६–२४६)। चन्हुदड़ो में ११८ बाट पाये गये, जिनमें से ५८ तो बोस्टन के कलाभवन में चले गये। इनमें से ३० घनाकृति के थे, ५ गोल (चपटे सिरों से युक्त) और १७ पत्थर की बटियाँ थीं। ऐसा अनुमान किया गया है कि आदर्श प्रामाणिक माप तो १३.६३ ग्राम थी, जिसे १६ माना जाता था (१६ का महत्त्व भारत में काफी रहा है—१ रुपये में १६ आना, १ सेर में १६ छटाँक, षोडश कला का पुरुष, १६ माशक का १ कार्षापण)। इस पद्धति पर अन्य बाट ४, ८, १६, ३२ आदि के हिसाब से बनाये गये। यदि १३.६३ ग्राम हमारी

इकाई हो, तो इसका सोलहवाँ भाग ०.८५६ ग्राम होगा, और इसका चौबीसवाँ भाग ०.५६७ ग्राम। निम्न बाट चन्हुदड़ो में पाये गये—

तौल (ग्राम में)	१३.६३ ग्राम की इकाई से संबंध	तौल (ग्राम में)	१३.६३ ग्राम की इकाई से संबंध
१३३०.६८	१००	२०.८९	३।२
५४४.७७	४०	९.१३	२।३
३९२.७६	३०	७.४५७	१।२
२७३.५९	२०	३.४६८	१।४
६९.६१	५	२.३६५	१।६
५७.१७	४	१.९३९	१।८
४२.८८	३	०.८८६	१।१६
२८.३६	२	०.४६९५	१।२४

निर्देश

१. मार्शल, जे०—**मोहें-जो-दड़ो एण्ड द इण्डस वेली सिविलिजेशन** (१९३१)।

२. मेके, ई०—**फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहें-जो-दड़ो** (१९३८)।

३. बेरिमन, ए० ई०—**हिस्टोरिकल मीट्रोलोजी**, जे० एम० डेण्ट एण्ड सन्स, लंदन (१९५३)।

४. माधवसरूप वत्स—**एक्सकेवेशन्स एट हरप्पा**, १९४० (दो भाग) (गवर्नमेंट आफ् इण्डिया द्वारा प्रकाशित)।

५. मेके, ई०—**चन्हुदड़ो एक्सकेवेशन्स** (१९३५–३६), अमेरिकन ओरिएंटल सोसायटी, न्यूहेवन, १९४३।

तैंतीसवाँ अध्याय

तक्षशिला

पंचनद (पंजाब) प्रदेश का तक्षशिला स्थान प्राचीन काल से अपनी कला और संस्कृति के लिए विख्यात रहा है। कहा जाता है कि चरक-संहिता के संस्कर्ता अग्निवेश तक्षशिला विश्वविद्यालय में आयुर्वेद के आचार्य थे। इस स्थल में प्राप्त विश्वविद्यालय के भग्नावशेष हमारी पुरानी परम्परा के अब तक जीते जागते चित्र हैं। इस स्थल पर जो प्राचीन संग्रह मिले हैं, वे भारत की मौर्यकालीन सभ्यता के परिचायक हैं। तक्षशिला, नालंदा, साँची ये स्थान बौद्धप्रभावित आर्य संस्कृति के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इनकी संस्कृति का काल ईसा से ५ शती पूर्व से १ शती पश्चात् तक का माना जा सकता है।

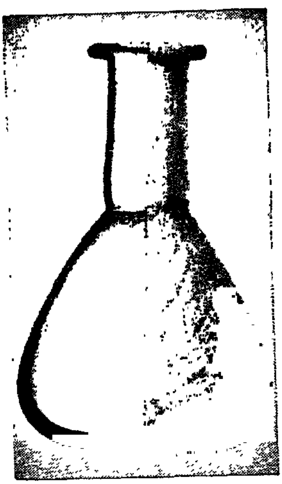
मृद्भाण्ड—इनमें प्राप्त मिट्टी के बने भाण्ड अपनी विशेषता के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। इनका धूसर रंग, कुछ कुछ नीलिमा-मिश्रित और कहीं कहीं पर भूरे या लाल रंग के स्थलों से चित्रित अपने ढंग का निराला है। मृद्भाण्ड लगभग एक ही शैली के १८ विभिन्न स्थलों पर पाये गये हैं—अहिच्छत्र, मथुरा, कौशाम्बी, भीटा, सारनाथ, राजघाट, झूसी, मसाँव, अस्त्रञ्जिखेड़; इतने तो उत्तर प्रदेश के स्थल हैं। पंजाब में तक्षशिला, जयपुर में बैरत, इंदौर में कसरावाढ़ और बंगाल के दीनाजपुर ज़िले में बागरा, बिहार में पटना, गिरिअक, राजगिरि और बक्सर एवं मध्यप्रदेश में साँची।

इन बरतनों का काला रंग फेरस ऑक्साइड के कारण है (सनाउल्लाह)। यह ऑक्साइड १३ प्रतिशत तक बरतनों की मिट्टी में पाया गया है। संभव है कि भाण्ड बनाने के अनन्तर उन पर मिट्टी-गेरू का लेप कर दिया जाता रहा हो और तब वे आग में पकाये जाते रहे हों। भट्ठियों में जो अपचायक गैसें निकलती थीं, वे फेरिक लोहे को फेरस में परिणत कर देती थीं, इसी लिए बरतनों का रंग काला पड़ जाता था। इन के ऊपरी काले अवलेप की रासायनिक परीक्षा की गयी और इस संबंध में पुरातत्त्व विभाग के रसायनज्ञ ने निम्न अंक दिये —

सिलिका	४६.५५	मेगनीशियम ऑक्साइड	३.४३
फेरस ऑक्साइड	२५.२०	पानी (११०° पर)	३.४५
ऐल्यूमिनियम ऑक्साइड	१५.५३	क्षार (नहीं निकाले गये)	
कैलसियम ऑक्साइड	४.७४		

स्पष्ट है कि भाण्डों का काला रंग फेरस सिलिकेट के कारण रहा होगा। चूना और मेगनीशिया के कारण अवलेप सुगल्य वन गया है, जिसके कारण भाण्डों पर अच्छी चमक आ गयी।

तक्षशिला का काँच—तक्षशिला की खुदाई में कुछ भाण्ड और पात्र शक-पार्थिय तथा कुशन् काल के भी मिले हैं। काँच की गुलिकाएँ पारान्ध हैं और इनके रंग गहरे पीले, नारंगी अथवा ताम्रवर्ण के हैं। ये गुलिकाएँ विविध आकृतियों की हैं; दण्डाकार, चक्रिकाकार अथवा गोलाकार। हरे या नीले काँच की चूड़ियाँ भी मिली हैं। कुछ के काँच कालान्तर में जलवायु के प्रभाव के कारण ऊपर से विकृत भी हो गये हैं।



चित्र ३६—तक्षशिला का एक कांच का बरतन।

मार्शल के कथनानुसार भारत का सबसे पुराना काँच जो मिला है, वह तक्षशिला के भीर-ढेर में पाया गया है। यह ईसा से पाँच शती पूर्व का रहा होगा, ऐसा अनुमान है। काँच को गलाकर और फिर फूँककर कुप्पी आदि के समान बनाये गये बरतन, कुछ कुछ हरे रंग के, सिरकप-स्थल पर मिले हैं, जो शक-पार्थिय काल (प्रथम शती ईसा के बाद) के प्रतीत होते हैं। कुछ विचारकों का अनुमान है कि काँच को फूँककर बनाये हुए ये पात्र संभवतः बाहर से इस देश में आये होंगे।

पोर्सिलेन से मिलते-जुलते तक्षशिला के भाण्ड—सनाउल्लाह ने सन् १९२०–२१ में तक्षशिला में प्राप्त कुछ टुकड़ों की रासायनिक परीक्षा की। ये टुकड़े देखने में पोर्सिलेन या चीनी मिट्टी से मिलते-जुलते थे। इनमें से एक तो क्वार्ट्ज् निकला और दूसरा एक प्रकार का सफेद काँच। तक्षशिला में एक पारान्ध लाल काँच भी मिला। सफेद और लाल काँच की रासायनिकपरीक्षा करने पर सनाउल्लाह को निम्न अंक प्राप्त हुए—

	श्वेत पारान्ध काँच	लाल पारान्ध काँच
सिलका, SiO_2	६१.३२	३७.०९
एंटिमनी, Sb_2O_3	५.०८	—
सीसा, PbO	—	३४.८५
ऐल्यूमिना और फेरिक ऑक्सा०	१.७०	३.१६
मैंगनीज़, MnO	०.२६	०.११
कैलसियम CaO	९.७४	६.४६
मैंगनीशियम, MgO	१.६४	०.७०
क्यूप्रस ऑक्साइड	—	७.२०
सोडियम ऑक्साइड	१९.२६	१०.३३
पोटैशियम ऑक्साइड	१.००	०.८७

स्पष्ट है कि श्वेत काँच तो सोडा-लाइम काँच है और इसमें श्वेतता एंटिमनी के कारण है। इसके विपरीत लाल काँच सोडा-लाइम-सीस काँच है, जिसका लाल रंग क्यप्रस ऑक्साइड के कारण है। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय न केवल काँच बनाना ही जानते थे, वे इसमें रंग देना भी जानते थे।

तक्षशिला के धातु-पात्र—तक्षशिला की खुदाई में धातुओं की बनी हुई बहुत सी ऐसी वस्तुएँ मिली हैं, जो ईसा से ५ शती पूर्व से लेकर छठी शती ईसवी तक की पुरानी रही होंगी। पुरातत्त्व-रसायनज्ञ सनाउल्लाह और डा० हमीद ने इन धातुओं की परीक्षा की। इनके अंकों से स्पष्ट है कि कभी कभी तो ९९.७ प्रतिशत शुद्धता का ताँबा तैयार कर लिया जाता था। यदि कांस्य का उपयोग गृहस्थी के काम की चीज़ों के ढालने में करना हो, तो इसमें २१–२५ प्रतिशत राँगा (वंग) रहता था, जिस कांस्य में राँगा केवल ८.१२ प्रतिशत था, वह अपेक्षाकृत कठोर था और ऊँचे ताप पर ही गल सकता था। इसका उपयोग कुछ कम किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पीतल बनाने की कला चीन देश से हमारे देश में आयी। पहले तो पीतल के बने बरतन यहाँ आये होंगे, बाद को भारत में भी पीतल बनने लगी। ताँबे और जस्ते के अयस्क मिलकर एक साथ जो धातु प्राप्त हुई उसे पीतल समझा गया। चीन और सिक्किम में दोनों धातुओं के मिले-जुले अयस्क पाये जाते रहे हैं। इन अयस्कों से प्राप्त पीतल में १३% के लगभग एक-सी यशद (जस्ता) धातु मिलेगी।

तक्षशिला में प्राप्त धातु-पदार्थ

	ताँबा	वंग	आर्सेनिक	एंटिमनी	लोहा	निकेल	सीसा	जस्ता	योग
१. चौरस छड़ (ई० पू० ६–७ वीं शती)	९७.७८	—	—	—	१.७९	—	—	—	९९.५७
२. ,, चौरस (एंटिमनीलेपित)	८७.०५	२.०१	—	०.९८	९.०२	—	—	—	९९.०६
३. छड़ (ई० पू० ४ शती)	९८.३३	—	०.१९	०.३५	०.४५	०.५१	—	—	९९.८३
४. पत्र (ई० पू० १ ली शती)	९८.९३	—	सूक्ष्म	०.१६	०.१७	०.५२	—	—	९९.७८
५. टोंटी (१ली शती ई०)	७७.४५	०.७४	०.२४	—	०.५६	०.४३	१८.६५	सूक्ष्म	९८.०७
६. कटोरा (ई० पू० ३री शती)	७६.७६	२१.५५	०.१६	—	०.९५	०.४८	—	—	९९.९०
७. घट (ई० पू० ३री शती)	५५.३९	४.२५	०.२६	१.७७	०.४०	३.०८	३४.३४	—	९९.४९
८. कूपी (ई० पू० २री शती)	८०.३८	७.३४	—	—	१.३३	०.२६	७.७८	८.४७	९९.५८
९. चूड़ी (ई० पू० १–५वीं शती)	७६.७५	२.५८	—	—	—	०.११	६.३३	१३.०७	९८.८४
१०. कड़ा (ई० पू० २री शती)	७३.७२	०.१०	—	०.१८	०.४२	—	५.८४	१९.७८	१००.०४
११. एंटिमनी फ्लास्क की पैंदी (ई० पू० २री शती)	०.६२	०.२०	—	०.८५	०.३५	—	९७.९८	—	१००
१२. सोल्डर (१ली शती ई०)	३.११	४६.१३	—	०.३७	०.७२	—	४९.६७	—	१००.०
१३. परात (थाल) (३–४ शती ई०)	७४.२४	२४.५८	०.१८	०.०२	०.७२	०.२६	—	—	१००.०

सिक्कों और आभरणों के काम के लिए तक्षशिला में निकेल और ताम्र से बनी हुई एक सफेद मिश्रधातु भी उपयोग में आती थी। चीन देश में एक मिश्रधातु बहुत प्राचीन काल से **पै-तुङ** या श्वेत ताम्र नाम से प्रचलित है। यह धातु भी निकेल और ताम्र के मिश्रित अयस्कों से तैयार की जाती थी। संभवत: यह मिश्रधातु ईसा से २०० वर्ष पूर्व भारत में भी प्रचलित की गयी, पर १०० वर्ष बाद ही इसका प्रचलन यहाँ से मिट गया।

तक्षशिला में प्राप्त ताँबे और काँसे के बरतनों में से सोल्डर भी पाया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि सोल्डर के काम के लिए वंग और सीसा दोनों धातुएँ बराबर बराबर मात्रा में आपस में मिलायी जाती थीं। यह कहना अनावश्यक है कि तक्षशिला में चाँदी और सोने के बने आभरण भी मिले हैं। ईसा से १००० वर्ष पूर्व ही तक्षशिला में धातु की कला अच्छी तरह विकसित हो चुकी थी, इसमें सन्देह नहीं। ताँबे या काँसे के ढाँचों पर चाँदी और सोना पीटकर चढ़ाया जाना धातुकर्मविदों को भली प्रकार ज्ञात था। सोने के आभरणों में मणियों का जड़ना भी उस समय साधारण कार्य माना जाता था।

निर्देश

जे० मार्शल—**तक्षशिला पॉटरी**, "एन्शण्ट इंडिया", पृष्ठ ७४ (१९४७)।

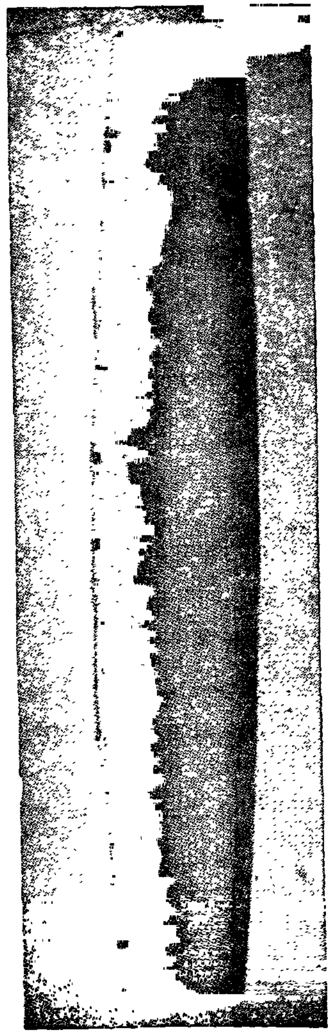
जे० मार्शल—**तक्षशिला (३ भाग)**, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस (१९५१)।

पी० राय—**हिस्ट्री ऑव् केमिस्ट्री इन एन्शण्ट एण्ड मेडीवल इण्डिया** (प्रफुल्लचन्द्र राय की **हिन्दू केमिस्ट्री** का संशोधित संस्करण), इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)।

चौंतीसवाँ अध्याय

भारत के प्राचीनतम ताम्र और लोह

ताम्र-योजिका—सिन्धु घाटी सभ्यता युग के ताम्र और लोह का उल्लेख तो हम पीछे कर आये हैं। इसके अतिरिक्त इस देश में इन धातुओं से बनी बहुत-सी चीज़ें, लगभग सभी ऐतिहासिक युगों की प्राप्त हैं। नेपाल की सीमा के निकट रामपुरवा अशोकस्तम्भ में ताँबे की बनी एक योजिका (वोल्ट) मिली है, जो ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व की प्रतीत होती है। यह सिटकिनी २४½ इंच लंबी छड़ के समान है, जिसके दोनों सिरे पीटकर कुछ छोटे कर दिये गये हैं। इसकी परिधि मध्य भाग में १४ इंच और सिरों पर १२ इंच है। धातु शुद्ध ताँबा है और संपूर्ण सिटकिनी एक साथ ही ढाली गयी प्रतीत होती है। इसका उपयोग अशोकस्तम्भ के शीर्ष भाग को स्तम्भ के मुख्य भाग से संयुक्त करने के लिए किया गया था। गैरिक (Garrick) ने १८८१ में इसकी खोज की। यह योजिका आज भी कलकत्ते के म्यूज़ियम में रखी हुई है।



चित्र ३७—रामपुरवा की ताम्र योजिका।

ताम्रप्रतिमा—सन् १८६४ में हैरिस ने भागलपुर (बिहार) ज़िले के सुलतानगंज स्थान पर किसी पुराने बौद्धविहार

की खुदाई में ताँबे की बनी हुई बुद्ध-प्रतिमा प्राप्त की। यह ७ फुट ६ इंच ऊँची थी और तौल में १ टन (२८ मन) के लगभग। यह प्रतिमा शुद्ध ताँबे की बनी हुई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि यह दो बार में ढाली गयी थी। अन्दर का भाग मिट्टी के साँचे के ऊपर ढाला गया प्रतीत होता है, कई खण्डों में यह ढाला गया होगा। बाद को ये खंड लोहे की पत्तियों द्वारा आपस में जोड़ दिये गये। इस प्रतिमा के निकट ही उक्त बौद्ध-विहार में चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के पाये गये। अतः यह अनुमान किया गया है कि यह प्रतिमा ईसा के बाद पाँचवीं शती की रही होगी। पास में ही ताँबे का बना एक हाथ मिला है और बुद्ध की तीन छोटी प्रतिमाएँ भी मिली हैं। अतः यह अनुमान लगाया जाता है कि सुलतानगंज के निकट ही ताँबे की ढलाई का कार्य होता था। ताँबे की बनी बुद्ध की यह प्रतिमा बर्मिघम म्यूज़ियम को भेज दी गयी थी, संभवतः आज भी वहीं हो।



चित्र ३८—सुलतानगंज की ताम्र-प्रतिमा (बुद्ध)

बिहार के नालन्दा विश्वविद्यालय में ८० फुट ऊँची बुद्ध की एक ताम्रप्रतिमा थी, जिसका उल्लेख हुएनत्सांग ने किया है। यह प्रतिमा संभवतः अशोक के अन्तिम वंशज राजा पूर्णवर्मन् ने ७वीं शती ईसवी में बनवायी हो। पर इस प्रतिमा का क्या हुआ और किसने इसे तोड़-फोड़ डाला या सिक्के बनाने के लिए गला डाला, यह कहना कठिन है।

ताम्र-मुद्राएँ—यूनान और बैक्ट्रिया के राजाओं द्वारा प्रचलित किये गये ताम्र-सिक्के इस देश में ईसा से तीन शती पूर्व के मिलते हैं। कनिष्क तथा अन्य कुशन् वंशीय राजाओं द्वारा चलाये गये ताँबे के सिक्के दूसरी शती ईसवी के भी पाये गये हैं। गुप्तवंश के नृपों ने भी ताँबे की मुद्राएँ प्रचलित की थीं। ये मुद्राएँ पहले तो साँचों

कें बीच में ढाल ली जाती थीं, फिर दूसरे प्रकार के साँचों में दबाकर इन पर ले अंकित किये जाते थे।

ताँबे और चाँदी के सिक्के मौर्य और शुंग काल के भी बनगढ़ की खुदाई में मिले हैं। यहाँ पर कुछ ऐसी चीजें भी मिली हैं, जिनसे इन सिक्कों के बनाने में सहायता ली गयी होगी। मिट्टी की एक मूषा या घरिया (३.५५ इंच लम्बी और २.७५ इंच व्यास की) भी मिली है, जिसमें ताँबा गलाया जाता होगा।

ताम्रपत्रों का उल्लेख करना व्यर्थ है। अति प्राचीन काल से इस देश की परम्परा ताम्रपत्रों के प्रचलन की रही है। इन पर अंकित करके सनदें दी जाती थीं। ये दान-पत्र का काम करते थे। उत्तर प्रदेश, गोरखपुर ज़िले के एक गाँव सोहगौरा में एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर मौर्यकालीन ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है (ईसा से तीन शती पूर्व)। यह पत्र विशुद्ध ताम्र नहीं है, इसमें कुछ और धातुएँ भी मिलीं हैं। तक्षशिला में कनिष्क के लेखों से अंकित ताम्रपत्र भी मिले हैं।

ताँबे के बरतनों का प्रयोग यज्ञ और पूजा के काम में बहुत पुराने समय से होता चला आ रहा है। ताम्र को पवित्र धातु समझा जाता रहा है। इसका उल्लेख प्राचीन स्मृतियों में भी पाया जाता है और मेगस्थनीज़ ने भी अपने लेखों में ताम्र के बने भारतीय पात्रों का उल्लेख किया है। बौद्ध स्तूपों में पवित्र अस्थियाँ भी ताम्र के पात्रों में सुरक्षित रखी जाती थीं।

भूगर्भवेत्ताओं ने अपने पर्यवेक्षणों के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि सिंहभमि और हज़ारीबाग (छोटा नागपुर) में ताँबे की खानों की खुदाई गत दो सहस्र वर्षों से होती चली आ रही है। ताँबा निकाल लेने के बाद खनिजों में से जो स्लैग (Slag) प्राप्त होते थे, उनके ढेर के ढेर इन खानों के आसपास मिले हैं। राजस्थान में अनेक ऐसे स्थलों का पता चला है जहाँ पुराने समय में ताँबे की खुदाई होती थी, पर अब लगभग बन्द हो गयी है। प्राचीन समय में नेपाल भी शुद्ध ताम्र के व्यवसाय के लिए विख्यात था। यहाँ का ताँबा बहुत शुद्ध माना जाता था। नेपाल और सिक्किम में ताँबे के कार्य की परम्परा आज तक अक्षुण्ण चली आ रही है। मध्य प्रदेश में भी ताँबे का कार्य बहुत पुराने समय से होता आ रहा है और यही अवस्था मद्रास और कुमाऊँ प्रदेश एवं गढ़वाल की है।

पीतल और काँसा—ताँबे से बनी मिश्र धातुएँ पीतल और कांस्य इस देश में बहुत पुराने समय से प्रचलित हैं। पुराने आयुर्वेद साहित्य में और रसग्रन्थों में, कौटिलीय अर्थशास्त्र में, स्मृतियों और गृह्यसूत्र या कल्पसूत्रों में इनका निर्देश है।

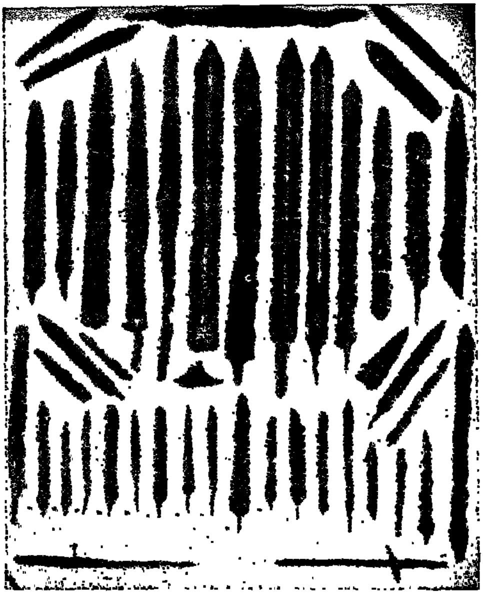


चित्र ३९–खेतड़ी (राजस्थान) की ताँबा प्राप्त करने की एक भट्ठी, पृ० ७८२

कांस्य के बने हुए आभरण पुरानी श्मशान भूमि की खुदाई में (जैसे मद्रास प्रदेश के टिनेवली में) मिले हैं। कांस्य की बनी चलनियाँ, प्याले, घट, कड़े, हार, कुंडल आदि दैनिक प्रयोग की वस्तुएँ देश के विभिन्न स्थलों में पायी गयी हैं। ईसा से ३–४ शती पूर्व पाण्ड्य नृपों के समय की ये वस्तुएँ अपनी पुरानी परम्परा को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त हैं। बंगाल, उत्तर प्रदेश और भारत के अन्य प्रदेश भी ८–९वीं शतियों में पीतल और काँसे के कार्य के लिए ख्याति प्राप्त कर चुके थे। पुराने बौद्ध स्तूपों की खुदाई में पहली शती ईसवी के निकट के पीतल के पात्र मिले हैं। पीतल की बनी एक पेटिका जनरल वेंटुरा ने १८३० में माणिक्यालय की खुदाई में प्राप्त की। यह पेटिका ईसा के बाद दूसरी शती की बनी प्रतीत होती है। अयोध्या के राजा धनदेव और आर्यवर्मा ने पीतल के सिक्के ईसा से एक शती पूर्व प्रचलित किये थे। इस युग के धातु-सिक्कों का संग्रह राष्ट्रीय अजायबघर में है। पीतल और काँसे की बनी प्रतिमाएँ भी काफी पुरानी पायी गयी हैं। काँगड़ा कोट के निकट फतेहपुर स्थल पर एक यात्री को पीतल की बनी बुद्ध की एक प्रतिमा मिली, जो ३० सें० मी० ऊँची और १३.५ सें० मी० चौड़ी थी। इस पर जो लेख अंकित है, उससे इसका समय छठी शती ईसवी प्रतीत होता है। हुएनत्सांग ने भी पीतल के व्यवहार का उल्लेख अपने विवरणों में किया है। इसने हर्षवर्धन (राजा शिलादित्य) के राज्यकाल (७वीं शती ईसवी) के बने पीतल के एक अपूर्ण विहार का उल्लेख किया है, जो नालन्दा के निकट बनाया जा रहा था। उसने लिखा है कि पूरी तरह बन जाने के अनन्तर यह विहार १०० फुट माप का होगा।

भारत के प्राचीनतम लोहे—लोह शब्द का अर्थ बहुधा धातु मात्र किया जाता है। अयस् शब्द का प्रयोग भी मामूली लोहे के लिए होता रहा है। भारतीय साहित्य में बड़े पुराने समय से लोहे के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भारत के प्राचीन स्थानों की खुदाई में लोहे के उपयोग के चिह्न बहुधा देखे हैं। लोहे के यंत्र, अस्त्र-शस्त्र, फावड़े, कुल्हाड़ी, चूल्हे, सिटकिनी, कड़े आदि पदार्थ टिनेवली ज़िले की पुरानी खुदाइयों में (श्मशान घाटों में भी) पाये गये हैं। ये लगभग ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के हैं। शुंग, कुशन और गुप्त काल के भी लोहे के बने पदार्थ बहुत मिले हैं (बनगढ़ और तक्षशिला की खुदाई में)। ये ईसा से ३०० वर्ष पूर्व से लेकर ईसा के ५०० वर्ष बाद तक के हैं, ऐसा अनुमान है। बढ़इयों, लुहारों और अन्य कारीगरों के उपयोग के औज़ार भी बहुधा इन स्थलों पर पाये गये हैं, जो लोहे के बने हुए हैं। बस्ती ज़िले के पिपरहवा में, कपिलवस्तु के भग्नावशेषों में एवं बुद्ध-

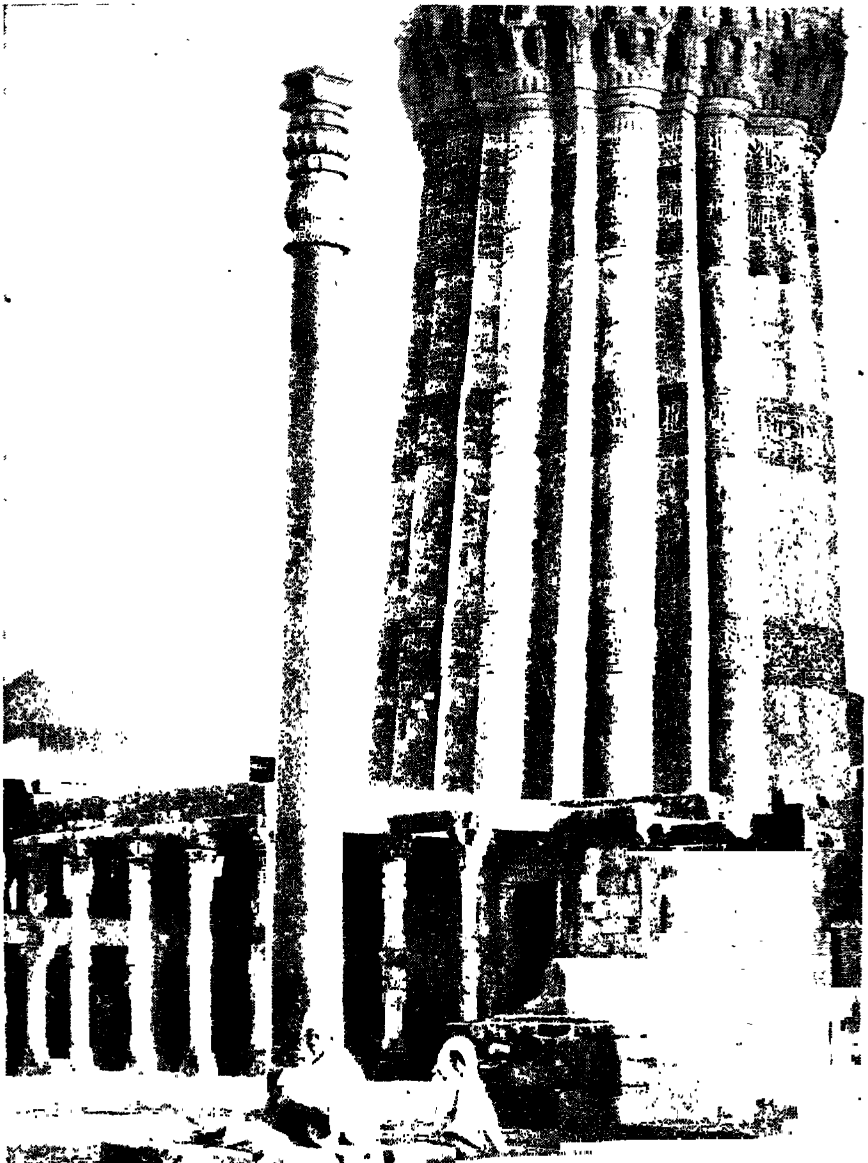
गया के प्राचीन मन्दिर में लोहे की बनी वस्तुएँ पायी गयी हैं। बौद्ध स्तूपों के निकट लोहे का स्लैग भी पाया गया है, जिससे स्पष्ट है कि अयस्कों में से लोह धातु निकाल



चित्र ४०—टिनेवली के अस्त्र-शस्त्र।

लेना एक साधारण कार्य समझा जाता था और इस देश के अनेक केन्द्रों में लोह-कर्म प्रचलित था।

दिल्ली की कुतुबमीनार के निकट जो लोहस्तम्भ है वह भारत के उत्कृष्ट धातु-शिल्प का एक ज्वलन्त उदाहरण है। लोहस्तम्भ के ऊपर जो लेख है, उससे अनुमान होता है कि यह स्तम्भ ४थी शती ईसवी में बनाया गया होगा। पुष्करण, राजस्थान के राजा चन्द्रवर्मन की विजय को चिरस्थायी बनाने के लिए यह स्तम्भ स्थापित किया गया। कहा जाता है कि विष्णुपद पर्वत (अथवा मथुरा) पर यह स्तम्भ पहले स्थापित हुआ,[1] वहाँ से सन् १०५० ई० के लगभग अनंगपाल (द्वितीय) ने हटा-कर इसे वर्तमान स्थान पर लगाया। यह स्तम्भ २४ फुट के लगभग लंबा, १६.४ इंच नीचे की ओर व्यास का और ऊपरी सिरे पर १२ इंच व्यास का है। इस स्तम्भ का शीर्ष-



चित्र ४१—दिल्ली का लोहस्तम्भ, पृ० ७८५

भाग ३ फुट ६ इंच लम्बा था। सम्पूर्ण लोहस्तम्भ का बोझ अनुमानतः ६ टन है। इस लोहे का रासायनिक विश्लेषण किया गया है, जिससे पता चलता है कि यह पिटवाँ लोहे का बना हुआ है और इसमें कोई मिश्रधातु नहीं है। हैडफील्ड ने इस लोहे का घनत्व ७.८१ बताया है। शुद्धतम पिटवाँ लोह, जो आज तक तैयार हो सका है, उसका घनत्व ७.८४ है। लोहस्तम्भ के लोहे की परीक्षा करने पर हैडफील्ड ने निम्न अंक प्राप्त किये —

लोहा	९९.७२०	गन्धक	०.००६
कार्बन	०.०८०	फॉस्फोरस	०.११४
सिलिकन	०.०४६	मैंगनीज़	—

लोहस्तम्भ के लोहे में मैंगनीज़ का अभाव महत्त्वपूर्ण बात है। गन्धक भी बहुत कम है। इससे अनुमान है कि लोहे के बनाने में लकड़ी के कोयले का उपयोग किया गया होगा। जिस अयस्क से यह लोहा तैयार किया गया होगा, वह भी अति शुद्ध रहा होगा। फॉस्फोरस की मात्रा अधिक होना और मैंगनीज़ का अभाव एवं गन्धक का कम होना इस लोहे की विशेषता है। संभवतः इन्हीं तीनों बातों का यह फल है कि यह लोहा परिस्थितियों के प्रभाव से अब तक सुरक्षित रह सका। न इस पर हवा-पानी का प्रभाव पड़ा और न गर्मी-सर्दी का। यह भी संभव है कि इसे तैयार करने के बाद जब बुझाया गया हो, तो इसके पृष्ठ पर लोह के चुम्बकीय ऑक्साइड, Fe_3O_4, की एक पतली सी तह जम गयी हो, जिसने इसकी सुरक्षा की। कारण कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि इतना प्राचीन उत्कृष्ट लोहा भूमण्डल के अन्य स्थलों में कहीं भी विद्यमान नहीं है। यह कहना कठिन है कि सम्पूर्ण स्तम्भ एक ढलाई का है, अथवा छोटे छोटे खंडों में तैयार किया गया और बाद में इन खण्डों को गलाकर जोड़ा गया। आयरन एण्ड स्टील इन्स्टीट्यूट की एक समिति ने १८७२ में इस लोहे पर मीमांसा की। इस समिति का यह अनुमान है कि छोटी-छोटी वात-भट्ठियों में एक-एक मन लोहा तैयार किया गया होगा और फिर खंड आपस में जोड़कर पूरा लोह-स्तम्भ बनाया गया।

पिटवाँ लोह के अतिरिक्त भारत इस्पात के लिए भी प्रसिद्ध रहा है। यहाँ की बनी इस्पात की तलवारें फारस में भी ईसा से कई शती पूर्व सम्मान प्राप्त करती रही हैं। फारस के राजदरबार में ईसा से ५ शती पूर्व एक व्यक्ति क्टेसियस (Ktesias) था, जिसे वहाँ के राजा ने भारत की बनी दो इस्पाती तलवारें भेंट की थीं। भारत के इस्पात का व्यवसाय अफ्रीका तक फैला हुआ था। अशोक के शिलालेख इतने सुन्दर रूप से अंकित हैं कि उनसे अनुमान होता है कि वे इस्पात की लेखनी या इसी

प्रकार के किसी इस्पाती यंत्र से अंकित किये गये होंगे। अतः ईसा से ४ शती पूर्व इस्पात का प्रचलन इस देश में अच्छी तरह रहा होगा। सुश्रुत आदि ग्रन्थों में शल्य या शस्त्र-कर्म का चिकित्सा में अच्छा विधान है। संभव है कि शल्य कर्म के उपयोग के यंत्र भी इस्पात के बनते रहे हों। ऐसा भी क्विंटस कुर्टिअस (Quintus Curtius) के कथन से प्रतीत होता है कि पोरस ने सिकन्दर को १५ सेर के लगभग तौल का इस्पात भेंट किया था। इस्पात की इस देश से बाहर भी बड़ी प्रतिष्ठा थी और भारत का इस्पात दूर-दूर देशों में जाया करता था।

इस्पात का मृदूकरण एक विशेष प्रक्रिया है, जिसके लिए हमारे देश को पहले से ही अभिमान है। रक्त-तप्त इस्पात को शनैः-शनैः विशेष सावधानी से ठंडा करना पड़ता है, तभी इसमें उपयोगी गुण व्यक्त होते हैं। इस प्रक्रिया का नाम ही मृदूकरण है। भारतीयों ने ही इस कला का प्रथम आविष्कार किया था और बाद को यह कला यहाँ से अन्य देशों में गयी।

पुराने इस्पात उस विधि से बनाये जाते होंगे जिसे आजकल की भाषा में सीमेण्टीकरण विधि या मूषा विधि कहते हैं। इस काम के लिए चुम्बकीय लोह अयस्क से पिटवाँ लोह तैयार किया जाता रहा होगा। इसे बन्द मूषाओं में लकड़ियों के टुकड़े और पौधों की पत्तियों के ढेर के साथ गरम करते रहे होंगे। धौंकनी से हवा बराबर धौंकते रहते होंगे। इस प्रकार ४–५ घंटे में प्रक्रिया पूरी की जाती होगी। जो इस्पात बनता होगा उसे फिर बन्द मूषाओं में इसी प्रकार तपाते होंगे। ऐसा करने से इस्पात का कार्बन यथोचित रूप में कम हो जाता रहा होगा। कभी-कभी तप्त धातु पर पानी भी छोड़ते रहे होंगे, जिससे इस्पात कुछ कठोर पड़ जाता होगा। इस प्रकार की विधि से ही भारत के कई स्थलों में इस्पात आधुनिक युग तक तैयार होता रहा है।

वराहमिहिर (५५० ई०) ने इस्पात के संबंध में महत्त्व की सूचना दी है (**खड्ग-लक्षणम्**, अ० ४९, श्लोक २३–२६)—(क) "केले की राख को मट्ठे में घोलो और उसमें सम-तप्त इस्पात डालकर एक दिन-रात पड़ा रहने दो, फिर लेद पर इसे तीक्ष्ण कर लो।" (ख) "आक का दूध, भेड़ के सींग की जिलेटिन और चूहे एवं कबूतर की विष्ठा—इनको मिलाकर जो अवलेप बने उससे इस्पात को लिप्त करो (इस्पात पर पहले तिल का तेल लगा लो)। इसे अब भट्ठी की आग में डाल दो, जब लाल दहकने लगे तो इस पर पानी अथवा घोड़ी का दूध, अथवा घी, रुधिर, चर्बी या पित्त डालो। बाद को लेद (खराद) पर तीक्ष्ण कर लो।"

इस विवरण से लोहकर्म का कुछ अनुमान लग सकता है। लोह-रज आदि का

उल्लेख तो पुराने आयुर्वेद और रस-ग्रन्थों में बहुत आता है, जिसका निर्देश इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर किया गया है।

निर्देश

पी० राय—हिस्ट्री ऑव् केमिस्ट्री इन एन्शण्ट एण्ड मेडीवल इंडिया, इंडियन केमिकल सोसायटी, कलकत्ता (१९५६)।

पी० नियोगी—(क) कॉपर इन एन्शण्ट इंडिया (१९१८)
(ख) आयरन इन एन्शण्ट इंडिया (१९१४)
(इंडियन एसोसियेशन फॉर कल्टिवेशन ऑव् साइन्स, कलकत्ता)

पैंतीसवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में अग्निचूर्ण और अग्निक्रीडा

भारत में आतशबाज़ी का इतिहास—बन्दूक की बारूद और आतशबाज़ी की बारूद में बहुत कुछ साम्य है। इस पुस्तक के पिछले कई अध्यायों में हम इसका उल्लेख कर आये हैं कि ऐसे कतिपय पदार्थ हैं, जो आग की ज्वाला को विविध रंग दिया करते हैं। विषों की अग्नि-परीक्षा इसी आधार पर निर्भर है, जिसका उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी है और अन्य रस-ग्रन्थों में भी। आतशबाज़ी की कला का प्रदर्शन भी एक ओर तो बारूद के आविष्कार पर निर्भर है और दूसरी ओर इस बात पर कि कुछ लवण अग्नि की ज्वाला में विविध रंग प्रदर्शित करते हैं।

कहा जाता है कि यूरोप में १३वीं शती में बर्थोल्ड श्वार्ट्ज (Berthold Schwartz) ने अग्निचूर्ण या "गन-पाउडर" का आविष्कार किया। इस चूर्ण का उपयोग बन्दूकों में आरम्भ हुआ और विजय के अवसर पर उत्सवों में आतशबाज़ी की परम्परा का भी श्रीगणेश हुआ। यूरोप में १७वीं शती के बाद से आतशबाज़ी का प्रचार बढ़ा। इस शती में यूरोप में आतशबाजी के विशेष दो केन्द्र थे; एक तो न्यूरेमबर्ग का और दूसरा इटली का। सन् १७०७ और १७४७ ई० में डे-फ्रेज़ियर (De-Frezier) ने दो पुस्तकें लिखीं, जिनमें उसने रंग-बिरंगी आतशबाज़ी का उल्लेख किया। सन् १७८८ ई० में पोटैशियम क्लोरेट का आविष्कार हुआ। इसने भी इस कला में एक नया युग प्रदर्शित किया। सन् १८६५ई० में मैगनीशियम और सन् १८९४ ई० में ऐल्यूमिनियम धातुओं के आविष्कार ने अग्नि-क्रीडा की तीव्र उद्दीप्ति को जन्म दिया। भारत के बाहर यूरोप की आतशबाज़ी का यह छोटा सा परिचय है।

एलन सेण्ट एच० ब्राक ने सन् १९४९ ई० में **'हिस्ट्री ऑव फ़ायरवर्क्स'** नामक एक पुस्तक लिखी और उसमें आतशबाज़ी संबंधी ऐतिहासिक प्रदर्शनों का विवरण दिया है। सबसे पुराना चित्र इन प्रदर्शनों में सन् १५७० ई० का है (न्यूरेमबर्ग का)। इसके बाद एक चित्र सन् १६०० ई० का है (फ़्लोरेन्स का, चतुर्थ हेनरी, फ्रान्स के विवाह के अवसर का)। आतशबाज़ी संबंधी सबसे पहली पुस्तक वेनूचिओ (Vannucio) की **पायरोटेक्निआ** (Pyrotechnia) है जो सन् १५४० ई० की रचना है।

हस्तलिखित पुस्तकों में इस विषय की सबसे प्राचीन पुस्तक **फ्यूएर-वर्क्सबुख** (Feuerwerksbuch) है, जो सन् १४३२ ई० की है, जो फ्राइबुर्ग के यूनीवर्सिटी-पुस्तकालय में है।

चीन देश में आतशबाज़ी का प्रचलन यूरोप से कहीं पुराना है। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रो० एल० कैरिंगटन गुड्रिच (L. Carrington Goodrich) ने अपनी पुस्तक **शॉर्ट हिस्ट्री ऑव् द चाइनीज पीपुल** में चीन की आतशबाज़ी का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि सन् ९६०–१२७५ ई० की अवधिवाले शुंग-काल में युद्ध में बारूद का प्रयोग होता था। पटाखा छुटाने का विवरण ६ठी शती का भी मिलता है। अग्निचूर्ण संबंधी सबसे पुरानी पुस्तक सन् १०४४ ई० की है। इस चूर्ण में गन्धक, शोरा, कागज़, कोयला, तुंग-तैल आदि पदार्थ मिलाये जाते थे, और इसका उल्लेख सन् १००० ई० तक का पुराना मिलता है। तेरहवीं और चौदहवीं शती में मंगोलों ने भी युद्ध में अग्निचूर्ण का प्रयोग किया।

प्रो० टी० एल० डेविस और प्रो० जेम्स आर० वेयर (हार्वर्ड विश्वविद्यालय) ने एक लेख सन् १९४८ ई० में लिखा,[१] जिससे यह स्पष्ट है कि छठी शती में चीन में यूपेह् और हूनान में प्रेतबाधा मिटाने के उद्देश्य से आग में बाँस जलाये जाते थे, पर अग्निचूर्ण वाले पटाखों का प्रचलन अभी आरंभ नहीं हुआ था। सन् ६०३–६१७ ई० में स्यू (Suy) वंश के महाराज यांग-ति (Yangti) ने आतशबाज़ी और पटाखों को प्रश्रय दिया। सन् ६१८–९०६ ई० के एक उल्लेख से पता चलता है कि इस समय अग्निचूर्ण इस कला से जलाया जाने लगा था कि धूमबाण, सर्पबाण आदि उसके मनोरञ्जक रूप हो जायँ। सन् ९६८ ई० में यो-इ-फँग (Yo-I-Fang) ने शुंग नृपों के लिए अग्निचूर्ण से युक्त बाण बनाये। सन् १२२१ ई० में किन-तातारों (Kin Tartars) ने चीन के एक नगर पर तीह्-ह्वो-पाओ (t'ieh-huopao) द्वारा आक्रमण किया। यह तुम्बी के आकार का दो इंच मोटे लोहे का बना एक बमगोला था, जिसमें बारूद भरी थी। चीनी अजायबघरों में सन् १३५६–१४४९ ई० के बीच की बनी लोहे और ताँबे की अनेक तोपें रखी हुई हैं।

श्री परशुराम कृष्ण गोडे ने एक लेख में भारत में आतशबाज़ी का इतिहास प्रकाशित

१. डेविस, टी. एल. और वेयर, जे. आर. : "*Early Chinese Military Pyrotechnics,*" जर्नल आव् केमिकल एडुकेशन, २३, ५२२ (१९३८, सितम्बर)

किया है।[१] विजयनगर के दरबार में देवराय द्वितीय के समय में सुलतान शाह रुख के दरबार का एक दूत अब्दुर्र रज्ज़ाक़ सन् १४४३ ई० में रहता था। इसने लिखा है कि महानवमी उत्सव के अवसर पर उसने वहाँ आतशबाज़ी देखी।[२] रामचन्द्र काक ने कश्मीर के प्राचीन संग्रहों पर जो पुस्तक लिखी[३], उसमें सन् १४२१-१४७२ ई० का जैन-उल-आबदीन के शासन का उल्लेख है, जिसमें लिखा है कि राजा ने स्वयं एक पुस्तक लिखी, जिसमें आतशबाज़ी संबंधी विवरण प्रश्नोत्तर के रूप में थे। कश्मीर में उसके शासन में १४४६ ई० में अग्निचूर्णवाले आग्नेय अस्त्रों का प्रयोग आरम्भ हुआ।

वरथीमा (Verthema) की यात्राओं का एक विवरण प्रकाशित हुआ है।[४] ये यात्राएँ मलक्का और सुमात्रा देश की हैं। प्रसंग से इस विवरण में सन् १४४३ ई० की विजयनगर की आतशबाज़ी का उल्लेख है। यह आतशबाज़ी इस प्रकार कश्मीर से चलकर विजयनगर आदि दक्षिण भारतीय स्थानों में होती हुई १५वीं शती के अन्त तक मलक्का और सुमात्रा द्वीपों में पहुँच गयी। वरथीमा ने अपने विवरण में यह भी लिखा है कि विजयनगर के हाथियों को आतशबाज़ी से बड़ा डर लगता था।

बारबोसा (Barbosa) ने अपनी सन् १५१८ ई० की एक यात्रा में गुजरात के एक विवाहोत्सव का उल्लेख किया है, जिसमें अग्निबाण छुटाये गये थे।

उड़ीसा के गजपति प्रतापरुद्रदेव (सन् १४९७-१५३९ ई०) की एक पुस्तक **कौतुक-चिन्तामणि** है, जिसमें उसने दरबार के विनोदों के प्रसंग में निम्न अग्नि-क्रीडाओं का उल्लेख किया है —

१. "The History of Fireworks in India between A.D. 1400 and 1900" P.K. Gode, The Indian Institute of Culture, Bangalore, Transaction No. 17 May, 1953.

२. "One cannot without entering into great detail mention all the various kinds of pyrotechny and squibs and various other amusements which were exhibited." B.A. Saletore : "Social and Politcal Life of Vijayanagar." (भाग २)

३. *Ancient Monuments of Cashmir*, रामचन्द्र काक, लंदन. १९३३

४. *Travels* (Argonant Press, London. 1928).

'कल्पवृक्ष बाण, चामर बाण, चंद्रज्योति, चंपा बाण, पुष्पवर्त्ति, छुछंदरी रस बाण, तीक्ष्ण नाल और पुष्प बाण।'

इस आतशबाज़ी में निम्न पदार्थों का उपयोग बताया गया है—गंधक, यवक्षार (शोरा), अंगार (कोयला), तीक्ष्ण लोह चूर्ण, (इस्पात चूर्ण), लोह चूर्ण (लोहे का बुरादा), मरकत-सी छविवाला जांगल नामक ताम्र से उत्पन्न द्रव (ताम्रोद्भवं जांगलाख्यं द्रवं मरकतच्छवि), तालक (पीली हरताल), यावान्या गैरिक या गैरिक (ochre), खदिर की लकड़ी (खादिरं दारु), नालक या नाल (बाँस की पोली नाल), वर्त्तिका (बत्ती), पंच क्षार (पंच लवण), तीक्ष्ण लोह, वेणु नाल (बाँस की पोली डंडी), आषु पाषाण या आखु पाषाण (चुम्बक पत्थर), चिन्नुकात्रय (?), एरंडबीज मज्जा (अंडी पीसकर), सूत या पारा, अन्नपिष्ट (आटे की पिट्ठी), वंश-नाल, नाग (सीसा), अर्कांगार (मदार की लकड़ी का कोयला), गोमूत्र, हिंगुल (vermilion or cinnabar) और हरितालक या हरितारक।

प्रो० गोडे का कहना है कि आतशबाज़ी की कला सन् १४०० के लगभग चीन से भारत में आयी।

तंजौर (मद्रास) के पुस्तकालय में **आकाशभैरवकल्प** नामक एक पुस्तक है, जिसमें बन्दूकों और अग्निक्रीडाओं का उल्लेख है।[1] इस पुस्तक में बाण-वृक्षों का निर्देश है, जो बाँस के बने पिंजर होते थे, जिन पर से अग्निबाण अन्तरिक्ष में छोड़े जाते थे। इन पिंजरों पर से आग की ऐसी चिनगारियाँ निकलती थीं कि वे चामर के तुल्य मालूम होती थीं। इन बाणों के छूटने पर अन्त में एक विशेष ध्वनि भी निकलती थी, जिसका उल्लेख यहाँ एक अवतरण में स्पष्ट है।[2]

१. आकाशभैरवकल्प—An Unknown Source of the History of Vijayanagar, P. K. Gode, *Carnatac Historical Review.*, धारवार १९३९।

२. ततः पश्येद्दारुयंत्रविशेषान् स्यन्दनाकृतीन्।
दिवाभ्रान्त्या कल्पयतः केनचित्तेजसा निशि॥
उच्चावचान् बाणवृक्षान् ततः पश्येज्जनेश्वरः।
स्फुलिंगान् चामराकारान् तिर्यगुद्गिरतो बहून्॥
ततः प्रलयकालोद्यद्घनगर्जितभीषणम्।
शृणुयाद् बाणनिनदं विनोदावधिसूचकम्।
एवं प्रतिदिनं राजा विनोदान् पंचविंशतिम्॥ (आकाशभैरवकल्प)

शुक्रनीति में अग्निचूर्ण या बारूद

यह कहना कठिन है कि शुक्रनीति की रचना किस समय हुई। कीथ के कथनानुसार नीतिप्रकाशिका और शुक्रनीति दोनों ही बहुत हाल के ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ का रचनाकाल चाहे जो भी रहा हो, इसमें नालिक (बन्दूक) और द्रावचूर्ण या अग्निचूर्ण (बारूद) का अच्छा वर्णन है।

बृहन्नालिक और क्षुद्रनालिक इस भेद से दो प्रकार की बन्दूकें होती थीं। इनमें तिर्यक् नाल, ऊर्ध्व छिद्र और मूल नाल पाँच बालिश्त की होती थी। लक्ष्य-वेध के हिसाब से ये दो प्रकार की थीं—मूल लक्ष्यभेदी और अग्रय लक्ष्यभेदी। अचूक निशाना साधने के लिए इनमें एक तिल-बिन्दु होता था। यंत्र चलाकर ये दागी जाती थीं और इनके भीतर द्राव चूर्ण भरा जाता था। ये ऊपर से दृढ़ काष्ठ की बनी होती थीं। भीतर से ये एक अंगुल पोली होती थीं। इस पोल के भीतर बारूद भरी जाती थी। इस नालिक में एक दृढ़ शलाका बारूद के नियंत्रण के लिए होती थी। लघु नालिकों को चलाने के लिए पैदल और सवार नियुक्त किये जाते थे।

बृहन्नालिकों को हम तोप कह सकते हैं। जितना बड़ा गोला इस तोप से दागना हो और यह गोला जितनी दूर फेंका जाना हो, उसी हिसाब से मोटी त्वचावाली और भीतर बड़ी पोलवाली बृहन्नालिक बनायी जाती थी। यह विजय दिलानेवाली तोप शकट (गाड़ी) पर चलती थी।[1]

१. नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत् क्षुद्र विभेदतः।
तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पंचवितस्तिकम्॥
मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदि-तिलबिंदुयुतं सदा।
यंत्राघाताग्निकृद् द्रावचूर्णमूलककर्णकम्॥
सुकाष्ठोपांगबुध्नं च मध्यांगुलबिलांतरम्।
स्वान्तेऽग्निचूर्णसंधात्री शलाका संयुतं दृढम्॥
लघु नालिक मप्येतत्प्रधार्यं पत्तिसादिभिः।
यथा यथा तु त्वक्सारं यथा स्थूल बिलान्तरम्॥
यथा दीर्घं बृहद्गोलं दूरभेदि तथा तथा।
मूलकीलोद्गमाल्लक्ष्यसमसंधानभाजि यत्॥
बृहन्नालिकसंज्ञं तत्काष्ठबुध्नविवर्जितम्।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तुसुयुक्तं विजयप्रदम्॥ (शुक्रनीति ४।१०२८–१०३३)

द्रावचूर्ण में पाँच पल शोरा (सुर्वचि-लवण), एक पल गन्धक और आग से (या अन्तर्धूम से) पके अर्क, स्नुही का कोयला (अंगार) एक पल होता था। इन सबको अलग-अलग पीस लिया जाता था। फिर इनमें केले या स्नुही के रस की भावना देते थे और धूप में सुखा लेते थे। यह अग्निचूर्ण पिसने पर शक्कर जैसा हो जाता था।

भिन्न-भिन्न बारूदों में शोरा भिन्न भिन्न भागों में मिलाया जाता था, किसी में छः भाग तो किसी में चार भाग, और कोयला तथा गन्धक ऊपर बताये परिमाण में ही। तोप में लोहे के बड़े गोले या छोटे छोटे छर्रे भी भरे जाते थे।[1]

लघुनालिक (बन्दूक) के लिए सीसा अथवा किसी दूसरी धातु की गोली ली जाती थी और नालास्त्र या तोप के लिए लोहसार अथवा किसी अन्य उचित धातु की। बन्दूक और तोप की सफाई पर उचित ध्यान रखा जाता था। इन्हें संमार्जित करके (माँजकर) स्वच्छ रखते थे।

बारूद तैयार करने के लिए अंगार (कोयला), गन्धक, सुर्वचि लवण, मनःशिला, हरताल, सीस-किट्ट, हिंगुल, कान्तलोह की रज, खपरिया, जतु (लाख), नील्य, सरल-निर्यास (रोज़िन)—इन सब द्रव्यों की बराबर अथवा न्यूनाधिक उचित मात्रा ली जाती थी। अग्निसंयोग द्वारा बारूद के ये गोले लक्ष्य तक फेंके जाते थे।[2]

१. सुर्वचिलवणात् पञ्चपलानि गंधकात्पलम्।
अन्तर्धूमविपक्वार्कस्नुह्याद्यंगारतः पलम्॥
शुद्धात्संग्राह्य संचूर्ण्य संमील्य प्रपुटेद्रसैः।
स्नुह्यर्काणां रसे तच्च शोषयेदातपे तथा॥
पिष्ट्वा शर्करवच्चैतदग्निचूर्णं भवेत्खलु।
सुर्वचिलवणाद् भागाः षड् वा चत्वार एव वा॥
नालास्त्रार्थाग्निचूर्णे तु गंधांगारौ तु पूर्ववत्।
गोलो लोहमयो गर्भः गुटिकः केवलोऽपि वा॥ (१०३४–१०३७)

२. सीसस्य लघुनालार्थे ह्यन्यधातुभवोऽपि वा।
लोहसारमयं वापि नालास्त्रं त्वन्यधातुजम्॥
नित्यसंमार्जनस्वच्छमस्त्रपातिभिरावृतम्।
अंगारस्यैव गंधस्य सुर्वचिलवणस्य च॥
शिलाया हरितालस्य तथा सीसमलस्य च।
हिंगुलस्य तथा कांतरजसः कर्परस्य च॥

कबीर के ग्रन्थों में गोला-बारूद—कबीर का समय सन् १३६९ ई० से १४४९ ई० के बीच का माना जा सकता है। उनके ग्रन्थों में बन्दूख, तोफखाना, गोला, बारूद और तोफ का कहीं कहीं उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि कबीर के समय तक, अर्थात १४वीं शती तक इस देश में बन्दूक और गोला-बारूद का अवश्य प्रचार हो गया था।[१]

निर्देश

१. परशुराम कृष्ण गोडे–हिस्ट्री आव् फायर वर्क्स इन इण्डिया, इण्डियन इंस्टीट्यूट आव् कल्चर, बंगलोर (१९५३)।
२. शुक्रनीति।
३. कबीर साहेब की शब्दावली–भाग १-३–बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (१९३१)।

जतोर्नील्याश्च सरलनिर्यासस्य तथैव च।
समन्यूनाधिकैरंशैरग्निचूर्णान्यनेकशः॥
कल्पयन्ति च तद्विद्याश्चंद्रिकाभादिमंति च।
क्षिपन्ति चाग्निसंयोगाद् गोलं लक्ष्ये सुनालजम्॥ (१०३८–१०४२)

१. इस संबंध में श्री प० कृ० गोडे ने अपने एक लेख में "गाथापञ्चक" (पूना, शक १८३१) नामक कबीर के पदसंग्रह से निम्न उदाहरण दिये हैं।
(क) संत वचन मों पाऊल है बंदुक बाहारदार।
साध की तो कमान बनाई लक्ष लगाय तीर। (पद १६९)
(ख) बीन तोफ तजी हाँ होत आनंदा। (पद १८६, पृ० ४७)
(ग) आंग पर मेलर की जाल रे सेज का तोप धरा सीर पर रे।
...सुवास बंदुक पकरी हाथ... (पद २७६, पृ० ६८)

कबीर साहब की शब्दावली में भी इस प्रकार उल्लेख है—
(क) या तन की बारूद बनी है, सत्तनाम की तोप।
मारा गोला भरम गढ़ टूटा, जीतलिया जम लोक॥ (भाग १ शब्द १७)
(ख) तन बंदूक सुमति का सिंगरा, प्रीति का गज ठहकाई।
सुरति पलिता हरदम सुलगै, कस पर राखु चढ़ाई॥ (भाग १, शब्द ६१)
(ग) सिंगरा सत्त समुझि कै बाँधो, तन बंदूक बनाई।
दया प्रेम का अड़बंद बाँधो, आतम खोल लगाई॥
सत्त नाम लै उड़ै पलीता, हर दम चढ़त हवाई।
दमके गोला घट भीतर में, भस्म के मुरचा ढहाई॥ (भाग ३, शब्द १४)

छत्तीसवाँ अध्याय

प्राचीन भारत के कुछ काँच

प्राग्-ऐतिहासिक मिस्र में अथवा उसके प्राचीन जीवन में काँच लगभग अज्ञात था, यद्यपि काँच की कुछ चीज़ें उसके श्मशान आदि स्थलों में उस युग में बाहर से लाकर अवश्य रख दी गयी थीं, पर वह काँच मिस्र का न था। कृत्रिम विधि से काँच बनाने का व्यवसाय सीरिया में ईसा से २५०० वर्ष पूर्व तक का और मिस्र में ईसा से १५०० वर्ष पूर्व तकका मिलता है। मिस्र के १८वें वंश में देशज काँच बहुत बनने लगा था। सबसे पुराना काँच १५५१-१५२७ ई०पू० का मालूम होता है (यह काँच की एक बड़ी मणिका है, जो ऑक्सफोर्ड के अशमोलिअन अजायबघर में रखी हुई है)। संभवत: मेसोपोटा-मिआ में सबसे पुराना काँच बना हो। उर स्थान के श्मशान (तीसरा वंश) से बहुत सी काँच की बनी मणिकाएँ मिली हैं। इनमें से सबसे पुरानी २१०० ई० पू० की है। ईरान में काँच की क्या स्थिति थी, इसका विशेष अभिलेख नहीं मिलता। चीन के सबसे पुराने काँच वे हैं जो मिस्र से आये थे। चीन में इसका धन्धा तो ईसा के बादपाँचवीं शती में आरंभ हुआ। पर अब सिद्ध हो गया है कि चीन का अपना बनाया हुआ सबसे पुराना काँच ईसा से ५५० वर्ष पूर्व का भी मिलता है।[१] विलियमसन ने एक ऐसे चीनी काँच का उल्लेख किया है, जो क्वार्ट्ज़ का बना था।[२]

भारत का सबसे प्राचीन काँच कौन सा है, यह कहना कठिन है। मित्र के कथनानुसार लंका में ३०० वर्ष ई० पू० काँच बनता था।[३] बुख (Buch)[३] ने कहा है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र (ई० पू० ४ शती) में जिन झूठे रत्नों का उल्लेख है, वे काँच के ही बने होंगे।[३] कुमारस्वामी का अभिमत है कि मौर्यकाल से पूर्व ही काँच

१. आइसिस में सारटोन (Sarton) २५ (१९३६), पृ० ७३; व्हाइट, टूम्ब्स आव् ओल्ड लो-यांग (१९३४), पृ० १४

२. विलियमसन, जर्नीज़ इन नार्थ चाइना ,I पृ० १३१

३. बुख, इकनोमिक लाइफ इन एन्शण्ट इंडिया ,I (१९२४)

का धन्धा इस देश में अच्छा प्रचलित हो गया था।[1] प्लिनी का कहना है कि स्फटिक (rock crystal) के टुकड़ों से काँच इस देश में बनाया जाता था, इसलिए यह उत्तम कोटि का होता था।[2] प्लिनी ने यह भी लिखा है कि भारतीय स्फटिकों को रंगने की कला भी जानते थे, इसलिए वे अनेक प्रकार की कृत्रिम मणि अथवा रत्न (विशेष कर वैडूर्य) बनाने में सफल हुए।[3] किसा (Kisa) ने प्लिनी के इस विचार का खण्डन किया है। काँच बनाने की पुरानी विधि ग्रन्थों में नहीं मिलती।

मोहें-जो-दड़ो और हरप्पा (ई० पू० ३ सहस्र वर्ष) में स्टीएटाइट, पेस्ट या फाऐन्स (faience) के बने आभरण और मणिकाएँ मिली हैं। लुक फेरे हुए (glaze) चमकदार बरतन, मूर्तियों की मणिकाएँ, स्टीएटाइट आदि तो यहाँ मिले हैं, पर वास्तविक काँच का बना कोई पदार्थ नहीं मिला। यह आश्चर्य ही है, क्योंकि जब मेसोपोटामिआ में ई० पूर्व ३ सहस्र वर्ष से काँच बनना आरम्भ हो गया था, तो काँच की वस्तुएँ सिन्धु घाटी में क्यों न पहुँच पायीं।

भारत के सबसे पुराने वास्तविक काँच, जो अब तक मिल सके हैं, वह तक्षशिला, भीर वप्र (Bhir mound) के हैं। इनमें से अधिकांश तो रंगीन हैं, कुछ में अब धुन्ध सा उत्पन्न हो गया है। भीर वप्र के निम्नतम और मध्य भाग से बहुत सी अत्युत्तम मणिकाएँ मिली हैं। इससे स्पष्ट है कि ईसा से तीन शती पूर्व इस देश में काँच बनाने की अच्छी कला विकसित हो गयी थी। वर्तमान पाकिस्तान की मालकंद एजेन्सी के ग्राम दरगाई में पुराने काँच ही नहीं मिले, बल्कि एक भाण्ड भी मिला है, जिसमें संभवतः काँच गलाया जाता था। प्रयाग के भीटा, नालन्दा, आसाम, कुरुक्षेत्र, उदयगिरि (ग्वालियर), अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश) और अरिका-मेडु (पांडिचेरी) के काचों का परीक्षण किया जा चुका है। ब्रह्मगिरि में जो काँच मिले हैं (मणिका और काँच के कड़े), उनसे स्पष्ट है कि आन्ध्र देश में भी इसका अच्छा धन्धा था।

तक्षशिला का काँच—सारणी संख्या १ में तक्षशिला के विविध काँचों का रासायनिक विश्लेषण दिया जाता है।[4] निम्न काँचों का विवरण क्रमसंख्यानुसार इस सारणी में है—

१. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आव् इंडियन एण्ड इंडोनीशियन आर्ट, (१९२७) पृ० १६
२. प्लिनी, नेचुरल हिस्ट्री, XXXVII, २०
३. किसा, डास ग्लास इम एल्टर ट्यूमे (१९०८), पृ० १०६
४. वार्षिक विवरण, आर्को लोजिकल सर्वे आव् इंडिया १९२१–२२ (१९२४), पृ० १२५; १९२२–२३ (१९२५), पृ० १५८

१. लाल पारान्ध काँच—इसमें लेड या सीसे का होना विशेषता है।
२. श्वेत पारान्ध काँच—इसमें एंटिमनी का होना विशेषता है।
३. हीमेटिनम की पतली पट्टी।
४. हरित-नील काँच की पट्टिका।
५. हरित नील चूर्ण (भग्न काँचों का)।
६. पलिद्य या कुम्भी का हलके हरे रंग का काँच।
७. हरी-नीली काँच-पट्टिका।
८. फालसई या नीलवर्ण काँच का टुकड़ा।
९. भूरे काँच का टुकड़ा।
१०. हलके नीले काँच का झुका हुआ टुकड़ा।
११. नीले काँच का कड़ा।

सरकाप (Sirkap) में समुद्रजल के रंग की तीन समूची कुम्भियाँ पायी गयीं। फूँककर कुप्पियाँ या कुम्भियाँ बनाने का अपने देश का यह सबसे पुराना उदाहरण है।

नालन्दा का काँच—बिहार प्रान्त के नालन्दा स्थान पर महायान काल के सबसे पुराने काँच मिले, जिनका रासायनिक विश्लेषण सारिणी संख्या २ में दिया गया है।[1]

विभिन्न स्थलों के काँच—सारणी संख्या ३ में निम्न काँचों का रासायनिक विश्लेषण क्रमसंख्यानुसार दिया गया है[2]—

१. मालकंद एजेन्सी के दरगाई ग्राम का नीला काँच।
२. मालकंद एजेन्सी के दरगाई ग्राम का नीरंग काँच।
३. कुरुक्षेत्र का नील-हरित कड़ा।
४. आसाम की छोटी चिपटी मूंगा-मणिकाएँ।
५. उदयगिरि (ग्वालियर) का काला काँच।
६. रैढ़ (जयपुर) का काँच।
७. मुगल-काल के अन्त का, ताज अजायबघर में रखी नीली कुम्भी का काँच।

१. वार्षिक विवरण, आर्केलोजिकल सर्वे आव् इंडिया १९२२–२३ (१९२५), पृ० १५८; १९३०–३४, २ (१९३६), पृ० ३००
२. वार्षिक विवरण, आर्केलोजिकल सर्वे आव् इंडिया, १९२२–२३ (१९२५), पृ० १५७–५८; १९२४–२५ (१९२७), पृ० १३९

सारणी–१

काँचकी संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
SiO_2	३७.०९	६१.३२	३९.७९	७०.५७	६७.४८	६८.३४	७१.०१	५८.१२	५३.८१	७०.६९	६८.११
Fe_2O_3				१.६०		१.२०	१.८४	१.७४	८.४७	०.८१	२.२७
Al_2O_3	३.१६	१.७०	२.४५	२.४६	३.६४	१.६७	३.७४	५.७४	१.५१	२.८८	२.२२
PbO	३४.८५	शून्य	३८.९३	—	—	—	—	—	—	—	—
SnO_2	—	—	०.२२	—	—	—	—	—	—	—	—
Sb_2O_3	शून्य	५.०८	—	—	२.४२	—	—	—	—	—	—
MnO	०.११	०.२६	?	०.०५	—	०.३४	०.०५	०.१७	०.०८	०.०१	—
Cu	—	—	५.३१	—	—	—	—	—	—	—	—
CuO	—	—	—	०.५५	३.६३	—	०.२४	—	—	—	०–४४
Cu_2O	७.२०	शून्य	—	—	—	—	—	—	—	—	–
CaO	६.४६	९.७४	२.८१	४.६०	४.९२	८.४४	३.७३	८.८५	६.२७	७.०५	४.९१
MgO	०.७०	१.६४	?	२.६८	१.८०	१.४४	२.३२	४.०१	४.५०	०.५०	३.१४
Na_2O	१०.३३	२०.२६	१०.०२	१४.९९	२.४८	१७.७६	१४.९९	१६.७४	२३.५२	१२.८६	१९.१०
K_2O	०.८७		०.५७	२.६५	०.५५	०.९४	८.६५	४.८३	२.३५	४.८५	—
H_2O	—	—	—	—	१४.१	०.४७	—	—	—	—	—

सारणी–२

	१ हलका नीला काँच	२ आकाशी नीला काँच	३ हरे काँच की आयताकार वस्तु	४ लाल काँच की पारान्ध मणिका	५ नीला काँच	६ भ्रष्ट काँच
SiO_2	६२.६१	६१.२१	७०.७४	६१.५०	६३.४४	५६.७२
Fe_2O_3	१.६१	१.६०	१.५४	९.८२	६.९०	१.५९
Al_2O_3	२.०५	१.८१	६.१३			२.७७
FeO	—	—	—	७.०१	—	—
MnO	०.०६	—	सूक्ष्म	—	सूक्ष्म	सूक्ष्म
CuO	—	—	—	—	१.१३	०.७९
Cu_2O	०.५७	०.७५	—	०.४९	—	—
CaO	६.९५	८.१५	२.११	५.२०	८.००	११.९५
MgO	४.१७	३.८३	०.२६	०.०६	४.१४	३.१७
Na_2O	१७.८५	१८.२५	१५.८०	१५.९२	१५.६९	३.६२
K_2O	५.०४	४.९८	२.९४		१.५४	०.४९
CO_2	—	—	—	—	—	१२.८०
H_2O	—	—	—	—	—	७.१६

सारणी–३

	१	२	३	४	५	६	७
SiO_2	६०.४८	६२.१४	८५.३४	५३.२५	५९.६२	७६.१५	६०.१५
Fe_2O_3	२.६०	१.२६	१.७२	९.१६	३.२१	६.३३	१.४९
Al_2O_3	२.९२	२.६१	३.८८	६.१२	३.४२	१.९७	१०.२६
MnO	सूक्ष्म	सूक्ष्म	—	—	—	—	—
Cu	—	—	—	९.१३	—	—	—
CuO	०.६८	—	२.५३	—	—	—	१.३३
CaO	८.६७	८.७१	२.७४	९.१८	७.५५	४.५८	३.२७
MgO	२.५७	२.९७	२.५९	१.४७	२.०३	सूक्ष्म	२.८३
Na_2O	१९.९४	२०.०९			४.१०	१०.९७	२०.६७
K_2O	२.७०	२.६८	१.२०	११.६९	१९.००	—	—

अहिच्छत्र के काँच—सन् १९४०–४४ में जो खुदाई हुई, उसमें इस स्थल पर काँच मिले। अहिच्छत्र उत्तर पञ्चाल प्रदेश (गंगा-यमुना दोआब) की राजधानी थी (ई० पू० ३ शती से लेकर ११ वीं शती पूर्व तक)। काँच सं० १–२ तो पहली शती का बना हुआ है। इन काँचों में नीला रंग कॉपर ऑक्साइड के कारण है और हरा रंग कॉपर और लेड ऑक्साइड दोनों के मिश्रित प्रभाव के कारण।

नीचे की सारणी में दो नमूने (३, ४) उस काँच के भी हैं जो पांडिचेरी के निकट अरिकामेडु में पाया गया।[१]

सारणी–४

	१ अहिच्छत्र का नीला काँच	२ अहिच्छत्र का हरा काँच	३ अरिकामेडु का गहरा बैंगनी काँच	४ अरिकामेडु का नील-बैंगनी काँच
SiO_2	६१.४९	५९.५६	७३.६२	७२.४९
Fe_2O_3	५.२९	५.४०	३.८४	६.५०
Al_2O_3	०.६६	०.०५	१.३८	१.१२
PbO	—	४.२३	०.०७	०.०७
MnO	—	०.०६	५.०१	१.९९
CuO	२.३९	१.८२	—	—
CaO	६.६०	६.५४	१.९६	२.९४
MgO	४.६१	४.३४	०.३०	०.६८
P_2O_5	१.९४	१.३६	—	—
Na_2O	१५.३२	१४.१९	१.३०	०.२०
K_2O	२.६७	२.४१	१२.७८	१४.१४

काँच का यह विवरण हमने बी० बी० लाल के एक लेख से लिया है।[२]

भारत में काँच फूंककर (ब्लो करके) कुम्भियाँ बनाने का कार्य कब आरम्भ हुआ यह कहना कठिन है। किसा (Kisa) के कथनानुसार यह कार्य लगभग आज से २००० वर्ष पूर्व (ईसा संवत् के आरंभ में) आरम्भ हुआ होगा। सरकाप (Sirkap)

१. व्हीलर, एन्शण्ट इंडिया, सं० १, (१९४६), पृ० ९६–९७
२. बी. बी. लाल, एन्शण्ट इंडिया, सं० ८ (१९५२), पृ० १७–२७

में जो समुद्र-नील रंग की तीन कुम्भियाँ मिली हैं, उनसे इस बात की पुष्टि होती है। तक्षशिला की यह कुम्भियाँ अब तक अच्छी अवस्था में सुरक्षित हैं, इससे कला की विकसित अवस्था का परिचय मिलता है। फूँकने के बाद ये कुम्भियाँ ठीक ढंग से ठंडी की गयी होंगी (annealed), अन्यथा इतने दिनों तक बिना विकृति के ये पूर्ववत् बनी न रह सकतीं। तक्षशिला के धर्मराजिका स्तूप से जो काँच की पट्टिकाएँ मिली हैं, उनसे स्पष्ट है कि उस समय काँच की बड़ी-बड़ी वस्तुएँ भी तैयार की जा सकती थीं। कुशलता इतनी प्राप्त हो गयी थी कि सर्वथा दोषहीन पारदर्शक काँच तैयार किये जा सकते थे।

नागर ने अपने एक लेख में व्यक्त किया है कि उत्तर प्रदेश के बस्ती ज़िले के गाँव कोपिया में काँच तैयार करने का पुराना धन्धा था। उन्होंने इस स्थल पर छेददार बहुत सी मणिकाएँ पायीं, जिनमें तागा पिरोया जा सकता था। इसके अतिरिक्त कई प्रकार के काँच के लटकन, चूड़ियाँ, कड़े आदि भी उन्हें मिले। एम० एम० नागर की कल्पना है कि ये वस्तुएँ ई० से ५ शती पूर्व की होंगी। सारनाथ अजायबघर के अध्यक्ष ए० सी० बनर्जी को सैदपुर, भिटारी में भी इसी प्रकार के काँच के पदार्थ मिले। यह स्थान वाराणसी से ४८ मील की दूरी पर है। भिटारी स्कन्दगुप्त (५वीं शती) के समय का पुराना प्रसिद्ध स्थान है।

कोपिया के काँचों की रासायनिक परीक्षा सेंट्रल ग्लास और सिरेमिक इन्स्टीटचूट कलकत्ता में की गयी। पाँच काँचों के परीक्षाफल नीचे दिये जाते हैं (प्रतिशत)।

सारणी–५

	सिलिका	एल्यूमिना	फेरिक ऑक्साइड	टाइटेनिआ	चूना	मैगनीशिया	क्षार	मैंगनीज़ डाइऑक्साइड
१.	६२.२४	८.४८	७.२०	०.५१	३.१३	१.५५	१७.७०	०.२०
२.	७०.३०	५.३०	१.२०	सूक्ष्म	२.३८	१.२०	१९.५१	०.०८
३.	६४.८०	७.३५	०.९५	०.४५	३.१	२.१०	२०.५९	०.०६
४.	६७.१८	७.००	१.५०	०.४०	३.१०	१.६०	१९.१५	०.०७
५.	६०.७२	१०.८४	०.२०	—	८.८५	१.१२	१८.३०	—

निर्देश

१. आर्केलोजिकल सर्वे आव् इंडिया, वार्षिक विवरण।
२. एन्शण्ट इंडिया में प्रकाशित कतिपय लेख।

सैंतीसवाँ अध्याय

भारत का प्राचीन गन्धशास्त्र और गन्धयुक्ति

गन्धशास्त्र से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान से है जिसका संबंध सुगन्धयुक्त इत्र, तैल आदि के साथ है। तैल, इत्र आदि का निकालना या बनाना गन्धयुक्ति कहलाता है। भारतीय गन्धशास्त्र संबंधी सम्यक् सामग्री हमें डा० गोडे के कतिपय निबन्धों में मिलती है। डा० परशुराम कृष्ण गोडे को इस शास्त्र से संबंध रखने वाली दो पुस्तकें भी मिलीं—(१) गंगाधर का **गन्धसार**, और (२) मराठी अनुवाद सहित **गन्धवाद**। गोडे के विचारानुसार इन पुस्तकों की रचना सन् १२००–१६०० ई० के बीच की होगी। **अग्निपुराण भी**, जिसकी रचना डा० हाज़रा (Hazra) के अनुसार सन् ८००–९०० ई० के बीच की है, ज्ञानकोश का एक बृहत् ग्रन्थ है। इसमें **गन्धयुक्ति** संबंधी विस्तृत विवरण है।

अग्निपुराण में गन्धयुक्ति—अग्निपुराण में गन्धयुक्ति संबंधी ८ कर्म (कर्माष्टक) बताये हैं, अर्थात् गन्ध प्राप्त करने के लिए ८ कार्य करने पड़ते हैं—शौच, आचमन, विरेचन, भावन, पाक, बोधन, धूपन और वासन।[1] **गन्धसार** ग्रन्थ के परिभाषा प्रकरण में केवल ६ कर्म दिये हैं—भावन, पाचन, बोध, वेध, धूपन और वासन। **अग्निपुराण** में इस संबंध में २१ धूपद्रव्यों की चर्चा भी है—नख, कुष्ठ, घन, मांसी, स्पृक्क, शैलेयज (शिलाजतु), जल, कुंकुम, लाक्षा, चन्दन, अगुरु, नीरद, सरल, देवदारु, कर्पूर, कान्ता, बाल, कुन्दुरुक, गुग्गुलु, श्रीनिवासक और सर्जरस आदि।[2]

१. **घृतं सुगन्धि भवति दुग्धैः क्षिप्तैस्तथा यवैः।**
भोज्यस्य कल्पनैवं स्याद् गन्धयुक्तिः प्रदर्श्यते ॥१९॥
शौचमाचमनं राम तथैव च विरेचनम्।
भावना चैव पाकश्च बोधनं धूपनं तथा ॥
वासनं चैव निर्दिष्टं कर्माष्टकमिदं स्मृतम्। (अग्निपुराण, अ० २२४, १९–२१)

२. **कपित्थबिल्वजम्ब्वाम्र करवीरकपल्लवैः ॥**
कृत्वोदकं तु यद् द्रव्यं शोधितं शौचनं तु तत्।
एषामभावे शौचं तु मृगदर्पाम्भसा भवेत् ॥

इनमें से दो-दो द्रव्य लेकर सर्जरस और मधु आदि के साथ मिलाने पर **धूपयोग** बनते थे।[1]

अग्निपुराण में स्नानद्रव्यों की भी इसी प्रकार सूची दी गयी है। गंगाधर के ग्रन्थ **गन्धसार** में भी जलवासों का उल्लेख है। स्नानद्रव्य या जलवास वे सुगन्धित पदार्थ हैं, जिन्हें स्नान के लिए उपयोग में आनेवाले जल में मिलाया जाता है। **अग्निपुराण** के स्नान द्रव्य इस प्रकार हैं—शैलेय, तगर, क्रान्ता, चोल, कर्पूर, मांसी, सुरा और कुष्ठ।[2] गन्धसार में राजा के जलवास में त्वक्, कुष्ठ, रेणु, नालिका, स्पृक्का रस, तगर, बालक और केसरपत्र आदि का उपयोग बताया गया है।[3]

इसके अनन्तर अग्निपुराण ने गन्धतैलों का उल्लेख किया है।[4] यहाँ सबसे महत्त्व की बात यह है कि तिलों को अनेक पुष्पों की गन्ध में बसाकर सुगन्धित तैल

नखं कुष्ठं घनं मांसी स्पृक्कंशैलेयजं जलम्।
तथैव कुंकुमं लाक्षा चन्दनागुरुनीरदम्॥
सरलं देवकाष्ठं च कर्पूरं कान्तया सह।
वालः कुन्दुरुकश्चैव गुग्गुलुः श्रीनिवासकः॥
सह सर्जरसेनैवं धूपद्रव्यैर्कविंशतिः।
धूपद्रव्यगणादस्मादेकविंशाद्यथेच्छया॥ (अग्निपुराण, २२४।२१–२५)

१. द्वे द्वे द्रव्ये समादाय सर्जभागैर्नियोजयेत्।
नखपिण्याकमलयैः संयोज्य मधुना तथा॥
धूपयोगा भवन्तीह यथावत्स्वेच्छया कृताः।
त्वचं नाडीं फलं तैलं कुंकुमं ग्रन्थिपर्वकम्॥ (अग्निपुराण, २२४।२६–२७)

२. शैलेयं तगरं क्रान्तां चोलं कर्पूरमेव च।
मांसीं सुरां च कुष्ठं च स्नानद्रव्याणि निर्दिशेत्॥
एतेभ्यस्तु समादाय द्रव्यत्रयमथेच्छया।
मृगदर्पयुतं स्नानं कार्यं कन्दर्पवर्धनम्॥ (अग्निपुराण, २२४।२८–२९)

३. त्वक्कुष्ठरेणुनालिका स्पृक्कारसतगरबालकैस्तुल्यैः।
केसरपत्रविमिश्रैर्नरपतियोग्यं शिरः स्नानम्॥

४. त्वङ्मुरानलदैस्तुल्यैर्बालकार्द्धसमायुतैः।
स्नानमुत्पलगन्धि स्यात्सतैलं कुंकुमायते॥
जातीपुष्पसुगन्धि स्यात्तगरार्द्धेन योजितम्।

तैयार करने का विधान दिया है। ऐसा करने पर जो गन्ध पुष्प में होगी, निश्चय-पूर्वक वह तिल के तैल में भी बस जायगी।[1] गन्धसार में तिल बसाकर सुगन्धित तैल बनाने की विधि कुछ विस्तार से दी है।[2] पहले तिल साफ करके फिर पानी से धोये, फिर कूटे, फिर इनकी भूसी को अलग फटके। फिर धूप में सुखा ले। चौड़े मुख का उपयुक्त पात्र ले। इस पात्र में सुगन्धित फूलों की एक तह बिछाये, फूलों की तह पर एक अंगुल ऊँची तिलों की तह समान रूप से बिछा दे। फिर से तिलों के ऊपर फूलों की एक तह बिछाये और इस पर तिलों की एक तह। फिर पात्र के मुख को ढँक-कर इसी प्रकार दिन-रात के लिए रख छोड़े। दूसरे दिन प्रभात काल में पुराने फूलों को निकालकर अलग कर दे और ताज़े फूलों के भीतर उन्हीं तिलों को पूर्ववत् फिर वासित करे। जब इस प्रकार कई बार करने पर तिलों में फूलों की तीक्ष्ण गन्ध आ जाय, तब उनमें से कोल्हू द्वारा सुगन्धित तेल प्राप्त कर ले।

सद्व्यामकं स्याद् बकुलैस्तुल्यगन्धि मनोहरम् ॥
मञ्जिष्ठा तगरं चोलं त्वचं व्याघ्रनखं नखम् ।
गन्धपत्रं च विन्यस्य गन्धतैलं भवेच्छुभम् ॥ (अग्निपुराण, २२४।३०–३२)

१. तैलं निपीडितं रामतिलैः पुष्पाधिवासितैः ।
वासनात्पुष्पसदृशं गन्धेन तु भवेद् ध्रुवम् ॥ (अग्निपुराण, २२४।३३)

२. तिलान्संशोधितानादौ अद्भिः प्रक्षाल्य कुट्टयेत् ।
निस्तुषीकृत्य घर्मे तान् शोषयेद्विमलांस्ततः ॥
वासयेत्तद्यथा पात्रं संशुद्धं विततान्नम् ।
धूपयित्वा तस्य तलमास्तीर्य कुसुमैः शुभैः ॥
तानि प्रच्छादयेदेकांगुलोत्सेधतिलैः समम् ।
पुनः प्रसूनैरास्तीर्य पुनः प्रच्छादयेत्तिलैः ॥
एवं प्रसूनां तरितैस्तिलैः पात्रं प्रपूरयन् ।
पिधाय पात्रवदनं वासयेत्तदहर्निशम् ॥
ततः प्रभाते संशोध्य तिलान्पुष्पाणि संत्यजेत् ।
पुनः पुनर्यथापूर्वं तिलांस्तानेव वासयेत् ॥
यावत्तिलाः प्रजायन्ते कटुका गंधवेदनात् ।
तावत्पुष्पैर्वसायित्वा यंत्रे निष्पीडयेत्ततः ॥ (गन्धसार)

अग्निपुराण में इलायची, लवंग, कक्कोल, जातीफल, जातीपत्रिका आदि को मुखवासक (मुखसुगन्धक) बताया गया है।[1]

सुगन्धित गुटिकाओं के बनाने में किन द्रव्यों का उपयोग करना चाहिए, इसका भी उल्लेख अग्निपुराण में आया है।[2]

इसी प्रकार पान आदि के साथ अथवा अलग से भी मुख-शुद्धि के निमित्त मुखवासक द्रव्यों का उल्लेख अग्निपुराण में है।[3]

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में गन्धयुक्ति—अग्निपुराण के समान इस पुराण में भी गन्धयुक्ति सम्बन्धी आठ कर्म बताये गये हैं—शोधन, वसन, विरेचन, भावना, पाक, बोधन, धूपन और वासन।[4] शोधन आदि कार्यों के लिए बहुधा "पंचपल्लव वारि"

१. ऐलालवंगकक्कोलजातीफलनिशाकराः ।
जातीपत्रिकया सार्द्धं स्वतन्त्रा मुखवासकाः ॥ (अग्निपुराण, २२४।३४)

२. कर्पूरं कुंकुमं कान्ता मृगदर्पं हरेणुकम् ।
कक्कोलैलालवंगं च जातीकोशकमेव च ॥
त्वक्पत्रं त्रुटिमुस्तौ च लतां कस्तूरिकां तथा ।
कण्टकानि लवंगस्य फलपत्रे च जातितः ॥
कटुकं च फलं राम कार्षिकाण्युपकल्पयेत् ।
तच्चूर्णे खदिरं सारं दद्यात् तुर्यं तु वासितम् ॥
सहकाररसेनास्य कर्तव्या गुटिकाः शुभाः ।
मुखन्यस्ताः सुगन्धास्ता मुखरोगविनाशनाः ॥ (अग्निपुराण, २२४।३५–३८)

३. पूगं प्रक्षालितं सम्यक् पञ्चपल्लववारिणा ।
शक्त्या तु गुटिका द्रव्यैर्वासितं मुखवासकम् ॥
कटुकं दन्तकाष्ठं च गोमूत्रे वासितं त्र्यहम् ।
कृतं च पूगवद्राम मुखसौगन्धिकारकम् ॥
त्वक्पथ्ययोः समावंशौ शशिभागार्द्धसंयुतौ ।
नागवल्लीसमो भाति मुखवासो मनोहरः ॥ (अग्निपुराण, २२४।३९–४१)

४. शोधनं वसनं चैव तथैव च विरेचनम् ।
भावना चैव पाकश्च बोधनं धूपनं तथा ॥
वासनं चैव निर्दिष्टं कर्माष्टकमिदं शुभम् । (विष्णुधर्मोत्तरपुराण खंड २, अध्याय ६४, पृ० २२० वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई)

का उल्लेख है। इसका अभिप्राय कपित्थ (कैथ), बिल्व, जम्बु, आम्र और बीजपूरक (या करवीरक) इन पाँचों के पल्लवों से ह। इनके रसों का मिश्रण ही "पंचपल्लव वारि" है। इनके रसों से शोधन करना ही कर्माष्टक में शोधन कहलाता है। पंचपल्लव-रस न प्राप्त होने पर मुस्त के रस से भी काम लिया जा सकता है। द्रव्य को इन रसों के साथ बार-बार सुखाना, धोना, क्वाथ बनाना आदि करना पड़ता है।[1]

१. कपित्थबिल्वजम्बाम्रबीजपूरकपल्लवैः ॥
कृत्वोदकं तु यद्द्रव्यं शोधितं शौचितं तु तत्।
तेषामभावे शौचं तु मृतदर्शाम्भसा भवेत् ॥
तदभावे तु कर्तव्यं तदा मुस्ताम्भसा द्विज ।
शुष्कं शुष्कं पुनर्द्रव्यं पंचपल्लव वारिणा ॥
प्रक्षालितं चाप्यसकृद् वमितं तत्प्रकीर्तितम् ।
पंचपल्लवतोयेन क्वाथयित्वा पुनः पुनः ॥
द्रव्यं संशोषितं कृत्वा चूर्णं तस्य तु कारयेत् ।
हरीतकीं ततः पिष्ट्वा पंचपल्लववारिणा ॥
तेन पथ्याकषायेण तच्चूर्णं भावयेत् सकृत् ।
शोषितं शोधयेदेतद् विरेचनं तत्प्रकीर्तितम् ॥
ततस्तु गंध द्रव्येण यथेष्टं कुंकुमादिना ।
भावयेत्तेन तद् द्रव्यं भावना सा प्रकीर्तिता ।
तेनैव भावयेद् द्रव्यं पंचपल्लववारिणा ।
आश्वत्थेनैव तेनाथ द्रव्यं राम तथास्तु तत् ॥
मृदा पिहितसत्त्वौ तु मृन्मये भाजनद्वये ।
विपचेत्तु विधूमाग्नावर्त्तधूमः पुनः पुनः ॥
तावेव क्वाथयेत्तावत्तत्रैवानुगतो रसः ।
एतत् पाकविधानं ते पञ्चमं परिकीर्तितम् ॥
ततस्तु भावनाद्रव्यं कल्कपिष्टं नियोजयेत् ।
कल्कपिष्टे तथा द्रव्ये बोधनं परिकीर्तितम् ॥
ततस्तु पूजयेद् द्रव्यं पूर्वमेव तु पथ्यया ।
ततस्तु गुरुशुक्तिभ्यां चन्दनागरुभिस्ततः ॥
कर्पूरमृगदर्पाभ्यां ततश्चैनं तु धूपयेत् ।
इत्येतद् वासनं नाम कर्म तद्विहितं मया ॥
ततस्तु गुलिकां कृत्वा यथाकाममतन्द्रितः ।

इस प्रकार शोधित द्रव्य को पीसकर, फिर उसमें पंचपल्लव-वारि की सहायता से हरीतकी की पिष्टी बनाकर कषाय की भावना देने का नाम **विरेचन** है।

कुंकुमादि गन्धद्रव्यों के साथ यथेष्ट भावना देने का नाम **भावना** है।

इस द्रव्य को पंचपल्लव-वारि से भावना देकर मिट्टी के दो भाण्डों में रखकर अनेक प्रकार से पाक देने का नाम **पाककर्म** है। यह पाँचवाँ कर्म है।

इस भावनाद्रव्य को कल्कपिष्ट के साथ संयुक्त करने का नाम **बोधन** है।

बोधन के बाद चन्दन, अगुरु, कपूर, कस्तूरी के साथ **धूपन** करते हैं। धूपन के बाद गोली बनाकर बकुल जाति के पुष्पों अथवा अन्य सुगन्धों के साथ छाया में रखकर सुखाने या "बसाने" का नाम **वासना** कर्म है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण और **अग्निपुराण** के विवरणों में बहुत कुछ साम्य है। **अग्निपुराण** के जो श्लोक पीछे उद्धृत हैं, उनमें से लगभग सभी (श्लोक २० से ४१ तक) थोड़े बहुत भेद के साथ **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** में भी पाये जाते हैं। इस पुराण के इस प्रकरण का इति-वाक्य इस प्रकार है—"इति श्रीविष्णुधर्मोत्तरे द्वितीयखण्डे मा० सं० रामं प्रति पुष्करोपाख्यानं गन्धयुक्तिर्नाम चतुःषष्टितमोऽध्यायः।" इस अध्याय में ४९ श्लोक गन्धयुक्ति विषयक हैं।

कल्किपुराण में देवपूजा के निमित्त गन्धद्रव्य——कल्किपुराण के ७३वें अध्याय में पाँच प्रकार की गन्ध देवपूजा के निमित्त प्रीतिदायक बतायी गयी है—चूर्णीकृत, घृष्ट, दाहाकर्षित, सम्मर्दज और प्राण्यंगोद्भव। इनमें से गन्धचूर्ण, गन्धपत्र और फूलों का चूर्ण "चूर्णीकृत" वर्ग में है। ये पिसे हुए पदार्थ हैं। जिनकी गन्ध घिसने से गुण प्रकट करे, जैसे चन्दन या अगुरु, वे दूसरे "घृष्ट" वर्ग के हैं। जो जलाने पर या आग के संयोग से गन्धगुण विस्तीर्ण करे वे "दाहाकर्षित" वर्ग के द्रव्य हैं, जैसे देवदारु, अगुरु, ब्रह्मशाल, शारान्त चन्दन, प्रिय आदि। जिनका रस निचोड़कर सुगन्ध द्रव्य के रूप में व्यवहार में आता है, वे "सम्मर्दज" वर्ग के कहलाते हैं, जैसे बिल्व, तिलक आदि। मृगनाभि से निकली कस्तूरी "प्राण्यंगज" है, क्योंकि मृग के कोष से यह उत्पन्न होती है।[1]

पुष्पैर्बकुलजातीनां तथान्येषां सुगन्धिभिः ॥
छायासु शोष्यमाणस्य वासना क्रियते तु या।
वासना सा विनिर्दिष्टा कर्मैतच्चाष्टमं शुभम् ॥ (वि० ध० पु० २।६४।१-१६)

१. गन्धं च सम्यक् शृणुतं पुत्रौ बेतालभैरवौ।
चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहाकर्षित एव वा ॥

पूजा की पाँच सामग्रियाँ बतायी जाती हैं—"गन्धं पुष्पं च धूपं च दीपं नैवेद्यमेव च" (कल्कि० ७३।१०१)। **कल्किपुराण** में धूप का विस्तृत विवरण दिया गया है। धूप वह है जिसका काष्ठ आदि अग्नि पर छोड़ने से धूम उत्पन्न हो और वह धूम नाक में मनोहर गन्ध की भावना दे। धूप निम्न पदार्थों से तैयार की जाती है—चन्दन, सरल, शाल, काली अगर, उदय, सुरथ स्कन्द, रक्तविद्रुम, पीतशाल, विमर्दी काशल, नमेरू, देवदारु, बिल्वसार, खदिर, सन्तान, पारिजात, हरिचन्दन और वल्लभ। इनके अतिरिक्त कपूर, श्रीकर, श्रीहर, आमक, वराहचूर्ण, उत्कल, जातीकोष, कस्तूरी आदि का प्रयोग भी धूपों में होता है। ये सब घ्राण को प्रिय लगनेवाली धूपें पाँच प्रकार की हैं—निर्यास (गोंद आदि), पराग, काष्ठ, गन्ध और कृत्रिम।[1]

भिषगार्य की अभिधानमञ्जरी और अमरकोश में धूपद्रव्य—केरल प्रदेश में **अभिधानमंजरी** ग्रन्थ का प्रचार है। इस निघण्टु ग्रन्थ के तृतीयवर्ग में (मदनादिगण वर्ग में) गन्धद्रव्यों का अच्छा उल्लेख है। इनमें से कुछ का उपयोग धूपद्रव्यों में भी होता है।

रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यंगोद्भव एव वा।
गन्धः पञ्चविधः प्रोक्तो देवानां प्रीतिदायकः॥
(कल्कि पुराण अध्याय ७३, पत्र १८९)

१. एवं वा कथितो दीपो धूपं च शृणुतं सुतौ।
नासाक्षिरन्ध्रसुखदः सुगन्धोऽतिमनोहरः॥
दह्यमानस्य काष्ठस्य प्रयतस्येतरस्य च।
परागस्याथवा धूमोनिस्तापो यस्य जायते॥
स धूप इति विज्ञेयो देवानां तुष्टिदायकः।
राशीकृतैर्न चैकत्र तैर्द्रव्यैः परिपूजयेत्॥...
यक्षधूपो वृक्षधूपः श्रीपिष्टोऽगुरुझर्झरः।
पत्रिवाहः पिण्डधूपः सुगोलः कण्ठ एव च॥
अन्योन्ययोगनिर्यासा धूपा एते प्रकीर्तिताः।
एतैर्विधूपयेद्देवान् धूमिभिः कृष्णवर्त्मना॥
येषां धूपोद्भवैर्घ्राणैस्तुष्टिं गच्छन्ति जन्तवः।
निर्यासश्च परागश्च काष्ठं गन्धं तथैव च॥
कृत्रिमश्चेति पञ्चैते धूपाः प्रीतिकराः पराः।
न यक्षधूपं वितरेन्माधवाय कदाचन॥ (कल्कि० ७३।३२-४४)

इसी प्रकार अमरकोश में भी गन्धद्रव्यों की सूची कई स्थलों पर है—रक्त चंदन, चन्दन, जातीकोश, जातीफल, कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, कंकोल (यक्षकर्दम) आदि को अमरकोश में शरीर पर लगानेवाले अनुलेपों में, वर्ति में (अगरबत्ती आदि के समान बत्तियों के रूप में), वर्णक के रूप में (रंग देने के रूप में) और वास-योग (सुगन्ध संबंधी नुसखों) आदि में प्रयोग करने के निमित्त बताये गये हैं।[1]

सोमेश्वर के मानसोल्लास में धूपभोग—चालुक्य वंश के नृपति सोमेश्वर ने ११३० ई० के निकट **मानसोल्लास** की रचना की। इसमें एक परिच्छेद धूपभोग (विंशति ३. अध्याय १९) नाम से है।[2] इसमें गन्ध द्रव्यों की सूची इस प्रकार है—लाक्षा, गुग्गुल, कर्पूर, राल, कुण्टुरु, सिल्हक (या सिह्लक), श्रीखण्ड, दारु, सरल, लघुकोष्ठ, वालक, मांसी, कुंकुम, पथ्या, कस्तूरी, पूतिबीजक, शंखनाभि, नख। इन्हें बराबर लेकर चूर्ण करके चीनी, मधु, घी और गुड़ के साथ मिलाये। फिर दुगुना लघु (agallochum) और कर्पूर मिलाये, तो अच्छी धूप तैयार होती है। गुड़ के साथ पिण्ड बनाकर इनकी पिण्डधूप भी बनायी जा सकती है। पानी, मधु और घी के साथ पीसकर इनकी बत्ती तैयार की जा सकती है। धूपबत्ती के प्रयोग का विस्तृत विवरण **मानसोल्लास** में है।[3]

१. गात्रानुलेपनं वर्तिर्वर्णकं स्याद् विलेपनम्।
चूर्णानि वासयोगाः स्युर्भावितं वासितं त्रिषु॥ (अमर०, पंक्ति १३४०-१)

२. मानसोल्लास, बड़ोदा, १९३९, भाग २, पृ० १४४—१४५

३. अधुना धूपभोगोऽयं वर्ण्यते सौरभोत्कटः।
लाक्षा गुग्गुल कर्पूररालकुण्टुरुसिल्हकम्॥
श्रीखण्डं दारु सरलं लघुकोष्ठं च वालकैः।
मांसी कुंकुम पथ्या च कस्तूरीपूतिबीजकैः।
शंखनाभिनखैश्चैव सिता मधु घृतं गुडः।
समान्येतानि चूर्णानि द्रवद्रव्यं विहाय च॥
द्विगुणं लघु कर्पूरं चूर्णधूपोऽयमुत्तमः।
एतान्येव हि सिल्हेन मिश्रयेन्मधुसर्पिषा॥
गुडेन पिण्डयेत्पश्चात् पिण्डधूपो वरो मतः।
द्रव्याण्येतानि तोयेन पिष्टानि मधुसर्पिषा॥
वर्तिरूपाणि शुष्काणि वर्तिधूपो मनोहरः।
रीतिरूप्यमयो वापि सुवर्णघटितोऽथवा॥ (मानसोल्लास, १६, ९७—१०२)

रसरत्नाकर में गन्धवाद—नित्यनाथ सिद्ध की यह रचना १३वीं शती की कही जाती है। इसके वादि-खण्ड के नवम अध्याय में एक श्लोक है, जिसमें रत्न बनाने की विद्या और गन्धवाद का बड़ा महत्त्व दिखाया गया है।[1] इसी खण्ड में चन्दन बनाने, कपूर बनाने, कुंकुम बनाने, कस्तूरी बनाने, दिव्य धूप बनाने और पुष्पद्रुति तैयार करने की विधियाँ दी गयी हैं।

दिव्य धूप—कस्तूरी, शशि, कुंकुम, नख, मांसी, सर्जरस, मुस्ता, काला अगुरु, शक्कर और चन्दन—इन दसों को पीसकर चूर्ण कर ले, फिर इसमें बराबर भाग गुग्गुल मिलाकर एक साथ कूटे, फिर तेल मिलाकर लोह की मूठ से पत्थर पर इसकी बत्ती बनाये। इस बत्ती का सिरा जलाये, ज्वाला को फूंककर बुझा दे। इस प्रकार दिव्य धूप तैयार होगी, जो मंत्र-सिद्धि में लाभकर है।[2] वराह मिहिर की बृहत्संहिता (७६।६–१६) में गन्धयुक्ति का प्रकरण भी धूप आदि के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।

पुष्पद्रुति—जातीपुष्प एक पल, पिसा टंकणक्षार एक निष्क, शहद तीन निष्क, इन सबको एक साथ घोटे और वज्रीक्षार मिलाकर कपड़े में बार-बार छानकर सात दिन धूप में सुखाये। धूप में मिट्टी या काँच के पात्र में रखे, ऊपर से पानी से भीगा कपड़ा ढक दे। ऐसा करने से पुष्प की द्रुति शीघ्र तैयार हो जाती है। जातीपुष्प के

१. संसारे सारभूतं सकलसुखकरं सुप्रभूतं धनं वै,
तत्साध्यं साधकेन्द्रैर्गुरुमुखविधिना वक्ष्यते तस्य सिद्धचै।
रत्नादीनां विशेषात्करणमिह शुभं गंधवादं समग्रं,
ज्ञात्वा तत्तत्सुसिद्धं ह्यनुभवपथगं पावनं पण्डितानाम्॥
(श्री जे० के० शास्त्री (१९४०) द्वारा प्रकाशित रसरत्नाकर, वादिखण्ड, ९।१)

२. क्रमोत्तरगुणं कुर्यात् कस्तूरीशशिकुंकुमम्।
नखमांसी सर्जरसं मुस्ता कृष्णागुरुः सिता॥
चन्दनं च दशैतानि चूर्णितानि विमिश्रयेत्।
चूर्णं तुल्यैर्गुग्गुलुभिः सर्वमेकत्र कुट्टयेत्॥
स्तोकं स्तोकं क्षिपेत्तैलं शिलायां लोहमुष्टिना।
दिनमेकं प्रयत्नेन वर्तिकां तेन कारयेत्॥
तदग्रंज्वलितं कुर्याज्ज्वालां निर्वाप्य तत्क्षणात्।
देवानां दिव्यधूपोऽयं मंत्राणां साधने हितः॥ (रसरत्नाकर, ९।१२०–१२३)

समान इसी प्रकार अन्य पुष्पों की द्रुति भी बनायी जा सकती है, जो गंधवाद में सुगन्ध के रूप में प्रयोग की जा सकती है।[1]

गंगाधर का गन्धसार—डा० प० कृ० गोडे ने गंगाधर के **गन्धसार** और एक और ग्रन्थ **गन्धवाद** का उद्धार करके यह स्पष्ट कर दिया कि गन्धवाद भी एक शास्त्रीय विषय हमारे देश में परम्परा से माना जाता रहा है और इस पर भी पुरानी रचनाएँ प्राप्त हैं। वराहमिहिर (सन् ५०० ई०) के प्रसिद्ध ग्रन्थ बृहत्संहिता में गन्धशास्त्र की चर्चा भी महत्त्वपूर्ण है।

गंगाधर के **गन्धसार** की एक प्रति डा० परशुराम कृष्ण गोडे को श्री पं० रंगाचार्य रेड्डी के संग्रह में भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना के पुस्तकालय में मिली। यह हस्तलिखित प्रति लगभग २०० वर्ष पुरानी है, जिसमें ४९ पत्रों पर ग्रन्थ लिखा गया है। इस प्रति के १–२७क पृष्ठ तक तो **गन्धसार** ग्रन्थ है, फिर इसके आगे ४९ पृष्ठ तक **गन्धवाद** ग्रन्थ है, जिसकी साथ-साथ मराठी टीका भी है।

गन्धसार के प्रारम्भिक श्लोकों में ही लेखक ने गन्धशास्त्र की उपयोगिता बतायी है। इसकी सहायता से देवों की अर्चना में सजीवता आ जाती है। इससे मनुष्य पुष्टिमान् होते हैं, तीनों वर्ग के फल को यह देनेवाला है। दरिद्रता को दूर करता है। राजाओं को इससे तुष्टि प्राप्त होती है और विदग्ध वनिताओं के चित्त को यह आनन्द देनेवाला है।[2]

१. वज्रीक्षीरेण संयुक्तं शुद्धं वस्त्रं पुनः पुनः।
आतपे शोषितं कुर्यादित्येवं दिनसप्तकम्॥
जातीपुष्पपलैकं तु निष्कं चूर्णितटंकणम्।
क्षौद्रं निष्कत्रयं योज्यं सर्वमेकत्र लोलयेत्॥
मृत्पात्रे धारयेद् घर्मे रम्ये वा काचभाजने।
आच्छादयेत्तु वस्त्रेण जलसिक्तेन तत्क्षणात्॥
द्रवंति तानि पुष्पाणि युंज्याद्योगेषु तद्द्रवम्।
अनेनैव प्रकारेण पुष्पाणां च पृथक् पृथक्।
द्रुतिः कार्या सुगन्धानां गन्धवादेषु योजयेत्॥ (रसरत्नाकर, ९।१२८–१३१)

२. देवानां शुभगंधधूपसहितस्यार्चाविधेरर्पकम्,
नृणां पुष्टिकरं त्रिवर्गफलदं स्वस्याप्यलक्ष्मीहरम्,
राज्ञां तोषकरं विदग्धवनिताचित्तप्रमोदप्रदम्,
शास्त्रं सच्छुभगंधशासनमतो दिङ्मात्रमत्रोच्यते॥ (गंधसार, १।४–५)

प्रस्तुत ग्रंथ में तीन प्रकरण हैं—१. परिभाषा प्रकरण, २. गंधोदकादि नाना गंधोपयोगी प्रकरण और ३. निघण्टु परिसार निघण्टु परीक्षादि प्रकरण ।

इन प्रकरणों के विषय नाम से ही स्पष्ट हैं । पहले प्रकरण में शास्त्रीय परिभाषाएँ हैं । दूसरे में गंधोदक, पारिजात, मुखवास, गंधतैल, वर्ति, निर्यास, जलवास, स्यंदु, धूलन आदि तैयार करने की विधियाँ हैं। तीसरे में गन्ध द्रव्यों की सूची है, जिसके अन्तर्गत पत्रवर्ग, पुष्पवर्ग, फलवर्ग, त्वक्-वर्ग, काष्ठवर्ग, मूलवर्ग, निर्यासवर्ग और जीववर्ग हैं। फिर इनकी परीक्षाएँ दी गयी हैं।

परिभाषा प्रकरण में गंगाधर ने गन्धशास्त्र संबंधी छ: कर्म बताये हैं[1] (**अग्निपुराण** में आठ हैं)—भावन, पाचन, बोध, वेध, धूपन और वासन । गंधचूर्ण को अम्बु द्रव्यों (liquids) के साथ भिगोकर रखने का नाम **भावन** है। भावन के बाद पाक करने (ripening or decoction) का नाम **पाचन** है। पाचन के बाद गन्ध-द्रव्य की गन्ध को फिर से व्यक्त कर देने का नाम **बोधन** है। इसके बाद इसी प्रकार की कोई विधि **वेधन** है (यह इस ग्रन्थ में स्पष्ट नहीं है) । सुगन्धि द्रव्यों को अग्नि के संयोग से धूमवत् प्रसारित करने का नाम **धूपन** है। फूलों की गन्ध से अन्य पदार्थों में, जैसे तेल में सुगन्धि बसा लेने को **वासन** कहते हैं ।

इस प्रसंग में पाचन कर्म के अन्तर्गत गंगाधर ने पुटपाक, गर्तपाक, वेणुपाक, दोला-पाक, खर्परपाक, बैजपूर-पाक, हंसपाक और कालपाक का उल्लेख किया है। पत्तों में बाँधकर ऊपर से मिट्टी का लेप कर अग्नि में पकाने का नाम **पुटपाक** है। पात्र को गन्ध-द्रव्य से भरकर ऊपर से मिट्टी से बन्द करे और गड्ढे में रखकर ऊपर से आग जलाये, तो यह **गर्तपाक** हुआ । गन्धद्रव्य को बाँस की नली में बन्द करके पकाये, तो **वेणुपाक** हुआ । गंध द्रव्य को भाण्ड में रखकर भाप से इसका स्वेदन करे तो यह **दोलापाक** हुआ। बड़े खर्पर का पुट बनाकर नीचे से आग जलाकर गन्धद्रव्य को सुखाये तो यह **खर्परपाक** हुआ। बाह्य और आभ्यन्तर का परिवर्तन करके द्रव्य को बीच में प्रविष्ट कराके जो विशेष पाक पुटपाक से मिलता-जुलता है, उसे **बैजपूर पाक** कहते हैं। स्थूल भाण्ड में रखकर आग पर गरम करने को **हंसपाक** और अन्न के ढेर में रखकर पाक करने को **कालपाक** कहते हैं।[2]

१. भावनं पाचनं बोधो वेधो धूपनवासने ।
एवं षडत्र कर्माणि द्रव्येषूक्तानि कोविदैः ।। (गन्धसार, १–६)

२. पिष्ट्वा गन्धांबुनि द्रव्याण्युक्तान्यालोड्य भावयत् ।
भाव्यं संशोषयेत्पश्चादेवं वारांस्तु पंचषान् ।।

गंगाधर ने दूसरे प्रकरण में गंधजल आदि बनाने के विधान दिये हैं। तीसरे प्रकरण में द्रव्यों का वर्गानुसार विभाजन इस प्रकार किया है—

पत्रवर्ग—तालीसपत्र, झूल, रामकर्पूर, प्रतापा, दमन, मूर्वा, तुलसी।

पुष्पवर्ग—लवंग, कुंकुम-केसर, केतकी, कदंब, बकुल, सुरपुंनाग, शतपुष्प, मालती, जाई, माधवी, कुंद, मुचकुंद, चम्पक, सुरपुष्पी, प्रियंगु, शेफाली।

फलवर्ग—मरिच, कंकोल, सूक्ष्मैला, स्थूलैला, जाईफल, रेणुका, हरीतकी, आमलकी, लताकस्तूरी, चोरपुष्पी, सोंफ, धनिया (धानक), विहाणी, शांडिल्य, श्रीफल, सरेसी।

कुर्याद् भावनमेतस्यात्पाकःस्याद् बहुधा यथा।
पंचपत्रपुटाबद्धं मृल्लिप्तं चांगुलोन्नतम्॥
पचेत् कारीषके वह्नौ पुटपाकोऽयमीरितः।
गर्ते पात्रं गंधगर्भं कृत्वापूर्य मृदावटम्॥
प्रज्वाल्योऽग्निस्तदुपरि गर्तपाको भवेदयम्।
नलिकां द्रव्यगर्भां तु रौद्रे कुर्याद् विमुद्रितम्॥
सप्ताहं वेणुपाकः स्यादग्नौ वा स्वेदनेंऽबुना।
वस्त्रं गन्धद्रव्यगर्भं भांडे संमुद्रितेतरा॥
स्वेद्यं गंधांबुवाष्पेण दोलापाके विधिस्त्वयम्।
सभावनाद्यम्बुद्रव्यगर्भे पुटितकर्पटे॥
मुद्रिते मुद्रितबृहत्सुखर्परपुटे न्यसेत्।
तले प्रज्वालयेद् वह्निं यावदंतःस्थितं जलम्॥
शुष्येत्खर्परपाकोऽयं मातुलुंगांतरे स्थितम्।
अपनीय ततो बाह्याभ्यंतरं परिवर्त्य च॥
द्रव्यं तन्मध्यगं कृत्वा विपचेत्पुटपाकवत्।
पाकोऽयं बैजपूरः स्याद् बिल्वे तद्वच्चकारभः॥
शिग्रुमूलाभ्यंतरे च तद्वत्पाकस्तु मूलजः॥
भाण्डं गंधद्रव्यगर्भं मुद्रितं जलपूरिते॥
स्थूले भांडे स्थितं पाकाद् हंसपाकोऽनले भवेत्।
स्याद् धान्यराशिमध्यस्थे कालपाकश्चिरेण सः॥ (गंधसार, १।७–१७)

त्वक्-वर्ग—कर्पूरत्वक्, तज, लवंगत्वक्, थैलवालुक, एलावालुक, नली, खर्जूर कौश, अशोकत्वक्, लगतु।

काष्ठवर्ग—चन्दन, अगुरु, रक्तचन्दन, देवदारु, मंजिष्ठा, इक्षु।

मूलवर्ग—कूण, पुष्करमूल, भद्रमुस्ता, गंधमुस्ता, महासुगन्ध, गांठिवन, थुणेरा, वाल, उशीर, लामज्जक, जटामांसी, कर्चूर।

निर्यासवर्ग—कर्पूर, सिल्हरस, बोल, गुग्गुलु, श्रीवास, सरल, राल, शर्करा।

जीववर्ग—कस्तूरी, सयाल, नखी, घृत, मधु, मयण, लाक्षा, वंशलोचन।

पद्मश्री द्वारा वर्णित गन्धद्रव्य—पद्मश्री नामक एक बौद्ध विद्वान् का सन् १००० ई० के लगभग का एक ग्रन्थ **नागर-सर्वस्व** है, जिसका सम्पादन बम्बई से श्री टी० त्रिपाठी ने १९२१ में किया है। इस रसग्रन्थ की टीका नेपाल के जगज्ज्योतिर्मल्ल ने १६१७–३३ ई० में की। इस ग्रन्थ में एक प्रकरण गन्धाधिकार है जिसमें गन्ध-द्रव्यों की सूची निम्न प्रकार से दी है —

केशपटवास—नख, कर्पूर, कुंकुम, अगुरु, शिल्हक, सित-शर्करा।

कक्षवास—पत्रक, शैलज, शिल्हक, कुंकुम, मुस्ता, अभया, हरीतकी, गुड़।

गृहवास—कस्तूरी, कर्पूर, कुंकुम, नख, मांसि (जटामांसी), वाल (चन्दन), अगुरु, गुड़।

मुखवास—जातीफल, कस्तूरी, कर्पूर, आम्ररस, अगुरु, शिल्हक, मधु, गुड़, सिता (शर्करा)।

वदनवास (राजाओं के निमित्त)—त्वक्, एला, मांसि, शठी, अगुरु, कुंकुम, मुस्त, घनचन्दन, जातीफल, लवङ्ग, कङ्कोल, कर्पूर, वंशलोचन, शर्करा, सहकार (आम्ररस)।

जलवास (राजाओं के निमित्त)—सूक्ष्मैला, कस्तूरी, कुष्ट, तगर, पत्र, चंदन, (इसका नाम मलयानिल जलवास भी है)।

पूगवास (राजाओं के निमित्त)—कुष्ट, तगर, जातीफल, कर्पूर, लवंग, एला, पूगफल।

स्नानीय चूर्णवास—त्वक्, अगुरु, मुस्त, तगर, चौर, शठी, ग्रन्थि, पर्ण, नख, कस्तूरी।

चतुःसम—कस्तूरी, कर्पूर, कुंकुम, चन्दन।

उद्वर्तन (राजाओं के निमित्त)—कस्तूरी, कर्पूर, चन्दन, शैलेय, नाग (नाग-केशर), अगुरुक।

चूर्ण (राजाओं के निमित्त)—शैलज, वाल, लवंग, त्वक्, पत्र, सुरभि शिल्ह, तगर, मांसी, कुष्ट ।

रतिनाथ धूपवर्त्ति—कर्पूर, अगुरु, चन्दन, पूति (पूतिकरज्ज), प्रियंगु, वाल, मांसी ।

रतिनाथकांता धूपवर्त्ति—नख, अगुरु, शिल्हक, वाल, कुन्दुरु, शैलेय, चन्दन, श्यामा ।

मदनोद्भव दीपवर्त्ति (राजमहल के निमित्त)—देवदारु, मरुवक, मुस्त, लाक्षा, अगुरु, शालचूर्ण, कर्पूर ।

दीपवर्त्ति—गन्धरस, अगुरु, गुग्गुलु, सर्जरस, पूति, कर्पूर ।

गंधवाद में गन्वद्रव्यों का उल्लेख—पहले कहा जा चुका है कि गन्धसार के साथ ही श्री परशुराम कृष्ण गोडे को उसी हस्तलिखित प्रति में **गंधवाद** नाम की एक कृति भी मिली, जिसके साथ मराठी टीका भी थी । इसके लेखक का पता नहीं चल सका । इसमें दिया हुआ एक योग नीचे दिया जाता है ।

८ पल मांसी, ८ पल बकुल या मौलसिरी, ८ पल सेवंती, ८ पल लवंग, ८ पल आवाँ हलदी, ८ पल गांठि, ४ पल नख, ४ पल शैलज, ४ पल दवणा, ४ पल मरु, ४ पल ब्रह्मी, ४ पल सेलारस, कर्चूर १२ पल, चंपकलिका १२ पल, भद्रमुस्ता २० पल, पत्रक २ पल, पुंनाग २ पल, कोष्ठ २ पल, हलदी १ पल, जायफल १ पल, गेरू $\frac{1}{2}$ पल । इन्हें तीन बार कपड़े में छाने । नख को घृत में पकाये और शिलारस की भावना दे । रात्रि में पुष्पवास करायें (फूलों के साथ बसायें) । इस प्रकार राजा के योग्य, पित्तनाश कारक और स्त्रियों को वश में करनेवाला योग तैयार होता है ।[1]

१. मांसी बकुल सेवंती लवंगाम्रनिशा पृथक् ।
अष्टभागं न्यसेच्चान्ये गांठिनखश्च शैलजम् ।।
दवणा मरु ब्रह्मी च सेलारसं पृथक् चतुः ।
कर्चूरः चंपकलिका पृथक् द्वादश भागिका ।।
विंशति भद्रमुस्ता च पत्रं पुंनागकोष्ठयोः ।
पृथभागिकं योन्यं निशा ज्याज्या पलं पलम् ।।
पलार्द्धं खर्णव गेरुश्च त्रिवारं वस्त्रगालितम् ।
नख घृतपाच्यं च पश्चात्सिलारसस्तथा ।।
पुष्पवासं न्यसेद्रात्रौ राजयोग्यं च पित्तहा । (गंधवाद)

मराठी टीका की भाषा से अनुमान होता है कि यह टीका १५वीं शती के मध्य भाग में अथवा १६वीं शती के आरम्भ में लिखी गयी होगी।

गन्धवाद ग्रन्थ में कई विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। इसमें भोजराज (सन् १०५०) का नाम आया है—"भोजराज-कृत वादि" (पत्र ३८)। एक बुका (बुक्का चूर्ण) का रचयिता सिंहण बताया गया है, जो यादववंश का राजा था (सन् १२१०–१२४७)।[1] सुगन्ध तैयार करने में काँच की बनी कूपी का भी एक स्थल पर उल्लेख है।[2] एक स्थल पर कम्बल में से छानने की ओर मराठी टीका में संकेत है—"**कांबलेनि गालुनि घेइजे**" (पत्र ३८)। पातालयंत्र और नालका यंत्र का भी इसमें उल्लेख है (पत्र ४०, ४५)। दारुचिनी (पत्र ३५), दारूचिनी (पत्र ३६) शब्द का भी प्रयोग हुआ है। हाब्सन-जाब्सन (Hobson-Jobson) के अनुसार इन शब्दों का प्रयोग सन् १५६३ और १६२१ ई० में भी पाया जाता था। नारियल का खोबरा (Copra) या खोपड़ा शब्द भी लगभग इसी काल का है। अतः **गन्धवाद** और उसकी मराठी टीका सन् १३५० और १५५० ई० के बीच की मानी जा सकती है।

गुलाबजल और गुलाब के इत्र का भारत में प्रयोग—रघुनाथ पंडित (सन् १६७६ ई०) ने अपने **राज व्यवहारकोश** में भोग्य वर्ग के अन्तर्गत "अत्तर" को पुष्प-सार बताया है, और गुलाबजल के अर्थ में गुलाब शब्द का प्रयोग किया है (गुलाब का अर्थ गुलाब फूल नहीं)।[3] गुलाब-इत्र का आविष्कार संभव है कि नूरजहाँ ने सन् १६१२ ई० में जहाँगीर से विवाह करते समय किया। इसलिए इसका नाम **इत्र-इ-जहाँगीरी** भी मिलता है।

आइन-ए-अकबरी (सन् १५९० ई०) में लिखा है कि अकबर ने अपने को सोने,

१. "पैतिक म्हणता अगरु।" तेल्या, "धूम्र म्हणता लोबान", पाचि, बकुल पुष्प, पुनाग, छलीरा, एला, कालावाला, बोल, चंदनयेलिया, तवक्षी, कोर्सू, "आगढ-पुष्प म्हणता दवना", निवेला, तवक्षीर, आंडि, सेवंतिफुल, "हा बुका सिंघणे निफजविला—मराठी टीका, पत्र ३०।

२. सतपत्र, जायल, करबाल, जवदाणा, गंधराज, तिलेल, मालतिपुष्प, "काच-कुपिये ठेविजे" (मराठी टीका, पत्र ३४)।

३. अत्तरः पुष्पसारः स्याद् वस्तुसारोऽर्कनामकः।
मकरन्दो गुलाबःस्यात् केसरं जाफरा भवेत्॥ (राजव्यवहारकोश, भोग्यवर्ग ९२)

पारे, कच्चे रेशम, कृत्रिम सुगन्धों, कस्तूरी, रूह्-तूतिया आदि से तुलवाया।[1] **आइन-इ-अकबरी** में सुगन्ध-उपयोग संबंधी नियमों के विस्तृत वर्णन दिये हैं। इसमें सन्तोक (जिसमें चोआ, चमेली, गुलाबजल आदि होता था), अरगजा, रूह अफज़ा, उबटन, अबीर मया, बेखुर, अबीर अकसीर आदि के बनाने का उल्लेख है। इनके तैयार करने की विधियों में गुलाबजल का बराबर उपयोग किया जाता था (पृ० ६६–६८)। अबुल फज़ल ने प्राकृतिक सुगन्धों का भी उल्लेख किया है, जैसे अम्बर, लोबान, कपूर, कस्तूरी आदि। चोआ (chuwah) बनाने के संबंध में इस ग्रन्थ में एक अधःपातना यंत्र का भी उल्लेख हुआ है।[2] **आइन-इ-अकबरी** में फूलों की विस्तृत नामावली दी हुई है।

गुलाबजल बनाने की कला का विकास संभवतः खलीफा मामून के समय में सन् ८१०–८१७ ई० के लगभग फारस में हुआ। बगदाद के कोष में फारेसिस्तान से प्रति वर्ष ३०,००० बोतल गुलाबजल आया करता था (इब्न खल्दून के उल्लेख-अनुसार)। अरबवासियों ने गुलाबजल बनाना यूरोपवालों को सिखाया। स्पेन में अप्रैल महीने में गुलाबजल तैयार किया जाता था। सन् ९६१ ई० के एक विवरण से ऐसा संकेत मिलता है। शीराज़ का गुलाब तो फारस और भारत दोनों में प्रसिद्ध था। सन् १६६४ में कीम्पर (Keemper) ने फारस का भ्रमण किया। उसने उस समय

१. **आइन-इ-अकबरी, ग्लैडविन का अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, पृ० ५४७ (१८९७)**

२. **अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है—**"Small pieces of Lignum aloes put into a narrow-necked vessel...luted with *philosopher's clay*...., composed of clay cotton and rice bran. A small space is left at the neck of the vessel, which is placed inverted in another vessel, perforated at the bottom, and supported by a three-legged stand, under which is placed a dish full of water, as that the mouth of the first mentioned vessel may touch its surface. Then there is made round the inverted vessel a gentle fire of cowdung, which melts the aloes, till it distills into the water, This is collected and repeatedly washed with water, and rose-water to take off all smell of smoke." **(आइन-इ-अकबरी, पृ० ६९)**

भी शीराज के भभकों का उल्लेख किया है, जो गुलाबजल तैयार करते थे। गुलाब तो कश्मीर के भी इस समय ख्याति पा चुके थे। भारतवर्ष में गुलाब बाहर से नहीं आया, क्योंकि पहाड़ी जंगलों में गुलाब की एक बहुत पुरानी जाति इस देश में विद्यमान थी।

कन्नौज में गुलाब के इत्र के जो कारखाने हैं, वे पहली बार फारस से बसरा होते हुए, और अरब से भी इस देश में आये, और इसका धन्धा फिर गाज़ीपुर में फैला। तुर्क लोग गुलाब-इत्र का व्यवसाय यूरोप में ले गये।

गाज़ीपुर, लाहौर और अमृतसर में गुलाबजल और इत्र का धन्धा दो शतियों से पुराना है। यह आश्चर्य की बात है कि भारत का संबंध फारस, बेबीलोन, मिस्र, यूनान, रोम आदि से बहुत पुराना रहा है, फिर भी संस्कृत साहित्य में गुलाबजल और इसके इत्र का पुराना उल्लेख नहीं मिलता। **बिहारीसतसई** (१६०३–१६६३) में कई स्थलों पर गुलाब शब्द का प्रयोग फूल और गुलाबजल के अर्थ में हुआ है—

औंधाई सीसी सु लषि, बिरह बरी बिललात।
बीच हि सूखि गुलाब गौ, छींटो छुअन न गात॥

महाराज दौलतराव सिन्धिया (१७८०–१८२७ ई०) के दरबार में स्थित शिव कवि ने अपने **वाग्विलास** में गुलाब की खेती के संबंध में लिखा है—

जल दे आश्विन मास में, पुनि सुनि लेइ जबाब।
पूस मास में कलम कर, सींचो सरस गुलाब॥
आवै कली गुलाब में, तब को सुनो विधान।
कृष्णपक्ष भरि माघ में, नीर न दीजै जान॥
पैबन्द सरस गुलाब को, अस सेवती सुजान।
बहुरो सदा गुलाब को, जिगर एक अभिराम॥

चम्पक तैल और इसका धन्धा—इस देश में चम्पकतैल का प्रचलन बहुत पुराना है। "**भारतीय विद्या**" में श्री परशुराम कृष्ण गोडे ने इस तैल के इतिहास के संबंध में एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखा है, जिसमें से कुछ उद्धरण हम यहाँ देंगे। पुराने सुभाषितों में नारियों के अभ्यङ्ग कर्म में चम्पक तैल का उपयोग निर्दिष्ट है।[1] चम्पक फूल के

१. **अस्याः पीठोपविष्टाया अभ्यङ्गं वितनोत्यसौ।
लसच्छ्रोणि चलद्वेणि नटद्गुरुपयोधरम्॥
आवर्त्य कण्ठं सिचयेन सम्यगाबद्ध्य वक्षोरुहकुम्भयुग्मम्।**

संबंध में साहित्य में अन्योक्तियों की भी कमी नहीं है। गंगाधर के गन्धसार में भी चम्पक और इसके गंधतैल का उल्लेख है।[1] इसी प्रकार गन्धवाद ग्रन्थ में भी चम्पक की कली, चम्पक फूल और इसके सुगंधित तैल का वर्णन है।[2] महाभारत के अरण्य-पर्व, गन्धमादन वन के विवरण में भी चम्पक का उल्लेख आता है—"तथैव चम्पकाशोकान् केतकान् बकुलास्तथा।[3]" वराहमिहिर की बृहत्संहिता (७६।६) में भी गन्धसारवाला "मंजिष्ठया व्याघ्रनखेन०" यह श्लोक है, जिसमें "चम्पकगन्धतैल" शब्द आया है। इससे स्पष्ट है कि आज से १५०० वर्ष पूर्व चम्पकतैल का प्रचलन इस देश में अच्छी तरह हो गया था।

अमरकोश में चाम्पेय और चम्पक शब्दों का प्रयोग है।[4] क्षीरस्वामी ने चाम्पेय और चम्पक की व्याख्या इस प्रकार की है—चम्पा देश में उत्पन्न होने के कारण इसे चाम्पेय कहते हैं, भौंरे इस पर मँडराते रहते हैं, इसलिए इसका नाम चम्पा है। चम्पक में सुकुमार शीतल सुगन्ध होती है।[5]

जटासिंह नन्दी का एक काव्य सातवीं शती का वरांगचरित है, जो डा० ए० एन० उपाध्याय ने सम्पादित करके बम्बई से १९३८ में प्रकाशित कराया। इस

कासौ करालम्बिततैलपात्रा मन्दं समासीदति सुन्दरीं ताम्॥
वक्षोजौ निबिडं निरुद्धच सिचयेनाकुञ्चच मध्यं शनैः
कृत्वा चम्पकतैलसेकमबला संपीडच मन्दं शिरः।
पाणिभ्यां चलकङ्कणोद्यतझणत्कारोत्तराभ्यां करो—
त्यभ्यङ्गं परिपश्यतः सकुतुकं दोरन्तरं प्रेयसः॥ (२७–२९)
(सुभाषित रत्नभाण्डागार, निर्णयसागर, बंबई, १९११)

१. मंजिष्ठया व्याघ्रनखेन शुक्त्यात्रकासकुष्टेन रसेन चूर्ण-तैलेन युक्तोर्कमयूखतस्ततः करोति तच्चंपकगन्धतैलम्॥ गन्धसार (पत्र ८, श्लोक २४)
२. पलं चत्वारि चांपेलतैल काष्ठं वसुपलं (गन्धवाद, पत्र ४१)
३. महाभारत, भंडारकर इन्स्टी० संस्करण (३।१५५।४४)
४. चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः। एतस्य कलिका गन्धफली स्यात्॥
(अमरकोश, वनौषधिवर्ग, पंक्ति ७७५)
५. चम्पादेशे भवः चाम्पेयः। चम्पुत्यते अलिभिः चम्पकः चम्पकोऽपि। आह च—
चम्पकः सुकुमारश्च सुरभिः शीतलश्च सः।
चाम्पेयो हेमपुष्पश्च कांचनः षट्पदातिथिः॥ (ध० ५।१४२)

काव्य में अनेक गन्धद्रव्यों का उल्लेख है, जिनमें से चम्पा भी एक है।[1] **कारण्डव्यूह** नामक एक प्राचीन बौद्ध ग्रन्थ में भी जेतवन के काष्ठपुष्पों के अन्तर्गत चम्पकपुष्प एवं अन्यत्र चम्पकवृक्षों का उल्लेख है। बाण की **कादम्बरी** में चम्पक-दल की बनी माला का निर्देश है। सोमेश्वर के **मानसोल्लास** में (११३० ई०) में चम्पकगन्ध से बसाये गये तिलतैल का वर्णन है।[2] **मानसोल्लास** में चम्पकफूल की मालाओं का भी वर्णन है।[3] शिवाजी की आज्ञा से रघुनाथ पंडित ने जिस **राजव्यवहार कोश** की १६५०–१६७४ ई० में रचना की थी, उसमें **भोग्यवर्ग** के अन्तर्गत चम्पक का उल्लेख है।[4] इसका लोकसंमत नाम **चांपेल** दिया है। **सुश्रुत** के पुष्पवर्ग में चम्पक की गणना की गयी है।[5]

गोडे ने दो हस्तलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो सन् १७८७ ई० और १८२४ ई० के हैं। इन दोनों का रचयिता **हकीम फरासिस** था। यह फिरंगी चिकित्सक था। इसके ग्रन्थ में, जिसे **हकीम फरासिस** भी कहते हैं, १३ अध्याय हैं। इसके तीसरे अध्याय में आसवों के वर्णन के साथ-साथ गुलाब के फूल का भी उल्लेख आया है। पाँचवें अध्याय में अर्कों के साथ-साथ गुलाब के फूल का भी निर्देश है। दशम अध्याय में जहाँ पाक और चटनी का वर्णन है, वहाँ फिर गुलाब का स्मरण किया गया है। इस रचना की भाषा में प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, मारवाड़ी, गुजराती और कई बोलियाँ मिली-जुली हैं।[6] इस ग्रन्थ में गुलाब का अतर, गुलाब का पानी, गुलाब के फूल आदि की चर्चा तो है ही, गुलकन्द बनाने का एक नुसखा भी दिया हुआ है—

१. गन्धार्चनैश्चम्पकनागगन्धान् मूर्त्या स्वगन्धैरतिशेरते तान्।
धूपप्रदानैः कुलकेतवः स्युस्तेजस्विनः स्युर्वरदीपदानैः॥ (वरांगचरित, ७८)
२. पुन्नागचम्पकोद्दामगन्धसंवासितैः तिलैः।
यन्त्रसम्पीडितैस्तैलं गृहीत्वाऽभ्यङ्गमाचरेत्॥ (विंशति ३, अध्याय २)
(मानसोल्लास, भाग २, पृ० ८१, १९३९ ई०)
३. चम्पकं मल्लिकायुक्तं चम्पकान्युत्पलैः सह।
चम्पकं सुरभीयुक्तं चम्पकं पाटलान्वितम्॥ (मानसोल्लास, विंशति ३, अध्याय ७, पृ० ९०)
४. मल्लीतैलं मोगरेलं चमेलीजातितैलकम्।
तथा चम्पकतैलं चांपेलमिति कीर्तितम्। (राजव्यवहारकोश, १५)
५. चम्पकं रक्तपित्तघ्नं शीतोष्णं कफनाशनम्। (सुश्रुत, सूत्र० ४६, पुष्पवर्ग)
६. "श्रीगणेशाय नमः॥ लिखतं फिरंगी फरासीका हकीमी॥ अथ वैद्यकशास्त्र

गुलकंद करणें "साकर घुवा १ खड़ी मिश्री १ गुलाब फूल व केशर" ६ "चूर्ण"।

अम्बर (ambergris) का इतिहास—संस्कृत में अम्बर शब्द का अर्थ वस्त्र और आकाश है। गन्धद्रव्य के संबंध में इस शब्द का प्रयोग पहले कभी नहीं हुआ। अम्बर संभवतः अरबी शब्द था, जो बाद को धीरे-धीरे इस देश की भाषाओं में हिलमिल गया। इसका उल्लेख जान मार्शल ने अपने १६६८–७२ ई० के विवरण में किया है।[1] जे० फ्रायर ने (१६७२–१६८१ ई०) पूर्वी भारत और फारस का जो विवरण लिखा है उसमें एम्बरग्रीस (ambergris) के संबंध में लिखा है कि धूमिल रंग वाली जाति की यह सबसे अच्छी होती है, छने में यह मोम के समान है और इसमें बहुत अच्छी गन्ध है।[2] अकबर के कक्ष में अम्बर से तैयार किये गये योग धूप-द्रव्य के रूप में काम में आते थे।[3] ट्रेवरनियर (सन् १६७६) ने **ट्रैवेल्स इन इंडिया** ग्रन्थ में अम्बर और अम्बरग्रीस के संबंध में कई उल्लेखनीय बातें कही हैं। वह लिखता है कि पता नहीं चलता कि यह कहाँ मिलती है और कैसे बन जाती है। पूर्वी देशों के समुद्री तटों पर यह बहुधा पायी जाती है और कुछ यूरोपीय तटों पर भी। मोज़मबीक का गवर्नर प्रति वर्ष अपने साथ गोआ को ३०,००० पौंड के मूल्य की अम्बरग्रीस ले आता है।

बर्नियर और इब्न बतूता ने भी अपनी यात्राओं के विवरण में अम्बर का उल्लेख किया है।

ईजुल पुरा (ण) है हकीम फरासीस ने कही ॥ भाषा बहुत बीचारी के करी ॥
प्रथम च्यारौ ऋति वर्णन ॥ चैत्र वैशाख ज्येष्ठ सीत पाताल स्थान ॥"

अन्तिम वाक्य है —

"इज्रीरजुल ग्रंथे इजुल तीव हकीम फरासीस विरचितं फिरंगी हकीम अईजुल कृत कीताब हकीमी की संपूर्ण ॥ शके १७४६ तारणनाम संवत्सरे मार्गशीर्ष वद्य दशमी सौम्यवासरे हकीमी ग्रन्थ समाप्तः।"

१. जान मार्शल इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, लंदन १९२७, पृ० ४८, ४१५
२. फ्रायर (Fryer) का "ट्रैवेल्स", हेक्लूटसोसायटी, लंदन, १९१२, भाग २, पृ० १४२।
३. ग्लैडविन का आइन-इ-अकबरी का अनुवाद, १८९७ ई०, भाग १, पृ० ६५, ६८, ६९।

संभवतः समुद्र की लहरों के साथ समुद्रतट पर फेंका गया यह कोई पदार्थ है। यह सफेद या काले रंग का होता है।

निर्देश

परशुराम कृष्ण गोडे—इनके कतिपय लेख, जो अब स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं—

(क) चम्पक तैल—भारतीय विद्या, ६, १४९ (१९४५)

(ख) गंगाधर का गन्धसार—जर्नल आव् बॉम्बे यूनिवर्सिटी, १५ (२), ४४ (१९४५, सितम्बर)

(ग) अग्निपुराण में गन्धयुक्ति और गन्धसार—अडियार लायब्रेरी बुलेटिन, ९ (४), १४३ (१९४५)

(घ) विष्णु धर्मोत्तर में गन्धयुक्ति—जर्नल आव् गंगानाथ झा, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद ३, २७९ (१९४६)

(ङ) नित्यनाथ सिद्ध के रसरत्नाकर में गन्धवाद—जर्नल आव् गंगानाथ झा, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद, ४, २०३ (१९४७)

(च) गुलाबजल और गुलाब इत्र—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, ८, १०७ (१९४६)

(छ) गन्धवाद (मराठी टीका सहित)—न्यू इण्डियन एण्टिक्वेरी, ७, १८५ (१९४५); स्टडीज इन इण्डियन लिटरेरी हिस्ट्री, भाग १, पृष्ठ २९७

वराह मिहिर—बृहत् संहिता, भट्टोत्पल-विवृति सहित, इ. जे. लाज़रस कम्पनी, काशी (संवत् १९५४ वि०)

अड़तीसवाँ अध्याय

केशराग और स्याही

प्रो० परशुराम कृष्ण गोडे ने **प्राच्यवाणी** (कलकत्ता) में एक लेख १९४६ ई० में भारत में स्याही के धन्धे के इतिहास के संबंध में प्रकाशित कराया।[1] इस लेख में उन्होंने कहा कि इस संबंध का सबसे पुराना योग १३वीं शती का मिलता है (नित्यनाथ सिद्ध के **रसरत्नाकर** में)। उन्होंने दूसरे एक लेख में यह प्रदर्शित किया कि बालों को काले करने के योग भी लगभग वैसे ही हैं, जैसे कि स्याही बनाने के। केशराग संबंधी ये योग दूसरी शती के हैं। **नावनीतक** नामक एक पुस्तक लाहौर से १९२५ ई० में कविराज बलवंतसिह मोहन ने सम्पादित करके प्रकाशित की (डा० आर० हार्न्‌ले ने पहले इसे **एडिटिओ प्रिन्सेप्स** में प्रकाशित किया था)। इस पुस्तक का दशम अध्याय **केशराग** से संबंध रखता है। यह पुस्तक दूसरी शती की रचना है। बावर हस्तलिपि, पृ० १६४–१६६ का अंग्रेजी अनुवाद हार्न्‌ले (Hoernle) ने किया है। लेख कहीं-कहीं खण्डित भी है। इसीके आधार पर केशराग संबंधी निम्न विवरण दिया जा रहा है—

१. तिल के तेल में.....और करवीरक पकाये। इसका नस्य (errhine) और अभ्यञ्जन (मलहम या अवलेप) के रूप में प्रयोग करे, तो यह सफेद बालों को काला कर देगा (पलित का नाश करेगा)।[2]

२. पुण्डरीक और......से बना अवलेप भी पलितनाशक है।[3]

१. प्राच्यवाणी, १९४६, भाग ३, सं० ४, पृ० १–१५।

२. ···करवीरकं तिल तैलेन पाचयेत्।
तस्याम्भञ्जनयोगोयं सिद्धः पलितनाशनः॥ (८९१)

३. प्रपुण्डरीक................. ....
...पिष्टोऽयं लेपः पलितनाशनः। (८९२–८९३)

३. रोचना, काचमापी, शतपुष्पा और तिल यदि बालों में लगाये जायँ तो बाल ऐसे काले हो जायँगे जैसे अञ्जन (एण्टिमनी)।[१]

४. नील, सैन्धव नमक और पिप्पली को पानी के साथ पीसकर केशों में लगायें तो ये अञ्जन के समान काले हो जायँगे।[२]

५. अभया (हर्रे) और आँवले से पहले तो सिर को धोयें। इसके बाद अलंबुषा और नील को पीसकर गरम-गरम सिर पर लगायें। ऐसा करने पर पलित से बचे रहेंगे (बाल सफेद न पड़ेंगे)।[३]

६. तूतिया (कापर सलफेट) मुस्त, फेकासीस (फेरस सलफेट), कूर्म या कछुए का पित्त, अयोरज (लोहचूर्ण), दन्ती, सहदेव (Sida rhomboidea) और भृंगराज, इन सबका एक-एक भाग लेकर विभीतक (बहेड़ा) के तेल के साथ पकाये, तो यह पलित का नाश कर देगा। यदि सिर में इसे बराबर लगाया जाय तो बाल सफेद न पड़ेंगे।[४]

७. भृंगराज का रस एक प्रस्थ, उतना ही दूध, एक पल मधुक (liquorice), इन्हें एक कुडव तैल में पकाये। इससे तो बलाका (बगुला) पक्षी का रंग भी काला किया जा सकता है। यह एक सप्ताह में ही बारह वर्ष के लिए बाल काले कर देगा, यदि नस्य के रूप में इसे काम में लायें तो सौ वर्ष तक भी बाल सफेद न पड़ेंगे।[५]

१. रोचना काचमाची च शतपुष्पा तिलास्तथा।
अनेन म्रक्षिताः केशा भवंत्यञ्जनसन्निभाः ॥ (८९३–८९४)

२. नीलीका सैन्धवं च वै जलपिष्टा च पिप्पली।
अनेन म्रक्षिताः केशा भवन्त्यञ्जनसन्निभाः ॥ (८९४–८९५)

३. अभयामलकाभ्याञ्च पूर्वं प्रक्षालयेच्छिरः।
अलम्बुकश्च संगृह्य पीषेन्नीलिकया सह ॥ (८९५–८९६)

४. तुत्थमुस्तं सकासीसं कूर्म्मपित्तमयोरजः।
दन्ती च सहदेवा च भागो भृंगरजस्य च ॥
विभीतकानां तैलेन सिद्धं पलितनाशनम्।
अभ्यंगं सततं कुर्यात् पलितं न भविष्यति ॥ (८९७–८९८)

५. भृंगराजरसप्रस्थं तद्वत् पयसः पलं च मधुकस्य।
तैलकुडवे विपक्वं कुर्यात् कृष्णामपि बलाकाम् ॥

८. रामतरुणी की जड़ दो पल, मधुक की जड़ एक पल, शावरक की जड़ आधा पल और अक्ष (बहेड़ा) का तेल दस पल, इन्हें धूप की गरमी से दस दिन तक लोहे के बर्तन में पकाये। इसका नस्य करे तो भौंरे के रंग जैसे काले बाल हो जायँगे।[1]

९. आँवले का रस एक प्रस्थ, इतना ही घी और एक पल मधुक, इन्हें हलकी आँच पर पकायें। इस अवलेप का प्रयोग करने से अन्धे को भी दृष्टि मिल जायगी, और सफेद बाल काले पड़ जायँगे। इसका नस्य करने पर गयी हुई दृष्टिशक्ति भी वापस आ जायगी।[2]

१०. त्रिफला, नील, नीला कमल इन सबको बराबर-बराबर भाग ले। पिण्डारक (Vangueria spinosa), अञ्जन (एण्टिमनी सल्फाइड), पिप्पलीमूल और सहचर (Barleria cristata) के पत्ते ले। इनमें जामुन का कषाय (काढ़ा) मिलाये। जामुन की जड़ के पास की मिट्टी ले। ककुभ का फल ले और दो कुडव तिल का तैल। इन सबको विभीतक के तेल में मृदु अग्नि पर पकाये। इसका पन्द्रह दिन तक नस्य ले तो सोलहवें दिन रोगी के सिर पर एक भी सफेद बाल न दीखेगा। सारा सिर काला हो जायगा। रोगी के नेत्र और मुख स्वस्थ हो जायँगे। उसके सब बाल काले पड़ जायेंगे। यह अगस्त्य का कथन है।[3]

नाशयति वलिपलितं द्वादशवर्षाणि सप्तरात्रेण।
मासेन च वर्षशतं नस्तः कर्मप्रयोगेण॥ (८९९–९००)

१. रामतरुण्या मूलपले पलं च मधुकस्य।
शावरकस्यार्धपलन्दश च पलान्यक्षतैलस्य॥
आदित्येन विपक्वं पात्रं कार्ष्णायसे दशाहानि।
कुर्यान्नस्तः कर्म भ्रमरसवर्णानि पलितानि॥ (९०१–९०२)

२. आमलकरसप्रस्थः सर्पिः प्रस्थः पलं च मधुकस्य।
संभृत्य सर्वमेतद्वैद्यो मृद्वग्निना विपचेत्॥
अन्धमनन्धं कुर्यात् पलितमपलितं तथैव दृढदन्तम्।
एतन्नस्तः करणं गतामपि निवर्तयति दृष्टिम्॥ (९०३–९०४)

३. त्रिफलां च समां कुर्यान्नीलीं नीलोत्पलानि च।
अक्षमान्पृथग्भागान्फलं पिण्डारकस्य च॥
अञ्जनं पिप्पलीमूलं पत्रं सहचरस्य च।
जम्बूकषायः कर्तव्यः जंबूमूलाच्च मृत्तिकाम्॥

११. त्रिफला, सहचर का फूल (Barleria cristata), जामुन, काश्मर्य (Gmelina arborea), ककुभ के फूल, आम के फल का मध्य भाग, पिंडारक फल (Vanzueria spinosa), कासीस, असन का फूल (Terminalea tomentosa), नील, नील कमल के डंठल की ग्रन्थि, अञ्जन (एंटिमनी सलफाइड), अञ्जन वर्ण का कर्दम, लोहचूर्ण, दोनों तरह की कण्टारिका, दोनों शारिवा, मदयन्ती (Jasminun sambae), भृंगराज का रस (Eclipta alba) और बहेड़े का तेल, इन सबको लेकर असन के कषाय में मिलाये और काले लोहे के पात्र में दस दिन तक बिना उबाले पड़ा रहने दे। फिर मन्द अग्नि पर अच्छी तरह पकाये। इसमें फिर माष (उर्द) और मूँग में रखा हुआ शुक्त (सिरका) मिलाये। इसे फिर आधे महीने सुरक्षित रख छोड़े और तब केशों में लगाये। त्रिफला से अपने शरीर को भावित करके और कृसर (खिचड़ी) खाकर इस तैल की एक शुक्ति-माप एक बार में नस्य करे। श्वेत सिरवाला व्यक्ति नस्य कर्म में यदि एक प्रस्थ तैल उपयोग कर डाले, तो उसके बाल काले पड़ जायँगे।[1]

ककुभस्य फलं कुर्यात् द्वौ तैलकुडवौ तथा।
एतद् वैभीतके तैले शनैर्मृद्वग्निना पचेत्॥
म...सराहानि नस्तः कर्म समाचरेत्।
ततः षोडशमे ह्यह्नि न श्वेतः कृष्णमूर्धजः॥
सुवक्त्रनयनः श्रीमान् भवेन्नीलशिरोरुहः।
इत्युवाचेह भगवान् अगस्त्यो वदतां वरः॥ (९०५–९०९)

१. त्रिफला सहचरकुसुमं जंबूकाश्मर्यं ककुभकुसुमञ्च।
चूतफलस्य च मध्यं तथैव पिण्डारकफलञ्च।
कासीसमसनकुसुमं नीली नीलोत्पलं विसग्रन्थिः।
अञ्जनमञ्जनवर्णश्च कर्दमो लोहचूर्णञ्च॥
द्वेकण्टकारिके द्वे च शारिवे दापयेच्च मदयंतीम्।
भृंगराजरसं चाथो तथैव वैभीतकं तैलम्॥
असनकषायालुडितं पात्रे कार्ष्णायसे दशाहानि।
स्थितमेतदनिभे दग्धं सम्यङ् मृद्वग्निना विपचेत्।
मुद्गेष्वथ माषेषु च शुक्तं स्थाप्यमर्धमादाय।
पूर्णे ततोऽर्धमासे कृतरक्षन्ततप्रयोक्तव्यम्॥

इस प्रकार **नावनीतक** ग्रन्थ में केश रंगने के ११ योग दिये गये हैं। इन योगों में प्रयुक्त द्रव्यों में अधिकांश ऐसे हैं जिनका वाग्भट के **अष्टांगहृदय** में उल्लेख मिलता है, जैसे—

तिलतैल, रोचना (गोरोचना), काकमाची, नीली या नीलिका, पिप्पली, अभया (हरीतकी), आमलक, अलंबुक (अलंबुषा), तुत्थ, मुस्ता, कासीस, आयोरज, दन्ती (जमालगोटा), भृंगराज, विभीतक, पयस् (दूध), मधुक (यष्टीमधुक, मुलैठी), रामतरुणी, शाबरक (श्वेत रोध्र), कार्ष्णायस (कृष्ण लोह), सर्पि (घृत), त्रिफला, नीलोत्पल, पिंडारक (विकंकत), अञ्जन, पिप्पलीमूल, सहचर पत्र (नील पुष्प का पत्र), योकोरंटा काला, जंबू-कषाय, ककुभ फल, काश्मर्य (गंधारी), आम्रफल-मध्य, असन-फूल, बिस-ग्रन्थि, लोहचूर्ण, कण्टकारी, सारिवा (भारतीय सार्सापरिला), मदयंती (मेंहदी) और सुक्त या शुक्त (सिरका)।

कुछ द्रव्य ऐसे हैं जिनका उल्लेख **अष्टांगहृदय** में नहीं है, जैसे कूर्मपित्त, सहदेव।

रसरत्नाकर ग्रन्थ में, जो १३वीं शती ईसवी का है, स्याही या मसि बनाने के लिए निम्न पदार्थों का प्रयोग हुआ है—

त्रिफला, भृंग, कोरट (सहचरपत्र), बीजाम्र, भल्लात, करवीरक, ताम्रपत्र, बोल (कोई गोंद), कज्जल, कासीस, लोह, नीली, लाक्षारस, निम्ब (पिचुमन्द), अशन-जल, गुन्द (खायर-खदिर से), रिंगणी वृक्ष-फलरस, बबूल आदि के गोंद।

इस प्रकार केश रंगने के द्रव्यों और स्याही बनाने के द्रव्यों में बहुत कुछ समानता है।

बृहत्संहिता में केशराग—वराहमिहिर (५०० ई०) की **बृहत्संहिता** में भी केश-राग संबंधी एक योग है, जिसमें लोहपात्र का प्रयोग किया गया है और लोहचूर्ण, कोद्रव तण्डुल (कोदों का चावल), अर्क या मदार के पत्ते और आँवले का प्रयोग बतलाया है।[1]

त्रिफला भावितकायः कृशराशी शुक्तिमस्य तैलस्य।
एकान्तरं सुनियतः सुनिवाते नस्ततो दद्यात्।
तैलप्रस्थं त्वेतद्यः सम्यङ्‌ नासयेत नासिकया।
उपयुक्ते श्वेतशिरा सकृष्णकेशः पुनर्भवति॥ (९१०–९१६)

१. **स्रग्गंध धूपाम्बरभूषणाद्यं न शोभते शुक्लशिरोरुहस्य।**
यस्मादतो मूर्धजरागसेवां कुर्याद्यथैवांजनभूषणानाम्॥

जिसके सिर पर सफेद बाल हैं, उसे न माला शोभा देती है, न वस्त्र और न भूषण। अतः मूर्धजराग (जिससे केश रंगे जाते हों) का सेवन करना चाहिए।

निर्देश

परशुराम कृष्ण गोडे—प्राच्यवाणी कलकत्ता, में प्रकाशित लेख (१९४६)।

वराह मिहिर—बृहत्संहिता भट्टोत्पल विवृति-सहित, लाजरस कम्पनी, काशी। (संवत् १९५४ वि०)

लौहे पात्रे तंडुलान् कोद्रवाणां शुक्ले पक्वां लोहचूर्णेन साकम्।
पिष्टान् सूक्ष्मं मूर्ध्नि शुक्लाम्लकेशे दत्त्वा तिष्ठेद् वेष्टयित्वार्कपत्रैः॥
याते द्वितीये प्रहरे विहाय दद्याच्छिरस्यामलकप्रलेपम्।
संछाद्य पत्रैः प्रहरद्वयेन प्रक्षालितं कार्ष्ण्यमुपैति शीर्षम्॥
पश्चाच्छिरःस्नानसुगन्धतैलैः लोहाम्लगन्धं शिरसोऽपनीय।
हृद्यैश्च गन्धैर्विविधैश्च धूपैः अन्तःपुरे राज्यसुखं निषेवेत्॥ (७६।१–४)

(बृहत्संहिता, जे. एच. अथाल्वे का संस्करण, रत्नागिरि, १८७४, पृ० ४१९–४२०)

उन्तालिसवाँ अध्याय

कपड़ों की धुलाई—रीठा, सज्जी आदि के प्रयोग

डा० एलबर्ट न्यूबर्गर (Neuberger) ने अपनी पुस्तक **टेकनिकल आर्ट्स एण्ड साइन्सेज़ आव् द एन्शेण्ट्स** (१९३०) में लिखा है कि प्राचीन समय के लोग एक वनस्पति का प्रयोग कपड़े के धोने में किया करते थे, जिसका नाम फुलर्स-हर्ब (Fuller's herb) रखा गया। यह संभवतः जिप्सोफिला स्ट्रथियम (Gypsophila struthium) पौधे की जड़ थी और सोप-रूट (साबुन-जड़) के नाम से अब भी शाल आदि धोने में पूर्वी देशों में काम आती है। प्लिनी ने इसका नाम स्ट्रूथिओन (Struthion) दिया है।

आजकल धुलाई के काम में साबुन का अधिक प्रयोग होता है। सन् १६४४ ई० में बोकेरो (Bocarro) ने पुर्तगाल वालों के भारतीय किलों का जो विवरण लिखा है, उसमें साबुन के लिए "सबाओ" (Sabao) शब्द का प्रयोग हुआ है। फारसी शब्द साबून, अरबी साबोन या शाबून और तुर्की शब्द शबुन है। अरबी शब्द संभवतः लैटिन "Sapo" (सैपो) का विकृत रूप है। पुर्तगालवासियों के आने से पूर्व हमारे देश में साबुन का प्रयोग संभवतः अज्ञात था, ऐसी कल्पना "साबुन" शब्द को देखते हुए उचित प्रतीत होती है, पर वाट (Watt) ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ **कमर्शल प्राडक्ट्स आव् इण्डिया** में यह स्वीकार किया है कि भारतवर्ष के धोबी और रंगरेज बड़े पुराने समय से साबुन का व्यवहार करते रहे हैं।

सूबा बरार के संबंध में **आइन-इ-अकबरी** (सन् १५९० ई०) में एक उल्लेख इस प्रकार आया है—"लेनार (लोनर-झील) मेखूर प्रदेश का एक भाग है......इन पर्वतों में लगभग वे सभी चीजें पायी जाती हैं जो काँच और साबुन बनाने के लिए आवश्यक हैं, यहाँ शोरे के धन्धे भी हैं। (गाडविन का अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, कलकत्ता १८९७)।

फ्रान्सिस बुकानन (Francis Buchanan) ने सन् १८११-१२ में लिखी अपनी पटना-गया रिपोर्ट में लिखा है कि कम्पनी की ओर से नियुक्त धोबी साबुन, चूने और सोडे का व्यवहार करते हैं। ये चीज़ें उन्हें कम्पनी के एजेण्ट देते हैं। ये धोबी रंग उड़ाने का भी काम करते हैं, एक गट्ठा कपड़े धोने पर दो

रुपया साबुन पर व्यय पड़ता है। यह भी लिखा है कि बिहार में साबुन बनाने का धन्धा बहुत व्यापक है। यह साबुन बनाने में ४२ सेर चर्बी (५ रुपया), १५ सेर अलसी का तेल (१ रुपया १० आना), २ सेर चूना (२ आना), ८ सेर मामूली सोडा (६ आना), लकड़ी (४ आना)। कुल खर्च ७ रुपया ६ आना होता है। इतने में ८४ सेर साबुन बनता है जिसका दाम ११ रुपया होता है। इसमें ३ रुपया १० आने का लाभ है।

एक-एक बॉयलर में इतना-इतना साबुन महीने में दो बार बनता है।

मामूली सोडा के नाम पर सज्जी मिट्टी का बहुधा उपयोग किया जाता था।

श्री परशुराम कृष्ण गोडे ने अपने एक लेख में, जो पूना ओरिएंटेलिस्ट में सन् १९४७ में छपा था, (भाग ११, पृ० १–२२) मार्च १७७३ ई० के एक निर्देश "पेशवाईच्या सावलींत" का उद्धरण दिया है, जिसमें खाज (खरज) रोग की ओषधि में गंधक, चोख, भिलावे, आँबेहळद (आँवा हलदी), सज्जी खार और सावण (साबुन) का प्रयोग बताया है। घोड़ी के शरीर में साबुन मलने का भी इसमें निर्देश है। सन् १७८८ (शक १७१०) के एक लेख में मिलता है कि पूना के बाज़ार में **सोप विलायती** भी बिकता था। गुरु नानक ने लिखा है कि "**भूत पलीती कपड़ होय दे सबूनी लय्ये धोये**।" मराठी कवि मुक्तेश्वर (सन् १५९९–१६४९) ने लिखा है कि "**जैसें वस्त्र स्पर्शिल्या सावणीं। सकळ मळाची होय हानी**" (नव० २४।१४८)।

कबीरदास (जन्म सन् १३९९ ई०) में **साखी-संग्रह** में साबुन का उल्लेख है—

गुरु धोबी सिष कापड़ा, साबुन सिरजनहार।
सुरत सिलापर धोइये, निकसै रंग अपार॥

साबुन शब्द का उल्लेख पुराने संस्कृत ग्रन्थों में नहीं है। अमरकोश (सन् ५००–८०० ई०) के वनौषधि-वर्ग में "रक्तोऽसौ मधुशिग्रुः स्यादरिष्टः फेनिलः समौ" (पंक्ति ७११), और कर्कन्धूर्बदरी कोलिः कोलं कुवलफेनिले" (पंक्ति ७२१) में अरिष्ट और फेनिल शब्द साथ-साथ आये हैं, कोशकारों ने रीठा आदि (soap berries plants) के लिए इन पर्यायों का प्रस्ताव किया है।

वात्सायन के कामसूत्र में **स्नान** के संबंध में **फेनक** शब्द का प्रयोग हुआ है—

नित्यं स्नानं, द्वितीयकमुत्सादनम्। तृतीयकः फेनकः, चतुर्थकमायुष्यम्॥

अर्थात् नागरक (नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति) को उचित है कि प्रति दिन स्नान करे, प्रति दूसरे दिन तेल मले, प्रति तीसरे दिन फेनक (साबुन) लगाये और प्रति चौथे दिन दाढ़ी बनाये।

फेनक कोई भी झाग उठानेवाला पदार्थ हो सकता है। आवश्यक नहीं कि यह साबुन ही हो। इस देश में अनेक फलों का उपयोग झाग उठाने के काम में होता रहा है, जैसे—शिकेकाई — Acacia concinna, रीठा Sapindus trifoliatus अष्टांगहृदय कोश में श्री के. एम. वैद्य ने शिकेकाई को संस्कृत "सप्तला" माना है।[१] रीठा शब्द "अरिष्ट" का अपभ्रंश है।[२] अरीठ, रिठा, रिष्ठक आदि इसी के अपभ्रंश हैं। मनुस्मृति में विभिन्न वस्त्रों को साफ करने के लिए विभिन्न पदार्थ बतलाये हैं—ऊष (खार-मिट्टी) कौशेय (रेशमी) और आविक (ऊनी) वस्त्रों के लिए, कुतप वस्त्रों (पार्वतीय छागरोममय कम्बल वसन) के लिए अरिष्ट या रीठा, पतली छालों के बने कपड़े या अंशुपट्ट के लिए श्रीफल और फलालैन (लिनेन) या क्षौम वस्त्रों के लिए सफेद सरसों।[३]

डल्हण (११०० ई०) के कथनानुसार ऊषक या क्षार मृत्तिका बनारस के निकट बडतर देश में प्रचुर मात्रा में मिलती थी।[४]

१. (क) पटोलसप्तलारिष्टशार्ङ्गेष्टावल्गुजाऽमृताः (अष्टांगहृदय, सूत्रस्थान, अध्याय ६, श्लोक ७५) (अरुणदत्त ने सप्तला और सातला एक ही माना है और अरिष्ट का अर्थ निम्ब किया है। अरुणदत्त सन् १२६० ई० का है।)
(ख) सप्तला चर्मसाह्वा च बहुफेनरसा च सा। (आत्रेय)
(ग) सातला सप्तला सारी विदला विमलाऽमला।
बहुफेना चर्मकषा फेना दीप्ता मरालिका।।
(धन्वन्तरिनिघण्टु—अमरकोश से पूर्व का)
(घ) अथ सप्तला, विमला सातला भूरिफेना चर्मकषेत्यपि। (अमरकोश, वनौषधिवर्ग, पंक्ति ९३५)

२. (क) कृष्णफलं अरीठा इति लोके, इति डल्हणः (डल्हण, सन् ११०० ई०)
(ख) रीठा गुच्छफलोऽरिष्टो मङ्गल्यः कुंभबीजकः। (राजनिघंटु, सन् १४५०)
(ग) क्षीरस्वामी ने अरिष्ट की व्युत्पत्ति दी है—न रिष्यन्त्यनेन अरिष्टो रक्षाहेतुः।

३. कौशेयाविकयोरूषैः कुतपानामरिष्टकैः।
श्रीफलैरंशुपट्टानां क्षौमाणां गौरसर्षपैः।। (मनु० ५।१२०)

४. ऊषकः क्षारमृत्तिका वाराणसीसमीपे वडतरदेशे बाहुल्येन भवतीति डल्हणः।

अष्टांगहृदय (८–९वीं शती) के सूत्रस्थान १५।२३ में ऊषक नाम आता है।[1] शिवदीपिकाकार ने ऊषक का नाम "कल्लर नमक" दिया है। अरुणदत्त ने भी इसका अर्थ कल्लर किया है–"(ऊषक:)वृषक:, कल्लर इति प्रसिद्ध:", **हेमाद्रि** ने ऊषक का अर्थ "क्षारमृत्तिका"(खारी मिट्टी)किया है। ऐसा ही **अमरकोश** में भी अर्थ है।

श्रीफल या बेल का प्रयोग **मनुस्मृति** में अंशु पट्टों को स्वच्छ करने में बताया गया है। ये वस्त्र वृक्षों की पतली छाल से बनाये जाते थे। बेल में जो टैनिक अम्ल रहता है, वह संभवत: छाल के बने हुए कपड़ों पर आभा लाने के लिए उपयोगी होता हो, ऐसी कल्पना की जा सकती है।

इसी प्रकार यह भी कहना कठिन है कि सफेद सरसों (गौर सर्षप) किस प्रकार के क्षौम वस्त्रों को स्वच्छ करने में हितकर होती थी, जिसका व्यवहार **मनुस्मृति** के उक्त श्लोक में निर्दिष्ट है।

मनुस्मृति के समान ही **याज्ञवल्क्य स्मृति** में भी आचाराध्याय के द्रव्य शुद्धि प्रकरण में ऊषक, गोमूत्र, श्रीफल और अरिष्ट का उपयोग आविक (ऊनी कपड़े), कौशिक (कोशोद्भव, त्रसरीमय वस्त्र), अंशुपट्ट (नेत्रपट्ट या महीन रेशमी वस्त्र), कुतप (पर्वतीय बकरों के बालों के कम्बल—"पर्वतीयं छागरोममयं कम्बलवसनम्") और क्षौम (अतसीमय वस्त्र) के वस्त्रों की धुलाई में हितकर बताया गया है।[2] गोमूत्र रखा रहे, तो उसमें से अमोनिया पृथक् हो जाता है, जिसके कारण मूत्र में कपड़ों को साफ करने के गुण आ जाते हैं।[3] डा० न्यूबर्गर ने अपने ग्रन्थ "**टेकनिकल**

१. **ऊषकस्तुत्थकं हिंगु कासीसद्वयसैन्धवम्।
सशिलाजतु कृच्छ्राश्मगुल्ममेद: कफापहम्॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र० १५।२३)**

२. **सोषैरुदकगोमूत्रैः शुद्धयत्याविक कौशिकम्।
सश्रीफलैरंशुपट्टं सारिष्टैः कुतपं तथा।
सगौरसर्षपैः क्षौमं पुनः पाकेन मृन्मयम्॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति)**

३. "In India the roots and crushed fruits of various kinds of soap tree were used. Moreover *urine*, which these washers or millers, who were the *fullones* of the Romans, collected in pitchers which had been placed for use at the street corners served as a *cleansing* material after it had been decomposed. In consequence of its contents of ammonia, it removed

आर्ट्स०" में इसका उल्लेख किया है। पुराने लोगों को मूत्र की रासायनिक प्रक्रिया का तो ज्ञान न था, पर वे इससे लाभ अवश्य उठाते थे। गलियों के सिरों पर घड़े रख दिये जाते थे, जिनमें वे मूत्र का संग्रह करते थे।

याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्याकार अपरार्क ने और भी स्थलों का इस प्रकरण में उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि धुलाई के काम में निम्न द्रव्यों का प्रयोग किया जाता था—(१) उष्ण वारि (गरम पानी,), (२) भस्म (राख), (३) चूर्ण (जौ, गेहूँ, कलाय, माष, मसूर, मुद्ग का आटा और गोबर), (४) अम्ल, (५) लवण, (६) षाण-तैल-सिकता (सन, तेल और बालू) से काले लोहे के बर्तनों की धुलाई या मजाई, (७) तापन (गरम करना, ताव देना), (८) मृद् (मिट्टी), (९) क्षार, (१०) गोशकृद् भस्म (गोबर या कंडों की राख), (११) सिकता (बालू), (१२) आम्लोदक, (१३) अश्मप्रघर्षण (पत्थर से घिसकर, या पत्थर पर पीटकर), (१४) गोमूत्रक्षार, (१५) गोवालैः घर्षण (गाय के बालों से रगड़कर), (१६) क्षौम वस्त्रों के लिए सुवर्णाक्त जल, (१७) रजताक्त जल (ऊनी और रेशमी वस्त्रों के लिए), (१८) हवा, आग, धूप और चाँदनी के प्रभाव द्वारा ऊनी वस्त्रों की शुद्धि, (१९) अरिष्ट (रीठा), (२०) इंगुद, (२१) तण्डुल और (२२) सर्षप (सरसों)।[1]

fat and also acted as a cleansing agent. This cleansing action was further increased owing to the fat becoming partly saponified by the ammonia, that is, soap was formed. p. 175)

१. (क) **ऊर्णाकौशेयकुतपाः क्षौमपट्टदुकूलजाः।**
अल्पशौचा भवन्त्येते शोषणप्रोक्षणादिभिः॥
तानेवामेध्यसंयुक्तान्क्षालयेच्छोधनैः स्वकैः। (देवलस्मृति)

(ख) **सर्ववाससां प्लावनेन शुद्धिः। (हारीत)**

(ग) **उदश्विद्वल्मीकमृत्सर्षपैश्च ऊर्णामयानाम्।**
स्नेहसक्तुकुल्माषोन्मर्दनैर्गुरूणामूर्णामयानाम्। (अंगिराः)

(घ) **पद्माक्षैः मृगरोमिकाणाम्। (विष्णु)**

(ङ) **क्षारोषाभ्यां कार्पासशणमयानां पुत्रजीवकारिष्टैः क्षौमवरोर्णानां, पुत्रजीवकोदश्विद्भ्यामजिनानाम्... इत्यादि। (हारीत)**

(च) **चैलानां मृद्भस्मगोमूत्रक्षारोदकैः। (शंख)**

(छ) **गोमूत्रक्षारवादि। (ब्रह्मपुराण)**

भारतवर्ष में पाँच कारु या कलाकार या शिल्पी माने जाते थे[१] जिनका समाज में मुख्य स्थान था—तक्षा (बढ़ई), तन्त्रवाय (जुलाहा), नापित (नाई), रजक (धोबी) और चर्मकार (मोची)। इनका कार्य पवित्र एवं शुद्ध माना जाता था—**"कारुहस्तः शुचिः"**।[२] **मनुस्मृति** में कहा है कि धोबी को चाहिए कि शाल्मली के बने चिकने पट्टे पर कपड़े को धोए और एक-दूसरे के कपड़ों में अदल-बदल न करे, और न किसी को अन्य के कपड़े पहनने को दे[३]।

धोबी को निर्णेजक और रजक कहा है। वस्तुतः रजक का अर्थ रंगाई करनेवाला (रंगरेज) है। यह ठीक है कि धोबी के वस्तुतः दोनों काम हैं; कपड़ा धोना और कपड़ा रंगना। (निर्णेजकः स्याद् रजकः—**अमरकोश**)। जातकों में रजकवीथि या कपड़े धोने-रंगने वालों की गली का उल्लेख आता है।[४]

निर्देश

परशुराम कृष्ण गोडे—पूना ओरिएंटलिस्ट (१९४७) में प्रकाशित "सम नोट्स ऑन दि हिस्ट्री ऑव् सोप नट्स, सोप एण्ड वाशर-मन इन इंडिया" लेख।

(ज) तृणकाष्ठरज्जुभूर्जशणक्षौमचीरचर्मवेणुविदलपत्रवल्कलादीनां चैलवत् शौचम्। (काश्यप)

१. तक्षा च तन्त्रवायश्च नापितो रजकस्तथा।
पञ्चमश्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मताः॥

२. कारुहस्तः शुचिः (याज्ञ० स्मृति १।१८७)। इस पर अपरार्क-व्याख्या इस प्रकार है—
कारुः शिल्पी रजकतन्तुवायादिः। तद्धस्तकृतं द्रव्यं शुचीत्यर्थः।...
तेन रजकसेवकादिभिः संस्कृतानां वस्त्रादीनां... शुचित्वमेव।

३. शाल्मलीफलके श्लक्ष्णे निनिज्यान्नेजकः शनैः।
न च वासांसि वासोभिर्निर्हरेन्न च वासयेत्॥ (मनु० ८।३९६)

४. आर. बी. मेहता की "प्री-बुधिस्ट इण्डिया", बम्बई, १९३९, जातक ४, पृ० ८१।

परिशिष्ट—१

नालन्दा की कुछ धातुमूर्तियों का रासायनिक परीक्षण

नालन्दा की ख्याति ईसा से तीन शती पूर्व की है। ईसा के बाद ५–७ शती तक तो इसकी प्रतिष्ठा बहुत ही बढ़ गयी। फाहियान (४०५–४११ ई०) और ह्यू न-त्सांग (६३०–४५ ई०) के समयों के गौरवमय उल्लेख इस नगरी के मिलते हैं। नालन्दा के भग्नावशेषों पर बहुत अच्छा कार्य हो चुका है। काँसे के पात्र और मूर्तियाँ यहाँ की प्रसिद्ध रही हैं। बुद्ध और महायान बौद्ध-देवों की ५०० से अधिक मूर्तियाँ यहाँ मिलीं, जो ८वीं से १२वीं शती तक की हैं। नालन्दा की इस धातुकला का प्रभाव इस देश तक ही सीमित न था। बृहद् भारत के पूर्वी द्वीपों तक में इस कला का गौरव पहुँच चुका था। वहाँ पर भी ऐसी ही धातुमूर्तियाँ मिली हैं, जिन पर नालन्दा कला का स्पष्ट प्रभाव है। नालन्दा वह स्थली थी जहाँ महायान शाखा के सुविख्यात विद्वान् नागार्जुन ने रसायन संबंधी ऐतिहासिक कार्य किया।

भारतीय काँसे और पीतल का काम हरप्पा युग तक हमें ले जाता है। हरप्पा काल की पीतल की कोई वस्तु तो इस समय नहीं मिलती, पर तक्षशिला की पहली या दूसरी शती की वस्तुएँ अवश्य मिलती हैं, पर यह अधम कला की ही द्योतक हैं। गुप्तकाल में धातुकला बहुत ही विकसित हो गयी थी और पूरी आदमकद मूर्तियाँ भी बनायी जाने लगी थीं। भागलपुर ज़िले के सुल्तानगंज में ५वीं शती की बुद्ध की एक ताम्रमूर्ति पूरे आकार की मिली है जो आजकल बर्मिंघम अजायबघर में है। गया ज़िले के कुड़ बिहार में २४० पीतल-काँसे की मूर्तियाँ इसी काल की मिली हैं। मध्य प्रदेश, रायपुर ज़िले के सीरपुर में भी बौद्धकालीन धातुमूर्तियाँ मिलीं हैं। चोल काल में दक्षिण भारत में भी (९ से १३ शती) मूर्तिकला बड़ी प्रौढ़ थी। ये सब मर्तियाँ मोम की मूर्ति बनाकर तैयार की जाती थीं। मोम की मूर्ति पर मिट्टी लेप दी जाती थी। मोम पिघलाकर अलग कर लिया जाता था और मिट्टी का साँचा तैयार हो जाता था। इस साँचे में ताँबा या अन्य धातु पिघलाकर डाल दी जाती थी। यह धातु ठंडी होने पर मूर्ति बन जाती थी। पोली मूर्तियाँ नेपाल में इस तरह बनाते थे कि पहले मिट्टी की मूर्ति बना लेते थे। इसके चारो ओर एकरस मोम का लेप चढ़ाते

थे और उसके ऊपर फिर मिट्टी का लेप करते थे। फिर गरम करके मोम अलग कर लेते थे और इस साँचे को धातु की मूर्तियाँ बनाने के काम में लाते थे।

इन मूर्तियों की धातुओं के रासायनिक विश्लेषण निम्न सारणी में दिये गये हैं। एक उदाहरण में ये अंक इस प्रकार निकलते हैं (प्रतिशतता में)—

सारणी—१

	Sn वंग	Pb सीस	Cu ताम्र	Fc लोह	Zn यशद	Ni निकेल	As आर्सेनिक	Sb एंटिमनी	So3	Mn
१.	९.१०	५.००	७९.६०	५.८०	—	सूक्ष्म	—	—	—	०.३०
२.	८.९९	३.१२	८२.१९	४.१६	१.८१	०.११	—	—	—	—
३.	१६.१७	२.७८	७६.९८	०.३६	—	०.०५	—	—	—	—
४.	२३.६८	—	७५.५४	सूक्ष्म	—	सूक्ष्म	—	१.८	—	—
५.	१४.६२	२.६४	८१.२३	०.९२	०.४४	सूक्ष्म	—	—	—	—
६.	७.८८	—	७९.७१	३.२१	४.८२	सूक्ष्म	—	१.४८	—	—
७.	१.१९	२.२२	९१.६२	१.३९	२.६१	०.१८	—	—	—	—
८.	०.०८	०.०४	९७.१४	०.४८	—	०.०९	—	—	—	—
९.	०.४०	२.०८	७९.५८	१.१२	१.६४	१.२०	—	—	—	—
१०.	०.२०	०.०५	९७.८५	०.७७	०.१०	०.२०	—	—	—	—
११.	१.१५	३.१०	८५.२५	२.४१	०.५४	०.०९	सूक्ष्म	—	—	—
१२.	८.९०	५.१७	८०.२०	३.८६	—	०.०९	सूक्ष्म	सूक्ष्म	—	—
१३.	१५.६०	२.५५	७८.७५	२.३०	—	०.१८	सूक्ष्म	सूक्ष्म	—	—
१४.	१५.०९	३.०६	८०.८४	१.३०	०.०५	०.०८	—	—	—	—
१५.	८.७०	५.९३	८२.१५	२.६७	०.०६	०.४२	—	—	०.३१	—

ताँबा ९२.१७, वंग-शून्य, सीस-शून्य, लोह ०.७८, यशद ७.०४, निकेल-सूक्ष्म योग ९९.९९%। यह स्पष्टतया ताँबे और यशद की बनी मिश्र धातु अर्थात् पीतल है।

कुछ में ताँबे और राँगे (वंग) की अच्छी मात्रा मिलेगी। इनमें १४.६२ से २३.६८ प्रतिशत तक राँगा है। हज़ारीबाग की खानों में वंग केसिटराइट-रूप में मिलता है, संभवतः नालन्दा की मूर्तियों में राँगा इसी अयस्क से प्राप्त किया जाता रहा हो।[1]

परिशिष्ट–२

मिट्टी का तेल

बिल्हण के **विक्रमांकदेवचरित** में, जिसे बाम्बे संस्कृत सीरीज़ में डा० बूहलर ने पहली बार प्रकाशित किया, एक श्लोक है, जिसमें "पारसीकतैल" का उल्लेख है—

अचिन्तनीयं तुहिनद्रवाणां श्रीखंडवापी पयसामसाध्यम्।
असूत्रयत्पत्रिषु पारसीकतैलाग्निमेतस्य कृते मनोभूः॥ (९।२०)

ट्रिवेण्ड्रम् संस्कृत सीरीज़ में प्रकाशित, गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित **आर्य-मञ्जुश्री-मूलकल्प** के पृष्ठ ८३ पर "तुरुष्कतैल" का उल्लेख आता है जिसका प्रयोग घृत के स्थान में दीप में करने की ओर संकेत है—

ज्येष्ठं पटं तत्रैव देशे तस्मिं स्थाने पटस्य महतीं पूजां कृत्वा सुवर्णरूप्यमयैः ताम्रमृत्तिकमयैर्वा प्रदीपकैः तुरुष्कतैलपूर्णैः गव्यघृतपूर्णैर्वा प्रदीपकैः प्रत्यग्रवस्त्रखण्डाभिः कृतवर्तिभिः लक्षमेकं पटस्य प्रदीपानि निवेदयेत्।

स्पष्ट है कि पारसीक तैल और तुरुष्क तैल दोनों ही मिट्टी के तैल हैं। सन् ५००–११०० ई० के बीच में भारत को इनसे परिचय प्राप्त हुआ। बिल्हण का ग्रन्थ सन् १०८५ ई० के निकट का और **आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प** सन् ९०० ई० के पूर्व का है।

१. यह विवरण श्री बी. बी. लाल के लेख से लिया गया है (एन्शण्ट इंडिया, सं० १२, (१९५६), पृ० ५३–५७)।

परिशिष्ट–३

भुवनेश्वर-मन्दिरों का लाल लेप

भुवनेश्वर और उड़ीसा के कोणार्क मन्दिरों में से कुछ में सफेद पलस्तर है और कहीं-कहीं लाल रंग लगा हुआ है। एम० एम० गांगुली का विचार है कि यह लाल रंग किसी एक रासायनिक पदार्थ का नहीं है, यह कई पदार्थों का मिश्रण है। इस संबंध में गांगुली ने समर्थन में **बृहत्संहिता** (५६, १–३) का उद्धरण दिया है, जिसमें एक लेप का विधान है, जो अपक्व तिन्दुक, कपित्थक (कैथ या कठबेल) और शाल्मली के फूल को पानी में उबालकर और सर्ज वृक्ष का निर्यास या तारपीन, रेज़िन, अलसी आदि मिलाकर तैयार किया जाता था। एक अन्य लेप का विवरण भी मिलता है, जिसे लाख, बेल का गूदा, तारपीन आदि से बनाया जाता था (५६।५-६)। वज्रलेप के एक और योग में (५६।८) ८ भाग सीसा, २ भाग काँसा और एक भाग रीतिका का प्रयोग किया गया है।

भुवनेश्वर के मुक्तेश्वर मन्दिर के लाल लेप का विश्लेषण किया गया, तो पता चला कि इसमें वानस्पतिक या कार्बनिक पदार्थ तो कोई है नहीं, और न इसमें नाइट्रोजन ही है। इसमें ३६.४२ प्रतिशत फेरिक ऑक्साइड, Fe_2O_3 मिला, जिसके कारण ही लेप का रंग लाल था। भुवनेश्वर के बाज़ार में जो गेरू (red ochre) या लाल मिट्टी बिकने आती थी उसमें ५८.८ प्रतिशत Fe_2O_3 था और मैंगनीज़ ऑक्साइड (MnO) बिलकुल न था।

मुक्तेश्वर के लाल लेप में निम्न पदार्थ थे—

—H_2O (१.९५); +H_2O (१६.४२); मिट्टी और बालू (४०.९७), Fe_2O_3 (३६.४२), CaO (२.२४); MgO (१.१७), SO_3 (१.५६) योग=१०० ।

टी. आर. गैरोला का अनुमान है कि यह लेप स्थानिक गेरू या लाल ओकर (red ochre, haematite) से ही तैयार किया गया होगा। इसमें मैंगनीज का ऑक्साइड न था।

(टी. आर. गैरोला, एन्शेण्ट इंडिया, ६, ०१३, जनवरी १९५०)।

प्लास्टर और सफेद लेपों का रासायनिक विश्लेषण

नीचे की सारणी १ और २ में नालन्दा, मोहें-जो-दड़ो, हरप्पा, मिस्र और भुवनेश्वर के मन्दिरों के प्लास्टर और सफेद लेपों का रासायनिक विश्लेषण दिया जाता है (टी. आर. गैरोला, एन्शेण्ट इंडिया ६, १०५, १०६, जनवरी १९५०)।

सारणी–१

स्थान	$-H_2O$	मिट्टी और बालू	Fc_2O_3 इत्यादि	CaO	MgO	P_2O_5	SO_3	क्लोराइड	CO_2 $+H_2O$	चूना और बालू का अनुपात
१. परशुरामेश्वर मन्दिर, चूने की कलई (७–८वीं शती)	०.७९	७.२७	१.८४	४९.२२	१.१४	सूक्ष्म	०.६३	सूक्ष्म	३९.३८	
२. मुक्तेश्वर मन्दिर, चूने की कलई (८वीं शती)	शून्य	४.६२	०.९५	५३.७२	०.४८	—	०.५६	सूक्ष्म	४०.३२	
३. जगमोहन कोणार्क की मूर्ति पर चूने की कलई (१३वीं शती)	०.८४	१.४६	१.५०	५१.१६	०.२४	शून्य	०.५	सूक्ष्म	४४.२४	
४. लिंगराज मंदिर, प्लास्टर १०वीं शती	०.६८	१९.२६	५.६२	३७.३०	३.१२	शून्य	०.७८	०.२३	३३.३१	३ : १
५. कोणार्क, अन्दर का विमान प्लास्टर, १३वीं शती	३.१४	३५.८९	३.००	३०.७२	०.१६	शून्य	०.३८	०.५१	२५.७०	४ : ३
६. प्लास्टर, नालन्दा, स्थान ३	२.२४	२७.५२	७.८४	३३.९५	१.१३	—	०.२७	—	२५.८४	२ : १
७. चूने की कलई, मिस्र देश, रोमन काल की	—	२९.१०	४.००	३४.७	२.१	—	०.९	—	२९.२	२ : १

सारणी—२

	$CaSO_4$ जलयुक्त	मिट्टी और बालू	$CaCO_3$	$MgCO_3$	Fe_2O_3	क्षारीय लवण	जल	चूना और बालू का अनुपात
१. प्राचीन मिस्र की कलई, अखानेतन के कब्र की, १८वाँ वंश	१.५	११.०	८७.५					
२. तूतन खामेन की कब्र से प्राचीन मिस्र का जिप्सम प्लास्टर	७८.२	१०.८	११.०	—	—	—	—	—
३. स्फिन्क्स से प्राचीन मिस्र की जिप्सम कलई	६६.९	२५.५	सूक्ष्म	०.८	२.०	—	—	२ : १
४. चूना, मोहें-जो-दड़ो दीवार (सार स्थल), ईसा से ३००० वर्ष पूर्व	७४.१२	२०.४१	२.५०	—	—	१.१८	१.७९	४ : १
५. चूना,मोहें-जो-दड़ो,वैट (महा भाण्ड) (सार स्थल), ईसा से ३००० वर्ष पूर्व	शून्य	२१.७१	६९.५८	—	—	५.४४	३.२७	३ : १
६. P ६ हरप्पा, परिखा ५, वप्र F, के गोल प्लैटफार्म की प्वाँइटिंग, ईसा से ३००० वर्ष पूर्व	५६.९०	४२.१६	०.९७	शून्य	—	—	शून्य	४ : ३
७. हरप्पा वप्र F, ईसा से ३००० वर्ष पूर्व	शून्य	३४.८५	५६.०१	४.८१	—	—	४.३३	२ : १